प्रकाशक :
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
सैदपुर विस्तार पथ, पटना-४

द्वितीय संस्करण : २,०००
शकाब्द १८९२, विक्रमाब्द २०२८, खृष्टाब्द १९७१

मूल्य : २५.०० रुपये

मुद्रक
श्रीमोहनलाल बिश्नोई, बी० ए०
मोहन प्रेस, पटना-४

वक्तव्य

[द्वितीय संस्करण]

'बौद्ध-धर्म-दर्शन' बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के पुरस्कृत गौरवपूर्ण प्रकाशनो मे मूर्द्धन्य ग्रन्थ है और आचार्य नरेन्द्रदेव की अनन्य सामान्य विद्वत्ता का शिखरभाग है। म० म० डॉ० गोपीनाथ कविराज ने इस ग्रन्थ की भूमिका मे उचित ही लिखा है कि 'ऐसा ग्रन्थ हिन्दी-भाषा मे तो नही ही है, किसी अन्य भारतीय भाषा और विदेशी भाषा मे भी बौद्ध-दर्शन पर कोई ऐसा ग्रन्थ नही है।'

यह ग्रन्थ पाँच खण्डो मे विभाजित है, जिनमे कुल मिलाकर वीस अध्याय है। इन अध्यायो के अतिरिक्त 'अभिधर्मकोश' के सारसक्षेप 'विज्ञप्तिमात्रा-सिद्धि' के विस्तृत विवेचन और 'माध्यमिक कारिका' तथा 'प्रसन्नपदावृत्ति' के मुख्य कथ्य से संयुज रहने के कारण इस ग्रन्थ की उपादेयता और भी बढ गई है। यह नि.सकोच कहा जा सकता है कि 'बौद्ध-धर्म-दर्शन' अपने विषय का एक ऐसा अग्रगु ग्रन्थ है, जिसका कालातीत महत्त्व इस विषय के जिज्ञासुओं को सदैव आकृष्ट करता रहेगा।

यद्यपि 'बौद्ध-धर्म-दर्शन' पर वैभाषिक नय के अनुसार सर्वास्तिवाद के प्रधान ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' का प्रचुर प्रभाव है, तथापि इसमे लेखक के मौलिक चिन्तन की विरल छटा अनेकत्र मिलती है। जैसे, बौद्ध-दर्शन के सन्दर्भ मे नास्तिकता की बारीक विवेचना करते हुए लेखक ने प्रतिपादित किया है कि बौद्ध-दर्शन की नास्तिकता अजितकेशकम्बली नास्तिकता से नितान्त भिन्न है। कारण, अजितकेशकम्बली मत ईश्वर और परलोक—साथ ही, कर्म-विपाक मे भी अविश्वास करता है, जबकि बौद्धमत मुख्यत ईश्वर मे अविश्वास करता है। इसी तरह लेखक के आधारभूत परिप्रेक्ष्य की नवीनता इसमे है कि उसने एक प्रगतिशील सामाजिक चिन्तक के रूप मे बौद्ध धर्म को ब्राह्मण-संस्कृति और श्रमण-सस्कृति की दो विरोधी धाराओ के बीच पटपर पर उगे प्रच्छाय-वृक्ष की तरह स्वीकार किया है। यह निश्चित है कि बौद्ध-धर्म और दर्शन ने आचार्य नरन्द्रदेव जैसे समाजवादी विचारक को इसलिए भी आकृष्ट किया होगा कि बुद्ध के व्यक्तित्व और उनके धर्म-दर्शन की अनेक सार्थकताएँ आज तक समय के सन्दर्भ से जुडी हुई है। सबसे बडी बात यह है कि बुद्ध ने धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे लोकमानस को 'स्वावलम्वन' का पाठ पढाया तथा प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए स्वय दीपक बनने को कहा—'अत्तदीपा विहरथ'। इतना ही नही, पारम्परिक कुलशील और विभेदमयी वर्ण-व्यवस्था को उदूल कर प्रत्येक व्यक्ति को समभाव से प्रबुद्ध बनाने के लिए बुद्ध की देशनाएँ कुलीन भाषा को छोडकर जन-जिह्वा पर थिरकने=वाली लोकभाषा मे अभिव्यत हुई। यह सच है कि महायान के अनेक ग्रन्थ, विशेपकर 'वैपुल्यसूत्र' तथा 'प्रज्ञापारमिता-सूत्र' और हीनयान के अन्तर्गत सर्वास्तिवाद के आगम-ग्रन्थ सस्कृत-भाषा मे मिलते हैं, किन्तु बुद्ध-वचन की जन-सम्पर्क-भाषा अनिवार्य रूप से लोकभाषा ही थी। समय-सन्दर्भ से जुडी हुई सार्थकता का

दूसरा पहलू यह है कि बुद्ध पूर्णतः कल्याण-मित्र थे । वे सबका कल्याण चाहते थे और केवल व्यक्तिगत निःश्रेयस के लाभ के अभिलाषी नही थे । परवर्त्ती काल मे बौद्धधर्म और दर्शन का लोकमगलकारी तेज मन्द हो गया, क्योकि तब बुद्ध-यान केवल दो प्रसिद्ध यानो—हीनयान और महायान—मे ही नही, बल्कि तन्त्र से प्रभावित अन्य कई निकाय-विशिष्ट यानो—पारमिता यान, प्रज्ञायान, मन्त्रयान, वज्रयान, तन्त्रयान इत्यादि मे विभक्त होकर संकीर्ण और गुह्यसाधनात्मक प्रवृत्तियो के कारण लोक-विमुख हो गया ।

कुल मिलाकर अपनी सार्थकताओ के कारण बौद्धधर्म और दर्शन ने न केवल मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य, सन्त-साहित्य, तान्त्रिक साहित्य या छायावादी विपची की कोमलतम रागिनी 'महादेवी' के गीति-काव्य को प्रभावित किया, बल्कि उसने अभी-अभी पश्चिम की नई पीढी को भी प्रभावित किया है । पश्चिम की यह नई पीढी इन दिनो बौद्ध-दर्शन के उस परवर्त्ती रूप के प्रति अधिक आकृष्ट हुई है, जिसके अन्तर्गत क्रियातन्त्र, चर्या-तन्त्र, योगतन्त्र, अनुत्तर-तन्त्र, कमलकुलिश-योग इत्यादि का निरूपण किया गया है तथा बोधिसत्व की प्राप्ति या क्लेशापगम के माध्यम से चित्त-विशुद्धि के लिए विभिन्न चर्याओ, भूमियो और पारमिताओ का साधन-रूप मे उल्लेख किया गया है । मानो, पश्चिम के दिग्भ्रम से ऊबे ये युवजन इन साधनो से परिचित होकर अपने सवृत चित्त को बोधि-चित्त या 'जेन ल्यूनैटिक' बनाना चाहते हो । विशेषकर बौद्धधर्म के उस ध्यान सम्प्रदाय (जेन-शू) ने इन्हें अधिक प्रभावित किया है, जो महायानी विनय-निकाय की शाखा का अनुगन्ता तथा योगी बोधि धर्म द्वारा सम्स्थापित था । इस मुखर प्रभाव की दृष्टि मे बीट-कवि Gray Snyder की 'Twentyfour Poems by Han-Shan' शीर्षक कविता विशेष उल्लेखनीय है । इस कविता मे मजुश्री, बोधिसत्व, अपरोक्षानुभूति और महाप्रज्ञा के प्रति प्रच्छन्न जिज्ञासा है तथा ध्यान (Zazen, पालि झान) के प्रति आकर्षण । मेरी दृष्टि मे 'जेन बुद्धिज्म' की ओर पश्चिम की नई पीढी के आकर्षण का मुख्य कारण यह है कि 'जेन बुद्धिज्म' मे प्रवृत्ति-मार्ग स्वीकृत है और इसमे मनुष्य की सहज वृत्तियो या 'उजूबाट' (ऋजुमार्ग) को ही ज्ञानोपलब्धि के साधनो के बीच प्राथमिकता दी गई है । बौद्ध-दर्शन के 'ध्यान' ने जैन दर्शन की दार्शनिक शब्दावली को भी प्रभावित किया था । जैन-दर्शन मे ध्यान के चार मुख्य प्रकार माने गये हैं—आर्त्त ध्यान, रुद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान ।

इस प्रकार प्रभाव, प्रसार, तत्त्व-निरूपण एव समय-सन्दर्भ से जुडी हुई अनेक सार्थकताओ के कारण बौद्धधर्म और दर्शन का विपुल महत्त्व है । ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय पर आचार्य नरेन्द्रदेव द्वारा लिखित इस सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का द्वितीय सस्करण प्रस्तुत करते समय हमे अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है । आशा है, यह ग्रन्थ पाठको को अहकार और ममकार की क्षुद्र सीमाओ से ऊपर उठने के लिए अवश्य ही प्रेरित करेगा ।

पटना,
२४-५-७१ ई०

(डॉ०) कुमार विमल
निदेशक

वक्तव्य

[प्रथम संस्करण]

'बौद्ध-धर्म-दर्शन' और उसके यशस्वी लेखक के सम्बन्ध मे कई अधिकारी विद्वानो ने पर्याप्त रीति से लिखा है, जो प्रस्तुत ग्रन्थ मे यथास्थान प्रकाशित है। अब उससे अधिक कुछ लिखना अनावश्यक है।

सन् १९५४ ई० में, २१ अप्रैल (बुधवार) को, आचार्य नरेन्द्रदेवजी ने बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तृतीय वार्षिकोत्सव का सभापतित्व किया था। सभापति-पद से भाषण करते हुए उन्होने निम्नांकित मन्तव्य प्रकट किये थे—

"सम्प्रदायवाद इस युग में पनप नही सकता। हमारे राष्ट्रीय साहित्य को राष्ट्रीयता और जनतन्त्र की शक्तियो का प्रतिनिधित्व करना पडेगा। किन्तु, उसमे यह सामर्थ्य तभी आ सकता है, जब हिन्दी-भाषाभाषियो की चिन्ताधारा उदार और व्यापक हो और जब हिन्दी-साहित्य भारत के विभिन्न साहित्यो को अपने मे आत्मसात् करे।

"यह सत्य है कि सिनेमा, रेडियो और टेलीविजन ने साहित्य के क्षेत्र पर आक्रमण कर उसके महत्त्व को घटा दिया है। विज्ञान और टेकनॉलोजी के आधिपत्य ने भी साहित्य की मर्यादा को घटाया है। किन्तु, असन्दिग्ध है कि साहित्य आज भी जो कार्य कर सकता है, वह कार्य कोई दूसरी प्रक्रिया नही कर सकती।

"अतीत के अनुभव के आलोक में वर्त्तमान को देखना तथा आज के समाज में जो शक्तियाँ काम कर रही है, उनको समझना तथा मानव-समाज के हित की दृष्टि से उनक सचालन करना एक सच्चे कलाकार का काम है।

"भारत के विभिन्न साहित्यो की आराधना कर, उनकी उत्कृष्टता को हिन्दी में उत्पन्न कर, हिन्दी-साहित्य को सचमुच राष्ट्रीय और सफल राष्ट्र के विकास का एक समर्थ उपकरण बनाना हमारा-आपका काम है। इस दायित्व को हम दूसरो पर नही छोड सकते।"

उनके इन मन्तव्यो के प्रकाश में इस ग्रन्थ का अवलोकन करने से प्रतीत होगा कि उन्होने भारतीय बौद्ध-साहित्य को कहाँतक आत्मसात् करके एक सच्चे कलाकार के दायित्व का निर्वाह किया है। बौद्ध-धर्म और बौद्ध-दर्शन का मार्मिक विवेचन करने में उन्होने अभूतपूर्व पाण्डित्य और कौशल प्रदर्शित किया है, उससे यह ग्रन्थ निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य में अपने ढग का अकेला प्रमाणित होकर रहेगा।

अत्यन्त दु ख का विषय है कि यह ग्रन्थ आचार्यजी के जीवनकाल मे प्रकाशित न हो सका। ग्रन्थ की छपाई के समाप्त होते ही उनकी इहलोक-लीला समाप्त हो गई।

निरन्तर अस्वस्थ रहते हुए भी वे इस ग्रन्थ के निर्माण में सदैव दत्तचित्त रहे। इसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दो की विस्तृत व्याख्या लिखने की सूचना भी उन्होने दी थी और उनका विचार था कि वह पारिभाषिक शब्दकोष भी साथ-ही-साथ प्रकाशित हो। किन्तु, नियति के विपरीत विधान ने वैसा न होने दिया। वे लगभग चार-पाँच सौ शब्दो का ही भाष्य तैयार कर सके थे कि अचानक साकेतवासी हो गये। अब यह कहना कठिन है कि यह कोष-ग्रन्थ कब और कैसे पूरा होकर प्रकाश में आ सकेगा।

महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज ने इस ग्रन्थ की गवेषणापूर्ण भूमिका तथा माननीय श्रीप्रकाशजी ने प्रस्तावना और डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने ग्रन्थकार-प्रशस्ति लिखकर ग्रन्थ को सुशोभित एवं पाठको को उपकृत करने की जो महती कृपा की है, उसके लिए परिषद् उन विद्वद्वरो का सादर आभार अगीकार करती है।

काशी-निवासी पण्डित जगन्नाथ उपाध्याय भी हमारे धन्यवाद-भाजन हैं, जिन्होने आचार्यजी की प्रेरणा और अनुमति से इस ग्रन्थ के मुद्रण-सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करने मे अनवरत परिश्रम किया तथा आचार्यजी के सौंपे हुए काम को बडी निष्ठा से निवाहा है। उनकी लिखी हुई ग्रन्थकर्त्ता-प्रशस्ति भी इसमे प्रकाशित है। उनका सहयोग सदा स्मरणीय रहेगा।

काशी के सहृदय साहित्यसेवी श्रीवैजनाथ सिह 'विनोद' के भी हम वहुत कृतज्ञ हैं, जिन्होने परिषद् के साथ आचार्यजी का साहित्यिक सम्बन्ध स्थापित कराया, जिसके परिणाम-स्वरूप आचार्यजी का यह अन्तिम सद्ग्रन्थ, परिषद् द्वारा, हिन्दी-ससार की सेवा में उपस्थित किया जा सका। 'विनोद' जी के सौजन्य एव सत्परामर्श से ही आचार्यजी की सक्षिप्त आत्मकथा इस ग्रन्थ में प्रकाशित हो सकी।

विहार और हिन्दी के नाते परिषद् के परम हितैषी श्रीगंगाशरण सिंह (ससद्-सदस्य) ने आचार्यजी की रुग्णावस्था में भी उनसे साग्रह ग्रन्थ तैयार कराने का जो सतत प्रयास किया, उसीके फलस्वरूप यह अमूल्य ग्रन्थ हिन्दी-जगत् को सुलभ हो सका। उन्होने आचार्यजी के निधन के वाद भी इस ग्रन्थ को सागोपाग प्रकाशित कराने के लिए वड़ी आत्मीयता के साथ काशी और मद्रास तक की दौड लगाई। आशा है कि वे इस ग्रन्थ को अपने मन के अनुकूल सर्वाङ्गपूर्ण रूप में प्रकाशित देखकर सन्तुष्ट होगे।

ग्रन्थकार के अभाव का विषाद अनुभव करते हुए भी हमें यही सान्त्वना मिली है कि भगवान् वुद्ध की पचीस-सौवी जयन्ती के शुभ अवसर पर यह ग्रन्थ प्रकाशित हो गया। विश्वास है कि विहार-राज्य के शिक्षा-विभागान्तर्गत राष्ट्रभाषा-परिषद् की यह श्रद्धाजलि भगवान् तथागत को स्वीकृत होगी।

अक्षय तृतीया (वैशाख)
विक्रम-सवत् २०१३

शिवपूजन सहाय
(परिषद्-मन्त्री)

बौद्ध-धर्म-दर्शन
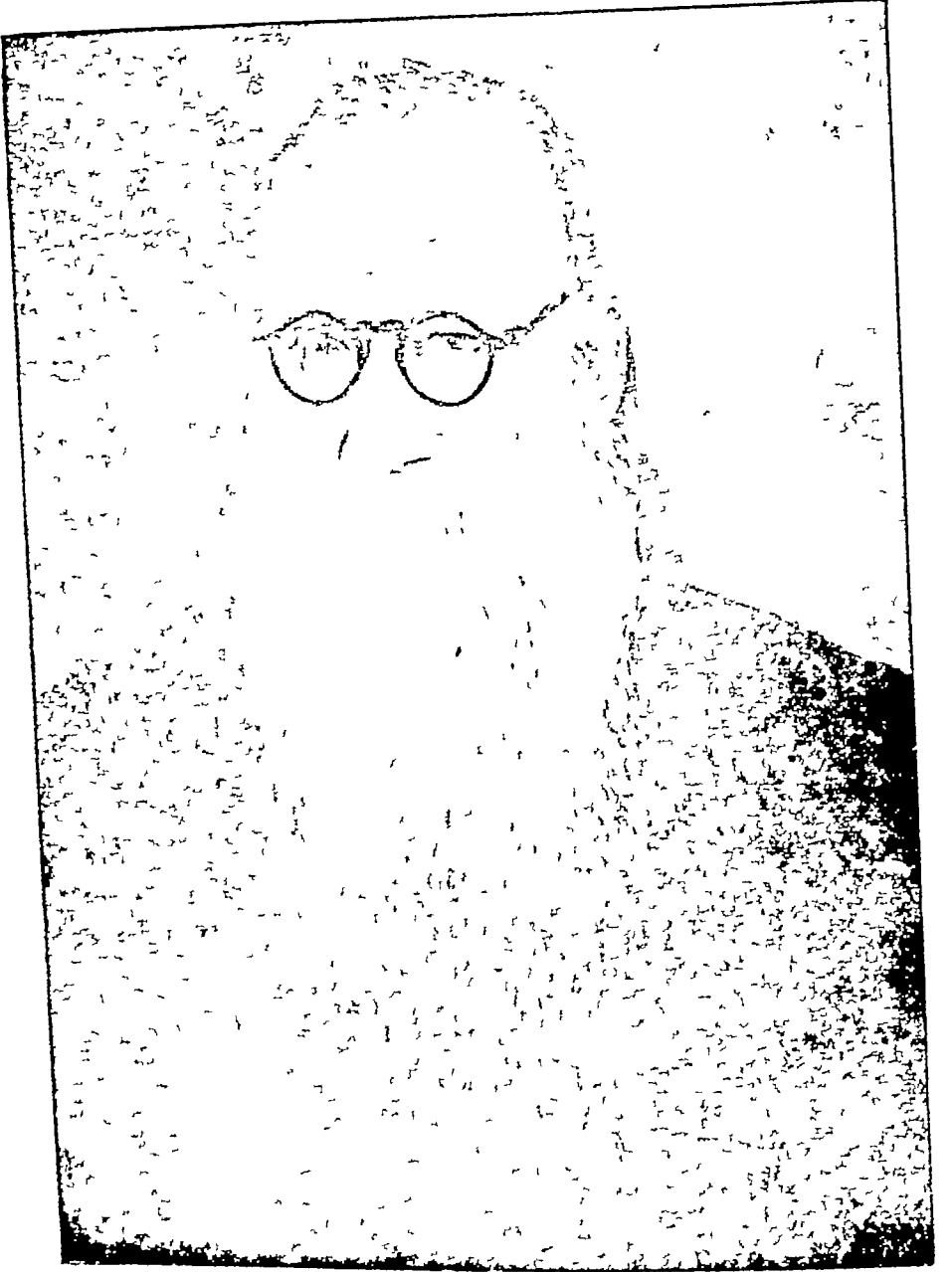
डॉ० भगवान् दास

भारतरत्न श्रद्धेय डॉक्टर भगवान्दासजी को

सादर सस्नेह समर्पित

—नरेन्द्रदेव

विषय-सूची

लेखक के दो शब्द ९

भूमिका [म० म० ० गोपीनाथ कविराज-लिखित] ११

आचार्यजी का अनुरोध—ग्रन्थ की विशेषता—बौद्धेतरो मे बौद्ध-दर्शन के सम्यक् आलोचन का अभाव—बौद्ध तथा अन्य भारतीय साधन-धाराओ मे साम्य—ग्रन्थ के विषय—बौद्ध-धर्म एव जीवन में आदर्शगत वासनाक्षय और वासना-शोधन का सिद्धान्त—सम्यक्-सम्बुद्धत्व का परम आदर्श—आध्यात्मिक जीवन में करुणा तथा सेवा का स्थान—करुणा की लोकोत्तरता—महायान ही योगपथ है—करुणा की साधनावस्था और साध्यावस्था—श्रावक तथा प्रत्येक-बुद्ध से बोधिसत्त्व के सम्यक्-सम्बुद्धत्व-रूप आदर्श का भेद—पारमिता-नय तथा मन्त्र-नय का स्वरूप और उद्देश्य—मन्त्रमार्ग के अवान्तर भेद (वज्रयान, कालचक्रयान तथा सहजयान) चार वज्रयोग—अभिसम्बोधि का उत्पत्ति-क्रम तथा उत्पन्न-क्रम—उत्पत्ति-क्रम की चार अभिसम्बोधियाँ—काय, वाक्, चित्त और ज्ञानवज्रयोग—क्षणभेद के अनुसार आनन्द के चार भेद—तान्त्रिको की त्रिकोण-उपासना—चार मुद्राएँ—११ अभिषेक (७ पूर्वाभिषेक, ३ उत्तराभिषेक, १ अनुत्तरा-भिषेक)—षडग योगसाधन का विस्तार—कालचक्र—शून्यता-बिम्ब का साधन—तान्त्रिक साधन मे दो प्रकार के योगाभ्यास—बौद्ध-तन्त्र के प्रवर्त्तक आचार्य—तन्त्र-शास्त्रो के अवतरण का अन्तरग रहस्य—बौद्ध-तन्त्र और योग का साहित्य—तन्त्र के मूल आदर्श का महत्त्व ।

लेखक की जीवनी ४९

प्रथम खण्ड (१-१००)

[प्रारम्भिक बौद्ध-धर्म तथा दर्शन]

प्रथम अध्याय . बुद्ध का जीवन १-१३

भारतीय सस्कृति की दो धाराएँ—बुद्ध का प्रादुर्भाव—बुद्ध के समसामयिक, बुद्धत्व-प्राप्ति—धर्मप्रसार-चारिका, वर्षावास और प्रवारणा—निर्वाण—अनेक प्रकार के भिक्षु—भगवान् का परिनिर्वाण—वैदिक धर्म का प्रभाव—प्रथम धर्म-सगीति ।

द्वितीय अध्याय :: बुद्ध का मूल उपदेश — १४–२४

बुद्ध की शिक्षा में सार्वभौमिकता—मध्यम-मार्ग—शिक्षात्रय—प्रतीत्यसमुत्पाद—अष्टांगिक-मार्ग—पंचशील।

तृतीय अध्याय : पालि-बौद्धागम — २५–३४

बुद्ध-देशना की भाषा तथा उसका विस्तार—पालि-साहित्य का रचना-प्रकार एवं विकास—त्रिपिटक तथा अनुपिटकों का संक्षिप्त परिचय—पिटकेतर पालिग्रन्थ।

चतुर्थ अध्याय :: निकाय-विस्तार — ३५–३८

निकायों का विकास।

पंचम अध्याय : स्थविरवाद की साधना — ३९–१००

शमथ-यान—कसिण-निर्देश—दस अशुभ-कर्मस्थान—दस अनुस्मृतियाँ—आनापान-स्मृति—चार ब्रह्मविहार—चार अरूपध्यान—आहार में प्रतिकूल संज्ञा—चतुर्धातु-व्यवस्थान—विपश्यना।

द्वितीय खण्ड (१०१—२१८)

[महायान-धर्म और दर्शन, उसकी उत्पत्ति तथा विकास, साहित्य और साधना]

षष्ठ अध्याय . महायान का उद्भव और उसकी विशेषता — १०३–१२२

महायान-धर्म की उत्पत्ति—महायान-धर्म की विशेषता—त्रिकायवाद।

सप्तम अध्याय · बौद्ध-संस्कृत-साहित्य और उसका परिचय — १२३–१६३

बौद्ध-संस्कृत-साहित्य का अर्वाचीन अध्ययन—बौद्ध-संकर-संस्कृत का विकास—महावस्तु—ललितविस्तर—अश्वघोष-साहित्य—अवदान-साहित्य—महायान-सूत्र—सद्धर्मपुण्डरीक—कारण्डव्यूह—अक्षोभ्यव्यूह एवं करुणापुण्डरीक—सुखावतीव्यूह—आर्य-बुद्धावतंसक—गण्डव्यूह—दशभूमीश्वर—प्रज्ञापारमितासूत्र—लंकावतारसूत्र।

अष्टम अध्याय : महायान के प्रधान आचार्य — १६४–१७५

महायान-दर्शन की उत्पत्ति और उसके प्रधान आचार्य।

नवम अध्याय . महायान के तन्त्रादि साहित्य — १७६–१७८

माहात्म्य, स्तोत्र, धारणी और तन्त्रों का संक्षिप्त परिचय।

दशम अध्याय महायान की साधना तथा चर्या — १७९–२१८

महायान में साधना की नई दिशा—बुद्ध के पूर्वजन्म—बुद्धत्व—बोधि-चित्त तथा बोधि-चर्या—पारमिताओं की साधना।

तृतीय खण्ड (२१९—३०८)

[बौद्ध-दर्शन के सामान्य सिद्धान्त]

एकादश अध्याय : भूमिका २२१—२२३

बौद्ध-दर्शन की भूमिका।

द्वादश अध्याय :: कार्य-कारण-सम्बन्धी सिद्धान्त २२४—२४९

प्रतीत्यसमुत्पादवाद—क्षणभंगवाद—अनीश्वरवाद—अनात्मवाद।

त्रयोदश अध्याय :: कर्मफल के सिद्धान्त २५०—२७७

कर्मवाद (शुद्ध मानसिक-कर्म—काय-कर्म—वाक्कर्म—कर्म की परिपूर्णता—प्र ोग और मौलकर्म—प्राणातिपात की आज्ञापनविज्ञप्ति—पुण्यक्षेत्र—अविज्ञप्ति कर्म—दैव और पुरातन कर्म—बुद्धि और चेतना—कुशल और अकुशल मूल—शीलव्रत-परामर्श—कर्मफल—कर्मविपाक के सम्बन्ध में विभिन्न मत)।

चतुर्दश अध्याय :: विभिन्न बौद्ध-सिद्धान्तों में निर्वाण का रूप २७८—३०८

निर्वाण (पाश्चात्य विद्वानो के मत—पूसें का मत—योग और बौद्ध-धर्म—निर्वाण की कल्पना—दृष्टधर्म-निर्वाण—निर्वाण का परम्परानुसार स्वरूप—वैभाषिक और सौत्रान्तिक मत—असस्कृत के सम्बन्ध में वचन—निर्वाण का मुख्य आकार—निर्वाण के अन्य प्रकार—शरवात्स्की का मत—हीनयान के परवर्ती निकायो का मत—निर्वाण का नया स्वरूप, निर्वाण के भेद)।

चतुर्थ खण्ड (३०९—५६२)

[बौद्ध-दर्शन के चार प्रस्थान विषय-परिचय और तुलना]

पंचदश अध्याय . वैभाषिक नय ३११—३७१

सर्वास्तिवाद—सर्वास्तिवाद की आख्या पर विचार—सर्वास्तिवादी निकाय के भेद—धर्म-प्रविचय—संस्कृत (स्कन्ध—आयतन—धातु) धर्म—आत्मा और ईश्वर का प्रतिषेध—परमाणुवाद—चक्षुरादि विज्ञान के विषय और आश्रय—इन्द्रिय—चित्त-चैत्त—चित्त-चैत्त का सामान्य विचार—चित्त-विप्रयुक्त धर्म—निकाय-सभाग—दो समापत्तियाँ—सस्कृत-धर्म के लक्षण—नाम, पद, व्यजन-काय—न्याय-वैशेषिक से वैभाषिको की तुलना—हेतु-फल-प्रत्ययता का वाद (प्रत्यय—प्रत्ययो का अध्वगत एव धर्मगत कारित्र—स्थविरवाद के अनुसार प्रत्यय—हेतु—हेतुओ पर सौत्रान्तिक और

सर्वास्तिवाद का मतभेद—फल) लोक-धातु—अनुशय—क्षान्ति, ज्ञान तथा दर्शन-दृष्टि ।

षोडश अध्याय : सौत्रान्तिक-नय ३७२–३८३

सौत्रान्तिक आख्या पर विचार—वैभाषिक से सौत्रान्तिक का मतभेद और सौत्रान्तिक सिद्धान्त ।

सप्तदश अध्याय : आर्य असंग का विज्ञानवाद ३८४–४१४

महायान का बुद्ध-वचनत्व—महायान की उत्कृष्टता—श्रावकयान से विरोध—बोधिसत्त्व के गोत्र—बोधिचित्तोत्पाद—बोधिसत्त्व का सम्भार—असंग के दार्शनिक विचार—बोधिचर्या—बुद्धत्व (बोधि) का लक्षण—बुद्धत्व का परमात्मभाव—शंकर के आत्मभाव से तुलना—असंग का अद्वैतवाद—निर्वाण—त्रिकायवाद—बुद्ध की एकता अनेकता—उपनिषदों के आत्मवाद से तुलना—धर्म के तीन स्वभाव—आत्मा और लोक की मायोपमता—धर्मों की तथता—लौकिक-अलौकिक समाधि—बोधिचर्या का क्रम एवं स्वरूप—त्रिविध शून्यता—बोधिपाक्षिक धर्म—पुद्गलनैरात्म्य—बोधिसत्त्व की दशभूमियाँ ।

अष्टादश अध्याय : वसुबन्धु का विज्ञानवाद (१) [विंशतिका के आधार पर] ४१५–४२१

बाह्यार्थ का प्रतिषेध—विज्ञप्तिमात्रता—परमाणुवाद का खण्डन ।

वसुबन्धु का विज्ञानवाद (२) [शुआन-च्वांग की 'सिद्धि' के आधार पर] ४२२–४८७

'सिद्धि' का प्रतिपाद्य—विज्ञान-परिणाम के विविध मतवाद—आत्मग्राह की परीक्षा—आत्मग्राह की उत्पत्ति—आत्मवाद का निराकरण और मूल-विज्ञान—धर्मग्राह की परीक्षा—हीनयान के सप्रतिघ रूपों के द्रव्यत्व का निषेध—परमाणु पर विज्ञानवादी सिद्धान्त—अप्रतिघ रूपों के द्रव्यत्व का निषेध—असंस्कृतों के द्रव्य-सत्त्व का निषेध—ग्राह्य-ग्राहक विचार—आत्मधर्मोपचार पर आक्षेप, समाधान—विज्ञान के त्रिविध परिणाम—आलयविज्ञान—आलय की सर्वबीजकता—आलय से लोक की उत्पत्ति—आलम्बनाकार—आलय का चैत्तों से सम्प्रयोग—आलयविज्ञान की वेदना—आलय और उसके चैत्तों का प्रकार—प्रतीत्यसमुत्पाद—आलय की व्यावृत्ति—अष्टम विज्ञान पर शुआन-च्वांग का मत—अष्टम विज्ञान के पक्ष में आगम के प्रमाण और युक्तियाँ—बीजधारक चित्त—विपाकचित्त—गति और योनि—उपादान—जीवित, उष्म और विज्ञान—प्रतिसन्धि-चित्त और मरण-चित्त—विज्ञान और नामरूप—आहार—

निरोध-समापत्ति—सक्लेश-व्यवदान—विज्ञान का द्वितीय परिणाम 'मन'—मन के आश्रय—मन का आलम्बन—मन के सम्प्रयोग—अक्लिष्ट मन—मन की सज्ञा—विज्ञान का तृतीय परिणाम, षड्विज्ञान—विज्ञप्तिमात्रता—विज्ञप्तिमात्रता की विभिन्न व्याख्याएँ—विज्ञप्तिमात्रता पर कुछ आक्षेप और उसके उत्तर—त्रिस्वभाववाद—स्वभावत्रय का चित्त से अभेद—असस्कृत धर्मों की त्रिस्वभावता—त्रिस्वभाव की सत्ता—निःस्वभाववाद।

ऊनविंश अध्याय :: माध्यमिक नय ४८८–५६२

माध्यमिक दर्शन का महत्त्व—माध्यमिक दर्शन का प्रतिपाद्य—स्वतः उत्पत्ति के सिद्धान्त का खण्डन—माध्यमिक की पक्षहीनता—माध्यमिक की दोषोद्भावन-प्रणाली—माध्यमिक स्वतन्त्र अनुमानवादी नही—परत उत्पादवाद का खण्डन—प्रतीत्य-समुत्पाद—बुद्ध-देशना की नेयार्थता और नीतार्थता—सवृति की व्यवस्था—प्रमाण-द्वयता का खण्डन—लक्ष्य-लक्षण का खण्डन—प्रमाणो की अपरमार्थता—हेतुवाद का खण्डन—गति, गन्ता और गन्तव्य का निषेध—अध्वत्रय का निषेध—द्रष्टा, द्रष्टव्य और दर्शन का निषेध—रूपादि स्कन्धो का निषेध—षड्धातुओ का निषेध—रागादि क्लेशो का निषेध—सस्कृत धर्मों का निषेध (सस्कृत पदार्थों के लक्षण का निषेध—सस्कृत-लक्षण के लक्षण का निषेध—उत्पाद की उत्पाद-स्वभावता का खण्डन—अनुत्पाद से प्रतीत्यसमुत्पाद का अविरोध—निरोध की निर्हेतुकता का निषेध)—कर्म-कारक आदि का निषेध—पुद्गल के अस्तित्व का खण्डन—उपादाता और उपादान के अभाव से पुद्गल का अभाव—पदार्थों की पूर्वापर-कोटिशून्यता—दुःख की असत्ता—सस्कारो की नि स्वभावता—माध्यमिक अभाववादी नही—ससर्गवाद का खण्डन—नि स्वभावता की सिद्धि (स्वभाव का लक्षण—शून्यवाद उच्छेदवाद या शाश्वतवाद नही) ससार की सत्ता का निषेध—कर्म, फल और उसके सम्बन्ध का निषेध—क्षणिकवाद में कर्मफल की व्यवस्था—अविप्रणाश से कर्मफल की व्यवस्था—कर्मफल की नि स्वभावता—अनात्मवाद (आत्मा स्कन्ध से भिन्न या अभिन्न नही—अनात्मसिद्धि में आगम बाधक नही)—तथागत के प्रवचन का प्रकार (माध्यमिक नास्तिक नही हैं—तत्त्वामृतावतार की देशना)—तत्त्व का लक्षण—काल का निषेध—हेतु-सामग्रीवाद का निषेध—उत्पाद-विनाश का निषेध—तथागत के अस्तित्व का निषेध—विपर्यास का निषेध—चार आर्य-सत्यो का निषेध—(लोकसवृति-सत्य—परमार्थ-सत्य—सत्य-द्वय का प्रयोजन)—निर्वाण (निर्वाण की स्कन्ध-निवृत्तिता—निर्वाण की कल्पना-क्षयता—निर्वाण से ससार का अभेद—तथागत के प्रवचन का रहस्य)।

पंचम खण्ड (५६३—६१६)

[बौद्ध-न्याय]

विश अध्याय . काल, दिक्, आकाश और प्रमाण ५६५–६१६

विषय-प्रवेश—कालवाद (काल का उद्गम—काल का आधार—काल और आकाश की समानता, उसके लक्षण—विभाषा में कालवाद—वैभाषिक नय में कालवाद—उत्तरवर्त्ती वैभाषिक मत—कारित्र का सिद्धान्त—फलाक्षेप-शक्ति और कारित्र) दिग्-आकाशवाद—प्रमाण (प्रमाणशास्त्र का प्रयोजन—प्रमाण-फल तथा प्रमाण का लक्षण—प्रमाणो की सत्यता की परीक्षा—वस्तु-सत्ता का द्वैविध्य—प्रमाण का द्वैविध्य)—प्रत्यक्ष (मानस-प्रत्यक्ष—योगिप्रत्यक्ष—स्वसवेदन)—प्रत्यक्ष पर अन्य भारतीय दर्शनो के विचार—अनुमान (स्वार्थानुमान—लिग की त्रिरूपता—त्रिरूप लिग के तीन प्रकार—अनुपलब्धि के प्रकार-भेद—परार्थानुमान—अनुमान-प्रयोग के अग—हेत्वाभास) ।

शब्दानुक्रमणी ६१७–६८७

सहायक ग्रन्थसूची ६८८–६९०
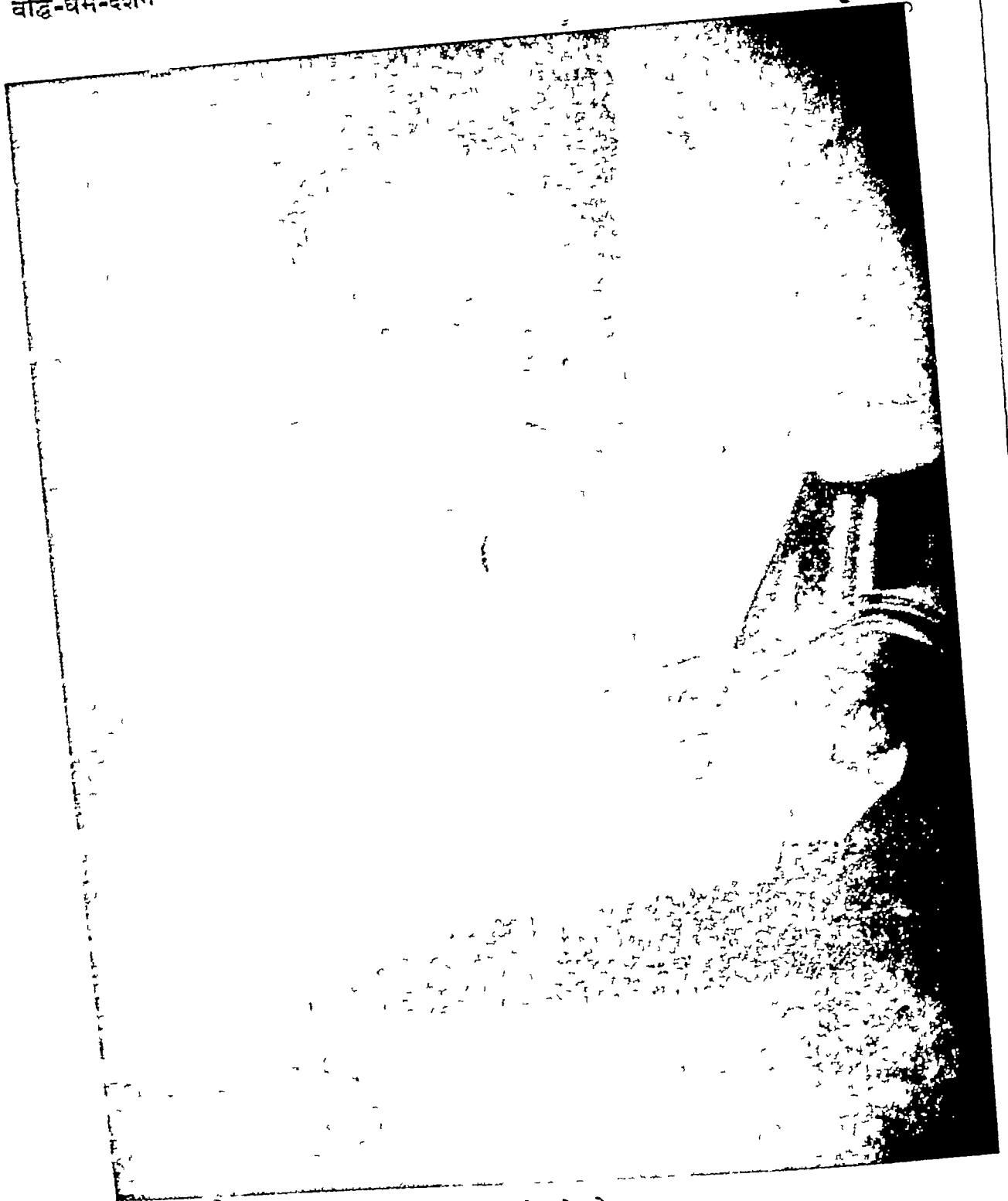
आचार्य नरेन्द्रदेव

लेखक के दो शब्द

जब मैं अहमदनगर किले मे नजरबन्द था, तब मैंने अभिधर्मकोश का फ्रेंच से भाषानुवाद किया था। यह ग्रन्थ बडे महत्त्व का है। मेरा विचार है कि इसका अध्ययन किये विना बौद्ध-दर्शन के क्रमिक विकास का अच्छा ज्ञान नही होता। यह वैभाषिक-नय के अनुसार सर्वास्तिवाद का प्रधान ग्रन्थ है। इस कार्य को समाप्त कर मैंने विज्ञानवाद के अध्ययन के लिए महायानसूत्रालकार, विंशिका, त्रिंशिका तथा त्रिंशिका पर लिखी गई चीनी-पर्यटक शुआन-च्वाग की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि का सक्षेप तैयार किया। आचार्य वसुवन्धु की त्रिंशिका पर अनेक टीकाएँ थी, जिनमे से केवल स्थिरमति की टीका उपलब्ध है। शुआन-च्वाँग की विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि चीनी-भाषा में है। यह ग्रन्थ किसी सस्कृत-ग्रन्थ का चीनी-अनुवाद नही है, किन्तु एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। त्रिंशिका पर जो अनेक टीकाएँ लिखी गई थी, उनके आधार पर यह ग्रन्थ तैयार हुआ था, इसलिए यह ग्रन्थ बडे महत्त्व का है। इसका फ्रेंच-अनुवाद पूसे नामक विद्वान् ने किया है। इस ग्रन्थ का किसी अन्य भाषा मे अनुवाद नही हुआ है। मैंने अभि-धम्मत्थसगहो, विसुद्धिमग्गो, उसकी धर्मपाल-लिखित टीका (परमत्थमजूसा) का भी अध्ययन किया। यह सब सामग्री अहमदनगर मे ही एकत्र की गई। किन्तु, बौद्धधर्म तथा दर्शन पर किसी विस्तृत ग्रन्थ के लिखने की योजना मैंने नही तैयार की थी। अपने एक मित्र के कहने पर उनकी पुस्तक के लिए मैंने एक विस्तृत भूमिका लिखी थी, जिसमें बौद्धधर्म का सिंहावलोकन किया था। छूटने के कई वर्ष पश्चात् मेरे कुछ मित्रो ने इस सामग्री को देखकर मुझे एक विस्तृत ग्रन्थ लिखने का परामर्श दिया। समय-समय पर हिन्दी की विभिन्न पत्रिकाओ मे मैंने बौद्धधर्म के विविध विषयो पर लेख लिखे थे। बौद्ध साहित्य का इतिहास, सौत्रान्तिकवाद, माध्यमिक-दर्शन तथा बौद्धन्याय के अध्याय पीछे से लिखे गये।

इस ग्रन्थ के तैयार करने में मुझे बनारस सस्कृत-कॉलेज के अध्यापक प० जगन्नाथ उपाध्याय, वेदान्ताचार्य तथा 'सारस्वती सुषमा' के सम्पादक पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी, दर्शनाचार्य की विशेष सहायता मिली है। उपाध्यायजी ने निबन्धो को ग्रन्थ का रूप देने में बडी सहायता की है। प्रूफ देखने का सारा काम इन्ही दो मित्रो ने किया है। मै गत वर्ष योरप चला गया था और लौटने के बाद से निरन्तर बीमार चला जाता हूँ। सच तो यह है कि यदि इन मित्रो की सहायता प्राप्त न होती तो, पुस्तक के प्रकाशित होने में अभी बहुत बिलम्ब होता। मै इन मित्रो के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ। मै अपने सहपाठी तथा भारतीय दर्शनो के प्रकाण्ड विद्वान् प० गोपीनाथजी कविराज का विशेष रूप से आभारी हूँ कि उन्होंने ग्रन्थ की भूमिका लिखने की मेरी प्रार्थना को स्वीकार किया। अपनी विस्तृत भूमिका मे उन्होने बौद्धतन्त्र का प्रामाणिक विवरण दिया है। इस प्रकार, पाठक देखेंगे कि भूमिका ग्रन्थ की एक कमी को भी पूरा करती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध का जीवनचरित, उनकी शिक्षा, उसका विस्तार, विभिन्न निकायो की उत्पत्ति तथा विकास, महायान की उत्पत्ति तथा उसकी साधना, स्थविरवाद का समाधिमार्ग तथा प्रज्ञामार्ग, कर्मवाद, निर्वाण, अनात्मवाद, अनीश्वरवाद, क्षणभगवाद, बौद्ध साहित्य (पालि तथा सस्कृत) के विविध दर्शन—सर्वास्तिवाद, सौत्रान्तिकवाद, विज्ञानवाद, तथा माध्यमिक—तथा बौद्धन्याय का सविस्तर वर्णन है। मैंने इस ग्रन्थ की रचना में यथा-सम्भव मौलिक ग्रन्थो का आश्रय लिया है। प्रत्येक दर्शन के लिए कुछ मुख्य ग्रन्थ चुन लिये गये हैं और उनका सक्षेप देकर उसके मूल सिद्धान्त बताने की चेष्टा की गई है। यह प्रकार मुझको पसन्द है। आशा है, पाठक भी इस प्रकार को पसन्द करेंगे। सुहृद्वर कविराजजी का सुझाव था कि ग्रन्थ के अन्त में पारिभाषिक शब्दो का एक कोश दिया जाय। इससे ग्रन्थ की उपादेयता बहुत बढ गई है।

मै बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का भी कृतज्ञ हूँ कि उसने इस ग्रन्थ को प्रकाशित करना स्वीकार किया। मै समझता हूँ कि यह ग्रन्थ युनिवर्सिटी के विद्यार्थियो के लिए विशेष रूपसे उपयोगी सिद्ध होगा।

३१-१२-५५

नरेन्द्रदेव

भूमिका

मित्रवर आचार्य नरेन्द्रदेवजी बहुत दिनो से बौद्ध-दर्शन की आलोचना कर रहे है। काशी-विद्यापीठ आदि पत्रिकाओ मे समय-समय पर बहुत ही तथ्यपूर्ण एव मूल्यवान् निबन्ध लिखे है। वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोश का पूसें ने जो फ्रेंच-अनुवाद किया था, उसका आचार्यजी-कृत हिन्दी-अनुवाद-सहित प्रकाशन-कार्य प्रारम्भ हो गया है। बौद्ध-धर्म और दर्शन के विषय में राष्ट्रभाषाभाषी जनता के ज्ञान के लिए यह एक उत्कृष्ट देन है। राजनीति-क्षत्र में सदा व्यस्त रहने पर तथा शारीरिक अस्वस्थता से खिन्न रहते हुए भी उन्होने बौद्ध-धर्म और दर्शन-सम्बन्धी विभिन्न अगो के परिशीलन में अपने समय का बहुत-सा अश विनियुक्त किया है। इसके फलस्वरूप बहुत दिनो के परिश्रम से उनके अनेक सारगर्भ निबन्ध और लेख सचित हुए हैं। यह अत्यन्त आनन्द का विषय है कि ये समस्त लेख एव निबन्ध यथाप्रयोजन सशोधित और परिवर्द्धित होकर एक सर्वागसुन्दर ग्रन्थ के रूप में विद्वत्समाज के समक्ष उपस्थित है। आचार्यजी के बहुत दिनो के सनिर्बन्ध अनुरोध की उपेक्षा करने में असमर्थ होने के कारण आज मै इस ग्रन्थ के उपोद्घात के रूप में चार बातें कहने के लिए उद्यत हुआ हूँ। इस कार्य से मै अपने को सम्मानित समझता हूँ। समय के अभाव और स्थान के सकोच के कारण यथासम्भव सक्षेप में ही आलोचना करनी पडेगी।

यह कहना ही चाहिए कि ऐसा ग्रन्थ हिन्दी-भाषा में तो नही है, किसी भारतीय भाषा में भी नही है। मै समझता हूँ कि किसी विदेशी भाषा में भी ऐसा ग्रन्थ नही है। बौद्ध-दर्शन के मूल दार्शनिक ग्रन्थ अत्यन्त कठिन एव दुरूह है। आचार्यजी ने घोर परिश्रम करके उसकी विभिन्न शाखाओ के ग्रन्थो का आद्योपान्त अध्ययन कर इस ग्रन्थ में मुख्य-मुख्य विषयो का आक्षेप-समाधानपूर्वक विस्तृत विवेचन किया है। किसी टीकाकार की प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार आचार्यजी ने कुछ भी अनपेक्षित एव अमूल नही लिखा है। उन्होने ग्रन्थ की प्रामाणिकता के रक्षार्थ मूल ग्रन्थो से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखा है। पाठक को बौद्ध-धर्म और दर्शन की मूल भावनाओ एव वातावरण से परिचित कराने के लिए उन्होने बौद्धो के शब्द तथा शैली को भी इस ग्रन्थ मे पूर्ण सुरक्षित रखा है। विभिन्न प्रस्थानो के कुछ विशिष्ट मूल ग्रन्थो का सक्षेप दे देने से इस ग्रन्थ की उपादेयता और बढ गई है। दर्शन के प्रामाणिक अध्ययन के लिए इस प्रणाली को मै सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ। इस प्रकार, यह ग्रन्थ इस विषय की उच्च कक्षा के विद्यार्थियो के लिए ही उपादेय नही है, प्रत्युत इससे इतर भारतीय दर्शन के विद्वानो को भी प्रचुर सहायता मिलेगी। बौद्ध-दर्शन के उपलब्ध सस्कृत-ग्रन्थो मे भी कोई एक ऐसा ग्रन्थ नही है, जिसके द्वारा बौद्धो की समस्त शाखाओं के सिद्धान्त का ज्ञान हो। ऐसे ग्रन्थ

की अत्यन्त अपेक्षा थी। आचार्यजी ने यह ग्रन्थ लिखकर इस अभाव की उचित पूर्त्ति की है।

यह सर्वत्र प्रसिद्ध है कि प्राचीन भारतीय पण्डितगण अपना मत स्थापित करने के लिए परमत की पूर्वपक्ष के रूप में आलोचना करते थे। विरुद्ध मतो में प्राचीन काल में, अर्थात् खीष्ट द्वितीय शतक से द्वादश शतक तक, बौद्धमत का ही मुख्य स्थान रहा, इसमें कुछ भी सन्देह नही है। न्याय, वैशेषिक, पातजलयोग, पूर्वमीमासा तथा वेदान्त-प्रस्थान की समकालीन दार्शनिक विचारधाराओ की आलोचना करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्त्ति आदि सुप्रसिद्ध आचार्यों का नाम कौन नही जानता? सौगत दर्शन के चार मुख्य प्रस्थानो का परिचय किसे नहीं है? यह बात सत्य है, किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि बौद्ध-दर्शन एव धर्म का परिचय प्राय. लोगो को नहीं है। पूर्वकाल में भी इसका ज्ञान सब लोगो को नहीं था। साधारण जनता की बात दूर रही, बडे-बडे पण्डित भी इससे वचित थे। इसलिए, प्राचीन समय में भी कोई-कोई आचार्य बौद्धमत के पूर्वपक्ष के स्थापन के प्रसग में निरसनीय मत से सम्यक् अभिज्ञ न थे। अवश्य उदयनाचार्य या वाचस्पतिमिश्रादि इसके अपवाद है। इस दृष्टि से वर्त्तमान समय की स्थिति और भी शोचनीय है। इसका प्रधान कारण बौद्धो के प्रामाणिक ग्रन्थों का अभाव है। दूसरा कारण है ग्रन्थों के उपलब्ध होने पर भी व्यक्तिगत कुसस्कारो के कारण सहृदय आलोचन का अभाव।

वर्त्तमान समय में बहुत-से दुर्लभ ग्रन्थो का अभाव कुछ कम हुआ है। यह सत्य है कि आज भी बहुत-से अमूल्य ग्रन्थ अप्राप्त हैं, और प्राप्त ग्रन्थो मे भी सबका प्रकाशन नही हुआ है। परन्तु, अब आशा हो चली है कि अनुसन्धान की क्रमिक वृद्धि के फलस्वरूप बहुत-से अज्ञात ग्रन्थो का परिचय प्राप्त होगा और अप्राप्त ग्रन्थ प्राप्त होगे। यह भी आशा है कि दार्शनिको का चित्तगत सकोच दूर होगा और रुचि परिवर्त्तित होगी। इससे प्राचीन एव अभिनव ग्रन्थो के तथ्य-निर्माण की ओर दृष्टि आकर्षित होगी। इससे बौद्ध-धर्म और दर्शन-सम्बन्धी मिथ्याज्ञान अनेक अशो में दूर होगा। आचार्यजी का प्रस्तुत ग्रन्थ इस कार्य में विशेष रूप सेस हायक होगा, इसमें सन्देह नही है।

(२)

आचार्यजी ने ग्रन्थ का नाम 'बौद्ध-धर्म-दर्शन' रखा है। वस्तुत धर्म और दर्शन-सम्बन्धी प्रचुर सामग्री इसमें सचित है। वर्त्तमान युग की विभिन्न भाषाओ में इस सम्बन्ध में जो विचार प्रकाशित हुए है, उनका सार-सकलन देने के लिए ग्रन्थकार ने प्रयत्न किया है। बौद्ध-धर्म का उद्भव, उसका भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशो में तथा भारत से बाहर के देशो में प्रसार एक ऐतिहासिक व्यापार है। एक ही मूल उपदेश श्रोताओ और विचारको के आशय-भेद से नाना रूप में विभिन्न निकायो में विकसित हुआ है। यह ऐतिहासिक घटना है, इसलिए धर्म तथा दर्शन की क्रमश विकसित धाराएँ इसमें प्रदर्शित हैं। जो लोग भारतीय साधना-

धारा से सुपरिचित है, वे इस ग्रन्थ के उपासना-सम्बन्धी अध्यायो को पढकर देखेंगे कि बौद्ध उपासना-पद्धति भी अन्य भारतीय साधना-धारा के अनुरूप भारतीय ही है। प्रस्थान-भेद के कारण अवान्तर भेद के होते हुए भी सर्वत्र निगूढ साम्य लक्षित होता है। वर्त्तमान समय में यह साम्यबोध अत्यन्त आवश्यक है। वैषम्य जगत् का स्वभाव है, किन्तु इसके हृदय में साम्य प्रतिष्ठित रहता है। बहु मे एक, विभक्त मे अविभक्त तथा भेद मे अभेद का साक्षात्कार होना चाहिए, इसी के लिए ज्ञानी का सम्पूर्ण प्रयत्न है। साथ-ही-साथ, इस प्रयत्न के फलस्वरूप एक मे बहु, अविभक्त मे विभक्त तथा अभेद मे भी भेद दृष्टिगोचर होता है। ऐसी अवस्था में अवश्य ही भेदाभेद से अतीत, वाक् और मनस् से अगोचर, निर्विकल्पक परमसत्य का दर्शन होता है। प्रति व्यक्ति के जीवन मे जो सत्य है, जातीय जीवन मे भी वही सत्य है। यही बात समग्र मानव के लिए भी सत्य है। विरोध से अविरोध की ओर गति ही सर्वत्र उद्देश्य रहना चाहिए।

(३)

आचार्यजी का यह ग्रन्थ ५ खण्डो और २० अध्यायो में विभक्त है। पहले खण्ड के पाँच अध्यायो में बौद्ध-धर्म का उद्भव और स्थविरो की साधना वर्णित है। प्रथम अध्याय मे भारतीय सस्कृति की दो धाराएँ, बुद्ध का प्रादुर्भाव, उनके समसामयिक आचार्य, धर्मप्रसार, भगवान् का परिनिर्वाण आदि विषय वर्णित हैं। द्वितीय अध्याय मे बुद्ध की शिक्षा की सार्वभौमिकता, उनका मध्यम-मार्ग, शिक्षात्रय, पचशील आदि प्रदर्शित है। तृतीय अध्याय मे बुद्धदेशना की भाषा और उसका विस्तार बताया गया है। चतुर्थ मे निकायो का विकास वर्णित है। पाँचवें मे समाधि का विस्तारपूर्वक वर्णन है।

द्वितीय खण्ड के पाँच अध्यायो का विषय महायान-धर्म और उसके दर्शन की उत्पत्ति और विकास, उसका साहित्य और साधना है। इस प्रकार, छठे अध्याय मे महायान-धर्म की उत्पत्ति और उसका त्रिकायवाद है। सातवे मे बौद्ध सस्कृत-साहित्य का और सकर-सस्कृत का परिचय देकर पूरे महायान-सूत्रो का विषय-परिचय कराया गया है। आठवे में महायान-दर्शन की उत्पत्ति और उसके प्रधान आचार्यों की कृतियो का परिचय है। नवे मे माहात्म्य, स्तोत्र, धारणी और तन्त्रो का सक्षिप्त परिचय है। दसवें मे विस्तार से महायान की बोधिचर्या और पारमिताओ की साधना वर्णित है।

तृतीय खण्ड मे बौद्ध-दर्शन के सामान्य सिद्धान्तो का विस्तार से वर्णन है। इसमें एकादश से चतुर्दश तक चार अध्याय है। एकादश मे बौद्ध दर्शन के सामान्य ज्ञान के लिए एक भूमिका है। द्वादश में प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणभगवाद, अनीश्वरवाद तथा अनात्मवाद का तर्कपूर्ण सुन्दर परिचय है। त्रयोदश और चतुर्दश मे क्रमश बौद्धो के कर्मवाद और निर्वाण का महत्त्वपूर्ण आलोचन किया गया है।

चतुर्थ खण्ड पचदश से ऊनविंश तक ५ अध्यायो में विभक्त है। इस खण्ड में बौद्ध दर्शन के चार प्रस्थानों का विशिष्ट ग्रन्थो के आधार पर विषय-परिचय और अन्य दर्शनो से

उनकी तुलना दी गई है। पचदश अध्याय में वैभाषिक-नय, षोडश में सौत्रान्तिक-नय, सप्तदश में असग का विज्ञानवाद, अष्टादश में वसुवन्धु का विज्ञानवाद, ऊनविंश मे शून्यवाद का विस्तार पूर्वक प्रामाणिक परिचय दिया गया है।

पचम खण्ड वौद्ध-न्याय का है। इस खण्ड के एकमात्र वीसवे अध्याय में आकाशवाद और कालवाद पर महत्त्वपूर्ण विचार करके न्याय के प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान का विवेचन किया गया है।

इस प्रकार, पाँच खण्डो में पालि और सस्कृत में वर्णित वौद्धधर्म और दर्शन का सागोपाग वर्णन है।

(४)

वौद्ध-धर्म में जीवन के आदर्श के सम्वन्ध में प्राचीन काल से ही दो मत हैं। ये दोनो मत उत्तरोत्तर अधिक पुष्ट होते गये। प्रथम—मलिन वासना के क्षय का सिद्धान्त है। इसका स्वाभाविक फल मुक्ति या निर्वाण है। दूसरा—वासना का शोधन है। इससे शुद्ध वासना का आविर्भाव होता है और देह-शुद्धि होती है। देह-शुद्धि के द्वारा विश्व-कल्याण या लोक-कल्याण का सम्पादन किया जा सकता है। अन्त में शुद्ध वासना भी नहीं रहती। उसका क्षय हो जाता है और उससे पूर्णत्व-लाभ होता है। इसे ये लोग वुद्धत्व कहते हैं। इसे आपेक्षिक दृष्टि से परा-मुक्ति कह सकते हैं। उपर्युक्त दोनों स्थितियो में काफी मतभेद है। सक्षेप में कह सकते हैं कि पहला आदर्श हीनयान का और दूसरा महायान का है। किन्तु, यह भी सत्य है कि हीनयान में भी महायान का सूक्ष्म वीज निहित था। श्रावकगण अपने व्यक्तिगत दु ख का नाश या निर्वाण चाहते थे। प्रत्येक-वुद्ध का लक्ष्य दु खनाश तथा व्यक्तिगत वुद्धत्व था। इनका अर्थ है स्वय वुद्धत्व-लाभ कर विश्व की दुख निवृत्ति में सहायता करना। प्राचीन समय में दस सयोजनो का नाश करके अर्हत्त्व की प्राप्ति करना लक्ष्य था। प्रचलित भाषा में इसे जीवन्मुक्ति का आदर्श कह सकते हैं। वौद्धमत में यह भी एक प्रकार का निर्वाण है। इसे सोपधिशेष निर्वाण कहते हैं। इसके वाद स्कन्ध-निवृत्ति, अर्थात् देहपात होने पर अनुपधि-शेष निर्वाण या विदेह-कैवल्य प्राप्त होता है। इस मार्ग में क्लेश ही अज्ञान का स्वरूप है। पातजल योग-दर्शन मे जैसे अविद्या को मूलक्लेश माना गया है, उसी प्रकार प्राचीन वौद्धो में क्लेश-निवृत्ति को ही मनुष्य-जीवन का परम पुरुषार्थ समझा जाता था। वस्तुत, क्लेश-निवृत्त हो जाने पर भी किसी-किसी क्षेत्र में वासना की सर्वथा निवृत्ति नही होती; क्योकि मलिन वासना का नाश होने पर भी शुद्ध वासना की सम्भावना रहती ही है। इसमें सन्देह नही कि जिसमें शुद्ध वासना नही है, उसके लिए क्लेश-निवृत्ति ही चरम लक्ष्य है। परन्तु, पूर्णत्व या वुद्धत्व का आदर्श इससे वहुत उच्च है। वोधिसत्त्व से भिन्न दूसरा कोई वुद्धत्व-लाभ नही कर सकता। शुद्ध वासना वस्तुतः परार्थ-वासना है। वोधिसत्त्व इस वासना से अनुप्राणित होकर क्रमश वुद्धत्व प्राप्त करने का अधिकारी होता है। वोधिसत्त्व की अवस्था भी एक प्रकार की अज्ञान की अवस्था है। परन्तु यह क्लिष्ट नहीं, अक्लिष्ट है। वोधिसत्त्व की भिन्न-भिन्न भूमियो को क्रमश. भेद करके आगे

चलना पडता है। इस प्रकार, क्रमशः शुद्ध वासना निवृत्त हो जाती है। बोधिसत्त्व की अन्तिम अवस्था में बुद्धत्व का विकास होता है, जैसे शुद्ध अध्वा में सचरण करते हुए जीव को क्रमश शिवत्व की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु, जबतक चिद्रूपा शक्ति की अभिव्यक्ति नही होती, तबतक शिवत्व का आभास होने पर भी शिवत्व की सम्यक् अभिव्यक्ति नही होती। यहाँतक कि विशुद्ध-विज्ञान-कैवल्य-रूप स्थिति मे अवस्थित होने पर भी पूर्ण शिवत्व का लाभ नही होता। ठीक इसी प्रकार बोधिसत्त्व की अवस्था दस या ततोऽधिक भूमियो मे विभक्त है। 'भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा' का विकास होते-होते अक्लिष्ट अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है, और अन्तिम अवस्था मे पूर्णाभिषेक की प्राप्ति होती है। उस समय बोधिसत्त्व बुद्ध पद पर अधिरूढ होते हैं। बुद्धत्व अद्वय स्थिति का वाचक है। पुद्गल-नैरात्म्य सिद्ध होने पर समझना चाहिए कि क्लेश-निवृत्ति हो गई है, किन्तु द्वैत का भान नही छूटता। इसके लिए धर्म-नैरात्म्य का होना आवश्यक भी है। शुद्ध वासना के निवृत्त होने पर धर्म-नैरात्म्य की भी सिद्धि हो जाती है। उस समय नैरात्म्य-दृष्टि से ज्ञाता और ज्ञेय समरस हो जाते है। यही पूर्ण नैरात्म्य है। वैदिक तथा आगमिक आदर्श में बाह्य दृष्टि से किंचित् भेद प्रतीत होता है। यह वैसा ही भेद है, जैसा कि ओल्ड टेस्टामेण्ट और न्यू टेस्टामेण्ट में लॉ (विधि) तथा लव (प्रेम) इन लक्ष्यो के आधार पर किंचित् भेद प्रतीत होता है।

बुद्धत्व का आदर्श प्राचीन समय में भी था। जनता के लिए बुद्ध होना आपातत शक्य नही था, परन्तु अर्हत्-पद में उत्थित होकर निर्वाण-लाभ करना, अर्थात् दुख का उपशम करना, सभी को इष्ट था। किन्तु, जिस स्थिति मे अपना और दूसरे का दुख समान प्रतीत होता है और अपनी सत्ता का बोध विश्वव्यापी हो जाता है, अर्थात् जब समस्त विश्व मे अपनत्व आ जाता है, उस समय सबकी दुःख-निवृत्ति ही अपने दुख की निवृत्ति में परिणत हो जाती है। क्लिष्ट वासना के उपशम से जो निर्वाण प्राप्त होता है, वह यथार्थ नही है। महानिर्वाण की प्राप्ति के पहले साधक को बोधिसत्त्व अवस्था में आरूढ होकर क्रमश उच्चतर भूमियो का अतिक्रम करना पडता है। क्रम-विकास के इस मार्ग मे किसी-किसी का शत-शत जन्म बीत जाता है।

साख्य-योग के मार्ग मेंजै से विवेकख्याति से विवेकज-ज्ञान का भेद दृष्टिगत होता है, ठीक उसी प्रकार श्रुत-चिन्ता-भावनामयी प्रज्ञा से भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा का भी भेद है। विवेक-ख्याति कैवल्य का हेतु है, परन्तु विवेकज-ज्ञान कैवल्य के अविरोधी ईश्वरत्व का साधक है। ईश्वरत्व की भूमि तक साधारण लोग उठ नही सकते, किन्तु विवेकज-ज्ञान प्राप्त करने पर कैवल्य-प्राप्ति का अधिकार सबको मिल सकता है। विवेकज-ज्ञान तारक, अक्रम, सर्वविषयक, सर्वथाविषयक तथा अनौपदेशिक है। अर्थात्, यह प्रातिभ ज्ञान है या स्वयसिद्ध महाज्ञान है। यह सर्वज्ञत्व है, किन्तु कैवल्य-स्थिति नही है। योगभाष्य में लिखा है कि सत्त्व और पुरुष के समरूप से शुद्ध हो जाने पर कैवल्य-लाभ होता है, परन्तु विवेक-ज्ञान की प्राप्ति या ईश्वरत्व-लाभ हो या न हो, इससे उसका कोई सम्बन्ध नही है। जैनमत में भी केवल-ज्ञान सभी को प्राप्त हो सकता है, किन्तु

तीर्थंकरत्त्व सबके लिए नही है। तीर्थंकर गुरु तथा दैशिक है। इस पद पर व्यक्ति-विशेष ही जा सकते हैं, सब नही। तीर्थंकरत्व त्रयोदश गुणस्थान में प्रकट होता है, परन्तु सिद्धावस्था की प्राप्ति चतुर्दश भूमि में होती है। द्वैत शैवागम में योगी के शुद्ध अध्वा में प्रविष्ट होने पर इसकी क्रमश शुद्ध अधिकार-वासना और शुद्ध भोग-वासना निवृत्त हो जाती है। ये दोनो ही शुद्ध अवस्था के द्योतक है। इसके बाद लयावस्था में शुद्ध भावो के भी अभाव से शिवत्व का उदय होता है। अधिकार-वासना तथा भोग-वासना अशुद्ध नही है, परन्तु इसकी भी निवृत्ति आवश्यक है। अधिकारावस्था ही शास्ता का पद है। शुद्ध विद्या का अधिष्ठाता होकर दु खपक-मग्न जगत् में ज्ञान-दान करना तथा जीव और जगत् को शुद्ध अध्वा में आकर्पित करना; यही विद्येश्वरगण का कार्य है। यह विशुद्ध परोपकार है। इस वासना का क्षय होने पर शुद्ध भोग हो सकता है, किन्तु इसके लिए वासना का रहना आवश्यक है। इस प्रकार, ईश्वर-तत्त्व से सदाशिव-तत्त्व तक का आरोहण होता है। जब शुद्ध आनन्द से भी वैराग्य होगा, तब अन्तर्लीन अवस्थाभूत शिवत्व का स्फुरण होगा। किन्तु, इसमे उपाधि रहती है। इसके बाद निरुपाधिक शिवत्व का लाभ होता है। उसमें व्यक्तित्व नही होता, क्योकि शुद्धवासना का क्षय होने पर व्यक्तित्व नही रह सकता। उस समय महामाया से पूर्ण मुक्ति मिल जाती है। अद्वैत शैवागम में भी भगवदनुग्रह के प्रभाव से शुद्ध मार्ग मे प्रवेश होता है, पश्चात् परमशिवत्व की स्थिति का क्रमश विकास होता है। दीक्षा का भी यथार्थ रहस्य यही है कि इससे पाश-क्षय और शिवत्व-योजन दोनो का लाभ होता है।

प्राचीन काल में बुद्धत्व का आदर्श प्रत्येक जीव का नही था। यह किसी-किसी उच्चाधिकारी का था। उसके लिए उसे विभिन्न जन्मो से विभिन्न प्रकार के सघर्षण के प्रभाव से जीवन का उत्कर्प-साधन करना पडता था। इस साधना को पारमिता की साधना कहते हैं। पुण्य-सम्भार तथा ज्ञान-सम्भार दोनो से बुद्धत्व निष्पन्न होता है। पुण्य-सम्भार कर्मात्मक, ज्ञान-सम्भार प्रज्ञात्मक है। इन दोनो की उपयोगिता थी। अद्वैतभाव के विस्तार के साथ-साथ बुद्धत्व का आदर्श व्याप्त हो गया था। पहले गोत्र-भेद का सिद्धान्त स्वीकार किया जाता था, किन्तु लक्ष्य बडा होने के कारण यह क्रमश उपेक्षित होने लगा। अभिनव दृष्टि के अनुसार बुद्ध-बीज सभी के भीतर है। परन्तु, एकमात्र मनुष्य-देह का ही यह वैशिष्ट्य है कि यहाँ यह अकुरित होकर विकसित हो सकता है। तभी बुद्धत्व-लाभ हो सकता है। जिस समय से बुद्धत्व के आदर्श का प्रसार हुआ, उस समय से बोधिसत्त्व की चर्या आवश्यक प्रतीत होने लगी। इस अवस्था में निर्वाण का प्राचीन आदर्श मलिन हो गया और इसका आदर्श महानिर्वाण या महा-परिनिर्वाण के रूप में परिणत हो गया।

(५)

साधक तथा योगी के जीवन में अन्य धर्मों के विकास के सदृश करुणा का विकास भी आवश्यक है। जगत् के विभिन्न आध्यात्मिक प्रस्थानो में इस धर्म का विशेप महत्त्व स्वीकार किया गया है। करुणा ही सेवा का मूल है। यह प्रसिद्धि ठीक है—'सेवाधर्म परमगहनो

योगिनामप्यगम्यः। जिनके चित्त मे सेवावृत्ति का उन्मेष नही होता और जिनका हृदय करुणा से प्रभावित नही होता, ऐसे पुरुषो का हृदय अवश्य ही सकुचित है। सब प्रकार से अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की सिद्धि ही इनका लक्ष्य होता है। जब इनका अधिकार स्वल्प होता है, तब ये अपने लिए ऐहिक या पारत्रिक अभ्युदय चाहते हैं—वह या तो जागतिक ऐश्वर्य चाहेंगे या पारलौकिक स्वर्गादि का आनन्द-लाभ। जब अधिकार का उत्कर्ष होता है, तब इनका लक्ष्य होता है—व्यक्तिगत जीवन के दु.खो की निवृत्ति, अर्थात् मुक्ति। यदि किसी क्षेत्र में इनका लक्ष्य आनन्द का अभिव्यजन भी हो, तो भी ये व्यक्ति-जीवन की सीमाओ से आवद्ध ही रहते हैं। विश्व-कल्याण या परार्थ-सम्पादन इनके जीवन का ध्येय नही होता। कभी किसी क्षेत्र मे किंचित् परार्थपरता का भी आभास मिलता है, किन्तु वह वस्तुत स्वार्थसिद्धि का उपायरूप ही होता है। इसके उदाहरण में दया-वृत्ति का नाम लिया जा सकता हे। इस वृत्ति को कार्य-रूप में परिणत करने पर या भावना के रूप मे ग्रहण करने पर उससे कार्यकर्त्ता या भावक का चित्त शुद्ध होता है। उससे ज्ञान-प्राप्ति तथा मुक्ति में सहायता मिलती है। इस स्थल मे दया दूसरे के लिए मालूम होती है, किन्तु वस्तुत वह अपने कल्याण की ही साधक है।

भक्ति तथा प्रेम-साधन के क्षेत्र में जैसे साधनरूप भक्ति और साध्यरूप प्रेमा भक्ति में अन्तर है, ठीक उसी प्रकार करुणा-सम्बन्धी अनुशीलन के क्षेत्र में साधन तथा साध्य करुणा मे अन्तर स्पष्ट प्रतीत होता है।

योग-दर्शन मे चित्त के परिकर्म के रूप मे मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा के नियमित परिशीलन की उपयोगिता दिखाई गई है। प्राचीन पालि-साहित्य में भी ब्रह्मविहार नाम से इन्ही वृत्तियो का निर्देश है। योग-दर्शन मे करुणा का जो परिचय दिया गया है, उससे सर्वांशत भिन्न एक अन्य रूप भी है। इसी के अवलम्ब से, अर्थात् उसे ही जीवन का साध्य वनाने से, महायानी अध्यात्म-साधना का मार्ग प्रवर्त्तित हुआ है। इस प्रकार की करुणा का अन्तराय व्यक्तिगत मुक्ति है, इसीलिए ऐसी मुक्ति उपादेय नही मानी जाती। उपनिषत्-कालीन प्राचीन साधना में जीवन्मुक्ति की दशा को ही करुणा के प्रकाश का क्षेत्र स्वीकार किया गया है। ज्ञानी तथा योगी का परार्थ-सम्पादन इस महान् क्षेत्र के अन्तर्भूत है। जीवन्मुक्त ज्ञानी के जीवन का उद्देश्य भव-दु ख की निवृत्ति के लिए उपायरूप में ज्ञान-दान करना है। करुणा के प्रकाशन की यही मुख्य प्रणाली थी। करुणा के प्रकाश करने की दूसरी प्रणालियाँ गौण समझी जाती थी। जीवन्मुक्त महापुरुष ही ससार-ताप से पीडित जीवो के उद्धार के लिए अधिकारी थे। वर्त्तमान जगत् मे करुणा के जितने भी आकार दिखाई पडते हैं, ये आवश्यक होने पर भी मुख्य करुणा के निदर्शन नही हैं। हाँ, दोनो ही सेवाधर्म हैं, इसमे सन्देह नही। जबतक भोग से प्रारब्ध कर्म समाप्त नही होता, तबतक देह रहता है। इसलिए जीवन्मुक्ति ही सेवा के लिए योग्य समय है। किन्तु, यह परिमित है, क्योंकि देहान्त होने पर सेवा का अवसर नही रहता। यही कारण है कि जीवन्मुक्तिविवेक में विद्यारण्य स्वामी ने ज्ञान-तन्तु के सरक्षण को ही जीवन्मुक्ति का मुख्य प्रयोजन बताया है।

जीवन्मुक्ति मे ज्ञान की आवरण-शक्ति नही रहती, इसलिए स्वरूप-ज्ञान अनावृत रहता है। परन्तु, विक्षेपशक्ति के कारण उपाधि रहती है। इसीलिए, इस समय में जीव तथा जगत् की सेवा हो सकती है। जीवन्मुक्त ही यथार्थ गुरु है। एकमात्र यह गुरु ही तारक-ज्ञान का सचारक एव यथार्थरूप में दु खमोचक तथा सेवाव्रती है।

परन्तु, इस सेवा का क्षेत्र देशगत दृष्टि से परिमित है और कालगत दृष्टि से भी सकुचित है। परिमित इसलिए कि एक व्यक्ति का कर्म-क्षेत्र विशाल होने पर भी सीमाबद्ध है। सेवक के लिए सेवा का अवसर तभी तक रहता है, जबतक वह देह से सम्बद्ध रहता है। देह छूटने पर या कैवल्य-लाभ करने पर सेवा करने की सम्भावना ही नही रहती। उसका प्रयोजन भी नही रहता, क्योकि व्यष्टि-चित्त की शुद्धि ही तो उसका प्रयोजन है। उसके लिए सेवाव्रत सर्वथा अनावश्यक हो जाता है। उस समय अपने-आप कैवल्य प्राप्त हो जाता है। उस समय जीवन्मुक्त गुरु परम्परा-क्रम से सेवाव्रत का भार अपने योग्य शिष्य को देकर परम-धाम में प्रयाण करते हैं। यह स्वाभाविक ही है।

जिसके चित्त में परदु ख की प्रहाणेच्छा अत्यन्त प्रवल है, वह ऐसा प्रयत्न करता है, जिससे शीघ्र स्कन्ध-निवृत्ति न हो। उसका यह प्रयत्न भोग या विलास के लिए नही, वल्कि जीव-सेवा का अवसर वढाने के लिए है। जिनके चित्त में स्वल्पभाव या सकोच नही है, उसमें इस प्रकार की इच्छा का उदय होना स्वाभाविक है। सभी चित्तो में इस प्रकार की इच्छा नही होती, यह सत्य है, परन्तु किसी-किसी में अवश्य होती है, यह भी सत्य है। यही उसके महत्त्व का निदर्शन है। गोत्र-भेद माननेवालो की यही मूल युक्ति है। भक्ति-साधना के मार्ग में भी ठीक इसी प्रकार के विचार देखने में आते है। इसीलिए, किसी-किसी के मत से आवश्यक होने पर भी भक्ति चिरस्थायी नही है, क्योकि अभेद-ज्ञान या मोक्ष-लाभ करने पर उसका अवकाश नही रहता। यह भक्ति उपाय या साधनरूप है, यहाँ उपेय (साध्य) ज्ञान या मुक्ति है। जिनके चित्त में सकोच कम है, उन्हें नित्यभक्ति की आकाक्षा होती है। वह फलरूपा भक्ति है। वह या तो मुक्ति से अभिन्न है, या ऊर्ध्व। इस प्रकार की भक्ति ही पचम पुरुषार्थ है। कितने मुक्त पुरुष भी इसके लिए लालायित रहते हैं। यह अत्यन्त दुर्लभ है।

किन्तु नश्वर, परिणामी एव मलिन देह में इस प्रकार के महान् आदर्श की प्राप्ति असम्भव है। इसलिए, मर्त्यदेह को स्थिर तथा निर्मल करने के लिए प्रयत्न आवश्यक है। वैष्णवो का भाव-देह, प्रेम-देह तथा रस-देह इसी प्रकार के सिद्ध-देह हैं। ये जरा-मृत्यु से अतीत हैं। इसी का नामान्तर पार्षद-तनु है। इसके द्वारा नित्यधाम में नित्यभक्ति का याजन होता है। ज्ञानी के विषय में भी इसी प्रकार की बात है। साधारण दृष्टि से ज्ञान अज्ञान का निवर्त्तक है, किन्तु वह अज्ञान के आवरणाश का ही निवर्त्तक है, विक्षेपाश का नही। इसीलिए, कहा जाता है कि ज्ञान के उदय होने पर भी प्रारब्ध का नाश नही होता। परन्तु, ऐसा भी विशिष्ट ज्ञान है, जिससे विक्षेप की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार के ज्ञान के उदय के साथ-ही-साथ देहपात हो जाता है। एक ऐसा भी ज्ञान है, जिसके प्रभाव से

इस कर्मजन्य मलिन देह का नाश नही होता, बल्कि रूपान्तर की प्राप्ति होती है। इससे देह चिन्मय हो जाता है। पहले वह विशुद्ध सत्त्वमय होता है। उस समय उसकी जरा-मृत्यु से निवृत्ति हो जाती है। उसके बाद साक्षात् चिन्मयत्व का लाभ हो जाता है। आगम की परिभाषा में पहले देह का नाम 'बैन्दव' और द्वितीय का 'शाक्त' है। शाक्त देह वस्तुत चित्-शक्तिमय देह है। उसमें बिन्दु या महामाया का लेश भी नही रहता। इस बैन्दव देह का नाम ही सिद्ध देह है। बौद्ध, शैव तथा शाक्त सिद्धाचार्य इस बैन्दव या सिद्ध देह को प्राप्त कर अपनी इच्छा के अनुसार विचरण करते हैं। यह प्राकृतिक नियमो की शृंखला से बद्ध नही है। वे इस देह में अवस्थान करते हुए जीव-सेवा करते है। इस देह मे मृत्यु का भय नही है। इसीलिए, सुदीर्घ काल तक इस देह मे रहकर जगत् के कल्याण की चेष्टा की जा सकती है। किन्तु, अत्यन्त दीर्घ काल के बाद इसकी भी एक सीमा आती है। यह तो ठीक है कि इस समय भी देह का पात नही होता, परन्तु प्रयोजन के सिद्ध हो जाने पर योगी उसे सकुचित करके परमधाम में प्रवेश करता है। कोई-कोई इस देह का दिव्य-तनु नाम से भी वर्णन करते है। नाथ-सम्प्रदाय, रसेश्वर योगी-सम्प्रदाय तथा महेश्वर-सम्प्रदाय में इस विषय मे विस्तृत आलोचना है। सेण्ट जॉन के एपोकलिप्स मे भी इस विषय में बहुत कुछ इगित है। खीष्ट्रीय मत के रिसरेक्शन बॉडी तथा एसेसन बॉडी का भेद इस प्रसग में आलोच्य है।

(६)

बौद्ध योगियो के आध्यात्मिक जीवन में करुणा का क्या स्थान है, इस विषय की आलोचना के लिए पूर्वोक्त विवरण का उपयोग प्रतीत होता है। श्रावक तथा प्रत्येक-बुद्धयान में सर्व सत्त्वो का दु.ख-दर्शन ही करुणा का मूल उत्स है। इसका नाम सत्त्वावलम्बन करुणा है। मृदु तथा मध्य कोटि के महायान-मत में, अर्थात् सौत्रान्तिक तथा योगाचार-सम्प्रदाय में जगत् का नश्वरत्व या क्षणिकत्व ही करुणा का मूल उत्स है। इसका नाम धर्मावलम्बन करुणा है। उत्तम महायान, अर्थात् माध्यमिक मत में करुणा का मूल कुछ नही हैं, अर्थात् उसकी पृथक् सत्ता नही है। इस मत में शून्यता से अभिन्न करुणा ही बोधि का अग है। एक दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि शून्यता जैसे लोकोत्तर है, वैसे ही करुणा भी लोकोत्तर है। यह अहेतुक करुणा है। अनगवज्र कहते हैं कि करुणावान् कभी किसी सत्त्व को निराश (विमुख) नही करते—

सत्त्वानामस्ति नास्तीति न चैव सविकल्पकम्।

स्वरूप निष्प्रपच है, इसलिए प्रज्ञारस चिन्तामणि के सदृश अशेष सत्त्वो का, अर्थात् निखिल जीवो का अर्थकरण या अर्थक्रियाकारित्व है। इसी का नामान्तर कृपा है—

निरालम्बपदे प्रज्ञा निरालम्बा महाकृपा।
एकीभूता धिया सार्धं गगने गगनं यथा॥

मनोरथनन्दि ने प्रमाणवार्त्तिक की वृत्ति में कहा है—

दुःखाद् दुखहेतोश्च समुद्धरणकामता करुणा।

वार्त्तिककार धर्मकीर्त्ति ने करुणा को भगवान् बुद्ध के प्रामाण्य के लिए साधन माना है, और कहा है कि यह अभ्यास से सम्पन्न होती है।

साधनं करुणाभ्यासात् सा बुद्धेर्देहसंश्रयात् ।
असिद्धोऽभ्यास इति चेन्नाश्रयप्रतिषेधत ॥

'अभ्यासात् सा' इसकी व्याख्या में मनोरथनन्दि ने कहा है—

गोत्रविशेषात् कल्याणमित्रसंसर्गादनुशयदर्शनाच्च कश्चिन्महासत्त्व कृपायामुपजातस्पृह सादरनिरन्तरानेकजन्मपरम्पराप्रभवाभ्यासेन सात्मीभूतकृपया प्रेर्यमाण सर्वसत्त्वानां समुदयहान्या दु खहानाय मार्गभावनया निरोधप्रापणाय च देशना कर्त्तुकामः स्वयमसाक्षात्कृतस्य देशनायां विप्रलम्भसम्भावनाच्चतुरार्यसत्यानि साक्षात्करोतीति भगवति साधनं कृपा प्रामाण्यस्य । [१ । ३६]

श्रावक तथा प्रत्येक-बुद्ध से बुद्धो का यही वैशिष्ट्य है । धर्मकीर्त्ति ने लिखा है—

परार्थवृत्तेः खड्गादेर्विशेषोऽय महामुनेः ।
उपायाभ्यास एवायं तादर्थ्याच्छासनं मतम् ॥ [१ । १७६]

प्रत्येक-बुद्ध, श्रावक प्रभृति का लक्षण वासना-हानि है । परन्तु, सम्यक्-सम्बुद्ध परार्थवृत्ति होने के कारण सर्वोत्तम है ।

यह दया सत्त्वदृष्टिमूलक नही है, किन्तु वस्तुधर्म है । इसीलिए, यह दोषावह नही है । वार्त्तिककार ने कहा है—

दु खज्ञानेऽविरुद्धस्य पूर्वसंस्कारवाहिनी ।
वस्तुधर्मा दयोत्पत्तिर्न सा सत्त्वानुरोधिनी ॥ [१ । १७६]

दु ख का ज्ञान होने पर पूर्व सस्कार के प्रभाव से दया स्वभावत ही उत्पन्न होती है । यह सर्वत्र अप्रतिहत है । पूर्व सस्कार का अर्थ प्राक्तन अभ्यास की प्रवृत्ति है । वस्तुधर्म का तात्पर्य वस्तु का, अर्थात् कृपाविषयीभूत दु ख का धर्म है । यहाँ टीकाकार ने स्पष्ट शब्दो में कहा है कि जिनकी आत्मदृष्टि सर्वथा उन्मूलित है, ऐसे महापुरुषो को दु ख के सम्मुखीन होते ही दया उत्पन्न हो जाती है, क्योकि उन्होने दु ख को कृपा के विषयरूप में ग्रहण करने का अभ्यास कर लिया है । सब दु खो का मूल कारण मोह है । बौद्धमत में सत्त्वग्राह या आत्मग्राह ही मोह का मूल है । जब इसका उन्मूलन हो जाता है, तब किसी के प्रति द्वेष नही होता, क्योकि जिसे आत्मदर्शन नही है उसे किसी के द्वारा अपकार-प्राप्ति की भ्रान्ति नही होगी । अतः, वह किसी से द्वेष क्यो करेगा ? इस प्रकार, यह कृपा दोषो के मूलभूत आत्मग्राह के अभाव से ही उत्पन्न होती है, इसलिए वह दूषणीय नही है । धर्मकीर्त्ति ने कहा है—

दुःखसन्तानसंस्पर्शमात्रेणैवं दयोदय । [१ । १७८]

पूर्व कर्मों के आवेश के क्षीण हो जाने से और दु खजनक अन्य कारणो के अत्यन्त नष्ट हो जाने से अप्रतिसन्धि के कारण मुक्ति अवश्य होती है । किन्तु, जो महाकृपा से सम्पन्न

हैं, उनका जन्माक्षेपक कर्म प्रणिधान-परिपुष्ट है, अत उनके सस्कार की शक्ति क्षीण नही होती, इसीलिए वह सम्यक्-सम्बुद्ध है। ये यावत् आकाश चिरस्थायी है। परन्तु, श्रावको का कर्म ऐसे देह का आक्षेपक है, जिसकी स्थिति का काल नियत है। उनमें करुणा अत्यन्त मृदु है, अतः देहस्थापन के लिए उनमे अपेक्षित महान् यत्न भी नही है। इसीलिए उनकी सदा स्थिति नही है। परन्तु, इसके विपरीत वे महामुनि जो दूसरो के उपकार-साधन के लिए ही हैं, और अकारण-वत्सल है, वे वस्तुत कृपामय है। इस अर्थ मे ये पराधीन है। इस विशिष्ट पराधीनता के कारण ये लोग चिरस्थितिक हैं। धर्मकीर्त्ति ने कहा है—

तिष्ठन्त्येव पराधीना येषा तु महती कृपा । [१ । २०१]

अद्वयवज्र न 'तत्त्वरत्नावली' मे कहा है कि श्रावक और प्रत्येक-बुद्ध की करुणा सत्त्वावलम्बन है। सत्त्वो के दु खदु खत्व तथा परिणामदु खत्व का अवलम्बन करके इनकी करुणा उत्पन्न होती है। श्रावक की देशना वाचिकी है, किन्तु प्रत्येक-बुद्ध की देशना कायिकी है। सम्बुद्धो के अनुत्पाद से और श्रावको के परिक्षय से प्रत्येक-बुद्धो का ज्ञान असंसर्ग से ही उत्पन्न होता है। यहाँ असंसर्ग से अभिप्राय अपने मे ऐसी विशिष्ट पात्रता के सम्पादन से है, जिसमें सूर्यज्योति के समान स्वभावकाय या धर्मकाय के स्वभावतः प्रसरणशील रश्मियो का स्वत ही आधान होता है। और, सम्यक्-सम्बुद्धो से प्रत्येक-बुद्ध की यही भिन्नता है। बौद्ध साधन का प्रत्येक अंश ही प्रज्ञा तथा करुणा की दृष्टि से ही विचारणीय है। देशना भी इसी के अनुरूप है।

(७)

श्रावक, प्रत्येक-बुद्ध और सम्यक्-सम्बद्ध इन तीन प्रकार के साधको के बीच महायान ही योगपथ है। यद्यपि उसमें अवान्तर भेद हैं, फिर भी मुख्यत दो ही धाराएँ हैं—१. पारमिता-नय और २. मन्त्र-नय। सभी सौत्रान्तिक मृदुपारमिता-नय स्वीकार करते हैं। योगाचार और माध्यमिको में कोई पारमिता-नय और कोई मन्त्र-नय ग्रहण करते है। ज्ञान के साकार या निराकार मानने के कारण योगाचार दो प्रकार के हैं। साकारवाद मे परमाणु को षडश नही माना जाता। इस मत में सभी चित्त-मात्र हैं। इसमे ग्राह्य और ग्राहकभाव नही हैं। कामधातु, रूपधातु और अरूपधातु तीनो चित्तमात्र हैं। ये चित्तनिरपेक्ष विचित्र प्रकाशात्मक है। चित्त जब विकल्पशून्य होता है, तब उसे ही अद्वैत-साक्षात्कार कहते हैं। निराकारवाद में चित्त अनाकार सवेदनरूप है। वासनायुक्त चित्त अर्थाभास के रूप मे प्रवृत्त होता है। आभासमात्र ही माया है। जो तत्त्व है, वह निराभास है। वह शुद्ध अनन्त आकाशवत् है। बुद्धकाय या धर्मकाय निष्प्रपच तथा निराभास है। उससे दो रूपकायो (सम्भोगकाय तथा निर्माणकाय) का उद्भव होता है। दोनो ही मायिक है।

अन्य मत में किसी-किसी का लक्ष्य मायोपम अद्वयवाद है। कोई आचार्य इस प्रकार का अद्वयवाद नही मानते। उनके मत मे सर्वधर्माप्रतिष्ठानवाद ही युक्तिसिद्ध है। मायोपम समाधि, महाकरुणा तथा अनाभोग चर्या के द्वारा बोधिसत्त्व सर्व का दर्शन और ज्ञान करते हैं।

किन्तु, इस ज्ञान तथा दर्शन को मायावत् या छायावत् माना जाता है। चित्त के वाहर जगत् नही है। उनका जीवन विना किसी निमित्त के क्रमश. उच्च-उच्च भूमियो का लाभमात्र है। अन्त में त्रिधातु की चित्तमात्रता प्रतीत होने लगती है। यही मायोपम समाधि है। परन्तु, जो लोग सव धर्मों का अप्रतिष्ठान मानते है, उनके सिद्धान्त मे विश्व न सत् है, न असत् है, न उभयात्मक है, न अनुभयात्मक है। इसीलिए, इस मत में ससार को सत्, असत्, सदसत्, तथा सदसद्-भिन्न चार कोटियो से विनिर्मुक्त माना जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से साधन-जीवन की दो अवस्थाएँ हैं--१ हेतु-रूप या साधन-रूप तथा २ फल-रूप या साध्य-रूप। ज्ञान तथा भक्ति-मार्ग में जैसे साधनरूप ज्ञानभक्ति या साध्य रूप ज्ञानभक्ति दोनो का परिचय मिलता है, उसी प्रकार वौद्धो के साधन की चरमदृष्टि से भी साधन-रूप करुणा और साध्य-रूप करुणा मे भेद है। साधनावस्था में भगवान् के चित्तोत्पाद से लेकर वोधिमण्ड-उपक्रमण, मार-विध्वसन तथा वज्रोपम समाधि-पर्यन्त मार्गस्वरूप है। यह मार्ग पारिमता-नय है। फलावस्था में एकादश भूमि का आविर्भाव माना जाता है। आशय तथा प्रयोग के भेद से हेतु भी दो प्रकार के हैं। सर्वसत्त्वो का त्राण आशय है तथा क्षयानुत्पाद ज्ञानरूप वोधि का अवलम्वन प्रयोग है। प्रयोग के भी दो प्रकार हैं। एक का विमुक्तिचर्या से सम्वन्ध है, दूसरे का भूमि से। पहला दानादि-विमुक्ति में प्रायोगिक है, दूसरा पारमिता-विमुक्ति में वैपाकिक है। द्वितीय के भी दो अवान्तर भेद हैं। एक में अभिमस्कार है, द्वितीय में अभिसस्कार नही है। प्रथम में सात भूमियाँ हैं, क्योकि आभोग तथा निमित्त के प्रभाव से समाधि की प्रवृत्ति होती है। सप्तम भूमि में निमित्त नहीं रहता, किन्तु आभोग रहता है। अष्टम में आभोग भी नही रहता। शुद्धभूमि की प्राप्ति होने पर निमित्त और आभोग दोनो का अभाव होता है। इसीलिए, इसमें स्वभावसिद्ध ममाधि का उदय होता है। इसी के प्रभाव से निखिल जगत् के यावत् अर्थों का सम्पादन हो जाता है। उम समय परार्थ-सम्पादन होता है और सर्वसवित् के लाभार्थ सर्वानुशासन हो सकता है।

एक दृष्टि से देखा जाय, तो यह भी साधकावस्था ही है। इसमें चार सम्पत् का उदय होता है। चारो अभ्यास-रूप ही हैं---१ अशेष पुण्य तथा ज्ञान-सम्भार का अभ्याम, २ नैरन्तर्य का अभ्याम, ३ दीर्घकाल का अभ्यास और ४ सत्कार का अभ्यास। पतजलि के योगसूत्र--- स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमि में अन्तिम तीनों का उल्लेख है।

सिद्धावस्था दशम भूमि के वाद होती है। उसमें भी चार सम्पदो का उल्लेख मिलता है--- १. प्रहाण, २ ज्ञान, ३ रूपकाय और ४ प्रभाव। प्रत्येक के अवान्तर भेद है, जिनका वर्णन यहाँ अनावश्यक है। प्रकृत मे वही अपेक्षित है, जो रूपकाय मे सम्पत्-चतुष्क के नाम से निर्दिष्ट है। उसके अन्तर्गत महापुरुप के वत्तीस लक्षण, अशीति अनुव्यजन, वल तथा वज्राग अथवा स्थिरदेह है। पातंजल-योगसूत्र में कायसम्पत् के नाम से पचरूप-विशिष्ट पचभूत-जय का जो फल उक्त है, वही यहाँ सिद्धपुरुष के रूपकाय को स्वाभाविक सम्पत् कहकर माना गया है। इसमें जो प्रभाव शब्द उल्लिखित है, उमका तात्पर्य है, विशिष्ट ऐश्वर्य अथवा ईश्वरत्व।

किसी-किसी आचार्य के अनुसार इसमे बाह्य विषयो का निर्माण, परिणाम-सम्पादन तथा वशित्वरूपी सम्पत् तथा भिन्न-भिन्न विभूतियो का अन्तर्भाव है।

कोई-कोई परवर्त्ती आचार्य पूर्ववर्णित हेतु और फल की अवस्थाओ के अतिरिक्त सत्त्वार्थ-क्रिया नाम की पृथक् अवस्था भी मानते है। इससे एक महत्त्वपूर्ण बात स्पष्ट होती है कि आध्यात्मिक जीवन में मनुष्य का मुख्य लक्ष्य केवल फल-प्राप्ति या सिद्धावस्था का लाभ ही नही है। इस प्राप्ति को सर्व-साधारण के लिए सुलभ करने का प्रयत्न ही सर्वोत्तम लक्ष्य है। इसी का नाम जीव सेवा है। बौद्ध दार्शनिक इसी को सत्त्वार्थक्रिया नाम से वर्णित करते हैं। इस मत के अनुसार बोधिचित्तोत्पाद से बोधिमण्ड-निवेदन-पर्यन्त जितनी अवस्थाएँ है, वे सब साधन या हेतु के अन्तर्गत है। सम्यक्-सम्बोधि की उत्पत्ति से सर्व-क्लेशो के प्रहाण-पर्यन्त फलावस्था है। इसके बाद प्रथम धर्मचक्रप्रवर्त्तन से शासन के अन्तर्धान-पर्यन्त तृतीय अवस्था है। इससे यह प्रतीत होता है कि जीव या जगत् की सत्त्वार्थक्रियारूप सेवा यावत् जीवन का लक्ष्य है, अर्थात् यह सृष्टि-पर्यन्त रहेगा। यदि सर्व की मुक्ति हो जाय, तो शासन, शास्ता और शिष्य कोई नही रहेगा। उस समय प्रयोजन का भी अभाव हो जायगा। किन्तु, जब-तक सबकी मुक्ति नही होती, तबतक जीवसेवा अवश्य रहेगी। इस मत के अनुसार हेतु-अवस्था, आशय, प्रयोग और वशिता के भेद से तीन प्रकार की है। सत्त्वानिर्मोक्ष प्रणिधान आशय है। प्रयोग दो प्रकार के हैं---१. सप्तपारमितामय, और २. दशपारमितामय। सप्तपारमिता में दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा तथा उपाय हैं। ये लोग भूमिप्राप्त चतुर्विध सम्पत् से सम्पन्न है। इन सम्पदो का नाम---आशय, प्रयोग, प्रतिग्राहक तथा देह-सम्पत् है। साधनावस्था मे सभी प्रकार के 'आदि-कर्म' करने पडते हैं। किन्तु, सत्त्वार्थक्रियारूप फलावस्था मे अनाभोग से ही प्रवृत्ति होती है, अर्थात् इस अवस्था में अपने-आप ही कर्म निष्पन्न होते हैं, अभिमानमूलक कर्म की आवश्यकता नही रहती। दशपारमितावादी सात के बाद प्रणिधान, बल और ज्ञान अन्य तीन पारमिताओ को भी स्वीकार करते हैं।

(८)

बौद्धो के धार्मिक जीवन के उद्देश्य का पर्यालोचन पहले किया गया है, उसका सक्षेप में पुन स्पष्टीकरण किया जाता है। प्राचीन बौद्ध-धर्म के मुमुक्षुओ मे तीन आदर्श प्रधानरूप से प्रचलित थे---श्रावक, प्रत्येक-बुद्ध और सम्यक्-सम्बुद्ध। पूर्वापेक्षया पर पद श्रेष्ठ है। श्रावक का आदर्श अपेक्षाकृत न्यून होने पर भी पृथग्जन से उत्कृष्ट था। यद्यपि श्रावक और पृथग्जन दोनो का समान लक्ष्य व्यक्तिगत दुख-निवृत्ति था, तथापि पृथग्जन को उपायज्ञान नही था, श्रावक उपायज्ञ थे। श्रावक दु ख-निवृत्ति के माग से परिचित थे। यह मार्ग बोधि अथवा ज्ञान है। चार आर्य-सत्य में यह मार्ग-सत्य है। बोधि या ज्ञान उन्हें स्वत प्राप्त नही होता था, उसके उदय के लिए बुद्धादि शास्ताओ की देशना अपेक्षित थी। इसलिए, इसे औपदेशिक ज्ञान कहते हैं। पृथग्-जन धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्ग की सिद्धि में व्यापृत रहते थे, किन्तु श्रावक इससे अतीत थे।

श्रावको में किसी का दु ख-निरोध पुद्गल-नैरात्म्य के ज्ञान से और किसी-किसी का प्रतीत्य-समुत्पाद के ज्ञान से होता था । धर्म-नैरात्म्य का ज्ञान किसी श्रावक को नही होना था । इसी लिए उन्हें श्रेष्ठ निर्वाण का लाभ नही होता था । फिर भी, इतना तो सत्य है कि ये लोग अध-पात की आशका से मुक्त हो जाते थे । क्योकि, ज्ञानाग्नि के द्वारा इनके क्लेश या अशुद्ध वासनात्मक आवरण दग्ध हो जाते थे । इसलिए, त्रिधातु में इनके जन्म लेने की सम्भावना नही रहती थी । ये जन्म-मृत्यु के प्रवाहरूप प्रेत्यभाव से मुक्त हो जाते थे ।

प्रत्येक-बुद्ध का आदर्श श्रावक से श्रेष्ठ है । यद्यपि इनका साधन-जीवन वैयक्तिक स्वार्थ से ही प्रेरित है, फिर भी आधार अधिक शुद्ध है । आधार-शुद्धि के कारण इन्हें स्वदु.खनिवृत्ति के उपाय या ज्ञान के लिए दूसरे से उपदेश प्राप्त करने की, आवश्यकता नही होती । ये लोग पूर्वश्रुतादि अभिसस्कारो के द्वारा स्वय ही बोधि-लाभ करते थे । बोधि का लाभ बुद्धत्व की प्राप्ति है । योगशास्त्र जिसे अनौपदेशिक या प्रातिभ ज्ञान कहता है, उससे प्रत्येक-बुद्धो का ज्ञान प्राय समान है । किसी अश में यह विवेकोत्थ प्रातिभ ज्ञान का ही एक रूप है । यह लौकिक शाब्द ज्ञान नही है । प्रत्येक-बुद्ध अपने बुद्धत्व के लिए प्रार्थी होते हैं, उसे प्राप्त भी करते है, किन्तु सर्व के बुद्धत्व के लिए उनकी प्रार्थना नही है ।

श्रावक तथा प्रत्येक-बुद्ध के ज्ञान में भी भिन्नता है । श्रावको का ज्ञान पुद्गल-नैरात्म्य का अवबोध-रूप है , अत पुद्गलवादियो के अगोचर है । प्रत्येक-बुद्धो का ज्ञान मृदु इन्द्रिय है, इसलिए वह श्रावको के भी अगोचर है । श्रावको को क्लेशावरण नही होता, इसलिए इनका ज्ञान सूक्ष्म है । प्रत्येक-बुद्ध में ज्ञेयावरण का एकदेश, अर्थात् ग्राह्यावरण भी नही रहता, इसलिए वह और भी अधिक सूक्ष्म है । श्रावक का ज्ञान परोपदेशहेतुक है, अतः षोडशाकार से प्रभावित है, इसीलिए वह गम्भीर है । परन्तु, प्रत्येक-बुद्ध का ज्ञान स्वयबोधरूप है और तन्मयतामात्र से उद्भूत है, अत पूर्व से अधिक गम्भीर है । एक बात और भी है । प्रत्येक-बुद्ध का ग्राह्य-विकल्प परिहृत है, अत वह शब्द-उच्चारण किये बिना ही धर्म का उपदेश देते हैं । प्रत्येक-बुद्ध अपने अधिगत ज्ञानादि के सामर्थ्य से दूसरो को कुशलादि मे प्रवृत्त करते हैं । उनके साधन को इसलिए अति गम्भीर कहा जाता है कि वह उच्चार-रहित है, अत दूसरे मे उसका प्रतिघात सम्भव नही है ।

तीसरा सम्यक्-सम्बुद्ध का आदर्श है । यही श्रेष्ठ आदर्श है । इसका भी प्रकार-भेद है । सम्यक्-सम्बुद्ध को ही बुद्ध भगवान् कहते हैं । यह अनुत्तर सम्यक्-सम्बोधि-प्राप्त हैं । इनका लक्ष्य अत्यन्त उदार है । कोटि-कोटि जन्मो की तपस्या और अशेष विश्व की कल्याण-भावना ही इनका मूलाधार है । क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण के निवृत्त होने से ही बुद्धत्व का लाभ नही हो जाता । यह ठीक है कि श्रावक का द्वैत-बोध नही छूटता और प्रत्येक-बुद्ध का भी पूरा द्वैत-बोध नहीं छूटता, केवल सम्यक्-सम्बुद्ध ही अद्वय-भूमि मे प्रतिष्ठित होते हैं और द्वैतभाव से निवृत्त होते हैं । यह भी ठीक है कि ज्ञेयावरण के निवृत्त न होने पर अद्वैतभाव का उदय नही होता । पतंजलि ने भी कहा है—ज्ञानस्यानन्त्याज् ज्ञेयमल्पम्, ज्ञान अनन्त होने से ज्ञेय

अल्प है । बुद्धावस्था अनन्त ज्ञान की अवस्था है, इसीलिए आचार्यों ने इस ज्ञान को बोधि न कहकर महाबोधि कहा है। इस अनन्त ज्ञान के साथ अनन्त करुणा भी रहती है। सत्त्वार्थ-क्रिया या परार्थोपादन का भाव, यही बुद्धो का बीज है। यही बुद्धत्व-लाभ का प्रधान कारण है। निर्वाण या स्वदु ख-निवृत्ति में लीन न होकर निरन्तर जीव-सेवा में निरत रहना बोधिसत्त्व के जीवन का आदर्श है । इसी आदर्श को लेकर बोधिसत्त्व बुद्धत्व का लाभ कर सकते है।

महाश्रावक सोपधि तथा निरुपधि बोधि का लाभ कर सकते है, किन्तु प्रज्ञा में तीव्र करुणा का समावेश नही है। इसी से वह ससार से त्रस्त होते है। जो यथार्थ कारुणिक है, वह दु ख-भोग करते घबराते नही, क्योकि उनके दु ख-भोग से दूसरो के दु खो का उपशम होता है। ये महाश्रावक अपने-अपने आयुष्य-सस्कार के क्षीण होने के कारण निर्वाण न पाने पर भी प्रदीप-निर्वाणवत् त्रैधातुक जन्मो से मुक्त हो जाते हैं, और मरणोत्तर परिशुद्ध बुद्ध-क्षेत्र मे, अर्थात् अनास्रव धातु में समाहित होकर कमल के पुट में जन्म लेते है। मातृगर्भ मे उनका पुन प्रवेश नही होता। अमिताभ प्रभृति सम्बुद्ध-सूर्य इस कमलयोनि में समाधिस्थ सत्त्वो को अपनी किरण से अक्लिष्ट तम के नाश के लिए प्रबोधित करते हैं। इस समय यह गतिशील होते है और क्रमश बोधि-सम्भार (पुण्य तथा ज्ञान) का सचय करते हुए जगद्गुरु का पद प्राप्त करते है । यह सब आगम की बात है।

श्रावक-यान में मुख्य मोक्ष नही होता। इसका सद्धर्मपुण्डरीक, लकावतार, धर्ममेघसूत्र, नागार्जुन के उपदेश आदि में सर्वत्र प्रतिपादन है। इसके लिए ये लोग क्रमश. महायान मे आकृष्ट होते है और उसमे आकर मुक्त हो जाते है। श्रावको का यह विश्वास अवश्य है कि उनके सम्प्रदाय में ही बोधि-लाभ करने से निर्वाण प्राप्त हो जाता है, किन्तु, वस्तुत वह निर्वाण नही है, त्रिलोक से निर्गम-मात्र होता है । किसी का यह भी कहना है कि एकयान का उपदेश नियत-गोत्र के लिए है। किसी का आकर्षण किया जाता है और किसी का धारण। जो यथार्थ महायानी हैं, वह पहले ही प्रमुदिता भूमि को प्राप्त कर क्रम से अनुत्तर बोधि का लाभ करता है।

केवल शुद्ध बोधि से महाबोधि का लाभ नही होता, उसके लिए भगवत्ता से योग होना आवश्यक है। पारमिता-सम्भार के पूर्ण न होने तक भगवत्ता का उदय नही होता। बोधिसत्त्व चरमजन्म में पारमिता पूर्ण करके भगवान् हो जाते है, किन्तु, बुद्ध नही होते। कोई भगवत्ता के साथ बुद्ध भी होते है। यही भगवान् बुद्ध हैं। बोधि और भगवत्ता की दो भिन्न-भिन्न धाराएँ है । बोधि की धारा मे बुद्धत्व है, किन्तु, सम्बुद्धत्व नही है, क्योकि दूसरे के प्रति करुणा नही है, इसलिए महाबोधि भी नही है। महाबोधि का लाभ तबतक नही होगा, जबतक निखिल विश्व को अपना समझकर करुणा-विगलित-भाव से उनकी सेवा न की जाय। सेवाकर्म चर्या है, बोधिभाव प्रज्ञा है। एक आश्रय में दोनो के युगपत् अवस्थान से बुद्धत्व और भगवत्ता का अभेद से प्रकाश होता है। यही मानव-जीवन का चरम आदर्श है, यही बुद्ध की भगवत्ता है।

भारतीय संस्कृति का रहस्य यही है। श्रीमद्भागवत में इसी को ब्रह्मत्व एवं भगवत्ता कहा गया है—

वदन्ति यत्तत्त्वविदस्तत्त्वं तज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

अर्थात्, एक अद्वय ज्ञानात्मक तत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् कहा जाता है। एक तत्त्व को ही ज्ञान-दृष्टि से ब्रह्म, योग-दृष्टि से परमात्मा, भक्ति-दृष्टि से भगवान् कहते हैं। योग कर्मात्मक है—**योगः कर्मसु कौशलम्**। अतः, ज्ञान, कर्म तथा भक्ति या भाव इन तीनों का एक में महासमन्वय है। ब्रह्म निर्गुण, निःशक्ति तथा निराकार है। परमात्मा सगुण, सशक्ति एवं ज्ञानाकार है। भगवान् सगुण, सशक्ति और साकार हैं। तीनों का यह लक्षण-भेद है, किन्तु तीनों एक ही तत्त्व है। भागवत में जो अद्वय-ज्ञान उल्लिखित है, उसका विवरण वज्रयान-सम्प्रदाय के अद्वयवज्रसिद्धि नामक ग्रन्थ में भी है—

यस्य स्वभावो नोत्पत्तिर्विनाशो नैव दृश्यते।
तज्ज्ञानमद्वयं नाम सर्वसङ्कल्पवर्जितम्॥

[चर्याचर्यविनिश्चय की संस्कृत-टीका में उद्धृत]

भागवत में भक्ति का जो स्थान है, बौद्धागम में करुणा का वही स्थान है। प्रज्ञापारमिता तथा करुणा के सामरस्य का तात्पर्य यह है—प्रज्ञा के प्रभाव से सास्रव धातुओं का अतिक्रम है, तथा करुणा के प्रभाव से इनका निर्वाण में प्रवेश नहीं होता, प्रत्युत जगत्-कल्याण के निमित्त अनास्रव धातु में स्थिति होती है।

प्रज्ञया न भवे स्थानं कृपया न शमे स्थितिः।

अर्थात्, प्रज्ञा से संसार का दर्शन नहीं होता और कृपा से निर्वाण नहीं होता, सत्त्वार्थ-करणरूप पारतन्त्र्य के प्रभाव से बोधिसत्त्व-गण भव या शम किसी में अवस्थान नहीं करते।

(६)

पहले पारमिता-नय तथा मन्त्र-नय का उल्लेख किया गया है। बुद्ध से ही दोनों नय प्रवर्त्तित हुए थे। दोनों का प्रयोजन भी अभिन्न है। फिर भी, विभिन्न दृष्टिकोणों से मन्त्रशास्त्र का प्राधान्य माना जाता है। अद्वयवज्र ने लिखा है—

एकार्थत्वेऽप्यसंमोहाद् बहूपायाददुष्करात्।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते॥

मन्त्र-नय अत्यन्त गम्भीर एवं विशिष्ट है। उच्च कोटि के अधिकार प्राप्त न हो जाने तक इसमें प्रवेश नहीं होता। मन्त्र-विज्ञान अतिप्राचीन काल में भारत में प्रचलित था। उसकी तीव्र शक्तिमत्ता के कारण दुरुपयोग की आशंका से आचार्यगण मन्त्रमूलक साधना को जनसाधारण के समक्ष प्रकाशित नहीं करते थे। गुप्तभाव से ही इसका अनुष्ठान होता था। प्रथम धर्मचक्रप्रवर्त्तन की बात सर्वप्रसिद्ध है। द्वितीय तथा तृतीय धर्मचक्रप्रवर्त्तन के

अधिक प्रसिद्ध न होने पर भी वह अप्रामाणिक नही प्रतीत होता; जैसे आगम के गम्भीर तत्त्वो का उपदेश, कैलास आदि के शिखर पर या मेरुशृंगादि के उच्च प्रदेश पर शकरादि गुरुमूर्त्ति ने शिष्यरूपा पार्वती आदि को किया था, ठीक उसी प्रकार राजगृह के निकटस्थ गृध्रकूट पर्वत पर बुद्धदेव ने अपने जिज्ञासु भक्तो के समक्ष पारमिता-मार्ग का प्रकाशन किया। गृध्रकूट में जिस समय बुद्ध ने समाधि ली, उस उसय उनके देह से दसो दिशाओ में तेज निसृत हुआ और सर्व प्रदेश आलोकित हो उठा। मुँह खोलते ही देखा गया कि उसमें अगणित सुवर्णमय सहस्रदल कमल प्रकाशित हुए हैं। उनके देह के प्रभाव से लोक के विभिन्न दु.खो का उपशम हो गया। इस उपदेश का विवरण महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र मे निबद्ध है। कहा जाता है कि नागार्जुन ने इसकी एक टीका भी लिखी थी। इस ग्रन्थ के विभिन्न सस्करण विभिन्न समय मे सकलित हुए थे। कुछ सस्करणो के कुछ अशो का भाषान्तर भी हुआ था। अतिप्राचीन काल से ही सर्वदेश मे इसका प्रचार हुआ। महायान में शून्यता, करुणा, परार्थ-सेवा प्रभृति विषयों का तथा योगादि का सविशेष वर्णन उपलब्ध होता है। यह प्रज्ञापारमिता वस्तुत. जगन्माता महाशक्तिरूपा महामाया है। महायान-धर्म बोधिसत्त्वो की जननी तो है ही, बुद्धो की भी जननी हैं। शिव तथा शक्ति मे चन्द्र और चन्द्रिका के समान अभेद मम्बन्ध है, ठीक उसी प्रकार बुद्ध और प्रज्ञापारमिता का सम्बन्ध हैं। विश्व के दु ख के निर्मोचन-कर्म में बोधिसत्त्वगण इसी जननी की प्रेरणा मे और सामर्थ्य से अग्रसर होते है। पारमिता तथा मन्त्र का यह नय सर्वत्र ही स्वीकृत है। इस महाशक्ति के अनुग्रह के विना लोकार्थ-सम्पादन का कार्य नही किया जा सकता।

पारमिता-नय का लक्ष्य बुद्धत्व-लाभ है, और वही मन्त्र-नय का भी। पारमिता-नय में अवान्तर भेद भी है। इसका यहाँ विशेष वर्णन नही हो सकता। फिर भी, इतना कहा जा सकता है कि ध्यान, ध्यान-फल, दृष्टि, करुणा का स्वरूप तथा त्रिकायविषयक विचारो में दोनो मे कही-कही मतभेद है। मायोपम अद्वयवाद का लक्ष्य एक विशेष प्रकार का है, किन्तु सर्वधर्मा-प्रतिष्ठानवाद का लक्ष्य उससे कुछ भिन्न है। उभयत्र पारिमताओ की पूर्त्ति आवश्यक है। दोनो ही नयो में साधना के क्षेत्र में योगाचार, अर्थात् योगचर्या का प्राधान्य है। किन्तु, दोनो के योग में परस्पर भेद हैं। दोनो यान वोधिसत्त्व-यान है। पारमिता-नय में करुणा, मैत्री आदि की चर्या प्रधान है। माध्यमिक तथा योगाचार दोनों सम्प्रदायो में पारिमता-नय का समादर था। नागार्जुन का प्रवर्त्तित माध्यमिक-मत कालिक दृष्टि से कुछ प्राचीन है। इसका उद्भव-क्षेत्र वही है, जहाँ मन्त्र-नय का उद्भव माना जाता है। श्रीधान्यकटक नामक यह स्थान दक्षिण में अमरावती के निकट है। तान्त्रिक साधना के इतिहास में श्रीशैल या श्रीपर्वत का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह ज्योतिर्लिग मल्लिकार्जुन का क्षेत्र है। वौद्ध तान्त्रिक-सम्प्रदाय के विश्वास के अनुसार भगवान् बुद्ध ने धान्यकटक में मन्त्र-नय का तृतीय धर्मचक्र-प्रवर्त्तन किया था। नागार्जुन के कुछ समय वाद असग का काल है। योगाचार-सम्प्रदाय के इतिहास-प्रसिद्ध प्रवर्त्तक असग ही हैं। यह आचार्य वसुवन्धु के ज्येष्ठ भ्राता थे। उस समय के महायोगियो में यह प्रसिद्ध थे।

इनके महायानसूत्रालकार में तान्त्रिक प्रभाव प्रतीत होता है। प्रसिद्धि है कि मैत्रेय के उपदेश से असंग का धार्मिक जीवन आमूल परिवर्त्तित हुआ था। वर्त्तमान अनुसन्धान से प्रतीत होता है कि मैत्रेय एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। इनका नाम मैत्रेयनाथ था। वस्तुतः, महायान-सूत्रालकार की मूलकारिका इन्हीं की रचित है। वस्तुत, बौद्ध-धर्म पर तन्त्र का प्रभाव असग से पहले ही पड चुका था। मंजुश्रीमूलकल्प नामक ग्रन्थ का परिचय प्राय सभी को है। इसके अतिरिक्त उस समय अष्टादश पटलात्मक गुह्यसमाज की भी बहुत प्रसिद्धि थी। परवर्त्ती बौद्ध तान्त्रिक साधना के विकास में गुह्यसमाज का प्रभाव अतुलनीय था। इसपर नागार्जुन, कृष्णाचार्य लीलावज्र, शान्तिदेव प्रभृति विशिष्ट आचार्यों का भाष्य था। इतना ही नही, परवर्त्ती काल के दीपकर श्रीज्ञान, कुमारकलश, ज्ञानकीर्त्ति, आनन्दगर्भ, चन्द्रकीर्त्ति, मन्त्रकलश, ज्ञान-गर्भ तथा दीपकरभद्र प्रभृति बहुसख्यक सिद्ध और विद्वान् बौद्ध पण्डितो ने इस ग्रन्थ में उक्त तत्त्वो के विषय में महत्त्वपूर्ण नाना ग्रन्थो की रचना की थी। असग के छोटे भाई पहले वैभाषिक थे। बाद में असग के प्रभाव से परिपक्व योगाचारी बन गये थे। असग गुह्यसमाज के रचयिता थे या नही, कहना कठिन है। किन्तु, दोनो में घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य था। प्राचीन शैव तथा शाक्त आगमो के सूक्ष्म तथा व्यापक आलोचन से ज्ञात होता है कि असग, नागार्जुन आदि आचार्य उनके प्रभाव से मुक्त नही थे। कामाख्या, जालन्धर, पूर्णगिरि, उड्डीयान, श्रीपर्वत, व्याघ्रपुर प्रभृति स्थान तान्त्रिक विद्या के साधन-केन्द्र थे। मातृका-साधन के उपयोगी क्षेत्र भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशो में फैले हुए थे। मन्त्र-साधन प्राचीन वाग्योग का ही एक विशिष्ट प्रकार-मात्र है।

पहले कहा जा चुका है कि बौद्ध-मत में पारमिता-नय के सदृश मन्त्र-नय के भी प्रवर्त्तक बुद्ध ही हैं। क्रमश, मन्त्रमार्ग में अवान्तर भेद—वज्रयान, कालचक्रयान तथा सहजयान आविर्भूत हुए। इनमें किंचित् भेद है, किन्तु बहुत अशो में सादृश्य है। वस्तुतः, सभी मन्त्र-मार्ग के ही प्रकार-भेद हैं। इस दृष्टि में भेद नही है। मालूम होता है, एक ही साधन-धारा विभक्त होकर भाव के गुण-प्रधानभाव से विभिन्न रूप में व्याप्त हो गई। पारमिता-नय का प्रायः समस्त साहित्य विशुद्ध सस्कृत में है, किन्तु मन्त्र-नय का मूल कुछ सस्कृत, कुछ प्राकृत और कुछ अपभ्रश में है। शावर आदि म्लेच्छ भाषाओं में भी मन्त्ररहस्य का व्याख्यान होता है। यह लघुतन्त्रराजटीका विमलप्रभा में है। मन्त्र-नय की तीनो धाराएँ परस्पर मिलती हैं। वस्तुत, यही बौद्ध-तान्त्रिक धर्म है। यदि महाशक्ति की आराधना ही तान्त्रिक साधना का वैशिष्ट्य माना जाय, तो इसमें सन्देह नही कि पारमिता-नय भी तान्त्रिक कोटि में गिना जायगा।

वज्रयान की साधना में मन्त्र का प्राधान्य रहता है। इसी कारण कभी-कभी वज्रयान को मन्त्रयान भी कहते हैं। सहजयान में मन्त्र के ऊपर जोर नहीं दिया गया है। परन्तु, वज्रयान तथा कालचक्रयान की योग-साधना में मन्त्र का ही प्राधान्य माना जाता है। प्रसिद्धि है कि गौतम बुद्ध के पूर्ववर्त्ती बुद्ध दीपकर इस मार्ग के आदि उपदेष्टा थे। किन्तु, वज्रमार्ग काल-क्रम से लुप्त हो गया, जैसे सुना जाता है कि साख्य 'कालार्क' भक्षित हुआ था, और गीतोक्त योग

दीर्घकाल से लुप्त हो गया था (योगो नष्टः परन्तप)। बाद मे कृष्ण ने गीतोक्त योग का पुन प्रवर्त्तन किया। इसी प्रकार ,वज्रयान का भी प्रवाह विच्छिन्न हो गया था। यह ठीक है कि किसी-किसी स्थान में यह विद्यमान था, इसका आभास मिलता है। किन्तु, जन-चित्त पर उसका प्रभाव नही था। उत्तर काल में वज्रयोग के रूप मे प्रकट हुआ। उसके प्रवर्त्तक राजा सुचन्द्र थे। यह एक विशाल राज्य के स्वामी थे। इनकी राजधानी सम्भल-नगरी थी। यह सीता नदी के तट पर थी। कालतन्त्र मे इसका विवरण मिलता है। यह राजा सुचन्द्र वज्रपाणि बुद्ध के निर्माण-काय थे। इन्होने ऊर्ध्व-लोक मे जाकर सम्बुद्ध गौतम से अभिषेक-तत्त्व के सम्बन्ध मे कुछ प्रश्न किये थे। उनके प्रश्न से प्रसन्न होकर गौतम ने श्रीधान्यकटक मे एक सभा का आह्वान किया। जगत् मे किसी नवीन मत के प्रचार के लिए प्राय ऐसा ही हुआ करता है। इसके पहले गृध्रकूट पर सभा हुई थी और उस समय मन्त्रमार्ग का उपदेश हुआ था।

अधिकार-सम्पत्ति अच्छी न रहने पर वज्रयान मे प्रवेश नही होता। पारमिता-नय का साधन नीति तथा चर्या की शुद्धि पर प्रतिष्ठित हुआ था, किन्तु मन्त्र-नय की साधना आध्यात्मिक योग्यता पर निर्भर थी।

पारमिता-नय का विश्लेषण सौत्रान्तिक दृष्टि से होता है, किन्तु मन्त्र-नय का व्याख्यान योगाचार तथा माध्यमिक दृष्टि से ही हो सकता है। सौत्रान्तिक बाह्यार्थ को अनुमेय मानते हैं, उनके मत में उसका कभी प्रत्यक्ष नही हो सकता है। माध्यमिक विज्ञान को भी नही मानते। इसी से समझ मे आता है कि मन्त्र-साधना का अधिकार प्राप्त करने के लिए दृष्टि का कितना प्रसार तथा उत्कर्ष होना चाहिए।

(१०)

मन्त्र-यान का लक्ष्य वज्रयोग-सिद्धि है। जबतक साधक का आधार या क्षेत्र योग्य नही होता, तबतक इसका साधन नही किया जा सकता। पूर्णता के मार्ग मे आगे बढने के लिए यही योग श्रेष्ठ है। इस महामार्ग के चार स्तर हैं। एक स्तर मे पूर्ण योग का एक-एक रूप आवरण से उन्मुक्त होता है। चारो स्तर के साधन में पूर्णता-लाभ करने पर योग पूर्ण हो जाता है। प्रत्येक स्तर में योग-लाभ से पहले विमोक्ष-लाभ करना पडता है। विमोक्ष-लाभ का उद्देश्य कल्पनादिक से तथा आवर्जनाओ से मुक्त होना है। ध्यान से विमोक्ष की प्राप्ति होती है, और विमोक्ष से योग सिद्ध होता है। चार स्तरो के कारण विमोक्ष भी चार प्रकार के हैं—शून्यता, अनिमित्त, अप्रणिहित और अनभिसस्कार। प्रत्येक योग में विमोक्ष के प्रभाव से एक-एक शक्ति का विकास होता है, अर्थात् एक-एक वज्रयोग से एक-एक प्रकार की शक्ति पूर्ण होती है। शक्ति के पूर्ण विकास हो जाने पर वज्रभाव का उदय होता है। स्थूल दृष्टि से अपनी सत्ता का चार भागो मे विभाग किया जाता है—काय, वाक्, चित्त और ज्ञान। प्रथम वज्रयोग में 'कायवज्रभाव' का उदय होता है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ अवस्थाओ का भी उदय होता है। जिसे कायवज्र कहा गया है, वह एक दृष्टि से स्थूल जगत् की पूर्णता है। शेष तीन भी इसी प्रकार के हैं। ये चारो समष्टि-रूप हैं।

पहले वज्रयोग का नाम विशुद्ध-योग है। इसके लिए शून्यता नाम का विमोक्ष प्राप्त करना पडता है। शून्यता शब्द से स्वभावहीनता समझनी चाहिए। शून्यता अतीत और अनागत ज्ञेयो से शून्य है। इसका दर्शन शून्यता है। यह गम्भीर और उदार है। गम्भीर इस लिए कि अतीत और अनागत नही है। उदार इसलिए कि अतीत और अनागत का दर्शन है। जिस ज्ञान में इस शून्यता का ग्रहण होता है, वही शून्यता-विमोक्ष है। इसे प्राप्त करने पर तुरीय अवस्था का क्षय हो जाता है, और अक्षर महासुख का उदय होता है। करुणा का लक्षण ज्ञानवज्र है। इसी का नामान्तर सहजकाय है, जो प्रज्ञा और उपाय की साम्यावस्था है। इसी का नामान्तर विशुद्ध योग है।

द्वितीय योग का नाम धर्मयोग है। इसके लिए जिस विमोक्ष की अपेक्षा है, उसे अनिमित्त कहा जाता है। बुद्ध, वोधि प्रभृति विकल्पमय चित्त ही निमित्त है। जिस ज्ञान में इस प्रकार का विकल्प-चित्त नही होता, उसे ही अनिमित्त-विमोक्ष कहते हैं। इसे प्राप्त कर लेने पर सुषुप्ति-दशा का क्षय हो जाता है। नित्य-अनित्यादि द्वय से रहित मैत्रीरूप चित्त उदित होता है। यह चित्त-वज्र-धर्मकाय नाम से प्रसिद्ध है। यह दो कार्यो का स्फुरण है। वस्तुतः, यह जगत् के कल्याण-साधक निर्विकल्पक चित्त से भिन्न और कुछ नही है। यह योग भी प्रज्ञा तथा उपाय का सामरस्य है। चित्त-वज्र ही ज्ञानकाय नाम से प्रसिद्ध है।

तृतीय योग का नाम मन्त्रयोग है। इसके लिए अप्रणिहित नाम का विमोक्ष आवश्यक है। निमित्त के अभाव मे तर्क का अभाव होता है। वितर्क-चित्त के अभाव से प्रणिधान का उदय नही होता, इसलिए यह अप्रणिहित है। अप्रणिधान शब्द से 'मैं सम्बुद्ध हूँ' आदि आकार का भाव समझा जाता है। इस प्रकार के विमोक्ष से स्वप्न-क्षय होता है और भीतर से अनाहत ध्वनि सुन पडती है। यही मन्त्र या सर्वसत्त्वभूतरुत नाम से प्रसिद्ध है। मुदिता इसी का नामान्तर है। सर्वसत्त्वरुत से तात्पर्य मन्त्र द्वारा सर्वसत्त्वो में मोदन (आनन्द) का सचार करना है। यही मुदिता का तात्पर्य है। मन का त्राण हो जाता है, यही मन्त्र का उपयोग है। यही वाग्वज्र या सम्भोग-काय है। प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य ही मन्त्रयोग है। यह सूर्य-स्वरूप है।

चतुर्थ योग का नाम सस्थान-योग है। इसके लिए अनभिसस्कार नाम का विमोक्ष अपेक्षित है। प्रणिधान न रहने से अभिसस्कार नही रहता। श्वेत-रक्त-प्राणायाम, विज्ञान से अभिसस्कार हैं। इस विमोक्ष के प्रभाव से विशुद्धि होती है। उससे जाग्रत् अवस्था का क्षय होता है, और अनन्त-अनन्त निर्माण-कायो का स्फुरण होता है। इससे उपेक्षारूप कायवज्र का लाभ होता है। रौद्र, शान्तादि रूपो से इसका साकर्य नही है। निर्माण-काय या प्रज्ञोपाय का सामरस्य ही सस्थान-योग का रूप है। यह 'कमल-नयन' नाम से प्रसिद्ध है।

पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है कि चार योगो से चार अवस्थाओ का अतिक्रम होता है। वज्रयोग का मुख्य फल पूर्ण निर्मलत्त्व स्वच्छत्व या आयत्त करना है। तुरीय प्रभृति चार अवस्थाओं में किसी-न-किसी प्रकार का मल है। जबतक इन मलो का सशोधन न हो, तबतक पूर्णत्व-लाभ नही हो सकता। तुरीय के मल से अभिप्राय रागविशिष्ट इन्द्रिय-द्वय से है। सुषुप्ति

का मल तम और स्वप्न का मल श्वास-प्रश्वास है। श्वास-प्रश्वास का अभिप्राय प्राणोत्पादादि तथा सत्, असत् और विकल्प से है। जाग्रत् का मल है सज्ञा, अर्थात् देह-बोध।

तान्त्रिक योगियो का कहना है कि वैदिक योग से मलो की पूर्णतया निवृत्ति नही होती। किन्तु, तान्त्रिक क्रिया के प्रभाव से मल रह ही नही सकता। इस मत में वस्तुमात्र ही शून्य, अर्थात् नि स्वभाव है। अतीत नही है और अनागत भी नही है, यह जानकर ध्यान करने से मनोभाव शून्यात्मक होता है। यह अत्यन्त गम्भीर है, और देशकालादि से अपरिच्छिन्न है। इसके आधार पर जिस ज्ञान की प्रतिष्ठा है, उसी का नाम शून्यता-विमोक्ष है। इसके प्रभाव से मोहनाशक निर्विकार आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। विश्व-करुणा से युक्त ज्ञान शुद्ध होता है। इसी का नाम सहज-काय है और इसी का नामान्तर विशुद्ध-काय भी है।

ऊपर चार वज्रयोगो का जो सक्षिप्त विवरण दिया गया है, वह गुह्यसमाज और विमल-प्रभादि ग्रन्थो के आधार पर है। चैतन्य को आवरण से मुक्त करणा ही योग का उद्देश्य है। एक-एक वज्रयोगरूप चैतन्य से एक-एक आवरण का उन्मीलन होता है। इससे समग्र विश्व-दर्शन का एक-एक अग खुल जाता है। इसका परिभाषिक नाम अभिसम्बोधि है। चार योगो से चार प्रकार की अभिसम्बोधि उदित होती है, और पूर्णता की प्राप्ति के अन्तराय दूर हो जाते है।

इस सम्बोधि का आलोचन दो तरह से किया जा सकता है—१ उत्पत्ति-क्रम तथा २. उत्पन्न-क्रम। वैदिक धारा की साधना मे भी इन दोनो का परिचय मिलता है किन्तु, दोनो के प्रकार भिन्न है। सृष्टि-क्रम और सहार-क्रम अथवा अवरोह-क्रम और आरोह-क्रम का अवलम्बन किये विना सम्यक् रूपेण विश्वदर्शन नही किया जा सकता। श्रीचक्र-लेखन की प्रणाली मे केन्द्र से परिधि की तरफ या परिधि से केन्द्र की तरफ जैसे गति हो सकती है, अथ च दोनो मे तत्त्व-दृष्टि तथा कार्य-दृष्टि से भेद है, ठीक उसी प्रकार उत्पत्ति-क्रम से उत्पन्न-क्रम का भी भेद है।

उत्पत्ति-क्रम में चार सम्बोधियो को इस क्रम से समझना चाहिए। सबसे पहले है, एक-क्षण-अभिसम्बोधि। यह स्वाभाविक या सहजकाय से सश्लिष्ट है। जन्मोन्मुख आलयविज्ञान जिस समय मातृगर्भ में माता और पिता के समरसीभूत बिन्दु-द्वय के साथ एकत्व-लाभ करता है, वह एक महाक्षण है। इस क्षण में जो सुख-सवित्ति होती है, उसका नाम एकक्षण-सम्बोधि है। उस समय गर्भस्थ काया रोहित मत्स्य के सदृश एकाकार रहती है। उसमे अग-प्रत्यंग का विभाग नही रहता।

इसके वाद पचाकार-सम्बोधि होती है। पहले की काया सहज-काय से सश्लिष्ट थी, किन्तु यह काया धर्म-काय से सश्लिष्ट है। मातृगर्भ मे जब रूपादि वासनात्मक पाँच सवित्तियाँ होती हैं, तब वह आकारकूर्मवत् पचस्फोटक से विशिष्ट होती है। यह पचाकार-महासम्बोधि की अवस्था है।

तदनन्तर, उक्त पचज्ञान में से प्रत्येक ज्ञान पचधातु, पच इन्द्रिय तथा पच आयतनो के वासना-भेद से वीस प्रकार का है। काय भी वीस अगुलियो से परिपूर्ण होता है। वह विंशत्याकार-सम्वोधि है। इसका सम्वन्ध सम्भोग-काय के साथ है। यहाँतक का विकास मातृगर्भ में होता है।

इसके वाद गर्भ से निष्क्रमण, अर्थात् प्रसव होता है। उसी समय मायाजाल के सदृश अनन्त भावो की सवित्तियाँ होती हैं। ज्ञान में विंशति भेदो के स्थान पर अनन्त प्रकार के भेदो का स्फुरण होता है। इसका नाम मायाजाल-अभिसम्वोधि है। यह निर्माण-काय से सश्लिष्ट है।

मायाजाल के ज्ञान के उदय होने पर ही समझ लेना चाहिए कि उत्पत्ति-क्रम समाप्त हो गया। परमशुद्ध सत्ता से मायाराज्य में अवतरण का यही इतिहास है। वस्तुत, माया-गर्भ में ही रचना होती है। काल-तत्त्व का भी यही रहस्य है। शुक्ल-विन्दु तथा रक्त-विन्दु नाम के दो कारण-विन्दु कार्य-विन्दु के रूप में परिणत होते हैं। आगे की सृष्टि इस कार्य-विन्दु का ही क्रम-विकास है। इससे स्पष्ट है कि सृष्टि के प्रारम्भ में आनन्द-ही-आनन्द है। इसका नाम केवल सुखसवित्ति है। उपनिषद् में भी **आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते** के द्वारा यही कहा गया है। वह वस्तुत महाक्षण की स्थिति है। सृष्टि में मायाजाल के अनन्त नाग-पाश का विस्तार है। आनन्द टूटता है, और नाना प्रकार के दु खों का आविर्भाव होता है। इस प्रत्यावर्त्तन-काल में माया को छिन्न कर पुन. उस एक महाक्षण में लौटना पडता है। निर्माण-काय से सहज-काय तक का आरोहण होता है। प्रत्यावर्त्तन की धारा में एकक्षण-सम्वोधि को अन्तिम विकास माना जाता है। वस्तुत, इसी क्षण में विश्वातीत महाशक्ति अवतीर्ण होती है, और लौटती भी है। योगी गर्भाधान-क्षण को ही उत्पत्ति-क्षण मानते हैं, परन्तु, अयोगी की दृष्टि में गर्भ से निष्क्रमण-क्षण या नाडीच्छेद-क्षण ही उत्पत्ति-क्षण है। उसी क्षण में माया, अर्थात् वैष्णवी माया का स्पर्श होता है।

इसके वाद ही श्वास-प्रश्वास की क्रिया प्रारभ होती है। देहरचना के मूल में है क्षर-विन्दु अथवा आलय-विज्ञान। यह अशुद्ध विज्ञान है। यही जन्म लेता है। दो कार्य-विन्दु एक साथ रहकर देह-रचना करते हैं।

उत्पन्न-क्रम वस्तुत. आरोह-क्रम है। एक दृष्टि से इसे सहार-क्रम कहा जा सकता है। दूसरी दृष्टि से इसे ही सृष्टि-क्रम भी कह सकते हैं। जैसे माया से ब्रह्म में स्थिति-लाभ करना एक धारा है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मावस्था का भी एक विकास-व्यापार है। इससे परमात्मा तथा भगवान्-पर्यन्त भावो की व्यजना होती है। प्रकृत में भी प्राय ऐसा ही समझना चाहिए। माया के प्रभाव से प्रति दिन २१ हजार ६ सौ श्वास-प्रश्वासो की क्रिया होती है। प्रत्यावर्त्तन की अवस्था में भी ठीक उसी प्रकार एकक्षण-अभिसम्वोधि की अवस्था होती है। इस अवस्था में प्राणवायु शान्त होती है। इसीलिए, चित्त महाप्राण में स्थिर होता है, और स्थूल इन्द्रियो की क्रिया नही रहती। इस अवस्था में दिव्य इन्द्रियो का उदय होता है। स्थूल-

देहाभिमान नही रहता। दिव्य देह का आविर्भाव होता है। इस समय एक ही क्षण मे विश्व-दर्शन हो जाता है—**ददर्श निखिल लोकमादर्श इव निर्मले**। यह ज्ञान वज्रयोग है, और स्वभाव-काय की अवस्था है।

क्षरबिन्दु की देहरचनात्मक सृष्टि बताई गई है। अक्षर या अच्युतबिन्दु की सृष्टि विशुद्ध ज्ञान-विज्ञानात्मक है। यह एकक्षणाभिसम्बुद्ध स्थिति ही सर्वार्थदर्शी वज्रसत्त्व की स्थिति समझनी चाहिए। इस स्थिति में श्वास-चक्र की क्रिया नही रहती। इस महाक्षण को ही बुद्ध का जन्म-क्षण कहा जाता है। मनुष्यमात्र ही बुद्धत्व या पूर्णत्व का लाभ इसी महाक्षण में करते हैं। इसी का नाम द्वितीय जन्म है। मूलतन्त्र में कहा गया है—**जन्मस्थानं जिनेन्द्राणा-मेकस्मिन् समयेऽक्षरे**। यह स्वभाव-काय की अवस्था है।

इसके बाद चित्तवज्रयोग होता है। पहले जो वज्रसत्त्व थे, वही महासत्त्व के रूप में प्रकट होते हैं। उस समय परम अक्षर-सुख का अनुभव होता है। इसका नाम पचाकार अभि-सम्बोधि है। आदर्श-ज्ञान, समता-ज्ञान, प्रत्यवेक्षण-ज्ञान, कृत्यानुष्ठान-ज्ञान और पूर्ण विशुद्ध धर्मधातु का ज्ञान ये ही मुख्य ज्ञान हैं। द्रव्यादि पचधातु और रूपादि पचस्कन्ध ये दोनो प्रज्ञा और उपायात्मक हैं। ये पचमण्डल निरोध-स्वभाव हैं। यह धर्म और काल की अवस्था है। इस समय श्वास-चक्र पुन कर्म मे प्रवर्त्तित होता है।

जब सम्भोग-काय की अभिव्यक्ति होती है, तब वाग्वज्ररूप से उसका निरूपण किया जा सकता है। यह महासत्त्व है, इसी का परिणाम है बोधिसत्त्व। यह द्वादशाकार सत्त्वार्थ बोधिसत्त्वो का अनुग्राहक है। यह सर्वसत्त्वरुत के द्वारा धर्म-देशना करते हैं। यह विंशत्याकार अभिसस्कार की दशा है। इसमें ५ इन्द्रिय, ५ विषय, ५ कर्मेन्द्रिय और निरावरण लक्षण द्वादश सक्रान्तियाँ हैं।

मबके अन्त में कायवज्र-योग का निरूपण होता है। यह निर्माण-काय है। समय-सत्त्व षोडशाकार तत्त्ववेदनो के कारण अनुग्राहक है। अनन्त मायाजालो से काय का स्फुरण होता है। यहाँ की समाधि भी मायाजाल अभिसम्बोधि है। इस अवस्था में एक ही समय मे अनन्त तथा अपर्यन्त नाना प्रकार की माया के निर्माणलक्षण षोडश आनन्दमय बिन्दु का निरोध है।

इस समय प्रसगत. आनन्द के रहस्य के सम्बन्ध में दो-चार बातें कहना आवश्यक है। स्थूल दृष्टि से आनन्द के चार भेद हैं—१. आनन्द, २. परमानन्द, ३. विरमानन्द, ४. सहजानन्द। जिस समय काम के द्वारा मन में क्षोभ होता है, वही समय आनन्द के उद्गम का है। वस्तुत', यह भाव का ही विकास है। शक्ति की अभिव्यक्ति से इसका आविर्भाव होता है। इसके बाद जब अभिव्यक्ति-शक्ति के साथ मिलन का पूर्णत्व सिद्ध होता है, तब बोधि-चित्त भी पूर्ण ो जाता है। इस पूर्णत्व का स्थान ललाट है। इस आनन्द का नाम परमानन्द है।

यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि बौद्ध तान्त्रिक परिभाषा में शरीर का साराश विन्दु ही वोधि-चित्त नाम से अभिहित होता है। उत्तमाग से वोधि-विन्दु का क्षरण होता है। यही अमृत-क्षरण है। उस अवस्था को ज्वाला-अवस्था कहते हैं। यह विरमानन्द है। इसके वाद वाक् तथा चित्त-विन्दु के अवसान में जव चतुर्विन्दु का निर्गम होता है, उस काल में सहजानन्द का आविर्भाव होता है।

योगी कहते हैं कि प्रत्येक पक्ष मे प्रतिपत् मे पचमी-पर्यन्त तिथियाँ जो चन्द्रमा की कलाएँ है, वे आकाशादि पचभूत के स्वरूप हैं। इन्ही का नाम नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता तथा पूर्णा है। इनके प्रतीक स्वरादि वर्ण है। इन पाँचो मे आनन्द पूर्ण होता है। षष्ठी से दशमी तक की तिथियाँ भी पूर्ववत् आकाशादि पचभूत के स्वरूप हैं। इनमें परमानन्द पूर्ण रहता है। एकादशी से पूर्णिमा तक भी आकाशादि पचभूत रूप ही है। ये विरमानन्द से पूर्ण रहती हैं। इस प्रकार, आनन्द, परमानन्द तथा विरमानन्द की साम्यावस्था षोडशी कला है। इसी का नाम सहजानन्द है। इसमें सव धातुओ का समाहार होता है। प्रत्येक आनन्द में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय के भेद से काय, वाक्, चित्त तथा ज्ञान के योग से चार प्रकार के योग उदित होते हैं। कायानन्द, वागानन्दादि प्रत्येक आनन्द से सश्लिष्ट योग भी चार प्रकार के हैं। इस प्रकार, चार वज्रयोग ही षोडश योग में परिणत होते हैं। इन सोलहो के नाम पृथक्-पृथक् हैं। पहले का नाम काम है। अन्तिम का नाम नाद है।

(११)

तान्त्रिक उपासना शक्ति की उपासना है। वौद्धो की दृष्टि से प्रज्ञा ही शक्ति का स्वरूप है। इसी का प्रतीक त्रिकोण है। इसमें विशुद्ध छ धातु विद्यमान हैं। इसीलिए इनके छ गुण प्रसिद्ध हैं—ऐश्वर्य, समग्रत्व, रूप, यश, श्री, ज्ञान तथा अर्थवत्ता। यथा वैष्णव चतुर्व्यूह के प्रसग मे भगवत्-स्वरूप, अर्थात् वासुदेव का षाड्गुण्य विग्रह मानते है, और सकर्षणादि तीन व्यूह मे प्रत्येक का द्विगुण विग्रह मानते है। वही प्रकार वौद्धागम एव वौद्धेतर शैव, शाक्तागम मे भी है। शक्ति के प्रतीक त्रिकोण के तीन कोणो मे तीन विन्दु हैं। केन्द्र मे मध्यविन्दु है, जिसमे तीनो का समाहार होता है। कोण के प्रतिविन्दु मे दो गुण माने जाते है। इसीलिए, समष्टि षड्गुण होता है। शाक्तो के चतुष्पीठ का मूल भी यही है। अस्तु, यह त्रिकोण क्लेश, मार प्रभृति का भजन करनेवाला है, अत 'भग' नाम से प्रसिद्ध है। हेवज्रतन्त्र मे प्रज्ञा को भग कहा गया है। इसका नाम वज्रधर-धातु महामण्डल है। यह महासुख का आवास है। यह 'एकार' या धर्म-धातु पदवाच्य है। यह अजड, स्वच्छ आकाश के सदृश है और अनवकाश एव प्रकाशमय है। वज्रालय या वज्रासन इसी का नामान्तर है। यह अखण्ड, अपरिमित, अनन्त प्रकाशमय है। इसको सिंहासन वनाकर जो आसीन होते हैं, उन्हें भगवान् कहा जाता है। उन्हें ही महाशक्ति का अधिष्ठाता कहते हैं।

वौद्धेतर आगम-शास्त्रो मे 'ए' कार शक्ति का प्रतीक है। यह त्रिकोण है। अनुत्तर पर स्पन्द 'अ' है, उच्छलित आनन्द 'आ' अनुत्तर है, चित् तथा आनन्द-चित् इच्छा-रूप 'इ' मे

नियोजित होकर त्रिकोण की रचना करते हैं। इसी का नाम 'ए' कार है। यह विसर्गानन्दमय सुन्दर रूप मे वर्णित होता है (स्मरण रहे कि अशोक की ब्राह्मी लिपि मे भी 'ए' कार त्रिकोणाकार ही है)।

त्रिकोणमेकादशक वह्निगेहं च योनिकम्।
शृङ्गाटं चैव 'ए'कारनामभि परिकीर्त्तितम्॥

इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया ये तीनो त्रिकोण के रूप मे परिणत होते है। विसर्गरूप परशक्ति के आनन्दोदय-क्रम से लेकर क्रियाशक्ति-पर्यन्त रूप ये त्रिकोण ही उल्लसित होते हैं। यहाँ की शक्ति नित्योदिता है, इसीलिए यह परमानन्दमय है। इस योगिनी जन्माधार त्रिकोण से कुटिलरूपा कुण्डलिनी शक्ति प्रकट होती है —

त्रिकोणं भगमित्युक्तं वियत्स्थं गुप्तमण्डलम्।
इच्छा-ज्ञान-क्रिया-कोण तन्मध्ये चिञ्चनीक्रमम्॥

बौद्धो का सिद्धान्त भी ऐसा ही है —

'ए'काराकृति यद्दिव्य मध्ये 'वं'कारभूषितम्।
आलय सर्वसौख्याना बोधरत्नकरण्डकम्॥

बाहर दिव्य 'ए'कार है। त्रिकोण के मध्य मे 'व'कार है। इसके मध्य बिन्दु मे सर्वसुख का आलय बुद्धरत्न निहित रहता है। यह प्रज्ञा ही रत्नत्रय के अन्तर्गत धर्म है। इसलिए, 'ए'कार को धर्म-धातु कहते हैं। बुद्धरत्न इस त्रिकोण के भीतर या षट्कोण के भी मध्य-बिन्दु मे प्रच्छन्न है।

तान्त्रिक-बौद्ध जिसे मुद्रा कहते हैं, वह शक्ति की ही अभिव्यक्ति या बाह्य रूप है। मुद्रा के चार प्रकार हैं—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा और समयमुद्रा। गुरुकरण के बाद साधना के लिए शिष्य को प्रज्ञा ग्रहण करनी पडती है। प्रज्ञा ही मुद्रा या नायिका है। यह एक प्रकार से विवाह का ही व्यापार है। इसके बाद अभिषेक की क्रिया होती है। तदनन्तर, साधक तथा मुद्रा दोनो का मण्डल मे प्रवेश होता है तथा योगक्रिया का अनुष्ठान होता है। इस समय आन्तर तथा बाह्य विक्षेप दूर करने के लिए समन्त्रक क्रिया की जाती है। इसके बाद बोधिचित्त का उत्पाद आवश्यक होता है। प्रज्ञा तथा उपाय के योग से, अर्थात् साधक तथा मुद्रा के सम्बन्ध से बोधिचित्त का उद्भव होता है। इस उत्पन्न बोधिचित्त को निर्माणचक्र मे, अर्थात् नाभिप्रदेश मे धारण करना पडता है। यह क्रिया अत्यन्त कठिन है, क्योकि स्खलन होने पर योगभ्रष्ट होने की सम्भावना है और नरक-गति निश्चित है। नाभि मे इस बिन्दु को स्थिर न कर सकने से सदसदात्मक द्वन्द्व का बन्धन अनिवार्य है। मन की चचलता तथा प्राण की चचलता बिन्दु की चचलता के अधीन है। चचल बिन्दु ही सवृति बोधिचित्त है। बिन्दु स्थिर हो जाने पर उसकी ऊर्ध्वगति हो सकती है, अन्त मे उष्णीष-कमल मे, अर्थात् सहस्रदल कमल मे महाबिन्दुस्थान मे जाने पर मुक्ति या नित्य आनन्द का आविर्भाव होता है। बिन्दु की स्थिरता

ही ब्रह्मचर्यानुष्ठान का फल है। विन्दु के स्थिर हो जाने पर योग-क्रिया के द्वारा क्षोभण उसमे स्पन्दन कराया जाता है। वैदिक सिद्धि के वाद विवाहोत्तर गृहस्थाश्रम के सम्बन्ध मे 'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्' का भी यही अभिप्राय है। उसके वाद उसमे क्रमश ऊर्ध्वगति होती है। इस गति की निवृत्ति ही महासुख का अभिव्यजक है।

कर्ममुद्रा प्रारम्भिक है। कर्मपद का वाच्य है काय, वाक् तथा चित्त की चिन्तादिरूप क्रिया। इस मुद्रा के अधिकार मे क्षण के भेद से चार प्रकार के आनन्दो की अभिव्यक्ति होती है। इनके क्रम के विषय मे अद्वयवज्र के अनुसार तृतीय का नाम सहजानन्द और चतुर्थ का विरमानन्द है। यह क्रम इसलिए है कि परम और विराम के मध्य मे लक्ष्य-दर्शन होता है। चार क्षणो के नाम हैं---विचित्र, विपाक, विलक्षण और विमर्द। धर्ममुद्रा धर्मधातु-स्वरूप है। यह निष्प्रपच, निर्विकल्प, अकृत्रिम, अनादि अथ च करुणास्वभाव है। यह प्रवाहेण नित्य है, इसलिए सहज स्वभाव है। धर्ममुद्रा की स्थिति मे अज्ञान या भ्रान्ति पूर्णतया निवृत्त हो जाती है। साधारण योग-साहित्य मे देहस्थित वाम नाडी तथा दक्षिण नाडी को आवर्त्तमय मानकर सरल मध्य नाडी को, अर्थात् सुषुम्णा या ब्रह्मनाडी को योग या ज्ञान का मार्ग माना जाता है। आगमिक बौद्ध साहित्य मे ठीक इसी प्रकार ललना तथा रसना नाम से पार्श्ववर्त्ती नाडीद्वय को प्रज्ञा और उपायरूप माना है, और मध्य नाडी को अवधूती कहा है। अवधूती का नामान्तर धर्ममुद्रा है। तथता के अवतरण के लिए यही सनिकृष्ट कारण है, अतः यही मार्ग है। मध्यमा प्रतिपत् यही है। आदर के सहित निरन्तर इसके अभ्यास से निरोध का साक्षात्कार होता है। हान और उपादान-वर्जित जो स्वरूपदर्शन है, वही सत्य-दर्शन है। इस मध्यमार्ग मे ज्ञनान्तर्वर्त्ती ग्राह्य तथा ग्राहक-विकल्प छूट जाते हैं। तृतीय मुद्रा का नाम महामुद्रा है। यह नि स्वभाव है, और सर्व प्रकार के आवरणो से वर्जित है मध्याह्न गगन के सदृश निर्मल और अत्यन्त स्वच्छ है। यही सर्वसम्पत् का आधार है। एक प्रकार से यह निर्वाण-स्वरूप ही है। यहाँ अकल्पित संकल्प का उदय होता है। यह अप्रतिष्ठित मानस की स्थिति है। यह पूर्ण निरालम्ब अवस्था है। योगी इसे अस्मृत्यमनसिकार नाम से वर्णन करते हैं। इसका फल समय-मुद्रा या चतुर्थ मुद्रा है। यह समय अचिन्त्य-स्वरूप है। इस अवस्था मे जगत्-कल्याण के लिए स्वच्छ एवं विशिष्ट सम्भोग-काय तथा निर्माणकाय-स्वभाव होकर वज्रधर के रूप में इसका स्फुरण होता है। इस विश्व-कल्याणकारी रूप को तिब्वती वौद्ध 'हेरुक' नाम देते हैं। आचार्यगण इस मुद्रा को ग्रहण कर चक्राकार मे पाँच प्रकार के ज्ञान की पाँच प्रकार से परिकल्पना करके आदर्श-ज्ञान, समता-ज्ञान आदि का प्रकाश करते हैं।

(१२)

अभिषेक के विषय मे कुछ न कहने से योग-साधन का विवरण असम्पूर्ण ही रहेगा। अत:, इस विषय मे भी सक्षेप से कुछ कहा जा रहा है। वज्रयान के अनुसार अभिषेक सात प्रकार के हैं। यथा · उदकाभिषेक, मुकुटाभिषेक, पट्टाभिषेक, वज्रघण्टाभिषेक, वज्रव्रताभिषेक, नामा-

भिषेक और अनुज्ञाभिषेक। इसमें पहले दो देह-शुद्धि के लिए हैं। तृतीय और चतुर्थ से वाक्-शुद्धि होती हैं। पचम और षष्ठ से चित्त-शुद्धि होती है। सप्तम से ज्ञान-शुद्धि होती है। अभिषेक के सम्बन्ध मे बाह्य विवरण वज्रयान के बहुत-से ग्रन्थो मे है। उसकी यहाँ चर्चा अनावश्यक है। देह पचधातुमय है। उष्णीष से लेकर कटिसन्धि तक पच जन्म-स्थानो मे यथाविधि समन्त्रक अभिषेक के द्वारा पचधातुओ की शुद्धि की जाती है। इससे काय शुद्ध हो जाता है। इसी का नाम उदकाभिषेक है। मुकुटाभिषेक से पचस्कन्ध या पचतथागत की शुद्धि होती है। इस प्रकार, प्रथम तथा द्वितीय से धातु तथा स्कन्धो के निर्मल हो जाने के कारण काय की सम्यक् शुद्धि हो जाती है। पट्टाभिषेक और वज्रघण्टाभिषेक के द्वारा दस पारमिताओ की पूर्त्ति होती है। इससे चन्द्र और सूर्य का शोधन होता है। पचम से रूपादि विषय तथा चक्षुरादि इन्द्रियो का शोधन होता है। इससे प्राकृत विषयो के नियन्त्रण तथा महामुद्रा की सिद्धि मे सहायता मिलती है। षष्ठ से राग-द्वेष का शोधन होता है और मैत्री आदि ब्रह्मविहारो की पूर्त्ति होती हैं। षष्ठाभिषेक के बाद की अवस्था का 'वज्र' शब्द से अभिधान होता है। सप्तम अभिषेक धर्मचक्रप्रवर्त्तन के लिए या बुद्धत्व-लाभ के लिए है। अपरिमित सत्त्वो के आशय के अनुसार परमगुह्य वज्रयान के रहस्य का उपदेश करने के लिए सवृतिसत्य तथा परमार्थसत्य का विभाग किया जाता है। इस प्रकार से बुद्धत्व के निष्पादन के लिए सप्तम अभिषेक का उपयोग है। इन सात अभिषेको से शिष्य के कायादि चार वज्र शुद्ध हो जाते हैं। उस समय उनके हाथ मे धारण करने के लिए वज्र या वज्रघण्टा होता है। अभिषेक के सवृति तथा परमार्थ दो रूप है। सवृति भी दो प्रकार की है—लोक-सवृति तथा योगी-सवृति। लोक-सवृति को अधर-सवृति तथा योगी-सवृति को उत्तर-संवृति कहा जाता है। पहले उदकादि सप्त सेको का नाम कहा गया है। ये लौकिक सिद्धि के सोपान हैं। ये सब पूर्वसेक हैं, उत्तरसेक नही। योगी-सवृतिरूप सेक कुम्भादि तीन प्रकार के है—कुम्भाभिषेक या कलशाभिषेक, गुह्याभिषेक और प्रज्ञाभिषेक। ये उत्तरसेक लोकोत्तर सिद्धियो के मूल हैं। यद्यपि ये सावृत है, फिर भी परमार्थ के अनुकूल हैं। परमार्थ सेक ही अनुत्तर सेक है। पूर्वसेक के लिए मुद्रा आवश्यक नही है। उत्तरसेक के लिए मुद्रा आवश्यक है। अनुत्तर के लिए कुछ कहना ही नही है।

(१३)

अब तान्त्रिक बौद्धो के षडग योग के सम्बन्ध मे दो-चार बातें कही जायेंगी। हठयोग तथा राजयोग मे षडग या अष्टाग दोनो ही प्रसिद्ध हैं। बौद्धो का षडग योग इससे विलक्षण है। इसका प्राचीन विवरण गुह्यसमाज मे तथा मजुश्रीकृत कालचक्रोत्तर मे पाया जाता है। परवर्त्ती साहित्य मे, विशेषत. नडपाद की सेकोद्देशटीका मे तथा मर्मकलिकातन्त्र मे इसका वर्णन है। बहुत-से लोग इसे बौद्धयोग के नाम से भी वर्णन करते है। यह सत्य भी है। परन्तु, ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार भास्कराचार्य भी अपनी गीताटीका मे ठीक इसी क्रम से षडग योग का उल्लेख करते हैं। यह टीका अभी तक प्रकाशित नही है। प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति, समाधि

ये षडग योग हैं। सिद्धि दो प्रकार की है—१. सामान्य और २ उत्तम। यौगिक विभूतियाँ सामान्य सिद्धि के अन्तर्गत हैं। सम्यक्सम्बोधि या बुद्धत्व उत्तमा सिद्धि है। समाजोत्तर-तन्त्र के अनुसार षडगयोग से ही बुद्धत्व या सम्यक्सम्बोधि प्राप्त हो सकती है। इसके चार उपाय हैं—१ सेवाविधान, २ उपसाधन, ३. साधन, ४ महासाधन। महोष्णीषविम्ब की भावना सेवाविधान के अन्तर्गत है। यह अशेष सर्वधातुक बुद्ध-विम्ब है। अमृत कुण्डलिनी रूप से विम्ब की भावना उपसाधन है। देवताविम्ब की भावना साधन है। बुद्धाधिप तथा विभुरूप से विम्ब की भावना महासाधना है। दस इन्द्रियो की अपने-अपने विषय के प्रति वृत्ति आहरण है। इन इन्द्रियो का अन्तर्मुख होकर अपने स्वरूपमात्र मे अनुवर्त्तन प्रत्याहार है। प्रत्याहार के समय इन्द्रियो की विषय-मात्रापत्ति या विषय-ग्रहण नही रहता। प्रत्याहार का फल वैराग्य, त्रिकाल-दर्शन, धूमादि दस निमित्तो के दर्शन की सिद्धि है। शुद्ध आकाश मे धूम, मरीचि, खद्योत, दीपकलिका, चन्द्र सूर्य या विन्दु का दर्शन निमित्त-दर्शन है। इस दर्शन के स्थिर होने पर मन्त्र साधक के अधीन हो जाता है। उसे वाक्-सिद्धि होती है।

प्रत्याहार से विम्ब-दर्शन होने पर ध्यान का प्रारम्भ होता है। यह योग का द्वितीय अग है। स्थिर तथा चर, अर्थात् यावत् चराचर भाव को पचकाम कहा जाता है। पचबुद्ध के प्रयोग से सब भावो मे यह कल्पना करना कि सभी बुद्ध हैं, ध्यान है।

ध्यान के वाद तृतीय अग प्राणायाम है। मनुष्य का श्वास पचज्ञानमय है, और पचभूत-स्वभाव है। इसको पिण्डरूप मे निश्चल करके नासिका के अग्रदेश मे कल्पना करनी चाहिए। यह अवस्था महारत्न नाम से प्रसिद्ध है। अक्षोभ्य प्रभृति पचबुद्ध पचज्ञानस्वभाव हैं। विज्ञानादि पचस्कन्ध ही इनका स्वरूप है। वाम तथा दक्षिण नासापुट मे श्वास का प्रवाह होता है। इन दोनो प्रवाहो के एकीभूत होने पर वह पिण्डाकार हो जाते हैं। इसी पिण्ड को नासाग्र पर स्थिर करना पडता है। पहले प्राणवायु को मध्य मार्ग मे निश्चल करना चाहिए, उसके वाद नासिकाग्र मे। इसे नाभि, हृदय, कण्ठ, ललाट तथा उष्णीष-कमल की कर्णिका मे स्थिर करना चाहिए, क्योकि नासाग्र और कमल का विन्दु समसूत्र है। महारत्न पचवर्ण कहा जाता है। वाम तथा दक्षिण प्रवाह का निरोध करके केवल मध्यमा मे उसे प्रवाहित करना चाहिए। इस प्रकार, निरुद्ध प्राणवायु पंचवर्ण महारत्न कहा जाता है। वज्रयानी इस प्राणायाम को 'वज्रजाप' कहते हैं। दो विरुद्ध धाराओ को सम्मिलित करके मध्यनाडी का अवलम्ब लते हुए उत्थान करना चाहिए और नासाग्र मे स्थिर करना चाहिए। साधारण मनुष्यो का प्राणवायु अशुद्ध प्रवृत्तियो का वाहन है। यह ससार का कारण है। यही पचक्रम का रहस्य भी है।

चतुर्थ अग धारणा है। अपने इष्ट मन्त्र प्राण का हृदय मे ध्यान करते हुए उसे ललाट मे निरुद्ध करना चाहिए। (मन का त्राणभूत होने के कारण प्राण ही मन्त्रपद का वाच्य है।) हृदय से, अर्थात् कर्णिका से हटाकर कर्णिका के मध्य मे स्थापित करना चाहिए। इसके वाद विन्दु-स्थान ललाट मे उसका निरोध किया जाता है। इसी का नाम धारणा है। उस समय प्राण

का सचरण, अर्थात् श्वास-प्रश्वास नही रहता। प्राण एकलोल हो ललाटस्थ बिन्दु मे प्रवेश करते हैं। निरुद्ध इन्द्रिय 'रत्न' पद का वाच्य है। चित्त के अवधूती मार्ग मे प्रविष्ट होने पर पूर्ववर्णित धूमादि निमित्तो का प्रतिभास होता है। धारणा का फल वज्रसत्त्व मे समावेश है। इसके प्रभाव से स्थिरीभूत महारत्न या प्राणवायु नाभिचक्र से चाण्डाली को, अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति को उठाता है। वज्रमार्ग से मध्यधारा का अवलम्ब करते हुए क्रमश: यह उष्णीषचक्र तक पहुँचता है। यह उष्णीष-कमल की कर्णिका तक पहुँचकर कायादि-स्वभाव चार बिन्दुओ को उस निर्दिष्ट स्थान-विशेष मे ले जाता है, जिसका निर्देश गुरु ने पहले ही किया है। धारणा सिद्ध होने पर चाण्डाली शक्ति स्वभावत उज्ज्वल हो जाती है।

पचम अग अनुस्मृति है। प्रत्याहार तथा ध्यान से त्रिधातु को प्रतिभासित करनेवाले सवृति-सत्य की भावना निश्चल की जाती है। अनुस्मृति का उद्देश्य है, सवृति-सत्य की भावना का स्फुरण करना। इसके प्रभाव से एकदेशवृत्तिक आकार, जो सवृति-सत्याकार है, समग्र आकाशव्यापीरूप से परिदृष्ट होने लगता है। उससे त्रिकालस्थ समग्र भुवन का दर्शन होता है। यही अनुस्मृति है। अनुस्मृति का फल प्रभामण्डल का आविर्भाव है। चित्त के विकल्पहीन होने से इस विमल प्रभामण्डल का आविर्भाव होता है। इस समय रोमकूप से पंचरश्मियो का निर्गम होता है।

इस योग का षष्ठ अग समाधि है। प्रज्ञोपाय-समापत्ति के द्वारा सर्वभावो का समाहार करके पिण्डयोग से बिम्ब के भीतर भावना करनी पडती है। ठीक-ठीक भावना करने पर अकस्मात् एक महाक्षण में महाज्ञान की निष्पत्ति हो जाती है। यही समाधि है। निष्पन्नादि क्रम से व्योमकमल का उद्गम होने पर अक्षर-सुख का उदय होता है। ज्ञेय और ज्ञान के एकलालीभूत होने से विमल अवस्था का आविर्भाव होता है। उस समय प्रतिभासस्वरूप स्थावर-जगम यावत् भावो को उपसहृत, अर्थात् सकुचित करके पिण्डयोग से, अर्थात् परम अनास्रव महासुखात्मक प्रभास्वर रूप से विम्ब के भीतर भावना करनी पडती है। जैसे लौहादि सब रसो को भक्षण करने पर एकमात्र सिद्ध रस रहता है, इसे भी ठीक उसी प्रकार का समझना चाहिए। इस परम अनास्रव महासुखमय प्रभास्वर के भीतर सवृति-सत्यरूप बिम्ब की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार की भावना या साक्षात्कार का फल परम महाज्ञान का आविर्भाव है। इसमे संवृति-सत्य तथा परमार्थ-सत्य का द्वैधीभाव छूट जाता है, और दोनो अद्वयरूप मे प्रकाशमान होते है। युगनद्ध विज्ञान का यही रहस्य है। यही बुद्ध का परम स्वरूप है, अर्थात् प्रत्येक आत्मा का परम स्वरूप है। समाधिवशिता से निरावरण-भाव उदित होता है।

मजुश्री ने कहा है—प्रत्याहारादि छ अगो से वस्तुत शून्यता-भावना ही उक्त है। धूमादि निमित्तो के क्रम से आकाश मे त्रैधातुक विम्वदर्शन को प्रत्याहार के अगरूप मे स्थिर करके जब बिम्बदर्शन की स्थिति सिद्ध की जाती है, तव योगी सब मन्त्रो का अधिष्ठाता होता है। ध्यान के प्रभाव से बाह्यभाव छूट जाते हैं, चित्त दृढ होता है, और विम्व-लग्न चित्त होने

पर अनिमेष या दिव्य चक्षु का उदय होता है। इसी प्रकार, दिव्य श्रोत्रादि तथा पच अभिज्ञाओ का लाभ होता है। जब योगी चन्द्र-सूर्य के मार्ग से मध्यमा मे प्रवेश करते हैं, और प्राणायाम से शुद्ध होते हैं, तव बोधिसत्त्वगण उनका निरीक्षण करते हैं। धारणा के प्रभाव से ग्राहक-चित्त या वज्रसत्त्व शून्यता-बिम्बरूप ग्राह्य का समावेश करते हैं। बिन्दु मे धारणा का फल प्राण गतिशून्य हो एकाग्र होता है। तव विमल प्रभामण्डल प्रकाशित होता है। रोमकूप से पचरश्मियो का नि.सरण होता है। यह महारश्मि-रूप है। ग्राह्य तथा ग्राहक चित्त एक होने पर अक्षर-सुख होता है, यही समाधि है। समाधि के आयत्त होने पर अचल या निरावरणभाव आता है। इस परमाक्षर ज्ञान को प्रभास्वर ज्ञान कहा जाता है। इसके द्वारा आवरण के सर्वथा नि शेष होने से सत्य-द्वय के एकीभाव होने पर अद्वय-भाव की प्रतिष्ठा होती है।

साधक पूर्ववर्णित षडंगयोग के प्रथम अग प्रत्याहार से धूमादि निमित्त आदि दस ज्ञानो का लाभ करता है। यह अकल्पित विज्ञान-स्कन्ध है। इस अवस्था मे विज्ञान-शून्यताबिम्ब मे प्रवृत्ति होती है। ध्यान मे ये दस विज्ञान-विश्वबिम्ब दस प्रकार के विषय-विषयी के साथ एकीभूत होते हैं। इसे अक्षोभ्य-भाव कहा जाता है। इस समय शून्यता-बिम्ब का अवलोकन होता है। यही प्रज्ञा है। भाव-ग्रहण तर्क है। उसका निश्चय विचार है। बिम्ब मे आसक्ति प्रीति है। बिम्ब के साथ चित्त का एकीकरण सुख है। ये पाँच अग हैं। पाँच प्रकार के प्राणायाम सस्कार-स्कन्ध हैं। इस समय वाम तथा दक्षिण मण्डल समरस हो जाते हैं। यह खण्डभाव है। इस स्थिति मे उभय मार्ग का परिहार होता है, और मध्य मार्ग मे प्रवेश होता है। यही से निरोध का सूत्रपात होता है। दस प्रकार की धारणाएँ वेदना-स्कन्ध हैं। नाभि से उष्णीष-कमल-पर्यन्त प्राण की गतियाँ और उष्णीष से नाभि तक पाँच आगतियाँ हैं। इस प्रकार, धारणा दस हैं। इन्हें रत्नपाणि कहा जाता है। मध्यनाडी में काम की चिन्तादि दस अवस्थाएँ अनुस्मृति कही जाती हैं। चिन्ता से लेकर तीव्र मूर्च्छा-पर्यन्त दस दशाएँ आलकारिक तथा वैष्णव साहित्यो मे सुप्रसिद्ध हैं। वहाँ दशम दशा को मृत्यु नाम दिया गया है। यह भावो के विकास की दस अवस्थाएँ हैं। बौद्धमत मे ये अवस्थाएँ वज्रसत्त्वावथा-प्राप्त योगी के सत्त्व-विकास की द्योतक हैं। अनुस्मृति के प्रभाव से आकाश में चाण्डाली का दर्शन होता है। दस प्रकार की वायुओ के निरोध से समाधि भी दस प्रकार की है। समाधि से ज्ञेय तथा ज्ञान के भेद होने पर अक्षर-सुख का उदय होता है, और उसी से ज्ञान-बिम्ब मे पूर्ण समाधान हो जाता है। यह षडग योग ही विश्वभर्त्ता कालचक्र का साधन है। मन्त्र-मार्ग के अनुसार बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए यही मुख्य द्वार है।

(१४)

कालचक्र क्या है ? कालचक्र अद्वय, अक्षर परमतत्त्व का नामान्तर है। काल करुणा से अभिन्न शून्यता की मूर्त्ति है। सवृतिरूप शून्यता चक्रपद का अर्थ है। प्रकारान्तर से

कहा गया है—

काकारात् कारणे शान्ते लकाराल्लयोऽत्र वै ।
चकाराच्चलचित्तस्य क्रकारात् क्रमबन्धनैः ॥

अर्थात्, जाग्रत् अवस्था के क्षीण होने के कारण बोधि-चित्तकाय शान्त या विकल्प-हीन होता है, यही 'का' से अभिप्राय है। काय-बिन्दु के निरोध से ललाट मे निर्माण-काय नाम का बुद्ध-काय प्रकट होता है। स्वप्नावस्था का जो क्षय होता है, वही प्राण का लय है। इस अवस्था में वाग्-बिन्दु का निरोध होता है। इससे कण्ठ में सम्भोग-काय का उदय होता है, जो 'ल' से अभिप्रेत है। सुषुप्ति के क्षय होने पर चित्त-बिन्दु का निरोध होता है। उस समय हृदय में धर्मकाय का उदय होता है। जाग्रत् तथा स्वप्नावस्था में चित्त शब्दादि विषयो मे विचरण करता है, इसीलिए चचल रहता है और तम से अभिभूत रहता है। अट्ठारह प्रकार के धातु-विकारो से वह विकृत होता है। इनके अपसारण से हृदय मे चित्त निरुद्ध हो जाता है। यही 'च' का अभिप्राय है। इसके बाद तुरीयावस्था का भी क्षय हो जाता है। तब कायादि सब बिन्दु सहज सुख के द्वारा अच्युत हो जाते हैं। उसी समय तुरीयावस्था का नाश होता है। स्वरगत ज्ञानबिन्दु के निरोध से नाभि में सहज-काय का आविर्भाव होता है। यही 'क्र' का अभिप्राय है। अतएव, कालचक्र चार बुद्धकायो का समाहार है। यह प्रज्ञा तथा उपाय का सामरस्य है। एकाधार में यही ज्ञान है, और यही ज्ञेय भी है। ज्ञान का तात्पर्य है, अक्षर-सुख का बोध। इससे सब आवरणों का क्षय होता है। ज्ञेय से अभिप्राय है, अनन्त भावमय त्रैधातुक जगत्-चक्र, अर्थात् समग्र विश्व। प्रज्ञा शून्यात्मक है, और उपाय करुणात्मक तथा षडभिज्ञात्मक है। प्रज्ञा शून्याकार है, परन्तु करुणा सर्वाकार है। दोनो का एकत्व ही काल-चक्र है। यही यथार्थ युगनद्ध है। कालचक्रतन्त्र मे लिखा है कि शुद्ध तथा अशुद्ध भेद से अनन्त विश्व ही चक्रस्वरूप है। किन्तु, अनन्त होकर भी यह एक ही है। बुद्ध या शम्भु जैसे एक हैं, उनका चक्र भी वैसे ही एक है। वस्तुत, बुद्ध और चक्र अभिन्न है। अनन्त बुद्ध-क्षेत्र, अनन्त गुण, आकोशादि सर्वधातु, उत्पत्ति-स्थिति-विनाशात्मक तीन प्रकार के भव, छ गतियो में विद्यमान सकल सत्त्व, बुद्धगण, क्रोधगण, सुरादिवर्ग, करुणा, बोधिसत्त्वगण ये सभी इस अखण्ड महाचक्र के अन्तर्भूत हैं। यह कालचक्र ही आदि-बुद्ध है। नामसगीतितन्त्र में कहा है—

अनादिनिधनो बुद्ध आदिबुद्धो निरन्वयः।

ऐतिहासिक बुद्धगण इन्ही के बहिःप्रकाश है।

साधक के दृष्टिकोण से देखने पर इस काल-चक्र में तीन मात्राएँ तथा तीन मुद्राएँ लक्षित होती है। बोधिचित्त की क्षरगति मृदुमात्रा है। स्पन्दगति है मध्यमात्रा, निष्यन्दगति है अधिमात्रा। जिससे अक्षर-सुख का उदय होता है, वह कर्म-मुद्रा है। जिससे स्पन्द-सुख का उदय होता है, वह ज्ञान-मुद्रा है। जिससे निष्यन्द-सुख का उदय होता है, वह महामुद्रा है। षडग योग के द्वारा इन तीन मुद्राओ की भावना बौद्ध-तन्त्रो में उपदिष्ट हुई है।

शून्यता-विम्ब साधन की अनुकूल दृष्टि के साधन के रहस्य से प्राचीन लोग परिचित थे। सेवा ही इसका मुख्य उपाय है। धूमादि दस निमित्तो की भावना ही सेवा है। इस अवस्था में चित्त आकाश में निमित्तदर्शन करता है। यह उष्णीष की क्रोध-दृष्टि या ऊर्ध्व-दृष्टि से होता है। यह अनिमेष-दृष्टि है। रात्रि में चार प्रकार की और दिन में छ प्रकार की सेवा का विधान है। जवतक विम्ब का साक्षात्कार नही होता, तवतक सेवा करनी चाहिए। यह ज्ञान साधन का प्रथम अग है। क्रोध-दृष्टि के वाद ही अमृत-दृष्टि का अवसर आता है। यह ललाट की दृष्टि है। इसी का नाम अमृतपद है। यह अमृतकुण्डली नामक विघ्नेश्वर की दृष्टि है। इसके प्रभाव से प्राण-विम्ब का दर्शन होता है।

प्राणविम्ब-दर्शन के अनन्तर प्राणायाम तथा धारणा की आवश्यकता पडती है। श्रद्धा-राग से सृष्ट वोधि-चित्तरूप विन्दु इस समय अक्षर-योग का लाभ करता है। गुह्य, नाभि तथा हृदय में क्रमश. यह योग प्रतिष्ठित होता है। ज्ञान-साधन का यह तृतीय अंग है। अनष्ट सौख्य के साथ वोधिचित्त का एकक्षणत्व—यही शान्त या सहज स्मिति है। इस समय चित्त अक्षर-सुख के साथ एक हो जाता है। यह ज्ञान-साधन का चतुर्थ अंग है।

तान्त्रिक वौद्ध-साधना में दो प्रकार का योगाभ्याम होता है। मन्त्र-यान में आकाश में तथा पारमिता-यान में अभ्यवकाश में। प्रथम मार्ग में आवश्यक है कि साधक रात्रि में छिद्रहीन तथा अन्धकारपूर्ण गृह में आकाश की तरफ दृष्टि लगातार और सर्व चिन्ताओ से मुक्त होकर एक दिन परीक्षा के लिए वैठे। यहाँ देखना चाहिए कि धूमादि निमित्तों का दर्शन हो रहा है या नही ? नयन को अनिमिष रखना चाहिए, और वज्रमार्ग में या मध्यमा-मार्ग में प्रविष्ट होना चाहिए। तव शून्य से पूर्वोक्त धूम, मरीचि, खद्योत तथा प्रदीप दृष्टिगोचर होंगे। जवतक यह न हो, तबतक रात्रि में इस अभ्यास को चलाना चाहिए। उसके वाद मेघहीन निर्मल आकाश में गगनोद्भूत महाप्रज्ञा का दर्शन होगा। यह दीप्त अग्नि की शिखा के समान होगा। इस ज्ञान-ज्योति का नाम वैरोचन है। चन्द्र और सूर्य का दर्शन भी होगा। प्रभास्वर विद्युत् तथा परम-कमल का दर्शन भी होगा। अन्त में विन्दु का साक्षात्कार होगा। ये सव निमित्त किसी सम्प्रदाय के अनुसार रात्रि में और किसी के अनुसार दिन में दर्शनीय हे। अन्त में, सर्वाकार घटपटादि विम्ब का दर्शन होता है। इस विम्ब के भीतर वुद्ध-विम्ब का दर्शन होता है। इस अवस्था में विषय नही रहता, दृश्य नही रहता, और कल्पना भी शून्य हो जाती है। यहाँ अनेक सम्भोग-काय हे। इस विम्व के माथ योग होने पर यथार्थ अनाहत ध्वनि का श्रवण होता है।

इससे प्रतीत होता है कि रूपाभास से निर्माण-काय तथा शब्दावभास से सम्भोग-काय होता है।

दिन के समय योगी को स्तब्ध दृष्टि से पूर्वाह्न तथा अपराह्न में मेघ-हीन आकाश को देखना चाहिए। सूर्य की तरफ पृष्ठ रखना चाहिए, अन्यथा सूर्य-रश्मि से तिमिर होने की आशका रहेगी। तवतक प्रतिदिन इसका अभ्यास होना चाहिए, जवतक विन्दु के भीतर काल-

नाडी मे अवधूती के अन्दर कृष्ण-रेखा दृष्टिगोचर न हो। इससे अमल किरणो का स्फुरण होता है। यह रेखा केशप्रमाण है, परन्तु इसमे अशेष त्रैधातुक सर्वज्ञ-बिम्ब दीख पडता है। यह जल मे सूर्य-प्रतिबिम्ब के समान है। यह बिम्ब वस्तुत स्वचित्त है, अर्थात् अनाविल, अनन्तवर्ण-विशिष्ट, सर्वाकार, विषयहीन स्वचित्त। यह परिचित्त नही है। यह स्वचित्ताभास पहले स्थूलदृष्टि से, अर्थात् मासचक्षु से दृष्ट होता है, बाद मे दिव्य-चक्षु, बुद्ध-चक्षु, प्रज्ञा-चक्षु, ज्ञान-चक्षु प्रभृति का विकास होता है। भावना के प्रभाव से सूक्ष्म चक्षुओ के द्वारा ही परचित्त का साक्षात्कार होता है।

प्रसिद्धि है कि वज्रपाणि ने भी अपने दृष्टिकोण से षडग योग का उपदेश दिया था। उसमें किसी-किसी अश मे वैलक्षण्य भी हैं।

जब प्रत्याहारादि अगो से बिम्ब-दर्शन का प्रभावहेतुक अक्षर-क्षण का उदय होता है, तब नाद के अभ्यास से बलपूर्वक प्राण को मध्य नाडी मे गतिशील करके प्रज्ञाकमल-स्थित वज्रमणि मे बोधिचित्त-बिन्दु को निरुद्ध करके निष्यन्द भाव से साधन करना पडता है। इसी का नाम तान्त्रिक हठयोग है। यह योग मार्कण्डेय-प्रवर्तित हठयोग से भिन्न है, तथा मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ प्रभृति सिद्धो द्वारा प्रचारित नवीन हठयोग से भी भिन्न है।

जो शक्ति नाभि के भीतर द्वादशान्त नामक परमपद-पर्यन्त चलती है, उसे निरुद्ध करने पर वह वैद्युतिक अग्नि के सदृश दण्डवत् उपस्थित होती है, और मध्य नाडी मे मृदुगति से चालित होकर चक्र से चक्रान्तर मे गमन करती है। इस प्रकार, जब उष्णीष-रन्ध्र का स्पर्श होता है, तब अपानवायु को ऊर्ध्व-मार्ग मे प्रेरित करना पडता है। इसके प्रभाव से उष्णीष-कमल का भेद हो जाता है, और पर-पुर मे गति होती है। दोनो वायुओ का निरोध आवश्यक है। इसी का नाम वज्र-प्रबोध है। इससे विषय-सहित मन खेचरत्व-लाभ करता है। इतना होने पर योगियो की विश्वमाता पच-अभिज्ञा स्वभाव धारण करती है। चित्त-प्रज्ञा ज्ञानरूप होती है, उसका आभास दस प्रकार से होता है। यही सेक का रहस्य है। इसे विमल-चन्द्र के सदृश या आदर्श-बिम्ब के सदृश समझना चाहिए। इसमे मज्जन होता है। इसका फल होता है निर्वाण-सुख मे अच्युत सहज चतुर्थ अक्षर। प्रज्ञा ग्राहक-चित्त है, और ज्ञान ग्राह्य-चित्त है। ग्राहक-चित्त के दस ग्राह्य आदर्श आभास-ज्ञान या ग्राह्य-चित्त है। दर्पण मे जैसे अपने चक्षु का प्रतिबिम्ब दीख पडता है, यह भी उसी प्रकार है। ग्राह्य-चित्त मे ग्राहक-चित्त का प्रवेश ही सेक है। उसमे मज्जन करना चाहिए। इससे ग्राह्य विषय मे अप्रवृत्ति होती है। षडग योग मे इसे ही प्रत्याहार कहते हैं। ध्यान, प्राणायाम और धारणा इन तीनो का नाम मज्जन है। इस मज्जन से निर्वाण-सुख का उदय होता है। यह अच्युत होने पर भी सहज है, और अक्षर या चतुर्थ सुख है। यह शून्यताकार सर्वाकार प्रतिभास लक्षण है। इसमे कर्म-मुद्रा या ज्ञान-मुद्रारूप हेतु नही है। इसमे किसी प्रकार का द्वन्द्व नही है। यह बाल-प्रौढादि स्पन्द के अतीत है। यह बुद्ध-वक्त्र या ज्ञान-वक्त्र है। यह जिस आचार्य को हृदयगत होता

है, वही यथार्थ वज्रधर गुरु नाम से अभिहित होने के योग्य है। मध्य नाडी मे प्राण के प्रवेश से निमित्त-दर्शनादि बुद्ध-वक्त्र का प्रथम रूप है। इसका नाम कायवज्र-वक्त्र है। नाडीद्वय की गति के रुद्ध होने पर प्राण बद्ध होता है। उस समय के बुद्ध-वक्त्र का नाम वाग्-वज्र-वक्त्र है। वज्र-सम्बोधन और बोधिचित्त के द्रुतिकाल मे बुद्ध-वक्त्र का नाम चित्त-वज्र-वक्त्र है। अन्त मे ज्ञान-वज्र-वक्त्र का आविर्भाव होता है।

(१५)

बौद्धयोग वाग्योग का ही प्रकारभेद है, यह कहा गया है। प्राकृतिक शक्तियो को जगाने का श्रेष्ठ उपाय शब्द-बीज है। वर्णमातृका या कुण्डलिनी शक्ति प्रति आधार मे सुप्त है। इसे प्रबुद्ध करने से जाग्रत्-शक्ति साधक की अन्तः प्रकृति के गुण के साथ वैचित्र्य-लाभ करती है। इसलिए, साधक के भेद से मन्त्र का भी भेद होता है। जैसे बीज अकुरित और विकसित होकर वृक्ष, पुष्प, फलादि रूप धारण करते हैं, उसी प्रकार शब्दबीज भी मूर्त्त होने से ही देव-देवियो के आकार का परिग्रह करता है। मीमासा के मत मे मन्त्रात्मिका देवता है। वेदान्त के मत मे देवता विग्रहवती है। दोनो मत सत्य हैं। वाचक तथा वाच्य के अभिन्न होने से तथा नाम या रूप के अभिन्न होने के कारण मन्त्र और दिव्यविग्रह तात्त्विक दृष्टि से अभिन्न ही हैं। निरुक्त के दैवत-काण्ड मे देवता की साकारता और निराकारता का कुछ सकेत है। सर्वत्र ही ऐसा देखा जाता है। साधक की प्रकृति के विचार के आधार पर ही मन्त्र-विचार प्रतिष्ठित हैं। रोग का निर्णय किये विना भेषज का निर्णय नही होता। पचस्कन्ध पचभूतमूलक हैं। इसीलिए, मूल मे पाँच प्रकारभेद लक्षित होते है। पारिभाषिक नाम 'कुल' है। हेवज्रतन्त्र मे कुल-विवरण है। देवता के प्रकट होने पर उसका आवाहन करना होता है। अव्यक्त अग्नि से जैसे प्रदीप जलाया नही जाता, वैसे ही अप्रकट देवता का आवाहन नहीं होता। आवाहन का करण और साधन ही मुद्रा है। एक-एक प्रकार के आकर्षण के लिए एक-एक प्रकार की मुद्रा की आवश्यकता होती है। देवता प्रकट होकर, आकृष्ट होकर अपने-अपने गुणानुसार निर्दिष्ट स्थान ले लेती हैं। इसी का नाम मण्डल है। मण्डल के केन्द्र मे अधिष्ठात्री देवता रहती है। चारो ओर वृत्ताकार असख्य देवी-देव निवास करते हैं।

(१६)

बौद्धधर्म का ज्ञान, योग और चर्या आदि मे आगम का प्रभाव कब और किस रूप मे पडने लगा, इसे कहना कठिन है। विश्वास है कि बीजरूप से यह प्राचीन काल मे भी था और कुछ विशिष्ट अधिकारी अतिप्राचीन काल मे भी इसका अनुशीलन करते थे। किसी-किसी का इतना निश्चय है कि यह गुप्त साधना है, और इसकी धारा प्राक्-ऐतिहासिक काल से ही प्रचलित थी। भारतवर्ष और इसके बाहर, मिस्र, एशियामाइनर, क्रीट, मध्य एशिया प्रभृति देशों में इसका प्रादुर्भाव पहले हो चुका था। वैदिक साहित्य तथा उपनिषदादि में भी इसका इगित मिलता है। वज्रयान के विषय मे बौद्ध समाज मे जो किवदन्ती प्रचलित है, उसका उल्लेख पहले

किया गया है। ऐतिहासिक विद्वान् तारानाथ का विश्वास था कि तन्त्रो के प्रथम प्रकाशन के बाद दीर्घकाल तक गुरु-परम्परा के क्रम से यह साधन गुप्त रूप से प्रचलित था। इसके बाद सिद्ध और वज्राचार्यों ने इसे प्रकाशित किया। चौरासी सिद्धो के नाम, उनके मत तथा उनका अन्यान्य परिचय भी कुछ-कुछ प्राप्त है। नाम-सूची मे मतभेद है। रससिद्ध, महेश्वरसिद्ध, नाथसिद्ध प्रभृति विभिन्न श्रेणियो के सिद्धो का परिचय मिलता है। सिद्धो की सख्या केवल ८४ ही नही है, प्रत्युत इससे बहुत अधिक है। किन्ही सिद्धो की पदावलियाँ प्राचीन भाषा मे ग्रथित मिलती हैं। इनमे से बहुत-से लोग वज्रयान या कालचक्रयान मानते थे। सहजयान माननेवाले भी कुछ थे। प्राय· सभी अद्वैतवादी थे। तिब्बत तथा चीन मे प्रसिद्धि है कि आचार्य असंग ने तुषित-स्वर्ग से तन्त्र की अवतारणा की। उन्होने मैत्रेय से तन्त्रविद्या का अधिकार प्राप्त किया था। यह मैत्रेय भावी बुद्ध हैं या मैत्रेयनाथ नाम के कोई सिद्ध पुरुष है, यह गवेषणीय है। बहुत लोग मैत्रेय को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते है। इसमे सन्देह नही कि वे सिद्ध थे। इस प्रसंग मे नागार्जुन की भी चर्चा होती है। यह स्मरणीय है कि उनका वासस्थान श्रीपर्वत और धान्यकटक तान्त्रिक साधना के प्रधान केन्द्र थे। आगमीय गुरुमण्डली के भीतर ओघत्रय मे मानवौघ से ऊपर दिव्य तथा सिद्ध ओघ का परिचय मिलता है। यह माना जा सकता है कि मैत्रेयनाथ उस प्रकार के सिद्धो मे थे, या उसी कोटि के कोई अन्य महापुरुष थे। ऐतिहासिक पण्डितो के अनुसार बौद्ध-साहित्य मे गुह्यसमाज मे ही सर्वप्रथम शक्ति-उपासना का मूल लक्षित होता है। अतएव, असग से भी पहले शक्ति-उपासना की धारा सुदृढ हो चुकी थी। मातृरूप मे कुमारी शक्ति की उपासना उस समय चारो ओर प्रचलित थी।

इन बहिरग आलोचनाओ का कोई विशेष फल नही है। वस्तुतः, तन्त्र का अवतरण एक गम्भीर रहस्य है।

शैवागमो के अवतरण के विषय मे तात्त्विक दृष्टि से आचार्यगण ने जो कहा है, उससे यह समझ मे आता है कि यह रहस्य सर्वत्र उद्घाटित करने योग्य नही है। तन्त्रालोक की टीका मे जयरथ ने कहा है कि परावाक् परम परामर्शमय बोधरूप है। इसमे सभी भावो का पूर्णत्व है। इसमे अनन्त शास्त्र या ज्ञान-विज्ञान पर-बोध रूप मे विद्यमान है। पश्यन्ती अवस्था परा वाक् की बहिर्मुखी अवस्था है। इस दशा मे पूर्वोक्त परबोधात्मक शास्त्र 'अहपरामर्श' रूप से अन्तर मे उदित होता है। इसमे विमर्श के स्वभाव से वाच्यवाचकभाव नही रहता। यह आन्तर प्रत्यवमर्श है। यह असाधारण रूप मे होता है। इसलिए, इस अवस्था मे प्रत्यवमर्शक प्रमाता के द्वारा परामृश्यमान वाच्यार्थ अहन्ता से आच्छादित होकर स्फुरित होता है। वस्तु-निरपेक्ष व्यक्तिगत बोध के उद्भव की प्रणाली यही है। इसलिए, भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' मे कहा है—

ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम्।

आर्य-ज्ञान या प्रातिभ-ज्ञान के मूल में भी आगम विद्यमान है। जिसको हृदय का स्वतःस्फूर्त्त प्रकाश समझा जाता है, वह भी वस्तुत स्वत स्फूर्त्त नही है। उसके मूल मे

भी आगम है। मध्यमा भूमि मे आन्तर परामर्श अन्तर मे ही विभक्त हो जाता है। उस समय वह वेद्यवेदक प्रपचोदय से भिन्न वाच्य-वाचक स्वभाव मे उल्लसित हो जाता है। इस मध्यमा भूमि मे ही परमेश्वर चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया से अपने पचमुखत्व का अभिव्यजन करते हैं, सदाशिव और ईश्वरदशा का आश्रय लेते हैं, और गुरु-शिष्य-भाव का परिग्रह करते हैं। इस पचमुख के मेलन मे ही वह पचस्रोतोमय निखिल शास्त्रो की अवतरणा करते हैं। यही शास्त्र का अवतरण है। अस्फुट होने के कारण यह इन्द्रिय का अगोचर है। किन्तु, वैखरी भूमि मे यह इन्द्रिय-गोचर होता है और परिस्फुट होता है।

नागार्जुन, असग या अन्य किसी भी आचार्य से किसी भी शास्त्र के अवतरण की एकमात्र प्रणाली यही है। ऋषियो के मन्त्रसाक्षात्कार की प्रणाली भी यही थी। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि धारक पुरुष के व्यक्तिगत मानस सस्कार उस अवतीर्ण ज्ञान-शक्ति के साथ सश्लिष्ट न हो जायँ। यदि ऐसा हो जाय, तो श्रुति स्मृति मे परिणत हो जाती है, तथा प्रत्यक्ष परोक्ष मे परिणत हो जाता है। ऐसी दशा मे अवतीर्ण ज्ञान का प्रामाण्य कम हो जाता है। मानव के दुर्भाग्य से कभी-कभी अनिच्छया भी ऐसा हो जाता है।

इस विषय मे एक-दो बातें और भी कहनी हैं। साधक वर्ग आध्यात्मिक उत्कर्ष की किसी-किसी भूमि मे व्यक्तिगत भाव से दिव्यवाणी प्राप्त करते हैं। इन सभी वाणियो का मूल्य समान नही है। इनके उद्‌गम के स्थान भी एक नही होते। स्पेन देश की सुप्रसिद्ध ईसाई साधिका सन्त टेरेसा नामक महिला ने अपनी जीवनव्यापी अनुभूतियो के आधार पर जो सिद्धान्त प्रकट किये हैं, उनके अनुसार अलौकिक श्रवण के तीन विभाग किये जा सकते हैं।

१ स्थूल श्रवण। स्थूल होने पर भी साधारण श्रवण से यह विलक्षण है; क्योकि यह ध्यानावस्था मे होता है। लौकिक श्रवण से ध्यानज क्षुब्ध इन्द्रियज बाह्य श्रवण भिन्न है, क्योकि वह बाहरी शब्द का नहीं है। वह प्रतिभासिक-मात्र है। प्रतीत तो यह होता है कि यह शब्द कण्ठोच्चारित है और स्पष्ट है, फिर भी यह अवास्तव एव विकल्पजन्य है।

२ द्वितीय श्रवण इन्द्रिय-सम्बन्धहीन कल्पनामात्र प्रसूत शब्द है। इन्द्रिय की क्रिया से कल्पनाशक्ति मे जैसी छाप लगती है, यहाँ क्रिया न रहने पर भी वही प्रकार है। किन्तु, यह भ्रम का विकार है धातु-वैषम्य-जनित दैहिक विकार से यह विकार उत्पन्न होता है। पहले स्मृति-शक्ति मे विकार होता है, पश्चात् पूर्व सस्कारो मे विकार होता है।

३ प्रामाणिक श्रवण। इसका टेरिस ने 'इण्टिलेक्च्युअल लाक्यूशन' नाम से वर्णन किया है। यह चिन्मय शब्द है। इसमे न बुद्धि का, न इन्द्रियो का और न कल्पनाशक्ति का प्रभाव है। यह सत्य का साक्षात् प्रकाशक है, और सशय का निवर्तक। यह भगवत्-शक्ति के प्रभाव से हृदय मे उदित होता है, सशय विकारादि से यह सर्वथा मुक्त है।

(१७)

अब अन्त मे बौद्धतन्त्र तथा योग-विषयक साहित्य का किंचित् परिचय देना उचित प्रतीत होता है। इस विषय के बहुत-से ग्रन्थ तिब्बत तथा चीन में विद्यमान हैं। कुछ इस देश में भी हैं। सभी ग्रन्थो का प्रकाशन अभी तक नही हुआ और निकट भविष्य में भी होने की सम्भावना नही है। किन्तु, विशिष्ट ग्रन्थो मे कुछ का प्रकाशन हुआ है, और किसी-किसी का हो भा रहा है। भारतीय पुस्तक-सग्रहो में अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रन्थो की सख्या भी उल्लेख-योग्य है। गुह्य-समाज, उसकी टीका और भाष्यो के कुछ नाम पहले दिये गये हैं। मजुश्रीमूलकल्प का नाम भी दिया गया है। उसके अतिरिक्त ग्रन्थो के नाम निम्नलिखित हैं —

१. कालचक्रतन्त्र और उसकी विमलप्रभा टीका।
२. श्रीसम्पुट—यह योगिनी तन्त्र है।
३ समाजोत्तर तन्त्र।
४. मूलतन्त्र।
५. नामसगीति।
६. पंचक्रम।
७. सेकोद्देश—तिलोपा-कृत।
८. सेकोद्देशटीका—नरोपा-कृत।
९. गुह्यसिद्धि—पद्मवज्र अथवा सरोरुहवज्र-कृत।

प्रसिद्धि है कि ये आचार्य हेवज्र साधन के प्रवर्त्तक थे। सरोरुहवज्र के शिष्य अनगवज्र थे। अनंगवज्र के प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि प्रभृति ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। हेवज्र-साधन विषय के भी ग्रन्थ इन्होने लिखे हैं। अनगवज्र के शिष्य इन्द्रभूति थे। इन्होंने श्रीसम्पुट की टीका लिखी थी। इनके अतिरिक्त ज्ञानसिद्धि, सहजसिद्धि प्रभृति अन्य ग्रन्थ भी इनके नाम से उपलब्ध होते हैं। यह उड्डियान-सिद्ध अवधूत थे। इनकी छोटी भगिनी तथा शिष्या लक्ष्मीकरा ने इनके साहित्य के प्रचार करने में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। अद्वयवज्र ने तत्त्वरत्नावली प्रभृति अनेक ग्रन्थो की रचना की। डाकार्णव एक विशिष्ट ग्रन्थ है। इसका प्रकाशन हो चुका है। वर्त्तमान समय में विनयतोष भट्टाचार्य, शशिभूषणदास गुप्त, प्रबोधचन्द्र बागची, अध्यापक तुच्ची, मेरियो करेली, डॉ० गुन्थर प्रभृति कई विद्वान् इस कार्य मे दत्तचित्त हैं। सिलवाँ लेवी प्रभृति ने भी इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया था, जिससे तन्त्रशास्त्र के अध्ययन मे बडी सुविधा मिल रही है।

(१८)

भूमिका सक्षेप करते-करते भी विस्तृत हो गई। अधिक लिखने का स्थान नही। मैं समझता हूँ कि इससे अधिक लिखने का प्रयोजन भी नही है। मित्रवर आचार्यजी के अनुरोध

से मै इस भूमिका में वौद्ध-तन्त्र की सक्षेप में ग्रालोचना करने में लगा। किन्तु, ग्रालोच्य विषय इतना जटिल एव विशाल है कि छोटे कलेवर में ग्रावश्यक सभी विषयो का सन्निवेश करना सम्भव नही है। केवल कुछ मुख्य विषयो की चर्चा करने की चेष्टा की गई है। योग-विज्ञान का गम्भीर रहस्य ग्रागम-साधना में ही निहित है। एक समय था, जव भारत की यह गुप्तविद्या चीन, तिव्वत, जापान ग्रादि वहु प्रदेशो मे समादर के साथ गृहीत होती थी। इसी प्रकार इसका धीरे-धीरे नाना स्थानो मे प्रसार हुग्रा था। एक तरफ जैसा वुद्धि के विकास का क्षेत्र गम्भीर दार्शनिक एव न्यायशास्त्र के ग्रालोचन से मार्जित होता था, ग्रौर उत्तरोत्तर दिग्गज विद्वानो के उद्भव से दर्शनशास्त्र की पुष्टि होती थी, तो दूसरी तरफ उसी प्रकार योग-मार्ग मे भी वोधि के क्षेत्र में वडे-वडे सिद्ध एवं महापुरुषो का उद्भव होता था। ये लोग प्राकृतिक तथा ग्रति-प्राकृत शक्तिपुजो को ग्रपने वश मे करके लोकोत्तर सिद्धि-सम्पत्तियो से ग्रपने को मण्डित करते थे। यदि किसी समय इनका प्रामाणिक इतिहास लिपिवद्ध होना सम्भव हुग्रा, तो ग्रवश्य ही वर्त्तमान युग भी उन विद्वान् सिद्धो के गौरवपूर्ण जीवन का ग्राभास पा सकेगा।

तान्त्रिक योग के मार्ग में ग्रयोग्य व्यक्तियो का प्रवेश जब ग्रवारित हो गया, तव स्वभावत नागार्जुन या ग्रसग का महान् ग्रादर्श सव लोग समान रूप से सरक्षित नही रख सके। इसीलिए, ग्रन्यान्य धार्मिक प्रस्थानो के सदृश वौद्ध-प्रस्थान मे भी नीति-लघन ग्रौर ग्राचारगत शिथिलता की क्रमश वृद्धि हुई। वौद्धधर्म के ग्रवसाद के कारणो मे यह एक मुख्य है, इसमें सन्देह नही, क्योकि नीति-धर्म के ऊपर ही जगत् के सामाजिक प्रतिष्ठान विधृत हैं। किन्तु, व्यक्तिगत ग्रौर सामूहिक स्खलन देखकर मूल ग्रादर्श के महत्त्व की विस्मृति नही होनी चाहिए।

गोपीनाथक विराज

सिगरा, बनारस
२५-१२-५५

बोधिसत्त्व की साक्षात् प्रतिमा

आचार्य नरेन्द्रदेवजी १९–२–५६ को शरीर के जीर्ण वस्त्र को त्याग कर उस लोक मे चले गये, जहाँ सबको जाना है। उसके लिए मानवीय धरातल पर हमारा शोकाकुल होना स्वाभाविक है, किन्तु वे जिस धरातल पर जीवित थे, उसे पहचान लेने पर शोक करना व्यर्थ है। प्रत्येक मानव जन्म और मृत्यु के छन्द से छन्दित है। जीवन और मृत्यु कभी समाप्त न होने वाली सकोच-प्रसार-परिपाटी के रूप हैं। हममें से प्रत्येक व्यक्ति इसी स्पन्दन के नियम से अपने-अपने कर्मक्षेत्र में जीवित है। आचार्यजी ने प्राण के इस सनातन स्पन्दन को मानवीय धरातल पर मानव के दु ख-सुख को अपना बनाकर जितना निकट कर लिया था, वैसा कम देखने मे आता है। अपने चारो ओर दु खो से टूटे हुए अभावग्रस्त मानवो को हम सभी देखते हैं। आचार्यजी ने भी उन्हे देखा था। उनका चित्त करुणा से पसीजकर स्वय उस दुःख मे सन गया। उनका वह चित्त जितना उदार था, उतना ही दृढ था; इसीलिए वे दु.ख के इतने बोझ को वहन कर सके। दु खियो का दु.ख दूर करने के लिए दिन-रात दहकनेवाली अग्नि उनके भीतर प्रज्वलित रहती थी। निर्बल देह मे बहुत सबल मन वे धारण किये हुए थे। ऐसे करुणा-विगलित चित्त को ही 'बोधिचित्त' यह पारिभाषिक नाम दिया जाता है। महाकरुणा, महामैत्री जिनके चित्त में स्वत अकुरित होती हैं और जीवन-पर्यन्त पुष्पित और फलित होकर बढती रहती है, वे ही सचमुच बोधिचित्त के गुणो से धनी होते हैं। आचार्यजी को अपने पास स्थूल धन रखते हुए जैसे किसी भारी ठोस का अनुभव होता था। लखनऊ-विश्वविद्यालय एव काशी-विश्वविद्यालय मे पाँच-छ वर्ष तक कुलपति-पद पर रहते हुए उन्हें जो वेतन मिलता था, उसका लगभग आधा भाग वे निर्धन छात्रो के लिए दे डालते थे। तब दूसरा आधा भाग—वह भी दबे हुए आत्मसन्तोष से वे स्वीकार कर पाते थे। अपने समय, शारीरिक शक्ति तथा बुद्धि का अजस्र दान तो वे करते ही रहते थे। जबसे उन्होने सोचना शुरू किया था, तबसे लेकर उनके जीवन के अन्तिम क्षण तक करुणा से प्रेरित उनके महादान का यह सत्र चलता ही रहा।

यह दान किसलिए था? महायान बौद्ध-धर्म के शब्दो में, जिसके आदर्श का उनके जीवन मे प्रत्यक्ष हुआ था, उनका यह दान 'न स्वर्ग के लिए, न इन्द्रपद के लिए, न भोगो के लिए और न राज्य के लिए था। उनके जीवन का सत्य इसलिए था कि जो अमुक्त हैं, उन्हें मुक्त करें, जो विना आशा के है, उन्हें आशा दे, जो विना अवलम्ब के हैं, उन्हें धैर्य और दिलासा दें और जो दुःखी हैं, उनके दु ख की ज्वाला कम करें।' आचार्यजी कुछ इस प्रकार सोचते थे—'दूसरे प्राणियो का दु ख दूर करने मे जो आनन्द के लहराते हुए समुद्र का अनुभव है, मुझे उसी का एक कण चाहिए। मै पृथिवी के भोग, राज्य अथवा नीरस मोक्ष को

भी लेकर क्या करूँगा ?' आजकल के युग में इस प्रकार का महान् सकल्प अति दुष्कर है और विरल भी, किन्तु वे स्वभाव से जिस पथ के पथिक थे, उस मार्ग पर इसी प्रकार के 'वहुजन-हिताय वहुजनसुखाय' वाले सुरभित पुष्प विखरे रहते हैं। वह मार्ग वोधिसत्त्वो के ऊँचे आदर्शों से वना हुआ है। सव सत्त्वो के लिए, प्राणिमात्र के लिए जिसके हृदय में अनुकम्पा है, वही उस पथ पर चलने का आवाहन सुन सकता है। अपने राष्ट्र में जिस समय राष्ट्रपिता ने रिवारो मे लालित-पालित कुलपुत्रो को इस प्रकार के करुणामय जीवन के लिए पुकारा, आचार्य रेन्द्रदेव अपने पूर्वसंचित सस्कारो के वेग-वल से उस पक्ति मे आकर मिल गये। उन्होंने ससार के अनेक प्रलोभनो की ओर मुड़कर नही देखा। जिधर पाँव रखा, उधर ही पैर वढ़ाते हुए महायात्रा के द्वार तक चले गये। एक वार जो चले, फिर पश्चात्पद नही हुए। शरीर साथ नही देता था, दूसरो के सचित दु ख को मानो वह उन्ही पर वार-वार उँडेल रहा था, किन्तु मन की शक्ति को शरीर की अशक्ति कहीं डाँवाडोल कर सकती है ? उनके निजी मित्र और हितू जव उन्हें श्वास की पीडा से हाय-हाय करते हुए और कर्त्तव्यवश कागज-पत्रो पर हस्ताक्षर करते हुए या समाज और राष्ट्र की समस्या पर परामर्श देते हुए देखते थे, तो वे अधीर होकर आचार्यजी की उस एकनिष्ठा पर खीझ उठते थे और आचार्यजी उस खीझ को ही अपने लिए शीतल वनाकर आगे वढ जाते थे।

वे त्यागी और साहसी नेता थे। भारतीय सस्कृति, इतिहास, सस्कृत-भाषा, महायान, वौद्ध-धर्म-दर्शन और पालि-साहित्य के उद्भट विद्वान् थे। पर जो गुण उनका निजी था, जो उनमे ही अनन्य-सामान्य था, वह उनकी ऐसी मानवता थी, जो एक क्षण के लिए भी उन्हें न भूलती थी। यद्यपि लखनऊ-विश्वविद्यालय में जव वे कुलपति थे, तभी मै उनसे परिचित हो गया था, तथापि उनके वहुमुखी व्यक्तित्व के पहलुओ को निकट से देखने का और उनके प्रगाढ गुणो को पहचानने का अवसर मुझे काशी-विश्वविद्यालय में मिला। मै नवम्वर सन्, १९५१ ई० में और वे एक मास वाद दिसम्वर, सन् १९५१ ई० में विश्वविद्यालय में आये। तवसे उनका सान्निध्य निरन्तर वढता गया। चरित्र और व्यक्तित्व के अनेक गुणो में जिस ऊँचे धरातल पर वे थे, उसे मन-ही-मन पहचानकर मुझे आन्तरिक प्रसन्नता हुई। अन्त.करण स्वीकार करता था—'यह एक व्यक्ति है, जो इतना निरभिमान है, जिसके व्यक्तित्व को पद का गौरव कभी छू नही पाता, जो अपने शील से स्वय इतना महान् है कि उसे और किसी प्रकार के कृत्रिम गौरव की आवश्यकता नही।' वे विश्वविद्यालय के कुलपति थे, तो क्या हुआ ? स्वच्छन्द भाव से अध्यापको के घर पर स्वय चले आते। पूर्वसूचना की भी आवश्यकता नही समझते थे। साथ वैठकर वातें करते, अपनी कहते और दूसरे की सुनते थे। वे औरो को भी मानव समझते थे और सम्भवत विश्वविद्यालय में कोई ऐसा व्यक्ति न था, जिसे उनके साथ इसी आत्मीयता का अनुभव न होता हो। कहाँ है ऐसा मानव ? उसे दीपक लेकर ढूँढना होगा। छात्र विश्व-विद्यालय के भृत्य, शहर के मेहनती मजदूर और कहाँ-कहाँ के लोग उनके पास नदी के प्रवाह की तरह वरावर आते रहते थे। प्रात काल से रात के १० वजे तक यह ताँता समाप्त न होता था। उनके रोषणशील मित्र कहते कि आचार्यजी आप स्वय अपने ऊपर अत्याचार कर रहे हैं।

आपके स्वास्थ्य का औषध स्वयं आपके हाथ मे हैं। पर, सम्भवतः यही एक ऐसी चिकित्साविधि थी, जिसका आचार्य जी ने कभी उपयोग नही किया। वे जिस प्रकृति के बने थे, उसके रहते हुए ऐसा करना सम्भव भी नही था। यदि दर्शन की परिभाषा का उपयोग करने की अनुमति हो, तो प्रज्ञानघन के स्थान पर उन्हें सौजन्यघन कहना उपयुक्त होगा। दूसरो के प्रति सज्जनता, और दूसरो का सम्मान यही उनका भारी गुण था। कह सकते हैं कि शासक के पद से यही सम्भवत: उनकी त्रुटि थी, क्योकि वे उस लोक के लिए बने थे, जहाँ सज्जनता का साम्राज्य हो, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धि से स्वय विचार करता हो, और जिस सम्मान का उसे पात्र समझा गया है, उसी के अनुरूप ऋजुता के धरातल पर वह भी व्यवहार करता हो। आचार्यजी के लिए यह समझना कठिन था कि सौजन्य और विश्वास का व्यवहार पाकर कोई व्यक्ति उनके साथ दूसरी तरह का बरताव क्यो करेगा। अस्तु, जीवन की सफलताएँ और असफलताएँ नश्वर हैं, संसार अपने पथ पर थपेड़े खाता हुआ चला जाता है एव सज्जन और असज्जन दोनो ही अपनी-अपनी सीमाओ से परिवेष्टित आगे बढने के लिए मजबूर होते है। किन्तु, एक तत्त्व जिसका केवल सौजन्य द्वारा ही जीवन मे साक्षात् किया जा सकता है, वह प्राणिमात्र के प्रति अनुकम्पा और करुणा का भाव है। औरो के दुःख से दुःखी होने की क्षमता भी प्रकृति सबको नही देती। जिसमे इस प्रकार की क्षमता है, जिसके केन्द्र मे इस प्रकार का कोई एक गुण-लवलेश है, उसे ही हम बोधिचित्तवाला व्यक्ति कहते है। इस प्रकार के व्यक्ति समाज के सौरभ हैं, वे देवपूजा मे समर्पित होने योग्य पुष्पो के समान है। यह क्या कम सौभाग्य है कि आचार्यजी का जीवन मातृभूमि के लिए समर्पित हुआ और राष्ट्र के अधिदेवता ने उनकी उस पूजा को स्वीकार किया। आज महामन्त्री से लेकर साधारण किसान तक उनके शोक से आकुल है। ईश्वर करे, इस प्रकार के बोधिसत्त्व व्यक्ति समाज में जन्म लेते रहें, जिससे मानवता का आदर्श राष्ट्र मे ओझल न होने पावे।

हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी

वासुदेवशरण अग्रवाल

आचार्यजी और बौद्ध-दर्शन

आचार्य नरेन्द्रदेव को राजनीति, समाजनीति और भारतीय सस्कृति एव इतिहास के क्षेत्र मे जो नेतृत्व, प्रकाण्ड विद्वत्ता एव अपूर्व कल्पनाशक्ति प्राप्त थी, उससे देश पूर्ण परिचित है, किन्तु दर्शन के क्षेत्र मे विशेषत पालि तथा वौद्ध-दर्शन के क्षेत्र मे उन्होने जो कष्टसाध्य विद्वत्ता अर्जित की थी, उससे कम लोग परिचित हैं। इतिहास और सस्कृति के अध्ययन ने ही उन्हें वौद्ध-धर्म और दर्शन की ओर आकृष्ट किया। उन्होने पालि के विशाल वाङमय का उस समय अध्ययन किया, जब अध्ययन की अपेक्षित सामग्री उपलब्ध नही थी और पूरे भारत मे इने-गिने विद्वान् ही इस दिशा मे प्रयास करते थे। अध्ययन की इस अपरिचित दिशा की ओर वह अकेले वढे थे, फिर भी उन्होने पूरे त्रिपिटक और अनुपिटक-साहित्य का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया था। आचार्यजी के गम्भीर निवन्ध इसके प्रमाण हैं कि उन्होने 'अभिधर्म-पिटक' के उन अशो का भी गम्भीर अध्ययन किया था, जिसका अध्ययन पूरी सामग्री प्राप्त होने पर भी आज देश मे नही हो रहा है। स्थविरवाद के शमथयान (समाधि) का अध्ययन अपनी दुरूहता के कारण विदेश के वौद्ध मठो मे भी उपेक्षित-सा रहा है। आचार्यजी ने इस विषय के मूल ग्रन्थो के अतिरिक्त अट्ठकथाओ (भाष्य-व्याख्याओ) तक का सागोपाग अध्ययन किया और इन विषयो पर गम्भीर निवन्ध भी लिखे। इसके लिए उन्हें सिंघली और वर्मी ग्रन्थो की सहायता लेनी पडी। वौद्ध-धर्म और दर्शन की दिशा मे आचार्यजी की अप्रतिम विशेषता यह थी कि उन्होने स्थविरवाद और हीनयान के दर्शन और धर्म के दुरूह अध्ययन के साथ-साथ सस्कृत के महायानी दर्शनो का भी मूल ग्रन्थो से अध्ययन किया था। सम्भवत, इस उभयज्ञता के आप एकमात्र उदाहरण हैं। महायानी दर्शनो का अध्ययन उन्होने मूल सस्कृत से किया था और फ्रेंच, अँगरेजी-कृतियो का भी आधार लिया। वौद्ध-धर्म और दर्शन की इन समस्त शाखा-प्रशाखाओ का अध्ययन उन्होंने सन् १९३३-३४ ई० तक पूरा कर लिया था।

यह सत्य है कि आचार्यजी के जीवन के परवर्त्ती २०-२२ वर्ष समाजवाद और मार्क्स के जीवन-दर्शन से अत्यधिक प्रभावित हुए, किन्तु इतने से ही उनके जीवन की व्याख्या नही की जा सकती। उनके पूर्वजीवन से परजीवन का जो सहज एवं समन्वित अगागी भाव था, उसे भी देखना होगा। अवश्य ही सन् १९३३-३४ ई० तक उनके जीवन में एक ऐसी सास्कृतिक भूमि तैयार हो चुकी थी, जिसकी नैतिकता और उदारता वौद्ध-दर्शन के तर्क-कर्कश तेज में परीक्षित हो चुकी थी और जिसकी हृदयग्राहिता तथागत की करुणा के अजस्र प्रवाह से अभि-पिक्त हो चुकी थी।

उनके बाल्यकाल पर उनके पिता के सनातनधर्मी भावनाओ एवं कर्मकाण्ड का प्रभाव पड़ा। उनके पिता के कारण उन दिनो फैजाबाद सनातनधर्म का गढ था। अपने पिता के साथ-साथ उन्होने बाल्यकाल में सनातनधर्म और आर्यसमाज के अनेकानेक विराट् अधिवेशनो को देखा था और उनमे धुआँधार खण्डन-मण्डनात्मक शास्त्रार्थ और भाषण भी सुने थे। उन्ही दिनो 'रुद्राष्टाध्यायी' और 'अष्टाध्यायी' के माध्यम से उन्हें सस्कृत एव सस्कृति की शिक्षा मिली। त्रिकाल नही, तो द्विकाल सन्ध्या उनके लिए अनिवार्य थी। इस प्रकार, उनके प्रारम्भिक निर्माण में धार्मिक प्रभावो का प्राधान्य था। उन्ही दिनो अपने घर मे स्वामी रामतीर्थ की प्रखर तेजस्विता का उन्हें अनेक बार साक्षात्कार हुआ था। इसका भी उनपर स्थायी प्रभाव पडा। कॉलेज मे आते ही बगाल की राष्ट्रीय चेतना की लहर ने उनके विद्यार्थी-जीवन को नया सन्देश दिया। अब जीवन की चेतना और अध्ययन मे परस्पर आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ और उसमे धीरे-धीरे समरसता भी आने लगी। जीवन की इसी चेतना ने भारतीय सस्कृति और इतिहास के प्रति उनमें विशेष आकर्षण उत्पन्न किया। डॉक्टर वेनिस और प्रोफेसर नार्मन ने उनके अध्ययन को विकसित किया और विशेष प्रकार से सजाया। डॉक्टर वेनिस ने उन्हे दर्शन भी पढाया और उसके प्रति उनमे अभिरुचि उत्पन्न की। दर्शन के विभिन्न सूत्रग्रन्थ एव भाष्यो का अध्ययन उन्होने बनारस सस्कृत-कॉलेज के अध्यापक पण्डित जीवनाथ मिश्र आदि से किया था।

अबतक पाश्चात्य दर्शनो से वे परिचित हो चुके थे, किन्तु जीवन-सम्बन्धी दर्शन की जिज्ञासा उत्तरोत्तर प्रबल होती जा रही थी। पालि और बौद्ध-दर्शन के अध्ययन ने उन्हे नैतिक एव आध्यात्मिक मान्यताओ की चमत्कारपूर्ण व्याख्या दी। इससे उन्हे मानवीय मूल्यो के तर्कसगत एव हृदयग्राही स्वरूप का प्रत्यक्ष हुआ। बौद्धो का गतिशील दर्शन, मानव-मन के भेद और उसकी क्रिया-प्रतिक्रियाओ का विस्तृत विश्लेषण, व्यक्ति के द्वारा सर्व (समाज) के उद्धार का सकल्प और बुद्धिवादिता, इसके अतिरिक्त जातिवाद, शास्त्रवाद और देवाधिदेववाद आदि का विरोध, ये तत्त्व ऐसे मानवीय एव सामाजिक हैं, जो पुरानी मान्यताओ को नवीन दृष्टि से देखने की शक्ति प्रदान करते हैं। आचार्यजी ने इसी प्रस्थान-विन्दु से समस्त भारतीय सस्कृति का पर्यवेक्षण किया था। भारतीय सस्कृति के पर्यवेक्षण की यह नवीन शक्ति इन्ही दिनो उनमें प्रादुर्भूत हुई। समाजवाद के अध्ययन से तो उसपर एक नई चमक आ गई।

आचार्यजी का जीवन बौद्धो की नैतिक दृष्टि से बडा ही प्रभावित था। आर्य शान्तिदेव के 'बोधिचर्यावतार' के हृदयग्राही पद्य उन्हें बडे ही प्रिय थे। प्राय अपने मित्रो को इसके पद्य सुनाया करते थे और पढने के लिए प्रेरित करते थे। काल का व्यग्य कि जो ग्रन्थ उनके पूरे जीवन मे प्रिय था, उसे जब पेरुन्दुराई के विश्राम-काल में पढने के लिए अपने मित्र श्री श्रीप्रकाशजी के द्वारा मद्रास-विश्वविद्यालय-पुस्तकालय से उन्होने मँगाया, तब उसकी एक पक्ति भी पढ़ने के पहले ही इस लोक से चले गये।

जो पद्य उनको बहुत प्रिय थे, उनमें शान्तिदेव के वे पद्य थे, जिनका साराश है कि 'जब समस्त लोक दुःख से आर्त्त और दीन है, तब मैं ही इस रसहीन मोक्ष को प्राप्त कर क्या

करूँगा।' 'प्राणियो के सैकडो दु'खो को स्वयं भोग करके उनके दु खो को हरण करने की कामना करनेवाले और उसे ही अपना सुख-सौख्य समझानवाले को वोधिचित्त का परित्याग कभी नही करना चाहिए।' 'वोधिचित्त' चित्त का वह सकल्प है, जिससे ससार के समस्त आर्त्त प्राणियो का उद्धार होगा। 'कण्टकादि से रक्षा करने के लिए पृथ्वी को चर्म से आच्छादित करना उचित है, परन्तु यह सम्भव नही है, क्योकि इतना चर्म कहाँ मिलेगा, यदि मिले भी, तो आच्छादन असम्भव है, किन्तु उपाय के द्वारा कण्टकादि से रक्षा हो सकती है, क्योकि जूते के चमडे से सव भूमि आच्छादित हो जाती है।' इसी प्रकार, व्यक्ति अनन्त वाह्य भावो का निवारण एक चित्त के निवारण से कर सकता है। शील का 'करुणा' में विकास, कुशल वुद्धि का 'प्रज्ञा' में विकास और इन दोनो के अभेद से व्यक्तित्व का निर्माण, वौद्धो की इस जीवन-दृष्टि से आचार्यजी वहुत ही प्रभावित थे। व्यक्तित्व की शून्यता और समाज की सत्ता का वौद्ध सिद्धान्त भी उनके चिन्तन का विषय सदा वना रहा।

आचार्यजी कहा करते थे कि नैतिकता और आध्यात्मिकता की जो तर्कसम्मत और हृदयग्राही व्याख्या वौद्धो ने की है, उससे व्यक्ति में अन्ध-परम्परा से विमुक्त निरीक्षण की शक्ति आती है। आचार्यजी की नैतिकता इसी सुदृढ दार्शनिक व्याख्या के आधार पर सुपुष्ट हुई। इसी के आलोक में उन्होने प्राच्य, प्रतीच्य विभिन्न नैतिक व्याख्याओ का पर्यालोचन किया था और उनके मस्तिष्क में भारतीय सस्कृति का एक अपूर्व चित्र वना था। इस सास्कृतिक आधार पर समाजवाद के अध्ययन ने आचार्य नरेन्द्रदेव को समाजवाद की नैतिक व्याख्या करने के लिए वाध्य किया। आचार्यजी की वह सास्कृतिक प्रतिभा भारतीय समाजवाद मे भी प्रतिफलित हुई। यही कारण है कि वह समाजवाद और भारतीय सस्कृति दोनो के समान रूप से मूर्द्धन्य व्याख्याकार हुए। उन्होने मार्क्सवाद से भारतीय सस्कृति या नैतिकता का अविरोध नही, अनिवार्य समन्वय स्थापित किया। इसीलिए, इन्हें सर्वोदय या भूदान की नैतिकता मार्क्सवाद से डिगा नही सकी और न सर्वोदय को जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकृति दिला सकी। इन समस्त दार्शनिक एवं सास्कृतिक अध्ययनो का पर्यवसान एक नई संस्कृति के निर्माण मे है, आचार्यजी के 'नवसस्कृति-संघ' की कल्पना उसका फलितार्थ था।

घोर राजनीतिक अस्तव्यस्तता के वीच और रोगो के मार्मिक प्रहारो के वीच भी उन्हें जव-जव समय मिला, वौद्धदर्शन का अपना प्रिय अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। वे चाहते थे कि हिन्दी में वौद्ध-दर्शन के अध्ययन की अपेक्षित सामग्री शीघ्र-से-शीघ्र प्रस्तुत कर दें। इसके लिए गवेषणात्मक निवन्धो के अतिरिक्त कुछ प्रामाणिक ग्रन्थो का सक्षिप्त अनुवाद भी आवश्यक समझते थे। इसी दृष्टि से उन्होने हिन्दी मे 'वौद्ध-धर्म-दर्शन' नाम से यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा। पाँच खण्डो और २० अध्यायो के इस ग्रन्थ मे स्थविरवाद की साधना, धर्म और दर्शन, महायान-धर्म और दर्शन, महायान की उत्पत्ति और विकास, उसका साहित्य और साधन, वौद्ध-दर्शन की सामान्य मान्यताएँ, प्रतीत्यसमुत्पादवाद, क्षणभंगवाद, अनीश्वरवाद, कर्मवाद, निर्वाण, वौद्ध-दर्शन के वैभाषिक,

सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद, शून्यवाद का विषय-परिचय और तुलना आदि विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन है।

इसके अतिरिक्त, आचार्य वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोश' का सक्षेप, 'आर्य असग के महायानसूत्रालकार' का भाषानुवाद, ह्वेनसाग की 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' के आधार पर विस्तृत निबन्ध, आचार्य नागार्जुन की 'माध्यमिककारिका' और आचार्य चन्द्रकीर्त्ति की 'प्रसन्नपदा वृत्ति' का सक्षिप्त अनुवाद इस ग्रन्थ मे समाविष्ट है। इस ग्रन्थ का पाँचवाँ खण्ड बौद्धन्याय पर लिखा गया है, जिसमे आकाश-दिक् और काल पर एक महत्त्वपूण अध्याय है। दूसरे अध्याय मे बौद्ध प्रमाणो का और उसके अवान्तर भेदो का जैसा विवेचनापूर्ण और स्पष्ट निर्वचन किया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आचार्यजी के परममित्र महामहोपाध्याय डॉक्टर गोपीनाथ कविराज ने अपनी भूमिका मे बौद्धतन्त्र पर लिखकर इस ग्रन्थ को बौद्धतन्त्र से भी पूर्ण कर दिया। इस प्रकार, यह एकमात्र ग्रन्थ बौद्ध-दर्शन के अध्ययन के लिए समस्त द्वार खोल देता है। अँगरेजी या फ्रेंच मे इस विषय की कोई ऐसी पुस्तक नही है, जिसमे इतनी सामग्री एकत्र उपलब्ध हो। सस्कृत के अबतक के प्राप्त ग्रन्थो मे भी इस प्रकार का कोई ग्रन्थ नही, जिससे समस्त बौद्ध-धाराओं का परिचय प्राप्त हो।

आचार्यजी ने कुछ विशिष्ट बौद्ध-ग्रन्थो का अविकल अनुवाद भी किया है। उसमे सर्वास्तिवाद का प्रसिद्ध ग्रन्थ वसुबन्धु-रचित 'अभिधर्मकोश' है। यह ग्रन्थ ६०० कारिकाओ का है। वसुबन्धु ने ही इन कारिकाओ पर अपना भाष्य लिखा था। यह ग्रन्थ बडे महत्त्व का इसलिए हुआ कि भाष्य मे वसुबन्धु ने जगह-जगह पर अपने पूर्ववर्त्ती विभिन्न आचार्यों का मत दे दिया है। बौद्ध-ससार पर इस ग्रन्थ का बडा प्रभाव है। इसके चीनी और तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है, किन्तु मूल सस्कृत लुप्त हो गया था। लुई द ला वली पूसें ने चीनी से फ्रेंच-अनुवाद किया। अपने अनुवाद मे पूसें ने घोर परिश्रम करके अपनी टिप्पणियो मे समस्त त्रिपिटक, स्थविरवाद तथा अन्य बौद्ध-दार्शनिको का तुलनार्थ उद्धरण दे दिया है। इन टिप्पणियो ने 'अभिधर्मकोश' को बौद्ध-दर्शन का और भी बृहत्तर कोश बना दिया है। आचार्यजी ने १० जिल्दो के इस ग्रन्थ का अविकल अनुवाद किया है। इस ग्रन्थ के अनुवाद की सबसे बडी विशेषता बौद्ध-दर्शन के भाषा-सम्बन्धी वातावरण की सुरक्षा है। इस हिन्दी-ग्रन्थ का अपने मूल सस्कृत की ही भाँति अशिथिल वाक्यावलियो मे धाराप्रवाह पाठ किया जा सकता है। भाषा के कारण यह बौद्ध-वातावरण से कही भी च्युत नही हुआ है। इस ग्रन्थ का अनुवाद आचार्य नरेन्द्रदेव के बौद्ध-दर्शन के पाण्डित्य का ज्वलन्त प्रमाण है। इस ग्रन्थ के अध्ययन के विना बौद्ध-दर्शन का अध्ययन अत्यन्त अपूर्ण रहता है। आचार्यजी ने इसका अनुवाद कर बौद्ध-दर्शन के प्रौढ अध्ययन का द्वार खोल दिया है। महापण्डित श्रीराहुल साकृत्यायन के प्रयास से इस ग्रन्थ का मूल सस्कृत-भाग भी उपलब्ध हो गया है। आचार्यजी उस मूल से इस ग्रन्थ को मिलाकर चीनी-अनुवाद और फ्रेंच-अनुवाद की सम्भावित त्रुटियो का निराकरण कर लेना चाहते थे और अपनी विस्तृत भूमिका मे पूसें के बाद इस क्षेत्र मे हुए कार्यों

का साराश भी दे देना चाहते थे, किन्तु अस्वस्थता और काल ने इसे सम्भव नही होने दिया। इस ग्रन्थ का अँगरेजी-अनुवाद भी आचार्यजी ने किया है।

आचार्यजी ने विज्ञानवाद के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद किया है। वसुवन्धु ने 'त्रिशिका' नामक ग्रन्थ लिखा। ह्वेनसाग ने 'त्रिशिका' पर 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' नामक टीका चीनी-भाषा मे लिखी है। पूसें ने इस ग्रन्थ का फ्रेंच मे अनुवाद प्रकाशित किया था। इस वडे ग्रन्थ का महत्त्व इसमें है कि त्रिशिका के पूववर्त्ती दस टीकाकारो का मत दिया गया है। इस एक ग्रन्थ के अध्ययन से ही समस्त आचार्यों के मतो का कथितार्थ ज्ञात हो जाता है। आचार्यजी ने इसका हिन्दी-अनुवाद करके विज्ञानवाद के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। इसके अतिरिक्त, पालिग्रन्थ 'अभिधम्मत्यसगहो' का भी अनुवाद किया था। उन्होने क्षेमेन्द्र के प्राकृत-व्याकरण का भी अनुवाद किया और उसपर अपनी खोजपूर्ण टिप्पणी भी लिखी। पालि-व्याकरण के ज्ञान के लिए भी एक सुन्दर नोट तैयार किया था, किन्तु उनके ये दोनो कार्य कुछ दिन पहले ही लापता हो गये थे।

आचार्यजी की यह प्रवल अभिलाषा थी कि वौद्ध-दर्शन की फ्रेंच-कृतियो का अनुवाद करके वौद्ध-दर्शन के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त कर दिया जाय। उनके निधन से राजनीति के क्षेत्र मे चाहे जितनी वडी क्षति हुई हो, किन्तु वौद्ध-दर्शन के विषय की निश्चय ही अपूरणीय क्षति हुई है। देश-विदेश मे पालि और वौद्ध-दर्शन के सम्वन्ध मे शिक्षा-सस्थाओ या विद्वानो द्वारा जो-जो कार्य होते थे, उन सवसे वे सदा परिचित रहते थे। वौद्ध-न्याय का अध्ययन उन्होने नही किया था। 'वौद्ध-धर्म-दर्शन' नामक अपने ग्रन्थ मे न्याय का अध्याय न देने से अपूर्णता आ रही थी। इधर वर्षों से लगातार रोगाक्रान्त थे, फिर भी उन्होने वौद्ध-न्याय के मूल ग्रन्थो को और श्चेरवात्स्की के 'वुद्धिस्ट लॉजिक' तथा अनेक फ्रेंच-ग्रन्थो का घोर अध्ययन कर उस अध्याय को लिखकर ग्रन्थ पूर्ण किया। वौद्ध-न्याय के इस अध्याय ने आचार्यजी पर अवश्य ही निर्मम प्रहार किया। जव-जव इस कार्य मे उन्होने अपने को लगाया, तव-तव रोगो के वडे-वडे आक्रमण हुए। मृत्युशय्या पर लेटे-लेटे ही उन्होने 'वौद्ध-दर्शन' के एक हजार पारिभाषिक शब्दो के कोश के निर्माण का कार्य भी प्रारम्भ किया था। पेरुन्दुराई के विश्रामकाल मे उन्होने चार सौ शब्दों का व्याख्यात्मक कोश लिखा। मृत्यु ने इस महत्त्वपूर्ण सकल्प को पूरा नही होने दिया।

जो कुछ हो, आचार्यजी ने अपने ग्रन्थो एव निवन्धो से वौद्ध-दर्शन के अध्ययन का मार्ग वहुत कुछ प्रशस्त कर दिया है। इस क्षेत्र के विद्वान् उनके सदा ऋणी रहेंगे।

जगन्नाथ उपाध्याय

जगतगंज, काशी

मेरे संस्मरण

[आचार्यजी के जीवन का सक्षिप्त विवरण, उन्ही के शब्दो मे लिखा हुआ]

मेरा जन्म सवत् १९४६ मे कार्त्तिक शुक्ल-अष्टमी को सीतापुर मे हुआ था। हमलोगो का पैतृक घर फैजाबाद मे है, किन्तु उस समय मेरे पिता श्रीबलदेवप्रसादजी सीतापुर मे वकालत करते थे। हमारे खानदान मे सबसे पहले अग्रेजी-शिक्षा प्राप्त करनेवाले व्यक्ति मेरे दादा के छोटे भाई थे। अवध मे अग्रेजी-हुकूमत सन १८५६ ई० मे कायम हुई। इस कारण अवध मे अग्रेजी-शिक्षा का आरम्भ देर से हुआ। मेरे बाबा का नाम बाबू सोहनलाल था। वे पुराने कैनिग कॉलेज मे अध्यापक का कार्य करते थे। उन्होने मेरे पिता और ताऊ को अग्रेजी की शिक्षा दी। पिताजी ने कैनिग कॉलेज से एफ्० ए० कर वकालत की परीक्षा पास की थी। आँखो की बीमारी के कारण वे बी० ए० नही कर सके। मेरे बाबा उनको कानून की पुस्तकें सुनाया करते थे और सुन-सुनकर ही उन्होने परीक्षा की तैयारी की थी। वकालत पास करने पर वे सीतापुर मे बाबा के शिष्य मुशी मुरलीधरजी के साथ वकालत करने लगे। दोनो सगे भाई की तरह रहते थे। दोनो की आमदनी और खर्च एक ही जगह से होते थे। मुशीजी के कोई सन्तान न थी। वे अपने भतीजे और बडे भाई को पुत्र के समान मानते थे। मेरे जन्म के लगभग दो वर्ष बाद मेरे दादा की मृत्यु हो जाने के कारण पिताजी को सीतापुर छोडना पडा और वे फैजाबाद मे वकालत करने लगे।

जब वे सीतापुर मे थे, तभी उनकी धार्मिक प्रवृत्ति शुरू हो गई थी। किसी सन्यासी के प्रभाव मे आने से ऐसा हुआ था। वे बडे दानशील और सात्त्विक वृत्ति के थे। वेदान्त मे उनकी बडी अभिरुचि थी और इस शास्त्र का उनको अच्छा ज्ञान था। वे सन्यासियो का सत्सग सदा किया करते थे। जिस समय उन्होने शिक्षा प्राप्त की थी, उस समय फारसी का प्रचलन था। किन्तु, अपनी सस्कृति और धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्होने सस्कृत का अभ्यास किया था। वे एक नामी वकील थे, किन्तु वकालत के अतिरिक्त भी उनकी अनेक दिलचस्पियाँ थी। बालको के लिए उन्होने अग्रेजी, हिन्दी और फारसी मे पाठ्य-पुस्तकें लिखी थी। इनके अतिरिक्त उन्होने कई सग्रह-ग्रन्थ भी प्रकाशित किये थे। अग्रेजी की प्राइमर तो उन्होने मेरे बडे भाई को पढाने के लिए लिखी थी। मेरा विद्यारम्भ इन्ही पुस्तको से हुआ था। उनको मकान बनाने और बाग लगाने का बडा शौक था। हमारे घरपर एक छोटा-सा पुस्तकालय भी था। जब मै बड़ा हुआ, तो गर्मी की छुट्टियों मे इनकी देखभाल भी किया करता था। मै ऊपर कह चुका हूँ कि मेरे पिताजी धार्मिक थे। और, इस नाते सनातन धर्म के उपदेशक, सन्यासी और पण्डित मेरे घर पर प्राय. आया करते थे, किन्तु पिताजी काग्रेस और सोशल

कान्फरेन्स के कामो मे थोडी वहुत दिलचस्पी लेते थे। मेरे प्रथम गुरु थे पण्डित कालीदीन अवस्थी। वे हम भाई-वहनो को हिन्दी, गणित और भूगोल पढाया करते थे। पिताजी मुझसे विशेष रूप से स्नेह करते थे। वे भी मुझे नित्य आध घण्टा पढाया करते थे। मैं उनके साथ प्राय कचहरी जाया करता था। मुझे याद है कि वे मुझे अपने साथ एक वार दिल्ली ले गये थे। वहाँ भारत धर्ममहामण्डल का अधिवेशन हुआ था। उस अवसर पर पण्डित दीनदयालु शर्मा का भाषण सुनने को मिला था। उस समय उसके मूल्य को आँकने की मुझमे वृद्धि न थी। केवल इतना याद है कि शर्माजी की उस समय वडी प्रसिद्ध थी।

मैंने घर पर तुलसीकृत रामायण और समग्र हिन्दी-महाभारत पढा। इनके अतिरिक्त वैतालपच्चीसी, सिंहासनवत्तीसी, सूरसागर आदि पुस्तके भी पढी। उस समय चन्द्रकान्ता की वडी शोहरत थी। मैंने इस उपन्यास को १६ वार पढा होगा। चन्द्रकान्ता-सन्तति को, जो २४ भाग मे है, एक वार पढा था। न मालूम, कितने लोगों ने चन्द्रकान्ता पढने के लिए हिन्दी सीखी होगी। उस समय कदाचित् इन्ही पुस्तको का पठन-पाठन हुआ करता था। १० वर्ष की उम्र मे मेरा यज्ञोपवीत-सस्कार हुआ। पिता के साथ नित्य मै सन्ध्या-वन्दन और भगवद्गीता का पाठ करता था। एक महाराष्ट्री ब्राह्मण मुझको सस्वर वेदपाठ सिखाते थे और मुझको एक समय रुद्री और सम्पूर्ण गीता कण्ठस्थ थी। मैंने अमरकोश और लघुकौमुदी भी पढी थी। जव मैं १० वर्ष का था, अर्थात् सन् १८९९ ई० मे लखनऊ मे काग्रेस का अधिवेशन हुआ था। पिताजी डेलीगेट थे। मैं भी उनके साथ गया था। उस समय डेलीगेट का 'वैज' होता था कपडे का फूल। मैंने भी दरजी से वैसा ही एक फूल वनवा लिया और उसको लगा-कर अपने चचाजाद भाई के साथ 'विजिटर्स गैलरी' मे जा वैठा। उस जमाने मे प्राय भाषण अग्रेजी मे ही होते थे और यदि हिन्दी मे होते, तव भी कुछ ज्यादा न समझ सकता। ऐसी अवस्था मे सिवा शोरगुल मचाने के मै कर ही क्या सकता था। दर्शको ने तग आकर मुझे डाँटा और पण्डाल से भागकर मे वाहर चला आया। उस समय मै काग्रेस के महत्त्व को क्या समझ सकता था। किन्तु, इतना मै जान सका कि लोकमान्य तिलक, श्रीरमेशचन्द्र दत्त और जस्टिस रानाडे देश के वडे नेताओ मे से हैं। इनका दर्शन मैंने प्रथम वार वही किया। रानाडे महाशय की तो सन् १९०१ ई० मे मृत्यु हो गई। दत्त महाशय का दर्शन दोवारा सन् १९०६ ई० मे कलकत्ता-काग्रेस के अवसर पर हुआ।

मैं सन् १९०२ ई० मे स्कूल मे भरती हुआ। सन् १९०४ या १९०५ ई० मे मैंने थोडी वँगला सीखी और मेरे अध्यापक मुझको कृत्तिवास की रामायण सुनाया करते थे। पिताजी का मेरे जीवन पर वडा गहरा असर पडा। उनकी सदा शिक्षा थी कि नौकरो के साथ अच्छा व्यवहार किया करो, उनको गाली-गलौज न दो। मैंने इस शिक्षा का सदा पालन किया। विद्यार्थियोमें सिगरेट पीने की बुरी प्रथा उस समय भी थी। एक वार मुझे याद है कि अयोध्या में कोई मेला था। मैंने शौकिया सिगरेट की डिविया खरीदी। सिगरेट जलाकर जो पहला कश खीचा, तो सिर घूमने लगा। इलायची-पान खाने पर तवीयत सँभली। मुझे आश्चर्य हुआ कि

लोग क्यो सिगरेट पीते हैं। मने उस दिन से आजतक सिगरेट नही छुआ। हाँ, श्वास के कष्ट को कम करने के लिए कभी-कभी स्ट्रैमोनियम के सिगरेट पीने पड़े है। मेरे पिता सदा आदेश दिया करते थे कि कभी झूठ न बोलना चाहिए। मुझे इस सम्बन्ध मे एक घटना याद आती है। मै बहुत छोटा था। कोई सज्जन मेरे मामू को पूछते हुए आये। मै घर के अन्दर गया। मामू से कहा कि आपको कोई बाहर बुला रहा है। उन्होने कहा कि जाकर कह दो कि घर मे नही हैं। मैंने उनसे यह सन्देश ज्यो-का-त्यो कह दिया। मेरे मामू बहुत नाराज हुए। मै अपनी सिधाई मे यह भी न समझ सका कि मैंने कोई अनुचित काम किया है। इससे कोई यह नतीजा न निकाले कि मैं बडा सत्यवादी हूँ। किन्तु, इतना सच है कि मैं झूठ कम बोलता हूँ। ऐसा जब कभी होता है, तो लज्जित होता हूँ और बहुत देर तक सन्ताप बना रहता है। पिताजी की शिक्षा चतावनी का काम करती है। मै ऊपर कह चुका हूँ कि मेरे यहाँ अक्सर साधु-सन्यासी और उपदेशक आया करते थे। मेरे पिता के एक स्नेही थे। उनका नाम था पण्डित माधवप्रसाद मिश्र। वे महीनो हमारे घर पर रहा करते थे। वे बँगला-भाषा अच्छी तरह जानते थे। उन्होने 'देशेर कथा' का हिन्दी में अनुवाद किया था। यह पुस्तक जब्त कर ली गई थी। वे हिन्दी के बडे अच्छे लेखक थे। वे राष्ट्रीय विचार के थे। मै इनके निकट सम्पर्क मे आया। मेरा घर का नाम 'अविनाशीलाल' था। पुराने परिचित आज भी इसी नाम से पुकारते हैं। मिश्रजी पर बँगला-भाषा का अच्छा प्रभाव पडा था। उन्होने हम सब भाइयो के नाम बदल दिये। उन्होने ही मेरा नाम 'नरेन्द्रदेव' रखा। सनातन धर्म पर प्राय व्याख्यान मेरे घर पर हुआ करते थे। सन् १६०६ ई० मे जब मै एण्ट्रेंस मे पढता था, स्वामी रामतीर्थ का फैजाबाद आना हुआ और वे हमारे अतिथि हुए। उस समय वे केवल दूध पर रहते थे। शहर मे उनका एक व्याख्यान ब्रह्मचर्य पर हुआ था और दूसरा व्याख्यान वेदान्त पर मेरे घर पर हुआ था। उनके चेहरे पर बडा तेज था। उनके व्यक्तित्व का मुझपर बड़ा प्रभाव पडा और बाद को मैंने उनके ग्रन्थो का अध्ययन किया। वे हिमालय की यात्रा करने जा रहे थे। मिश्रजी ने उनसे कहा कि सन्यासी को किसी सामग्री की क्या आवश्यकता, इतना कहना था कि वे अपना सारा सामान छोड़कर चले गये और पहाड़ से उनकी चिट्ठी आई कि 'राम खुश है'।

हमारे स्कूल मे एक बडे योग्य शिक्षक थे। उनका नाम था—श्रीदत्तात्रेय भीकाजी रानाडे। उनका मुझपर बडा प्रभाव पड़ा। उनके पढाने का ढग निराला था। उस समय मै ८वी कक्षा मे था। किन्तु, अंग्रेजी-व्याकरण मे हमारे दर्जे के विद्यार्थी १०वी कक्षा के विद्यार्थियो के कान काटते थे। मै अपनी कक्षा मे सर्वप्रथम हुआ करता था। मेरे गुरुजन भी मुझसे प्रसन्न रहा करते थे। किन्तु, सस्कृत के पण्डित महाशय अकारण मुझसे और मेरे सहपाठियो से नाराज हो गये और उन्होने वार्षिक परीक्षा मे हम लोगो को फेल करने का इरादा कर लिया। हम लोग वडे परेशान हुए। उस समय मेरी कक्षा के अध्यापक मास्टर राधेरमणलाल स्कूल-लाइब्रेरियन थे। इनका भी हम लोगो पर वहुत अच्छा प्रभाव पडा था। अपने जीवन मे एक वार यह विरक्त हो गये थे। इनके घर पर हमलोग प्रायः जाया

करते थे। यह अपने विद्यार्थियो को बहुत मानते थे। लाइब्रेरी की कुंजी मेरे सुपुर्द थी और मैं ही पुस्तकें निकालकर दिया करता था। मुझे याद आया कि पण्डितजी दो वर्ष के कैलेण्डर अपने नाम ले गये हैं। खयाल आया, कही इन्ही वर्षों के एण्ट्रेंस के प्रश्नपत्र से प्रश्न न पूछ बैठें। मैंने अपने सहपाठियो के साथ बैठकर उन प्रश्नपत्रो को हल किया। देखागया कि उन्ही प्रश्नपत्रो से सब प्रश्न पूछे गये हैं। परीक्षा-भवन मे पण्डितजी ने मुझसे पूछा कि कहो कैसा कर रहे हो ? मैंने उत्तेजित होकर कहा कि जीवन मे ऐसा अच्छा परचा कभी नही किया। उन्होने कोर्स के बाहर के भी प्रश्न पूछे थे। मुझे विवश होकर ५० मे से ४६ अक देने पडे और कोई भी विद्यार्थी फेल नही हुआ। यदि मैं लाइब्रेरियन महाशय का सहायक न होता, तो अवश्य फेल हो गया होता।

सन् १६०५ ई० मे पिताजी के साथ मैं बनारस-काग्रेस मे गया। पिताजी के सम्पर्क मे आने से मुझे भारतीय सस्कृति से प्रेम हो गया था। यह मौखिक प्रेम था। उसका ज्ञान तो कुछ था नही, किन्तु, इसी कारण आगे चलकर मैंने एम्० ए० मे संस्कृत ली। सन् १६०४ ई० मे पूज्य मालवीयजी फैजाबाद आये थे। भारत धर्ममहामण्डल से सम्बन्ध होने के नाते वह मेरे पिताजी से मिलने घर पर आये। गीता के एकाध अध्याय सुने। वे मेरे शुद्ध उच्चारण से बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि एण्ट्रेंस पास कर प्रयाग आना और मेरे हिन्दू बोर्डिंग हाउस मे रहना। पूज्य मालवीयजी के दर्शन प्रथम बार हुए थे। उनका सौम्य चेहरा और मधुर भाषण अपना प्रभाव डाले बिना रहता नही था। यद्यपि मैंने सेण्ट्रल हिन्दू-कॉलेज मे नाम लिखाने का विचार किया था, किन्तु साथियो के कारण उस विचार को छोडना पडा। एण्ट्रेंस पास कर मैं इलाहाबाद पढने गया और हिन्दू बोर्डिंग हाउस मे रहने लगा। मेरे ३-४ सहपाठी थे। हमको एक बडे कमरे मे रखा गया। छात्रावास मे रहने का यह पहला अवसर था।

बग-भग के कारण काग्रेस मे एक नये दल का जन्म हुआ था, जिसके नेता लोकमान्य तिलक, श्रीविपिनचन्द्र पाल आदि थे। उस समय तक मेरे कोई खास राजनीतिक विचार न थे, किन्तु काग्रेस के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव था। मैं सन् १६०५ ई० मे दर्शक के रूप मे काग्रेस मे शरीक हुआ था। प्रिंस ऑव वेल्स भारत आनेवाले थे और उनका स्वागत करने के लिए एक प्रस्ताव गोखले ने काग्रेस के सम्मुख रखा था। तिलक ने उसका घोर विरोध किया। अन्त मे, दबाव मे उसे वापिस ले लिया, किन्तु उस समय पण्डाल से बाहर चले आये। विरोध की यह पहली ध्वनि सुनाई पडी। सन् १६०६ ई० मे कलकत्ते मे काग्रेस का अधिवेशन हुआ। प्रयाग आने पर मेरे विचार तेजी से बदलने लगे। हिन्दू बोर्डिंग हाउस उग्र विचारो का केन्द्र था। पण्डित सुन्दरलालजी उस समय विद्यार्थियो के अगुवा थे। अपने राजनीतिक विचारो के कारण वे विश्वविद्यालय से निकाले गये। उस समय बोर्डिंग हाउस मे रात-दिन राजनीतिक चर्चा हुआ करती थी। मैं बहुत जल्दी गरम दल के विचार का हो गया। हममें से कुछ लोग कलकत्ते के अधिवेशन मे शरीक हुए। रिपन कॉलेज मे हमलोग ठहराये गये। नरम-गरम दल का सघर्ष चल रहा था और यदि श्रीदादाभाई

नौरोजी सभापति न होते, तो वही दो टुकडे हो गये होते । उनके कारण यह सकट टला। इस नवीन दल के कार्यक्रम के प्रधान अंग थे स्वदेशी-विदेशी माल का बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा । काग्रेस का लक्ष्य बदलने की भी बातचीत थी । दादाभाई नौरोजी ने अपने भाषण में 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया और इस शब्द को लेकर दोनो दलो में विवाद खडा हो गया। यद्यपि पुराने नेता बहिष्कार के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि इससे विद्वेष और धर्मों का भेद-भाव फैलता है, तथापि बगाल के लिए उनको भी इसे स्वीकार करना पडा।

जापान की विजय से एशिया में जन-जागृति का आरम्भ हुआ। एशियावासियो ने अपने खोये हुए आत्मविश्वास को फिर से पाया और अग्रेजो की ईमानदारी पर जो बालोचित विश्वास था, वह उठने लगा। इस पीढी का अग्रेजी-शिक्षितवर्ग समझता था कि अग्रेज हमारे कल्याण के लिए भारत आया है और जब हमको शासन के कार्य मे दक्ष बना देगा, तब वह स्वेच्छा से राज्य सौंपकर चला जायगा । विना इस विश्वास को दूर किये राजनीति मे प्रगति आ नही सकती थी। लोकमान्य ने यही काम किया। इस नये दल की स्थापना की घोषणा कलकत्ते में की गई। इसकी ओर से कलकत्ते मे दो सभाएँ हुईं। एक सभा बडाबाजार मे हुई थी। उसमें भी मैं मौजूद था। इस सभा की विशेषता यह थी कि इसमे सब भाषण हिन्दी में हुए थे। श्रीविपिनचन्द्रपाल और लोकमान्य तिलक भी हिन्दी में बोले थे। श्रीपाल को हिन्दी बोलने मे कोई विशेष कठिनाई नही प्रतीत हुई, किन्तु लोकमान्य की हिन्दी टूटी-फूटी थी। बडाबाजार में उत्तर भारत के लोग अधिकतर रहते हैं। उन्ही की सुविधा के लिए हिन्दी मे ही भाषण कराये गये थे। बगाल मे इस नये दल का अच्छा प्रभाव था। कलकत्ते की काग्रेस के बाद सयुक्तप्रान्त को सर करने के लिए दोनो दलो मे होड लग गई। प्रयाग मे दोनो दलो के बडे नेता आये और उनके व्याख्यानो को सुनने का मुझे अवसर मिला। सबसे पहले लोकमान्य आये। उनके स्वागत के लिए हम लोग स्टेशन पर गये। उनकी सभा का आयोजन थोडे-से विद्यार्थियो ने किया था। शहर के नेताओ मे से कोई उनके स्वागत के लिए नही गया। उनकी सवारी के लिए एक सज्जन घोडागाडी लाये थे। हम लोगो ने घोडा खोलकर स्वय गाडी खीचने का आग्रह किया, किन्तु उन्होने स्वीकार नही किया। लोकमान्य के शब्द थे—'इस उत्साह को किसी और अच्छे काम के लिए सुरक्षित रखिए।' एक वकील साहब के अहाते मे उनका व्याख्यान हुआ था। वकील साहब इलाहाबाद से बाहर गये हुए थे। उनकी पत्नी ने इजाजत दे दी थी। हम लोगो ने दरी बिछाई। एक विद्यार्थी ने 'वन्दे मातरम्' गाना गाया और अग्रेजी मे भाषण शुरू हुआ। लोकमान्य तर्क और युक्ति से काम लेते थे। उनके भाषण में हास्य-रस का भी पुट रहता था। किन्तु, वह भावुकता से बहुत दूर थे। उन्होने कहा कि अग्रेजी मसल है कि ईश्वर उसी की सहायता करता है, जो अपनी सहायता करता है। तो क्या तुम समझते हो कि अग्रेज ईश्वर से भी बडा है? इसके कुछ दिनो बाद श्रीगोखले आये और उनके कई व्याख्यान कायस्थ पाठशाला मे हुए। एक व्याख्यान मे उन्होने कहा कि आवश्यकता पडने पर हम और टैक्स देना भी बन्द

कर सकते हैं। इसके बाद श्रीविपिनचन्द्र पाल आये और उनके ४ ओजस्वी व्याख्यान हुए। इस तरह समय-समय पर किसी-न-किसी दल के नेता प्रयाग आते रहते थे। लाला लाजपतराय और हैदर रजा भी आय। नरम दल के नेताओं मे केवल श्रीगोखले का कुछ प्रभाव हम विद्यार्थियो पर पडा। हमलोगो ने स्वदेशी का व्रत लिया और गरम दल के अखबार मँगाने लगे। कलकत्ते से दैनिक 'वन्दे मातरम्' आता था, जिसे हम बडे चाव से पढा करते थे। इसके लेख बडे प्रभावशाली होते थे। श्रीअरविन्द घोष इसमे प्राय लिखा करते थे। उनके लेखो ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया। शायद ही उनका कोई लेख होगा, जो मैंने न पढा हो और जिसे दूसरो को न पढाया हो। पाण्डिचेरी जाने के बाद भी उनका प्रभाव कायम रहा और मै 'आर्य' का वर्षो ग्राहक रहा। बहुत दिनो तक यह आशा थी कि वह साधना पूर्ण करके बगाल लौटेंगे और राजनीति मे पुन प्रवेश करेंगे। सन् १९२१ ई० मे उनसे ऐसी प्रार्थना भी की गई थी, किन्तु उन्होंने अपने भाई वीरेन्द्र को लिखा कि सन् १९०८ ई० के अरविन्द को बगाल चाहता है, किन्तु मै सन् १९०८ ई० का अरविन्द नही रहा। यदि मेरे ढग के ९९ भी कभी तैयार हो जायँ, तो मै आ सकता हूँ। बहुत दिनो तक मुझे यह आशा बनी रही, किन्तु अन्त मे जब मैं निराश हो गया, तो उधर से मुँह मोड लिया। उनके विचारो मे ओज के साथ-साथ सचाई थी। प्राचीन सस्कृति के भक्त होने के कारण भी उनके लेख मुझे विशेष रूप से पसन्द आते थे। उनका जीवन बडा सादा था। जिन्होंने अपनी पत्नी को लिखे उनके पत्र पढे हैं, वे इसको जानते हैं। उनके सादे जीवन ने मुझको बहुत प्रभावित किया। उस समय लाला हरदयाल अपनी छात्रवृत्ति छोडकर विलायत से लौट आये थे। उन्होने सरकारी विद्यालयो मे दी जानेवाली शिक्षा-प्रणाली का विरोध किया था और 'हमारी शिक्षा-समस्या' पर १४ लेख पजाबी मे लिखे। उनके प्रभाव मे आकर पजाब के कुछ विद्यार्थियो ने पढना छोड दिया था। उनके पढाने का भार उन्होने स्वय लिया था। ऐसे विद्यार्थियो की सख्या बहुत थोडी थी। हरदयालजी बडे प्रतिभाशाली थे और उनका विचार था कि कोई बडा काम बिना कठोर साधना के नही होता। एडविन आरनोल्ड की 'लाइट आफ एशिया' को पढकर वह बिलकुल बदल गये थे। विलायत मे श्रीश्यामजी कृष्ण वर्मा का उनपर प्रभाव पडा था। उन्होने विद्यार्थियो के लिए दो पाठ्यक्रम तैयार किये थे। इन सूचियो की पुस्तको को पढना मैंने आरम्भ किया। उग्र विचार के विद्यार्थी उस समय रूस-जापान-युद्ध, गैरीबाल्डी और मैजनी पर पुस्तकें और रूस के आतकवादियो के उपन्यास पढा करते थे। सन् १९०७ ई० मे प्रयाग से रामानन्द बाबू का 'मॉडर्न रिव्यू' भी निकलने लगा। इसका बडा आदर था। उस समय हम लोग प्रत्येक बगाली नवयुवक को क्रान्तिकारी समझते थे। बँगला-साहित्य मे इस कारण और भी रुचि उत्पन्न हो गई। मैंने रमेशचन्द्रदत्त और बकिम के उपन्यास पढे और बँगला-साहित्य थोडा बहुत समझने लगा। स्वदेशी के व्रत मे हम पूरे उतरे। उस समय हम कोई भी विदेशी वस्तु नही खरीदते थे। माघ मेला के अवसर पर हम स्वदेशी पर व्याख्यान भी दिया करते थे। उस समय म्योर कॉलेज के प्रिंसिपल केनिंग्स साहब थे। वह कट्टर एग्लो-इण्डियन थे। हमारे छात्रावास मे एक विद्यार्थी के कमरे मे खुदीराम बसु की तसवीर थी। किसी ने प्रिंसिपल

को इसकी सूचना दे दी। एक दिन शाम को वह आये और सीधे मेरे मित्र के कमरे मे गये। मेरे मित्र कॉलेज से निकाल दिये गये, किन्तु श्रीमती एनी बेसेण्ट ने उनको हिन्दू-कॉलेज मे भरती कर लिया।

धीरे-धीरे हममे से कुछ का क्रान्तिकारियो से सम्बन्ध होने लगा। उस समय कुछ क्रान्तिकारियो का विचार था कि आइ० सी० एस्० मे शामिल होना चाहिए, ताकि क्रान्ति के समय हम जिले का शासन सभाल सके। इस विचार से मेरे ४ साथी इंगलैण्ड गये। मै भी सन् १९११ ई० मे जाना चाहता था, किन्तु माताजी की आज्ञा न मिलने के कारण न जा सका। इधर सन् १९०७ ई० मे सूरत मे फूट पड चुकी थी और काग्रेस के गरम दल के लोग निकल आये थे। कन्वेंशन बुलाकर काग्रेस का विधान बदला गया। इसे गरम दल के लोग कन्वर्शन काग्रेस कहते थे। गवर्नमेण्ट ने इस फूट से लाभ उठाकर गरम दल को छिन्न-भिन्न कर दिया। कई नेता जेल मे डाल दिये गये। कुछ समय को प्रतिकूल देख भारत से बाहर चले गये और लन्दन, पेरिस, जिनेवा और वर्लिन मे क्रान्ति के केन्द्र बनाने लगे और वहाँ से ही साहित्य प्रकाशित होता था! मेरे जो साथी विलायत पढने गये थे, वह इस साहित्य को मेरे पास भेजा करते थे। श्रीसावरकर की 'वार ऑव इण्डियन इण्डिपेण्डेन्स' की एक प्रति भी मेरे पास आई थी। और, मुझे बराबर हरदयाल का 'वन्दे मातरम्', वर्लिन का 'तलवार' और पेरिस का 'इण्डियन सोशलाजिस्ट' मिला करता था। मेरे दोस्तो मे से एक सन् १९०८ ई० की लडाई मे जेल मे बन्द कर दिये गये थे तथा अन्य दोस्त केवल बैरिस्टर होकर लौट आये। मैने सन् १९०८ ई० के बाद से काग्रेस के अधिवेशनो मे जाना छोड दिया, क्योकि हमलोग गरम दल के साथ थे। यहाँतक कि जब काग्रेस का अधिवेशन प्रयाग मे हुआ, तब भी हम उसमे नही गये। सन् १९१६ ई० मे जब काग्रेस मे दोनो दलो का मेल हुआ, तब हम फिर काग्रेस मे आ गये।

बी० ए० पास करने के बाद मेरे सामने यह प्रश्न आया कि मै क्या करूँ। मै कानून पढना नही चाहता था, मै प्राचीन इतिहास मे गवेषणा करना चाहता था। म्योर कॉलेज मे भी अच्छे-अच्छे अध्यापको के सम्पर्क मे आया। डॉक्टर गगानाथ झा की मुझपर बड़ी कृपा थी। बी० ए० मे प्रोफेसर ब्राउन से इतिहास पढा। भारत के मध्ययुग का इतिहास वह बहुत अच्छा जानते थे। पढाते भी अच्छा थे। उन्ही के कारण मैने इतिहास का विषय लिया। बी० ए० पास कर मै पुरातत्त्व पढने काशी चला गया। वहाँ डॉक्टर वेनिस और नारमन ऐसे सुयोग्य अध्यापक मिले। क्वींस कॉलेज से जो अग्रेज-अध्यापक आते थे, वह सस्कृत सीखने का प्रयत्न करते थे। डॉक्टर वेनिस ऐसा पढानेवाला कम होगा। नारमन साहब के प्रति भी मेरी बड़ी श्रद्धा थी। जब मै क्वीस कॉलेज में था, तब वहाँ श्रीशचीन्द्रनाथ सान्याल से परिचय हुआ। विदेश से आनेवाला साहित्य वह मुझसे ले जाया करते थे। उनके द्वारा मुझे क्रान्तिकारियो के समाचार मिलते रहते थे। मेरी इन लोगो के साथ बडी सहानुभूति थी। किन्तु, मै डकैती आदि के सदा विरुद्ध था। मै किसी भी क्रान्तिकारी दल का सदस्य न था। किन्तु, उनके कई नेताओ

से परिचय था। वे मुझपर विश्वास करते थ और समय-समय पर मेरी सहायता भी लेते रहते थे। सन् १६१३ ई० मे जव मैंने एम्० ए० पास किया, तव मेरे घरवालो ने वकालत पढने का आग्रह किया। मैं इस पेशे को पसन्द नही करता था, किन्तु जव पुरातत्त्व-विभाग मे स्थान न मिला, तव इस विचार से कि वकालत करते हुए मैं राजनीति मे भाग ले सकूँगा, मैंने कानून पढा।

सन् १६१५ ई० मे मै एल्०-एल्० वी० पास कर वकालत करने फैजावाद आया। मेरे विचार प्रयाग मे परिपक्व हुए और वही मुझको एक नया जीवन मिला। इस नाते मेरा प्रयाग मे एक प्रकार का आध्यात्मिक सम्वन्ध है। मेरे जीवन मे सदा दो प्रवृत्तियाँ रही हैं--एक पढने-लिखने की ओर, दूसरी राजनीति की ओर। इन दोनो में सघर्ष रहता है। यदि दोनो की सुविधा एक साथ मिल जाती है, तो मुझे वडा परितोष रहता है और यह सुविधा मुझे विद्यापीठ मे मिली। इसी कारण वह मेरे जीवन का सवसे अच्छा हिस्सा है, जो विद्यापीठ की सेवा मे व्यतीत हुआ और आज भी उसे मै अपना कुटुम्ब समझता हूँ।

सन् १६१४ ई० में लोकमान्य मण्डले जेल से रिहा होकर आये और अपने सहयोगियो को फिर से एकत्र करने लगे। श्रीमती वेसेण्ट का उनको सहयोग प्राप्त हुआ और होमरूल लीग की स्थापना हुई। सन् १६१६ ई० मे हमारे प्रान्त में श्रीमती वेसेण्ट की लीग की स्थापना हुई। मैंने इस सम्वन्ध मे लोकमान्य से वातें की और उनकी लीग की एक शाखा फैजावाद मे खोलना चाहा, किन्तु उन्होने यह कहकर मना किया कि दोनो के उद्देश्य एक हैं, दो होने का कारण केवल इतना है कि कुछ लोग मेरे द्वारा कायम की गई किसी सस्था मे शरीक नहीं होना चाहते और कुछ लोग श्रीमती वेसेण्ट द्वारा स्थापित किसी सस्थान मे नहीं रहना चाहते। मैंने लीग की शाखा फैजावाद मे खोली और उसका मन्त्री चुना गया। इसकी ओर मे प्रचार का कार्य होता था, और समय-समय पर सभाओ का आयोजन होता था। मेरा सवसे पहला भाषण अली-वन्धुओ की नजरवन्दी का विरोध करने के लिए आमन्त्रित सभा मे हुआ था। मैं वोलते हुए वहुत डरता था, किन्तु किसी प्रकार वोल गया और कुछ सज्जनो ने मेरे भाषण की प्रशसा की। इससे मेरा उत्साह वढा और फिर धीरे-धीरे सकोच दूर हो गया। मैं सोचता हूँ कि यदि मेरा पहला भाषण विगड गया होता, तो शायद मैं भाषण देने का फिर साहस न करता।

मै लीग के साथ-साथ काग्रेस मे भी था और वहुत जल्दी उसकी सव कमेटियो में विना प्रयत्न के पहुँच गया। महात्माजी के राजनीतिक क्षेत्र मे आने से धीरे-धीरे काग्रेस का रूप वदलने लगा। आरम्भ में वह कोई ऐसा हिस्सा नही लेते थे, किन्तु सन् १६१६ ई० से वह प्रमुख भाग लेने लगे। खिलाफत के प्रश्न को लेकर जव महात्माजी ने असहयोग-आन्दोलन चलाना चाहा, तो असहयोग के कार्यक्रम के सम्वन्ध मे लोकमान्य से उनका मतभेद हो गया। जून, १६२० ई० में काशी मे ए० आई०सी० सी० की वैठक के समय में इस सम्वन्ध में लोकमान्य से

बातें की। उन्होने कहा कि मैंने अपने जीवन मे सरकार के साथ सहयोग नही किया; प्रश्न असहयोग के कार्यक्रम का है। जेल से लौटने के बाद जनता पर उनका वह पुराना विश्वास नही रह गया था और उनका खयाल था कि प्रोग्राम ऐसा हो, जिसपर जनता चल सके। वह कौन्सिलो के बहिष्कार के खिलाफ थे। उनका कहना था कि यदि आधी भी जगहें खाली रहें, तो यह ठीक है; किन्तु यदि वहाँ जगहें भर जायेंगी, तो अपने को प्रतिनिधि कहकर सरकार-परस्त लोग देश का अहित करेंगे।

उनका एक सिद्धान्त यह भी था कि काग्रेस मे अपनी बात रखो और अन्त मे जो उसका निर्णय हो, उसे स्वीकार करो। मै तिलक का अनुयायी था, इसलिए मैंने काग्रेस में कौन्सिल-बहिष्कार के विरुद्ध वोट दिया, किन्तु जब एक बार निर्णय हो गया, तब उसे शिरोधार्य किया। वकालत के पेशे मे मेरा मन न था। नागपुर के अधिवेशन मे जब असहयोग का प्रस्ताव पास हो गया, तो उसके अनुसार मैंने तुरन्त वकालत छोड दी। इस निश्चय मे मुझे एक क्षण की भी देर न लगी। मैंने किसी से परामर्श भी नही किया; क्योकि मै काग्रेस के निर्णय से अपने को बँधा हुआ मानता था। मैंने अपने भविष्य का भी खयाल नही किया। पिताजी से एक बार पूछना चाहा, किन्तु, यह सोचकर कि यदि उन्होने विरोध किया, तब मै उनकी आज्ञा का उल्लघन न कर सकूँगा, मैंने उनसे भी अनुमति नही माँगी। किन्तु, पिताजी को जब पता चला, तब उन्होने कुछ आपत्ति न की। केवल इतना कहा कि तुमको अपनी स्वतन्त्र जीविका की कुछ फिक्र करनी चाहिए और जबतक जीवित रहें, मुझे किसी प्रकार की चिन्ता नही होने दो। असहयोग-आन्दोलन के शुरू होने के बाद एक बार पण्डित जवाहरलाल फैजाबाद आये और उन्होने मुझसे कहा कि बनारस मे विद्यापीठ खुलने जा रहा है। वहाँ लोग तुम्हें चाहते हैं। मैंने अपने प्रिय मित्र श्रीशिवप्रसादजी को पत्र लिखा। उन्होने मुझे तुरन्त बुला लिया। शिवप्रसादजी मेरे सहपाठी थे और विचार-साम्य होने के कारण मेरी उनकी मित्रता हो गई। वह बडे उदार हृदय के व्यक्ति थे। दानियो में मैंने उन्ही को पाया, जो नाम नही चाहते थे। क्रान्तिकारियो की भी वह धन से सहायता करते थे। विद्यापीठ के काम में मरा मन लग गया। श्रद्धेय डॉक्टर भगवान्‌दास जी ने मुझपर विश्वास कर मुझे उपाध्यक्ष बना दिया। उन्ही की देखरेख मे मै काम करने लगा। मै दो वर्षो तक छात्रावास में ही विद्यार्थियो के साथ रहा था। एक कुटुम्ब-सा था। साथ-साथ, हम लोग राजनीतिक कार्य भी करते थे। कराची में जब अली-बन्धुओ को सजा हुई थी, तब हम सब बनारस के गाँवो में प्रचार के लिए गये थे। अपना-अपना बिस्तर बगल में दबाये, नित्य पैदल घूमते थे। सन् १९२६ ई० में डॉक्टर साहब ने अध्यक्ष के पद से त्यागपत्र दे दिया और मुझे अध्यक्ष बना दिया। बनारस में मुझे कई नये मित्र मिले। विद्यापीठ के अध्यापको से मेरा बड़ा मीठा सम्बन्ध रहा। श्री श्रीप्रकाशजी से मेरा विशेष स्नेह हो गया। यह अत्युक्ति न होगी कि वह स्नेहवश मेरे प्रचारक हो गये। उन्होने मुझे आचार्य कहना शुरू किया, यहाँतक कि वह मेरे नाम का एक अग बन गया है। सबसे वह मेरी प्रशसा करते थे। यद्यपि मेरा परिचय जवाहरलालजी से होमरूल आन्दोलन के समय से था, तथापि श्री श्रीप्रकाशजी द्वारा उनसे तथा गणेशजी से मेरी घनिष्ठता

हुई। मै उनके घर मे महीनो रहा हूँ। वह मेरी सदा फिक्र उसी तरह किया करते हैं, जैसे माता अपने वालक की। मेरे वारे मे उनकी राय है कि अपनी फिक्र नही करता हूँ, शरीर के प्रति वड़ा लापरवाह हूँ। मेरे विचार चाहे उनसे मिले या न मिलें उनका स्नेह घटता नही। रियासती दोस्ती पायदार नही होती, किन्तु विचारो में अन्तर होते हुए भी हमलोगो के स्नेह में फर्क नही पडा है। पुराने मित्रो से वियोग दु खदायी है। किन्तु, शिष्टता वनी रहे, तो सम्वन्ध में वहुत अन्तर नही पडता। ऐसी मिसाले हैं, किन्तु वहुत कम।

नेता का मुझमें कोई भी गुण नही है। महत्त्वाकाक्षा भी नही है। यह वडी कमी है। मेरी वनावट कुछ ऐसी हुई है कि मै न नेता हो सकता हूँ और न अन्धभक्त अनुयायी। इसका यह अर्थ नही है कि मै अनुशासन मे नही रहना चाहता। मै व्यक्तिवादी नही हूँ। नेताओ की दूर से आराधना करता रहा हूँ। उनके पास वहुत कम जाता रहा हूँ। यह मेरा स्वाभाविक सकोच है। आत्मप्रशसा सुनकर कौन खुश नही होता, अच्छा पद पाकर किसको प्रसन्नता नही होती, किन्तु मैंने कभी इसके लिए प्रयत्न नही किया। प्रान्तीय काग्रेस कमेटी के सभापति होने के लिए मैंने अनिच्छा प्रकट की, किन्तु अपने मान्य नेताओ के अनुरोध पर खडा होना पडा। इसी प्रकार, जव पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने मुझसे कार्यसमिति मे आने को कहा, मैंने इनकार कर दिया, किन्तु उनके आग्रह करने पर मुझे निमन्त्रण स्वीकार करना पडा।

मै ऊपर कह चुका हूँ कि मैं नेता नही हूँ। इसलिए, किसी नये आन्दोलन या पार्टी का आरम्भ नही कर सकता। सन् १९३४ ई० में जव जयप्रकाशजी ने समाजवादी पार्टी वनाने का प्रस्ताव रखा और मुझे सम्मेलन का सभापति वनाना चाहा, तव मैंने इनकार कर दिया। इसलिए नही कि समाजवाद को नही मानता था, किन्तु इसलिए कि मैं किसी वडी जिम्मेदारी को उठाना नही चाहता था। उनसे मेरा काफी स्नेह था और इसी कारण मुझे अन्त में उनकी वात माननी पडी। सम्मेलन मई, सन् १९३४ ई० में हुआ था। विहार मे भूकम्प हो गया था। उसी सिलसिले में विद्यार्थियो को लेकर काम करने गया था। वहाँ पहली वार डॉक्टर लोहिया से परिचय हुआ। मुझ यह कहने में प्रसन्नता है कि जव पार्टी का विधान वना, तो केवल डॉक्टर लोहिया और हम इस पक्ष में थे कि उद्देश्य के अन्तर्गत पूर्ण स्वाधीनता भी होनी चाहिए। अन्त में, हमलोगो की विजय हुई। श्रीमेहर अली से एक वार सन् १९२८ ई० में मुलाकात हुई थी। वम्वई के और मित्रो को मैं उस समय तक नही जानता था। अपरिचित व्यक्तियो के साथ काम करते मुझको घवराहट होती है, किन्तु प्रसन्नता की वात है कि सोशलिस्ट पार्टी के सभी प्रमुख कार्यकर्त्ता शीघ्र ही एक कुटुम्ब के सदस्य की तरह हो गये।

यो तो मैं अपने सूवे मे वरावर भाषण किया करता था, किन्तु अखिलभारतीय काग्रेस कमेटी में पहली वार पटने में वोला। मौलाना मुहम्मद अली ने एक वार कहा था कि वंगाली और मद्रासी काग्रेस में वहुत वोला करते हैं, विहार के लोग जव औरो को वोलते देखते हैं, तव खिसककर राजेन्द्रवावू के पास जाते है और कहते हैं कि 'रौवाँ वोली न',

और यू० पी० के लोग खुद नही बोलते और जब कोई बोलता है, तो कहते हैं, 'क्या बेवकूफ बोलता है !' हमारे प्रान्त के बडे-बडे नेताओ के आगे हमलोगो को कभी बोलने की जरूरत नही पडती थी। एक समय पण्डित जवाहरलाल भी बहुत कम बोलते थे। किन्तु, सन् १९३४ ई० में मुझे पार्टी की ओर से बोलना पडा। यदि पार्टी बनी न होती, तो शायद मै कांग्रेस में बोलने का साहस भी नही करता।

पण्डित जवाहरलालजी से मेरी विचारधारा बहुत मिलती-जुलती थी। इस कारण तथा उनके व्यक्तित्व के कारण मेरा उनके प्रति सदा आकर्षण रहा। उनके सम्बन्ध में कई कोमल स्मृतियाँ हैं। यहाँ केवल एक बात का उल्लेख करता हूँ। हमलोग अहमदनगर के किले में एक साथ थे। एक बार टहलते हुए कुछ पुरानी बातो की चर्चा चल पड़ी। उन्होने कहा—'नरेन्द्रदेव ! यदि मैं कांग्रेस के आन्दोलन में न आता और उसके लिए कई बार जेल की यात्रा न करता, तो मै इन्सान न बनता।' उनकी बहन कृष्णा ने अपनी पुस्तक में जवाहर-लालजी का एक पत्र उद्धृत किया है, जिससे उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश पडता है। पण्डित मोतीलालजी की मृत्यु के पश्चात् उन्होने अपनी बहिनो को लिखा कि पिता की सम्पत्ति मेरी नही है, मै तो सबके लिए उसका ट्रस्टीमात्र हूँ। उस पत्र को पढकर मेरी आँखो में आँसू आ गये और मैंने जवाहरलालजी की महत्ता को समझा। उनको अपने साथियो का बडा खयाल रहता है और बीमार साथियो की बडी शुश्रूषा करते है।

महात्माजी के आश्रम में चार महीने रहने का मौका मुझे सन् १९४२ ई० में मिला। मैंने देखा कि वे कैसे अपने प्रत्येक क्षण का उपयोग करते हैं। वह रोज आश्रम के प्रत्येक रोगी की पूछताछ करते थे। प्रत्येक छोटे-बड़े कार्यकर्त्ता का खयाल रखते थे। आश्रमवासी अपनी छोटी-छोटी समस्याओ को लेकर उनके पास जाते थे और वह सबका समाधान करते थे। आश्रम में रोग-शय्या पर पडे-पडे मैं विचार करता था कि वह पुरुष जो आज के हिन्दू-धर्म के किसी नियम को नही मानता, वह क्यो असंख्य सनातनी हिन्दुओ का आराध्य देवता बना हुआ है। पण्डित-समाज चाहे उनका भले ही विरोध करे, किन्तु अपढ जनता उनकी पूजा करती है। इस रहस्य को हम तभी समझ सकते हैं, जब हम जानें कि भारतीय जनता पर श्रमण-संस्कृति का कही अधिक प्रभाव पडा है। जो व्यक्ति घर-बार छोड़कर निःस्वार्थ सेवा करता है, उसके आचार की ओर हिन्दू-जनता ध्यान नही देती। पण्डितजन भले ही उसकी निन्दा करें, किन्तु सामान्य जनता उसका सदा सम्मान करती है। अक्टूबर, सन् १९४१ ई० में जब मै जेल से छूटा, तब महात्माजी ने मेरे स्वास्थ्य के सम्बन्ध में मुझसे पूछा और प्राकृतिक चिकित्सा के लिए आश्रम में बुलाया। मै महात्माजी पर बोझ नही डालना चाहता था। इसलिए, कुछ बहाना कर दिया। पर जब मैं ए० आइ० सी० सी० की बैठक में शरीक होने वर्धा गया और वहाँ बीमार पड गया, तब उन्होने रहने के लिए आग्रह किया। मेरी चिकित्सा होने लगी। महात्माजी मेरी बडी फिक्र रहते थे। एक रात मेरी तबियत बहुत खराब हो गई। जो चिकित्सक नियुक्त थे, घबरा गये, यद्यपि इसके लिए कोई कारण न था। रात को १ बजे बिना मुझे बताये

महात्माजी जगाये गये और वह मुझे देखने आये। वह उनका मौन का दिन था। उन्होंने मेरे लिए मौन तोडा। उसी समय मोटर भेजकर वर्धा से डॉक्टर वुलाये गये। सुवह तक तवियत सँभल गई थी। दिल्ली में स्टैफर्ड क्रिप्स वार्त्तालाप के लिए आये थे। महात्माजी दिल्ली जाना नही चाहते थे, किन्तु आग्रह होने पर गये। जाने के पहले मुझसे कहा कि वह हिन्दुस्तान के वँटवारे का सवाल किसी-न-किसी रूप में लायेंगे, इसलिए उनकी दिल्ली जाने की इच्छा न थी। दिल्ली से वरावर फोन से मेरी तवियत का हाल पूछा करते थे। वा भी उस समय वीमार थी। इस कारण वे जल्दी लौट आये। जिनके विचार उनसे नही मिलते थे, यदि वे ईमानदार होते थे, तो वह उनको अपने निकट लाने की चेष्टा करते थे। उस समय महात्माजी सोच रहे थे कि जेल में वह इस वार भोजन नही करेंगे। उनके इस विचार को जानकर महादेव भाई वडे चिन्तित हुए। उन्होंने मुझसे कहा कि तुम भी इस सम्वन्ध में महात्माजी से वातें करो। डॉक्टर लोहिया भी सेवाग्राम उसी दिन आ गये थे। उनसे भी यही प्रार्थना की गई। हम ोनो ने वहुत देर तक वातें की। महात्माजी ने हमारी वात शान्तिपूर्वक सुनी, किन्तु उस दिन अन्तिम निर्णय न कर सके। वम्वई में जव हमलोग ९ अगस्त को गिरफ्तार हो गये, तव स्पेशल ट्रेन में अहमदनगर ले जाये गये। उनमें महात्माजी, उनकी पार्टी और वम्वई के कई प्रमुख लोग थे। नेताओ ने उस समय भी महात्माजी से अन्तिम वार प्रार्थना की कि वह ऐसा काम न करें। किले में भी हमलोगो को सदा इसका भय लगा रहता था।

सन् ४५ में हमलोग छूटे। मैं जवाहरलालजी के साथ अलमोडा जेल से १४ जून को रिहा हुआ। कुछ दिनो के वाद मैं पूना में महात्माजी से मिला। उन्होने पूछा कि सत्य और अहिंसा के वारे में अव तुम्हारे क्या विचार हैं? मैंने उत्तर दिया कि मैं सत्य की तो सदा से आराधना किया करता हूँ, किन्तु इसमें मुझको सन्देह है कि विना कुछ हिंसा के राज्य की शक्ति हम अग्रेजो से छीन सकेंगे। महात्माजी के सम्वन्ध में अनेक सस्मरण हैं, किन्तु समयाभाव से हम इससे अधिक कुछ नहीं कहते।

इधर कई वर्ष से काग्रेस में यह चर्चा चल रही थी कि काग्रेस में कोई पार्टी नही रहनी चाहिए। महात्माजी इसके विरुद्ध थे। देश के स्वतन्त्र होने के वाद भी मेरी राय थी कि अभी काग्रेस से अलग होने का समय नही है; क्योकि देश सकट से गुजर रहा है। सोशलिस्ट पार्टी में इस सम्वन्ध में मतभेद था, किन्तु मेरे मित्रो ने मेरी सलाह मानकर निर्णय को टाल दिया। मैंने यह भी साफ कर दिया था कि यदि काग्रेस ने कोई ऐसा नियम वना दिया, जिससे हमलोगो का काग्रेस में रहना असम्भव हो गया, तव मैं सवसे पहले काग्रेस छोड दूँगा। कोई भी व्यक्ति, जिसको आत्मसम्मान का खयाल है, ऐसा नियम वनाने पर नही रह सकता। यदि ऐसा नियम न वनता और पार्टी काग्रेस छोडने का निर्णय करती, तो यह तो ठीक है कि मैं आदेश का पालन करता, किन्तु मैं यह नही कह सकता कि मैं कहाँतक उसके पक्ष में होता। काग्रेस के निर्णय के वाद मेरे सव सन्देह मिट गये और अपना निर्णय करने में मुझे एक क्षण भी न लगा। मेरे जीवन के कठिन अवसर, जिनका मेरे भविष्य पर गहरा असर पडा है, ऐसे

ही हुए हैं। इन मौकों पर घटनाएँ ऐसी हुईं कि मुझे अपना फैसला करने में कुछ देर न लगी। इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।

मेरे जीवन के कुछ ही वर्ष रह गये हैं। शरीर-सम्पत्ति अच्छी नहीं है, किन्तु मन में अब भी उत्साह है। सदा अन्याय से लड़ते ही बीता। यह कोई छोटा काम नहीं है। स्वतन्त्र भारत में इसकी और भी आवश्यकता है। अपनी जिन्दगी पर एक निगाह डालने से मालूम होता है कि जब मेरी आँखें मुँदेंगी, मुझे एक परितोष होगा कि जो काम मैंने विद्यापीठ में किया है, वह स्थायी है। मैं कहा करता हूँ कि यही मेरी पूँजी है और इसी के आधार पर मेरा राजनीतिक कारोबार चलता है। यह सर्वथा सत्य है।*

---

*'जनवाणी', मई, सन् १९४७ ईसवी।

प्रस्तावना

श्रीगगाशरण सिहजी का आग्रह है कि मै प्रस्तावना के रूप मे आचार्य नरेन्द्रदेवजी की इस अपूर्व पुस्तक पर दो-चार शब्द लिख दू । इस स्थिति में तो मुझे 'कहाँ राजा भोज और कहाँ गाँगू तेली' वाली कहावत याद आती है। एक तरफ आचार्य नरेन्द्रदेवजी ऐसे प्रकाण्ड विद्वान्, विविध विषयो के साधिकार ज्ञाता, सज्जनता के प्रतीक, अद्वितीय लेखक और वक्ता, राष्ट्रनेता, शिक्षक, कहाँ मेरे ऐसा साधारण व्यावहारिक छोटी-छोटी बात की उलझनो मे सदा पडा रहनेवाला साधारण पुरुष। हाँ, मुझे इस बात का अवश्य अभिमान हो सकता है और है कि मुझे नरेन्द्रदेवजी ने अपनी मित्रता, अपनी सहयोगिता, अपना स्नेह देकर सम्मानित किया और मेरे सामने अपने व्यक्तित्व के विभिन्न रूपो को सरलता और स्वच्छता से व्यक्त कर मुझे यह अवसर प्रदान किया कि मै प्रत्यक्ष देख सकू कि ऐसे विलक्षण जीव के लिए भी मनुष्य का शरीर धारण करना सम्भव है। भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने ठीक ही कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्।।

इसमें कोई सन्देह नही कि नरेन्द्रदेवजी में इस दैवी तेजस् का अश प्रचुरता से विद्यमान था। इनके उठ जाने से वास्तव में ससार से एक नर-रत्न खो गया।

नरेन्द्रदेवजी ने मुझसे यह कई वार कहा कि उनकी प्रवृत्ति दो ही तरफ रहती है—एक तो दर्शन की तरफ और दूसरी राजनीति की तरफ। इन दोनो को वे छोड नही सकते। इन्ही की सेवा, ध्यान, साधना, अध्ययन, व्यवहार में उनका जीवन व्यतीत हुआ। सदा इतने अस्वस्थ रहते हुए, राजनीतिक कार्य में सदा लगे रहते हुए, सदा लोगो से मिलते रहते हुए, उन्होने कहाँ से समय और शक्ति पाई कि अपने में विद्या की इतनी बृहत् राशि एकत्र कर ली, यह सबके ही लिए सदा आश्चर्य की बात बनी रहेगी। मेरा यह उनको समझाना व्यर्थ होता था कि आपको अपने स्वास्थ्य की चिन्ता करनी चाहिए। आपका जीवन हम सबके लिए है, केवल आपके ही लिए नही है। यदि आप चले जायेंगे, तो दर्शन और राजनीति तो चलती ही रहेगी, पर आपके ऐसा पुरुष हमलोगो को नही मिलगा। वे कहाँ माननेवाले थे, और दर्शन का अध्ययन और राजनीति के कार्य मे उन्होने अपना समय लगाया और अपना प्राण भी दे डाला।

वे सभी प्रकार के दर्शन के विशेषज्ञ थे। किसी भी युग के विचारो के सम्बन्ध में उनसे बातें की जा सकती थी और जो कोई उनसे मिलता था, वह कुछ अधिक ज्ञान ही लेकर लौटता

था। दर्शनो मे उनको बौद्ध-दर्शन से विशेष प्रेम था। आज यदि बुद्धदेव का व्यक्तित्व, बौद्ध-धर्म के आराध्य पुरुष और बौद्ध-विचार हमारे देश की राजनीति मे विशेष स्थान पा रहे हैं और यदि इस कारण इसका अन्तरराष्ट्रीय प्रभाव भी पड रहा है, तो इसका श्रेय नरेन्द्रदेवजी को ही है, यद्यपि उन्होने स्वय इसका अनुभव न भी किया हो।

इन्होने ही प्रथम बार राजनीतिक क्षेत्रो मे बौद्ध-धर्म और बौद्ध-विचारो की चर्चा की, जिसका प्रभाव सब पर ही पडा, क्योकि उनका आदर और सम्मान महात्मा गान्धीजी से लेकर सभी राष्ट्रनेता और राजनीतिज्ञ करते थे। काशी-विद्यापीठ जो कि उनका सबसे बडा कार्य क्षेत्र रहा है, उसके तो सम्पूर्ण वातावरण में नरेन्द्रदेवजी का व्यक्तित्व, इनकी विचार-शैली, इनकी कार्य-प्रणाली, फैली रहती थी। ये जहाँ ही जाते थे, सबको अपनी तरफ चुम्बक की तरह आकर्षित कर लेते थे, सभी इनका सम्मान करते थे, सभी इनकी बातो को सुनने लगते थे। यदि उनका प्रभाव सार्वदेशिक हुआ, तो कोई आश्चर्य की बात नही।

मेरी समझ मे इनके ऐसा वक्ता अपने देश मे कोई दूसरा नही था। कैसी सुन्दर इनकी भाषा थी, कैसे धाराप्रवाह ये बोलते थे, किस प्रकार से इनके एक वाक्य, दूसरे वाक्य से शृ खलाबद्ध रहते थे, यह तो सभी लोग जानते है, जो उन्हें किसी भी विषय पर कभी भी सुन सके हैं। व्यावहारिक राजनीति लिखने की वस्तु नही है, बोलने की ही वस्तु है। इस कारण मेरे हृदय में बडा दु ख रह गया कि उनके भाषणो का कोई सग्रह नही किया जा सका। यदि वह होता, तो राजनीति मे वह उत्तमोत्तम साहित्य का स्थान ग्रहण करता और बहुतो को अपने विचारो को शुद्ध करने में सहायक होता और उन्हें समुचित व्यवहार के मार्ग पर चलने को प्रेरित करता। यह बात तो रह गई। जो उनके भाषणो को सुनते थे, वे ऐसे मुग्ध हो जाते थे कि किसी के लिए उनके शब्दो को लिपिवद्ध करना कठिन होता था। राजनीतिक सम्मेलनो में अध्यक्ष आदि के पद से जो भाषण देने के लिए वे लिख भी रखते थे, उसे भी वे बोलते समय फेंक देते थे और बोलते ही जाते थे। इन भाषणो को एकत्र न कर ससार ने एक बहुत बडी निधि खो दी।

पर, दर्शन लिखने की भी चीज है, और मुझे हर्ष है और सन्तोष है कि कम-से-कम उसपर तो वे ग्रन्थ लिख ही गये। मै अपने को और अनेको को आज वधाई देता हू कि बौद्ध-दर्शन पर उनका यह अपूर्व ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है और बुद्ध भगवान् की २५वी शताब्दी की जयन्ती के शुभ अवसर पर हमे उसे देखने का सौभाग्य भी प्राप्त हो रहा है। दु ख इसका अवश्य है कि वे इसका प्रकाशन स्वय न देख सके। उनके जीवन के अन्तिम दिन मे प्रात काल से सायकाल तक उनके शान्त होने तक उनके साथ था। कई बार उन्होने इस ग्रन्थ की चर्चा की और सन्तोष प्रकट किया कि इसका प्रकाशन ऐसे शुभ अवसर पर होने जा रहा है।

ऐसी अवस्था मे मुझे भी सन्तोष है कि इस सुन्दर और अपूर्व रचना की प्रस्तावना लिखने का मुझे निमन्त्रण दिया गया है, और मेरी यही शुभकामना है और हो सकती है कि

हमारे देश के बहुत-से लोग इससे आकर्षित हों, इसका मनन करें, इसका पठन-पाठन करें, और देश के पुरातन समय की एक महान् विभूति ने जो कुछ विचार प्रकट किये हैं और जिन्हें वर्तमान काल की दूसरी विभूति ने लिपिबद्ध किया है, उन्हें समझें और अपने देश की परम्परा का गर्व करें और उसके योग्य अपने को बनावें । मेरी यह भी हार्दिक अभिलाषा है कि इसके द्वारा पण्डितप्रवर लेखक की भी स्मृति सदा जाग्रत् रहे और बुद्ध भगवान् और आचार्य नरेन्द्र-देवजी के अन्तर के लम्बे अवसर की हमारी राजनीतिक और सांस्कृतिक कहानी हमारे हृदयों को सदा बल और उत्साह देती रहे ।

राजभवन, मद्रास
१४ मार्च, १९५६ ई०

श्रीप्रकाश
राज्यपाल, मद्रास

बौद्ध-धर्म-दर्शन

प्रथम अध्याय

भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ

जिस समय भगवान् बुद्ध का लोक मे जन्म हुआ, उस समय देश मे अनेक वाद प्रचलित थे। विचार-जगत् मे उथल-पुथल हो रहा था। लोगो की जिज्ञासा जग उठी थी। परलोक है या नही, मरण के अनन्तर जीव का अस्तित्व होता है या नही, कर्म है या नही, कर्म-विपाक है या नही, इस प्रकार के अनेक प्रश्नो मे लोगो का कुतूहल था। इन प्रश्नो का उत्तर पाने के लिए लोग उत्सुक थे। ब्राह्मण-श्रमण दोनो मे ही विचार-चर्चा होती थी। श्रमण अवैदिक थे। ये वेद का प्रामाण्य स्वीकार नही करते थे। ये यज्ञ-यागादि क्रिया-कलाप को महत्त्व नही देते थे। इनकी दृष्टि मे या तो इनका क्षुद्र फल है या ये निरर्थक और निष्प्रयोजनीय है। श्रमण आस्तिक और नास्तिक दोनो प्रकार के थे। इनके कई सम्प्रदाय तपस्या को विशेष महत्त्व देते थे। जो आस्तिक थे, वे भी जगत् का कोई स्रष्टा, कर्त्ता नही मानते थे। 'पालिनिकाय' मे जिन श्रमणो का उल्लेख है, उनमे प्राय नास्तिक ही है। ब्राह्मण और श्रमण—ये दो सस्कृति-परम्पराएँ प्राचीन काल से चली आती है। ये एक दूसरे से प्रभावित हुए है। इनमे नैसर्गिक वैर था। ब्राह्मण मुण्डदर्शन को अशुभ मानते थे। ब्राह्मण सासारिक थे। श्रमण अनागारिक होते थे और ब्रह्मचर्य का पालन करते थे। ये सत्यान्वेषण के लिए किसी शास्ता के अधीन होते थे, उसके गण या सघ में प्रवेश करते थे। ब्राह्मण वैदिकधर्म के अनुसार मन्त्र, जप, दान, होम, मगल, प्रायश्चित्तादि अनुष्ठान का विधान करते थे। धर्म का यह रूप बाह्य था। स्वर्ग की कामना से या अन्य लौकिक भोग की कामना से ये विविध अनुष्ठान होते थे। यज्ञो मे पशुवध भी होता था। कर्मकाण्ड का प्राधान्य था। ब्राह्मण-धर्म आस्तिक था। ब्राह्मण सुकृत-दुष्कृत के फलविपाक मे विश्वास करते थे। इनमे सत्य, अहिसा, अस्तेय आदि के लिए पक्षपात था। किन्तु, वैदिकी हिसा हिसा नही समझी जाती थी। ये नि स्पृह और सरल हृदय के होते थे और इनको विद्या का व्यसन था, इसीलिए समाज मे इनका आदर था। धीरे-धीरे उनका प्राधान्य हो गया, क्योकि वेद-विहित अनुष्ठानो की विधि इन्ही को मालूम थी। पुरोहित सकीर्ण-हृदय और स्वार्थी होने लगे और वे अपने को सबसे ऊँचा समझने लगे। ब्राह्मण-काल मे पुरोहित मानुषी देवता हो गये। इस काल मे वेद को शब्द-प्रमाण मानते थे। वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था इसी काल मे प्रौढ हुई। तपस्या का भी माहात्म्य समझा जाता था, क्योकि उनका

विचार था कि देवों ने अपने उच्च पद को तपस्या से प्राप्त किया था। धीरे-धीरे कोरे कर्मकाण्ड के विरुद्ध आर्यों में विद्रोह होने लगा, पशु-वध के विरुद्ध आवाज उठने लगी। यह कहा जाने लगा कि यज्ञ-यागादि हीन हैं, ब्रह्म-ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। यह उपनिषत्-काल था। इस काल में ब्रह्मविद्या की चर्चा बढ़ने लगी। ऋषि आश्रमों में निवास करते थे, और ब्रह्म-चिन्तन में रत रहते थे। जिज्ञासु शिक्षा के लिए उनके पास जाते थे और जिनको यह पात्र समझते थे, उनको शिक्षा देते थे। ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत तापस भी होते थे, जिनको 'वैखानस' कहते थे। इनके लिए जो आचार विहित था, उसका वर्णन 'वैखानससूत्र' में मिलता है। बौद्ध भिक्षुओं में भी ऐसे भिक्षु होते थे, जो वैखानसों के नियमों का पालन करते थे। इन नियमों को 'धुतंग' कहते हैं। वृक्षमूल-निकेतन, अरण्यनिवास, श्मशानवास, अभ्यवकाशवास, पांशुकूल-धारण आदि 'धुतंग' हैं। (क्लेशों के अपगम से भिक्षु विशुद्ध होता है। वह 'धुत' कहलाता है। उसके अंग 'धुतंग' हैं।)

वैखानसों से प्रभावित होकर बौद्धों में भी इस प्रकार के यति होने लगे। कुछ विद्वानों का कहना है कि जब बौद्धधर्म पूर्व से पश्चिम की ओर गया, तब यह परिवर्त्तन हुआ। पश्चिम देश में पूर्व देश की अपेक्षा ब्राह्मणों का कहीं अधिक प्रभाव था। इन विद्वानों के अनुसार बौद्धधर्म का पूर्व रूप अत्यन्त सरल था। पश्चिम देश के ब्राह्मणों में बौद्धधर्म का प्रचार हो जाने के उपरान्त उनके प्रभाव से यह परिवर्त्तन घटित हुआ और 'धुतंग' का समादान लेनेवाला भिक्षु अधिक आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा।

यह बात ध्यान में रखने की है कि बुद्ध के समय में आस्तिक का अर्थ ईश्वर में प्रतिपन्न नहीं था और न वेद-निन्दक को ही नास्तिक कहते थे। पाणिनि के निर्वचन के अनुसार नास्तिक वह है, जो परलोक में विश्वास नहीं करता (नास्ति परलोको यस्य स)। इस निर्वचन के अनुसार बौद्ध और जैन नास्तिक नहीं हैं। बुद्ध ने अपने सूत्रान्तों (संवादों) में नास्तिक-वाद को मिथ्यादृष्टि कहकर गर्हित किया है। बुद्ध के समकालीन 'अजितकेशकम्बल' जो स्वयं एक गण के आचार्य थे, नास्तिकवादी थे। प्राचीन काल के लिए यह गौरव का विषय है कि भारतीय कर्म-फल के महत्त्व पर जोर देते थे, ईश्वर के अस्तित्व पर नहीं। मानव-समाज की स्थिति और उन्नति के लिए समाज में व्यवस्था का होना आवश्यक है और यह तभी हो सकती है, जब सब लोग इसमें प्रतिपन्न हों कि अशुभ कर्म का अशुभ, शुभ का शुभ और व्यामिश्र का व्यामिश्र फल होता है। यह सदाचार तथा नैतिकता की भित्ति है।

बुद्ध का प्रादुर्भाव

ऐसे काल में—जब इन दार्शनिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श होता था और सद्गृहस्थ भी सत्यान्वेषण में घर-बार छोडकर भिक्षु या वनस्थ होते थे—बुद्ध का शाक्य-वंश में जन्म हुआ। इनका कुल क्षत्रिय और गोत्र गौतम था। इनका नाम सिद्धार्थ था। ये राजा शुद्धोदन के पुत्र थे। उस समय पूर्व के देशों में क्षत्रियों का प्राधान्य था। ब्रह्मज्ञानी राजा जनक, जो ब्राह्मणों को भी ब्रह्मविद्या का उपदेश करते थे, मिथिला के थे। बौद्धधर्म और जैनधर्म के प्रतिष्ठापक

भी क्षत्रिय थे। ये धर्म वैदिक धर्म के विरोधी थे, यद्यपि बुद्ध ने सद्ब्राह्मणो के लिए अपशब्द कहना तो दूर रहा, उनकी प्रशसा ही की है। क्षत्रिय ब्राह्मण-पुरोहितो के प्रतिपक्षी थे। वे उनको अपने से ऊँचा मानने को तैयार नही थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों में प्रतिवादी के वचन को ब्राह्मण 'क्षत्रिय के शब्द' कहते थे। इससे ज्ञापित होता है कि वे क्षत्रियो को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानते थे। 'पालिनिकाय' मे क्षत्रियो को वर्णों की गणना मे प्रथम स्थान दिया है।

शाक्य-वश की राजधानी कपिलवस्तु थी। इनका राज्य छोटा-सा राज्य था। उस समय भारत में एक सुदृढ विशाल राज्य न था, जैसा कि आगे चलकर नन्दो ने सगठित किया और जिसमें चन्द्रगुप्त मौर्य ने वृद्धि की। जातको से मालूम होता है कि बुद्ध के पूर्व १६ महाराष्ट्र थे। बुद्ध-काल में चार प्रधान राज्य सगठित हो रहे थे। इन १६ में से कुछ राष्ट्र अन्य राष्ट्रो मे सम्मिलित कर लिये गये। इस कारण महाराष्ट्रो की सख्या घटने लगी। चार प्रधान राष्ट्र ये थे—(१) मगध, जिसमे अग शामिल था और जिसका राजा बिम्बिसार था, (२) कोशल, जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी, जिसमें काशी सम्मिलित थी और जिसका राजा प्रसेनजित् था, (३) कौशाम्बी, जिसका राजा वत्सराज उदयन था और (४) अवन्ती, जिसका राजा चण्डप्रद्योत था। इन चार राज्यो की राजधानियाँ आगे चलकर बौद्धधर्म का केन्द्र हो गई।

सिद्धार्थ ने राजकुमारो की भाँति शिक्षा प्राप्त की। इनके पिता वैदिक धर्म के अनुयायी थे। सिद्धार्थ विचारशील थे और इसलिए इनकी उत्सुकता जीवन के रहस्यों को जानने के लिए बढ़ने लगी। सासारिक सुखो से ये विरक्त हो गये। ससार से इनको उद्वेग उत्पन्न हुआ और परमार्थ-सत्य की खोज में एक दिन इन्होने घर से अभिनिष्क्रमण किया और काषाय-वस्त्र धारण कर भिक्षु-भाव ग्रहण किया। उस समय तापसो की विशेष प्रसिद्धि थी। सिद्धार्थ के पिता के यहाँ काल-देवल आदि तापस आया करते थे। एक तपोवन में उनको मालूम हुआ कि विम्ब-प्रकोष्ठ मे 'अराड-कोलाम' नामक तापस रहते हैं, जो निःश्रेयस् का ज्ञान रखते हैं। यह सुनकर सिद्धार्थ अराड के तपोवन में गये। वहाँ उनका स्वागत हुआ। सिद्धार्थ ने पूछा कि जरा-मरण-रोग से सत्त्व (जीव) कैसे विमुक्त होता है? 'अराड' ने सक्षेप मे अपने शास्त्र के निश्चय को बताया। उन्होने ससार की उत्पत्ति और विवर्त्तन को समझाया। तत्त्वो की शिक्षा देकर उन्होने नैष्ठिक-पद की प्राप्ति का उपाय भी बताया। किन्तु सिद्धार्थ को 'अराड' की शिक्षा से सन्तोष नही हुआ। विशेष जानने के लिए वे 'उद्रक-रामपुत्र' के आश्रम को गये, किन्तु इनके भी दर्शन को सिद्धार्थ ने स्वीकार नही किया। इनकी शिक्षा साख्य-योग की थी। जब इनसे परितोष न हुआ, तब ये अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) शान्तिवर-पद की गवेषणा मे 'उरुवेला' आये और 'नेरजना' (या नैरजरा) नदी के तट पर आवास किया। इन्होने विचार किया कि मुझमे भी श्रद्धा है, वीर्य है, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा है, मैं स्वय धर्म का साक्षात्कार करूँगा।

बुद्ध के समसामयिक

हमने ऊपर कहा है कि बुद्ध के समय मे अनेक वाद प्रचलित थे। 'दीघनिकाय' के ब्रह्मजाल-सुत्त मे इन वादो का उल्लेख है। इनका वर्णन यहाँ देना आवश्यक है, किन्तु बुद्ध के समसामयिक जो ६ शास्ता—सघी, गणी, गणाचार्य और तीर्थकर थे, उनका सक्षेप मे हम

वर्णन देंगे। उनके नाम ये हैं—अजितकेशकम्वल, पूरणकस्सप, पकुधकच्चायन, मक्खलिगोसाल, सजयवेलट्ठिपुत्त, निगठनातपुत्त। इनमे 'निगठनातपुत्त' जैनधर्म के अन्तिम तीर्थकर महावीर हैं। इनमें केवल यही आस्तिक थे। अजितकेशकम्वल के मत से न दान है, न इष्टि, न हुत, न सुकृत और न दुष्कृत कर्म का फल-विपाक है, न इहलोक है, न परलोक, न श्रमण-ब्राह्मण हैं, जिन्होने अभिज्ञावल मे इहलोक-परलोक का साक्षात्कार किया है। मनुष्य चातुर्महाभूतिक है। जब वह काल (मृत्यु) करता है, तब पृथिवी पृथिवी-काय को अनुपगमन करती है इत्यादि। इन्द्रियाँ आकाश मे सक्रमण करती हैं। वाल और पण्डित काय-भेद से विनष्ट होते हैं, मरणानन्तर वे नही होते। 'सजय' का कहना था कि प्राणातिपात (वध), अदत्तादान (स्तेय), मृषावाद और परदार-गमन से पाप नही होता और दान-यज्ञ आदि से पुण्य का आगम नही होता। मक्खलिगोसाल नियतिवादी थे। वे मानते थे कि सब सत्त्व (जीव) अवश हैं, अवीर्य हैं। उनमें न बल है, न वीर्य है, न पुरुष-पराक्रम। उनके अनुसार हेतु नही है, सत्त्वो के सक्लेश का प्रत्यय (हेतु) नही है, सत्त्व अहेतुक क्लेश भोगते हैं और विना हेतु-प्रत्यय के विशुद्ध होते हैं। गोसाल आजीवक-सम्प्रदाय के सस्थापक थे। वे कहते थे कि वाल और पण्डित सब सत्त्व-ससरण कर दुःख का अन्त करते हैं। इसे ससार-शुद्धि कहते हैं। ये अचेलक थे और अनेक प्रकार के कष्ट-तप करते थे। जेतवन के पीछे उनका एक स्थान था। ये पचाग्नि तापते थे, उत्कुटिक थे और चमगादड की भाँति हवा में झूलते थे। 'पालिनिकाय' में इनको 'मुक्ताचार' कहा है। एक सूत्रान्त में इनको 'पुत्तमताय पुत्ता' कहा है, अर्थात् यह उस माता के पुत्र हैं, जिसके पुत्र मर जाते हैं। वुद्धघोष के अनुसार 'पूरण' आत्मा को निष्क्रिय कहते और कर्म को नही मानते थे। 'अजित' नास्तिक थे और कर्म-विपाक को नही मानते थे। 'गोसाल' नियतिवादी थे, ये कर्म और कर्मफल दोनो का प्रतिषेध करते थे।

वुद्ध आजीवको को सबसे वुरा समझते थे। तापस होने के कारण इनका समाज में आदर था। लोग निमित्त, शकुन, स्वप्न आदि का फल इनसे पूछते थे। अशोक और उनके पौत्र 'दशरथ' के लेखो में आजीवको का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त और भी तापस थे, जो शरीर को नाना प्रकार के कष्ट देते थे। कोई सन का कपडा पहनता था, कोई कुश-चीर, कोई केश-कम्वल धारण करता था, कोई उलूक-पक्ष धारण करता था, कोई केश-लुचन करता था, कोई कण्टक पर शयन करता था (कण्टकापाश्रय), कोई गोव्रतिक, कोई मृगव्रतिक होता था, किसी की उञ्छवृत्ति थी। ये हिम-वात-सूर्यादि दुःख को सहन कर अनेक प्रकार से शरीर का आतापन-परितापन करते थे। इनका विश्वास था कि दुःख से सुख की प्राप्ति होती है। इसी कारण उस युग मे तापसो का वडा आदर था। उनका कष्टमय जीवन को स्वीकार करना एक वडी वात समझी जाती थी। आश्चर्य होता है कि 'अजितकेशकम्वल' जैसे लोगो के लिए समाज मे आदर था। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि ये तापस थे। ये तपस्या किस उद्देश्य से करते थे, यह भी ज्ञात नही है। ये लोग अद्भुत कर्म दिखाते थे, यह दावा करते थे कि इन्होने ऋद्धियाँ प्राप्त की हैं। अतः, इसमे कोई आश्चर्य नही है कि वुद्ध ने भी 'नेरजना' के तट पर रहकर ६ वर्ष

कठोर तपस्या की; क्योकि उस समय नैष्ठिक-पद की प्राप्ति के लिए तप आवश्यक समझा जाता था।

बुद्धत्व-प्राप्ति

बुद्ध के साथ पाँच अन्य भिक्षु भी थे। उन्होने अनशन-व्रत यह समझकर किया कि इससे वह जन्म-मरण पर विजय करेंगे। वे एक तिल-तण्डुल पर रहने लगे। इसका परिमाण यह हुआ कि वे अत्यन्त कृश हो गये और त्वगस्थिशेष रह गये। 'बुद्धचरित' के शब्दो मे, तब उनको मालूम हुआ कि यह धर्म विराग, बोध, मुक्ति के लिए नही है, दुर्बल इस पद को नही पा सकता। ऐसा विचार करके बुद्ध पुन भोजन करने लगे। जब उनका शरीर और मन स्वस्थ हुआ, तब उन्होने समाधि लगाई। उन पाँच भिक्षुओ ने असन्तुष्ट होकर उनका साथ छोड दिया। सिद्धार्थ बोध के लिए कृतसकल्प हो अश्वत्थमूल मे पर्यंकबद्ध हुए और यह प्रतिज्ञा की कि जबतक मै कृत त्य नही होता, तबतक इसी आसन मे बैठा रहूँगा। रात्रि के प्रथम याम में उनको पूर्वजन्मो का ज्ञान हुआ, दूसरे याम में दिव्य-चक्षु विशुद्ध हुआ, अन्तिम याम में द्वादश प्रतीत्य-समुत्पाद का साक्षात्कार हुआ और अरुणोदय में उनको सर्वज्ञता का प्रत्यक्ष हुआ। यह उनका बुद्धत्व है। उस दिन से वे बुद्ध कहलाने लगे। सर्वज्ञता का साक्षात्कार कर भगवान् ने जो प्रीतिवचन (उदान) कहे, उनको हम यहाँ उद्धृत करते है—"कष्टमय जन्म बार-बार लेना पडा। मै गृहकारक की खोज में ससार मे व्यर्थ भटकता रहा। किन्तु गृहकारक! अब मैंने तुझे देख लिया। अब तू फिर गृह-निर्माण न कर सकेगा। तेरी सब कडियाँ टूट गई, गृह-शिखर ढह गया। चित्त-निर्वाण का लाभ हुआ, तृष्णा का क्षय देख लिया।"

सात सप्ताह तक वे विविध वृक्षो के तले बैठकर विमुक्ति-सुख का आनन्द लेते रहे। भगवान् को बुद्ध, तथागत, सुगत आदि कहते है। भगवान् के श्रावक सौगत, शाक्यपुत्रीय, बौद्ध कहलाते है। ऐसी कथा है कि बुद्धत्व प्राप्त कर भगवान् को धर्मोपदेश मे अनिच्छा हुई, किन्तु ब्रह्मासहम्पति की प्रार्थना पर वे धर्मोपदेश के लिए राजी हुए। पहले उनका विचार 'अराड-कालाम' और 'उद्रक-रामपुत्र' को धर्म का उपदेश (देशना) देने का हुआ, किन्तु यह जानकर कि वे अब जीवित नही हैं, उन्होने उन पाँच भिक्षुओ को धर्म का उपदेश करने का निश्चय किया, जो उनका साथ छोडकर 'ऋषिपत्तन' मृगदाव (सारनाथ, काशी के पास) चले गये थे। आषाढ-पूर्णिमा के दिन उनका पहला उपदेश 'सारनाथ' मे हुआ। यह उपदेश धर्मचक्र-प्रवर्त्तन-सूत्र है। यही धर्मचक्र का प्रथम बार प्रवर्त्तन हुआ। इसलिए, सारनाथ भिक्षुओ का एक तीर्थ हो गया। पाँचो भिक्षु प्रथम शिष्य हुए। वाराणसी का एक वणिक्-पुत्र 'यश' भी ससार से विरक्त हो ऋषिपत्तन आया। वह भी भगवान् से उपदेश पाकर भिक्षु हो गया। यह सवाद पाकर उसके ५४ मित्र भी भिक्षु हो गये। इस प्रकार, इन ६० भिक्षुओ को लेकर बुद्ध-शासन का आरम्भ हुआ। भगवान् ने एक सघ की प्रतिष्ठा की। आगे चलकर जब सघ के नियम बने, तब सघ की सदस्यता के लिए एक विधि रखी गई। इसे 'उपसम्पदा' कहते है। मध्यदेश मे १० भिक्षुओ के और प्रत्यन्तिक जनपदो में पाँच भिक्षुओ के सघ के सम्मुख 'उपसम्पदा' होती थी।

प्रारम्भ में जब संघ नहीं था, तब पहले शिष्यों की उपसम्पदा 'एहि भिक्षो' इस वाक्य से हुई। पचवर्गीय भिक्षुओ की उपसम्पदा इसी प्रकार हुई। इसी प्रकार, जब भगवान् ने आनन्द के आग्रह पर स्त्रियो को सघ मे प्रवेश करने की आज्ञा दी, तब महाप्रजापती गौतमी की (जो पहली भिक्षुणी थी) उपसम्पदा भिक्षुओ के गुरुधर्मों को स्वीकार करने से हुई।

धर्म-प्रसार

भगवान् ने धर्म-प्रचार के लिए इन ६० भिक्षुओ को भिन्न-भिन्न दिशाओ में भेजा और स्वय 'उरुवेला' की ओर गये। वहां 'उरुवेल-काश्यप' और उनके दो भाई एक बृहत् सघ के साथ निवास करते थे। ये जटिल थे। इनको भी उपदेश देकर भगवान् ने शासन में दीक्षित किया। इन जटिलो की आसपास बहुत ख्याति थी। मगध के महाराज बिम्बिसार भी इनका बहुत आदर करते थे। यह जानकर कि वे बुद्ध के शासन में प्रवेश कर गये, उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। इससे बुद्ध की ख्याति फैली और स्वय बिम्बिसार उपासक हो गये। गृहस्थ शिष्य उपासक-उपासिका कहलाते थे। भगवान् चारिका (भ्रमण) करते हुए कपिलवस्तु पहुँचे और वहाँ कई दिन ठहरकर उन्होंने धर्म का उपदेश किया। शाक्य-कुल के अनेक युवक भिक्षु हो गये। बुद्ध के पुत्र राहुल भी भिक्षु हुए। यहाँ से भगवान् राजगृह आये। उस समय वहाँ श्रमण 'सजय' अपने सघ के साथ रहते थे। इस सघ में 'शारिपुत्र' और 'मौद्गल्यायन' थे। ये भी बौद्धभिक्षु हो गये। इन्होंने भिक्षु 'अश्वजित्' से श्रमण गौतम की शिक्षा का सार सुना था। यह शिक्षा इस गाथा में उपनिबद्ध है। यह अनेक स्थानो पर उत्कीर्ण पाई गई है—

ये धम्मा हेतुप्पभवा तेस हेतुं तथागतो आह।
तेस च यो निरोधो एवं वादी महासमणो॥

ये दो अग्रश्रावक कहलाते हैं। इस प्रकार, धीरे-धीरे बौद्धधर्म फैलने लगा। हम इस धर्म के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तो का उल्लेख आगे करेंगे और बुद्ध की बताई निर्वाण की साधना का भी दिग्दर्शन करायेंगे तथा विकास-क्रम से बौद्धदर्शन के विभिन्न वादो का भी आलोचन करेंगे। यहाँ आर्यदेव के शब्दो में इतना कहना पर्याप्त होगा—

धर्म समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागता।
शून्यतामेव निर्वाणं केवल तदिहोभयम्॥

अहिंसा और निर्वाण ये दो धर्म जो स्वर्ग-विमुक्ति-प्रापक हैं, तथागत द्वारा वर्णित हैं। यह ज्ञान और योग का मार्ग है। भगवान् ने स्वय कहा है कि जिस प्रकार समुद्र का एक रस लवण-रस है, उसी प्रकार मेरी शिक्षा का एक रस विमुक्ति-रस है। आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार भगवान् की भी चतु सूत्री है—दु ख है, दु ख का हेतु है, दु ख का निरोध है, दु खनिरोधगामिनी प्रतिपत्ति (मार्ग) है। भगवान् यद्यपि ब्रह्म या ईश्वर और आत्मा की सत्ता को नहीं मानते थे, तथापि पुनर्जन्म, परलोक में प्रतिपन्न थे। वे ब्राह्मणो के लोकवाद और देववाद को मानते थे। वे देव, यक्ष, किन्नर, असुर, प्रेत की सत्ता और स्वर्ग-नरक की कल्पना को मानते थे। हम ऊपर कह चुके हैं कि वे नास्तिक नहीं थे। वे कर्म और कर्म का फल मानते थे।

बौद्धधर्म के प्रसार का यह फल हुआ कि तापसो और नास्तिको का प्रभाव बहुत कम हो गया। इसी कारण निर्ग्रन्थ और आजीवक बौद्ध-भिक्षुओ की हँसी उडाया करते थे कि ये जब तपस्या नहीं करते, तब निर्वाण का लाभ क्या करेंगे ? बौद्ध-भिक्षुओ ने एक प्रबल सघ स्थापित किया, जो राजाओ का, विशेष कर अशोक का प्रश्रय पाकर उन्नत अवस्था को पहुँचा।

चारिका, वर्षावास और प्रवारण।

बुद्ध भिक्षुओ के साथ चारिका करते थ, भिक्षुओ के सन्देहो का निराकरण करते थे, उनको धर्म-विनय (भिक्षुओ के नियम) की शिक्षा देते थे, जो तीर्थिक उनसे प्रश्न करने आते थे, उनसे सलाप करते थे और गृहस्थो को धर्म का उपदेश देते थे। वर्षा ऋतु मे चारिका बन्द हो जाती थी, भिक्षु एकस्थ होते थे। उपासक उनको वर्षावास का निमन्त्रण देते थे। उपासक उनकी भिक्षा की व्यवस्था करते थे और भिक्षु उनको धर्मोपदेश देते थे। इस प्रकार, उनमे आदान और प्रतिदान होता था और सघ की एकता सिद्ध होती थी। वर्षा के अन्त मे एक उत्सव होता था, जिसे प्रवारणा (पवारणा) कहते थे। इस उत्सव मे भिक्षु और उपासक सब सम्मिलित होते थे और एक भिक्षु सभी भिक्षुओ और उपासकों को धर्मोपदेश देता था। वे दिन मे उपोसथ (व्रत) रखते थे और सायकाल को सम्मेलन होता था। एक भिक्षु दूसरे के पाप को आविष्कृत करता था और वह पाप स्वीकार करता था। अन्त मे, उपासको द्वारा लाई हुई दान की वस्तुएँ भिक्षुओ मे बाँट दी जाती थी। हर पाँचवे वर्ष प्रवारणा का उत्सव विशेष समारोह से होता था। यह पचवार्षिक परिषद् कहलाती थी। यद्यपि 'पालिनिकाय' मे इसका उल्लेख नही है, तथापि अशोकावदान, दीपवश, महावश और चीनी यात्रियो के विवरण से इसके अस्तित्व का पता चलता है। फाहियान की यात्रा के विवरण से मालूम होता है कि 'खाश' के राजा ने पचवार्षिक परिषद् को बुलाया था, जिसमें उन्होने अपना सर्वस्व दान में दिया। ह्वेनत्साग ने भी कूचा और वामियान में इस उत्सव को देखा था। वैदिक विश्वजित् यज्ञ में भी सर्वसम्पत्ति का दान होता था। सन् ५२९ ई० में चीन के महाराज ने भी पचवार्षिक परिषद् को आमन्त्रित किया था। इससे मालूम होता है कि बौद्धो के जीवन मे इस उत्सव का विशेष स्थान था।

आश्चर्य है कि 'विनयपिटक' मे इसका उल्लेख नही है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि विनय में केवल भिक्षुओ के सम्बन्ध में बातें कही गई है और उपासको की उपेक्षा की गई है। वर्षा के उत्सव के वर्णन में भी उपासको का उल्लेख अप्रत्यक्ष रूप से आता है। जब हम 'चुल्लवग्ग' के ११ वें खन्धक का पाठ करते हैं, तब हम देखते हैं कि केवल भिक्षु और उनमे भी विशेषकर अर्हत् (अर्हत् वह है, जिसने निर्वाण का लाभ किया है) का ही उल्लेख होता है। इन्ही का प्राधान्य है। प्रथम धर्म-सगीति में, जो वर्षावास के समय हुई, केवल अर्हत् ही रहे, उपासक नही। ह्वेनत्साग मगध देश के वर्णन मे लिखते है कि उस स्थान के पश्चिम जहाँ आनन्द ने अर्हत्-पद प्राप्त किया, अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप था। इसी स्थान में महासघ-निकाय ने धर्म का सग्रह किया था। जो शैक्ष की अवस्था मे थे, या उस अवस्था को पार कर

चुके थे, किन्तु महाकाश्यप की धर्म-सगीति में शरीक नही किये गये थे, वे वहाँ एकत्र हुए। उन्होंने कहा कि जबतक शास्ता (बुद्ध) थे, हम सबको उपदेश देते थे, किन्तु धर्मराज के परिनिर्वृत (निर्वाण में प्रविष्ट) होने के बाद से अब चुनाव होता है। उन्होंने आपस में निश्चय किया कि हमको भी धर्म का सग्रह करना चाहिए। इस सगीति में भिक्षु और उपासक दोनो बडे समूह में सम्मिलित हुए थे। उन्होंने भी सूत्र, विनय, अभिधर्म, सयुक्तपिटक और धारणीपिटक का सग्रह किया। इस निकाय को 'महासाघिक' इसलिए कहते हैं, क्योकि इसमें उपासक और भिक्षु दोनो का एक बडा समुदाय शरीक हुआ था। इसमें सन्देह नही कि इस वृत्तान्त से और द्वितीय सगीति के अवसर के सघभेद के वृत्तान्त मे विरोध है, किन्तु जैसा कि 'ओल्डेनवर्ग' ने कहा है, इस द्वितीय सगीति के विवरण राजगृह की सगीति से पहले के हैं। महासाघिकों का पृथक् होना भी दोनो धर्म-सगीतियो के कुछ विवरणो से पुराना हो सकता है। चीनी यात्री के इस कथन का समर्थन प्रथम सगीति के उन विवरणो से होता है, जो दो परि-निर्वाणसूत्र के परिशिष्ट हैं। इनके अनुसार परिषद् मे कम-से-कम सब प्रकार के भिक्षु थे, केवल अर्हत् ही न थे। एक विवरण के अनुसार इनके अतिरिक्त देव, यक्ष, नाग, उपासक और उपासिका भी थे। इन सूत्रो का सम्बन्ध महासाघिक विनय से है। यह सम्भव है कि ये दो परिनिर्वाणसूत्र 'महासाघिक'-निकाय के हैं। यह परम्परा युक्त प्रतीत होती है और प्रथम महासगीति के जो विवरण उपलब्ध हैं, वे प्राय सघ के इतिहास मे एक विशेष परिवर्त्तन की सूचना देते हैं। अत, हमको मानना होगा कि आरम्भ मे वर्षा में जिस परिषद् का सम्मेलन होता था, वह महासघ था। उसमे सब प्रकार के बौद्ध सम्मिलित होते थे। उपासको का उसमें सम्मिलित होना आवश्यक था।

निर्वाण

बुद्ध के जीवन-काल में भिक्षुओ का गृहस्थो से घनिष्ठ सम्बन्ध था। उस समय बुद्ध की शिक्षा भी बहुत सरल थी। सर्वभूत-मैत्री इसका विशेष गुण था। उद्देश्य स्वर्ग या ब्रह्म-लोक प्राप्त करना था। प्रतिमोक्षसवर-समादान, शुभकर्म और भावना से उद्देश्य की सिद्धि होती थी। कुछ विद्वानो का मत है कि उस समय निर्वाण की कल्पना अभाव, अकिंचन की न होकर अमृत-पद की थी। निर्वाण अच्युत स्थान है। यह अचल, अजर, अमर, क्षेमपद, अमृतपद है। यह अनुत्तर योगक्षेम है। स्वय बुद्ध कहते हैं कि इस अवस्था को व्यक्त करने के लिए कोई शब्द नही है। यह अनिर्वचनीय, अवाच्य, अवक्तव्य है। "जो निर्वाण को प्राप्त होता है, उसका प्रमाण नही है, जिससे कह सकें कि यह क्या है।" यह एकान्त सुख है, यह अप्रतिभाग है। निर्वाण को सुख, शान्त, प्रणीत कहा है। भगवान् अज्ञातसूत्र में कहते हैं— "हे भिक्षुओ! यह अजात, अभूत, अकृत, असस्कृत है। हे भिक्षुओ! यदि यह अजात, अभूत, अकृत, असस्कृत न होता, तो जात, भूत, कृत, सस्कृत का नि सरण न होता।" भगवान् पुन कहते हैं—"उसका ध्रुव नि सरण अतर्क्य है, वह अजात, असमुत्पन्न, अशोक विरजपद है। वह दु ख धर्मो का निरोध है। वह सस्कारो का उपशम है।"

ऊपर दिये हुए उद्धरणो मे निर्वाण के लिए 'अमृतपद' शब्द का प्रयोग होने से कुछ विद्वानो का कहना है कि बुद्ध ने जिस निर्वाण की शिक्षा दी थी, वह आत्मा के अमरत्व का और मोक्ष मे नित्य-सुख का द्योतक था। इन विद्वानो का कथन है कि आगे चलकर बौद्धधर्म का रूप विकृत हो गया और वह निर्वाण को सर्वदु ख का अभाव-मात्र मानने लगे। शरवात्स्की ने इस मत का खण्डन किया है और उन्होने इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा की है कि बुद्ध की शिक्षा के अनुसार निर्वाण नित्य-सुख की अभिव्यक्ति नही है। यह अमिताभ का सुखावती-लोक नही है, जहाँ नित्य-सुख की कल्पना की गई है। उनका कहना है कि निर्वाण लोकोत्तर है और अमृत-शब्द का अर्थ केवल इतना है कि वह अमृत्यु-पद है। निर्वाण मे न जन्म है, न मृत्यु। आगे चलकर हम बौद्धो के विभिन्न प्रस्थानो के आधार पर निर्वाण का विस्तृत विवेचन करेगे।

अनेक प्रकार के भिक्षु

बुद्धोपदिष्ट निर्वाण के स्वरूप की जो भी व्याख्या की जाय, बौद्धशासन मे भिन्न रुचि और प्रकृति के अनुसार कई प्रकार के भिक्षु थे। मज्झिमनिकाय के महागोसिगसुत्त मे इन विविध प्रकार के भिक्षुओ का परिचय मिलता है। एक समय भगवान् गोसिग-शालवन में विहार करते थे। उनके साथ आनन्द, शारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप, रैवत, अनिरुद्ध आदि भिक्षु थे। धर्म-श्रवण के लिए ये लोग शारिपुत्र के पास गये (शारिपुत्र को धर्म-सेनापति भी कहते है)। भगवान् के परिचारक आनन्द को आते देख शारिपुत्र ने उनका स्वागत किया और कहा कि गोसिग-शालवन रमणीय है, शालवन फूले हुए है, दिव्य गन्ध वह रही है, रात्रि निर्मल है। हे आनन्द! किस प्रकार के भिक्षु से इस वन की शोभा होगी? आनन्द ने उत्तर दिया कि हे शारिपुत्र! जो वहुश्रुत है, जो चारो परिषदो (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका) को कल्याण-धर्म की देशना (उपदेश) देता है, ऐसे भिक्षु से यह वन शोभित होगा। शारिपुत्र ने यही प्रश्न औरो से किया। महाकश्यप ने प्रश्न के उत्तर में कहा कि जो भिक्षु अरण्य मे निवास करता है, और जो १३ धुतगो की प्रशसा करता है और उसका ग्रहण करता है, वह इस वन की शोभा वढायगा। पुन किसी ने शारिपुत्र के उत्तर मे विनय की प्रशसा की और किसी ने अभिधर्म के महत्त्व का वर्णन किया।

इस सवाद मे जिन विविध प्रकार के भिक्षुओ का वर्णन किया गया है, उनमे आनन्द ही उस प्रकार के भिक्षु है, जिनके द्वारा बौद्धधर्म का प्रचार हुआ। आनन्द, वन मे एकान्त-वास कर समाधि में निमग्न नही रहते थे। यही कारण है कि आनन्द लोकप्रिय थे। भगवान् के वे उपस्थापक थे। पच्चीस वर्ष तक उन्होने भगवान् की परिचर्या की। वे उनकी गन्धकुटी मे नित्य झाड़ू देते थे, उनका बिछौना बिछाते थे, स्नान के लिए पानी रखते थे और उनका शरीर दवाते थे। इतना ही नही, आनन्द बहुश्रुत थे। वे वडे अच्छे वक्ता थे। भगवान् के सब सूत्रान्त उनको कण्ठस्थ थे। उनकी स्मृति-शक्ति प्रबल थी। वहुत-से सवाद उनके समक्ष दिये गये थे। जिन सवादो मे वे उपस्थित नही होते थे, उन्हे वे बुद्ध से पीछे सुन लेते थे। उपस्थापक होने

के पहले जो शर्ते उन्होने की, उनमें से एक यह भी शर्त थी। यही कारण है कि प्रथम महासगीति में आनन्द ने धर्म (सूत्रान्त) का पाठ किया। यही कारण है कि सूत्रान्त इस वाक्य से आरम्भ होते हैं—"एव मे सुत" (मैंने ऐसा सुना है) 'मैंने' से आनन्द इष्ट है। बुद्ध कहते है कि आनन्द बहुश्रुत, श्रुतधर है। वह आदि-कल्याण, मध्य-कल्याण, पर्यवसान-कल्याण धर्म का चार परिषदो को (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका) उपदेश देते है। इन्होने सम्यग् दृष्टि से धर्मों का सुप्रतिवेध किया है।

आनन्द बुद्ध को बहुत प्रिय थे। आनन्द के आग्रह पर ही बुद्ध ने स्त्रियो को सघ में प्रवेश की अनुमति दी थी। भगवान् की माता की बहिन महाप्रजापती गौतमी ने, जिन्होने महामाया की मृत्यु के पश्चात् भगवान् का पालन-पोषण किया था, भिक्षुणी होने की इच्छा प्रकट की। भगवान् ने निषेध किया। आनन्द ने गौतमी का पक्ष लेकर भगवान् से तर्क किया और कहा कि क्या स्त्रियो को निर्वाण का अधिकार नही है? भगवान् को स्वीकार करना पडा कि है। तब आनन्द ने कहा कि क्या भगवान् की विमाता ही, जिन्होने भगवान् का लालन-पालन किया, इस उच्च पद से वचित रह जायेगी। इस तर्क के आगे भगवान् अवाक् हो गये और उन्हें अनिच्छा से इसकी अनुमति देनी पडी। इस कारण आनन्द भिक्षुणियो में बडे प्रिय थे। भिक्षुणियाँ उनका सदा पक्ष लिया करती थी और यदि कोई उनको कुछ कहता था, तो वे उनकी ओर से लडती थी। आनन्द सुवक्ता थे। धर्मोपदेश के लिए उनकी ख्याति थी, हर जगह उनकी माँग थी। वे बडे ही दयालु थे और लोगो को दुखी देखकर उनका हृदय द्रवित हो जाता था। वे सरल हृदय और निःस्वार्थ थे। शारिपुत्र से इनकी विशेष मित्रता थी। अच्छी-से-अच्छी वस्तु जो इनको दान में मिलती थी, उसे ये शारिपुत्र को दे दिया करते थे। शारिपुत्र की मृत्यु पर इनको बहुत दुःख हुआ था।

हम देख चुके है कि आनन्द स्त्रियो के अधिकार के लिए लडे थे। एक बार उन्होने बुद्ध से पूछा था कि स्त्रियाँ परिषदो की सदस्या क्यो नही होती, व्यापार क्यो नही करती? चाण्डाल के लिए भी उनके मन में घृणा नही थी। वे रोगियो को सान्त्वना देने जाया करते थे। दोपहर को जब भगवान् विश्राम करते थे, तब वे रोगियो की शुश्रूषा मे लग जाते थे। वे धर्म-भाण्डागारिक कहलाते थे। उनकी मृत्यु पर यह श्लोक उनकी प्रशसा में कहे गये थे—

बहुस्सुतो धम्मधरो कोसारक्खो महेसिनो।
चक्खु सब्बस्स लोकस्स आनन्दो परिनिब्बुतो॥
बहुस्सुतो धम्मधरो-व-अन्धकारे तमोनुदो।
गतिमन्तो सतीमन्तो धितिमन्तो च यो इसि॥
सद्धम्माधारको थेरो आनन्दो रतनाकरो।

(थेरगाथा १०४७–४९)

भगवान् का परिनिर्वाण

जब भगवान् का कुसिनारा (कसिया) के शालवन में परिनिर्वाण हुआ, तब आनन्द उनके साथ थे। भगवान् ने आनन्द से कहा कि मैं बहुत थका हूँ, और लेटना चाहता हूँ, दो शाल-

वृक्षो के बीच मेरा बिछौना कर दो। भगवान् लेट गये और एक परिचारक उनको पखा करने लगा। भगवान् ने कहा कि मेरे परिनिर्वाण का समय आ गया है। यह सुनकर आनन्द को बहुत शोक हुआ और वे विहार में जाकर द्वार के सहारे बैठ गये और विलाप करने लगे। भगवान् ने भिक्षुओ से पूछा कि आनन्द कहाँ है ? भिक्षुओ ने उत्तर दिया कि वे विहार मे रो रहे हैं। भगवान् ने उनको बुलाने के लिए एक भिक्षु को भेजा। जब आनन्द आये, तब भगवान् ने कहा—हे आनन्द ! शोक मत करो। क्या मैंने तुमसे नही कहा है कि प्रिय वस्तु से वियोग स्वाभाविक और अनिवार्य है। यह कैसे सम्भव है कि जिसकी उत्पत्ति हुई है, जो सस्कृत और विनश्वर है, उसकी च्युति न हो ? ऐसा स्थान नही। तुमने मनसा, वाचा, कर्मणा श्रद्धा के साथ मेरी सेवा की है। तुम अनन्त पुण्य के भागी हो। यह कहकर भगवान् ने भिक्षुओ से आनन्द की प्रशसा की। भगवान् न आनन्द से कहा कि मेरे पश्चात् यदि सघ चाहे, तो विनय के क्षुद्र नियमो को रद्द कर दे। भगवान् भिक्षुओ से विदा हुए। भगवान् के अन्तिम शब्द ये थे—

"सब सस्कार अनित्य हैं। अपने निर्वाण के लिए विना प्रमाद के यत्नशील हो। तुम अपने लिए स्वय दीपक हो 'अत्तदीपा विहरथ' —दूसरे का सहारा न ढूँढो।"

बौद्धशासन मे ऐसे भी भिक्षु थे, जिनको अरण्य में खड्ग-विषाण (गैंडा) के तुल्य एकान्तवास अधिक प्रिय था। ऐसे भी भिक्षु थे, जो विनय के नियमो के पालन को अधिक महत्त्व देते थे। विनयधर कहाते थे। इसमे 'उपालि' सबसे श्रेष्ठ था। प्रथम धर्म-सगीति में उपालि ने ही विनय का सग्रह किया था। ऐसे भी भिक्षु थे, जो अभिधर्म-कथा मे रस लेते थे; दो भिक्षु एक साथ बैठकर एक दूसरे से प्रश्न पूछते और उत्तर देते थे। ये 'धर्मकथिक' होते थे। इस प्रकार के भिक्षु अग्रश्रावक मौद्गल्यायन थे। किन्तु, जिस प्रकार के भिक्षुओ के कारण बौद्धधर्म दूर-दूर तक फैला और लोकप्रिय हुआ,वे आनन्द की भाँति के थे।

जैसा हम ऊपर कह चुके है, बुद्ध की दिनचर्या इसी प्रकार की थी। किन्तु, धीरे-धीरे ज्यो-ज्यो बौद्धधर्म पश्चिम की ओर बढा, त्यो-त्यो उसकी मूल भावना में परिवर्त्तन होने लगा। बुद्ध ८० वर्ष तक जीवित रहे, २९ वर्ष की अवस्था में उन्होने निष्क्रमण किया था। उनके जीवन-काल मे बौद्धधर्म कोशल, मगध, कौशाम्बी और पाचाल-कुरु देश मे फैला था, पश्चिम में उज्जैन तक गया था। मध्यदेश मे ब्राह्मणधर्म का अधिक प्रभाव था। चुल्लवग्ग के बारहवें खन्धक से मालूम होता है कि द्वितीय धर्म-महासंगीति के समय पश्चिम के सघ में आरण्यको की सख्या प्रचुर थी; किन्तु पूर्व मे वैशाली के प्रदेश में नही थी।

वैदिक धर्म का प्रभाव

कई ब्राह्मण वौद्धशासन में प्रविष्ट हुए। उनके प्रभाव से ब्राह्मणधर्म का प्रभाव बौद्ध-धर्म पर पडा। जसे वैदिकधर्म मे चार आश्रम है, उसी प्रकार बौद्धो मे गृहपति, श्रामणेर (जिसका उद्देश्य श्रमण होना है), भिक्षु और आरण्यक यह चार परिषदे हुई। इसी प्रभाव के कारण वौद्धो मे भी वैखानस-व्रत के माननेवाले धुतवादी हो गये। यह धुतगो का समादान करते थे। हम ऊपर कह चुके है कि ये 'धुतग' वैखानस के व्रत ह। इनका प्राधान्य हो गया। भिक्षु और उपासक का अन्तर बढ़ने लगा। ये आरण्यक ऋषि और योगी के स्थान मे थे।

बुद्ध मध्यम मार्ग का उपदेश करते थे। उनका आदर्श दूसरा था । ये आरण्यक ससार से विरक्त हो एकान्तवास करते थे और अपनी उन्नति के लिए सचेष्ट रहते थे। इनकी तुलना खड्ग-विपाण से देते है, जो वर्गचारी (झुण्ड में) नही होता, वन मे एकाकी रहता है ।

यह विचारणीय है कि विनय में धुतगुणो का उल्लेख नही है। 'परिवार' में इन व्रतों की निन्दा की गई है। पीछे के अभिधर्म-ग्रन्थ जैसे 'विमुद्धिमग्गो' में इनका उल्लेख है। 'मिलिन्द-प्रश्न' मे भी १३ धुतगो की प्रशसा की गई है। धुतवादियो के प्रभाव के वढने से उन उत्सवो का महत्त्व घटने लगा, जिनमें उपासको का विशेष भाग था। यह परिवर्त्तन प्रथम सगीति के विवरणो से उपलक्षित होता है। कथा है कि बुद्ध-परिनिर्वाण पर धर्म-विनय के सग्रह के लिए सगीति हुई। यह वर्षाकाल में हुई। ५०० अर्हत् सम्मिलित हुए। इनके प्रमुख आचार्य महा-काश्यप थे। दीपवश में इस सगीति का वर्णन देते हुए महाकाश्यप के लिए लिखा है कि वे धुतवादियो के अगुआ थे––धुतवादान अग्गो सो कस्सपो जिनसासने। वे सगीति के प्रधान हुए ।

प्रथम धर्म-संगीति

वर्षाकाल में जो उत्सव होता था, उसमें सव प्रकार के भिक्षु और उपासक सम्मिलित होते थे, किन्तु पालिकथा के अनुसार इस सगीति में उपासको का सम्मिलित होना तो दूर रहा, केवल वही भिक्षु सम्मिलित किये गये, जो अर्हत् हो चुके थे। यह भी विचित्र वात है कि यद्यपि आनन्द ने ही सूत्रो का सग्रह किया, तथापि इस हेतु को देकर कि वे अभी अर्हत् नही हुए हैं, वे सगीति से पृथक् किये गये और जव उन्होने अर्हत्-फल की प्राप्ति की, तभी सम्मिलित किये गये। भगवान् ने जव धर्मचक्र-प्रवर्त्तन किया तव ६० भिक्षु एक उपदेश से ही अर्हत् हो गये। परिनिर्वाण के पहले जो आखिरी भिक्षु हुआ, वह 'सुभद्र' भी अर्हत् हो गया। किन्तु, आनन्द, जो भगवान् को इतने प्रिय थे, जिन्होने २५ वर्ष भगवान् की परिचर्या की, जिनकी वहुश्रुत, धर्म-धर कहकर भगवान् ने भूरि-भूरि प्रशसा की, वह अर्हत्-पद को न पा सके। यह वात विश्वास के योग्य नही। उनपर सगीति में यह आरोप भी लगाया गया कि उन्होने स्त्रियो को सघ मे प्रवेश करने के लिए भगवान् से अभ्यर्थना की थी और भगवान् से परिनिर्वाण के समय यह नही पूछा कि कौन-कौन क्षुद्र नियम हटाये जा सकते हैं। उस समय भिक्षुओ में जो ज्येष्ठ स्थविर होता था, वह प्रमुख होता था। उस समय सवसे ज्येष्ठ, आज्ञात-कौण्डिन्य थे। यह पचवर्गीय भिक्षुओ में से थे। दीपवश के अनुसार उस समय आठ प्रमुख थे। महाकाश्यप का स्थान अन्तिम था। उसपर भी प्रथम सगीति के वही प्रधान वनाये गये। फिर, हम देखते हैं कि प्रमुख के अधिकार वढ गये थे। जहाँ पहले सघ का पूर्ण अधिकार था, वहाँ अव प्रमुख का अधिकार हो गया। सघ त्रिरत्नो में मे एक था। भिक्षु और उपासक सघ में शरण लेते थे, न कि किसी आचार्य या प्रमुख मे। प्रमुख को सघ के निर्णयो को कार्यान्वित करना पडता था, वह अपने मन्तव्यो को सघ पर लाद नही सकता था। अत, दीपवश में सघ स्वय सगीति के सदस्यो को चुनता है। किन्तु, दीपवश और चुल्लवग्ग के अनुसार महाकाश्यप ने ५०० अर्हतो

को प्रवचन का सग्रह करने के लिए चुना। अशोकावदान में भी प्रमुख आचार्यों का चुनाव सघ नही करता है; किन्तु एक आचार्य से दूसरे आचार्य को अधिकार हस्तान्तरित होते है। पुराने समय मे सघ का जो आधिपत्य था, वह जाता रहा और प्रमुखो का अधिकार कायम हो गया।

प्राचीन काल में सघ का अध्यक्ष स्थविर होता था और उसकी व्यवस्था शिथिल थी। पीछे तीन, चार या आठ स्थविरो की परिषद् होती थी, जिसके हाथ में समस्त अधिकार होते थे। तत्पश्चात् यह परिषद् भी नही रही और एक प्रमुख हो गया। इन परिवर्त्तनो का शिक्षा पर भी अनिवार्य रूप से प्रभाव पडा। सघ के स्थान मे एक व्यक्ति के प्रतिष्ठित होने से और उपासको का प्रभाव घट जाने से अर्हत् का आदर्श सर्वोच्च हो गया।

हम देख चुके हैं कि दीपवश के अनुसार महाकाश्यप धुतवादी थे। इसका समर्थन 'मज्झिमनिकाय' के महागोसिगसुत्त से भी होता है।

जिस समय प्रथम सगीति का प्रचलित विवरण लिपिबद्ध हुआ, उस समय ऐसा मालूम होता है, आरण्यक का बडा प्रभाव था। इसलिए, आनन्द या अन्य स्थविर को सगीति का प्रमुख न बनाकर महाकाश्यप को प्रमुख बनाया और उन्होने केवल अर्हतो को सग्रह के काम के लिए चुना। क्योकि, धर्म का सग्रह आनन्द के विना न हो सकता था, इसलिए वे उद्योग करके शीघ्र अर्हत् हो गये और उसके पश्चात् सगीति में सम्मिलित किये गये।

आगे चलकर जब भिक्षु विहार, सघाराम मे रहने लगे, तब धुतवाद का ह्रास होने लगा, किन्तु नियमो का पालन कठोरता के साथ होने लगा और एकाधिकार वढने लगा।

द्वितीय अध्याय

बुद्ध की शिक्षा में सार्वभौमिकता

अब हम बुद्ध की शिक्षा पर विचार करेंगे। बुद्ध का उपदेश लोकभाषा में होता था, क्योकि उनकी शिक्षा सर्वसाधारण के लिए थी। बुद्ध के उपदेश उपनिषद् के वाक्यो का स्मरण दिलाते है। उनकी शिक्षा की एक बड़ी विशेषता सार्वभौमिकता थी। इसी कारण एक समय बौद्धधर्म का प्रचार एक बहुत बडे भूभाग में हो सका। उन्होने मोक्ष के मार्ग का आविष्कार किया, किन्तु वह मार्ग प्राणिमात्र के लिए खुला था। जन्म से कोई बडा होता है या छोटा—इसे वे नही मानते थे। वृपलसूत्र (सुत्तनिपात) में वे कहते हैं—

"जन्म से कोई वृपल नही होता, जन्म से कोई ब्राह्मण नही होता। कर्म से वृपल होता है, कर्म से ब्राह्मण होता है। हे ब्राह्मण! इस इतिहास को जानो कि यह विश्रुत है कि चाण्डाल-पुत्र (श्वपाक) मातग ने परम यश को प्राप्त किया। यहाँतक कि अनेक क्षत्रिय और ब्राह्मण उसके स्थान पर जाते थे। अन्त में वह ब्रह्मलोक को प्राप्त हुआ। ब्रह्मलोक की उपपत्ति में जाति बाधक नही हुई।"

'आश्वलायन-सूत्र' में भगवान् से आश्वलायन ब्राह्मण माणवक ने कहा कि "हे गौतम! ब्राह्मण ऐसा कहते हैं—ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, अन्य वर्ण हीन हैं, ब्राह्मण ही शुद्ध होते हैं, अब्राह्मण नही, ब्राह्मण ही ब्रह्मा के औरस पुत्र है, उनके मुख से उत्पन्न हुए हैं—आप इस विषय में क्या कहते हैं?"

भगवान् ने उत्तर दिया—"हे आश्वलायन! क्या तुमने सुना है कि यवन कम्बोज में और अन्य प्रत्यन्तिक जनपदो मे दो वर्ण हैं—आर्य और दास। आर्य से दास होता है, दास से आर्य होता है।"

"हाँ, मैंने ऐसा सुना है।"

"हे आश्वलायन! ब्राह्मणो को क्या बल है, जो वे ऐसा कहते है कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, अन्य हीन वर्ण हैं। क्या मानते हो कि केवल ब्राह्मण ही सावद्य (पाप) से प्रतिविरत होकर स्वर्ग मे उत्पन्न होते है, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नही?"

"नही गौतम।"

"क्या तुम मानते हो कि ब्राह्मण ही मैत्र-चित्त की भावना में समर्थ है, ब्राह्मण ही नदी मे स्नान कर शरीरमल को क्षालित कर सकते है? इस विषय में क्या कहते हो? यदि क्षत्रिय-कुमार ब्राह्मण-कन्या के साथ सवास करे और उसके पुत्र उपन्न हो, तो वह पुत्र पिता के भी सदृश है, माता के भी सदृश है। उसे क्षत्रिय भी कहना चाहिए, उसे ब्राह्मण भी कहना

चाहिए। हे आश्वलायन ! यदि ब्राह्मण-कुमार क्षत्रिय की कन्या के साथ सवास करे और उसके पुत्र पैदा हो, तो क्या उसे क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनो न कहेंगे ?"

"हाँ, कहेंगे, गौतम !"

"हे आश्वलायन ! मै चारो वर्णो को शुद्ध मानता हूँ।"

'सुन्दरिक-भारद्वाज-सूत्र' में भगवान् कहते है कि जाति मत पूछो, आचरण पूछो—(मा जाति पुच्छ चरण च पुच्छ)। हवन के लिए लाये हुए काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है। नीच और अकुलीन भी धृतिमान् और श्रेष्ठ होता है। वासेट्ठपुत्त-सुत्त मे वासिष्ठ और भारद्वाज दो माणवक भगवान् के समीप आते है और कहते है कि हममें जातिवाद के सम्बन्ध मे विवाद है। भारद्वाज कहता है कि जन्म से ब्राह्मण होता है और वासिष्ठ कहता है कि कर्म से होता है। बताइए, हममें से कौन ठीक है ? बुद्ध कहते है कि जिस प्रकार कीट-पतग, चतुष्पद, मत्स्य, पक्षी आदि जातियो में जातिमय पृथक्-पृथक् लिग होता है, उस प्रकार मनुष्यो मे नही होता।

मनुष्यो में जिस किसी की जीविका गो-रक्षा है, वह कृषक है, वह ब्राह्मण नही है, जिसकी जीविका व्यहार है, वह वणिक् है। जिसकी जीविका पौरोहित्य है, वह याजक है और जो राष्ट्र का भोग करता है, वह राजा है। किन्तु तप ब्रह्मचर्य, सयम और दम से ब्राह्मण होता है, जटा से, गोत्र से, जन्म से ब्राह्मण नही होता। जिसमे सत्य और धर्म है, वह शुचि है, वह ब्राह्मण है (धम्मपद ब्राह्मणवर्ग)। हे दुर्मेध ! तुम्हारी जटा और अजिन-शाटी से क्या होता है ? तुम्हारा आभ्यन्तर तो गहन है और तुम बाह्य का परिमार्जन करते हो। भगवान् कहते है कि लोक में जो नाना सज्ञाएँ प्रचलित है, वे भिक्षुभाव ग्रहण करने पर लुप्त हो जाती है, जैसे विभिन्न नदियाँ समुद्र में मिलकर अपने नाम-रूप को खो देती है। बौद्ध-सघ मे सबके लिए स्थान था। उस समय शूद्रो को तप करने का अधिकार न था, वे वेदाध्ययन भी नही कर सकते थे। श्रमणो ने सबके लिए नि श्रेयस् का मार्ग खोल दिया। बौद्धधर्म के प्रभाव से आगे चलकर अनेक अन्य सम्प्रदाय हुए, जिन्होने सबको समान रूप से यह अधिकार दिया।

भगवान् की शिक्षा व्यावहारिक थी। वे दु ख के अत्यन्त निरोध का उपाय बताते थे। लोक शाश्वत है अथवा अशाश्वत, लोक अन्तवान् है या अनन्त, जीव और शरीर एक है या भिन्न, तथागत मरण के पश्चात् होता है या नही—इत्यादि दृष्टियो का व्याकरण (व्याख्या) बुद्ध ने नही किया है, क्योकि उन्ही के शब्दो मे यह अर्थसहित नही है और ये ब्रह्मचर्य-प्रवण नही है। ये विराग, विरोध, उपशम, सम्बोध, निर्वाण सवर्त्तनीय नही है। ब्रह्मचर्य-वास इन दृष्टियो में से किसी पर आश्रित नही है। इन दृष्टियो के होते हुए भी, जन्म, जरा, मरण शोक, दु ख होते ही है, जिनका विघात इसी जन्म में हो सकता है। बुद्ध ने श्रावको से पूछे जाने पर इन प्रश्नो का उत्तर देने से इनकार किया। भगवान् 'अग्निवच्छगोत्त-सुत्त' मे पुन कहते है कि ये दृष्टियाँ कान्तार, गहन, सयोजन (बन्धन) आदि है। ये दु ख-परिदाह मे हेतु है, ये निर्वाण-सवर्त्तनीय नही है। इसलिए, मै इन दृष्टियो मे दोष देखता हूँ और इनका उपगम नही करता। तथागत सब दृष्टियो से अपनीत है। इसलिए, बुद्ध ऐसे प्रश्नो की गुत्थियो को

सुलझाने में नही लगे थे। यह तो दर्शनशास्त्र का विषय था। कुछ ने मोक्ष का उपाय वताया। इससे इन प्रश्नो का क्या सम्वन्ध है? आगे चलकर जब बौद्ध-दर्शनशास्त्र सगठित हुए, तब उन्होने इन प्रश्नो का उत्तर दिया। अन्य सम्प्रदायो से जब वाद-विवाद होता था, तब बौद्ध इन प्रश्नो का उत्तर देने के लोभ का सवरण न कर सके और बुद्ध की इस शिक्षा को वे भूल गये कि ये दृष्टियाँ अर्थ-सहित नही।

मध्यम मार्ग

भगवान् बुद्ध का वताया मार्ग मध्यम मार्ग कहलाता है, क्योकि यह दोनो अन्तो का परिहार करता है। जो कहता है कि आत्मा है, वह शाश्वत दृष्टि के पूर्वान्त मे अनुपतित होता है, जो कहता है कि आत्मा नही है, वह उच्छेद-दृष्टि के दूसरे अन्त मे अनुपतित होता है। उच्छेद और शाश्वत दोनो अन्तो का परिहार कर भगवान् मध्यमा प्रतिपत्ति (मार्ग) का उपदेश करते हैं। एक अन्त काममुखानुयोग है, दूसरा अन्त आत्मक्लमथानुयोग है। भगवान् दोनो का परिहार करते हैं। भगवान् कहते हैं कि देव और मनुष्य दो दृष्टिगतो से परिपुष्ट होते हैं। केवल चक्षुष्मान् यथाभूत देखता है। एक भव मे रत होते हैं। जब भवनिरोध के लिए धर्म की देशना होती है, तब उनका चित्त प्रसन्न नही होता। इस प्रकार वह इसी ओर रह जाते है। एक भव से जुगुप्सा कर विभव का अभिनन्दन करते है। वे मानते है कि उच्छेद ही शाश्वत और प्रणीत है। वे अतिधावन करते हैं। चक्षुष्मान् भूत को भूतत देखता है, भूत को भूतत देखकर वह भूत के विराग, निरोध के लिए प्रतिपन्न होता है। यह मध्यममार्ग अष्टागिक मार्ग है। भगवान् यह नही कहते कि मुझपर श्रद्धा रखकर विना समझे ही मेरे धर्म को मानो। भगवान् कहते है कि यह 'एहि पस्सिक', 'पच्चत वेदितव्व' धर्म है। भगवान् सवको निमन्त्रण देते है कि आओ और देखो, इस धर्म की परीक्षा करो। प्रत्येक को इसका अपने चित्त मे अनुभव करना होगा। यह ऐसा धर्म नही है कि एक मार्ग की भावना करे और दूसरा फल का अधिगम करे। दूसरे के साक्षात्कार करने से इसका साक्षात्कार अपने को नही होता। इसलिए भगवान् कहते है कि हे भिक्षुओ! तुम अपने लिए स्वय दीपक हो, दूसरे की शरण न जाओ। धम्मपद में भगवान् कहते हैं—**अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गती।** भगवान् एक सूत्र में कहते है कि धर्म प्रतिसरण है, पुद्गल (जीव) नही। प्रतिसरण का अर्थ है 'प्रमाण'। शास्ता भी प्रतिसरण नही है। एक ब्राह्मण आनन्द से पूछता है कि भगवान् ने या सघ ने किसी भिक्षु को नियत किया है, जो उनके पीछे प्रतिसरण होगा? आनन्द ने उत्तर दिया, नही। ब्राह्मण ने कहा कि विना प्रतिसरण के सघ की सामग्री (साकल्य) कैसे रहेगी? आनन्द ने कहा कि हम विना प्रतिसरण के नही हैं। धर्म हमारा प्रतिसरण है।

लोग आत्मकल्याण के लिए अनेक मगल-कृत्य करते है, तिथि, मुहूर्त्त, नक्षत्रादि का फल विचरवाते हैं, नाना प्रकार के व्रतादि करते है और उनकी यह दृष्टि होती है कि यह पर्याप्त है। उन्हें 'शीलव्रत-परामर्श' कहते है। इनमें अभिनिवेश होने से आत्मोन्नति का मार्ग वन्द हो जाता है। गृही के लिए दृष्टि का शोध कठिन होता है, क्योकि उसकी विविध दृष्टि होती है। इसलिए एक श्लोक में कहा है—

दु शोधा दृष्टिगृ हि णा नित्यं विविधदृष्टिना ।
भिक्षुणा त्वाजीव एव परे स्वायत्तवृत्तिना ॥

इसी प्रकार भिक्षु के लिए आजीव-परिशुद्धि कठिन है, क्योकि उसको अपनी वृत्ति के लिए दूसरो पर आश्रित होना होता है । भगवान् महामगल-सुत्त मे कहते हैं कि माता-पिता की सेवा, पुत्र-दार का सग्रह, दान, धर्मचर्या, अनवद्य कर्म—ये उत्तम मगल है । तप, ब्रह्मचर्य, आर्य-सत्यो का दर्शन, निर्वाण का साक्षात्कार, ये उत्तम मगल है ।

भगवान् कहते है कि वही सुखी है, जो जय-पराजय का त्याग करता है । जय वैर को उत्पन्न करता है, पराज्य दु ख का प्रसव करता है । अत , दोनो का परित्याग कर, उपशान्त हो, सुख का आसेवन करना चाहिए । राग, द्वेष और मोह—ये तीन अकुशल मूल है; इनका प्रहाण होना चाहिए । "राग के समान कोई अग्नि नही है, द्वेष के समान कोई कलि नही है, शान्ति के समान कोई सुख नही ।", "अक्रोध से क्रोध को जीते, साधुता से असाधुता को जीते, कदर्य को दान से और मृषावादी को सत्य से जीते ।"

इसलिए, भगवान् मैत्री-भावना की महिमा का वर्णन करते है । यह चार ब्रह्मविहारो में से एक है ।

मेत्तभाव-सुत्त मे भगवान् कहते है—जितनी पुण्य क्रियावस्तु है, वे सब मैत्री-भाव की १६वी कला के भी बराबर नही है । एक भी प्राणी मे दुष्टचित्त न होना चाहिए । सबके लिए मैत्री का भाव होना चाहिए । इस प्रकार, आर्य प्रभूत पुण्य करता है । जिसका किसी से वैर नही है, जो सब भूतो से मैत्री करता है, वह सुखी होता है । रतन-सुत्त मे सब भूतो के कल्याण की प्रार्थना है । भगवान् इद्रिय-सयम का महत्त्व बताते है । वे कहते है कि जिसके इन्द्रिय-द्वार अगुप्त है, जो भोजन में मात्रा का विचार नही करता, उसका चित्त और उसका काय दोनो दु खी होते है । स्मृति और सम्प्रजन्य से आत्मरक्षा होती है । ये द्वारपाल है, जो चित्तपथ की पाप, अकुशल से रक्षा करते है । तीन अकुशल वितर्क है—काम, व्यापाद और विहिसा । इनका परित्याग करना चाहिए । तीन कुशल वितर्को का—नैष्क्रम्य, अव्यापाद और अविहिसा का सग्रह करना चाहिए ।

इसलिए, भिक्षु की आजीव-शुद्धि होनी चाहिए । उसे मैत्री-विहारी और मन कायवाक् से सयत होना चाहिए । जो यथार्थ भिक्षु नही है, जो याचनक-मात्र है, जो दु शील है, उसके लिए भगवान् कहते है कि यह अच्छा है कि वह तप्त लोहे के गोले को खाये, इसकी अपेक्षा कि वह असयत राष्ट्रपिण्ड का भोग करे । पुन कहते है कि इस कारण्डक (यव की आकृति का तृण-विशेष, जो यवदूषी कहलाता है) को विनष्ट करो, इस कशम्बक (पूतिकाष्ठ) को अपकृष्ट करो, इस तण्डुल-विहीन व्रीहि को निष्क्रान्त करो (सुत्तनिपात, पृ० २८१) । यह अश्रमण है, किन्तु श्रमण होने का मान करता है ।

जो भिक्षु पतनीय का आपन्न होता है, उसको भगवान् ने भिक्षुओ के साथ सब प्रकार का सयोग करने से वहिष्कृत किया है । आहार के एक ग्रास का भी परिभोग उसके लिए मना

है, विहार के पार्ष्णिप्रदेश का परिभोग भी उसके लिए वर्जित है। भगवत्-आपन्न भिक्षु की उपमा मस्तकच्छिन्न तालवृक्ष से देते हैं जो विरूढि, वृद्धि, उपचय, विस्तार के लिए अभव्य हो जाता है। यथार्थ भिक्षु वह है, जिसने क्लेशों का भेद किया।

शिक्षात्रय

निर्वाण के लिए उद्योग करनेवाले भिक्षु को सब प्रकार के अभिनिवेश का परित्याग करना चाहिए। रति-अरति, जय-पराजय, पाप-पुण्य सबसे उसे परे होना चाहिए। जिस मार्ग से दुःख का निरोध होता है, उसमें अभिष्वंग नहीं होना चाहिए। भगवान् कहते हैं कि धर्म कोलोपम[1] है। यह निस्तार के लिए है, ग्रहण के लिए नहीं। इसलिए जो ज्ञानी हैं, उनको धर्म का परित्याग करना चाहिए, अधर्म का भी।

हम ऊपर कह चुके हैं कि भगवत् की चतुःसूत्री है। यह चार आर्य-सत्य कहलाते हैं। दुःख क्यों होता है और दुःख के निरोध का उपाय क्या है, यह बुद्ध ने बताया है। बौद्धों की साधना त्रिशिक्षा कहलाती है—शील-शिक्षा (अधिशील), समाधि-शिक्षा (अधिचित्त), प्रज्ञा (अधिप्रज्ञा)। यही विशुद्धि का मार्ग है। सभी जीव तृष्णारूपी जटा में विजटित हैं। जिस प्रकार वेणुवृक्ष गुल्मादि लता से भीतर-बाहर सब ओर आच्छादित और विनद्ध होता है, उसी प्रकार सब जीव तृष्णा से आच्छादित होते हैं। तृष्णा रूपादि आलम्बनवश बार-बार उत्पन्न होती है। तृष्णा का विनाश किये बिना दुःख का अत्यन्त निरोध नहीं होता। विगततृष्ण ही निर्वाण-पद का लाभ करता है। इस तृष्णा-जटा का विनाश करने से ही विशुद्धि होती है। इस विशुद्धि के अधिगम का क्या उपाय है? संयुत्तनिकाय में भगवान् कहते हैं कि जो मनुष्य शील में प्रतिष्ठित है, समाधि और विपश्यना (प्रज्ञा) की भावना करता है, वह प्रज्ञावान् और वीर्यवान् भिक्षु इस तृष्णा-जटा का नाश करता है। शील शासन की मूल भित्ति, आधार है। इसलिए शील शासन का आदि है, यही शासन की आदि-कल्याणता है। सर्वपाप से विरति ही शील है (सब्बपापस्स अकरण)। कुशल (शुभ) में चित्त की एकाग्रता समाधि है। यह शासन का मध्य है। प्रज्ञा, विपश्यना शासन का पर्यवसान है। जब योगी प्रज्ञा से देखता है कि संस्कार अनित्य हैं, सब संस्कार दुःख हैं, सब धर्म अनात्म हैं, तब निरोध होता है। यह प्रज्ञा इष्ट-अनिष्ट में तादि-भाव (समभाव) का आवाहन करती है।

जैसे शैल वात से ईरित नहीं होता, वैसे ही पण्डित निन्दा और प्रशंसा से विचलित नहीं होता।

शील से अपाय (पाप) का अतिक्रम होता है, समाधि से कामधातु का और प्रज्ञा से सर्वभव का समतिक्रम होता है। समाधि क्लेशों का निष्कम्भन करती है, अर्थात् उनको अभिभूत करती है और प्रज्ञा उनका समुच्छेद करती है। एक दूसरी दृष्टि से शील से दुश्चरित्र का, समाधि से तृष्णा-संक्लेश का और प्रज्ञा से दृष्टि-संक्लेश का विशोधन होता है।

---

१ पालि—कुल्ला, संस्कृत—कौल। तृण, काष्ठ, शाखा और पलाश को लाकर बाँधते हैं और उसके सहारे नदी पार करते हैं।

प्राणातिपातादि वधादिविरमन और भिक्षुओ के लिए उपदिष्ट वर्त्त-प्रतिपत्ति (कर्त्तव्य-आचार) की, सवर आदि की पूर्त्ति शील है। दो शुक्ल धर्मो के होने से शील की उत्पत्ति, स्थिति होती है। यह ह्री और अत्रपा है। ये दो शुक्ल धर्म लोक का पालन करते हैं। शील-सम्पन्न पुद्गल की तीन शुचियाँ होती है—काय, वाक्, चेतस्। उपासक के लिए पाँच विरति है और भिक्षुओ के लिए दस। ये पञ्च-शील और दश-शील कहलाती है।—

(१) प्राणातिपात-विरति, (२) अदत्तादान°, (३) अब्रह्मचर्य°, (४) मृषावाद°; (५) सुरामद्यमैरेय°, (६) अकालभोजन°, (७) नृत्यगीत-वादित्र°, (८) माल्य-गन्ध-विलेपन°, (९) उच्चासनशयन° तथा (१०) जातरूप-रजत-प्रतिग्रह°।

जो भिक्षु शिक्षापदो की रक्षा करता है, जो आचार-गोचर-सम्पन्न है, अर्थात् जो मनसा, वाचा, कर्मणा अनाचार नही करता और योगक्षेम चाहनेवाले कुलो का आसेवन करता है, जो अणुमात्र भी पाप से डरता है, जिसकी इन्द्रियाँ सवृत है, जो आजीव के लिए पाप धर्मो का आश्रय नही लेता, अर्थात् जिसका आजीव परिशुद्ध है, जो भिक्षु परिष्कारो का उपयोग प्रयोजनानुसार करता है, जो शीतोष्ण से शरीर-रक्षा के लिए और लज्जा के लिए चीवर धारण करता है, शरीर को विभूषित करने के लिए नही, जो शरीर की स्थिति के लिए आहार करता है—इत्यादि, उस भिक्षु का शील परिपूर्ण होता है।

इन प्रकार, शीलसम्पन्न होकर समाधि की भावना करनी चाहिए। कुशल चित्त की एकाग्रता समाधि है। जबतक चित्त सुभावित नही होता, तबतक राग से उसकी रक्षा नही होती। जैसे अच्छी तरह छाये हुए घर की वृष्टि से हानि नही होती, उसी प्रकार सुभावित चित्त मे राग को अवकाश नही मिलता (धम्मपद)।

अनेक प्रयोगो से चित्त को समाहित करते है। यहाँ सबका वर्णन करना सम्भव नही है। आगे समाधि-प्रकरण मे इसका विस्तार से वर्णन करेंगे। यहाँ केवल दिङ्मात्र का निदर्शन करते है। कल्याणमित्र से चर्यानुकूल कोई कर्मस्थान (योगानुयोग की निष्पत्ति मे हेतु) का ग्रहण करना चाहिए। उदाहरण के लिए, मृत्पिण्ड, नीलपीतादि पुष्प या वस्त्र का ध्यान करते है। चार या पाँच ध्यान है। जब अभ्यासवश ध्यान विशद होते है, तब समापत्ति (समाधि)-कौशल प्राप्त होता है। अन्य भी कर्मस्थान है, किन्तु अशुभ, आनापान-स्मृति और मैत्री-भावना का विशेष महत्त्व है। रागाग्नि के उपराम के लिए अशुभ सज्ञा है। 'काय को अशुभ, अशुचि समझना' यह अशुभ-सज्ञा है। इससे रागानुशय प्रहीण होता है। आनापान-स्मृति प्राणायाम का प्रयोग है। इससे काम और चित्त की प्रश्रब्धि होती है। इस कर्मस्थान की भावना से भगवान् कहते है कि पाप, अकुशल-धर्म ज्यो ही उत्पन्न होते है, त्यो ही अन्तर्हित हो जाते है। इसकी भगवान् ने बहुत प्रशसा की है। यह स्वभाव से ही शान्त और प्रणीत है। द्वेषाग्नि के उपशम के लिए मैत्री-भावना है, इससे शान्ति का अधिगम होता है। बुद्ध कहते हैं कि क्षान्ति परम तप है, क्षान्ति का बल बडा है। मैत्री-भावना करनेवाला प्रार्थना करता है कि सब सत्त्व सुखी हो, सबका क्षेम-कल्याण हो। वह सब दिशाओ को मैत्री-सहगत-चित्त से व्याप्त करता है। मैत्री-भावना चार ब्रह्म-विहारो में से एक है। अन्य ब्रह्म-विहार मुदिता, करुणा, उपेक्षा है।

इनका उल्लेख योगसूत्र में है। इस प्रकार, समाधि द्वारा चित्त को कुशल, शुभ धर्मों में समाहित कर क्लेशो को अभिभूत करते है। किन्तु, इससे क्लेश निर्मूल नही होते। इसके लिए प्रज्ञा की भावना करनी होती है। 'इतिवुत्तक' में कहा है कि मोहाग्नि के उपशम के लिए निर्वेधगामिनी प्रज्ञा की आवश्यकता है। 'प्रज्ञा' कुशल (शुभ)-चित्त, सप्रयुक्त-विपश्यना, ज्ञान है। धर्मों के स्वभाव का प्रतिवेध करना प्रज्ञा का लक्षण है। समाधि इसका आसन्न कारण है; क्योकि समाहित चित्त ही यथाभूतदर्शी होता है। सब सस्कार अनित्य और दु ख है, सब सस्कार अनात्म है। लोक शाश्वत है, इत्यादि मिथ्यादृष्टि का प्रहाण प्रज्ञा से होता है।

प्रतीत्य-समुत्पाद

दु ख का समुदय, हेतु,—दु ख की उत्पत्ति कैसे होती है, इसका यथाभूत ज्ञान दु ख-निरोध के लिए आवश्यक है। इस क्रम को प्रतीत्य-समुत्पाद (हेतु-फलपरम्परा) कहते है। बुद्ध की देशना में इसका ऊँचा स्थान है। इसलिए, हम सक्षेप में इसका निर्देश करेंगे। इसके बारह अग है—अविद्या, सस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति तथा जरामरण। इस प्रक्रिया मे केवल दु ख-स्कन्ध (राशि) का समुदय होता है।

हेतु-प्रत्ययवश धर्मों की उत्पत्ति होती है। अविद्या-प्रत्ययवश सकार होते है, सस्कार-प्रत्ययवश विज्ञान होता है एवमादि। अत, प्रतीत्य-समुत्पाद प्रत्यय-धर्म है और प्रतीत्य-समुत्पन्न उन-उन प्रत्ययो से अभिनिर्वृत्त, उत्पन्न धर्म है। द्वादश प्रतीत्य-समुत्पाद को तीन काण्डो में विभक्त करते है—अविद्या और सस्कार अतीत मे, पूर्व-भव मे, जाति और जरामरण अपर-भव में, शेष आठ अग वर्तमान-भव में। हमारा यह आशय नही है कि मध्य के आठ अग सब जीवो के प्रत्युत्पन्न (वर्त्तमान) भव मे नित्य पाये जाते हैं। यहाँ हम उस सन्तति का विचार करते है, जो सर्वा ग है। प्रतीत्य-समुत्पाद की इस कल्पना मे जो विविध अग है, हम उनका यहाँ सक्षेप में वर्णन करते है। आगे चलकर प्रतीत्य-समुत्पाद-वाद के प्रसग में विस्तृत विवेचन करेंगे।

१. **अविद्या**—पूर्वजन्म की क्लेश-दशा है। यहाँ पूर्वजन्म की सन्तति, जो क्लेशावस्था में होती है, अभिप्रेत है।

२. **सस्कार**—पूर्वजन्म की कर्मावस्था है। पूर्वभव की सन्तति पुण्य-अपुण्यादि कर्म करती है। यह पुण्यादि कर्मावस्था 'सस्कार' है।

३ **विज्ञान**—प्रतिसन्धि-स्कन्ध है। प्रतिसन्धि-क्षण (उपपत्ति-क्षण) में कुक्षि के जो पच-स्कन्ध होते है, वह विज्ञान है।

४ **नामरूप**—इस क्षण से लेकर षडायतन की उत्पत्ति तक 'नामरूप' है।

५ **षडायतन**—इन्द्रियो के प्रादुर्भाव-काल से इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के सन्निपात-काल तक 'षडायतन' है।

६ **स्पर्श**—सुख-दु खादि के कारण ज्ञान की शक्ति के उत्पन्न होने से पूर्व स्पर्श है।

जबतक बालक सुख-दु खादि के कारण को समझने में समर्थ नही होता, तबतक की अवस्था 'स्पर्श' है।

७ **वेदना**—मैथुन से पूर्व, यावत् मैथुन-राग का समुदाचार नही होता, तबतक की अवस्था 'वेदना' है।

८ **तृष्णा**—भोग और मैथुन की कामना करनेवाले जीव की अवस्था तृष्णा है। रूपादि कामगुण और मैथुन के प्रति राग का समुदाचार 'तृष्णा' की अवस्था है। इसका अन्त तब होता है, जब इसके प्रभाव से जीव भोगो की पर्येष्टि आरम्भ करता है।

९ **उपादान**—'उपादान' का तृष्णा से विवेचन करते है। यह उस जीव की अवस्था है, जो भोगो की पर्येष्टि में दौड-धूप करता है। वह भोगो की प्राप्ति के लिए सब ओर प्रधावित होता है।

१० **भव**—उपादानवश सत्त्व कर्म करता है, जिसका फल अनागत-भव है। 'भव' कर्म है, जिसके कारण जन्म होता है। यह 'कर्मभव' है। जिस अवस्था में जीव कर्म करता है, वह 'भव' है।

११. **जाति**—यह पुन॰ प्रतिसन्धि है। मरणानन्तर प्रतिसन्धि-काल के पच स्कन्ध 'जाति' है। प्रत्युत्पन्न-भव की समीक्षा मे जिस अग को 'विज्ञान' का नाम देते है, उसे अनागत भव की समीक्षा में 'जाति' की सज्ञा मिलती है।

१२ **जरामरण**—वेदनाग तक जरामरण है। प्रत्युत्पन्न-भव के चार अग—नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना—अनागत-भव के सम्बन्ध मे जरामरण' कहलाते है।

अगो का नाम-सकीर्त्तन उस धर्म के नाम से होता है, जिसका वहाँ प्राधान्य है। प्रतीत्य-समुत्पाद की देशना पूर्वान्त, अपरान्त और मध्य के समोह की विनिवृत्ति के लिए है। इसी हेतु से प्रतीत्य-समुत्पाद की देशना त्रिकाण्ड मे है। यह समोह कि मै अतीत अध्व में था या नही, यह समोह कि मै अनागत अध्व मे हूँगा या नही, यह समोह कि हम कौन है, यह क्या है, इत्यादि अविद्या—जरामरण के यथाक्रम उपदेश से विनष्ट होता है। प्रतीत्य-समुत्पाद के तीन अग क्लेश है, दो अग कर्म है; सात वस्तु और फल है।

यह प्रश्न हो सकता है कि जब प्रतीत्य-समुत्पाद के बारह अग है, तो ससरण की आदि कोटि होगी; क्योकि अविद्या का हेतु निर्दिष्ट है। ससरण की अन्त कोटि भी होगी, क्योकि जरामरण का फल निर्दिष्ट नही है ? ऐसा नही है। क्लेश से क्लेश और कर्म की उत्पत्ति होती है। इनसे वस्तु की, वस्तु से पुन वस्तु और क्लेश की उत्पत्ति होती है। भवागो का यह नय है। अविद्या जो शीर्ष स्थान में है, अहैतुकी नही है। वह भी प्रत्ययवश उत्पन्न होती है। वह प्रकृतिवादियो की प्रकृति के तुल्य अकारण नही है। यह लोक का मूल कारण नही है। उसका भी कारण है। इस प्रकार भवचक्र अनादि है। कर्मक्लेश-प्रत्ययवश उत्पत्ति, उत्पत्तिवश कर्म-क्लेश, कर्मक्लेश-प्रत्ययवश पुनरुत्पत्ति होती है। किन्तु, यदि हेतु-प्रत्यय का विनाश हो तो, हेतु-प्रत्यय से अभिनिर्वृत्त की उत्पत्ति नहीं होगी—यथा दग्ध-बीज से अकुर की उत्पत्ति नहीं होती।

अष्टांगिक मार्ग

वह कौन-सा उपाय है, जिससे कर्म-क्लेश का अत्यन्त निरोध होता है? यह आर्य अष्टागिक मार्ग है। इसे उत्तम मार्ग कहा है। इसके आठ अग इस प्रकार है—

सम्यग्दृष्टि, सम्यक्सकल्प, सम्यग्व्यायाम, सम्यक्स्मृति, सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त, सम्यगाजीव तथा सम्यक्समाधि।

इसमे शील, समाधि और प्रज्ञा का समावेश है। सम्यग्दृष्टि का शीर्ष स्थान है; क्योकि सम्यग्दृष्टि से विशोधित शील और समाधि इष्ट है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि क्लेश-कर्मवश दुःख की उत्पत्ति होती है। अत, दुःख के निरोध के लिए क्लेश-बीज को दग्ध करना चाहिए। क्लेश-बीज 'अनुशय' है, जो अणु होते है। इनका सूक्ष्म प्रचार होता है, ये दुर्विजेय है, ये पुष्टि-लाभ करते है। विना प्रयोग के ही और निवारण करने पर भी इनका पुन-पुन सम्मुखीभाव होता है। अनुशय सात है—कामराग, भवराग, प्रतिघ, मान, अविद्या, दृष्टि तथा विचिकित्सा। इनमें से कोई दर्शन-हेय है और कोई भावना-हेय है। भावना पुन-पुन: सत्यदर्शन है। यह समाहित-कुशल चित्त है। चित्त-सन्तति को समाहित-कुशल अत्यन्त वासित करता है, गुणो से तन्मय करता है, जैसे फूल से तिल को वासित किया जाता है।

शील और चित्त को विशुद्ध कर चार स्मृत्युपस्थान की भावना करते है। इन्हे भगवान् ने कुशल-राशि कहा है। इस अभ्यास में काम, वेदना, चित्त और धर्मों के स्वलक्षण और सामान्यलक्षणो की परीक्षा करते हैं। योगी विचार करता है कि सब सस्कृत अनित्य हैं, सब सास्रव-धर्म दुःख है, सब धर्म शून्य और अनात्मक हैं, काम का स्वभाव चार महाभूत और भौतिक रूप है। इस अभ्यास मे चार निर्वेधभागियो का लाभ होता है। ये चार कुशल-मूल हैं—उष्मगत, मूर्धन्, क्षान्ति और अग्रधर्म। ये लौकिक सम्यग् दृष्टि की चार उत्कृष्ट अवस्थाएँ हैं। जब धर्म-स्मृत्युपस्थान में स्थित हो, योगी समस्त आलम्बन को अनित्यत, दुःखत, शून्यत और निरात्मत देखता हो, तब 'उष्मगत' (एक प्रकार का कुशल-मूल) की उत्पत्ति होती है। यह आर्यमार्ग का पूर्व निमित्त है। यह वह उष्म (अग्नि) है, जो क्लेशरूपी ईन्धन को दग्ध करता है। चतु सत्य इसका गोचर है और इसके १६ आकार है। उष्मगत से 'क्रमेण' की उत्पत्ति होती है। ये तत्सम होते हैं, किन्तु प्रणीत होने के कारण इनको दूसरा नाम देते है। 'मूर्ध' शब्द प्रकर्ष पर्यन्तवाची है। चार कुशल मूलो का यह शीर्ष है, क्योकि इससे परिहाणि हो सकती है। मूर्धन् से 'क्षान्ति' उत्पन्न होती है। 'क्षान्ति' सज्ञा इसलिए है, क्योकि इस अवस्था में आर्य-सत्यो मे अत्यन्त रुचि होती है। 'क्षान्ति' के तीन प्रकार है--मृदु, मध्य और अधिमात्र। मृदु और मध्य तद्वत् है। अधिमात्र 'क्षान्ति' का विषय कामाप्त दुःख है। इनसे लौकिक अग्रधर्म उत्पन्न होते है। ये सास्रव होने से लौकिक है। ये भी अधिमात्र क्षान्ति के तुल्य कामाप्त दुःख को आलम्बन बनाते है और एक-क्षणिक है। इस प्रकार, स्मृत्युपस्थान प्रणीततम होते है और सत्यो के अनास्रव-दर्शन (अभिसमय) का आवाहन करते है।

इन्हें निर्वेधभागीय कहते हैं; क्योंकि ये निश्चित-वेध हैं। इनसे विचिकित्सा का प्रहाण और सत्यो का वेध (विभजन) होता है, "यह दु ख है, यह दु ख-समुदय है, यह निरोध है, यह मार्ग है।" यह प्रयोग-मार्ग है। अब प्रहाण-मार्ग आता है, जिससे क्लेशो का प्रहाण होता है। अब सत्यो के अनास्रव-दर्शन (सत्याभिसमय) का आरम्भ होता है। यह अनास्रव प्रज्ञा है, यह सर्व-विपर्यास से विनिर्मुक्त, रागादि सर्वक्लेश-रहित है। यह सत्यो के सामान्य- लक्षणो का ग्रहण करती है। योगी पहले कामधातु के दु ख-सत्य का दर्शन करता है। पहले क्षण मे वह सकल विचिकित्सा का अन्त करता है। यह प्रमाण-मार्ग है, यह आनन्तर्य-मार्ग है। यह प्रथम क्षण 'सम्यक्त्वनियमावक्रान्ति' कहलाता है, इस समय से योगी आर्य कहलाता है। वह श्रामण्य के प्रथम फल मे प्रतिपन्न हो जाता है।

जब विचिकित्सा का नाश होता है, तब दूसरे क्षण मे वह एक क्लेश-प्रकार से विमुक्त होता है। यह विमुक्ति-मार्ग है। इसी प्रकार अन्य क्षणो मे वह रूप और आरूप्य-धातु के दु ख-सत्य का दर्शन करता है। इसी प्रकार, वह अन्य सत्यो का दर्शन करता है और अमुक-अमुक क्लेश-प्रकार से विमुक्त होता है। इस प्रक्रिया के समाप्त होने पर भावना-मार्ग का आरम्भ होता है। उस समय योगी स्रोत-आपन्न-फल का अधिगम करता है। उसकी विमुक्ति निश्चित हो जाती है और आशु होती है। वह अधिक-से-अधिक सात या चौदह जन्मो मे निर्वाण का लाभ करेगा।

दर्शन-मार्ग केवल दृष्टियो का समुच्छेद करता है। यह राग-द्वेष का उपच्छेद नही करता, जो केवल भावना-हेय है। यह अभ्यास का, पुन -पुन आमुखीकरण का मार्ग है। योगी दर्शन-मार्ग से व्युत्थान कर अनास्रव भावना-मार्ग में प्रवेश करता है। इसमे सत्य का पुन -पुन दर्शन करना होता है। इस भावना से योगी नौ प्रकार के क्लेशो का क्रम से प्रहाण करता है। जो छठे प्रकार के कामावचर-क्लेशो का प्रहाण करता है, वह सकृदागामी होता है। वह केवल एक बार और काम-धातु मे उपन्न होगा। जो नौ प्रकार के इन क्लेशो का प्रहाण करता है, वह अनागामी होता है। वह कामधातु में पुनरुत्पन्न न होगा। जिस प्रहाण-मार्ग से योगी भवाग्र के क्लेशो के नवे प्रकार का प्रहाण करता है, उसे वज्रोपम-समाधि कहते हैं। इसके अनन्तर विमुक्ति-मार्ग है। तब योगी अर्हत्, अशैक्ष हो जाता है। वह क्षय-ज्ञान और अनुत्पाद-ज्ञान से समन्वागत होता है।

सक्षेप मे यह मोक्ष की साधना है। आगे इसका विस्तार से वर्णन होगा।

पंचशील

मोक्ष की प्राप्ति अत्यन्त दुष्कर है। गृहस्थ के लिए अनेक विघ्न हैं। उसके लिए यह साधना सुलभ नही है। साधारणत, वे स्वर्गोपपत्ति चाहते हैं। उनके लिए शील की शिक्षा है। उपासक होने के लिए त्रिशरण-गमन की विधि है। जो उपासक होना चाहता है, वह बुद्ध, धर्म और सघ की शरण में जाता है। "बुद्ध शरण गच्छामि, धर्मं शरण गच्छामि, सघ शरण गच्छामि" ये त्रिरत्न हैं। बुद्ध की शरण मे जाने का अर्थ है बुद्धकारक धर्मो की शरण में जाना।

उपासकों के पंचशील ये हैं—

१ प्राणातिपात-विरति, २ अदत्तादान-विरति, ३ काम-मिथ्याचार-विरति, ४ मृषावाद-विरति तथा ५ सुरा-मैरेय-प्रमाद-स्थान-विरति।

उपासक धर्म-श्रवण करते हैं, उपवास-व्रत रखते हैं, भिक्षुओं को दान देते हैं, चार तीर्थों की यात्रा करते हैं। चार तीर्थ ये हैं—कपिलवस्तु, बोधिगया, सारनाथ, कुसिनारा। उपासक को भद्रक-शील और भद्रक-दृष्टि से समन्वागत होना चाहिए। उसको मानसिक, कायिक तथा वाचिक दुश्चरित से बचना चाहिए। उसको सुचरित करना चाहिए। इस प्रकार, वह अपाय-गति से बचता है और स्वर्ग में उत्पन्न होता है।

बुद्ध स्वर्ग-नरकादि मानते थे। उनका लोकवाद वही था, जो कि उस समय के वैदिकों का था। केवल अर्हत् को वे सबसे ऊँचा और उत्तम पद समझते थे। वास्तव में दीर्घायु देव की अवस्था अक्षणावस्था है, क्योंकि इसमें धर्म-प्रविचय अशक्य है।

उस काल में ऋद्धि-प्रातिहार्य का बड़ा प्रभाव था। सब धर्मों में अद्भुत कर्मों का प्रभाव रहा है। बौद्ध-धर्म भी इससे न बच सका। किन्तु, बुद्ध ने भिक्षुओं को 'उत्तरि मनुस्सधम्म' दिखाने से मना किया और अनुशासनी-प्रातिहार्य (उपदेश) का सबसे अधिक महत्त्व बताया, अर्थात् धर्मोपदेश ही सबसे बड़ा अद्भुत कर्म है।

तृतीय अध्याय

बुद्ध-देशना की भाषा तथा उसका विस्तार

भगवान् बुद्ध ने किस भाषा मे धर्म का उपदेश दिया था, यह जानने के लिए हमारे पास पर्याप्त साधन नही है। बुद्धघोष का कहना है कि यह भाषा मागधी थी और उनके अनुसार पालि-भाषा की प्रकृति मागधी-भाषा है। रीस् डेविड्स का कहना है कि बुद्ध की मातृभाषा कोशल की भाषा थी और इसी भाषा मे बुद्ध ने धर्म का प्रचार किया, क्योकि कोशल के राजनीतिक प्रभाव के कारण यह भाषा उस समय दिल्ली से पटना तक और श्रावस्ती से अवन्ती तक बोली जाती थी। उसका यह भी मत है कि पालि-भाषा कोशल की बोलचाल की भाषा से निकली थी। पालि-भाषा की बनावट पर यदि दृष्टि डाली जाय और उसकी तुलना अशोक के शिला-लेखो की भाषा से की जाय, तो मालूम पडेगा कि पालि गिरनार-लेख की भाषा से मिलती-जुलती है। इस कारण वेस्टरगार्ड और ई० कुह्न ने पालि को उज्जैन की भाषा से सम्बद्ध बताया। उनका कहना है कि अशोक के पुत्र (या भाई) महेन्द्र का जन्म उज्जैन में हुआ था और उन्होने ही लका-द्वीप मे बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। उनका कहना है कि यह स्वाभाविक है कि महेन्द्र ने अपनी मातृभाषा का प्रयोग धर्मप्रचार के कार्य में अवश्य किया होगा। इस कारण उसके मत में पालि उज्जैन की भाषा से सम्बन्ध रखती है। जो कुछ हो, भाषा की बनावट को देखते हुए हम यह निर्विवाद रूप से कह सकते है कि पालि भारत के पश्चिम प्रदेश की कोई भाषा मालूम पडती है और इसके विकास मे सस्कृत का अच्छा खासा हाथ है।

यह हम निश्चित रूप से नही कह सकते कि भगवान् बुद्ध ने किस भाषा मे धर्म का प्रचार किया, पर चुल्लवग्ग से हमको यह मालूम है कि भगवान् बुद्ध किसी भाषा-विशेष पर जोर नही देते थे। चुल्लवग्ग (५।३३।१) में लिखा है कि किसी समय दो भिक्षुओ ने भगवान् से शिकायत की कि भिक्षु बुद्ध-वचन को अपनी-अपनी बोली में (सकाय-निरुत्तिया) परिवर्त्तित कर रहे है। इसलिए, उन्होने भगवान् से निवेदन किया कि सस्कृत (=छन्दस्) के प्रयोग की आज्ञा प्रदान की जाय, जिसमें एक भाषा मे सारे बुद्ध-वचन सुरक्षित रहें और भिन्न-भिन्न प्रदेश के भिक्षु अपनी इच्छा के अनुसार बुद्धवचन को भिन्न-भिन्न रूप न दे सकें। बुद्ध ने उत्तर दिया कि मै भिक्षुओ को अपनी-अपनी भाषा के प्रयोग करने की आज्ञा देता हूँ (अनुजानामि भिक्खवे सकाय-निरुत्तिया बुद्ध-वचन परियापुणितु) और उनकी प्रार्थना स्वीकार नही की। बुद्ध शब्द-विशेष के प्रयोग का महत्त्व नही मानते थे। उनकी केवल यही इच्छा थी कि लोग 'धर्म' को जाने और उसका अनुसरण करे। इस आज्ञा के अनुसार भिक्षु बुद्ध शिक्षा को पैशाची, अपभ्रश, सस्कृत, मागधी या अन्य किसी भाषा मे उपनिवद्ध कर सकते

थे। हमारे पास इसका पर्याप्त प्रमाण है कि भिक्षुओं ने इस आदेश के अनुसार कार्य भी किया। विनीतदेव (८वीं शताब्दी ई०) का कहना है कि सर्वास्तिवादी संस्कृत, महासांघिक प्राकृत, सम्मितीय अपभ्रंश और स्थविरवादी पैशाची भाषा का प्रयोग करते थे।[1] वासिलीफ[2] का कहना है कि पूर्व-शैल और अपर-शैल के प्रज्ञा-ग्रन्थ प्राकृत में थे। बौद्धों के धार्मिक ग्रन्थ, पालि, गाथा, संस्कृत, चीनी और तिब्बती भाषाओं मे पाये जाते है। मध्य-एशिया की खोज में बौद्धनिकाय के कुछ ग्रन्थों के अनुवाद मंगोल, निगूर, सोग्डियन, कुचनी और नार्डर भाषा में पाये गये हैं।

सबसे प्राचीन ग्रन्थ जो उपलब्ध है, पालि-भाषा मे है। पालिनिकाय को त्रिपिटक कहते है। सूत्र, विनय और अभिधर्म—ये निकाय के तीन विभाग (पिटक) है। त्रिपिटक के सब ग्रन्थ एक समय में नहीं लिखे गये। इनमें सूत्र और विनय अपेक्षया प्राचीन है। दीपवंश के अनुसार 'पहलीधर्म-संगीति में धर्म (सूत्र) और विनय का पाठ हुआ। अभिधर्म का इस सम्बन्ध में उल्लेख नहीं मिलता। वैशाली की धर्म-संगीति में चुल्लवग्ग के अनुसार केवल विनय के ग्रन्थों का पाठ हुआ था। वैशाली की संगीति के समय संघ में भेद हुआ। इस भेद का फल यह हुआ कि भिक्षु-संघ दो भागों में विभक्त हो गया—स्थविरवाद और महासांघिकवाद। दीपवंश और महावंश के अनुसार विनय के दस नियमों को लेकर ही संघ में भेद हुआ था। महासांघिकों को परिवार-पाठ (विनय का एक ग्रन्थ) नहीं मान्य था। अभिधर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कथावत्थु'की रचना अशोक के समय मे हुई। सूत्रपिटक के कुछ ग्रन्थ बाद के मालूम पडते है। पेतवत्थु, विमानवत्थु, बुद्धवंश, अवदान, चरियापिटक और जातक में दस पारमिता, बुद्धपूजा, चैत्यपूजा, स्तूपपूजा, भिक्षादान, विहारदान, आराम-आरोपण की महिमा वर्णित हैं। बुद्धवंश में 'प्रणिधान' और विमानवत्थु मे 'पुण्यानुमोदन' का उल्लेख पाया जाता है। इनकी चर्चा महायान के ग्रन्थों में प्रायः मिलती है। इस कारण यह ग्रन्थ पीछे के मालूम होते है। पालिनिकाय के समय के सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। सामान्यत, विद्वानों का मत है कि इसका अधिकांश दूसरी धर्म-संगीति के पूर्व प्रस्तुत हो चुका था जब बौद्ध-धर्म का सिंहलद्वीप में प्रवेश और प्रसार हुआ, तब दक्षिण के प्रदेशों के लिए यह द्वीप एक अच्छा केन्द्र बन गया। यहाँ पालिनिकाय का विशेष आदर हुआ। निकाय-ग्रन्थों पर सिंहल की भाषा में टीकाएँ भी लिखी गई, जिनको आगे चलकर प्रसिद्ध टीकाकार बुद्धघोष ने पालि-रूप दिया। बुद्धघोष का जन्म ३६० ई० के लगभग गया में हुआ। यह रेवत का शिष्य था। अनुराधपुर (लंका) के महाविहार में रहकर उन्होंने संघपाल से शिक्षा पाई और सिंहली भाषा मे लिखी हुई टीकाओं का पालि मे अनुवाद किया। उन्होंने 'विसुद्धिमग्गो' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखा। पाँचवीं शताब्दी में सिंहलद्वीप में पालि में दीपवंश और महावंश लिखे गये। पाँचवीं शताब्दी के

---

१. श्रीआशुतोष मुकर्जी, सिलवर जुबली, भाग ३; ओरियण्टेलिया, भाग ३, पृ० ८७ में 'हिस्ट्री आव अर्ली बुद्धिस्ट स्कूल्स' नामक रेयूकन कीमुरा-विरचित निबन्ध देखिए।
२ वासिलीफ. बुद्धिज्मस, पृ० २६१.।

दूसरे भाग मे काचीपुर मे धर्मपाल नाम के एक स्थविर हुए। इन्होने ने भी पालि मे टीकाएँ लिखी। लका, बर्मा और श्याम मे जो पालि-ग्रन्थ लिखे गये है, वे चौथी शताब्दी से पूर्व के नही है। यह पालिनिकाय स्थविरवाद का निकाय है और लका, बर्मा, स्याम और कम्बोज में इसकी मान्यता है। इस प्रकार, पालि-साहित्य का प्रसार होने लगा।

पालि-साहित्य का रचनाप्रकार एवं विकास

हम कह चुके है कि बुद्ध के समय में इसके प्रचार का क्या क्षेत्र था। यह धर्म अवन्ति तक पहुँचा था। 'उदान' से ज्ञात होता है कि अवन्ति-दक्षिणापथ में भिक्षुओ की सख्या अल्प थी। महाकात्यायन अवन्ति-राष्ट्र मे विहार करते थे। तीन वर्ष में ये कठिनता से १० भिक्षु बना सके। बुद्ध के निर्वाण पर प्रथम धर्म-सगीति, धर्म-सभा राजगृह में हुई, जिसमें धर्म और विनय का सग्रह हुआ। धर्म सूत्रान्त है, जिनमें बुद्ध के उपदेश है। 'धर्म' अभिधर्म नही है। विनय मे भिक्षु आदि के नियम है। त्रिपिटक पीछे के है। चुल्लग्ग (११ खन्धक) आगम को दो भागो में विभक्त करता है—धर्म और विनय। इसमे 'पिटक' शब्द का उल्लेख नही है। 'पिटक' का अर्थ है 'पिटारा'। तीन पिटक है—सूत्र, विनय तथा अभिधर्म। 'त्रिपिटक' शब्द प्राचीन है। प्रथम शताब्दी के शिलालेखो मे 'तेपिटक' शब्द का प्रयोग है। अभिधर्म-पिटक के पहले आगम के दो ही विभाग थे। चुल्लवग्ग, १२ खन्धक मे रेवत के सम्बन्ध में कहा है कि उसको 'धर्म' विनय और मातृका (पालि-मातिका) कण्ठस्थ है। यहाँ आगम त्रिविध है, किन्तु अभी अभिधर्म नही है। प्रथम धर्म-सगीति के विवरणो में भी मातृका का उल्लेख मिलता है। 'ए यू मेंग किंग' मे कहा है कि महाकाश्यप ने स्वय मातृका का व्याख्यान किया। एक दूसरे विवरण मे मातृका-पिटक का उल्लेख है। 'दिव्यावदान' में ये शब्द है—सूत्रस्य विनयस्य मातृकायाः। मातृका शब्द का क्या अर्थ है? धर्मगुप्तो के विनय में विनय-मातृका है। इसमें विनय के विषयो की विस्तृत तालिका है। मालूम होता है कि इसी को परिवर्धित कर विनय की रचना हुई है। अतः, यह तालिका एक प्रकार से उसकी माता है। इसीलिए इसे मातृका कहते है।

विनय-मातृका मे पिण्डपात, चीवर, शयनासन आदि के नियमो की तालिका थी। पालि-विनय में प्राचीन मातृका का स्थान 'खन्धक' ने लिया। इसको दो भागो में विभक्त किया—महावग्ग और चुल्लवग्ग। किन्तु, हैमवतो के विनय में मातृका सुरक्षित है। इसी प्रकार, एक धर्म-मातृका रही होगी। सूत्रान्तो की बहुत सख्या थी। उनके विषय विविध थे। इसलिए, उनके सक्षिप्त विवरण की आवश्यकता थी, जिसमे देशना का सार सक्षेप मे मालूम हो जाय। यह एक प्रकार की अनुक्रमणिका थी। इसका नमूना सगीति-सुत्तन्त है। यह 'दीघनिकाय' में है। सर्वास्तिवाद के अभिधर्मो मे सगीति-पर्याय के नाम से यह मातृका पाई जाती है। इसी धर्म-मातृका की वृद्धि होने से अभिधर्म-पिटक की रचना हुई। सूत्र-पिटक के पाँच निकाय या आगम है। प्राय. पाँच निकाय है, किन्तु सर्वास्तिवाद में चार आगम ही सुरक्षित है।

मांची के लेखो में एक भिक्षु को 'पचनेकायिक' (पञ्चनैकायिक) कहा है। यह शब्द भरहूत के लेख मे (द्वतीय शताब्दी ईसा-पूर्व) भी पाया जाता है। ये पाँच निकाय या आगम इस प्रकार है—दीर्घ, मध्यम, सयुक्त, एकोत्तर तथा क्षुद्रक।

सूत्रो की लम्बाई के अनुसार यदि उनकी व्यवस्था की जाय, तो सव सूत्रो का समावेश केवल तीन आगमो में ही—दीर्घ, मध्यम और क्षुद्रक में—हो सकता था। शेष दो निरर्थक प्रतीत होते हैं। सयुक्त और एकोत्तर में क्षुद्र-सूत्र ही हैं। सयुक्त में विषय के अनुसार सूत्रो का क्रम है, एकोत्तर में धर्मों की सख्या के अनुसार क्रम है। ऐसा मालूम होता है कि ये दो पीछे से जोडे गये है। यह भी मालूम होता है कि दीर्घ सूत्रो से पहले छोटे-छोटे सूत्र थे।

हमने ऊपर कहा है कि सूत्रपिटक के लिए पहले 'धर्म' शब्द का प्रयोग होता था। धर्म के नौ अग भी वर्णित है। पालि के अनुसार ये इस प्रकार है—सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, अब्भुत-धम्म तथा वेदल्ल। जिस प्रकार वेद के अग है, जैन आगम के अग है, उसी प्रकार आरम्भ मे वौद्धो में भी प्रवचन के अग थे। हम देखते हैं कि पहला अग सूत्र है। सूत्र के अतिरिक्त अन्य कई अग है। उस समय 'सूत्र' एक प्रकार की देशना को कहते थे, जिसका आरम्भ इन शब्दो से होता था—पाँच स्कन्ध है। ये पाँच स्कन्ध कौन है ? पुन १८ आयतन है। ये १८ क्या है ? इत्यादि। आकार में ये छोटे होते थे। इनमें धर्मो के नाम और उनके लक्षण होते थे। जिस प्रकार माला में दाने पिरोये जाते है, उसी प्रकार ये विविध धर्म एक सूत्र में ग्रथित होते थे। इस अवस्था में दीर्घ सूत्र नही हो सकते थे। आगे चलकर जव सूत्रो की सख्या में वृद्धि हुई, और उनके कलेवर की वृद्धि हुई, तव सव प्रकार के उपदेशो को 'सूत्र' कहने लगे। इससे ज्ञात होता है कि त्रिपिटक-विभाग की अपेक्षा अगो का विभाग प्राचीन है।

अव हम अन्य अगो का विचार करेंगे। दूसरा 'गेय्य' (सस्कृत 'गेय') है। इसका अर्थ है 'छन्दोवद्ध ग्रन्थ'। 'गेय' और 'गीति' एक ही है। 'गीति' एक प्रकार का छन्द भी है; यह आर्या जाति का है। हो सकता है कि 'गेय' एक प्रकार का गान हो, जो आर्या जाति के छन्द में लिखा गया हो। 'गाथा' भी एक प्रकार का श्लोक है, जो गाया जाता है। ऐसा ज्ञात होता है कि 'गेय' और 'गाथा' आरम्भ में भिन्न-भिन्न छन्दो के श्लोक थे। हलायुध के छन्द शास्त्र के अनुसार सस्कृत में जो 'आर्यागीति' है, वह प्राकृत मे 'स्कन्धक' है। सस्कृत में जो 'आर्या' है, वह प्राकृत में 'गाथा' है। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म के दो अग—गेय और गाथा—किसी छन्द-विशेष के श्लोक नही, किन्तु ऐसे श्लोको के सग्रह है। 'गेय्य' आर्या जाति है, गाथा आर्या है। पालि का 'वेदल्ल' सस्कृत का 'वैतालीय' मालूम होता है। हलायुध के अनुसार सस्कृत का वैतालीय प्राकृत की 'मागधिका' है। जैन आगम का एक भाग 'वेतालीय' कहलाता है। मज्झिमनिकाय के ४३ और ४४ का शीर्षक 'वेदल्ल' है, किन्तु इनमें श्लोक नही, सुत्तन्त है। हो सकता है कि यह भाग निकाल दिया गया हो, जैसा कि प्राय. देखा जाता है। 'मागधिका' शब्द द्रष्टव्य है, क्योंकि सवसे पहले सूत्र पालि में लिखे गये। वौद्ध

बुद्ध की भाषा को मागधी मानते है, यद्यपि पालि मे वैयाकरणो की मागधी के विशेष चिह्न नही मिलते। श्रीरीस् डेविड्स पालि के मूल को कोशल की भाषा मानते है।

सक्षेप में यह सिद्ध होता है कि गेय्य, गाथा और वेदल्ल—ये सग्रह उस-उस छन्द के नाम पर है, जिसमे ये लिखे गये है। उदान और इतिवुत्तक भी छन्दोबद्ध है। जातक (जन्मकथा) भी श्लोको का सग्रह है। जातक का वर्गीकरण श्लोको की सख्या के अनुसार है। इसमें बुद्ध के पूर्वजन्मो से सम्बन्ध रखनेवाले श्लोक-मात्र है। जातकट्ठकथा (जातक की अर्थकथा-टीका) में कथाभाग है। इस प्रकार, आरम्भ में, आगम मे पद्य का प्राधान्य था। उसका यह अर्थ नहीं कि गद्य का अभाव था। साथ-साथ सरल अर्थ-कथा (व्याख्या) रही होगी, जिसके विना श्लोको को समझना सम्भव नही था, किन्तु श्लोको के समान उनका प्रामाण्य न था। जबतक बुद्ध-वचन लिपिबद्ध न हुआ था, तबतक धर्म, बुद्धवचन का रूप ऐसा रहा होगा, जिसके पाठ में सुविधा हो और जो सुगमता से कण्ठस्थ हो सके। उस समय आर्या और वैतालीय छन्द सामान्य व्यवहार मे आते रहे होगे। धम्मपद से मालूम होता है कि श्लोक का भी व्यवहार होता था। बुद्धवचन का अर्थ बताने के लिए धर्मधरों को एक मौखिक टीका की आवश्यकता पडी। यह 'अर्थ' था। जब बौद्धधर्म का प्रचार मगध के बाहर हुआ, तब इन टीकाओ की और भी आवश्यकता अनुभूत हुई होगी; क्योकि मूल को ठीक से समझने में अन्य जनपदो के लोगो को कठिनाई होती होगी।

आरम्भ मे ये टीकाएँ विभिन्न रही होगी। पीछे से इनका रूप स्थिर हो गया होगा और यह भी शिक्षा का अग हो गया होगा। इस प्रकार, प्रवचन की समृद्धि हुई। नये आचार्यो का मत कुछ वस्तुओ पर प्राचीनो से भिन्न था। जो इन परिवर्त्तनो के विरुद्ध थे, वे बुद्धवचन के आधार पर इनका विरोध करना चाहते थे। इस प्रकार, अर्थ को धर्म की प्रामाणिकता प्रदान करने की आवश्यकता हुई। आम्नाय के अनुसार प्रथम महासगीति ने आगम का सग्रह किया। इस प्रकार, आगम में गद्य की प्रधानता हो गई और धीरे-धीरे गेय्य, गाथा, वेदल्ल जो पृथक् अग थे, विलुप्त हो गये। सस्कृत-आगम में 'वेदल्ल' का वैपुल्य हो गया। लोग 'वेदल्ल' के मूल अर्थ को भूल गये और वडे आकार के सूत्रो को वैपुल्य कहने लगे। धीरे-धीरे अगो का विभाजन भी लुप्त हो गया और इसका स्थान सूत्रो के आकार के अनुसार वर्गीकरण ने लिया। 'सूत्र' एक अग-मात्र न रहा। इसका एक पिटक ही हो गया और अगो के स्थान मे निकाय या आगम हो गये। खुद्दकनिकाय मे ही कुछ पुराने अग रह गये, यथा जातक, उदान, इतिवुत्तक। यह पालि-आगम की कथा है। यह सग्रह प्राचीन है। पीछे जब बौद्ध-धर्म मध्यदेश मे फैला, जहाँ सस्कृत का प्राधान्य था, प्रवचन का सग्रह सस्कृत में हुआ। सर्वास्ति-वादियो का अपना सूत्रपिटक था। यह पालि-पिटक से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। इसके अश ही पाये गये है। सर्वास्तिवादी चार आगम मानते थे—दीर्घ, मध्यम, सयुक्त तथा एकोत्तर। सर्वास्तिवादियो के अभिधर्म-पिटक मे सात ग्रन्थ है। ये ज्ञानप्रस्थान और उसके छह पाद है। कात्यायनीपुत्र का ज्ञानप्रस्थान, धर्मस्कन्धपाद, सगीतिपर्यायपाद, प्रज्ञप्तिपाद, विज्ञानकायपाद, प्रकरणपाद तथा धातुकायपाद। आगे चलकर ज्ञानप्रस्थान की एक टीका लिखी गई, जिसे

महाविभाषा कहते हैं। एक आभिधार्मिक है, जो—'पट्पादाभिधर्ममात्रपाठी', है, ये विभाषा को नहीं मानते। एक है, जो ' भाषिक' है। सर्वास्तिवादी और वैभाषिक अभिधर्म को बुद्धवचन मानते हैं। सौत्रान्तिक अभिधर्म-पिटक को बुद्धवचन नहीं मानते। उनका कहना है कि सूत्र में ही बुद्ध ने अभिधर्म की शिक्षा दी है। इसलिए, उन्हें सौत्रान्तिक कहते हैं। महाविभाषा की रचना के १५० वर्ष बाद आचार्य वसुबन्धु और सघभद्र का समय है (५ वीं शताब्दी)। वसुबन्धु के रचे ग्रन्थ ये हैं—अभिधर्मकोश, पचस्कन्ध, त्रिशिका और विंशिका। सघभद्र का न्यायानुसार अभिधर्मकोश की टीका है। इनका दूसरा ग्रन्थ अभिधर्म-प्रकरण (?) है।

त्रिपिटक तथा अनुपटिको का संक्षिप्त परिचय

विनय-पिटक—भिक्षुओं के आचरण का नियमन करने के लिए भगवान् बुद्ध ने जो नियम बनाये, वे 'प्रातिमोक्ष' (पातिमोक्ख) कहे जाते हैं। इन्हीं नियमों की चर्चा विनय-पिटक में है। पिटको में विनय-पिटक का स्थान सर्वप्रथम है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसकी रचना सर्वप्रथम हुई थी। प्रातिमोक्ष की महत्ता इसी से सिद्ध है, कि भगवान् ने स्वय कहा था कि उनके न रहने पर भी प्रातिमोक्ष और शिक्षापदो के कारण भिक्षुओ को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होता रहेगा और इस प्रकार सघ स्थायी होगा।

प्रारम्भ में केवल १५२ नियम बने होंगे, किन्तु विनय-पिटक की रचना के समय उनकी सख्या २२७ हो गई थी। सुत्तविभग, जो विनय-पिटक का प्रथम भाग है, वस्तुत इन्हीं २२७ नियमो का विधान करनेवाले सुत्तों की व्याख्या है।

विनय-पिटक का दूसरा भाग 'खन्धक' कहा जाता है। महावग्ग और चुल्लवग्ग ये दोनो खन्धक में समाविष्ट है। महावग्ग में प्रव्रज्या, उपोसथ, वर्षावास, प्रवारणा आदि से सम्बन्ध रखनेवाले नियमों का सग्रह है और चुल्लवग्ग में भिक्षु के पारस्परिक व्यवहार और सघाराम-सम्बन्धी तथा भिक्षुणियों के विशेष आचार का सग्रह है।

भगवान् बुद्ध की साधना का रोचक वर्णन महावग्ग में आता है और उनकी जीवन-कथा का यह भाग ही प्राचीनतम प्रतीत होता है। 'महावस्तु' और 'ललितविस्तर' में इसी प्रकार का वर्णन पाया जाता है।

विनयपिटक का अन्तिम अ श परिवार है। सम्भव है, यह भाग बहुत बाद में बना हो और उसे सिंहल के किसी भिक्षु ने बनाया हो। इसमें वैदिक अनुक्रमणिकाओ की तरह कई प्रकार की सूचियों का समावेश है।

सुत्त-पिटक—भगवान् के लोकोपकारी उपदेशो और सवादो का सग्रह सुत्त-पिटक में है। इस पिटक में १ दीघनिकाय, २ मज्झिमनिकाय, ३. सयुत्तनिकाय, ४ अगुत्तनिकाय और ५ खुद्दकनिकाय—इन पाँच निकायो का समावेश है।

दीघनिकायादि ग्रन्थों में किस प्रसग में कहाँ भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिया, यह बताकर उपदेश या किसी के साथ होनेवाले वार्त्तालाप—सवाद का रोचक ढग से सग्रह किया गया है। सामान्य रूप से इन ग्रन्थों में जो सुत्त हैं, वे गद्य में हैं।

दीघनिकाय मे ३४ सुत्त हैं। ये सुत्त लम्बे हैं, अतएव दीघ या दीर्घ कहे गये हैं। इनमे शील, समाधि और प्रज्ञा का विस्तृत रोचक वर्णन है। दीघनिकाय के प्रथम ब्रह्मजाल-सुत्त में तत्कालीन धार्मिक और दार्शनिक मन्तव्यो का जो सग्रह है, वह भारतीय दर्शनो के प्राचीन इतिहास की सामग्री की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दूसरे सामञ्ञफल-सुत्त मे भगवान् बुद्ध के समकालीन धर्मोपदेशको के मन्तव्यो का वर्णन है। वर्ण-धर्म-व्यवस्था के विषय मे बुद्ध का मन्तव्य तीसरे अम्बट्ठ-सुत्त में सगृहीत है, जो प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था का अच्छा चित्र खडा करता है। पाचवे तेविज्ज-सुत्त मे वैदिक धर्म के विषय मे बुद्ध ने जो कटाक्ष किया है और यज्ञो का जो विरोध किया है, उसका सग्रह करके बुद्ध की दृष्टि मे यज्ञ कैसे करना चाहिए, उसका वर्णन किया गया है। इसी प्रकार के कई सुत्त दीघनिकाय मे हैं, जो तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और दार्शनिक परिस्थिति के हमारे ज्ञान में वृद्धि करने के साथ ही तत्तद्विषय मे बौद्ध मन्तव्य को भी स्पष्ट करते है।

मज्झिमनिकाय मे मध्यम आकार के १५२ सुत्तो का सग्रह है। दीघनिकाय की तरह इन सुत्तो में भी बुद्ध के उपदेश के ऊपर सवादो का सग्रह है। इसमें चार आर्य-सत्य, निर्वाण, कर्म, सत्कायदृष्टि, आत्मवाद, ध्यान आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयो की चर्चा है और बौद्धधर्म के मन्तव्य का स्पष्टीकरण है। इसमे भी अस्सलायन-सुत्त मे वर्णव्यवस्था के दोष वताये गये हैं और तत्कालीन भारत की सामाजिक परिस्थिति का सुन्दर चित्रण किया गया है। दृष्टान्त, कथा और उपमा के द्वारा वक्तव्य को हृदयगम करने की शैली इस निकाय-ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। आख्यान की शैली मे अगुलिमाल की कथा ८६वे सुत्त में रोचक ढग से कही गई है। वह एक भयकर डाकू था, किन्तु वह भिक्षु बन गया और निर्वाण को भी प्राप्त हुआ। जातक की शैली की भी कई कथाएँ इस सुत्त मे सगृहीत हैं, जैसे सुत्त ८२ और ८३ में। इसके अतिरिक्त बुद्ध के कई प्रधान शिष्यो के बारे में भी ज्ञातव्य सामग्री सगृहीत है। प्रसिद्ध महापरिनिब्बान-सुत्त, जिसमें बुद्ध के निर्वाण-काल का चित्र खडा किया गया है, वह भी इसी निकाय मे है। इस निकाय के अध्ययन से हमारे समक्ष बुद्धकालीन भारत का स्पष्ट चित्र खडा होता है।

तीसरे सयुत्तनिकाय मे ५६ सयुत्तो का सग्रह है। जैसे देवता-सयुत्त मे देवताओ के वचनो का सग्रह किया गया है। मार-सयुत्त में बुद्ध को चलित करने के लिए किये गये मार के प्रयत्नो का सग्रह है। भिक्खुणी-सयुत्त मे भी भिक्षुणियो को चलित करने के लिए किये गये मार के प्रयत्नो का वर्णन है। अनतमग्ग-सयुत्त में ससार की अनादिता और उसके भयकर दु खो का वर्णन है। ध्यान-सयुत्त में ध्यान का वर्णन है। मातुगाम-सयुत्त मे नारी के गुण और दोष तथा उसके फल का वर्णन है। सक्क-सयुत्त मे बुद्ध के प्रति इन्द्र की भक्ति का निदर्शन है। अन्तिम सच्च-सयुत्त मे चतुरार्यसत्य की विवेचना की गई है।

इस ग्रन्थ मे काव्य की दृष्टि से भी पर्याप्त सामग्री है। महाभारत के यक्ष-युधिष्ठिर-सवाद की तरह इसमे भी यक्ष-युद्ध का रोचक सवाद है (१०–१२)। लोक-कविता का अच्छा सग्रह मार और भिक्खुणी-सयुत्त मे मिलता है।

चौथे अगुत्तरनिकाय मे २३०८ सुत्त है और उनमें एक वस्तु से लेकर ग्यारह वस्तुओं का समावेश क्रमश किया गया है। प्रथम निपात मे एक क्या-क्या है, वह सब गिनाया गया है और इसी प्रकार ग्यारहवे निपात मे ग्यारह-ग्यारह वस्तुओ का सग्रह किया गया है। इसमे विषय-वैविध्य होना स्वाभाविक है।

खुद्दकनिकाय में क्षुद्र, अर्थात् छोटे-छोटे उपदेशो का सग्रह है। इस निकाय में निम्नाकित ग्रन्थो का समावेश है

१ खुद्दकपाठ—इसमें बौद्धधर्म में प्रवेश पानेवाले के लिए जो सर्वप्रथम जानना आवश्यक होता है, उसका सग्रह है। जैसे—त्रिशरण, दश शिक्षापद, उर-शरीर के अवयवो का सग्रह, एक से दस तक की ज्ञेय वस्तुओ का सग्रह आदि।

२ धम्मपद—बौद्ध-ग्रन्थो मे सर्वाधिक प्रसिद्ध यह ग्रन्थ है। इसमे नैतिक उपदेशो का सग्रह है।

३ उदान—धम्मपद मे एक विपय की निरूपक अनेक गाथाओ का सग्रह वग्गो मे किया गया है, जब कि उदान मे एक ही विपय का निरूपण करनेवाली अल्पसख्यक गाथाओ का सग्रह है। प्रासगिक दो-चार गाथाओ मे अपने मन्तव्य को बुद्ध ने यहाँ व्यक्त किया है।

४ इतिवुत्तक—भगवान् ने ऐसा कहा, इस मन्तव्य से जिन गाथाओ और गद्याशो का सग्रह किया गया, वह इतिवुत्तक-ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ मे उपमा का सौन्दर्य और कथन की सरलता द्रष्टव्य है।

५ सुत्तनिपात— भगवान् बुद्ध के प्राचीनतम उपदेशो का सग्रह है।

६–७ विमानवत्थु और पेतवत्थु—ये दो ग्रन्थ क्रमश देवयोनि और प्रेतयोनि का वर्णन करते है।

८–९ थेरगाथा और थेरीगाथा—इन दो ग्रन्थो मे बौद्ध-भिक्षु और भिक्षुणियो ने अपने-अपने अनुभवो को काव्य में व्यक्त किया है। लोक-कविता के ये दोनो ग्रन्थ सुन्दर नमूने है।

१० जातक—भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म के सदाचारो को व्यक्त करनेवाली ५४७ कथाओ का सग्रह जातक-ग्रन्थ में है। भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास इन कथाओ मे सुरक्षित है। अतएव, इस दृष्टि से उसका महत्त्व हमारे लिए अत्यधिक है। नीति-शिक्षण की दृष्टि से इन कथाओ की बराबरी करनेवाला ग्रन्थ अन्यत्र दुर्लभ है।

११ निद्देश—यह ग्रन्थ सुत्तनिपात के अट्ठकवग्ग और खग्गविसाण-सुत्त की व्याख्या है।

१२ पटिसभिदामग्ग—मे प्राणायाम, ध्यान, कर्म, आर्यसत्य, मैत्री आदि विपयो का निरूपण है।

१३. अपदान—जातक मे भगवान् बुद्ध के पूर्वभवो के सुचरितो का वर्णन है, तो अपदान में अर्हतो के पूर्वभवो के सुचरितो का वर्णन है।

१४ बुद्धवश—इसमें गौतम-बुद्ध से पहले होनेवाले अन्य २४ बुद्धो के जीवन-चरित वर्णित है।

१५. **चरियापिटक**—यह खुद्दकनिकाय का अन्तिम ग्रन्थ है। इसमे ३५ जातको का सग्रह है, और बुद्ध ने अपने पूर्वभव मे कौन-सी पारमिता किस भव मे किस प्रकार पूर्ण की, इसका वर्णन है।

अभिधम्म-पिटक—भगवान् बुद्ध के उपदेशो के आधार पर बौद्ध दार्शनिक विचारो की व्यवस्था इस पिटक मे की गई है। इसमे १ धम्मसगणि, २. विभग, ३. धातु-कथा, ४ पुग्गल-पञ्ञत्ति, ५ कथावत्थु, ६ यमक और ७. पट्ठान—इन सात ग्रन्थो का समावेश है।

धम्मसगणि मे धर्मो का वर्गीकरण और व्याख्या की गई है।

विभग मे उन्ही धर्मों के वर्गीकरण को आगे बढाया है और भगजाल खडा किया गया है।

धातुओ का प्रश्नोत्तर रूप में व्याख्यान धातु-कथा में है।

पुग्गलपञ्ञत्ति मे मनुष्यो का विविध अगो मे वर्गीकरण किया गया है। इसका अगुत्तरनिकाय के ३—५ निपात के साथ अधिक साम्य है। मनुष्यो का वर्गीकरण गुणो के आधार पर विविध रीति से इसमे किया गया है।

कथावत्थु का महत्त्व बौद्धधर्म के विकास के इतिहास के लिए सर्वाधिक है। पिटकान्तर्गत होने पर भी इसके लेखक तिस्ट-मोग्गलिपुत्त है, जो तीसरी सगीति के अध्यक्ष थे। यद्यपि यह ग्रन्थ ई० पू० तीसरी शताब्दी मे उक्त आचार्य ने बनाया था, फिर भी उसमे क्रमश बौद्धधर्म मे जो मतभेद हुए, उनका भी सग्रह बाद मे होता रहा है। प्रश्नोत्तर-शैली मे इस ग्रन्थ की रचना हुई है। मतान्तरो का पूर्वपक्ष-रूप मे समर्थन करके फिर उनका खण्डन किया गया है। खास करके आत्मा है या नही, ऐसे प्रश्न उठाकर बौद्ध-मन्तव्य की स्थापना की गई है।

यमक मे प्रश्नो का उत्तर दो प्रकार से दिया गया है और कथावत्थु तक के ग्रन्थो से जिन शकाओ का समाधान नही हुआ, उनका विवरण इसमे किया गया है।

पट्ठान को महापकरण भी कहते ह। इसमे नाम और रूप के २४ प्रकार के कार्यकारण-भाव-सम्बन्ध की चर्चा है और बताया गया है कि केवल निर्वाण ही असस्कृत है, बाकी सब धर्म सस्कृत है।

पिटकेतर पालिग्रन्थ

पिटकबाह्य पालिग्रन्थो के निर्माण का श्रेय सिलोन के बौद्ध भिक्षुओ को है, किन्तु इसमे मिलिन्दप्रश्न अपवाद है। इतना ही नही, किन्तु समस्त पालि-वाङ्मय मे शैली की दृष्टि से भी यह बेजोड है। इसके लेखक का पता नही, किन्तु यह उत्तर-पश्चिम भारत मे बना होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है। ग्रीक-सम्राट् मिनेण्डर (ई० पू० प्रथम श०) को ही मिलिन्द कहा गया है और आचार्य नागसेन के साथ उनके सवाद की योजना इस ग्रन्थ मे होने से इसका सार्थक नाम 'मिलिन्दप्रश्न' है। इस ग्रन्थ की प्राचीनता और प्रामाणिकता इसी से सिद्ध होती है कि आचार्य बुद्धघोष ने इस ग्रन्थ को पिटक के समान प्रामाणिकता दी है। मूल मिलिन्दप्रश्न के कलेवर में बाद मे आचार्यो ने समय-समय पर वृद्धि भी की है।

इस ग्रन्थ में बौद्ध-दर्शन के जटिल प्रश्नो को, जैसे अनात्मवाद, क्षणभगवाद के साथ-साथ कर्म, पुनर्जन्म, निर्वाण आदि को सरल उपमाएँ देकर तार्किक दृष्टि से सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

'मिलिन्दप्रश्न' के समान ही 'नेत्तिपकरण' भी प्राचीन ग्रन्थ है, जो कि महाकच्चान की कृति मानी जाती है। बुद्ध के उपदेशो का व्यवस्थित सार इसमें दिया गया है। इसी कोटि का एक अन्य प्रकरण 'पेटकोपदेश' महाकच्चान ने बनाया, ऐसा माना जाता है। पिटको में प्रवेशक ग्रन्थके रूप में यह एक अच्छा प्रकरण है।

प्राचीन सिलोनी अट्ठकथाओ के आधार पर बुद्धघोष (चौथी-पाँचवी शताब्दी) ने विनयपिटक दीघ, मज्झिम, अगुत्तर और सयुत्तनिकायो की टीका की। इन्होंने ही सम्पूर्ण अभिधम्मपिटक की भी व्याख्याएँ लिखी। ये व्याख्याएँ अट्ठकथा कही जाती है। धम्मपद और जातक की अट्ठकथाएँ भी बुद्धघोष-कृत हैं, ऐसी परम्परागत मान्यता है।

इन्होंने ही अनुराधपुर के महाविहार के स्थविरो के आज्ञानुसार 'विसुद्धिमग्गो' नामक ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ एक तरह से समस्त पिटक-ग्रन्थो की कुजी के समान है, अतएव उसे 'तिपिटक-अट्ठकथा' भी कहा जाता है। इसमें शील, समाधि और प्रज्ञा का २३ अध्यायो में विस्तार से वर्णन है। इस ग्रन्थ की धम्मपाल-स्थविर ने पाँचवी शती मे 'परमत्थमजूषा' टीका की है। इसी धर्मपाल ने थेरगाथा, थेरीगाथा, विमानवत्थु आदि खुद्दकनिकाय के ग्रन्थों की टीका की है। धम्मपाल के अनन्तर दसवी और बारहवी शती के बीच में अनिरुद्ध आचार्य ने 'अभिधम्मत्थ-सगहो' नामक एक ग्रन्थ लिखा। अभिधम्म-पिटक में प्रवेशक ग्रन्थ के रूप में यह ग्रन्थ बेजोड़ है। इसकी अनेक टीकाएँ बनी है।

चतुर्थ अध्याय

निकायों का विकास

बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् शासन निकायो (सम्प्रदाय) में विभक्त होने लगा। चुल्लवग्ग के अनुसार निर्वाण के १०० वर्ष के पश्चात् सघ मे भेद हुआ। वैशाली के भिक्षु नियमो के पालन मे शिथिल थे। कुछ वस्तुओ पर उनका मतभेद था। इन मतभेदो को लेकर पश्चिम और पूर्व के भिक्षुओ के दो पक्ष हो गये। झगडे को शान्त करने के लिए ७०० भिक्षुओ की सभा हुई और इन्होने ८ स्थविरो की एक परिषद् चुनी, जिसमे चार पूर्व के सघ के और चार पश्चिम के सघ के प्रतिनिधि रखे गये। उस समय पूर्वसघ का प्रधान स्थान वैशाली था। यही ७०० भिक्षुओ की सभा हुई थी। इस सभा के पूर्व और पश्चिम के भिक्षुओ ने अपनी एक सभा मथुरा के पास अहोगग में की थी। यश पहले कौशाम्बी गये और वहाँ से उन्होने भिक्षुओ को आमन्त्रित करने के लिए सन्देश भेजे थे। ६६ के लगभग पश्चिम के भिक्षु, जो सब आरण्यक धुतगवादी थे, यश के निमन्त्रण पर आये और अवन्ती के ८८ भिक्षु भी आये, जिनमें थोडे ही धुतगवादी थे,। इस वृत्तान्त से मालूम होता है कि उस समय बुद्ध-शासन के तीन केन्द्र थे—वैशाली, जहाँ ७६० भिक्षुओ की अपनी सभा हुई, कौशाम्बी, जहाँ से यश ने सन्देश भेजा था और मथुरा, जहाँ पश्चिम के भिक्षुओ की अपनी सभा हुई थी। इस बृहत् क्षेत्र में तीन प्रवृत्तियाँ मालूम होती हैं—वैशाली (पूर्व) में विनय के पालन मे शिथिलता थी; मथुरा के प्रदेश (पश्चिम) में विनय की कठोरता थी तथा अवन्ति और दक्षिणापथ में मध्यम-वृत्ति थी। अवन्ति और दक्षिणापथ का भौगोलिक सम्बन्ध कौशाम्बी से था। गगा से भरुकच्छ जानेवाले राजपथ इनको जोडते थे। दक्षिणापथ के भिक्षुओ की सभा करने की आवश्यकता यश ने न समझी। कौशाम्बी के प्रमुख भिक्षुओ का मत ही जानना उन्होने पर्याप्त समझा। ऐसा प्रतीत होता है कि वैशाली, कौशाम्बी और मथुरा तीन निकायो के केन्द्र बन गये। पूर्व-भारत बौद्ध-धर्म के प्राचीन रूप का प्रदेश था। मध्यदेश में ब्राह्मणो के प्रभाव से रूप में परिवर्त्तन होने लगा। यहाँ दो निकाय हो गये। एक कौशाम्बी का, जो दक्षिणापथ की ओर झुकता था और जिससे स्थविर-निकाय निकला हुआ प्रतीत होता है, दूसरा मथुरा का निकाय, जो उत्तर-पश्चिम की ओर बढा और जिससे सर्वास्तिवादी निकायो की उत्पत्ति हुई। अब हमको यह देखना है कि पूर्व में किन निकायो की उत्पत्ति हुई।

आम्नाय के अनुसार अष्टादश निकाय (सम्प्रदाय) हो गये, जो दो प्रधान निकायो में विभक्त होते है—महासाघिक और स्थविर। महासाघिक निकाय के अन्तर्गत आठ और स्थविर से सम्भूत सर्वास्तिवादादि दस निकाय थे। हम देख चुके है कि किस प्रकार भिक्षु-सघ महासघ से पृथक् होता गया। अत, स्थविरो का निकाय महासघ के विरुद्ध था। प्रथम का सचालन स्थविरो की परिपद् करती थी, दूसरे में पुरानी प्रवृत्ति अभी विद्यमान थी। यह सम्भव है कि दूसरी सगीति के समय स्थविर-सर्वास्तिवादी पश्चिम के प्रतिनिधि थे और महासाघिक पूर्व के।

इस दृष्टि से यदि हम आम्नाय का अध्ययन करें, तो उनपर काफी प्रकाश पडता है। वसुमित्र के अनुसार स्थविर और महासाघिक का भेद अशोक के राज्यकाल में पाटलिपुत्र में हुआ था। उनके अनुसार महादेव की पाँच वस्तुएँ विवाद की विपय थी। सगीति के सदस्य चार समह में वँटे थे। वसुमित्र के ग्रन्थ के चीनी और तिव्वती भापान्तरो में इन समूहो के नाम के वारे में ऐकमत्य नही है। भेद दो समूहो में हुआ था। इसलिए, अनुमान किया जाता है कि इनमें से प्रत्येक समूह के दो नाम रहे होगे। इन चार समूहो के ये नाम है—स्थविर या भदन्त, नाग या महाजनपद, प्राच्य या प्रत्यन्तक और वहुश्रुत। टीकाकार कहते है कि नाग विनयधर उपालि के शिष्यो को कहते है। अत, नाग वहुश्रुत (आनन्द) के विपक्षी है। इसी प्रकार स्थविर प्राच्य के विपक्षी हो सकते है, यदि यह ठीक है कि स्थविर पश्चिम के प्रतिनिधि थे। परमार्थ के अनुसार महाजनपद और प्रत्यन्तक एक दूसरे के विपक्षी है। मध्यदेश के ब्राह्मण अपने राष्ट्र के प्रत्यन्त में रहनेवालो को अनार्य मानते थे। स्मृतियो में मगध मे जाना मना किया है। मध्यदेश उनके लिए महाजनपद होगा। महासाघिक पूर्व के थे, इसकी पुष्टि फाहियान के विवरण से भी होती है। फाहियान ने पाटलिपुत्र मे महासाघिको के विनय की पोथी देखी थी।

चीनी यात्री इत्सिग (६९२ ई०) के विवरण[1] के अनुसार अट्ठारह निकाय चार प्रधान निकायो मे विभक्त है—आर्य-महासाघिक, आर्य-स्थविर, आर्य-मूलसर्वास्तिवादिन् और आर्य-सम्मितीय। इत्सिग के अनुसार महासाघिक के सात, स्थविर के तीन, मूल सर्वास्तिवाद के चार और सम्मितीय के चार विभाग है। मूल सर्वास्तिवाद के चार विभाग ये है मूल–०; धर्मगुप्त, महीशासक, और काश्यपीय। इत्सिग ने अन्य निकायो के विभागो के नाम नही दिये है। यद्यपि इत्सिग के अनुसार चारो निकाय मगध मे पाये जाते थे, तथापि हर एक का एक नियत स्थान था। महासाघिक मगध मे और अन्य पूर्व जनपदो में, स्थविर दक्षिणापथ में, सर्वास्तिवादी उत्तर भारत मे और सम्मितीय लाट और सिन्धु में प्रधानत थे। मूल–॰ के अन्य तीन विभाग भारत में नही थे। ये चीन, मध्य-एशिया और ओड्डियान में पाये जाते थे।

हमको यह निश्चित रूप से मालूम है कि सर्वास्तिवाद का उत्तर में और स्थविरवाद का दक्षिण में प्राधान्य था। ह्वेनत्साग के सस्मरणो से मालूम होता है कि सम्मितीय विखर

१. ए रिकार्ड ऑव दि बुद्धिस्ट रिलीजन।

गये थे। इत्सिग स्वय मूल-सर्वास्तिवादी थे। इससे सम्भव है कि उसने अपने निकाय के महत्त्व को अतिरजित कर वर्णित किया है। वह धर्मगुप्त, महीशासक और काश्यपीय को आर्यमूल सर्वास्तिवाद का विभाग बताता है, किन्तु दीपवश और महावश के अनुसार धम्मगुत्त सब्बत्थिवाद और कस्सपिक महिंसासक-निकाय से अलग हुए थे और महिंसासक थेर की शाखा थे। दोनो विवरणो मे इन चारो को एक समूह में रखा है। अन्तर इतना ही है कि इत्सिग इनको मूल सर्वास्तिवाद के अन्तर्गत बताता है, जब कि दीपवश और महावश मे इनकी उत्पत्ति स्थविरवाद से बताई गई है!

प्रथम महासगीति के विवरणो की तुलना करने से ज्ञात होता है कि स्थविर, महीशासक, धर्मगुप्तक और हैमवत का एक समूह है। दूसरी ओर सिंहलद्वीप के ग्रन्थ और अशत इत्सिग से स्थविर, महीशासक, सर्वास्तिवादी, धर्मगुप्तक और काश्यपीय का एक समूह में होना मालूम होता है। दीपवश (८।१०) से मालूम होता है कि हिमवत्-प्रदेश के निवासियो को मोग्गलिपुत्त के भेजे हुए कस्सपगोत्त, दुन्दुभि-स्वर आदि ने शासन में प्रवेश कराया। महावश (१२।४१) के अनुसार मज्झिम ने चार स्थविरो के साथ हिमवत्-प्रदेश जाकर धर्मचक का प्रवर्त्तन किया। 'समन्तपासादिका' के अनुसार यह काम मज्झिम ने किया। सोनरी और साँची के स्तूपो के लेखो मे कस्सपगोत्त को हिमवत्-प्रदेश का आचार्य बताया है। अन्य लेखो में मज्झिम और दुदुभिर के नाम हैं। इन सव प्रमाणो को मिलाकर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कश्यपगोत्र स्थविर के नेतृत्व मे हिमवत्-प्रदेश को विनीत करने का काम हुआ था। इसीलिए, लेखो में काश्यपगोत्र को सर्वत्र हैमवताचार्य कहा है। अत, यह ज्ञात होता है कि हैमवत और काश्यपीय एक ही निकाय के विभाग हैं। वसुमित्र इन दोनो पृथक्-पृथक् गिनाते हैं। अत, यह एक नही है, किन्तु एक ही निकाय के विभाग हैं।

स्थविर-निकाय दक्षिण की ओर बढ रहा था। पीछे वह सिंहलद्वीप गया। महीशासक भी सिंहल में थे और फाहियान ने वहाँ उनका विनय पाया था। सिंहल के आम्नाय के अनुसार सबसे पहले यही स्थविरवाद से अलग हुए। कुछ विद्वानो का विचार है कि महीशासको का पूर्वस्थान माहिष्मती था। इसका नाम महिष-मण्डल (पालि = महिसक-मण्डल) है। द्वितीय सगीति के वर्णनो से मालूम होता है कि यहाँ एक प्रसिद्ध बौद्ध-सघ था। इन विद्वानो का कहना है कि इसी नाम पर निकाय का नाम 'महीशासक' पडा। धर्मगुप्तक नाम कदाचित् काश्यपीय की तरह निकाय के आचार्य के नाम पर पडा। दीपवश और महावश के अनुसार धम्मरक्खित अपरान्तक भेजे गये थे और मध्यन्दिन कश्मीर। सर्वास्तिवाद के आगम मे इन्हें मध्यन्तिक कहा है। क्या धम्मरक्खित और धर्मगुप्त एक तो नही हैं?

कश्मीर के निकाय को मूल सर्वास्तिवादी निकाय कहते थे। यह बहुत प्रसिद्ध निकाय था। इसमें कई प्रसिद्ध आचार्य हुए, जिन्होने अनेक ग्रन्थो की सस्कृत मे रचना की।

इस निकाय का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। यह गगा-यमुना की घाटी से पश्चिम की ओर फैलकर मध्य एशिया मे भी गया। स्थविर-निकाय का भी विस्तृत क्षेत्र था। यह कौशाम्बी,

विदिशा तथा उज्जयिनी के मार्ग से दक्षिणापथ को गया। महीशासक महिष-मण्डल के थे। वत्सपुत्र या वात्सीपुत्रीय कौशाम्बी के थे। कौशाम्बी वत्सो की राजधानी थी। स्थविर और महीशासक लका मे प्रतिष्ठित हुए और अन्त मे धर्मगुप्तक चीन में फैल गये।

विनय के नियमो को लेकर सघ-भेद हुआ था। इससे ज्ञात होता है कि इसी तरह विवाद आरम्भ हुआ और निकाय वने। अभिधर्म के प्रश्नो को लेकर विवाद पहले-पहल तृतीय सगीति (अशोक के समय) में ही हुआ। अशोक के समय में, कहा जाता है, 'कथावत्थु' की रचना हुई। इस ग्रन्थ में सव निकायो के भेद दिये गये है।

पंचम अध्याय

शमथ-यान

'विसुद्धिमग्गो' नामक ग्रन्थ मे विशुद्धि के मार्ग का निरूपणा किया गया है, अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश मे कही विपश्यना[1] द्वारा, कही ध्यान और प्रज्ञा द्वारा, कही शुभ तर्कों द्वारा, कही कर्म, विद्या, धर्म, शील और उत्तम आजीविका द्वारा और कही शील, प्रज्ञा और समाधि द्वारा निर्वाण की प्राप्ति बतलाई है, जैसा नीचे लिखे उद्धरणो से स्पष्ट है—

सब्बे सखारा अनिच्चाति यदा पञ्ञाय पस्सति ।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया ॥

(धम्मपद, २।५)

अर्थात्, जब मनुष्य प्रज्ञा द्वारा देखता है, तब सब सस्कार अनित्य प्रतीत होते हैं। तब वह क्लेशो से विरक्त होता है और ससार में उसकी आसक्ति नही रहती। यह विशुद्धि का मार्ग है।

यम्हि झानं च पञ्ञा च स वे निब्बानसन्तिके ।

(धम्मपद, ३।७२)

अर्थात्, जिसने ध्यानों का लाभ किया है, और जो प्रज्ञावान् है, वह निर्वाण के समीप है।

सब्बदा सीलसंपन्नो पञ्ञावा सुसमाहितो ।
आरद्धविरियो पहित्ततो ओघं तरति दुत्तरन्ति ॥

(संयुत्तनिकाय, १।५३)

अर्थात्, जो सदा शील-सम्पन्न है, जो प्रज्ञावान् है, जो सुष्ठु प्रकार से समाहित, अर्थात् समाधिस्थ है, जो अशुभ के नाश के लिए और शुभ की प्राप्ति के लिए उद्योग करता है और जो दृढ सकल्पवाला है, वह ससार-रूपी दुस्तर ओघ को पार करता है।

---

१. 'विपश्यना' उस विशिष्ट ज्ञान और दर्शन को कहते हैं, जिनके द्वारा धर्मों की अनित्यता, दु:खता और अनात्मता प्रकट होती है। "अनिच्चादिवसेन विविधाकारेन पस्सतीति विपस्सना।" (अभिधम्मत्थ-सगह-टीका), "विपस्सनाति सङ्खारपरिग्गाहकञाण। (अगुत्तरनिकायट्ठकथा, बालवग्ग, सुत्त ३), "सङ्खारे अनिच्चतो दुक्खतो अनत्ततो विपस्सति।" (विसुद्धिमग्गो, पृ० ७०५)

कम्मं विज्जा च धम्मो च सीलं जीवितमुत्तमं ।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति न गोत्तेन धनेन वा ति ॥
(मज्झिमनिकाय, ३।२६२)

अर्थात्, कर्म, सम्यग्दृष्टि, धर्म, शील और उत्तम आजीविका द्वारा, न कि गोत्र और धन द्वारा, जीवो की शुद्धि होती है।

सीले पतिठ्टाय नरो सपञ्ञो चित्त पञ्ञञ्च भावयं ।
आतापी निपको भिक्खु सो इम विजटये जटं ॥
(सयुत्तनिकाय, १।१३)

अर्थात्, जो मनुष्य शील मे प्रतिष्ठित है और जो समाधि और विपश्यना की भावना करता है, वह तृष्णा-रूपी जटासमूह का सछेद करता है।

इस अन्तिम उपदेश के अनुसार आचार्य वुद्धघोप ने विशुद्धि के मार्ग का निरूपण किया है। शील, समाधि और प्रज्ञा द्वारा मर्व मल का निरसन तथा निर्वाण की प्राप्ति होती है। वुद्ध-शासन की यही तीन शिक्षाएँ हैं। शील से शासन की आदिकल्याणता प्रकाशित होती है, समाधि शासन के मध्य मे है और प्रज्ञा पर्यवसान में। शील से अपाय[1] (दुर्गति, विनिपात) का अतिक्रमण, समाधि से कामधातु[2] का और प्रज्ञा से सर्वभव का अतिक्रमण होता है। जो व्यक्ति निर्वाण के लिए यत्नशील होता है, उसे पहले शील मे प्रतिष्ठित होना चाहिए। जव शील अल्पेच्छता, सन्तुष्टि, प्रविवेक (एकान्त-सेवन) आदि गुणो द्वारा सुविशुद्ध हो जाता है, तव समाधि की भावना का आरम्भ होता है। समाधि किसे कहते हैं, समाधि की भावना किस प्रकार होती है और ममाधि-भावना का क्या फल है? इन वातो पर यहाँ विस्तार से विचार किया जायगा। समाधि शव्द का अर्थ है—समाधान, अर्थात् एक आलम्वन में समान तथा सम्यग् रूप से चित्त और चैतसिक धर्मों की प्रतिष्ठा। इसलिए 'समाधि' उस धर्म को कहते हैं, जिसके प्रभाव से चित्त तथा चैतसिक धर्मो की एक आलम्वन में विना किसी विक्षेप के सम्यक् स्थिति हो। समाधि मे विक्षेप का विध्वस होता है और चित्त-चैतमिक विप्रकीर्ण न

---

१. अपाय—दुर्गति, विनिपात को कहते हैं। शीलभ्रंश मे पुद्गल दुर्गति को प्राप्त होता है। दुर्गति चार हैं—निरय (नरक), तिरश्चान-योनि (तिर्यग्-योनि), प्रेतविपय और असुरनिकाय। ''गतय' पट्। तद्यथा—नरकस्तिर्यक् प्रेतो असुरो मनुष्यो देवश्चेति। (धर्मसंग्रह, ५७) पहले चार अपाय हैं।

२ कामधातु—कामप्रतिसयुक्त मथ्या सकल्प को कहते हैं। अथवा अवीचि निरय से आरम्भ कर परनिर्मित वशवर्ती देवताओं तक जो अवचर हैं, उनमें सम्मिलित रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान को 'कामधातु' कहते हैं।

होकर एक आलम्बन मे पिण्ड-रूप से अवस्थित होते है। समाधि बहुविध है। पर, यदि सब प्रकार की समाधियो का वर्णन किया जाय, तो अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि नही होती और यह भी सम्भव है कि इस प्रकार विक्षेप उपस्थित हो। इसलिए, यहाँ केवल अभिप्रेत अर्थ का ही उल्लेख किया जायगा। हमको यहाँ लौकिक समाधि ही अभिप्रेत है। काम, रूप और अरूप भूमियो की कुशल-चित्तैकाग्रता को लौकिक समाधि कहते है। जो एकाग्रता आर्यमार्ग से सम्प्रयुक्त होती है, उसे लोकोत्तर समाधि कहते है, क्योकि वह लोक को उत्तीर्ण कर स्थित है। लोकोत्तर समाधि का भावना-प्रकार प्रज्ञा के भावना-प्रकार मे सगृहीत है। प्रज्ञा के सुभावित होने से लोकोत्तर समाधि की भावना होती है। इसलिए, लोकोत्तर की भावना के विषय मे यहाँ कुछ नही कहा जायगा। यह प्रज्ञा-स्कन्ध का विषय है। यहाँ हम केवल लौकिक समाधि का ही सविस्तर वर्णन करेंगे। हमारे अभिप्रेत अर्थ मे 'समाधि' 'कुशलचित्त की एकाग्रता' को कहते है। अर्थात्, चित्त की वह एकाग्रता, जो दोष-रहित है और जिसका विपाक सुखमय है। इस लौकिक समाधि के मार्ग को शमथ-यान कहते है। लोकोत्तर समाधि का मार्ग विपश्यना-यान कहलाता है।

पूर्व इसके कि हम लौकिक समाधि के भावना-प्रकार का विस्तार से वर्णन करे, हम इस स्थान पर शमथ-यान (=मार्ग) का सक्षेप मे निरूपण करना आवश्यक समझते है।

शमथ का अर्थ है––पाँच नीवरणो (स० निवारण) अर्थात् विघ्नो का उपशम। 'पञ्च नीवरणान समनट्ठेन समथ', विघ्नो के शमन से चित्त की एकाग्रता होती है। इसलिए शमथ का अर्थ 'चित्त की एकाग्रता' भी है। ('समथो हि चित्तेकग्गता'––अगुत्तरनिकायट्ठकथा, बालवग्ग, सुत्त ३) शमथ का मार्ग लौकिक समाधि का मार्ग है। दूसरा मार्ग विपश्यना का मार्ग है। इसे लोकोत्तर समाधि भी कहते है। विघ्नो के, अर्थात् अन्तरायो के नाश से ही लौकिक समाधि मे प्रथम ध्यान का लाभ होता है। प्रथम ध्यान मे पाँच अगो का प्रादुर्भाव होता है। दूसरे-तीसरे ध्यान मे पाँच अगो का अतिक्रमण होता है। नीवरण[1] इस प्रकार है––कामछन्द, व्यापाद, स्त्यान-मिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य, विचिकित्सा। कामछन्द 'विषयो में अनुराग' को कहते है। जब चित्त नाना विषयो से प्रलोभित होता है, तब एक आलम्बन मे समाहित नही होता।

'व्यापाद' हिसा को कहते है। यह प्रीति का प्रतिपक्ष है। 'स्त्यान' चित्त की अकर्मण्यता और 'मिद्ध' आलस्य को कहते है। वितर्क स्त्यान-मिद्ध का प्रतिपक्ष है। औद्धत्य का अर्थ है

---

१ पातजल योगदर्शन में योग के अन्तरायों का वर्णन निम्नलिखित सूत्र में पाया जाता है—

"व्याधिस्त्यानसशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तराया।" (समाधिपाद, सूत्र ३०)

इनमें से अविरति (= कामछन्द), आलस्य (= मिद्ध), अनवस्थितत्व (=औद्धत्य) सशय (= विचिकित्सा) और स्त्यान पाँच नीवरणों में भी पाये जाते हैं।

'अव्यवस्थित-चित्तता' और कौकृत्य 'खेद-पश्चात्ताप' को कहते हैं। सुख औद्धत्य-कौकृत्य का प्रतिपक्ष है। विचिकित्सा संशय को कहते हैं। विचार विचिकित्सा का प्रतिपक्ष है। विषयो में लीन होने के कारण समाधि में चित्त की प्रतिष्ठा नही होती। हिंसाभाव से अभिभूत चित्त की निरन्तर प्रवृत्ति नही होती। स्त्यान-मिद्ध से अभिभूत चित्त अकर्मण्य होता है। चित्त के अनवस्थित होने से और खेद मे शान्ति नही मिलती और चित्त भ्रान्त रहता है। विचिकित्सा से उपहत चित्त ध्यान का लाभ करानेवाले मार्ग में आरोहण नही करता। इसलिए, इन विघ्नो का नाश करना चाहिए। नीवरणो के नाश से ध्यान का लाभ और ध्यान के पाँच अग[1] वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता का प्रादुर्भाव होता है।

वितर्क आलम्बन में चित्त का आरोप करना है। आलम्बन के पास चित्त का आनयन 'वितर्क' कहलाता है। आलम्बन का यह स्थूल आभोग है। वितर्क की प्रथमोत्पत्ति के समय चित्त का परिस्पन्दन होता है। वितर्क विचार का पूर्वगामी है। विचार सूक्ष्म है।[2] विचार की वृत्ति शान्त होती है और इसमें चित्त का अधिक परिस्पन्दन नही होता। जब प्रीति उत्पन्न होती है, तब सबसे पहले शरीर में रोमाच होता है। धीरे-धीरे यह प्रीति बारम्बार शरीर को अवक्रान्त करती है। जब प्रीति का बलवान् उद्वेग होता है, तब प्रीति शरीर को ऊर्ध्व उत्क्षिप्त कर आकाश-लघन के लिए समर्थ करती है, धीरे-धीरे सकल शरीर प्रीति से सर्वरूपेण व्याप्त हो जाता है, मानो पर्वत-गुहा से एक महान् जलप्रपात परिस्फुट हो तीव्र वेग से प्रवाहित हो रहा है। प्रीति के परिपाक से काय-प्रश्रब्धि और चित्त-प्रश्रब्धि[3] होती है। प्रश्रब्धि के परिपाक से काय और चित्त-सुख होता है। सुख के परिपाक से क्षणिक, उपचार और अर्पणा[4] इस त्रिविध समाधि का परिपूरण होता है। इष्ट आलम्बन के प्रतिलाभ से जो तुष्टि होती है, उसे प्रीति कहते है। प्रतिलब्ध रस के अनुभव को सुख कहते है। जहाँ प्रीति है, वहाँ सुख है; पर

---

१ योगदर्शन के निम्नाकित सूत्र से तुलना कीजिए —
"वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञात ।" (समाधिपाद, १७)। आनन्द ह्लाद है। यही प्रीति है। अस्मिता सुख के स्थान में है।

२ "वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोग । सूक्ष्मो विचार ।" (योगदर्शन, समाधिपाद, १७ पर व्यासभाष्य), "वितर्कविचारौदार्यसूक्ष्मते।" (अभिधर्मकोश, २।३३) "ओलारिकट्ठेन । सुखुमट्ठेन।" (विसुद्धिमग्गो, पृ० १४२)

३ प्रश्रब्धि सम्बोधि के सात अगों में से एक है। प्रामोद्य और प्रीति के साथ इसका प्रयोग प्राय देखा जाता है। प्रश्रब्धि शान्ति को कहते हैं।

४ उपचार अर्पणा-समाधि के प्रकार हैं। जिस प्रकार ग्राम आदि का समीपवर्त्ती प्रदेश ग्रामोपचार कहलाता है, उसी प्रकार अर्पणा के समीप का स्थान उपचार-समाधि कहलाता है। उपचार-समाधि में ध्यान अल्प प्रमाण का होता है और चित्त आलम्बन में थोडे काल तक आबद्ध रहता है। फिर, भवाग में अवतरण करता है। उपचार-भूमि में नीवरणों का नाश होता है, पर अगों का प्रादुर्भाव नहीं होता। जब अर्पणा (एकाग्रचित्तं आलम्बन अर्पयति) समाधि का उत्पाद होता है, तब ध्यान के पाँच अग सुदृढ हो जाते हैं। अर्पणा ध्यान की प्रतिलाभ-भूमि है।

जहाँ सुख है, वहाँ नियम से प्रीति नही है । प्रथम ध्यान मे उक्त पाँच अगो का प्रादुर्भाव होता है । धीरे-धीरे अगो का अतिक्रमण होता है और अन्तिम ध्यान मे समाधि उपेक्षा-सहित होती है । लौकिक समाधि के द्वारा ऋद्धि-बल की प्राप्ति होती है । पर, निर्वाण की प्राप्ति के लिए विपश्यना के मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक है । निर्वाण के प्रार्थी को शमथ की भावना के उपरान्त विपश्यना की वृद्धि करनी पडती है और तभी अर्हत्पद में प्रतिष्ठा होती है, अन्यथा नही ।

जिसको लौकिक समाधि अभीष्ट हो, उसको सुपरिशुद्ध शील में प्रतिष्ठित हो सबसे पहिले विघ्नो (पालि= 'पलिबोध') का नाश करना चाहिए ।

आवास, कुल, लाभ, गण, कर्म, मार्ग ज्ञाति, आबाध, ग्रन्थ और ऋद्धि—ये दस 'पलिबोध' कहलाते हे । जो भिक्षु अभी नया-नया किसी काम में उत्सुकता रखता है या बहुविध सामग्री का सग्रह करता है या जिसका चित्त किसी दूसरे कारणवश अपने आवास में प्रतिबद्ध है आवास उसके लिए अन्तराय (=विघ्न) है । 'कुल' से तात्पर्य ज्ञाति-कुल या सेवक के कुल से है । साधारणतया दोनो विघ्नकारी हे । अपने तथा सेवक के 'कुल' से विशेष संसर्ग होने से भावना में विघ्न उपस्थित होता है । कुछ ऐसे भिक्षु होते हे, जो कुल के मनुष्यो के विना धर्म-श्रवण के लिए भी पास के विहार मे नही जाते । वह उन श्रद्धालु उपासको के सुख में सुखी और दु ख मे दु खी होते हे, जिनसे उनको लाभ-सत्कार मिलता है । ऐसे भिक्षुओ के लिए कुल अन्तराय है, दूसरो के लिए नही ।

'लाभ' चार प्रत्ययो को कहते हे । प्रत्यय (पालिरूप=पच्चय) ये हें—चीवर, पिण्डपात, शयनासन और ग्लानप्रत्ययभेषज । भिक्षु को इन चार वस्तुओ की आवश्यकता रहती है । कभी-कभी ये भी अन्तराय हो जाते हें । पुण्यवान् भिक्षु का लाभ-सत्कार प्रचुर परिमाण में होता है । उसको सदा लोग घेरे रहते हे । जगह-जगह से उसको निमन्त्रण आता है । उसको निरन्तर दान का अनुमोदन करना पडता है और दाताओ को धर्म का उपदेश देना पडता है । श्रमण-धर्म के लिए उसको अवकाश नही मिलता । ऐसे भिक्षुक को ऐसे स्थान में जाकर रहना चाहिए, जहाँ उसे कोई नही जानता हो और जहाँ वह एकान्तसेवी हो सके ।

'गण' में रहने से लोग उससे अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते हे या उसके पास पाठ के लिए आते हे । इस प्रकार, श्रमण-धर्म के लिए अवकाश नही मिलता । इस अन्तराय का उपच्छेद इस प्रकार होना चाहिए । यदि थोडा ही पाठ रह गया हो, तो उसे समाप्त कर अरण्य मे प्रवेश करना चाहिए । यदि पाठ बहुत बाकी हो, तो अपने शिष्यो को समीपवर्त्ती किसी दूसरे गणवाचक के सपुर्द करना चाहिए । यदि दूसरा गणवाचक पास मे न मिले, तो शिष्यो से छुट्टी ले श्रमण-धर्म में प्रवृत्त हो जाना चाहिए ।

'कर्म' का अर्थ है 'नवकर्म', अर्थात् विहार का अभिसस्कार । जो नवकर्म कराता है, उसे मजदूरो के कार्य का निरीक्षण करना पडता है । उसके लिए सर्वदा अन्तराय है । इस

अन्तराय का नाश करना चाहिए। यदि थोडा ही काम अवशिष्ट रह गया हो, तो काम को समाप्त कर श्रमण-धर्म में प्रवृत्त हो जाना चाहिए। यदि अधिक काम बाकी हो, तो संघभार-हारक भिक्षुओं के सुपुर्द करना चाहिए। यदि ऐसा कोई प्रबन्ध न हो सके, तो संघ का परित्याग कर अन्यत्र चला जाना चाहिए।

'मार्ग-गमन' भी कभी-कभी अन्तराय होता है। जिसे कहीं किसी की प्रव्रज्या के लिए जाना है या जिसे कहीं से लाभ-सत्कार मिलना है, यदि वह अपनी इच्छा को पूरा किये बिना अपने चित्त को स्थिर नहीं रख सकता, तो उससे श्रमण-धर्म सम्यक् रीति से सम्पादित नहीं हो सकता। इसलिए, उसे गन्तव्य स्थान पर जाकर अपना मनोरथ पूर्ण करना चाहिए। तदनन्तर, श्रमण-धर्म में उत्साह के साथ प्रवृत्त होना चाहिए।

'ज्ञाति' भी कभी-कभी अन्तराय हो जाते हैं। विहार में आचार्य, उपाध्याय अन्तेवासिक, समानोपाध्यायक और समानाचार्यक तथा गृह में माता, पिता, भ्राता आदि ज्ञाति होते हैं। जब ये बीमार पडते हैं, तब ये अन्तराय होते हैं, क्योंकि भिक्षु को इनकी सेवा-शुश्रूषा करनी पडती है। उपाध्याय, प्रव्रज्याचार्य, उपसम्पदाचार्य, ऐसे अन्तेवासिक, जिनकी उसने प्रव्रज्या या उपसम्पदा की है, तथा एक ही उपाध्याय के अन्तेवासी के बीमार पडने पर उनकी सेवा उस समय तक करना उसका कर्त्तव्य है, जबतक वह नीरोग न हो। निश्रयाचार्य, उद्देशाचार्य आदि की सेवा अध्ययन-काल में ही कर्त्तव्य है। माता-पिता उपाध्याय के समान हैं। यदि उनके पास औषध न हो, तो अपने पास से देना चाहिए, यदि अपने पास भी न हो, तो भिक्षा माँगकर देना चाहिए।

'आबाध' भी अन्तराय है। यदि भिक्षु को कोई रोग हुआ, तो श्रमण-धर्म के पालन में अन्तराय होता है। चिकित्सा द्वारा रोग का उपशम करने से यह अन्तराय नष्ट होता है। यदि कुछ दिनों तक चिकित्सा करने से भी रोग शान्त न हो, तो उसे यह कहकर आत्मगर्हा करनी चाहिए कि मैं तेरा न दास हूँ, न भृत्य, तेरा पोषण कर मैंने इस अनादि-अनन्त संसार-मार्ग में दुःख ही प्राप्त किया है और श्रमण-धर्म में प्रवृत्त हो जाना चाहिए।

'ग्रन्थ' भी अन्तराय होता है। जो सदा स्वाध्याय में व्यापृत रहता है, उसी के लिए ग्रन्थ अन्तराय है, दूसरों के लिए नहीं।

'ऋद्धि' से पृथग्जन की ऋद्धि से अभिप्राय है। यह ऋद्धि विपश्यना (प्रज्ञा) में अन्तराय है, समाधि में नहीं, क्योंकि जब समाधि की प्राप्ति होती है, तब ऋद्धि-बल की प्राप्ति होती है। इसलिए जो विपश्यना का अर्थी है, उसे ऋद्धि-अन्तराय का उपच्छेद करना चाहिए, किन्तु जो समाधि का लाभी होना चाहता है, उसे नौ अन्तरायों का नाश करना चाहिए।

इन विघ्नों का उपच्छेद कर भिक्षु को 'कर्मस्थान' ग्रहण के लिए कल्याणमित्र के पास जाना चाहिए। 'कर्मस्थान' योग के साधन को कहते हैं। योगानुयोग ही कर्म है। इसका स्थान, अर्थात् 'निष्पत्ति-हेतु' कर्मस्थान है। इसीलिए, कर्मस्थान उसे कहते हैं, जिसके द्वारा योग-भावना की निष्पत्ति होती है। कर्मस्थान, अर्थात् समाधि के साधन चालीस हैं। इन

चालीस साधनों में से किसी एक का, जो अपनी चर्या के अनुकूल हो, ग्रहण करना पडता है। कर्मस्थान का दायक कल्याणमित्र कहलाता है। क्योकि, वह उसका एकान्त हितैषी है। कल्याण-मित्र गम्भीर कथा का कहनेवाला होता है तथा अनेक गुणो से समन्वागत होता है। बुद्ध से बढकर कोई दूसरा कल्याणमित्र नही है। बुद्ध ने स्वय कहा है कि जीव मुझ कल्याणमित्र की शरण में आकर जन्म के बन्धन से मुक्त होते है **मम हि आनन्द कल्याणमित्तमागम्म जाति-धम्मा सत्ता जातिया परिमुच्चन्ति।** (सयुत्त० १।८८)

इसलिए, बुद्ध के रहते उनके समीप ग्रहण करने से कर्मस्थान सुगृहीत होता है। महापरिनिर्वाण के अनन्तर ८० महाश्रावको में से जो वर्त्तमान हो, उससे कर्मस्थान का ग्रहण उचित है। यदि महाश्रावक न हो, तो ऐसे पुरुष के समीप कर्मस्थान का ग्रहण करना चाहिए, जिसने उस विशेष कर्मस्थान द्वारा ध्यानो का उत्पाद कर विपश्यना की वृद्धि की हो और आश्रवो[1] (पालि = 'आसव') का क्षय किया हो, जिस कर्मस्थान के ग्रहण की वह इच्छा रखता है। यदि कोई ऐसा व्यक्ति न मिले, तो क्रम से अनागामी, सकृदागामी, स्रोतापन्न,[2] ध्यानलाभी, पृथग्जन, त्रिपिटकधर, द्विपिटकधर, एकपिटकधर से कर्मस्थान ग्रहण करना चाहिए। यदि इनमें से भी कोई उपलब्ध न हो, तो ऐसे व्यक्ति के समीप ग्रहण करना चाहिए, जिसने एक निकाय का अर्थकथा (टीका)-सहित अध्ययन किया हो और जो आचार्य-मत का वक्ता हो। क्षीणाश्रव, अनागामी आदि अपने अधिगत मार्ग का आख्यान करते है। पर, जो वहुश्रुत है, वे विविध आचार्यों से पाठ तथा परिप्रश्न द्वारा अपने ज्ञान का परिष्कार कर पाँच निकायो से अमुक-अमुक

---

१. आसव (सस्कृत = 'आश्रव')। लोक में बहुत काल की रखी हुई मदिरा को 'आसव' कहते। इस अर्थ में जो ज्ञान का विपर्यय करे, वह आसव है। दूसरे अर्थ में, जो संसार-दु ख का प्रसव करते हैं, उन्हें आसव कहते हैं। 'आसव' क्लेश हैं। कर्मक्लेश तथा नाना प्रकार के उपद्रव भी आसव कहलाते हैं। षडायतन में आसव तीन बताये गये हैं--काम, भव और अविद्या। पर, अन्य सूत्रों में तथा अभिधर्म में आसव चार बताये गये हैं—काम, भव, अविद्या और दृष्टि। जो आश्रवों का क्षय करता है, वह अर्हत्पद को पाता है।

"चिरपरिवासियट्ठेन मदिरादयो आसवा वियातिपि आसवा • वुत्तं हेतं। पुरिमा भिक्खवे कोटि न पञ्ञायति अविज्जाय इतो पुब्बे आविज्जा नाभोसीति। आदि आयत्तं वा ससारदुक्खं सवन्ति पसवन्तीति पि आसवा। . सलायतने 'तयो ये आवुसो आसवा कामासवो भवासवो अविज्जासवो' ति तिधा आगता। अञ्ञेसु च सुत्तन्तेसु अभिधम्मे च ते एव दिट्ठसवेन सह चतुधा आगता।" (मज्झिमनिकायट्ठकथा, सब्बासवसुत्त)

२ स्रोतापन्न, सकृदागामी, अनागामी स्रोतापन्न—'स्रोत' आर्य अष्टागिक मार्ग को कहते हैं। जो इस मार्ग में प्रवेश करे, वह स्रोतापन्न है। स्रोतापन्न का विनिपात नहीं होता। वह नियत रूप से सम्बोधि की प्राप्ति करता है (नियतो सम्बोधिपारायनो)। सकृदागामी—जो एक बार से अधिक पृथ्वी पर जन्म नहीं लेता। यह दूसरी अवस्था है। अनागामी—जो दोबारा पृथ्वी पर नहीं आता, जिसका यह अन्तिम मानव-जन्म है। यह तीसरी अवस्था है। चौथी अवस्था अर्हत् की है।

कर्मस्थान के अनुरूप सूत्रपद और सूत्रानुगत युक्ति ढूँढ निकालते हैं और श्रमण-धर्म के करने-वाले को उससे उपयुक्त कर्मस्थान का ग्रहण कराते हैं।

इन चालीस कर्मस्थानो को पालि में 'परिहारिय-कम्मट्ठान' कहते है। क्योकि, इनमें से जो चर्या के अनुकूल होता है, उसका नित्य परिहरण, अर्थात् अनुयोग करना पडता है। पारिहारिक कर्मस्थान के अतिरिक्त 'सब्बत्थक-कम्मट्ठान' (अर्थात्, सर्वार्थक कर्मस्थान) भी है। इसे सर्वार्थक इसलिए कहते हैं, क्योकि यह सबको लाभ पहुँचाता है। भिक्षुसघ आदि के प्रति मैत्री-भावना, मरण-स्मृति और कुछ आचार्यों के मतानुसार अशुभ सज्ञा भी सर्वार्थक कर्मस्थान कहलाते है। जो भिक्षु कर्मस्थान मे नियुक्त होते हैं, उसे पहिले सीमा में रहनेवाले भिक्षुसघ के प्रति मैत्री प्रदर्शित करनी चाहिए। उसे मैत्री-भावना इस प्रकार करनी चाहिए—सीमा में रहनेवाले भिक्षु सुखी हो, उनका कोई व्यापाद न करे। धीरे-धीरे उसे इस भावना का इस प्रकार विस्तार करना चाहिए। सीमा के भीतर वर्त्तमान देवताओ के प्रति, तदनन्तर उस ग्राम के निवासियो के प्रति, जहाँ वह भिक्षाचर्या करता है, तदनन्तर राजा तथा अधिकारी-वर्ग के प्रति, तदनन्तर सब सत्त्वो के प्रति मैत्री-भावना का अनुयोग करना चाहिए। ऐसा करने से उसके सहवासी उसके साथ सुखपूर्वक निवास करते है। देवता तथा अधिकारी उसकी रक्षा करते है तथा उनकी आवश्यकताओ को पूरा करते है, लोगो का वह प्रियपात्र होता है और सर्वत्र निर्भय होकर विचरता है। मरण-स्मृति द्वारा वह निरन्तर इस बात की चिन्तना करता रहता है कि मुझे मरना अवश्यमेव है। इसलिए, वह कुपथ का गामी नही होता तथा वह ससार में लीन और आसक्त नही होता। जब चित्त अशुभ सज्ञा से परिचित होता है, अर्थात् जब चित्त यह देखता है कि चाहे मृत हो या जीवमान, शरीर शुभ भाव से वर्जित है और इसका स्वभाव अशुचि है तब दिव्य आलम्बन का लोभ भी चित्त को ग्रस्त नही करता। बहु उपकार करने से सबको यह अभिप्रेत है। इसलिए, इन्हे सर्वार्थक कर्मस्थान कहते है।

इन दो प्रकार के कर्मस्थानो के ग्रहण के लिए कल्याणमित्र के समीप जाना चाहिए। यदि एक ही विहार में कल्याणमित्र का वास हो, तो अति उत्तम है। नही तो जहाँ कल्याण-मित्र का आवास हो, वहाँ जाना चाहिए। अपना पात्र और चीवर स्वय लेकर प्रस्थान करना चाहिए। मार्ग में जो विहार पडे, वहाँ वर्त्त-प्रतिवर्त्त (कर्त्तव्य-सेवा-आचार) सम्पादित करना चाहिए। आचार्य का वासस्थान पूछकर सीधे आचार्य के पास जाना चाहिए। यदि आचार्य अवस्था में छोटा हो, तो उसे अपना पात्र-चीवर ग्रहण न करने देना चाहिए। यदि अवस्था में अधिक हो, तो आचार्य की वन्दना कर खडे रहना चाहिए। जब आचार्य कहे कि पात्र-चीवर भूमि पर रख दो, तब उन्हें भूमि पर रख देना चाहिए और यदि वह पानी पीने के लिए पूछे, तो इच्छा रहते जल पीना चाहिए। यदि पैर धोने को कहें, तो पैर न धोना चाहिए, क्योकि यदि जल आचार्य द्वारा आहृत हो, तो वह पादक्षालन के लिए अनुपयुक्त होगा। यदि आचार्य कहें कि जल दूसरे द्वारा लाया गया है, तो उसको ऐसे स्थान में बैठकर पैर धोना चाहिए, जहाँ

आचार्य उसे न देख सके। यदि आचार्य तेल दे, तो उठकर दोनो हाथो से आदरपूर्वक उसे ग्रहण करना चाहिए। पर, पहिले पैरो न मे मलना चाहिए, क्योकि यदि आचार्य के गात्रा-भ्यजन के लिए तेल हो, तो पैर मे मलने के लिए अनुपयुक्त होगा। इसलिए, पहिले सिर और कन्धो मे तेल लगाना चाहिए। जव आचार्य कहें कि सव अगो मे लगाने का यह तेल है, तो थोडा सिर में लगाकर पैर मे लगाना चाहिए। पहिले ही दिन कर्मस्थान की याचना न करनी चाहिए। दूसरे दिन से आचार्य की सेवा करनी चाहिए। जिस प्रकार अन्तेवासी आचार्य की सेवा करता है, उसी प्रकार भिक्षु को कर्मस्थानदायक की सेवा करनी चाहिए। समय से उठकर आचार्य को दन्तकाष्ठ देना चाहिए, मुँह धोने के लिए तथा स्नान के लिए जल देना चाहिए। और वरतन साफ करके प्रातराश के लिए यवागू देना चाहिए। इसी प्रकार, अन्य जो कर्त्तव्य निर्दिष्ट हैं, उनको पूरा करना चाहिए। इस प्रकार, अपनी सेवा से आचार्य को प्रसन्न कर जव वह आने का कारण पूछे, तव वताना चाहिए, यदि आचार्य आने का कारण न पूछें और सेवा लें, तो एक दिन अवसर पाकर आने का कारण स्वय वताना चाहिए। यदि वह प्रात.काल वुलावे, तो प्रातःकाल जाना चाहिए। यदि उस समय किसी रोग की वाधा हो, तो निवेदन कर दूसरा उपयुक्त समय नियत करना चाहिए। याचना के पूर्व आचार्य के समीप आत्मभाव का विसर्जन करना चाहिए। आचार्य की आज्ञा में सदा रहना चाहिए, स्वेच्छाचारी न होना चाहिए, यदि आचार्य वुरा-भला कहें, तो कोप नही करना चाहिए। यदि भिक्षु आचार्य के समीप आत्मभाव का परित्याग नही करता और विना पूछे जहाँ कही इच्छा होती है, चला जाता है तो आचार्य रुष्ट होकर धर्म का उपदेश नही करता और गम्भीर कर्मस्थान-ग्रन्थ की शिक्षा नही देता। इस प्रकार, भिक्षु शासन मे प्रतिष्ठा नही पाता। इसके विपरीत, यदि वह आचार्य के वशवर्त्ती और अधीन रहता है, तो शासन मे उसकी वृद्धि होनी है। भिक्षु को अलोभादि छः सम्पन्न अध्याशयो से भी सयुक्त होना चाहिए। सम्यक् सम्वुद्ध, प्रत्येकवुद्ध आदि जिस किसी ने विशेपता प्राप्त की है, उसने इन्ही छ. सम्पन्न अध्याशयो द्वारा प्राप्त की है। 'अध्याशय' अभिनिवेश को कहते हैं। 'अध्याशय' दो प्रकार के हैं—विपन्न, सम्पन्न। रुष्यता आदि जो मिथ्याभिनिवेश-निश्रित हैं, विपन्न अध्याशय कहलाते हैं। सम्पन्न अध्याशय दो प्रकार के है—वर्त्त, अर्थात् ससारनिश्रित और विवर्त्तनिश्रित। यहाँ विवर्त्तनिश्रित अध्याशय से अभिप्राय है।

सम्पन्न अध्याशय छः आकार के है—अलोभ, अद्वेष, अमोह, नैष्क्रम्य, प्रविवेक और निस्सरण। इन छः अध्याशयो से वोधि का परिपाक होता है। इसलिए, इनका आसेवन आवश्यकीय है। इसके अतिरिक्त योगी का सकल्प समाधि तथा निर्वाण के लाभ के लिए दृढ होना चाहिए। जव विशेष गुणो से सम्पन्न योगी कर्मस्थान की याचना करता है, तव तो आचार्य चर्या की परीक्षा करता है। जो आचार्य परचित्त-ज्ञानलाभी है, वह चित्ताचार का सूक्ष्म निरीक्षण कर आप-ही-आप योगी के चरित का परिचय प्राप्त कर लेता है, पर जो इस ऋद्धि-वल से समन्वागत नही है, वह विविध प्रश्नो द्वारा योगी की चर्या जानने की चेष्टा करता है।

आचार्य योगी से पूछता है कि वह कौन-से धर्म हैं, जिनका तुम प्रायः आचरण करते हो ? क्या करने से तुम सुखी होते हो ? किस कर्मस्थान में तुम्हारा चित्त लगता है ? इस प्रकार, चर्या का विनिश्चय कर आचार्य चर्या के अनुकूल कर्मस्थान का वर्णन करता है। योगी कर्म-स्थान का अर्थ और अभिप्राय भली भाँति जानने की चेष्टा करता है। वह आचार्य के व्याख्यान को मनोयोग देकर आदरपूर्वक सुनता है। ऐसे ही योगी का कर्मस्थान सुगृहीत होता है।

चर्या के कितने प्रभेद हैं, किस चर्या का क्या निदान है, कैसे जाना जाय कि अमुक मनुष्य अमुक चरितवाला है और किस चरित के लिए कौन-से शयनासन आदि उपयुक्त हैं, इन विषयो पर यहाँ विस्तार से विचार किया जायगा। चर्या का अर्थ है प्रकृति, अन्य धर्मों की अपेक्षा किसी विशेष धर्म की उत्सन्नता, अर्थात् अधिकता। चर्या छ हैं—रागचर्या, द्वेषचर्या, मोहचर्या, श्रद्धाचर्या, बुद्धिचर्या और वितर्कचर्या। सन्तान मे जब अधिक भाव से राग की प्रवृत्ति होती है, तब रागचर्या कही जाती है। कुछ लोग सम्प्रयोग और सन्निपातवश रागादि की चार और चर्याएँ मानते हैं, जैसे राग-मोहचर्या, राग-द्वेषचर्या, द्वेष-मोहचर्या और राग-द्वेष-मोहचर्या। इसी प्रकार श्रद्धादि चर्याओ के परस्पर सम्प्रयोग और सन्निपातवश श्रद्धा-बुद्धिचर्या, श्रद्धा-वितर्क-चर्या, बुद्धि-वितर्कचर्या, श्रद्धा-बुद्धि-वितर्कचर्या इन चार अपर चर्याओ को भी मानते हैं। इस प्रकार, इनके मत मे कुल चौदह चर्याएँ हैं। यदि हम रागादि का श्रद्धादि चर्याओ से सम्प्रयोग करें, तो अनेक चर्याएँ होती हैं। इस प्रकार, चर्याओ की तिरसठ और इससे भी अधिक सख्या हो सकती है। इसलिए, सक्षेप से छ ही मूलचर्या जानना चाहिए। मूलचर्याओ के प्रभेद से छ॰ प्रकार के पुद्गल होते हैं—रागचरित, द्वेषचरित, मोहचरित, श्रद्धाचरित, बुद्धिचरित, वितर्कचरित। जिस समय रागचरित पुरुष की कुशल में, अर्थात् शुभकर्मों मे प्रवृत्ति होती है, उस समय श्रद्धा बलवती होती है। क्योकि, श्रद्धा-गुण राग-गुण का समीपवर्त्ती है। जिस प्रकार अकुशल पक्ष में राग की स्निग्धता और अरूक्षता पाई जाती है, उसी प्रकार कुशलपक्ष मे श्रद्धा की स्निग्धता और अरूक्षता पाई जाती है। श्रद्धा प्रसाद गुणवश स्निग्ध है और राग रजन-गुणवश स्निग्ध है। जिस प्रकार राग काम्य वस्तुओ का पर्येपण करता है, उसी प्रकार श्रद्धा शीलादि गुणो का पर्येपण करती है। यथा राग अहित का परित्याग नही करता उसी प्रकार श्रद्धा हित का परित्याग नही करती। इस प्रकार, हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न स्वभाव के होते हुए भी रागचरित और श्रद्धाचरित की सभागता है।

इसी तरह द्वेपचरित और बुद्धिचरित की तथा मोहचरित और वितर्कचरित की सभागता है। जिस समय द्वेपचरित पुरुप की कुशल में प्रवृत्ति होनी है, उस समय प्रज्ञा बलवती होती है, क्योकि प्रज्ञा-गुण द्वेप का समीपवर्त्ती है। जिस प्रकार अकुशल पक्ष में द्वेप व्यापादवश स्नेहरहित होता है, आलम्बन मे उसकी आसक्ति नही होती, उसी प्रकार यथाभूत स्वभाव के अवबोध के कारण कुशलपक्ष मे प्रज्ञा की आसक्ति नही होती। यथा द्वेप अभूत दोष की भी पर्येपणा करती है, उसी प्रकार प्रज्ञा यथाभूत दोप का प्रविचय करती है। यथा द्वेपचरित पुरुप

सत्त्वों का परित्याग करता है, उसी प्रकार बुद्धिचरित पुरुष सस्कारो का परित्याग करता है। इस लिए स्वभाव की विभिन्नता होते हुए भी द्वेषचरित और बुद्धिचरित की सभागता है। जब मोहचरित पुरुष कुशल कर्मों के उत्पाद के लिए यत्नवान् होता है, तब नाना प्रकार के वितर्क और मिथ्या सकल्प उत्पन्न होते है, क्योकि वितर्क-गुण मोह-गुग का समीपवर्त्ती है। जिस प्रकार व्याकुलता के कारण मोह अनवस्थित है, उसी प्रकार नाना प्रकार के विकल्प-परिकल्प के कारण वितर्क अनवस्थित है। जिस प्रकार मोह चचल है, उसी प्रकार वितर्क मे चपलता है। इस प्रकार, स्वभाव की विभिन्नता होते हुए भी मोहचरित और वितर्कचरित की सभागता है।

कुछ लोग इन छ चर्याओ के अतिरिक्त तृष्णा, मान और दृष्टि को भी चर्या मे परिगणित कहते है। पर, तृष्णा और मान राग के अन्तर्गत है और दृष्टि मोह के अन्तर्गत है।

इन छ चर्याओ का क्या निदान है? कुछ का कहना है कि पूर्वजन्मो का आचरण और धातु-दोष की उत्सन्नता पहली तीन चर्याओ का नियामक है। इनका कहना है कि जिसने पूर्वजन्मो मे अनेक शुभ कर्म किये है और जो इष्ट-प्रयोग-बहुल रहा है या जो स्वर्ग से च्युत हो इस लोक मे जन्म लेता है, वह रागचरित होता है। जिसने पूर्वजन्मो मे छेदन, वध, बन्धन आदि अनेक वैरकर्म किये है या जो निरय या नाग-योनि से च्युत हो इस लोक मे उत्पन्न होता है, वह द्वेषचरित होता है और जिसने पूर्वजन्मो में अधिक परिमाण से निरन्तर मद्यपान किया है और जो श्रुतविहीन है या जो निकृष्ट पशुयोनि से च्युत हो इस लोक मे उत्पन्न होता है, वह मोहचरित होता है। पृथिवी तथा जलधातु की उत्सन्नता से पुद्गल मोहचरित होता है। तेज और वायुधातु की उत्सन्नता से पुद्गल द्वेषचरित होता है। चारो धातुओ के समान भाग मे रहने से पुद्गल रागचरित होता है। दोषो मे श्लेष्म की अधिकता से पुद्गल रागचरित या मोहचरित होता है, वात की अधिकता से मोहचरित या रागचरित होता है। इन वचनो मे श्रद्धाचर्या आदि में से एक का भी निदान नही कहा गया है। दोष-नियम मे केवल राग और मोह का ही निदर्शन किया गया है, इनमें भी पूर्वापरविरोध देखा जाता है। इसी प्रकार, धातुओ में उक्त पद्धति से उत्सन्नता का नियम नही पाया जाता। पूर्वाचरण के आधार पर जो चर्या का नियमन बताया गया है, उसमे भी ऐसा नहीं है कि सब केवल रागचरित हो या द्वेष-मोहचरित हो। इसलिए, यह वचन अपरिछिन्न है। अर्थकथाचार्यो के मतानुसार चर्या-विनिश्चय 'उस्सद कित्तन' में इस प्रकार वर्णित है। पूर्वजन्मो मे प्रवृत्त लोभ-अलोभ, द्वेष-अद्वेष, मोह-अमोह, हेतुवश प्रतिनियत रूप मे सत्त्वो मे लोभ आदि की अधिकता पाई जाती है। कर्म करने के समय जिस मनुष्य मे लोभ बलवान् होता है और अलोभ मन्द होता है, अद्वेष और अमोह बलवान् होते है और द्वेष-मोह मन्द होते है, उसका मन्द अलोभ लोभ को अभिभूत नही कर सकता, पर अद्वेष-अमोह बलवान् होने के कारण, द्वेष-मोह को अभिभूत करते है। इसलिए, जब वह मनुष्य इन कर्मों के वश प्रतिसन्धि का लाभ करता है, तब वह लुब्ध, सुखशील, क्रोधरहित और प्रज्ञावान् होता है। कर्म करने के समय जिसके लोभ-द्वेष बलवान् होते है,

अलोभ-अद्वेप मन्द होते है, अमोह वलवान् होता है और मोह मन्द होता है, वह लुब्ध और दुष्ट, पर प्रज्ञावान् होता है। कर्म करने के समय जिसके लोभ-मोह-अद्वेप वलवान् होते हैं और इतर मन्द होते है, वह लुब्ध, मन्द बुद्धिवाला, सुखशील और क्रोधरहित होता है। कर्म करने के समय जिसके लोभ-द्वेष-मोह वलवान् होते है, अलोभादि मन्द होते है, वह लुब्ध, दुष्ट और मूढ होता है। कर्म करने के समय जिसके अलोभ-द्वेष-मोह वलवान् होते है, इतर मन्द होते है, वह अलुब्ध, दुष्ट और मन्द वुद्धिवाला होता है। कर्म करने के समय जिस सत्त्व के अलोभ-अद्वेष-मोह वलवान् होते है, इतर मन्द होते है, वह अलुब्ध, अदुष्ट और मन्द वुद्धिवाला होता है। कर्म करते समय जिसके अलोभ, द्वेष और अमोह वलवान् होते है, इतर मन्द होते है, वह अलुब्ध, प्रज्ञावान् और दुष्ट होता है। कर्म करने के समय जिसके अलोभ, अद्वेष और अमोह तीनो वलवान् होते हं और लोभ आदि मन्द होते है वह अलुब्ध, अदुष्ट और प्रज्ञावान् होता है।

यहाँ जिसे लुब्ध कहा है, वह रागचरित है, जिसे दुष्ट या मन्द वुद्धिवाला कहा है, वह यथाक्रम द्वेपचरित या मोहचरित है, प्रज्ञावान् वुद्धिचरित है, अलुब्ध, अदुष्ट, प्रसन्न प्रकृति-वाला होने के कारण श्रद्धाचरित है। इस प्रकार, लोभादि में से जिस किसी द्वारा अभिसस्कृत कर्मवश प्रतिसन्धि होती है, उसे चर्या का निदान समझना चाहिए।

अव प्रश्न यह है कि किस प्रकार जाना जाय कि यह पुद्गल रागचरित है इत्यादि। इसका निश्चय ईर्यापथ[1] (वृत्ति), कृत्य, भोजन दर्शन आदि तथा धर्म-प्रवृत्ति (चित्त की विविध अवस्थाओ की प्रवृत्ति) द्वारा होता है।

ईर्यापथ—जो रागचरित होता है, उसकी गति अकृत्रिम, स्वाभाविक होती है, वह चतुरभाव से धीरे-धीरे पद-निक्षेप करता है। वह समभाव से पैर रखता है और उठाता है, उसके पादतल का मध्यभाग भूमि का स्पर्श नही करता। जो द्वेपचरित है, वह जव चलता है, तव मालूम होता है, मानो भूमि को खोद रहा है, वह सहसा पैर रखता है और उठाता है। पाद-निक्षेप के समय ऐसा मालूम होता है, मानो पैर पीछे की ओर खीचता है। मोहचरित की गति व्याकुल होती है। वह भीत पुरुप की तरह पैर रखता है और उठाता है। वह अग्रपाद तथा पार्ष्णि से गति को सहसा सन्निरुद्ध करता है। रागचरित पुरुप जव खडा होता है या वैठता है, तव उसका आकार प्रमादावह और मधुर होता है। द्वेपचरित पुरुप का आकार स्तब्ध होता है और मोहचरित का आकुल होता है। रागचरित पुरुप विना त्वरा के अपना विछौना ठीक तरह से विछाता है और धीरे से शयन करता है। शयन करते समय वह अपने अग-प्रत्यग का विक्षेप नही करता और उसका आकार प्रामादिक होता है। उठाये जाने पर वह चौंककर नही उठता, किन्तु शकित पुरुप की तरह मृदु उत्तर देता है। द्वेपचरित पुरुप जल्दी से किसी-न-किसी प्रकार अपने विछौने को विछाता है और अवश की तरह अग-प्रत्यग का सहसा विक्षेप कर

१. ईर्यापथ (पालि=इरियापथ)=चर्या, वृत्ति, विहार। ईर्यापथ चार हैं—गमन, स्थान, निषद्या, और शयन। (वि० ५)

भृकुटि चढाकर सोता है। उठाये जाने पर सहसा उठता है और क्रुद्ध होकर उत्तर देता है। मोहचरित पुरुष का बिछौना बेतरतीब होता है। वह हाथ-पैर फैलाकर प्राय मुँह नीचा कर सोता है। उठाये जाने पर हुकार करते हुए मन्दभाव से उठता है। श्रद्धाचरितादि पुरुष की वृत्ति रागचरितादि पुरुष के समान होती है, क्योकि इनकी सभागता है।

कृत्य—कृत्य से भी चर्या का निश्चय होता है। जैसे झाड देते समय रागचरित पुरुष विना जल्दबाजी के झाड़ू को अच्छी तरह पकडकर समान रूप से झाड देता है और स्थान को अच्छी तरह साफ करता है। द्वेषचरित पुरुष झाड़ू को कसकर पकडता है और जल्दी-जल्दी दोनो ओर बालू उडाता हुआ साफ करता है और स्थान भी साफ नही होता। मोह-चरित पुरुष झाड़ू को शिथिलता के साथ पकड़कर इधर-उधर चलाता है, स्थान भी साफ नही होता। इसी प्रकार अन्य क्रियाओ के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिए। रागचरित पुरुष कार्य में कुशल होता है, सुन्दर तथा समरूप से सावधानता के साथ कार्य करता है। द्वेषचरित पुरुष का कार्य स्थिर, स्तब्ध और विषम होता है और मोहचरित पुरुष कार्य में अनिपुण, व्याकुल, विषम और अयथार्थ होता है। सभागता होने के कारण श्रद्धाचरितादि पुरुषो की वृत्ति भी इसी प्रकार की होती है।

भोजन—रागचरित पुरुष को स्निग्ध और मधुर भोजन प्रिय होता है; वह धीरे-धीरे विविध रसो का आस्वाद लेते हुए भोजन करता है, अच्छा भोजन करके उसको प्रसन्नता होती है। द्वेषचरित पुरुष को रूखा और अम्ल भोजन प्रिय होता है, वह विना रसो का स्वाद लिये जल्दी-जल्दी भोजन करता है, यदि वह कोई बुरे स्वाद का पदार्थ खाता है, तो उसे अप्रसन्नता होती है। मोहचरित पुरुष की रुचि अनियत होती है, वह विक्षिप्तचित्त पुरुष की तरह नाना प्रकार के वितर्क करते हुए भोजन करता है। इसी प्रकार, श्रद्धाचरितादि पुरुष की वृत्ति होती है।

दर्शन—रागचरित पुरुष थोडा मनोरम रूप देखकर विस्मित भाव से चिरकाल तक उसका अवलोकन करता है, थोडा भी गुण हो, तो वह उसमें अनुरक्त हो जाता है, वह यथार्थ दोष का भी ग्रहण नही करता। उस मनोरम रूप के पास से हटने की उसकी इच्छा नही होती। द्वेषचरित पुरुष थोडा भी अमनोरम रूप देखकर खेद को प्राप्त होता है। वह उसकी ओर देर तक देख नही सकता। थोडा भी दोष उसकी निगाह से बचकर नही जा सकता। यथार्थ गुण का भी वह ग्रहण नही करता। मोहचरित पुरुष जब कोई रूप देखता है, तब वह उसके विषय में उपेक्षाभाव रखता है, दूसरो को निन्दा करते देखकर निन्दा और प्रशसा करते देखकर प्रशसा करता है। श्रद्धाचरितादि पुरुषो की वृत्ति भी इसी प्रकार की होती है।

धर्म-प्रवृत्ति—रागचरित पुरुष मे माया, शाठ्य, मान, पापेच्छा, असन्तोष, चपलता, लोभ, शृ गारभाव आदि धर्मों की बहुलता होती है। द्वेषचरित पुरुष मे क्रोध, द्वेष ईर्ष्या, मात्सर्य, दम्भ आदि धर्मों की बहुलता होती है। मोहचरित पुरुष में विचिकित्सा, आलस्य, चित्तविक्षेप, चित्त की अकर्मण्यता, पश्चात्ताप, प्रतिनिविष्टता, दृढग्राह आदि धर्मों की बहुलता

होती है। श्रद्धाचरित पुरुष का परित्याग निःसङ्ग होता है; वह आर्यों के दर्शन की तथा सद्धर्म-श्रवण की इच्छा रखता है, उसमें प्रीति की बहुलता है, वह शठता और माया से रहित है, उचित स्थान में वह श्रद्धाभाव रखता है। बुद्धिचरित पुरुष स्निग्धभाषी, मितभोजी और कल्याणमित्र होता है। वह स्मृति-सम्प्रजन्य की रक्षा करता है; सदा जाग्रत् रहता है। संसार का दुःख देखकर उसमें संवेग उत्पन्न होता है और वह उद्योग करता है। वितर्कचरित पुरुष की कुशलधर्मों में अरति होती है। वह इधर से उधर आलम्बनों के पीछे दौड़ता है।

चर्या की विभावना का उक्त प्रकार पालि और अर्थकथाओं में वर्णित नहीं है। यह केवल आचार्य बुद्धघोष के मतानुसार कहा गया है। इसलिए, इसपर पूर्ण रूप से विश्वास नहीं करना चाहिए। द्वेषचरित पुरुष भी यदि प्रमाद से रहित हो उद्योग करे, तो रागचरित पुरुष की गति आदि का अनुकरण कर सकता है। जो पुरुष संसृष्टचरित का है, उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की गति आदि नहीं घटती, किन्तु जो प्रकार अर्थकथाओं में वर्णित है, उसका सार रूप से ग्रहण करना चाहिए।

इस प्रकार, आचार्य योगी की चर्या को जानकर निश्चय करता है कि वह पुरुष रागचरित है या द्वेष-मोह-चरित है। किस चरित के पुरुष के लिए क्या उपयुक्त है? अब इस प्रश्न पर हम विचार करेंगे। रागचरित पुरुष को तृणकुटी में, पर्णशाला में, एक ओर अवनत पर्वतपाद के अधोभाग में या वेदिका से घिरे हुए अपरिशुद्ध भूमितल पर निवास करना चाहिए। उसका आवास रज से आकीर्ण, छिन्न-भिन्न, अति उच्च या अति नीच, अपरिशुद्ध, चमगादड़ों से परिपूर्ण, छायोदकरहित, सिंह-व्याघ्रादि के भय से युक्त, देखने में विरूप और दुर्वर्ण होना चाहिए। ऐसा आवास रागचरित पुरुष के उपयुक्त है। रागचरित पुरुष के लिए ऐसा चीवर उपयुक्त होगा, जो किनारों पर फटा हो, जिसके धागे चारों ओर से लटकते हों, जो देखने में जालाकार पूए के समान हो जो छूने में खुरखुरा और देखने में भद्दा, मैला और भारी हो। उसका पात्र मृत्तिका या लोहे का होना चाहिए। देखने में बदसूरत और भारी हो, कपाल की तरह, जिसको देखकर घृणा उत्पन्न हो। उसका भिक्षाचर्या का मार्ग विषम, अमनोरम और ग्राम से दूर होना चाहिए। भिक्षाचार के लिए उसे ऐसे ग्राम में जाना चाहिए, जहाँ के लोग उसकी उपेक्षा करें, जहाँ एक कुल से भी जब उसे भिक्षा न मिले, तब लोग आसन-शाला में बुलाकर उसे यवागू भोजन के लिए दें और बिना पूछे चलते बनें। परोसनेवाले भी दास या भृत्य हों, जिनके वस्त्र मैले और बदबूदार हों, जो देखने में दुर्वर्ण हों और जो बेमन से परोसता हो। उसका भोजन रूक्ष, दुर्वर्ण और नीरस होना चाहिए। भोजन के लिए सावाँ, कोदो, चावल के कण, सड़ा हुआ तक्र और जीर्ण शाक का सूप होना चाहिए। उसका ईर्यापथ स्थान या चङ्क्रमण होना चाहिए, अर्थात् उसे या तो खड़े रहना चाहिए या टहलना चाहिए। नीलादि वर्ण-कसिणों[1] में जिस आलम्बन का वर्ण अपरिशुद्ध हो, वह उसके उपयुक्त है।

---

१ कसिण (संस्कृत=कृत्स्न=समस्त), कसिण दस हैं। ये ध्यान के लाभ में सहायक होते हैं।

द्वेषचरित पुरुष के शयनासन को न बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा होना चाहिए, उसे छाया और जल से सम्पन्न तथा सुवासित होना चाहिए। उसका भूमि-तल समुज्ज्वल, मृदु, सम और स्निग्ध हो, ब्रह्मविमान के तुल्य सुन्दर तथा कुसुममाला और नानावर्ण के चैल-वितानो से समलकृत हो और जिसके दर्शनमात्र से चित्त को आह्लाद प्राप्त हो। उसको श्रमण के अनुरूप हलका सुरक्त और शुद्ध वर्ण का रेशमी या सूक्ष्म क्षौमवस्त्र धारण करना चाहिए। उसका पात्र मणि की तरह चमकता हुआ और लोहे का होना चाहिए। भिक्षाचार का मार्ग भयरहित, सम, सुन्दर तथा ग्राम से न बहुत दूर और न बहुत निकट ही होना चाहिए। जिस ग्राम में वह भिक्षाचर्या के लिए जाय, वहाँ के लोग आदरपूर्वक उसको भोजन के लिए अपने घर पर निमन्त्रित करें और आसन पर बैठाकर अपने हाथ से भोजन करायें। परोसनेवाले पवित्र और मनोज्ञ वस्त्र धारण कर, आभरणो से प्रतिमण्डित हो आदर के साथ भोजन परोसें। भोजन वर्ण, गन्ध और रस से सम्पन्न हो और हर प्रकार से उत्कृष्ट हो। ईर्यापथ मे उसके लिए शय्या या निषद्या उपयुक्त है, अर्थात् उसे लेटना या बैठना चाहिए। नीलादि वर्ण कसिणो मे जो आलम्बन सुपरिशुद्ध वर्ण का हो, वह उसके लिए उपयुक्त है।

मोहचरित पुरुष का आवास खुले हुए स्थान मे होना चाहिए, जहाँ बैठकर वह सब दिशाओ को विवृत रूप से देख सके। चार ईर्यापथो में से इसके लिए चक्रमण (टहलना) उपयुक्त है, आलम्बनो में शराव-मात्र या शूर्प-मात्र क्षुद्र आलम्बन इसके लिए उपयुक्त नही है, क्योकि घिरी जगह मे चित्त और भी मोह को प्राप्त होता है। इसलिए, मोहचरित पुरुष का कसिण-मण्डल विपुल होना चाहिए। शेष बातो मे मोहचरित पुरुष, द्वेषचरित पुरुष के समान है, जो कुछ द्वेषचरित पुरुष के उपयुक्त बताया गया है, वह सब श्रद्धाचरित पुरुष के लिए भी उपयुक्त है। आलम्बनो में श्रद्धाचरित पुरुष के लिए अनुस्मृति-स्थान[1] भी उपयुक्त है। बुद्धिचरित पुरुष के लिए आवासादि के विषय में कुछ भी अनुपयुक्त नही है। वितर्कचरित पुरुष के लिए दिशाभिमुख, खुला हुआ आवास उपयुक्त नही है। क्योकि, ऐसे स्थान से उसको आराम, वन, पुष्करिणी आदि दिखलाई देंगी, जिससे चित्त का विक्षेप होगा और वितर्क की वृद्धि होगी। इसलिए, उसे गम्भीर पर्वत-विवर मे रहना चाहिए। इसके लिए विपुल आलम्बन भी उपयुक्त न होगा, क्योकि यह भी वितर्क की वृद्धि मे हेतु होगा। उसका आलम्बन क्षुद्र होना चाहिए। शेष बातो में वितर्कचरित पुरुष रागचरित पुरुष के समान है।

आचार्य को चर्या के अनुकूल कर्मस्थान का ग्रहण करना चाहिए। इस सम्बन्ध मे ऊपर सक्षेप में ही कहा गया है। अब विस्तार से कहा जायगा।

---

१ अनुस्मृति-स्थान—'अनुस्मृति' का अर्थ है 'बार-बार स्मरण' अथवा 'अनुरूप स्मृति'। जो स्मृति उचित स्थान में प्रवर्त्तित होती है, वह योगी के अनुरूप होती है। अनुस्मृति के दस विषय हैं। इन्हें अनुस्मृति-स्थान कहते हैं।

कर्मस्थान चालीस है। वह इस प्रकार है—दस 'कसिण', दस अशुभ, दस अनुस्मृति, चार ब्रह्मविहार, चार आरूप्य, एक संज्ञा, एक व्यवस्थान।

'कसिण' योग-कर्म के सहायक आलम्बनो में से है। श्रावक 'कसिण' आलम्बनो की भावना करते है। 'कसिणो' (= कृत्स्न) पर चित्त को एकाग्र करने से ध्यान की समाप्ति होती है। इस अभ्यास को 'कसिण कम्म' कहते हैं। 'कसिण' दस है। विशुद्धिमार्ग के अनुसार 'कसिण' इस प्रकार है—पृथ्वीकसिण, अप्क०, तेजक०, वायुक०, नीलक० पीतक०, लोहितक०, अवदातक०, आलोकक०, परिच्छिन्नाकाशक०। मज्झिम तथा दीघनिकाय की सूची में आलोक और परिच्छिन्नाकाश के स्थान में आकाश और विज्ञान परिगणित है।

अशुभ दस है—उद्धुमातक (भाथी की तरह फूला हुआ मृत शरीर), विनीलक (मृत शरीर सामान्यत. नीला हो जाता है), विपुव्वक (जिसके भिन्न स्थानो से पीप विस्यन्दमान होती है), विच्छिद्दक (द्विधा छिन्न शवशरीर), विक्खायितक (वह शव, जिसे कुत्ते और शृगालो ने स्थान-स्थान पर विविध रूप से खाया हो), विक्खित्तक (वह शव, जिसके अग इधर-उधर छितरें पडे हो), हतविक्खित्तक (वह शव, जिसके अग -प्रत्यग शस्त्र से काटकर इधर-उधर छितरा दिये गये हो), लोहितक (रक्त से सनी लाश), पुलुवक (कृमियो से परिपूर्ण शव) और अट्ठिक (अस्थिपजर-मात्र)।

अनुस्मृति दस है—वुद्धानु०, धर्मानु०, सघानु०, शीलानु०, त्यागानु०, देवतानु०, कायगतास्मृति, मरणानुस्मृति, आनापानस्मृति,[1] उपशमानुस्मृति। मैत्री, करुणा, उपेक्षा ये चार **ब्रह्मविहार**[2] है। आकाशानन्त्यायन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिंचन्यायतन, नैवसज्ञाना-सज्ञायतन ये चार **आरूप्य** हैं। आहार में प्रतिकूल सज्ञा एक सज्ञा है। चार धातुओ का व्यवस्थान एक व्यवस्थान है।

समाधि के दो प्रकार है— उपचार और अर्पणा[3]। जबतक ध्यान क्षीण रहता है और अर्पणा की उत्पत्ति नही होती, तबतक उपचार-समाधि का व्यवहार होता है। उपचार-भूमि में नीवरणो का प्रहाण होकर चित्त समाहित होता है। पर वितर्क, विचार आदि पांच अगो का प्रादुर्भाव नही होता। जिस प्रकार ग्राम का समीपवर्ती प्रदेश ग्रामोपचार कहलाता है, उसी प्रकार अर्पणा-समाधि के समीपवर्ती होने के कारण उपचार सज्ञा पडी। उपचार-भूमि मे अग मजबूत

---

१ तुलना कीजिए—'प्रच्छर्दनविधारणाभ्या वा प्राणस्य।" (योगदर्शन, समाधिपाद, सू० ३४)

२ तुलना कीजिए—मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्।" (योगदर्शन, समाधिपाद, सू० ३३)

३ अर्पणा (पालि='अप्पना') 'सम्पयुत्तधम्मे आरम्मणे अप्पेन्तो विय पवत्ततीति वितक्को अप्पना।' (परमत्थमञ्जूसाटीका)

नही होते; पर अर्पणा मे अगो का प्रादुर्भाव होता है और वे सुदृढ हो जाते है। इसलिए, यह समाधि की प्रतिलाभ-भूमि है। जिस प्रकार बालक जब खडे होकर चलने की कोशिश करता है, तब आरम्भ मे अभ्यास न होने के कारण खडा होता है और फिर बार-बार गिर पडता है, उसी प्रकार उपचार-समाधि के उत्पन्न होने पर चित्त कभी निमित्त को आलम्बन बनाता है, तो कभी भवाग मे अवतीर्ण हो जाता है। पर, अर्पणा मे अग सुदृढ हो जाते है, सारा दिन, सारी रात, चित्त स्थिर रहता है। चालीस कर्मस्थानो में से दस कर्मस्थान- —बुद्ध-धर्म-सघ-शील-त्याग-देवता ये छ अनुस्मृतियाँ मरणानुस्मृति, उपशमानुस्मृति, आहार के विषय मे प्रतिकूल सज्ञा और चतुर्धातु-व्यवस्थान——उपचार-समाधि का और बाकी तीस अर्पणा-समाधि का आनयन करते है। जो कर्मस्थान अर्पणा-समाधि का आनयन करते है, उनमे से दस 'कसिण' और आना-पानस्मृति चार ध्यानो के आलम्बन होते हैं, दस अशुभ और कायगतास्मृति प्रथम ध्यान के आलम्बन हैं। पहले तीन ब्रह्म-विहार तीन ध्यानो के और चौथा ब्रह्म-विहार और चार आरूप्य चार ध्यानो के आलम्बन हैं। पहले ध्यान के पाँच अग होते हैं—वितर्क, विचार प्रीति, सुख, एकाग्रता (समाधि)। इसे सवितर्क-सविचार कहते हैं। ध्यानो की परिगणना दो प्रकार से है। चार ध्यान या पाँच ध्यान माने जाते हैं। पाँच की परिगणना के दूसरे ध्यान मे वितर्क का अतिक्रम होता है, पर विचार रह जाता है। इसे अवितर्क-विचार-मात्र कहते हैं। पर चार की परिगणना के द्वितीय ध्यान मे और पाँच की परिगणना के तृतीय ध्यान में वितर्क और विचार दोनो का अतिक्रम होता है, केवल प्रीति, सुख और समाधि अवशिष्ट रह जाते हैं। पाँच की परिगणना के चतुर्थ ध्यान में और चार की परिगणना के तृतीय ध्यान में प्रीति का अतिक्रमण होता है, केवल सुख और समाधि अवशिष्ट रह जाते हैं। दोनो प्रकार के अन्तिम ध्यान मे सुख का अतिक्रम होता है। अन्तिम ध्यान की समाधि उपेक्षा-सहगत होती है।

इस प्रकार, तीन और चार ध्यानो के आलम्बन-स्वरूप कर्मस्थानो मे ही अग का समतिक्रम होता है, क्योकि वितर्क-विचारादि ध्यान के अगो का अतिक्रम कर उन्ही आलम्बनो में द्वितीयादि ध्यानो की प्राप्ति होती है। यही कथा चतुर्थ ब्रह्म-विहार की है। मैत्री आदि आलम्बनो मे सौमनस्य का अतिक्रमण कर चतुर्थ ब्रह्म-विहार में उपेक्षा की प्राप्ति होती है। चार आरूप्यो मे आलम्बन का समतिक्रम होता है। पहले नौ कसिणो मे से किसी-किसी का अतिक्रमण करने से ही आकाशानन्त्यायतन की प्राप्ति होती है। आकाश आदि का अतिक्रमण कर विज्ञानानन्त्यायतन आदि की प्राप्ति होती है। शेष, अर्थात् इक्कीस कर्मस्थानो मे समतिक्रम नही होता। इस प्रकार, कुछ में अग का अतिक्रमण और कुछ मे आलम्बन का अतिक्रमण होता है।

इन चालीस कर्मस्थानो मे से केवल दस कसिणो की वृद्धि करनी चाहिए। क्योकि जितना स्थान कसिण द्वारा व्याप्त होता है, उतने ही अवकाश मे दिव्य श्रोत्र से शब्द सुना जाता है, दिव्य चक्षु से रूप देखे जा सकते है और परचित्त का ज्ञान हो सकता है। पर, कायगता स्मृति और दस अशुभो की वृद्धि नही करनी चाहिए। क्योकि, इससे कोई लाभ नही है। यह

परिच्छिन्नाकार में ही उपस्थित होते हैं। इसलिए इनकी वृद्धि से कोई अर्थ नहीं निकलता। इनकी वृद्धि किये विना भी काम-राग का ध्वंस होता है। शेष कर्मस्थानों की भी वृद्धि नहीं करनी चाहिए। उदाहरण के लिए, जो आनापान-निमित्त की वृद्धि करता है, वह वातराशि की ही वृद्धि करता है और अवकाश भी परिच्छिन्न होता है। चार ब्रह्म-विहारों के आलम्बन सत्त्व हैं। इनमें निमित्त की वृद्धि करने से सत्त्व-राशि की वृद्धि होती है और उससे कोई उपकार नहीं होता। कोई प्रतिभाग-निमित्त नहीं है, जिसकी वृद्धि की जाय। आरूप्य आलम्बनों में भी आकाश की वृद्धि नहीं करनी चाहिए, क्योंकि कसिण के अपगम से ही आरूप्य की प्राप्ति होती है। विज्ञान और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन स्वभाव-धर्म हैं, इसलिए इनकी वृद्धि सम्भव नहीं है। शेष की वृद्धि इसलिए नहीं हो सकती, क्योंकि यह अनिमित्त है। बुद्धानुस्मृति आदि का आलम्बन प्रतिभाग-निमित्त नहीं है। इसलिए, इनकी वृद्धि नहीं करनी चाहिए।

दस कसिण, दस अशुभ, आनापान-स्मृति, कायगतास्मृति, केवल इन बाईस कर्मस्थानों के आलम्बन प्रतिभाग-निमित्त होते हैं। शेष आठ स्मृतियाँ, आहार के विषय में प्रतिकूल-संज्ञा और चतुर्धातु-व्यवस्थान, विज्ञानानन्त्यायतन, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन इन बारह कर्मस्थानों के आलम्बन स्वभाव-धर्म हैं। उक्त दस कसिण आदि बाइस कर्मस्थानों के आलम्बन-निमित्त हैं। शेष छ—चार ब्रह्म-विहार, आकाशानन्त्यायतन और आकिञ्चन्यायतन के सम्बन्ध में न यही कहा जा सकता है कि वह निमित्त है और न यही कहा जा सकता है कि वह स्वभाव-धर्म है।

विपुब्बक, लोहितक, पुलवक, आनापान-स्मृति, अप्कसिण, तेजकसिण, वायुकसिण और आलोककसिणों में सूर्यादि से जो अवभास-मण्डल आता है—इन आठ कर्मस्थानों के आलम्बन चलित हैं, पर प्रतिभाग-निमित्त स्थिर हैं। शेष कर्मस्थानों के आलम्बन स्थिर हैं।

मनुष्यों में सब आलम्बनों की प्रवृत्ति होती है। देवताओं में दस अशुभ कायगता-स्मृति और आहार के विषय में प्रतिकूल-संज्ञा इन बारह आलम्बनों की प्रवृत्ति नहीं होती। ब्रह्मलोक में बारह उक्त आलम्बन तथा आनापान-स्मृति की प्रवृत्ति नहीं होती।

वायु-कसिण को छोडकर बाकी नौ कसिण और दस अशुभ का ग्रहण दृष्टि द्वारा होता है। इसका अर्थ यह है कि पहले चक्षु से बार-बार देखने से निमित्त का ग्रहण होता है। कायगतास्मृति के आलम्बन का ग्रहण दृष्टि-श्रवण से होता है, क्योंकि त्वक्पंचक का ग्रहण दृष्टि से और शेष का श्रवण से होता है। आनापान-स्मृति स्पर्श से, वायु-कसिण दर्शन-स्पर्श से, शेष अट्ठारह श्रवण से गृहीत होते हैं। भावना के आरम्भ में योगी उपेक्षा, ब्रह्म-विहार और चार आरूप्यों का ग्रहण नहीं कर सकता, पर शेष चौंतीस आलम्बनों का ग्रहण कर सकता है।

आकाश-कसिण को छोडकर शेष नौ कसिण आरूप्यों में हेतु हैं, दश कसिण अभिज्ञा[1] में हेतु हैं, पहले तीन ब्रह्म-विहार चतुर्थ ब्रह्म-विहार में हेतु हैं, नीचे का आरूप्य ऊपर के

१. (धर्मसंग्रह)—"पञ्चाभिज्ञा दिव्यचक्षुर्दिव्यश्रोत्र परचित्तज्ञान पूर्वनिवासानुस्मृतिश्चर्द्धिश्चेति'।' —'अभिज्ञा' अधिक ज्ञान को कहते हैं।

आरूप्य में हेतु है, नैवसंज्ञानासंज्ञायतन निरोध-समापत्ति मे हेतु है, और सव कर्मस्थान सुख-विहार, विपश्यना और भव-सम्पत्ति में हेतु है ।

रागचरित पुरुष के ग्यारह कर्मस्थान—दस अशुभ और कायगता स्मृति—अनुकूल है, द्वेषचरित पुरुष के आठ कर्मस्थान—चार ब्रह्म-विहार और चार वर्ण-कसिण—अनुकूल है, मोह और वितर्कचरित पुरुष के लिए एक आनापान-स्मृति ही अनुकूल है, श्रद्धाचरित पुरुष के लिए पहली छः अनुस्मृतियाँ, बुद्धिचरित पुरुप के लिए मरण-स्मृति, उपशमानुस्मृति, चतु-र्धातु-व्यवस्थान और आहार के विषय मे प्रतिकूल-संज्ञा यह कर्मस्थान अनुकूल है। शेष कसिण और चार आरूप्य सब चरित के पुरुषो के लिए अनुकूल है। कसिणो मे जो क्षुद्र है, वह वितर्क-चरित पुरुष के लिए और जो अप्रमाण है, वह मोहचरित पुरुष के अनुकूल है। जिसके लिए जो कर्मस्थान अत्यन्त उपयुक्त है, उसका उल्लेख ऊपर किया गया है। ऐसी कोई कुशलभावना नही है, जिसमे रागादि का परित्याग न हो और जो श्रद्धादि की उपकर्त्री न हो ।

भगवान् मेधिय-सुत्त मे कहते है कि इन चार धर्मों की भावना करनी चाहिए—राग के नाश के लिए अशुभ-भावना, व्यापाद के नाश के लिए मैत्री-भावना, वितर्क के उपच्छेद के लिए आनापान-स्मृति की भावना और अहकार-ममकार के समुद्घात के लिए अनित्य-संज्ञा की भावना। भगवान् ने राहुल-सुत्त मे एक के लिए सात कर्मस्थानो का उपदेश किया है। इसलिए, वचन-मात्र मे अभिनिवेश न रखकर सब जगह अभिप्राय की खोज होनी चाहिए ।

दस कसिणो का ग्रहण कर भावना किस प्रकार की जाती है और ध्यानो का उत्पाद कैसे होता है, इसपर अव विस्तार से विचार करेंगे ।

कसिण-निर्देश

पृथ्वी-कसिण—योगी को कल्याणमित्र के समीप अपनी चर्या के अनुकूल किसी कर्मस्थान का ग्रहण कर समाधि-भावना के अनुपयुक्त विहार का परित्याग कर अनुरूप विहार मे वास करना चाहिये और भावना-विधान का किसी अंश मे भी परित्याग न कर कर्मस्थान का आसेवन करना चाहिए ।

जिस विहार मे आचार्य निवास करते हो, यदि वहाँ समाधि-भावना की सुविधा हो, तो वही रहकर कर्मस्थान का सशोधन करना चाहिए। यदि असुविधा हो, तो आचार्य के विहार से अधिक-से-अधिक एक योजन की दूरी पर निवास करना चाहिए। यदि किसी विषय मे सन्देह उपस्थित हो, या स्मृति-समोष हो, तो विहार का दैनिक कृत्य सम्पादन कर आचार्य के समीप जाकर गृहीत कर्मस्थान का सशोधन करना चाहिए। यदि एक योजन के भीतर भी कोई उपयुक्त विहार न मिले, तो सव प्रकार के सन्देहो का निराकरण कर कर्मस्थान के अर्थ और अभिप्राय को भलीभाँति प्रकार चित्त मे प्रतिष्ठित कर कर्मस्थान को सुविशुद्ध करना चाहिए। तदनन्तर, दूर भी जाकर समाधि-भावना के अनुरूप स्थान मे निवास करना चाहिए। अट्ठारह दोषो मे से किसी एक से भी समन्वागत विहार समाधि-भावना के अनुरूप नही होता ।

सामान्यतः, योगी को महाविहार, नवविहार, जीर्णविहार, राजपथ-समीपवर्त्ती विहार आदि मे निवास नही करना चाहिए।

महाविहार में नाना प्रकार के भिक्षु निवास करते है। आपस के विरोध के कारण विहार का दैनिक कृत्य भली भाँति सम्पादित नही होता। जब योगी भिक्षा के लिए बाहर जाता है और यदि वह देखता है कि कोई काम करने से रह गया है, तो उसे उस काम को स्वयं करना पडता है। न करने से वह दोष का भागी होता है और यदि करे, तो समय नष्ट होता है, विलम्ब हो जाने से उसको भिक्षा भी नही मिलती। यदि वह किसी एकान्त स्थान मे बैठकर समाधि की भावना करना चाहता है, तो श्रामणेर और तरुण भिक्षुओं के शोर के कारण विक्षेप उपस्थित होता है।

जीर्णविहार में अभिसंस्कार का काम बराबर लगा रहता है। राजपथ के समीपवर्त्ती विहार में दिनरात आगन्तुक आया करते है। यदि विकाल में कोई आया, तो अपना शयनासन भी देना पडता है। इसलिए वहाँ कर्मस्थान का अवकाश नही मिलता। यदि विहार के समीप पुष्करिणी हुई, तो वहाँ निरन्तर लोगो का जमघट रहा करता है। कोई पानी भरने आता है तो कोई चीवर धोने और रँगने आता है। इस प्रकार, निरन्तर विक्षेप हुआ करता है। ऐसा विहार भी अनुपयुक्त है, जहाँ नाना प्रकार के शाक, पर्ण, फल या फूल के वृक्ष हो, वहाँ भी निवास नही करना चाहिए, क्योकि ऐसे स्थानो पर फल-फूलो के अर्थी निरन्तर आया-जाया करते है, न देने पर कुपित होते है, कभी-कभी जबरदस्ती भी करते है, और समझाने-बुझाने पर नाराज होते है और उस भिक्षु को विहार से निकालने की चेष्टा करते है।

किसी लोक-सम्मत स्थान मे भी निवास न करना चाहिए। क्योंकि, ऐसे प्रसिद्ध स्थान में यह समझकर कि यहाँ अर्हत् निवास करते है, लोग दूर-दूर से दर्शनार्थ आया करते है। इससे विक्षेप होता है। जो विहार नगर के समीप हो, वह भी अनुरूप नही है, क्योकि वहाँ निवास करने से कामगुणोपसहित हीन शब्द कर्णगोचर होते रहते है और असदश आलम्बन दृष्टिपथ मे आपतित होते है। जिस विहार मे वृक्ष होते है, वहाँ काष्ठहारक लकडी काटने आते है, जिससे ध्यान मे विक्षेप होता है। जिस विहार के चारो ओर खेत हो, वहाँ भी निवास न करना चाहिए। क्योकि, विहार के मध्य में किसान खलिहान बनाते है, धान पीटते है और तरह-तरह के विघ्न उपस्थित करते है। जिस विहार में बडी जायदाद लगी हो, वहाँ भी विक्षेप हुआ करता है। लोग तरह-तरह की शिकायतें लाते है और समय-समय पर राजद्वार पर जाना पडता है। जिस विहार में ऐसे भिक्षु निवास करते हो, जिनके विचार परस्पर न मिलते हो और जो एक दूसरे के प्रति वैरभाव रखते हों, वहाँ सदा विघ्न उपस्थित रहता है, वहाँ भी नही रहना चाहिए।

योगी को दोषो से युक्त विहार का परित्याग कर ऐसे विहार में निवास करना चाहिए, जो भिक्षाग्राम से न बहुत दूर हो, न बहुत समीप, जहाँ आने-जाने की सुविधा हो, जहाँ दिन में लोगो का संघट्ट न हो, जहाँ रात्रि में बहुत शब्द न हो और जहाँ हवा, धूप, मच्छड, खटमल, साँप आदि रेंगनेवाले जानवरो की बाधा न हो, ऐसे विहार में सूत्र और

विनय के जाननेवाले भिक्षु निवास करते हैं। योगी उनसे प्रश्न करता है और वह उसके सन्देहों को दूर करते हैं।

अनुरूप विहार में निवास करते हुए योगी को पहले क्षुद्र अन्तरायों का उपच्छेद करना चाहिए। अर्थात्, यदि चीवर मैला हो, तो उसे फिर से रँगवाना चाहिए, यदि पात्र मैला हो, तो उसे शुद्ध करना चाहिए, यदि केश और नख बढ़ गये हो, तो उनको कटवाना चाहिए और यदि चीवर जीर्ण हो गया हो, तो उसको सिलवाना चाहिए। इस प्रकार, क्षुद्र अन्तरायों का उपच्छेद करना चाहिए।

भोजन के उपरान्त थोडा विश्राम कर एकान्त स्थान में पर्यंकबद्ध हो सुखपूर्वक बैठकर प्राकृतिक अथवा कृत्रिम पृथ्वी-मण्डल में भावना-ज्ञान द्वारा पृथ्वी-निमित्त का ग्रहण करना चाहिए, अर्थात् पृथ्वी-मण्डल की ओर बार-बार देखकर चक्षुनिमीलन के द्वारा पृथ्वी-निमित्त को मन में अच्छी तरह धारण करना चाहिए, जिसमें पुनरवलोकन के क्षण में ही वह निमित्त उपस्थित हो जाय।

जो पुण्यवान् है और जिसने पूर्वजन्म में श्रमण-धर्म का पालन करते हुए पृथ्वी-कसिण नामक कर्मस्थान की भावना कर ध्यानों का उत्पाद किया है, उसके लिए कृत्रिम पृथ्वी-मण्डल के उत्पादन की आवश्यकता नहीं है। वह खलमण्डलादिक प्राकृतिक पृथ्वी-मण्डल में ही निमित्त का ग्रहण कर लेता है। पर जिसको ऐसा अधिकार प्राप्त नहीं है उसे चार कसिण-दोषों का परिहार करते हुए कृत्रिम पृथ्वी-मण्डल बनाना चाहिए। नील, पीत, लोहित और अवदात (श्वेत) के संसर्गवश पृथ्वी-कसिण में दोष प्राप्त हो जाते हैं। नीलादि वर्ण दस कसिणों में परिगणित हैं। इनके संसर्ग से शुद्ध पृथ्वी-कसिण का उत्पाद नहीं होता। इसीलिए इन वर्णों की मृत्तिका का परित्याग बताया गया है। अत, पृथ्वी-मण्डल बनाते समय नीलादि वर्ण की मृत्तिका का ग्रहण न कर गंगा नदी की अरुण वर्ण की मृत्तिका काम में लानी चाहिए।

विहार में जहाँ श्रामणेर आदि आते-जाते हो, वहाँ मण्डल न बनाना चाहिए। विहार के प्रत्यन्त में, प्रच्छन्न स्थान में, गुहा या पर्णशाला में, पृथ्वी-मण्डल बनाना चाहिए। यह मण्डल दो प्रकार का होता है—१ चल (पालि संहारिम=चलनयोग्यम्) और २ अचल (पालि=तत्रट्ठक)। चार दण्डों में कपडा, चमडा या चटाई बाँधकर उसमें साफ की हुई मिट्टी का नियत प्रमाण का वृत्त (वर्त्तुल) लीप देने से चल-मण्डल बनता है। भावना के समय यह भूमि पर फैला दिया जाता है। पद्मकर्णिका के आकार में स्थाणु गाडकर लताओं से उसे वेष्टित कर देने से अचल-मण्डल बनता है। यदि अरुण वर्ण की मृत्तिका पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो सके, तो अधोभाग में एक दूसरे तरह की मिट्टी डालकर ऊपर के हिस्से में सुपरिशुद्ध अरुण वर्ण की मृत्तिका का एक बालिश्त चार अंगुल के विस्तार का वृत्त बनाना चाहिए।

प्रमाण के सम्बन्ध में कहा गया है कि वृत्त शूर्पमात्र हो अथवा शरावमात्र। कुछ लोगों के मत में इन दोनों का सम-प्रमाण है, पर कुछ का कहना है कि शराव (=प्याला)

एक वालिश्त चार अगुल का होता है और शूर्प का प्रमाण इससे अधिक है। इनके मत में वृत्त को शराव से कम और शूर्प से अधिक प्रमाण का न होना चाहिए।[1] इस वृत्त को पत्थर से घिसकर भेरि-तल के सदृश सम करना चाहिए। स्थान साफ कर और स्नान कर मण्डल से ढाई हाथ के फासले पर एक वालिश्त चार अगुल ऊँचे पैरोवाले पीढे पर बैठना चाहिए। इससे अधिक फासले पर बैठने से मण्डल नही दिखलाई देगा और यदि इससे नजदीक बैठा जाय, तो मण्डल के दोष देखने में आयेंगे। यदि उक्त प्रमाण से अधिक ऊँचे आसन पर बैठा जाय, तो गरदन झुकाकर देखना पडेगा और यदि इससे भी नीचे आसन पर बैठा जाय, तो घुटने दर्द करने लगेंगे। इसलिए उक्त प्रकार के आसन पर ही बैठना चाहिए।

काम का दोष देखकर और ध्यान के लाभ को ही सब दुखो के अतिक्रमण का उपाय निश्चित कर नैष्क्रम्य के लिए प्रीति उत्पन्न करनी चाहिए। बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध और आर्यश्रावको ने इसी मार्ग का अनुसरण किया है। मैं भी इसी मार्ग का अनुगामी हो एकान्त-सेवन के सुख का आस्वाद करूँगा, ऐसा विचार कर उसे योग-साधन के लिए उत्साह पैदा करना चाहिए। और सम आकार से चक्षु का उन्मीलन कर निमित्त-ग्रहण (पालि=उग्गहनिमित्त[2]) की भावना करनी चाहिए। जिस प्रकार अतिसूक्ष्म और अतिभास्वर रूप के ध्यान से आँखे थक जाती है, उसी प्रकार अति उन्मीलन से आँखे थक जाती है और मण्डल का रूप भी अत्यन्त प्रकट हो जाता है, अर्थात् उसके स्वभाव का अत्यन्त आविर्भाव होता है तथा उसके वर्ण और लक्षण अधिक स्पष्ट हो जाते है और इस प्रकार निमित्त का ग्रहण नही होता। मन्द उन्मीलन से मण्डल का रूप दिखाई नही देता और दर्शन के कार्य मे चित्त का व्यापार मन्द हो जाता है; इसलिए निमित्त का ग्रहण नही होता। अत, सम आकार से ही चक्षु का उन्मीलन करना चाहिए।

पृथ्वी-कसिण के अरुण वर्ण का चिन्तन और पृथ्वी-धातु के लक्षण का ग्रहण न करना चाहिए। यद्यपि वर्ण का चिन्तन मना है, तथापि पृथ्वी-धातु की उत्सन्नतावश वर्ण-सहित पृथ्वी की भावना एक प्रज्ञप्ति के रूप मे करनी चाहिए। इस प्रकार, प्रज्ञप्तिमात्र में चित्त की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। लोक में सम्भार-सहित पृथ्वी को 'पृथ्वी' कहते है। पृथ्वी, मही, मेदिनी, भूमि, वसुधा, वसुन्धरा आदि पृथ्वी के नामो में से जो नाम योगी को पसन्द हो, उस नाम का उच्चारण

---

१ "सुप्पसरावानि समप्पमाणानि इच्छितानि, केचि पन वदन्ति—सरावमत्त विदत्थिचतुरङ्गुल होति, सुप्पमत्त ततो अधिकप्पमाणन्ति। कित्तिम कसिणमण्डल हेट्ठिमपरिच्छेदेन सरावमत्तं उपरिमपरिच्छेदेन सुप्पमत्त, न ततो अधो उद्ध वाति परिच्छिन्नप्पमाणमेव सरावमत्तं 'सुप्पमत्ते वा सरावमत्ते वा' ति वुत्तन्ति। यथोपट्ठिते आरम्मणे एकङ्गुलमत्तम्पि वड्ढित अप्पमाणमेवाति। वुत्तो वायमत्थो केचि पन छत्तमत्तम्पि कसिणमण्डल कातब्बन्ति वदन्ति।" (परमत्थमञ्जूसा टीका)

२ "यदा पन त निमित्त चित्तेन समुग्गहित होति, चक्खुना पस्सन्तस्सेव मनोद्वारस्स आपाथमागत, तदा तमेव आरम्मण उग्गहनिमित्त नाम। सा च भावना समाधियति।

(अभिधम्मत्थसंगहो, ९।१७)

करना चाहिए । पर पृथ्वी नाम ही प्रसिद्ध है, इसलिए पृथ्वी नाम का ही उच्चारण कर भावना करनी अच्छी है। कभी आँख खोलकर, कभी आँख मूँदकर, निमित्त का ध्यान करना चाहिए । जबतक निमित्त का उत्पादन नही होता, तबतक इसी प्रकार भावना करनी चाहिए । जब भावना-वश आँखें मूँदने पर उसी तरह जैसा आँखे खोलने पर निमित्त का दर्शन हो, तब समझना चाहिए कि निमित्त का उत्पाद हुआ है। निमित्तोत्पाद के बाद उस स्थान पर न बैठना चाहिए । अपने निवास-स्थान में बैठकर भावना करनी चाहिए । यदि किसी अनुपयुक्त कारण-वश इस तरुण समाधि का नाश हो जाय, तो शीघ्र उस स्थान पर जाकर निमित्त का ग्रहण कर अपने वास-स्थान पर लौट आना चाहिए और बहुलता के साथ इस भावना का आसेवन और बार-बार चित्त में निमित्त की प्रतिष्ठा करनी चाहिए । ऐसा करने से क्रमपूर्वक नीवरण, अर्थात् अन्तरायो का नाश और क्लेशो का उपशम होता है।

भावना-क्रम से जब श्रद्धा आदि इन्द्रियाँ[1] सुविशद और तीक्ष्ण हो जाती है, तब कामादि दोष का लोप होता है और उपचार-समाधि में चित्त समाहित हो प्रतिभाग-निमित्त[2] का प्रादुर्भाव होता है। प्रतिभाग-निमित्त, उद्ग्रह-निमित्त (पाली = उग्गहनिमित्त) में से कई-गुना अधिक सुपरिशुद्ध होता है। उद्ग्रह-निमित्त मे कसिण-दोष (जैसे उँगली की छाप) दिखलाई पडते हे, पर प्रतिभाग-निमित्त भास्वर और स्वच्छ होकर निकलता है। प्रतिभाग-निमित्त वर्ण और आकार (सस्थान) से रहित होता है। यह चक्षु द्वारा ज्ञेय नही है, यह स्थूल पदार्थ नही है और अनित्यता आदि लक्षणो से अकित नही है। केवल समाधि-लाभी को यह उपस्थित होता है और भावना-सज्ञा से इसका उत्पाद होता है। इसकी उत्पत्ति के

---

१ इन्द्रिय पाँच हैं—समाधि, वीर्य, श्रद्धा, प्रज्ञा और स्मृति । क्लेश के उपशम में इनका आधिपत्य होने के कारण इनकी इन्द्रिय सज्ञा है।

वास्तव में २२ इन्द्रियाँ हैं। इनमें से पाँच का यह सग्रह प्रसिद्ध है—"श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक-मितरेषाम् ।" (योगसूत्र, १।२०)। विशुद्धिमार्ग में इन पाँच इन्द्रियों का कृत्य इस प्रकार दिखाया गया है—"सद्धादीन पटिपक्खाभिभवन सम्पयुत्तधम्मानञ्च पसन्नाकारादिभावसम्पापन ।" (पृ० ४६३)।

'श्रद्धा' 'चित्त के सम्प्रसाद' को कहते हैं, 'वीर्य' का अर्थ 'उत्साह' है अनुभूत षिपय के असम्प्रमोष को 'स्मृति' कहते हैं, 'समाधि' चित्त की एकाग्रता को कहते हैं और 'प्रज्ञा' उसे कहते हैं, जिसके द्वारा यथाभूत वस्तु का ज्ञान होता है।

२ "तथा समाहितस्स पनेतस्स ततो पदं तस्मिं उग्गहनिमित्ते परिकम्मसमाधिना भावनमनुयुजन्तस्स यदा तप्पटिभागं वत्थुधम्मविमुच्चित पत्तिसखातं भावनामयमारम्मणं चित्ते सन्निसिन्न समधित होति, तदा तं पटिभागनिमित्तं समुप्पन्नं ति पवुच्चति । ततो पट्ठाय पटिबन्धविप्पहीना कामावचर-समाधि-संखात-उपचारभावनानिप्फन्ना नाम होति ।" (अभिधम्मत्थसगहो, ६।१८)।

समय से ही अन्तरायों का नाश और क्लेशों का उपशम होता है तथा चित्त उपचार-समाधि[1] द्वारा समाहित होता है।

प्रतिभाग-निमित्त का उत्पाद आदि दुष्कर है। इस निमित्त की रक्षा बड़े प्रयत्न के साथ करनी चाहिए। क्योंकि, ध्यान का यही आलम्बन है। निमित्त के विनष्ट होने से लब्ध-ध्यान भी नष्ट हो जाता है। उपचार-समाधि के बलवान् होने से ध्यान के अधिगम की अवस्था, अर्थात् अर्पणा-समाधि उत्पन्न होती है। उस अवस्था में ध्यान के अंगों का प्रादुर्भाव होता है। उपयुक्त के आसेवन और अनुपयुक्त के परित्याग से निमित्त की रक्षा और अर्पणा-समाधि का लाभ होता है। जिस आवास में निमित्त उत्पन्न और स्थिर होता है, जहाँ स्मृति का सम्प्रमोष नहीं होता और चित्त एकाग्र होता है, उसी आवास में योगी को निवास करना चाहिए। जो गोचर, ग्राम, आवास के समीप हो और जहाँ भिक्षा सुलभ हो, वही उपयुक्त है। योगी के लिए लौकिक कथा अनुपयुक्त है। इससे निमित्त का लोप होता है। योगी को ऐसे पुरुष का संग न करना चाहिए, जो लौकिक कथा कहे, क्योंकि इससे समाधि में बाधा उपस्थित होती है और जो प्राप्त किया है, वह भी खो जाता है। उपयुक्त भोजन, ऋतु और ईर्यापथ (=वृत्ति) का आसेवन करना चाहिए, ऐसा करने से तथा बहुलता के साथ निमित्त का आसेवन करने से शीघ्र ही अर्पणा-समाधि का लाभ होता है। पर यदि इस विधि से भी अर्पणा का उत्पाद न हो, तो निम्नलिखित दस प्रकार से अर्पणा में कुशलता प्राप्त होती है—

१ शरीर तथा चीवर आदि की शुद्धता से।

यदि केश-नख बढ़े हों, शरीर से दुर्गन्ध आती हो, चीवर जीर्ण तथा क्लिष्ट और आसन मैला हो, तो चित्त तथा चैतसिक धर्म भी अपरिशुद्ध होते हैं, ज्ञान भी अपरिशुद्ध होता है, समाधि-भावना दुर्बल और क्षीण हो जाती है, कर्मस्थान भी प्रगुण भाव को नहीं प्राप्त होता और इस प्रकार अंगों का प्रादुर्भाव नहीं होता। इसलिए, शरीर तथा चीवर आदि को विशद तथा परिशुद्ध रखना चाहिए, जिससे चित्त सुखी हो और एकाग्र हो।

२ श्रद्धादि इन्द्रियों के समभाव प्रतिपादन से।

श्रद्धादि इन्द्रियों में से (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा) यदि कोई एक इन्द्रिय बलवान् हो, तो इतर इन्द्रियाँ अपने कृत्य में असमर्थ हो जाती हैं। जिसमें श्रद्धा का आधिक्य होता है और जिसकी प्रज्ञा मन्द होती है, वह अवस्तु में श्रद्धा करता है, जिसकी प्रज्ञा बलवती होती है और श्रद्धा मन्द होती है। वह शठता का पक्ष ग्रहण करता है और उसका चित्त शुष्क तर्क से विलुप्त होता है। श्रद्धा और प्रज्ञा का अन्योन्यविरह अनर्थावह है। इसलिए, इन दोनों इन्द्रियों का समभाव इष्ट है। दोनों की समता से ही अर्पणा होती है। इसी प्रकार वीर्य और समाधि का भी समभाव इष्ट है। समाधि यदि प्रबल हो और वीर्य मन्द हो, तो आलस्य अभिभूत करता है, क्योंकि समाधि आलस्य-पाक्षिक है। यदि वीर्य प्रबल हो और समाधि

[1] अभिधर्मकोश (८।२२) में इसे 'सामन्तक' कहा है। यह ध्यान का पूर्वांग है। अर्पणा समाधि को मौल-ध्यान कहते हैं। प्रत्येक मौल-ध्यान का एक-एक सामन्तक होता है। मौल-ध्यान आठ हैं—चार रूप, चार आरूप्य: "एव मौलसमापत्तिद्रव्यमष्टविधं त्रिधा।" (अभि० ८।५)।

मन्द हो, तो चित्त की भ्रान्तता या विक्षेप अभिभूत करता है, क्योकि वीर्य विक्षेप-पाक्षिक है। किसी एक इन्द्रिय की सातिशय प्रवृत्ति होने से अन्य इन्द्रियो का व्यापार मन्द हो जाता है। इसलिए, अर्पणा की सिद्धि के लिए इन्द्रियो की एकरसता अभीष्ट है। किन्तु, शमथ-यानिक को बलवती श्रद्धा भी चाहिए। विना श्रद्धा के अर्पणा का लाभ नही हो सकता। यदि वह यह सोचे कि केवल पृथ्वी-पृथ्वी इस प्रकार चिन्तन करने से कैसे ध्यान की उत्पत्ति होगी, तो अर्पणा-समाधि का लाभ नही हो सकता। उसको भगवान् बुद्ध की बताई हुई विधि की सफलता पर विश्वास होना चाहिए। बलवती स्मृति तो सर्वत्र अभीष्ट है, क्योकि चित्त स्मृति-परायण है और इसलिए विना स्मृति के चित्त का निग्रह नही होता।

३ निमित्त-कौशल से, अर्थात् लब्ध-निमित्त की रक्षा मे कुशल और दक्ष होने से।

४ जिस समय चित्त का प्रग्रह (=उत्थान) करना हो, उस समय चित्त का प्रग्रह करने से।

जिस समय वीर्य, प्रामोद्य आदि की अति शिथिलता से भावना-चित्त सकुचित होता है, उस समय प्रश्रब्धि (=काय और चित्त की शान्ति), समाधि और उपेक्षा इन बोध्यगो[1] की भावना उपयुक्त नही है, क्योकि इनसे सकुचित चित्त का उत्थान नही होता। जिस समय चित्त सकुचित हो, उस समय धर्म-विनय (=प्रज्ञा), वीर्य (=उत्साह) और प्रीति इन बोध्यगो की भावना करनी चाहिए। इनसे मन्द-चित्त का उत्थान होता है। कुशल (=पुण्य) और अकुशल (=अपुण्य) के स्वभाव तथा सामान्य लक्षणो के यथार्थ अवबोध से धर्मविचय की भावना होती है। आलस्य के परित्याग से अभ्यासवश कुशल-क्रिया का आरम्भ, वीर्य-सचय और प्रतिपक्ष धर्मो के विध्वसन की पटुता प्राप्त होती है। प्रीतिसम्प्रयुक्त धर्मों का निरन्तर चिन्तन करने से प्रीति का उत्पाद और वृद्धि होती है।

परिप्रश्न, शरीरादि की शुद्धता, इन्द्रिय-समभाव-करण, मन्दबुद्धिवालो के परिवर्जन, प्रज्ञावान् के आसेवन, स्कन्ध, आयतन, धातु, चार आर्यसत्य, प्रतीत्य-समुत्पाद आदि गम्भीर ज्ञानकथा की प्रत्यवेक्षा तथा प्रज्ञापरायणता से धर्मविचय का उत्पाद होता है।

दुर्गति आदि दु खावस्था की भीषणता का विचार करने से, इस विचार से कि लौकिक अथवा लोकोत्तर जो कुछ विशेषता है, उसकी प्रीति वीर्य के अधीन है, इस विचार से कि आलसी पुरुष बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध और महाश्रावको के मार्ग का अनुगामी नही हो सकता, शास्ता के महत्त्व का चिन्तन करने से [शास्ता ने हमारे साथ वहुत उपकार किया है, शास्ता के शासन का अतिक्रमण नही हो सकता, वीर्यारम्भ (=कुशलोत्साह) की शास्ता ने प्रशसा की है], धर्मदाय के महत्त्व का चिन्तन करने से (मुझे धर्म का दायाद होना चाहिए, आलसी

---

१ बोधि के सात अग हैं—१ स्मृति, २ धर्मविचय, ३ वीर्य, ४ प्रीति, ५ प्रश्रब्धि, ७ समाधि और ७ उपेक्षा।

पुरुष धर्म का दायाद नही हो सकता), आलोक-सज्ञा के चिन्तन से, ईर्यापथ के परिवर्त्तन और खुली जगह मे रहने से, आलस्य और अकर्मण्यता का परित्याग करने से, आलसियो के परिवर्जन और वीर्यवान् के आसेवन से, व्यायाम (=उद्योग) के चिन्तन से तथा वीर्यपरायण होने से वीर्य का उत्पाद होता है।

बुद्ध, धर्म, सघ, शील, त्याग (=दान), देवता और उपशम के निरन्तर स्मरण से, बुद्धादि में जो स्नेह और प्रसाद नही रखता, उसके परिवर्जन तथा बुद्ध मे जो स्निग्ध है, उसके आसेवन से, सम्पसादनीय-सुत्तन्त[1] के चिन्तन तथा प्रीति-परायण होने से प्रीति का उत्पाद होता है।

५ जिस समय चित्त का निग्रह करना हो, उस समय चित्त का निग्रह करने से।

जिस समय वीर्य, सवेग (=वैराग्य), प्रामोद्य के अतिरेक से चित्त उद्धत और अनवस्थित होता है, उस समय धर्मविचय, वीर्य और प्रीति की भावना अनुपयक्त है, क्योकि इनसे उद्धत चित्त का समाधान नही हो सकता। ऐसे समय प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा इन बोध्यगो की भावना करनी चाहिए।

काय और चित्त की शान्ति का निरन्तर चिन्तन करने से प्रश्रब्धि की भावना, समथ और अव्यग्रता का निरन्तर चिन्तन करने से समाधि की भावना और उपेक्षा-सम्प्रयुक्त धर्मों का निरन्तर चिन्तन करने से उपेक्षा की भावना होती है।

प्रणति-भोजन. अच्छी ऋतु, उपयुक्त ईर्यापथ के आसेवन से, उदासीन वृत्ति से, क्रोधी पुरुष के परित्याग और शान्त-चित्त पुरुष के आसेवन तथा प्रश्रब्धि-परायण होने से प्रश्रब्धि का उत्पाद होता है।

शरीरादि की शुद्धता से, निमित्तकुशलता से, इन्द्रिय-समभाव-करण से, समय-समय पर चित्त का प्रग्रह (=लीन चित्त का उत्थान) और निग्रह (उद्धत चित्त का समाधान) करने से श्रद्धा और सवेग (=वैराग्य) द्वारा उपशम-सुख-रहित चित्त का सन्तर्पण करने से, प्रग्रह-निग्रह-सन्तर्पण के विपय में सम्यक्-प्रवृत्त भावना-चित्त की विरक्तता से, असमाहित पुरुष के परित्याग और समाहित पुरुप के आसेवन से, ध्यानो की भावना, उत्पाद, अधिष्ठान (=अवस्थिति) व्युत्थान, सक्लेश और व्यवदान (=विशुद्धता) के चिन्तन से तथा समाधि-परायण होने से समाधि का उत्पाद होता है।

जीवो और सस्कारो के प्रति उपेक्षा-भाव, ऐसे लोगो का परित्याग, जिनको जीव और सस्कार प्रिय हैं, ऐसे लोगो का आसेवन, जो जीव और सस्कारो के प्रति उपेक्षा-भाव रखते हैं, तथा उपेक्षा-परायणता से उपेक्षा का उत्पाद करते हैं।

६ जिस समय चित्त का सम्प्रहर्षण (=सन्तर्पण) करना चाहिये, उस समय चित्त के सम्प्रहर्षण से।

---

१. दीघनिकाय, ३।६६।११६, इस सूत्र में बुद्धादिकों का गुण-परदीपन है।

जब प्रज्ञा-व्यापार के अल्पभाव के कारण या उपशम-सुख के अलाभ के कारण चित्त का तर्पण नही होता, तब आठ सवेगो द्वारा सवेग उत्पन्न करना चाहिए। जन्म, जरा, व्याधि, मरण, अपाय दुःख, अतीत में जिस दु ख का मूल हो, अनागत मे जिस दु.ख का मूल हो और वर्त्तमान में आहारपर्येषण का दुःख—यह आठ सवेग-वस्तु हैं। बुद्ध, धर्म और सघ के गुणो के अनुस्मरण से चित्त का सम्प्रसाद होता है।

७ जिस समय चित्त का उपेक्षाभाव होना चाहिए, उस समय चित्त की उदासीन वृत्ति से।

जब भावना करते हुए योगी के चित्त का व्यापार मन्द नही होता, चित्त का विक्षेप नही होता, चित्त को उपशम-सुख का लाभ होता है, आलम्बन मे चित्त की सम-प्रवृत्ति होती है और शमथ के मार्ग म चित्त का आरोहण होता है, तब प्रग्रह, निग्रह और सम्प्रहर्षण के विषय मे चित्त की उदासीन वृत्ति होती है।

८ ऐसे लोगो के परित्याग से जो अनेक कार्यों मे व्यापृत रहते है, जिनका हृदय विक्षिप्त है और जो ध्यान के मार्ग में कभी प्रवृत्त नही हुए हैं।

९ समाधि-लाभी पुरुषो के आसेवन से।

१०. समाधि-परायण होने से।

उक्त दस प्रकार से अर्पणा मे कुशलता प्राप्त की जाती है।

आलस्य और चित्त-विक्षेप का निवारण कर जो योगी सम-प्रयोग से भावना-चित्त को प्रतिभाग-निमित्त में स्थित करता है, वह अर्पणा-समाधि का लाभ करता है। चित्त के लीन और उद्धत भावो का परित्याग कर निमित्त की ओर चित्त को प्रवृत्त करना चाहिए।

जब योगी चित्त को निमित्त की ओर प्रेरित करता है, तब चित्त-द्वार भावना के वल से उपस्थित उसी पृथ्वी-मण्डल-रूपी आलम्बन को अपनी ओर आकृष्ट करता है। उस समय उस आलम्बन में चार या पाँच चेतनाएँ (पालि=जवन[1]) उत्पन्न होती हैं इनमे से अन्तिम रूपावचर-भूमि[2] की है, शेष तीन या चार चेतनाएँ काम-धातु की हैं। प्राकृतिक चित्त की अपेक्षा इन तीन या चार चेतनाओ के वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता आदि भावना के बल से पटुतर होते हैं। इन्हे 'परिकर्म' (पालिरूप= परिकम्म) कहते हैं। क्योकि, ये चेतनाएँ अर्पणा की प्रति-सस्कारक है। अर्पणा के समीपवर्त्ती होने से इन्हें 'उपचार' भी कहते हैं। अर्पणा के अनुलोम होने से इनकी 'अनुलोम' सज्ञा भी है। तीसरी या चौथी चेतना

१ "जवतीति जवनम्।" वीथि-चित्त के १४ कृत्यों के सग्रह में इसका बारहवाँ स्थान है। "किच्चसगहे किच्चानि नाम पटिसन्धि-भवगावज्जन दस्सन-सवन-घायन-सायन-फुसन-संपटिच्छन-सतीरण-वोट्ठपन-जवन-तदारम्मण-चुतिवसेन चुद्दसविधानि भवन्ति।"

[अभिधम्मत्थसगहो, ३।६]

२ भूमियाँ चार हैं—अपाय-भूमि, काम-सुगति-भूमि, रूपावचर-भूमि, और अरूपावचरभूमि।

'गोत्रभू' कहलाती है। यह चेतना (=जवन) काम-तृष्णा के विषयो के विशेष रूप और अनुत्तरधर्मो के साम्परायिक रूप की सीमा पर स्थित है। इस प्रकार मे ये सब सज्ञाएँ सामान्य रूप से सब जवनो की है। यदि विशेषता के साथ कहा जाय, तो पहला जवन 'परिकर्म', दूसरा 'उपचार', तीसरा 'अनुलोम', चौथा 'गोत्रभू', या पहला 'उपचार', दूसरा 'अनुलोम', तीसरा 'गोत्रभू', और चौथा या पाँचवाँ 'अर्पणा' है। जिसकी बुद्धि प्रखर है, उसकी चौथे जवन में अर्पणा की सिद्धि होती है, पर जिसकी बुद्धि मन्द है, उसको पाँचवे जवन मे अर्पणा-चित्त का लाभ होता है। चौथे या पाँचवें जवन में ही अर्पणा की सिद्धि होती है। तत्पश्चात् चेतना भवाग में अवतीर्ण होती है। अर्पणा का कालपरिच्छेद एक चित्त-क्षण है, तदनन्तर भवाग में पात होता है। पीछे भवाग का उपच्छेद कर ध्यान की प्रत्यवेक्षा के लिए चित्तावर्जन होता है, तत्पश्चात् ध्यान की परीक्षा होती है।

काम और अकुशल के परित्याग से ही प्रथम ध्यान का लाभ होता है, यह प्रथम ध्यान के प्रतिपक्ष है। प्रथम ध्यान में विशेष कर कामधातु का अतिक्रमण होता है। काम 'वस्तु-काम' का आशय है। जो वस्तु (जैसे, प्रिय-मनोरम-रूप) काम का उद्दीपन करे, वह वस्तुकाम है, किसी वस्तु के लिए अभिलाष, राग तथा लोभ के प्रभेद 'क्लेशकाम' कहलाते हैं। अकुशल से क्लेशकाम तथा अन्य अकुशल का आशय है। काम के परित्याग से काय-विवेक और अकुशल के विवर्जन से चित्त-विवेक सूचित होता है। पहले से तृष्णा आदि क्लेश के विषय का परित्याग और दूसरे से क्लेश का परित्याग सूचित होता है। पहले से काम-सुख का परित्याग और दूसरे से ध्यान-सुख का परिग्रह प्रकाशित होता है। पहले से चपल भाव के हेतु का परित्याग और दूसरे से अविद्या का परित्याग, पहले से प्रयोग-शुद्धि (प्राणातिपातादि अशुद्ध प्रयोग का परित्याग) और दूसरे से अध्याशय की शुद्धि सूचित होती है।

अपाय (=दुर्गति)-भूमि चतुर्विध है—निरय (=नरक), तिर्यक्-योनि, प्रेतविषय, और असुरकाय।

काम-सुगति-भूमि सप्तविध है—मनुष्य, छ देवलोक (चातुर्महाराजिक, त्रयस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माण-रति, परनिर्मित-वशवर्ती)। अपायभूमि और काम-सुगत-भूमि मिलकर कामावचर-भूमि (=कामधातु) कहलाते हैं। इस प्रकार, ग्यारह लोक काम-धातु के अन्तर्गत हैं।

काम-धातु के ऊपर रूपधातु है। रूप-धातु में सोलह स्थान हैं। पहले ध्यान में ब्रह्म-पारिषद्य, ब्रह्म-पुरोहित और महाब्रह्मा, दूसरे ध्यान में परीत्ताभ, अप्रमाणाभ और आभस्वर, तीसरे ध्यान में परीत्त-शुभ, अप्रमाण-शुभ और शुभकृत्स्न, चौथे ध्यान में बृहत्फल, असंज्ञि-सत्त्व, शुद्धावास (शुद्धावास पाँच हैं—अविह, अतप्प, सुदर्श, सुदर्शी, अकनिष्ठ) हैं।

अरूप-भूमि चार हैं—आकाशानन्त्यायतन-भूमि, विज्ञानानन्त्यायतन-भूमि, आकिञ्चन्यायतन-भूमि और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन-भूमि।

रूपावचर कुशल केवल मानसिक कर्म है। यह भावना-मय, अर्पणा-प्राप्त और ध्यान के अंगो के भेद से पाँच प्रकार का है।

यद्यपि अकुशल धर्मों मे दृष्टि, मान आदि पाप भी सगृहीत है, तथापि यहाँ केवल उन्ही अकुशल धर्मों से तात्पर्य है, जो ध्यान के अगो के विरोधी है। यहाँ अकुशल धर्मों से पाँच नीवरणो से ही आशय है। ध्यान के अग इनके प्रतिपक्ष है और इनका विघात करते है। समाधि कामच्छन्द (= अभिलाष, लोभ, तृष्णा) का प्रतिपक्ष है, प्रीति व्यापाद (= हिंसा) का प्रतिपक्ष है, वितर्क का स्त्यान (आलस्य-अकर्मण्यता) प्रतिपक्ष है, सुख का औद्धत्य-कौकृत्य (= अनवस्थितता, खेद) और विचार का विचिकित्सा प्रतिपक्ष है, इस प्रकार काम-विवेक से कामच्छन्द का विष्कम्भन और अकुशल धर्मों के विवेक से शेष चार नीवरणो का विष्कम्भन होता है। पहले से लोभ (अकुशल-मूल) और दूसरे से द्वेष-मोह, पहले से तृष्णा तथा तत्सम्प्रयुक्त अवस्था, दूसरे से अविद्या तथा तत्सम्प्रयुक्त अवस्था का परित्याग सूचित होता है।

यह पाँच नीवरण प्रथम ध्यान के प्रहाण-अग है। जबतक इनका विष्कभन नहीं होता, तबतक ध्यान का उत्पाद नही होता। ध्यान के क्षण में अन्य अकुशल धर्मो का भी प्रहाण होता है, तथापि पूर्वोक्त नीवरण ध्यान मे विशेष रूप से अन्तराय उपस्थित करते हैं। इन पाँच नीवरणो का परित्याग कर प्रथम वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और समाधि इन पाँच अगो से समन्वागत होता है।

आलम्बन के विषय मे यह कल्पना कि यह ऐसा है, 'वितर्क'[1] कहलाता है, अथवा आलम्बन के समीप चित्त का आनयन आलम्बन म चित्त का प्रथम प्रवेश वितर्क कहलाता है। आलम्बन में चित्त की अविच्छिन्न प्रवृत्ति 'विचार' है, वितर्क विचार का पूर्वगामी है। वितर्क चित्त का प्रथम अभिनिपात है। घण्टे के अभिघात से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह वितर्क के समान है। इसका जो अनुरव होता है, वह विचार के समान है। जिस प्रकार आकाश में उडने की इच्छा करनेवाला पक्षी पक्ष-विक्षेप करता है, उसी प्रकार वितर्क की प्रथमोत्पत्ति के काल में विचार की वृत्ति शान्त होती है, उसमे चित्त का अधिक परिस्पन्दन नही होता। विचार आकाश मे उडते हुए पक्षी के पक्ष-प्रसारण या कमल के ऊपरी भाग पर भ्रमर के परिभ्रमण के समान है।

प्रीति, काय और चित्त के तर्पण, परितोषण को कहते है। प्रीति प्रणीत रूप से काम में व्याप्त होती है और इसका उत्कृष्ट भाव होता है। 'प्रीति' पाँच प्रकार की है—१ क्षुद्रिका-प्रीति, २ क्षणिका-प्रीति, ३ अवक्रान्तिका-प्रीति, ४ उद्वेगा-प्रीति, ५. स्फरणा-प्रीति। क्षुद्रिका-प्रीति शरीर को केवल रोमाचित कर सकती है। क्षणिका-प्रीति क्षण-क्षण पर होनेवाल विद्युत्पात के समान होती है। जिस प्रकार समुद्रतट पर लहरे टकराती है, उसी प्रकार अवक्रान्तिका-प्रीति शरीर को अवक्रान्त कर भिन्न हो जाती है। उद्वेगा-प्रीति वलवती होती है। स्फरणा-प्रीति निश्चला और चिरस्थायिनी होती है। यह सकल शरीर को व्याप्त करती है।

---

१ "तमिद वितक्कनं ईदिसमिदन्ति आरम्मणस्स परिकप्पनन्ति।" (परमत्थमजूसा टीका)

यह पाँच प्रकार की प्रीति परिपक्व हो, काय और चित्त-प्रश्रब्धि (=शान्ति) को सम्पन्न करती है। प्रश्रब्धि परिपाक को प्राप्त हो कायिक और चैतसिक सुख को सम्पन्न करती है। सुख परिपक्व हो समाधि का परिपूरण करता है। स्फरणा-प्रीति ही अर्पणा-समाधि का मूल है। यह प्रीति अनुक्रम से वृद्धि को पाकर अर्पणा-समाधि से सम्प्रयुक्त होती है। यहाँ यही प्रीति अभिप्रेत है। 'सुख' काय और चित्त की बाधा को नष्ट करता है। सुख से सम्प्रयुक्त धर्मों की अभिवृद्धि होती है।

वितर्क चित्त को आलम्बन के समीप ले जाता है। विचार से आलम्बन में चित्त की अविच्छिन्न प्रवृत्ति होती है। वितर्क-विचार से चित्त-समाधान के लिए भावना-प्रयोग सम्पादित होता है। प्रीति से चित्त का तर्पण और सुख से चित्त की वृद्धि होती है। तदनन्तर एकाग्रता, अवशिष्ट स्पर्शादि धर्मों-सहित चित्त को एक आलम्बन में सम्यक् और समरूप से प्रतिष्ठित करती है। प्रतिपक्ष धर्मों के परित्याग से चित्त का लीन और उद्धत भाव दूर हो जाता है। इस प्रकार, चित्त का सम्यक् और सम आधान होता है। ध्यान के क्षण में एकाग्रता-वश चित्त सातिशय समाहित होता है।

इन पाँच अगो का जवतक प्रादुर्भाव नही होता, तवतक प्रथम ध्यान का लाभ नही होता। यह पाँच अग उपचार-क्षण में भी रहते है, पर अर्पणा-समाधि में पटुतर हो जाते हैं। क्योकि, उस क्षण मे यह रूप-धातु के लक्षण प्राप्त करते हैं। प्रथम ध्यान की त्रिविध-कल्याणता है। इसके आदि, मध्य और अन्त तीनो कल्याण के करनेवाले हे। प्रथम ध्यान दस लक्षणो से सम्पन्न है। ध्यान के उत्पाद-क्षण में भावना-क्रम के पूर्वभाग की (अर्थात्, गोत्रभू तक) विशुद्धि होती है। यह ध्यान की आदि-कल्याणता है। इसके तीन लक्षण है—नीवरणो के विष्कम्भन से चित्त की विशुद्धि, चित्त की विशुद्धि से मध्यम शमथ-निमित्त का अभ्यास और इस अभ्यासवश उक्त निमित्त में चित्त का अनुप्रवेश। स्थिति-क्षण में उपेक्षा की अभिवृद्धि विशेष रूप से होती है। यह ध्यान की मध्य-कल्याणता है, यह तीनो लक्षणो से समन्वागत है—विशुद्ध चित्त की उपेक्षा, शमथ की भावना में रत चित्त की उपेक्षा और एक आलम्बन में सम्यक् समाहित चित्त की उपेक्षा। ध्यान के अवसान में प्रीति का लाभ होता है, अवसान-क्षण में कार्य निष्पन्न होने से धर्मों के अनतिवर्त्तनादि-साधक-ज्ञान की परिशुद्धि प्रकट होती है। इसके चार लक्षण हैं—१ जातधर्म एक दूसरे को अतिक्रान्त नही करते, २ इन्द्रियो की (पाँच मानसिक शक्तियो की) एक-एक सत्ता होती है, ३ योगी इनके उपकारक वीर्य धारण करता है, ४ और योगी इनका आसेवन करता है।

जिस क्षण में अर्पणा का उत्पाद होता है, उसी क्षण में अन्तराय उपस्थित करनेवाले क्लेशो से चित्त विशुद्ध होता है। 'परिकर्म' की विशुद्धि से अर्पणा की सातिशय विशुद्धि होती है, जवतक चित्त का आवरण दूर नही होता, तवतक मध्यम शमथ-निमित्त का अभ्यास नही हो सकता। लीन और उद्धत भाव इन दो अन्तो का परित्याग करने से इसे मध्यम कहते हैं। विरोधी धर्मों का विशेष रूप से उपशम करने से शमथ और योगी के सुखविशेष का कारण

होने से यह निमित्त कहलाता है। यह मध्यम शमथ-निमित्त लीन और उद्धत भाव से रहित अर्पणा-समाधि ही है। तदनन्तर, गोत्रभू-चित्त एकत्व-नय से अर्पणा-समाधि-वश समाहित भाव को प्राप्त होता है, और इस निमित्त का अभ्यास करता है। अभ्यास-वश समाहित-भाव की प्राप्ति से निमित्त मे चित्त अनुप्रविष्ट होता। इस प्रकार, प्रतिपद्विशुद्धि गोत्रभू-चित्त में इन तीन लक्षणो को निष्पन्न करती है। एक बार विशुद्ध हो जाने से योगी फिर विशोधन की चेष्टा नही करता और इस प्रकार यह विशुद्ध चित्त को उपेक्षा-भाव से देखता है।

शमथ के अभ्यास-वश शमथ-भाव को प्राप्त होने के कारण योगी समाधान की चेष्टा नही करता और शमथ की भावना में रत चित्त की उपेक्षा करता है। शमथ के अभ्यास और क्लेश के प्रहाण से चित्त सम्यक् रूप से एक आलम्बन मे समाहित होता है। योगी समाहित चित्त की उपेक्षा करता है। इस प्रकार उपेक्षा की वृद्धि होती है। उपेक्षा की वृद्धि से ध्यान-चित्त मे उत्पन्न एकाग्रता और प्रज्ञा विना एक दूसरे को आतिक्रान्त किये प्रवृत्त होती है, श्रद्धा आदि इन्द्रियाँ (=मानसिक शक्ति) नाना क्लेशो से विनिर्मुक्त हो विमुक्ति-रस से एकरसता को प्राप्त होती है, योगी इन अवस्थाओ के अनुकूल वीर्य प्रवृत्त करता है। स्थिति-क्षण से आरम्भ कर ध्यान-चित्त की आसेवना प्रवृत्त होती है। यह सब अवस्थाएँ इस कारण निष्पन्न होती हैं, क्योकि ज्ञान द्वारा इस बात की प्रतीति होती है कि समाधि और प्रज्ञा की समरसता न होने से भावना सक्लिष्ट होती है और इनकी समरसता से विशुद्ध होती है।

इस विशोधक ज्ञान के कार्य के निष्पन्न होने से चित्त का परितोष होता है। उपेक्षा-वश ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, प्रज्ञा द्वारा अर्पणा-प्रज्ञा की व्यापार-बहुलता होती है। उपेक्षा-वश नीवरण आदि नाना क्लेशो से चित्त विमुक्त होता है। इस विशुद्धि से और पूर्व-प्रवृत्त प्रज्ञा-वश प्रज्ञा की बहुलता होती है और श्रद्धा आदि धर्मों का व्यापार समान हो जाता है। इस एकरसता से भावना[1] निष्पन्न होती है। यह ज्ञान का व्यापार है। इसलिए, ज्ञान के व्यापार से चित्त-परितोषण की सिद्धि होती है।

प्रथम ध्यान के अधिगत होने पर यह देखना चाहिए कि किस प्रकार के आवास में रह-कर किस प्रकार का भोजन कर और किस ईर्यापथ मे विहार कर चित्त समाहित हुआ था। समाधि के नष्ट होने पर उपयुक्त अवस्थाओ को सम्पन्न करने से योगी वार-वार अर्पणा का लाभी हो सकता है। इससे अर्पणा का लाभमात्र होता है, पर वह चिरस्थायिनी नही होती।

समाधि के अन्तरायो और विरोधी धर्मों के सम्यक्-प्रहाण से ही अर्पणा की चिर-स्थिति होती है। उपचार-क्षण मे इनका प्रहाण होता है, पर अर्पणा की चिर-स्थिति के लिए अत्यन्त प्रहाण की आवश्यकता है। कामादि का दोष और नैष्क्रम्य का गुण देखकर लोभ-राग का

---

१ "एकरसट्ठेन भावनाति"। (विसुद्धिमग्गो, पृ० १४६)। "भावना चित्तवासनात्।" (अभिधर्मकोश, ४।१२३)। "तद्धि समाहितं कुशलं चित्तमत्यर्थं वासयति, गुणै स्तन्मयीकरणात् सन्ततेः। पुष्पैस्तिलवासनवत्।" (यशोमित्रव्याख्या)।

भली भाँति प्रहाण किये विना, काय-प्रश्रब्धि द्वारा कायक्लम को अच्छी तरह शान्त किये विना, वीर्य द्वारा आलस्य और अकर्मण्यता का अच्छी तरह परित्याग किये विना, शमथ-निमित्त की भावना द्वारा खेद और चित्त की अनवस्थितता का उन्मूलन किये विना तथा समाधि के अन्य अन्तरायो का अच्छी तरह उपशम किये विना जो योगी ध्यान सम्पादित करता है, उसका ध्यान शीघ्र ही भिन्न हो जाता है। पर, जो योगी समाधि के अन्तरायो का अत्यन्त प्रहाण कर ध्यान सम्पादित करता है, वह दिन-भर समाधि में रत रह सकता है। इसलिए, जो योगी अर्पणा की चिर-स्थिति चाहता है, उसे अन्तरायो का अत्यन्त प्रहाण करके ही ध्यान सम्पन्न करना चाहिए। समाधि-भावना के विपुलभाव के लिए लब्ध-प्रतिभाग-निमित्त की वृद्धि करनी चाहिए। जिस प्रकार भावना द्वारा ही निमित्त की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार भावना द्वारा उसकी वृद्धि भी होती है। इस प्रकार, ध्यान-भावना भी वृद्धि को प्राप्त होती है। प्रतिभागनिमित्त की वृद्धि के लिए दो भूमियाँ है—१ उपचार और २. अर्पणा, इन दो स्थानो में से एक में तो अवश्य ही इसकी वृद्धि करनी चाहिए।

प्रतिभाग-निमित्त की वृद्धि परिच्छिन्न रूप से ही करनी चाहिए। क्योकि विना परिच्छेद के भावना की प्रवृत्ति नही होती। इसकी वृद्धि क्रम से चक्रवाल-पर्यन्त की जा सकती है। जिस योगी ने पहले ध्यान का लाभ किया है, उसे प्रतिभाग-निमित्त का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए, पर अधिक प्रत्यवेक्षा न करनी चाहिए। क्योकि, प्रत्यवेक्षा के आधिक्य से ध्यान के अग अतिविभूत मालूम होते है और प्रगुण-भाव को नही प्राप्त होते। इस प्रकार वे स्थूल और दुर्वल ध्यान के अग उत्तर-ध्यान के लिए उत्सुकता उत्पन्न नही करते। उद्योग करने पर भी योगी प्रथम ध्यान से च्युत होता है और दूसरे ध्यान का लाभ नही करता। योगी को इसलिए पाँच प्रकार से प्रथम ध्यान पर आधिपत्य प्राप्त करना चाहिए। तभी द्वितीय ध्यान की प्राप्ति हो सकती है। पाँच[1] प्रकार यह है—१ आवर्जन, २. सम, ३ अधिष्ठान, ४ व्युत्थान और ५ प्रत्यवेक्षण।

इष्ट देश और काल में ध्यान के प्रत्येक अग को इष्ट समय के लिए शीघ्र यथारुचि प्रवृत्त करने की सामर्थ्य आवर्जन-वशिता कहलाती है। जिसकी आवर्जन-वशिता सिद्ध हो चुकी है, वह जहाँ चाहे, जव चाहे और जितनी देर तक चाहे, प्रथम ध्यान के किसी अग को तुरन्त प्रवृत्त कर मकता है। आवर्जन-वशिता प्राप्त करने के लिए योगी को क्रम से ध्यान के अगो का आवर्जन करना चाहिए। जो योगी प्रथम ध्यान से उठकर पहले वितर्क का आवर्जन करता है और भवाग का उपच्छेद करता है, उसमें उत्पन्न आवर्जन के वाद ही वितर्क को आलम्वन वना चार या पाँच जवन (चेतनाएँ) उत्पन्न होते हैं। तदनन्तर, दो क्षण के लिए भवाग में पात होता है। तव विचार को आलम्वन वना उक्त प्रकार से फिर जवन उत्पन्न होते है। इस प्रकार, ध्यान के पाँचो अगो में चित्त को निरन्तर प्रेषित करने की शक्ति योगी को प्राप्त होती है।

---

१ "अधिगमेन समं, सम्पयुत्तस्स झानस्स सम्माआवज्जन पटिपज्जनं समापज्जनं झानसमङ्गिता।" (परमत्थमञ्जूसाटीका)

अगवर्जन के साथ ही शीघ्र ध्यान-समगी होने की योग्यता एक या दस अगुलि-स्फोट के काल तक वेग को रोककर ध्यान की प्रतिष्ठा करने की शक्ति अधिष्ठान-वशिता है। ध्यानसमगी होकर ध्यान से उठने की सामर्थ्य व्युत्थान-वशिता है। यह व्युत्थान भवाग-चित्त की उत्पत्ति ही है। पूर्व परिकर्म-वश इस प्रकार की शक्ति सम्पन्न करना कि, मै इतने क्षण ध्यान-समगी होकर ध्यान से व्युत्थान करूँगा, व्युत्थान-वशिता है। वितर्क आदि ध्यान के अगो के यथाक्रम आवर्जन के अनन्तर जो जवन प्रवृत्त होते है वे, प्रत्यवेक्षण के जवन है। इनके प्रत्यवेक्षण की शक्ति प्रत्यवेक्षण-वशिता है।

जो इन पाँच प्रकारो से प्रथम ध्यान मे अभ्यस्त हो जाता है, वह परिचित प्रथम ध्यान से उठकर यह विचारता है कि प्रथम ध्यान सदोष है। क्योकि, इसके वितर्क-विचार स्थूल है और इसलिए इसके अग दुर्वल और परिक्षीण (=ओडारिक) है। यह देखकर कि द्वितीय-ध्यान की वृत्ति शान्त है और उसके प्रीति, सुख आदि शान्ततर और प्रणीततर है, उसे द्वितीय ध्यान के अधिगम के लिए यत्नशील होना चाहिए और प्रथम ध्यान की अपेक्षा नही करनी चाहिए। जव स्मृति-सम्प्रजन्यपूर्वक[1] वह ध्यान के अगो की प्रत्यवेक्षा करता है, तव उसे मालूम होता है कि वितर्क-विचार स्थूल है और प्रीति, सुख और एकाग्रता शान्त है। वह स्थूल अगो के प्रहाण तथा शान्त अगो के प्रतिलाभ के लिए उसी पृथ्वी-निमित्त का वारम्वार ध्यान करता है। तव भवाग का उपच्छेद हो चित्त का आवर्जन होता है। इससे यह सूचित होता है कि अव द्वितीय ध्यान सम्पादित होगा। उसी पृथ्वी-कसिण मे चार या पाँच जवन उत्पन्न होते है। केवल अन्तिम जवन रूपावचर दूसरे ध्यान का है।

द्वितीय ध्यान के पक्ष मे वितर्क और विचार का अनुत्पाद होता है। इसलिए, द्वितीय ध्यान वितर्क और विचार से रहित है। वितर्क-सम्प्रयुक्त स्पर्श आदि धर्म द्वितीय ध्यान में रहते है, पर प्रथम ध्यान के स्पर्श आदि से भिन्न प्रकार के होते है। द्वितीय ध्यान के केवल तीन अग है—१ प्रीति, २ सुख और ३ एकाग्रता। द्वितीय-ध्यान 'सम्प्रसादन' है। अर्थात्, श्रद्धायुक्त होने के कारण तथा वितर्क-विचार के क्षोभ के व्युपशम के कारण यह चित्त को सुप्रसन्न करता है। सम्प्रसाद इस ध्यान का परिष्कार है। यह ध्यान वितर्क-विचार से अध्यारूढ न होने के कारण अग्र और श्रेष्ठ हो ऊपर उठता है, अर्थात् समाधि की वृद्धि करता है। इसलिए, इसे 'एकोदिभाव' कहते है।

---

१ काय और चित्त की अवस्थाओं की प्रत्यवेक्षा 'सम्प्रजन्य' कहलाती है।

२ "प्रीत्यादय प्रसादश्च द्वितीयेऽङ्गचतुष्टयम्। तृतीये पन्च तूपेक्षा स्मृतिज्ञान सुख स्थिति ॥"
(अभिधम्मकोश ८।७, ८८)।

३. "एको उदेतीति एकोदि। वितक्कविचारे हि अनज्झारूळ्हत्ता अग्गो सेट्ठो हुत्वा उदेतीति अत्थो। सेट्ठोपि हि लोके एकोति वुच्चति। वितक्कविचारविरहितो वा एको असहायो हुत्वा इति पि वत्तु वट्टति। अथवा सम्पयुत्तधम्मे उदायतीति उदि उट्ठपेतीति अत्थो सेट्ठट्ठेन एको च सो उदि चाति एकोदि समाधिस्सेत अधिवचनं, इति इमं एकोदिं

पहला ध्यान वितर्क-विचार के कारण क्षुब्ध और समाकुल होता है। इसलिए, उसमें यथार्थ श्रद्धा होती है, तथापि वह 'सम्प्रसादन' नही कहलाता। सुप्रसन्न न होने के प्रथम ध्यान की समाधि भी अच्छी तरह आविर्भूत नही होती। इसलिए, उसका एकोदिभाव नही होता। किन्तु दूसरे ध्यान मे वितर्क और विचार के अभाव से श्रद्धा अवकाश पाकर वलवती होती है और वलवती श्रद्धा की महायता से ममाधि भी अच्छी तरह आविर्भूत होती है।

द्वितीय ध्यान का भी उक्त पाँच प्रकार से अभ्याम करना चाहिए। द्वितीय ध्यान से उठकर योगी विचार करता है कि द्वितीय ध्यान भी सदोप है। क्योकि, इमकी प्रीति स्थूल है और इसलिए इसके अग दुर्वल है। इस प्रीति के वारे में कहा है कि इसने परिग्रह में प्रेम का परित्याग नही किया और यह तृष्णा-सहगत होती है। क्योकि, इस प्रीति की प्रवृत्ति का आकार उद्वेगपूर्ण होता है। यह देखकर कि तृतीय ध्यान की वृत्ति शान्त है, तृतीय ध्यान के लिए यत्नशील होना चाहिए। जव वह ध्यान के अगो की प्रत्यवेक्षा करता है, तव उसे प्रीति स्थूल और सुख-एकाग्रता शान्त मालूम होते हैं। वह स्थूल अग के प्रहाण के लिए पृथ्वी-निमित्त का वारम्वार चिन्तन करता है। तव भवाग का उपच्छेद हो चित्त का आवर्जन होता है। तदनन्तर, उसी पृथ्वी-कसिण आलम्वन में चार या पाँच जवन उत्पन्न होते हैं। इनमे केवल अन्तिम जवन रूपावचर तृतीय ध्यान का है। तृतीय-ध्यान के क्षण में प्रीति का अनुत्पाद होता है। इस ध्यान के दो अग है—१ मुख और २ एकाग्रता। उपेक्षा, स्मृति और सम्प्रजन्य इमके परिष्कार हैं।

प्रीति का अतिक्रमण करने से और वितर्क-विचार के उपशम से तृतीय ध्यान का लाभी उपेक्षाभाव रखता है, वह समदर्शी होता है, अर्थात् पक्षापात-रहित हो देखता है। इसकी समदर्शिता विशद, विपुल और स्थिर होती है। इस कारण तृतीय ध्यान का लाभी उपेक्षक कहलाता है।

उपेक्षा दस प्रकार की होती है—१ पडगोपेक्षा, २ ब्रह्मविहारोपेक्षा, ३ वोध्यगोपेक्षा, ४ वीर्योपेक्षा, ५ सस्कारोपेक्षा, ६ वेदनोपेक्षा, ७. विपश्यनोपेक्षा, ८ तत्रमध्यत्वोपेक्षा, ९ ध्यानोपेक्षा और १० परिशद्धयुपेक्षा।

छः इन्द्रियो के छ इष्ट-अनिष्ट विपयो से क्लिष्ट न होना और अपनी शुद्ध-प्रकृति को निश्चल रखना 'पडगोपेक्षा' है। सव प्राणियो के प्रति समभाव रखना ब्रह्मविहारोपेक्षा कहलाती है। आलम्वन में चित्त की ममप्रवृत्ति से और प्रग्रह-निग्रह-सम्प्रहर्पण के विपय में व्यापार का अभाव होने से मम्प्रयुक्त धर्मों में उदासीन वृत्ति को वोध्यगोपेक्षा कहते हैं। जो वीर्य लीन और उद्धत भाव से रहित है, उसे वीर्योपेक्षा कहते है। भावना की समप्रवृत्ति के समय जो उपेक्षाभाव होता है, उसे वीर्योपेक्षा कहते हैं। प्रथम ध्यान आदि से नीवरण आदि का प्रहाण होता है, यह निश्चय कर और नीवरणादि धर्मों के स्वभाव की परीक्षा कर सस्कारो के

भावेति वड्ढेतीति इद दुतियज्झान एकोदिभाव। (विसुद्धिमग्गो, पृ०१५६)

यहाँ ज्ञान 'सम्प्रज्ञान'='सम्प्रजन्य' है। 'स्थिति' 'समाधि' है।

ग्रहण में जो उपेक्षा उत्पन्न होती है, वह सस्कारोपेक्षा है। यह उपेक्षा समाधिवश आठ[1] और विपश्यनावश दस[2] प्रकार की है। जो उपेक्षा दुःख और सुख से रहित है, वह वेदनोपेक्षा कहलाती है। अनित्यादि लक्षणो पर विचार करने से पचस्कन्ध के विषय मे जो उपेक्षा उत्पन्न होती है, वह 'विपश्यनोपेक्षा' है। जो उपेक्षा सम्प्रयुक्त धर्मो की समप्रवृत्ति में हेतु होती है, वह 'तत्नमध्यत्वोपेक्षा' है। जो उपेक्षा तृतीय ध्यान के अग्रसुख के विषय मे भी पक्षपात-रहित है, वह 'ध्यानोपेक्षा' कहलाती है। जो उपेक्षा नीवरण, वितर्क, विचारादि अन्तरायो से विमुक्त है और जो उनके उपशम के व्यापार मे प्रवृत्त नही है, वह 'पारिशुद्ध्युपेक्षा' कहलाती है।

इन दस प्रकार की उपेक्षाओ में षडगोपेक्षा, ब्रह्मविचारोपेक्षा, बोध्यगोपेक्षा, तत्नमध्यत्वोपेक्षा, ध्यानोपेक्षा और पारिशुद्ध्युपेक्षा अर्थ मे एक है, केवल अवस्था-भेद से सज्ञा मे भेद किया गया है। इसी प्रकार, सस्कारोपेक्षा और विपश्यनोपेक्षा का अर्थत एकीभाव है। यथार्थ में दोनो प्रज्ञा के कार्य है। केवल कार्य के भेद से सज्ञा-भेद किया गया है। विपश्यना-ज्ञान द्वारा लक्षण-त्रय का ज्ञान होने से सस्कारो के अनित्यभावादि के विचार में जो उपेक्षा उत्पन्न होती है, वह विपश्यनोपेक्षा है। लक्षण-त्रय के ज्ञान से तीन भवो[3] को आदीप्त देखनेवाले योगी को सस्कारो के ग्रहण मे जो उपेक्षा होती है, वह सस्कारोपेक्षा है। किन्तु वीर्योपेक्षा और वेदनोपेक्षा, एक दूसरे से, तथा अन्य उपेक्षाओ से, अर्थ मे भिन्न है। इन दस उपेक्षाओ मे से यहाँ ध्यानोपेक्षा अभिप्रेत है। उपेक्षा-भाव इसका लक्षण है, प्रणीत सुख का भी यह आस्वाद नही करती, प्रीति से यह विरक्त है और व्यापार-रहित है।

यह उपेक्षा-भाव प्रथम तथा द्वितीय ध्यान मे भी पाया जाता है। पर, वहाँ वितर्क आदि से अभिभूत होने के कारण इसका कार्य अव्यक्त रहता है, तृतीय ध्यान मे वितर्क, विचार और प्रीति से अनभिभूत होने के कारण इसका कार्य परिव्यक्त होता है, इसलिए इसी ध्यान के सम्बन्ध मे कहा गया है कि योगी तृतीय ध्यान का लाभ कर उपेक्षा-भाव से विहार करता है। तृतीय ध्यान का लाभी सदा जागरूक रहता है और इस बात का ध्यान रखता है कि प्रीति से अपनीत तृतीय ध्यान का सुख प्रीति से फिर सम्प्रयुक्त न हो जाय। तृतीय ध्यान का सुख अति मधुर है। इससे बढकर कोई दूसरा सुख नही है और जीव स्वभाव से ही सुख मे अनुरक्त होते है। इसी लिए योगी इस ध्यान में स्मृति और सम्प्रजन्य द्वारा सुख में आसक्त नही होता और प्रीति को उत्पन्न नही होने देता। जिस प्रकार छुरे की धार पर बहुत सँभालकर चलना होता है, उसी प्रकार इस ध्यान में चित्त की गति का भली भाँति निरूपण करना पडता है और सदा सतर्क एव जागरूक रहना पडता है।

योगी इस ध्यान मे चैतसिक सुख का लाभ करता है और ध्यान से उठकर कायिक सुख का भी अनुभव करता है, क्योकि उसका शरीर अति प्रणीत रूप से व्याप्त हो जाता है।

---

१ चार ध्यान और चार आरूप्य।

२ चार मार्ग, चार फल, शून्यता-विहार और अनिमित्त का विहार।

३ कामभव, रूपभव और अरूपभव।

जब तीसरे ध्यान का पाँच प्रकार से अच्छी तरह अभ्यास हो जाता है, तब तृतीय ध्यान से उठकर योगी विचारता है कि तृतीय ध्यान सदोष है, क्योंकि इसका सुख स्थूल है और इसलिए इसके अग दुर्बल हैं। यह देखकर कि चतुर्थ ध्यान शान्त है, उसे चतुर्थ ध्यान के अधिगम के लिए यत्नशील होना चाहिए।

जब स्मृति-सम्प्रजन्यपूर्वक वह ध्यान के अगो की प्रत्यवेक्षा करता है, तब उसे मालूम होता है कि चैतसिक सुख स्थूल है और उपेक्षा, वेदना तथा चित्तैकाग्रता शान्त है। तब स्थूल अग के प्रहाण तथा शान्त अगो के प्रतिलाभ के लिए वह उसी पृथ्वीनिमित्त का बार-बार ध्यान करता है। भवाग का उपच्छेद कर चित्त का आवर्जन होता है, जिससे यह सूचित होता है कि अब चतुर्थ ध्यान सम्पादित होगा, उसी पृथ्वी-कसिण में चार या पाँच जवन उत्पन्न होते हैं, केवल अन्तिम जवन रूपावचर चौथे ध्यान का है।

चतुर्थ ध्यान के दो अग है—१ उपेक्षा-वेदना और २ एकाग्रता। चतुर्थ ध्यान के उपचार-क्षण में चैतसिक सुख का प्रहाण होता है। कायिक दुःख का प्रथम ध्यान के उपचार-क्षण में, चैतसिक दुःख का द्वितीय और कायिक सुख का तृतीय ध्यान के उपचार-क्षण में निरोध होता है; पर अतिशय निरोध उस ध्यान की अर्पणा में ही होता है। प्रथम ध्यान के उपचार-क्षण में जो निरोध होता है, वह अत्यन्त निरोध नही है, पर अर्पणा में प्रीति के स्फुरण से सारा शरीर सुख से अवक्रान्त होता है। इस प्रकार, प्रतिपक्षी सुख द्वारा दुःखेन्द्रिय का अत्यन्त निरोध होता है। इसी प्रकार, यद्यपि द्वितीय ध्यान के उपचार-क्षण में चैतसिक दुःख का प्रहाण होता है, तथापि वितर्क और विचार के कारण चित्त का उपघात हो सकता है, पर अर्पणा में वितर्क और विचार के अभाव से इसकी कोई सम्भावना नही है। इसी प्रकार, यद्यपि तृतीय ध्यान के उपचार-क्षण में कायिक सुख का निरोध होता है, तथापि सुख के प्रत्यय (=हेतु) प्रीति के रहने से कायिक सुख की उत्पत्ति सम्भव है। पर अर्पणा मे प्रीति के अत्यन्त निरोध से इसकी सम्भावना नहीं रह जाती। इसी तरह चतुर्थ ध्यान के उपचार-क्षण में अर्पणा-प्राप्त उपेक्षा के अभाव तथा भली भाँति चैतसिक सुख का अतिक्रम न होने से चैतसिक सुख की उत्पत्ति सम्भव है, पर अर्पणा मे इसकी सम्भावना नही है।

यह दुःख और सुख-रहित वेदना अतिसूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है, सुगमता से इसका ग्रहण नही हो सकता। यह न कायिक सुख है, न कायिक दुःख, न चैतसिक सुख है, न चैतसिक दुःख। यह सुख, दुःख, सौमनस्य (=चैतसिक सुख) और दौर्मनस्य (=चैतसिक दुःख) का अभाव-मात्र नहीं है। यह तीसरी वेदना है। इसे उपेक्षा भी कहते हैं। यही उपेक्षा चित्त की विमुक्ति (पालि=चेतोविमुत्ति) है। सुख-दुःखादि के प्रहाण से इसका अधिगम होता है।

सुख आदि के घात से राग-द्वेष-प्रत्यय (=हेतु)-सहित नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् उनका दूरीभाव हो जाता है। चतुर्थ ध्यान में स्मृति परिशुद्ध[1] होती है। यह परिशुद्धि उपेक्षा के द्वारा होती है, अन्यथा नही है। केवल स्मृति ही परिशुद्ध नही होती, किन्तु सब सम्प्रयुक्त

१ "चत्वार्यन्त्ये स्मृत्युपेक्षाऽनुखाऽदुःखसमाधय।" (अभिधर्मकोश, ८।८)

धर्म भी परिशुद्ध हो जाते हैं। यद्यपि पहले तीन ध्यानो में भी उपेक्षा विद्यमान है, तथापि उनमे वितर्क आदि विरोधी धर्मों द्वारा अभिभूत होने से तथा सहायक प्रत्ययो की विकलता से उनकी अपेक्षा अपरिशुद्ध होती है और उसके अपरिशुद्ध होने से सहजात धर्म, स्मृति आदि भी अपरिशुद्ध होते हैं। पर, चतुर्थ ध्यान मे वितर्क आदि विरोधी धर्मो के उपशम से तथा उपेक्षा-वेदना के प्रतिलाभ से उपेक्षा अत्यन्त परिशुद्ध होती है और साथ ही स्मृति आदि भी परिशुद्ध होती है।

ध्यान-पचक के द्वितीय ध्यान[1] मे केवल वितर्क नही होता और विचार, प्रीति, सुख, और एकाग्रता यह चार अग होते हैं। तृतीय ध्यान मे विचार का परित्याग होता है और प्रीति, सुख और एकाग्रता यह तीन अग होते हैं; अन्तिम दो ध्यान ध्यान-चतुष्क के तृतीय और चतुर्थ हैं। ध्यान-चतुष्क के द्वितीय ध्यान को ध्यान-पचक मे दो ध्यानो में विभक्त करते हैं।

आपो-कसिण—सुखपूर्वक बैठकर जल मे निमित्त का ग्रहण करना चाहिए। नील, पीत, लोहित और अवदात वर्णों में किसी वर्ण का जल ग्रहण न करना चाहिए। पूर्व इसके कि आकाश का जल भूमि पर प्राप्त हो, उसे शुद्ध वस्त्र में ग्रहण कर किसी पात्र मे रखना चाहिए। इस जल का या किसी दूसरे शुद्ध जल का व्यवहार करना चाहिए। जल से भरे मात्र को (विदत्थि चतुरगुल-वत्तुंल) विहार के प्रत्यन्त में किसी ढके स्थान मे रखना चाहिए। भावना करते हुए वर्ण और लक्षण की प्रत्यवेक्षा न करनी चाहिए। भावना करते-करते क्रम से पूर्वोक्त प्रकार से निमित्तद्वय की उत्पत्ति होती है, पर इसका उद्ग्रह-निमित्त चलित प्रतीत होता है। यदि जल मे फेन और बुद्बुद् उठता हो, तो कसिण-दोष प्रकट हो जाता है। प्रतिभाग-निमित्त स्थिर है। उक्तरीत्या योगी 'आपो-कसिण' का आलम्बन कर ध्यानो का उत्पाद करता है।

तेजो-कसिण—तेजो-कसिण की भावना करने की इच्छा रखनेवाले योगी को अग्नि में निमित्त का ग्रहण करना चाहिए। जो अधिकारी है, वह अकृत अग्नि में भी—जैसे दावाग्नि-निमित्त का उत्पाद कर सकता है, पर जो अधिकारी नही है, उसे सूखी लकडी लेकर आग जलाना पडता है। चटाई, चमडे या कपडे के टुकडे मे एक वालिश्त चार अगुल का छेद कर उसे अपने सामने रख लेना चाहिए, जिसमे नीचे का तृण-काष्ठ और ऊपर की धूमशिखा न दिखाई देकर केवल मध्यवर्त्ती अग्नि की घनी ज्वाला ही दिखलाई दे। इसी घनी ज्वाला में निमित्त का ग्रहण करना चाहिए। नील, पीत आदि वर्ण तथा उष्णता आदि लक्षण की प्रत्यवेक्षा न करनी चाहिए। केवल प्रज्ञप्तिमात्र मे चित्त को प्रतिष्ठित कर भावना करनी चाहिए। उक्त प्रकार से भावना करने पर क्रमपूर्वक दोनो निमित्त उत्पन्न होते हैं। उद्ग्रह-निमित्त में अग्निज्वाला खण्ड-खण्ड होकर गिरती हुई मालूम होती है। प्रतिभाग-निमित्त निश्चल

---

१ ध्यान-पचक के द्वितीय ध्यान को अभिधर्मकोश में 'ध्यानान्तर' कहा है - 'अतर्क ध्यानमन्तरम्।'(८।२२)

होता है। उक्तरीत्या योगी उपचार-ध्यान का लाभी हो, क्रमपूर्वक ध्यानो का उत्पाद करता है।

वायो-कसिण—योगी को वायु में निमित्त का ग्रहण करना होता है। दृष्टि या स्पर्श द्वारा इस निमित्त का ग्रहण होता है।

घने पत्तो-सहित गन्ना, बाँस या किसी दूसरे वृक्ष के अग्रभाग को वायु से सचालित होते देखकर चलनाकार से निमित्त का ग्रहण कर प्रहारक-वायु-सघात मे स्मृति की प्रतिष्ठा करनी चाहिए या शरीर के किसी प्रदेश में वायु का स्पर्श अनुभव कर सघट्टनाकार मे निमित्त का ग्रहण कर वायु-सघात में स्मृति की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। इसका उद्‌ग्रह-निमित्त चल और प्रतिभाग-निमित्त निश्चल और स्थिर होता है। ध्यानोत्पाद की प्रणाली वही है जो पृथ्वी-कसिण के सम्बन्ध में बताई गई है।

नील-कसिण—जो अधिकारी है, उसे नील-पुष्प-सस्तर, नील-वस्त्र या नीलमणि देखकर निमित्त का उत्पाद होता है। पर जो अधिकारी नही है, उसे नीले रग के फूल लेकर उन्हें टोकरी में फैला देना चाहिए और ऊपर तक फूल की पत्तियो को इस तरह भर देना चाहिए, जिसमे केसर या वृन्त न दिखलाई पडे या टोकरी को नीले कपडे से इस तरह बाँधना चाहिए, जिसमे वह नील-मण्डल की तरह मालूम पडे, या नील वर्ण के किसी धातु को लेकर चल-मण्डल बनावे या दीवार पर उसी धातु से कसिण-मण्डल बनावे और उसे किसी असदृश वर्ण से परिच्छिन्न कर दे। फिर उसपर भावना करे। शेष क्रिया पृथ्वी-कसिण के समान है।

पीत-कसिण—पीतवर्ण के पुष्प, वस्त्र या धातु में निमित्त का ग्रहण करना पडता है।

लोहित-कसिण—रक्तवर्ण के पुष्प, वस्त्र या धातु में नील-कसिण की तरह भावना करनी होती है।

अवदात-कसिण—अवदात-पुष्प वस्त्र या धातु मे नील-कसिण की तरह भावना करनी होती है।

आलोक-कसिण—जो अधिकारी है, वह प्राकृतिक आलोक-मण्डल मे निमित्त का ग्रहण करता है। सूर्य या चन्द्र का जो आलोक खिडकी या छेद के रास्ते प्रवेश कर दीवार या जमीन पर आलोक-मण्डल बनाता है या घने वृक्ष की शाखाओ से निकलकर जो आलोक जमीन पर आलोक-मण्डल बनाता है, उसमें भावना द्वारा योगी निमित्त का उत्पाद करता है। पर यह अवभास-मण्डल चिरकाल तक नही रहता। इसलिए, साधारण-जन इसके द्वारा निमित्त का उत्पाद करने में असमर्थ भी होते है। ऐसे लोगो को घट में दीपक जलाकर घट के मुख को ढक देना चाहिए, और घट में छेदकर घट को दीवार के सामने रख देना चाहिए। छेद से दीप का जो आलोक निकलता है, वह दीवार पर मण्डल बनाता है। उसी आलोक-मण्डल

में भावना करनी चाहिए। उद्ग्रह-निमित्त दीवार या जमीन पर बने आलोक-मण्डल की तरह होता है। प्रतिभाग-निमित्त बहल और शुभ्र आलोक-पुंज की तरह होता है।

परिच्छिन्नाकाश-कसिण—जो अधिकारी है, वह किसी छिद्र में निमित्त का उत्पाद कर लेता है। सामान्य योगी सुच्छन्न मण्डल मे या चमडे की चटाई में एक वालिश्त चार अगुल का छेद बनाकर उसी छेद मे भावना द्वारा निमित्त का ग्रहण करता है। उद्ग्रह-निमित्त दीवार के कोनो के साथ छेद की तरह होता है। उसकी वृद्धि नही होती। प्रतिभाग-निमित्त आकाश-मण्डल की तरह उपस्थित होता है। उसकी वृद्धि हो सकती है।

दस अशुभ कर्मस्थान

कर्मस्थानो का सक्षिप्त विवरण ऊपर दिया गया है। उद्धुमातक आदि इन दस कर्मस्थानो का ग्रहण आचार्य के पास ही करना चाहिए। कर्मस्थान सभाग है या विसभाग, इसकी परीक्षा करनी चाहिए। पुरुष के लिए स्त्री-शरीर विसभाग है और स्त्री के लिए पुरुष-शरीर। इसलिए, अशुभ कर्मस्थान अमुक जगह पर है, ऐसा जानने पर भी उसको ठीक जाँच करके ही उस स्थान पर जाना चाहिए। जाने के पहले सघस्थविर या अन्य किसी स्थविर-भिक्षु को कहकर ही जाना चाहिए। ऐसे कर्मस्थान प्राय श्मशान पर ही मिलते हैं, जहाँ वन्य पशु, भूत-प्रेत और चोरो का भय रहता है। सघस्थविर को कहकर जाने से योगावचर-भिक्षु की पूर्ण व्यवस्था की जा सकती है। योगी को ऐसे कर्मस्थान के पास अकेला जाना चाहिए। उपस्थित स्मृति से, सवृत इन्द्रियो से, एकाग्रचित्त से, जिस प्रकार क्षत्रिय अभिषेक-स्थान पर, या यजमान यज्ञशाला पर, या निर्धन निधि-स्थान की ओर सौमनस्यचित्त से जाता है, उसी प्रकार योगी को अशुभ-कर्मस्थान के पास जाना चाहिए। वही जाकर अशुभ निमित्त को सहज भाव से देखना चाहिए। उसको वर्ण, लिंग, सस्थान, दिशा, अवकाश, परिच्छेद, सन्धि, विवर आदि निमित्तो को सुगृहीत करना चाहिए। अशुभ ध्यान के गुणो का दर्शन करके अशुभ कर्मस्थान को अमूल्य रत्न के समान देखकर उसे चित्त को उस आलम्वन पर एकाग्र करना चाहिए और सोचना चाहिए कि —"मै इस प्रतिपदा के कारण जरा-मरण से मुक्त होऊँ।" चित्त की एकाग्रता के साथ ही वह वह कामो से विविक्त होता है, अकुशल धर्मो से विविक्त होता है और विवेकज प्रीति के साथ प्रथम ध्यान को प्राप्त करता है। इस कर्मस्थान मे प्रथम ध्यान को आगे वढाया नही जाता, क्योकि यह आलम्वन दुर्वल होने से वितर्क के विना चित्त उसमें स्थिर नही रहता। इसी कारण प्रथम ध्यान के वाद इसी आलम्वन को लेकर द्वितीय ध्यान असम्भव है।

दस अनुस्मृतियाँ

दस कसिण और दस अशुभ कर्मस्थान के वाद दस अनुस्मृति-कर्मस्थान उद्दिष्ट है। पुन -पुन· उत्पन्न होनेवाली स्मृति ही अनुस्मृति है। प्रवर्त्तन के योग्य स्थान मे ही प्रवृत्त होने के कारण अनुरूप स्मृति को भी अनुस्मृति कहते हैं। दस अनुस्मृतियाँ इस प्रकार हैं :

बुद्धानुस्मृति—वुद्ध की अनुस्मृति, जो योगी इस अनुस्मृति को प्राप्त करना चाहता है, उसे प्रसादयुक्त चित्त से एकान्त मे वैठकर "भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्वुद्ध हैं, विद्याचरण-

सम्पन्न हैं, सुगत हैं, लोकविद् हैं, शास्ता हैं" इत्यादि प्रकार से भगवान् बुद्ध के गुणों का अनुस्मरण करना चाहिए। इस प्रकार, बुद्ध के गुणो का अनुस्मरण करते समय योगी के चित्त में न राग पर्युत्थित होता है, न द्वेष पर्युत्थित होता है, न मोह पर्युत्थित होता है। तथागत के चित्त का आलम्बन करने से उसका चित्त ऋजु होता है, नीवरण विष्कम्भित होते हैं, और बुद्ध के गुणो का ही चिन्तन करनेवाले वितर्क और विचार उत्पन्न होते हैं। बुद्धगुणो के वितर्क-विचार से प्रीति उत्पन्न होती है, प्रीति से प्रश्रब्धि पैदा होती है, जो काय और चित्त को प्रशान्त करती है। प्रशान्त भाव से सुख और सुख से समाधि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार अनुक्रम से एक क्षण मे ध्यान के अग उत्पन्न होते हैं। बुद्ध-गुणो की गम्भीरता के कारण और नाना प्रकार के गुणो की स्मृति होने के कारण यह चित्त अर्पणा को प्राप्त नही होता, केवल उपचार-समाधि ही प्राप्त होती है। यह समाधि बुद्धगुणो के अनुस्मरण से उत्पन्न होती है, इसलिए इसे बुद्धानुस्मृति कहते हैं।

इस बुद्धानुस्मृति से अनुयुक्त भिक्षु शास्ता में सगौरव होता है, प्रसन्न होता है, श्रद्धा, स्मृति, प्रज्ञा और पुण्य-वैपुल्य को प्राप्त करता है, भव-भैरव को सहन करता है। बुद्धानुस्मृति के कारण उसका शरीर भी चैत्यगृह के समान पूजार्ह होता है, उसका चित्त बुद्धभूमि में प्रतिष्ठित होता है।

धर्मानुस्मृति—धर्मानुस्मृति को प्राप्त करने के इच्छुक योगी को विचार करना चाहिए कि भगवान् से धर्म स्वाख्यात है। यह धर्म सदृष्टिक, अकालिक, एहिपस्सिक, औपनेय्यिक और विज्ञो से प्रत्यक्ष जानने योग्य है। इस प्रकार धर्म की स्मृति करने से वह धर्म में सगौरव होता है। अनुत्तर धर्म के अधिगम में उसका चित्त प्रवृत्त होता है। इसमें भी अर्पणा प्राप्त नही होती। केवल उपचार-समाधि प्राप्त होती है।

सघानुस्मृति—सघानुस्मृति को प्राप्त करने के इच्छुक योगी को विचार करना चाहिए कि भगवान् का श्रावक-सघ सुप्रतिपन्न है, ऋजुप्रतिपन्न, आर्यधर्मप्रतिपन्न है, सम्यक्त्व-प्रतिपन्न है। भगवान् का श्रावक-सघ श्रोतापन्न आदि अष्ट पुरुषो का बना हुआ है। वह दक्षिणेय है, अजलिकरणीय है, और लोक के लिए अनुत्तर पुण्य-क्षेत्र है। इस प्रकार की सघानुस्मृति से योगी सघ में सगौरव होता है, अनुत्तर मार्ग की प्राप्ति में उसका चित्त दृढ होता है। यहाँ पर भी केवल उपचार-समाधि होती है।

शीलानुस्मृति—शीलानुस्मृति में योगी एकान्त स्थान में अपने शीलो पर विचार करता है कि "अहो! मेरे शील अखण्ड, अच्छिद्र, अशवल, अकिल्विष, स्वतन्त्र विज्ञो से प्रशस्त, अपरामृष्ट और समाधि-सवर्त्तनिक हैं।" यदि योगी गृहस्थ हो, तो गृहस्थ-शील का, प्रव्रजित हो, तो प्रव्रजितशील का, स्मरण करना चाहिए। इस अनुस्मृति से योगी शिक्षा में सगौरव होता है। अणुमात्र दोष मे भी भय का दर्शन करता है, और अनुत्तर शील को प्राप्त करता है। इस अनुस्मृति में भी अर्पणा नही होती। उपचार-ध्यान-मात्र होता है।

त्यागानुस्मृति—त्यागानुस्मृति को प्राप्त करने से इच्छुक योगी को चाहिए कि वह इस स्मृति को करने के पहले कुछ-न-कुछ दान दे। ऐसा निश्चय भी करे कि विना कुछ

दान दिये मै अन्न-ग्रहण न करूँगा। अपने दिये दान को ही आलम्वन वनाकर वह सोचता है कि "अहो ! लाभ है मुझे, जो मत्सरमलो से युक्त प्रजा के वीच में भी विगत-मत्सर हो विहार करता हू। मुक्तत्याग, प्रयतपाणि, व्युत्सर्गरत, याचयोग और दान-सविभागरत हूँ।" इस विचार के कारण चित्त प्रीति-वहुल होता है और उसे उपचार-समाधि प्राप्त होती है।

देवतानुस्मृति—देवतानुस्मृति मे योगी आर्यमार्ग में स्थिर रहकर चातुर्महाराजिक आदि देवो को साक्षी वनाकर अपने श्रद्धादि गुणो का तथा देवताओ के पुण्य-सम्भार का ध्यान करता है। इस अनस्मृति से योगी देवताओ का प्रिय होता है। इसमें भी वह उपचार-समाधि को प्राप्त करता है।

मरणानुस्मृति—एक भव-पर्यापन्न जीवितेन्द्रिय के उपच्छेद को मरण कहते है। अर्हतो का वर्त्तदुःख-समुच्छेद-मरण या सस्कारो का क्षणभग-मरण, यहाँ अभिप्रेत नही है। जीवितेन्द्रिय के उपच्छेद से जो मरण होता है, वही यहाँ अभिप्रेत है। उसकी भावना करने के इच्छुक योगी एकान्त स्थान में जाकर 'मरण होगा, जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद होगा', ऐसा विचार करता है। मरण-मरण' इस प्रकार वार-वार चित्त में विचार करता है। मरणानुस्मृति मे योग्य आलम्वन को चुनना चाहिए। इष्टजनो के मरणानुस्मरण से शोक होता है, अनिष्ट-जनो के मरणानुस्मरण से प्रामोद्य होता है, मध्यस्थ जनो के मरणानुस्मरण से सवेग नही होता। अपने ही मरण के विचार से सन्त्रास उत्पन्न होता है। इसलिए जिनकी पूर्व सम्पत्ति और वैभव को देखा हो, ऐसे सत्त्वो के मरण का विचार करना चाहिए, जिससे स्मृति, सवेग और ज्ञान उपस्थित होता है। इस चिन्तन से उपचार-समाधि की प्राप्ति होती है। मरणानुस्मृति मे उपयुक्त योगी सतत अप्रमत्त रहता है, सर्व भवो से अनभिरति-सज्ञा को प्राप्त करता है जीवित की तृष्णा को छोडता है और निर्वाण को प्राप्त करता है।

कायगतानुस्मृति—यह अनुस्मृति वहुत महत्त्व की है। वुद्धघोप के अनुसार यह केवल वुद्धों से ही प्रवर्तित और सर्वतीर्थिको का अविषयभूत है। भगवान् ने भी कहा है—"भिक्षुओ ! एक धर्म यदि भावित, वहुलीकृत है, तो महान् सवेग को प्राप्त करता है, महान् अर्थ को, योगक्षेम को, स्मृति-सम्प्रजन्य को, ज्ञान-दर्शन-प्रतिलाभ को, दृष्ट-धर्म-सुख-विहार को, विद्या-विमुक्त-फल-साक्षात्करण को प्राप्त करता है। कौन है वह एक धर्म ? कायगता स्मृति ही वह धर्म है। जो कायगता स्मृति को प्राप्त करता है, वह अमृत को प्राप्त करता है।" (अगु० १।४३)।

कायगता स्मृति को प्राप्त करने का इच्छुक योगी इस शरीर को पादतल से केश-मस्तक तक और त्वचा से अस्थियो तक देखता है। इस शरीर में केश, लोम, नख, दन्त, त्वचा, मास, न्हारु, अस्थि, अस्थिमज्ज, वृक्क, हृदय आदि वत्तीस कर्मस्थानो को देखकर अशुचि-भावना को प्राप्त करता है। ये कर्मस्थान आचार्य के पास ग्रहण करके इन वत्तीस कर्मस्थानो का अनुलोम-प्रतिलोम क्रम से वार-वार मन-वचन से स्वाध्याय करता है। फिर, इन कर्मस्थानो के वर्ण-सस्थान, परिच्छेद आदि का चिन्तन करता है। इन कर्मस्थानो का अनुपूर्व से नातिशीघ्र

और नातिमन्द गति से, अविक्षिप्तचित्त से चिन्तन करता है। इस प्रकार इन, वत्तीस कर्मस्थानो में से एक-एक कर्मस्थान में वह अर्पणासमाधि को प्राप्त करता है। कायगता स्मृति के पूर्व की सात अनुस्मृतियो में अर्पणा प्राप्त नही होती, क्योंकि वहाँ आलम्बन गम्भीर है और अनेक है। यहाँ पर योगी सतत अभ्यास से एक-एक कोट्ठास को लेकर प्रथम ध्यान को प्राप्त करता है। इस कायगता स्मृति में अनुयुक्त योगी अरति-रति-सह होता है। उत्पन्नरति और अरति को अभिभूत करता है, भव-भैरव को महन करता है, शीतोष्ण को सहन करता है, चार ध्यानो को प्राप्त करता है और पडभिज्ञ भी होता है।

आनापान-स्मृति—स्मृतिपूर्वक आश्वास-प्रश्वास की क्रिया द्वारा जो समाधि प्राप्त होती है, उसे आनापान-स्मृति कहते हैं। यह शान्त, प्रणीत, अव्यवकीर्ण, ओजस्वी और सुख-विहार है।

इसका विशेप वर्णन आगे किया जा रहा है।

उपशमानुस्मृति—इस अनुस्मृति मे योगी निर्वाण का चिन्तन करता है। वह एकान्त मे समाहित चित्त मे सोचता है कि जितने सस्कृत या असस्कृत धर्म है, उन धर्मों में अग्र-धर्म निर्वाण है। वह मद का निर्मर्दन है, पिपासा का विनयन है, आलय का समुद्घात है, वर्त्त का उपच्छेद है, तृष्णा का क्षय है, विराग है, निरोध है। इस प्रकार, सर्वदुःखोपशम-स्वरूप निर्वाण का चिन्तन ही उपशमानुस्मृति है। भगवान् ने इसी के वारे में कहा है कि यह निर्वाण ही सत्य है, पार है, सुदुर्दर्श है, अजर, ध्रुव, निष्प्रपच, अमृत, शिव, क्षेम, अन्यापाद्य और विशुद्ध है। निर्वाण ही दीप है, निर्वाण ही त्राण है।

इस उपशमानुस्मृति से अनुयुक्त योगी मुख से सोता है, सुख से प्रतिवुद्ध होता है। इसके इन्द्रिय और मन शान्त होते है। वह प्रामादिक होता है और अनुक्रम से निर्वाण को प्राप्त करता है।

उपशम-गुणो की गम्भीरता के कारण और अनेक गुणो का अनुस्मरण करने के हेतु से इस अनुस्मृति में अर्पणाध्यान की प्राप्ति नही होती। केवल उपचार-ध्यान की ही प्राप्ति होती है।

आनापान-स्मृति

चित्त के एकाग्र करने के लिए पातजल-दर्शन में कई उपाय निर्दिष्ट किये गये है। योग के ये विविध साधन 'परिकर्म' कहलाते है। वौद्ध-साहित्य में इन्हे **कर्मस्थान**[1] कहा है। ये विविध प्रकार के चित्त-संस्कार है, जिनसे चित्त एकाग्र होता है। योगशास्त्र का रेचन-पूर्वक कुम्भक इसी प्रकार का एक साधन है। इसका उल्लेख समाधि-पाद के चौंतीसवे सूत्र मे किया गया है—'प्रच्छर्दनविधारणाभ्या वा प्राणस्य'। योगशास्त्रोक्त प्रयत्न-विशेप द्वारा भीतर की वायु को वाहर निकालना ही प्रच्छर्दन या रेचन कहलाता है।

---

१ 'कर्म' का अर्थ है 'योगानुयोग', स्थान का अर्थ है निष्पत्ति-हेतु। इसलिए, 'कर्मस्थान' उसे कहते हैं, जिसके द्वारा योग-भावना की निष्पत्ति होती है। कर्मस्थान चालीस हैं।

रेचित वायु का बहिःस्थापन कर प्राणरोध करना ही विधारण या कुम्भक है। इस क्रिया में भीतर की वायु को बाहर निकालकर फिर श्वास का ग्रहण नही होता। इससे शरीर हल्का और चित्त एकाग्र होता है। यह एक प्रकार का प्राणायाम है। प्राणायाम के प्रसग में इसे **बाह्य-वृत्तिक** प्राणायाम कहा है। योगदर्शन में चार प्रकार के प्राणायाम वर्णित है (देखिए साधनपाद, सूत्र ५०-५१)। बाह्य-वृत्तिक, आभ्यन्तर-वृत्तिक, स्तम्भ-वृत्तिक और बाह्याभ्यन्तर-विषयाक्षेपी। प्राणायाम का अर्थ है श्वास-प्रश्वास का अभाव, अर्थात् श्वासरोध। बाह्य-वृत्तिक रेचक-पूर्वक कुम्भक है। आभ्यन्तर-वृत्तिक पूरक-पूर्वक कुम्भक है। इस प्राणायाम मे बाह्य वायु को नासिका-पुट से भीतर खीचकर फिर श्वास का परित्याग नही किया जाता है। स्तम्भ-वृत्तिक प्राणायाम केवल कुम्भक है। इसमें रेचक या पूरक की क्रिया के विना ही सकृत्प्रयत्न द्वारा वायु की बहिर्गति और आभ्यन्तर गति का एक साथ अभाव होता है। चौथा प्राणायाम एक प्रकार का स्तम्भ-वृत्तिक प्राणायाम है। भेद इतना ही है कि स्तम्भ-वृत्तिक प्राणायाम सकृत्प्रयत्न द्वारा साध्य है, किन्तु चौथा प्राणायाम बहु-प्रयत्न द्वारा साध्य है। अभ्यास करते-करते अनुक्रम से चतुर्थ प्राणायाम सिद्ध होता है, अन्यथा नही। तृतीय प्राणायाम मे पूरक और रेचक के देशादि विषय की आलोचना नही की जाती। केवल देश, काल और सख्या-परिदर्शन-पूर्वक स्तम्भ-वृत्तिक की आलोचना होती है। किन्तु, चतुर्थ प्राणायाम मे पहले देशादि परिदर्शन-पूर्वक बाह्य वृत्ति और आभ्यन्तर वृत्ति का अभ्यास किया जाता है। चिरकाल के अभ्यास से जब ये दो वृत्तियाँ अत्यन्त सूक्ष्म हो जाती है, तब साधक इनका अतिक्रम कर श्वास का रोध करता है। यही चतुर्थ प्राणायाम है। तृतीय और चतुर्थ प्राणायाम में बाह्य और आभ्यन्तर वृत्तियो का अतिक्रम होता है, अन्तर इतना ही है कि तृतीय प्राणायाम मे यह अतिक्रम एक बार मे ही हो जाता है। किन्तु, चतुर्थ प्राणायाम में चिरकालीन अभ्यासवश ही अनुक्रम से यह अतिक्रम सिद्ध होता है। बाह्य और आभ्यन्तर वृत्तियो का अभ्यास करते-करते पूरण और रेचन का प्रयत्न इतना सूक्ष्म हो जाता है कि वह विधारण मे मिल जाता है।

प्राणायाम योग का एक उत्कृष्ट साधन है। बौद्धागम में इसे **आनापान-स्मृति-कर्मस्थान** कहा है। 'आन' का अर्थ है 'साँस लेना' और 'अपान' का अर्थ है 'साँस छोडना'। इन्हे आश्वास-प्रश्वास[१] भी कहते है। स्मृति-पूर्वक आश्वास-प्रश्वास की क्रिया द्वारा जो समाधि मे

१. विनय की अर्थकथा (टीका) के अनुसार आश्वास' सांस छोड़ने को और 'प्रश्वास' साँस लेने को कहते हैं। लेकिन, सूत्र की अर्थकथा में दिया हुआ अर्थ इसका ठीक उलटा है। आचार्य बुद्धघ प विनय की अर्थकथा का अनुसरण करते हैं। उनका कहना है कि जब बालक माता की कोख से बाहर आता है, तब पहले भीतर की हवा बाहर जाती है, और पीछे वाहर की हवा भीतर प्रवेश करती है। इस प्रवृत्ति-क्रम से आश्वास वह वायु है, जिसका निःसारण होता है। सूत्र की अर्थकथा में दिया हुआ अर्थ पातजल योगसूत्र के व्यास-भाष्य के अनुसार है (२।४९ पर व्यास भाष्य 'बाह्यस्थवायोरानयन श्वासः, कोष्ठ्यस्य वायोः नि सारण प्रश्वास' ।')

निष्पन्न की जाती है, वह आनापान-स्मृति-समाधि कहलाती है। भगवान् बुद्ध ने १६ प्रकार से इस समाधि की भावना करने की विधि निर्दिष्ट की है। बुद्ध-शासन में इस समाधि की विधि का ग्रहण सर्वप्रकार से किया गया है। परमार्थमजूषा टीका (विशुद्धिमार्ग की एक टीका) के अनुसार अन्य शासनो के श्रमण भावना के प्रथम चार प्रकार ही जानते है।[1]

यह एक प्रकृष्ट कर्मस्थान समझा जाता है। आचार्य बुद्धघोष का कहना है कि ४० कर्मस्थानो मे इसका शीर्षस्थान है और इसी कर्मस्थान की भावना कर सब बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध और बुद्ध-श्रावको ने विशेष फल प्राप्त किया है।[2] नाना प्रकार के वितर्कों के उपशम के लिए भगवान् ने इस कर्मस्थान को विशेष रूप से उपयुक्त बताया है।[3] दस अशुभ कर्मस्थानो के आलम्बनो की तरह (मृत शरीर के भिन्न-भिन्न प्रकार की भावना) इसका आलम्बन बीभत्स और जुगुप्सा-भाव उत्पन्न करनेवाला नही है। यह कर्मस्थान किसी दृष्टि से भी अशान्त और अप्रणीत नही है। अन्य कर्मस्थानो में शान्तभाव उत्पादित करने के लिए पृथ्वी-मण्डलादि बनाना पड़ता है और भावना द्वारा निमित्त का उत्पादन करना पड़ता है। पर, इस कर्मस्थान में किसी विशेष क्रिया की आवश्यकता नही है। अन्य कर्मस्थानो में उपचार-क्षण में विघ्नो के विष्कम्भन और अगो के प्रादुर्भाव के कारण ही शान्ति होती है। पर, यह समाधि तो स्वभाव-वश आरम्भ से ही शान्त और प्रणीत है। इसलिए, यह असाधारण है। जब-जब इस समाधि की भावना होती है, तब-तब चैतसिक सुख प्राप्त होता है और ध्यान से उठने के समय प्रणीत रूप से शरीर व्याप्त हो जाता है और इस प्रकार कायिक सुख का भी लाभ होता है। इस असाधारण समाधि की बार-बार भावना करने से उदय होने के साथ ही पाप क्षणमात्र में सम्यक् रूप से विलीन होते है। जिनकी प्रज्ञा तीक्ष्ण है और जो उत्तरज्ञान की प्राप्ति चाहते हैं, उनके लिए यह कर्मस्थान विशेष रूप से उपयोगी है। क्योकि, यह समाधि आर्य-मार्ग की भी समाधि है। क्रमपूर्वक इसकी वृद्धि करने से आर्य-मार्ग की प्राप्ति होती है और क्लेशो का सातिशय विनाश होता है। किन्तु, इस कर्मस्थान की भावना सुगम नही है। क्षुद्र जीव इसकी भावना करने मे समर्थ नही होते। यह कर्मस्थान बुद्धादि महापुरुषो द्वारा ही आसेवित होता है।[4] यह स्वभाव से ही शान्त और सूक्ष्म है। भावना-बल से उत्तरोत्तर अधिकाधिक शान्त और सूक्ष्म होता जाता है। यहाँतक कि यह दुर्लक्ष्य हो जाता है। इसीलिए इस कर्मस्थान में बलवती और सुविशदा स्मृति और प्रज्ञा की आवश्यकता है।

---

१ "बाहिरका हि जानन्ता आदितो चतुप्पकारमेव जानन्ति।" (पृ० २५७, परमत्थमजूसा टीका)

२. "अथवा यस्मा इद कम्मट्ठानप्पभेदे मुद्धभूत सब्बञ्ञु बुद्ध पच्चेकबुद्ध बुद्धसावकानं विसेसाधिगम-दिट्ठधम्मसुख विहार पदट्ठान आनापानसति कम्मट्ठानं ।" (विसुद्धिमग्गो, पृ० २६६)

३. "आनापानसति भावेतब्बा वितक्कुपच्छेदाय।" (अगुत्तरनिकाय, ४।३५३), "तत्राऽवतारोऽशुभयाऽनापानस्मृतेन च। रागवितर्कबहुला श्रृङ्खला सर्परागिषु।" (अभिधर्मकोश, ६।९)

४. "इद पन आनापान सति कम्मट्ठानं गरुकं गरुकभावन बुद्धपच्चेक-बुद्ध-बुद्धपुत्तानं महापुरिसानमेव मनसिकारभूमिभूतं न चेव इत्तर, न इत्तरसत्तसमासेवित।" (विसुद्धिमग्गो, पृ० २८४)

सूक्ष्म अर्थ का साधन भी सूक्ष्म ही होता है। इसीलिए, भगवान् कहते है कि जिसकी स्मृति विनष्ट हो गई है और जो सम्प्रजन्य से रहित है, उसके लिए आनापान-स्मृति की शिक्षा नही है।[1] अन्य कर्मस्थान भावना से विभूत हो जाते है, पर यह कर्मस्थान विना स्मृति-सम्प्रजन्य[2] के सुगृहीत नही होता।

जो योगी इस समाधि की भावना करना चाहता है, उसे एकान्त-सेवन करना चाहिए। शब्द ध्यान मे कण्टक होता है। वहाँ दिन-रात रूपादि इन्द्रिय-विषयो की ओर भिक्षु का चित्त प्रधावित होता रहता है और इसीलिए इस समाधि मे चित्त आरोहण करना नही चाहता। अत, जन-समाकुल स्थान में भावना करना दुष्कर है। उसे अपने चित्त का दमन करने के लिए विषयो से दूर किसी निर्जन स्थान में रहना चाहिए। वहाँ पर्य कबद्ध होकर सुख-पूर्वक आसन पर बैठना चाहिए और शरीर के ऊपरी भाग को सीधा रखना चाहिए। इससे चित्त लीन और उद्धत भाव का परित्याग करता है। इस तरह आसन स्थिर होता है और सुखपूर्वक आश्वास-प्रश्वास का प्रवर्त्तन होता है। इस आसन मे बैठने से चमडा, मास और स्नायु नही नमते और जो वेदना इनके नमने से क्षण-क्षण पर उत्पन्न होती, वह नही होती है। इसलिए चित्त की एकाग्रता सुलभ हो जाती है। और, कर्मस्थान वीथि का उल्लघन न कर वृद्धि को प्राप्त होता है।

योगसूत्र में भी आसन की स्थिरता प्राप्त करने के अनन्तर ही प्राणायाम की विधि है (२।४६)। वहाँ भी आसन के सम्वन्ध मे कहा गया है कि इसे स्थिर और सुखावह होना चाहिए ('स्थिरसुखमासनम्', २।४६)। इस सूत्र के भाष्य में कई आसनो का उल्लेख है। इनमें पर्यंक-आसन भी है। पर इसका जो वर्णन वाचस्पतिमिश्र की व्याख्या मे मिलता है, वह पालि-साहित्य मे वर्णित पर्य क-आसन में नही घटता। पालि के अनुसार पर्य क-आसन में बाई जाँघ पर दाहिना पैर और दाहिनी जाँघ पर बायाँ पैर रखना होता है।[3] यह पद्मासन का लक्षण है। प्राय योगी इसी आसन का अनुष्ठान करते है। इसी पद्मासन को पालि-साहित्य में पर्य क-आसन कहा है।

योगी पर्य क-वद्ध हो आसन की स्थिरता को प्राप्त कर विरोधी आलम्वनो का चित्त-द्वार से निवारण करता है और इसी कर्मस्थान को अपने सम्मुख रखता है। वह स्मृति का भी समोष नही होने देता। वह स्मृति-परायण हो श्वास छोडता और श्वास लेता है। आश्वास या प्रश्वास की एक भी प्रवृत्ति स्मृति-रहित नही होती, अर्थात् यह समस्त क्रिया उसकी जानकारी में होती है। जब वह दीर्घ श्वास छोडता है या दीर्घ श्वास लेता है, तव वह अच्छी तरह जानता

---

१. "गाह भिक्खवे मुट्ठस्सतिस्स असम्पजानस्स आनापान सतिभावन वदामीति।" (सयुत्त-निकाय, ५।३।३७)

२. काय और चित्त की अवस्थाओं की प्रत्यवेक्षा सम्प्रजन्य' है।

३ "पल्लङ्कन्ति समन्ततो ऊरुबद्धासनम्।"

है कि मैं दीर्घ श्वास छोड रहा हूँ या दीर्घ श्वास ले रहा हूँ। स्मृति आलम्बन के समीप सदा उपस्थित रहती है और प्रत्येक क्रिया की प्रत्यवेक्षा करती है।

निम्नलिखित १६ प्रकार से आश्वास-प्रश्वास की क्रिया के करने का विधान है—

१ यदि वह दीर्घ श्वास छोडता है, तो जानता है कि मैं दीर्घ श्वास छोड़ता हूँ, यदि वह दीर्घ श्वास लेता है, तो जानता है कि मैं दीर्घ श्वास लेता हूँ।

२ यदि वह ह्रस्व श्वास छोडता या ह्रस्व श्वास लेता है, तो जानता है कि मैं ह्रस्व श्वास छोडता या ह्रस्व श्वास लेता हूँ।

आश्वास-प्रश्वास की दीर्घ-ह्रस्वता काल-निमित्त मानी जाती है। कुछ लोग धीरे-धीरे श्वास लेते और धीरे-धीरे श्वास छोडते हैं, इनका आश्वास-प्रश्वास दीर्घ-काल-व्यापी होता है। कुछ लोग जल्दी-जल्दी श्वास लेते और जल्दी-जल्दी श्वास छोडते हैं। इनका आश्वास-प्रश्वास अल्प-कालव्यापी होता है। यह विभिन्नता शरीर-स्वभाव-वश देखी जाती है। भिक्षु नौ प्रकार से आश्वास-प्रश्वास की क्रिया को ज्ञान-पूर्वक करता है। इस प्रकार, भावना की निरन्तर प्रवृत्ति होती रहती है। जब वह धीरे-धीरे श्वास छोडता है, तब जानता है कि मैं दीर्घ श्वास छोडता हूँ। जब वह धीरे-धीरे श्वास लेता है, तो जानता है कि मैं दीर्घ श्वास लेता हूँ। और, जब धीरे-धीरे आश्वास-प्रश्वास दोनो क्रियाओ को करता है, तो जानता है कि मैं आश्वास-प्रश्वास दोनो क्रियाओ को दीर्घकाल में करता हूँ। यह तीन प्रकार केवल काल-निमित्त है। इनमें पूर्व की अपेक्षा विशेषता प्राप्त करने की कोई चेष्टा नही पाई जाती। भावना करते-करते योगी को यह शुभ इच्छा (= छन्द) उत्पन्न होती है कि मैं इस भावना में विशेष निपुणता प्राप्त करूँ। इस प्रवृत्ति से प्रेरित हो वह विशेष रूप से भावना करता है और कर्मस्थान की वृद्धि करता है। भावना के बल से भय और परिताप दूर हो जाते हैं और शरीर के आश्वास-प्रश्वास पहले की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हो जाते हैं। इस प्रकार इस शुभ इच्छा के कारण वह पहले से अधिक सूक्ष्म आश्वास, अधिक सूक्ष्म प्रश्वास और अधिक सूक्ष्म आश्वास-प्रश्वास की क्रियाओ को दीर्घकाल में करता है। आश्वास-प्रश्वास के सूक्ष्मतर भाव के कारण आलम्बन के अधिक शान्त होने से तथा कर्मस्थान की वीथि में प्रतिपत्ति होने से भावना-चित्त के साथ 'प्रामोद्य', अर्थात् तरुण प्रीति उत्पन्न होती है। प्रामोद्य-वश वह और भी सूक्ष्म श्वास दीर्घकाल में लेता है और भी सूक्ष्म श्वास दीर्घकाल में छोडता है तथा और भी सूक्ष्म आश्वास-प्रश्वास की क्रियाओ को दीर्घकाल में करता है। जब भावना के उत्कर्ष से क्रम-पूर्वक आश्वास-प्रश्वास अत्यन्त सूक्ष्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं, तब चित्त उत्पन्न प्रतिभाग-निमित्त की[1] ओर ध्यान देता है। और, इसलिए वह प्राकृतिक दीर्घ आश्वास-

---

१ उदाहरण के लिए—यदि पृथ्वी-मण्डल को निमित्त मानकर उसका ध्यान किया जाय, तो भावना के बल से आरम्भ में उद्ग्रह-निमित्त का उत्पाद होता है, अर्थात् आँख मूँदने या आँख खोलने पर इच्छानुसार निमित्त का दर्शन होता है। पीछे बहुलता के साथ

प्रश्वास से विमुख हो जाता है। प्रतिभाग-निमित्त के उत्पाद से समाधि की उत्पत्ति होती है और इस प्रकार ध्यान के निष्पन्न होने से व्यापार का अभाव होता है और उपेक्षा उत्पन्न होती है।

इन नौ प्रकारो से दीर्घ श्वास लेता हुआ या दीर्घ श्वास छोडता हुआ या दोनो क्रियाओ को करता हुआ योगी जानता है कि मैं दीर्घ श्वास लेता हूँ या दीर्घ श्वास छोडता हूँ या दोनो क्रियाओ को करता हूँ। ऐसा योगी इनमे से किसी एक प्रकार से कायानुपश्यना[1] नामक स्मृत्युपस्थान की भावना सम्पन्न करता है। नौ प्रकार से जो आश्वास-प्रश्वास होते है, उनको 'काय' कहते है। यहाँ 'काय' समूह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आश्वास-प्रश्वास का आश्रयभूत शरीर भी 'काय' कहलाता है और यहाँ वह भी सगृहीत है। 'अनुपश्यना' ज्ञान को कहते हैं। यह ज्ञान शमथ-वश निमित्त-ज्ञान है और विपश्यना-वश नाम-रूप की व्यवस्था के अनन्तर काम-विषयक यथाभूत ज्ञान है। इसलिए, 'कायानुपश्यना' वह ज्ञान है, जिसके द्वारा काम के यथाभूत स्वभाव की प्रतीति होती है, जिसके द्वारा श्वास-प्रश्वास आदि शरीर की समस्त आभ्यन्तरिक और बाह्य क्रियाएँ तथा चेष्टाएँ ज्ञान और स्मृतिपूर्वक होती है, जिसके द्वारा शरीर का अनित्य-भाव अनात्म-भाव, दु ख-भाव और अशुचि-भाव जाना जाता है। इस ज्ञान के द्वारा यह विदित होता है कि समस्त 'काय' पैर के तलुवे से ऊपर और केशाग्र से नीचे केवल नाना प्रकार के मलो से परिपूर्ण है। इस काय के केश, लोम आदि ३२ आकार अपवित्र और जुगुप्सा उत्पन्न करनेवाले हैं। वह इस काय को रचना के अनुसार देखता है कि इस काय में पृथ्वी-धातु है, तेजोधातु है, जल-धातु है और वायु-धातु है, वह काय मे अहभाव और ममभाव नही देखता तथा काय को कायमात्र ही समझता है।

इसी प्रकार, जब वह जल्दी-जल्दी श्वास छोडता है या लेता है, तब जानता है कि मैं अल्पकाल में श्वास छोडता या लेता हूँ। इस ह्रस्व आश्वास-प्रश्वास की क्रिया भी दीर्घ आश्वास-प्रश्वास की क्रिया के समान ही नौ प्रकार से की जाती है, यहाँतक कि पूर्ववत् योगी कायानु-पश्यना नामक स्मृत्युपत्थान की भावना सम्पन्न करता है।

३. योगी सकल आश्वास-काय के आदि, मध्य और अवसान इन सब भागो का अवरोध कर, अर्थात् उन्हें विशद और विभूत कर श्वास-परित्याग करने का अभ्यास करता है।

भावना करने से प्रतिभाग-निमित्त का प्रादुर्भाव होता है। यह उद्ग्रह-निमित्त की अपेक्षा कहीं अधिक सुपरिशुद्ध होता है। प्रतिभाग-निमित्त वर्ण और आकार से रहित होता है, यह स्थूल पदार्थ नहीं है, प्रज्ञप्तिमात्र है।

१. स्मृत्युपस्थान चार हैं—कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना। शरीर का यथाभूत अवबोध कायानुपश्यना है। सुखवेदना, दु खवेदना, अदु खवेदना का यथार्थ ज्ञान वेदनानुपश्यना है। चित्तज्ञान चित्तानुपश्यना है। पाँच नीवरण, पाँच उपादान-स्कन्ध, छ आयतन, दस सयोजन, सात बोध्यग तथा चार आर्यसत्य का यथार्थ ज्ञान धर्मानुपश्यना है। 'सतिपट्ठानसुत्त' में इन चार स्मृत्युपस्थानों का विस्तार से वर्णन है।

इसी तरह सकल प्रश्वास-काय के आदि, मध्य और अवसान इन सब भागो का अवबोध कर श्वास ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। उसके आश्वास-प्रश्वास का प्रवर्त्तन ज्ञान-युक्त चित्त से होता है, किसी को केवल आदि स्थान, किसी को केवल मध्य, किसी को केवल अवसानस्थान और किसी को तीनो स्थान विभूत होते है। योगी को स्मृति और ज्ञान को प्रतिष्ठित कर तीनो स्थानो में ज्ञान-युक्त चित्त को प्रेरित करना चाहिए। इस प्रकार, आनापान-स्मृति की भावना करते हुए योगी स्मृति-पूर्वक भावना-चित्त के साथ उच्चकोटि के शील, समाधि और प्रज्ञा का आसेवन करता है।

पहले दो प्रकार मे आश्वास-प्रश्वास के अतिरिक्त और कुछ नही करना होता है। किन्तु, इनके आगे ज्ञानोत्पादनादि के लिए सातिशय उद्योग करना होता है।

४ योगी स्थूल काय-संस्कार[1] का उपशम करते हुए श्वास छोडने और श्वास ग्रहण करने का अभ्यास करता है।

कर्मस्थान का आरम्भ करने के पूर्व शरीर और चित्त दोनो क्लेश-युक्त होते है। उनका गुरुभाव होता है। शरीर और चित्त की गुरुता के कारण आश्वास-प्रश्वास प्रबल और स्थूल होते है, नाक के नथुने भी उनके वेग को नही रोक सकते। और भिक्षु को मुँह से भी साँस लेना पडता है। किन्तु, जब योगी पृष्ठवंश को सीधा कर पर्यंक-आसन से बैठता है और स्मृति को सम्मुख उपस्थापित करता है, तब योगी के शरीर और चित्त का परिग्रह होता है। इससे बाह्य विक्षेप का उपशम होता है, चित्त एकाग्र होता है और कर्मस्थान में चित्त की प्रवृत्ति होती है। चित्त के शान्त होने से चित्त-समुत्थित रूपधर्म लघु और मृदुभाव को प्राप्त होते है। आश्वास-प्रश्वास का भी स्वभाव शान्त हो जाता है और वह धीरे-धीरे इतने सूक्ष्म हो जाते है कि यह जानना भी कठिन हो जाता है कि वास्तव में उनका अस्तित्व भी है या नही।

यह काय-सस्कार क्रमपूर्वक स्थूल से सूक्ष्म, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम हो जाता है, यहाँतक कि चतुर्थ ध्यान के क्षण में यह परम सूक्ष्मता की कोटि को प्राप्त हो दुर्लक्ष्य हो जाता है। जो काय-सस्कार कर्मस्थान के आरम्भ करने के पूर्व प्रवृत्त था, वह चित्त-परिग्रह के समय शान्त हो जाता है। जो काय-सस्कार चित्त-परिग्रह के पूर्व प्रवृत्त था, वह प्रथम ध्यान के उपचार-क्षण[2] में शान्त हो जाता है। इसी प्रकार पूर्व काय-सस्कार उत्तरोत्तर काय-सस्कार

---

१ काय-संस्कार 'आश्वास-प्रश्वास' को कहते हैं, यद्यपि आश्वास-प्रश्वास चित्त-समुत्थित धर्म है, तथापि शरीर से प्रतिबद्ध होने के कारण इन्हें 'काय' कहते हैं। शरीर के होने पर ही आश्वास-प्रश्वास की क्रिया सम्भव है, अन्यथा नहीं। "कतमे कायसङ्खारा? दीघं अस्सास परस्सासा कायिका एते धम्मा कायपटिबद्धा कायसङ्खारा पटिसम्भिदा।

२ उपचार और अर्पणा समाधि के प्रकार हैं। अर्पणा का अर्थ है—आलम्बन में एकाग्र चित्त का अर्पण। अर्पणा ध्यान की प्रतिलाभ-भूमि है। अर्पणा के उत्पाद से ही ध्यान के पाँच अग सुदृढ होते हैं। अर्पणा का समीपवर्त्ती प्रदेश उपचार है। उपचार-समाधि का ध्यान अल्प-प्रमाण का होता है।

द्वारा शान्त हो जाता है। काय-सस्कार के शान्त होने से शरीर का कम्पन, चलन, स्पन्दन और नमन भी शान्त हो जाता है।

आनापान-स्मृति-भावना के ये चार प्रकार प्रारम्भिक अवस्था के साधक के लिए बताये गये है, इन चार प्रकारो से भावना कर जो योगी ध्यानो का उत्पाद करता है, वह यदि विपश्यना द्वारा अर्हत्-पद पाने की अभिलाषा रखता है, तो उसे शील को विशुद्ध कर आचार्य के समीप कर्म-स्थान को पाँच आकार से ग्रहण करना चाहिए। यह पाँच आकार कर्म-स्थान की सन्धि (=पर्व=भाग) कहलाते है। यह इस प्रकार है —

उद्ग्रह, परिपृच्छा, उपस्थान, अर्पणा और लक्षण। कर्मस्थान-ग्रन्थ का स्वाध्याय 'उद्ग्रह' कहलाता है। कर्मस्थान के अर्थ का स्पष्टीकरण करने के लिए प्रश्न पूछना 'परिपृच्छा' है। भावनानुयोगवश निमित्त के उपधारण को 'उपस्थान' कहते है। चित्त को एकाग्र कर भावना-बल से ध्यानो का प्रतिलाभ 'अर्पणा' है। कर्मस्थान के स्वभाव का उपधारण 'लक्षण' कहलाता है। योगी दीर्घकाल तक स्वाध्याय करता है, उपयुक्त आवास में निवास करते हुए आनापान-स्मृति-कर्मस्थान की ओर चित्तावर्जन करता है और आश्वास-प्रश्वास पर चित्त को स्थिर करता है। कर्मस्थान अभ्यास की विधि इस प्रकार है —

गणना—योगी पहिले आश्वास-प्रश्वास की गणना द्वारा चित्त को स्थिर करता है। एक बार में एक से आरम्भ कर कम-से-कम पाँच तक और अधिक-से-अधिक दस तक गिनती गिननी चाहिए। गणना-विधि को खण्डित भी न करना चाहिए। अर्थात् एक, तीन, पाँच इस प्रकार बीच-बीच में छोडते हुए गिनती न गिननी चाहिए। पाँच से नीचे रुकने पर चित्त का स्पन्दन होता है और दस से अधिक गिनती गिनने पर चित्त कर्मस्थान का आश्रय छोड गणना का आश्रय लेता है। गणना-विधि के खण्डन होने से चित्त में कम्पन होता है और कर्मस्थान की सिद्धि के विषय मे चित्त सशयान्वित हो जाता है। इसलिए, इन दोषो का परित्याग करते हुए गणना करनी चाहिए। पहले धीरे-धीरे गिनती करनी चाहिए। जिस प्रकार धान का तौलनेवाला गिनती करता है, उसी प्रकार धीरे-धीरे पहले गिनती करनी चाहिए। धान का तौलनेवाला तराजू के एक पलडे में धान भरता है और उसे तौलकर 'एक' कहकर जमीन पर उँडेल देता है। फिर, पलडे मे धान भरता है और जवतक दूसरी बार नही उँडेलता, तवतक वरावर 'एक'—'एक' कहता जाता है। आश्वास-प्रश्वासो मे जो विशद और विभूत होता है, उसी का ग्रहण कर गणना आरम्भ होती है और जवतक दूसरा विशद और विभूत नही होता, तवतक निरन्तर आश्वास-प्रश्वास की ओर 'एक'-'एक' कहता रहता है, दृष्टि रखते हुए दस तक गणना की जाती है। तदनन्तर, फिर से उसी प्रकार गणना शुरू होती है। इस प्रकार, गणना करने से जब आश्वास-प्रश्वास विशद और विभूत हो जाय, तव जल्दी-जल्दी गणना करनी चाहिए। पूर्व प्रकार की गणना से आश्वास-प्रश्वास विशद हो जल्दी-जल्दी वार-वार निष्क्रमण और प्रवेश करते है। ऐसा जानकर योगी आभ्यन्तर और वाह्य प्रदेश मे आश्वास-प्रश्वास का ग्रहण नही

करता। वह द्वार पर (नासिका-पुट ही निष्क्रमण-द्वार और प्रवेश-द्वार है) ही आते-जाते उनका ग्रहण करता है। और 'एक-दो-तीन-चार-पाँच' में 'एक-दो-तीन-चार-पाँच-छ . . ' इस प्रकार एक वार में दस तक जल्दी-जल्दी गिनता है। इस प्रकार, जल्दी-जल्दी गिनती करने से आश्वास-प्रश्वास का निरन्तर प्रवर्त्तन उपस्थित होता है। आश्वास-प्रश्वास की निरन्तर प्रवृत्ति जानकर अभ्यन्तर-गत और वहिर्गत वात का ग्रहण न कर जल्दी-जल्दी गिनती करनी चाहिए। क्योंकि, अभ्यन्तर-गत वात की गति की ओर ध्यान देने से चित्त उस स्थान पर वात से आहत मालूम पडता है, और वहिर्गत वात की गति का अन्वेषण करते समय नाना प्रकार के वाह्य आलम्वनो की ओर चित्त विधावित होता है और इस प्रकार विक्षेप उपस्थित होता है। इसलिए, स्पृष्ट-स्पृष्ट स्थान पर ही स्मृति उपस्थापित कर भावना करने से भावना की सिद्धि होती है। जवतक गणना के विना ही चित्त आश्वास-प्रश्वास-रूपी आलम्वन मे स्थिर न हो जाय, तवतक गणना की क्रिया करनी चाहिए। वाह्य-वितर्क का उपच्छेद कर आश्वास-प्रश्वास में चित्त की प्रतिष्ठा करने के लिए ही गणना की क्रिया की जाती है।

अनुवन्धना—जव गणना का कार्य निष्पन्न हो जाता है, तव गणना का परित्याग कर **अनुबन्धना** की क्रिया का आरम्भ होता है। इस क्रिया के द्वारा विना गिनती के ही चित्त आश्वास-प्रश्वास-रूपी आलम्वन में आवद्ध हो जाता है। गणना का परित्याग कर स्मृति आश्वास-प्रश्वास का निरन्तर अनुगमन करती है। इस क्रिया को **अनुबन्धना** कहते हैं। अभिधर्मकोश में इसे 'अनुगमन' कहा है। आदि, मध्य और अवसान का अनुगमन करने से अनुवन्धना नही होती। आश्वासवायु की उत्पत्ति पहले नाभि मे होती है, हृदय मध्य है और नासिकाग्र पर्यवसान है। इनका अनुगमन करने से चित्त असमाहित होता है और काम तथा चित्त का कम्पन और स्पन्दन होता है। इसलिए, अनुवन्धना की क्रिया करते समय आदि, मध्य और अवसान-क्रम से कर्मस्थान का चिन्तन न करना चाहिए।

स्पर्श और स्थापना—जिस प्रकार गणना और अनुवन्धना द्वारा अनुक्रम से अलग-अलग कर्मस्थान की भावना की जाती है, उस प्रकार केवल स्पर्श या स्थापना द्वारा पृथक् रूप से भावना नही होती। गणना कर्मस्थान-भावना का मूल है, **अनुबन्धना** स्थापना का मूल है। क्योंकि, अनुवन्धना के विना स्थापना (= अर्पणा) असम्भव है।

इसलिए, इन दोनो (गणना और अनुवन्धना) का प्रधान रूप से ग्रहण किया गया है। स्पर्श और स्थापना की प्रधानता नही है। स्पर्श गणना का अग है। स्पर्श का अर्थ है 'स्पृष्ट स्थान'। अभिधर्मकोश में इसे **स्थान** कहा है। स्पर्श-स्थान नासिकाग्र है। स्पर्श-स्थान के समीप स्मृति को उपस्थापित कर गणना का कार्य करना चाहिए। इस प्रकार, गणना और स्पर्श द्वारा एक साथ अभ्यास किया जाता है। जव गणना का परित्याग कर स्मृति स्पर्श-स्थान में ही आश्वास-प्रश्वास का निरन्तर अनुगमन करती है और अनुवन्धना के निरन्तर अभ्यास से अर्पणा-समाधि के लिए चित्त एकाग्र होता है, तव अनुवन्धना, स्पर्श और स्थापना तीनो द्वारा

एक साथ कर्मस्थान का चिन्तन होता है। इसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ अर्थ-कथा-वर्णित पगुल और द्वारपाल की उपमा का उल्लेख करेगे।

जिस प्रकार पगुल खम्भे के पास बैठकर जिस समय बच्चो को झूला झुलाता है, उस समय झूले के पटरे का अगला भाग (आते समय), पिछला भाग (जाते समय) और मध्यभाग अनायास ही उसको दृष्टिगोचर होता है और इसके लिए उसे कोई प्रयत्न नही करना पडता, उसी प्रकार स्पर्श-स्थान (=नासिकाग्र) मे स्मृति को उपस्थापित कर योगी का चित्त आते-जाते आश्वास-प्रश्वास के आदि, मध्य और अवसान का अनायास ही अनुगमन करता है।

जिस प्रकार नगर का द्वारपाल नगर के भीतर और बाहर लोगो की पूछताछ नही करता फिरता, किन्तु जो मनुष्य नगर के द्वार पर आता है, उसकी जाँच करता है, उसी प्रकार योगी का चित्त अन्त प्रविष्ट वायु और बहिर्निष्क्रान्त वायु की उपेक्षा कर केवल द्वार-प्राप्त आश्वास-प्रश्वास का अनुगमन करता है। स्थान-विशेष पर स्मृति को उपस्थापित करने से क्रिया सुलभ हो जाती है, कोई विशेष प्रयत्न नही करना पडता।

'पटिसम्भिदा' में आरे की उपमा दी गई है। जिस प्रकार आरे से काटते समय वृक्ष को समतल भूमि पर रखकर क्रिया की जाती है और आते-जाते आरे के दाँतो की ओर ध्यान न देकर जहाँ-जहाँ आरे के दाँत वृक्ष का स्पर्श करते है, वहाँ-वहाँ ही स्मृति उपस्थापित कर आते-जाते आरे के दाँत जाने जाते है और प्रयत्न-वश छेदन की क्रिया निष्पन्न होती है और यदि कोई विशेष प्रयोजन हो, तो वह भी सम्पादित होता है, उसी प्रकार योगी नासिकाग्र या उत्तरोष्ठ मे स्मृति को उपस्थापित कर सुखासीन होता है। आते-जाते आश्वास-प्रश्वास की ओर ध्यान नही देता। किन्तु, यह बात नही है कि वे उसको अविदित हो, भावना को निष्पन्न करने के लिए वह प्रयत्नशील होता है, विघ्नो (=नीवरण) का नाश कर भावनानुयोग साधित करता है और उत्तरोत्तर लौकिक तथा लोकोत्तर-समाधि का प्रतिलाभ करता है।

काय और चित्त वीर्यारम्भ से भावना-कर्म मे समर्थ होता है, विघ्नो का नाश और वितर्क का उपशम होता है, दस सयोजनो का परित्याग होता है, इसलिए अनुशयो का लेश-मात्र भी नही रह जाता।

इस कर्मस्थान की भावना करने से थोडे ही समय मे प्रतिभाग-निमित्त का उत्पाद होता है और ध्यान के अन्य अगो के साथ अर्पणा-समाधि का लाभ होता है। जब गणना-क्रिया-वश स्थूल आश्वास-प्रश्वास का क्रमश निरोध होता है और शरीर का क्लेश दूर हो जाता है, तब शरीर और चित्त दोनो बहुत हल्के हो जाते है।

अन्य कर्मस्थान भावना के बल से उत्तरोत्तर विभूत होते जाते है। किन्तु, यह कर्मस्थान अधिकाधिक सूक्ष्म होता जाता है। यहाँतक कि यह उपस्थित भी नही होता। जब कर्मस्थान

की उपलब्धि नही होती, तब योगी को आसन से उठ जाना चाहिए। पर, यह विचार कर न उठना चाहिए कि आचार्य से पूछना है कि—क्या मेरा कर्मस्थान नष्ट हो गया है। ऐसा विचार करने से कर्मस्थान नवीन हो जाता है। इसलिए, अनुपलब्ध आश्वास-प्रश्वास का पर्येषण प्रकृत स्पर्श-स्थानवश करना चाहिए। जिसकी नाक बडी होती है, उसके आश्वास-प्रश्वास-प्रवर्त्तन के समय नासिकाग्र का स्पर्श करते है और जिसकी नाक छोटी होती है, उसके आश्वास-प्रश्वास उत्तरोष्ठ का स्पर्श कर प्रवर्त्तित होते है। स्मृति-सम्प्रजन्यपूर्वक योगी को प्रकृत स्पर्श-स्थान में स्मृति प्रतिष्ठित करनी चाहिए। प्रकृत स्पर्श-स्थान को छोडकर अन्यत्र पर्येषण न करना चाहिए। इस उपाय से अनुपस्थित आश्वास-प्रश्वास की सम्यक् उपलब्धि में योगी समर्थ होता है।

भावना करते-करते प्रतिभाग-निमित्त उत्पन्न होता है। यह किसी को मणि के सदृश, किसी को मुक्ता, कुसुममाला, धूमशिखा, पद्मपुष्प, चन्द्र-मण्डल या सूर्य-मण्डल के सदृश उपस्थित होता है। प्रतिभाग-निमित्त की उत्पत्ति सञ्ज्ञा से ही होती है। इसलिए, सञ्ज्ञा की विविधता के कारण कर्मस्थान के एक होते हुए भी प्रतिभाग-निमित्त नाना रूप से प्रकट होता है। जो यह जानता है कि आश्वास-प्रश्वास और निमित्त एक चित्त के आलम्बन नही है, उसी का कर्मस्थान उपचार और अर्पणा-समाधि का लाभ करता है। प्रतिभाग-निमित्त के इस प्रकार उपस्थित होने पर योगी को इसकी सूचना आचार्य को देनी चाहिए। आचार्य, भिक्षु के उत्साह को बढाते हुए बार-बार भावना करने का उपदेश करता है। उक्त प्रकार के प्रतिभाग-निमित्त में ही अनुबन्धना और स्पर्श का परित्याग कर भावना-चित्त की स्थापना की जाती है। इस भावना से क्रमपूर्वक अर्पणा होती है। प्रतिभाग-निमित्त की उत्पत्ति के समय से विघ्न और क्लेश दूर हो जाते हैं, स्मृति उपस्थित होती है और चित्त उपचार-समाधि द्वारा समाहित होता है।

योगी को उक्त प्रतिभाग-निमित्त के वर्ण और लक्षण का ग्रहण न करना चाहिए। निमित्त की अच्छी तरह रक्षा करनी चाहिए। इसलिए अनुपयुक्त आवास आदि का परित्याग करना चाहिए। इस प्रकार, निमित्त की रक्षा कर निरन्तर भावना द्वारा कर्मस्थान की वृद्धि करनी चाहिए। अर्पणा में कुशलता प्राप्त कर, वीर्य का सम-भाव प्रतिपादित करना चाहिए। तदनन्तर, ध्यानो का उत्पाद करना चाहिए।

इस प्रकार, ध्यानो का उत्पाद कर जो योगी सलक्षणा (=विपश्यना, इसे अभिधर्मकोश में 'उपलक्षण' कहा है) और विवर्त्तना (=मार्ग) द्वारा कर्मस्थान की वृद्धि करना चाहता है और परिशुद्धि (=मार्गफल) प्राप्त करना चाहता है, उसे पांच प्रकार से (आवर्जन, समगी होना, अधिष्ठान, व्युत्थान और प्रत्यवेक्षण) ध्यानो का अभ्यास करना चाहिए और नाम-रूप की व्यवस्था कर विपश्यना का आरम्भ करना चाहिए। योगी सोचता है कि शरीर और चित्त के कारण आश्वास-प्रश्वास होता है, चित्त इनका समुत्थापक है और शरीर के बिना इनका प्रवर्त्तन सम्भव नही है। वह स्थिर करता है कि आश्वास-प्रश्वास और शरीर रूप हैं और

चित्त तथा चैतसिक धर्म अरूप (=नाम) है। इस प्रकार, नाम-रूप की व्यवस्था कर वह इनके हेतु का पर्येषण करता है, वह अनित्यादि लक्षणो का विचार करता है, निमित्त का निर्वर्त्तन कर आर्य-मार्ग मे प्रवेश करता है, और सकल क्लेश का ध्वस कर अर्हत्फल में प्रतिष्ठित हो विवर्त्तना और परिशुद्धि की प्रत्यवेक्षा-ज्ञान की कोटि को प्राप्त होता है। इस प्रत्यवेक्षा को पालि मे 'परिपस्सना' कहा है।

आनापान-स्मृति समाधि की प्रथम चार प्रकार की भावना का विवेचन सर्वरूप से किया जा चुका है। अब हम शेष बारह प्रकार की भावना का विचार करेगे।

यह बारह प्रकार भी तीन वर्गों मे विभक्त किये जाते है। एक-एक वर्ग में चार प्रकार सम्मिलित है। इनमें से पहिला वर्ग वेदनानुपश्यना-वश चार प्रकार का है।

५ इस वर्ग के पहिले प्रकार मे योगी प्रीति का अनुभव करते हुए श्वास का परित्याग और ग्रहण करना सीखता है। दो तरह से प्रीति का अनुभव किया जाता है—शमथ-मार्ग (=लौकिक-समाधि) मे आलम्बन-वश और विपश्यना-मार्ग मे असमोह-वश। प्रीति-सहगत प्रथम और द्वितीय ध्यान सम्पादित कर ध्यान-क्षण मे योगी प्रीति का अनुभव करता है। प्रीति के आश्रयभूत आलम्बन का सवेदन होने से प्रीति का अनुभव होता है। इसलिए, यह सवेदन आलम्बन-वश होता है। योगी प्रीति-सहगत प्रथम और द्वितीय ध्यानो को सम्पादित कर ध्यान से व्युत्थान करता है और ध्यान-सम्प्रयुक्त प्रीति के क्षय-कर्म का ग्रहण करता है। विपश्यना-प्रज्ञा द्वारा प्रीति के विशेष और सामान्य लक्षणो के यथावत् ज्ञान से दर्शन-क्षण मे प्रीति का अनुभव होता है। यह सवेदन असमोह-वश होता है।

'पटिसमिदा' में कहा है—जब योगी दीर्घश्वास लेता है और स्मृति को ध्यान के सम्मुख उपस्थापित करता है, तब इस स्मृति के कारण तथा इस ज्ञान के कारण कि चित्त एकाग्र होता है, योगी प्रीति का अनुभव करता है। इसी प्रकार, जब योगी दीर्घश्वास छोडता है, ह्रस्व श्वास लेता है, ह्रस्व श्वास छोडता है, सकल श्वास-काय सकल प्रश्वास-काय के आदि, मध्य और अवसान सब भागो का अवबोध कर तथा उन्हे विशद और विभक्त कर श्वास छोडता और श्वास लेता है, काय-सस्कार (श्वास-प्रश्वास) का उपशम करते हुए श्वास छोडता है और श्वास लेता है, तब उसका चित्त एकाग्र होता है और इस ज्ञान द्वारा वह प्रीति का अनुभव करता है। यह प्रीति-सवेदन आलम्बनवश होता है। जो ध्यान की ओर चित्त का आवर्जन करता है, जो ध्यान-समापत्ति के क्षण में आलम्बन को जानता है, ध्यान से उठकर ज्ञान-चक्षु से देखता है, जो ध्यान की प्रत्यवेक्षा करता है, जो यह विचार कर ध्यानचित्त का अवस्थान करता है कि 'मै इतने काल तक ध्यान-समर्जन रहूँगा', वह आलम्बन-वश प्रीति का अनुभव करता है। जिन धर्मो द्वारा शमथ और विपश्यना की सिद्धि होती है, उनके द्वारा भी योगी प्रीति का अनुभव करता ई। यह धर्म श्रद्धा आदि पाँच इन्द्रिय है (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा। क्लेश के उपशम मे इनका आधिपत्य होने से 'इन्द्रिय' सज्ञा पडी)। जो शमथ और विपश्यना में दृढ श्रद्धा रखता है, जो कुशलोत्साह करता है, जो स्मृति उपस्थापित करता है, जो चित्त समाहित करता है और जो प्रज्ञा द्वारा यथाभूत दर्शन करता है, वह प्रीति का

अनुभव करता है। यह सवेदन आलम्बन-वश और असमोह-वश होता है। जिसने छ अभिज्ञा का अधिगम किया है, जिसने हेय दु ख को जान लिया है और जिसकी तद्विषयक जिज्ञासा निवृत्त हो गई है, जिसने दु ख के कारण क्लेशो का परित्याग (हेय-हेतु या दु.ख-समुदय) किया है, जिसके लिए और कुछ हेय नही है, जिसने मार्ग की भावना की है (हानोपाय) तथा जिसके लिए और कुछ कर्त्तव्य नही है तथा जिसने निरोध का साक्षात्कार किया है और जिसके लिए अब और कुछ प्राप्य नही है, उसको प्रीति का अनुभव होता है। यह प्रीति असमोहवश होती है।

६ इस वर्ग के दूसरे प्रकार में योगी सुख का अनुभव करते हुए श्वास छोडना और श्वास लेना सीखता है। सुख का अनुभव भी आलम्बन-वश और असमोह-वश होता है। सुख-सहगत प्रथम तीन ध्यान सम्पादित कर ध्यान-क्षण में योगी सुख का अनुभव करता है, और ध्यान से व्युत्थान कर ध्यान-सयुक्त सुख के क्षयधर्म का ग्रहण करता है। विपश्यना द्वारा सुख के सामान्य और विशेष लक्षणो को यथावत् जानने से दर्शन-क्षण में असमोह-वश सुख का अनुभव होता है। विपश्यना-भूमि में योगी कायिक और चैतसिक दोनो प्रकार के सुख का अनुभव करता है।

७ इस वर्ग के तीसरे प्रकार में योगी चारो ध्यान द्वारा चित्त-सस्कार (=सज्ञायुक्त वेदना। सज्ञा और वेदना चैतसिक धर्म हैं। चित्त ही इनका समुत्थापक है।) का अनुभव करते हुए श्वास छोडता और श्वास लेता है।

८ इस वर्ग के चौथे प्रकार में स्थूल चित्त-सस्कार का निरोध करते हुए श्वास छोडता और श्वास लेता है। इसका क्रम वही है, जो काय-सस्कार के उपशम का है। दूसरा वर्ग चित्तानुपश्यना-वश चार प्रकार का है।

९ पहले प्रकार में योगी चारो ध्यान द्वारा चित्त का अनुभव करते हुए श्वास छोडना और लेना सीखता है।

१०. दूसरे प्रकार में योगी चित्त को प्रमुदित करते हुए श्वास छोडना या लेना सीखता है। समाधि और विपश्यना द्वारा चित्त प्रमुदित होता है। योगी प्रीति-सहगत प्रथम और द्वितीय ध्यान को सम्पादित कर ध्यान-क्षण में सम्प्रयुक्त प्रीति से चित्त को प्रमुदित करता है। यह समाधि-वश चित्त-प्रमोद है। प्रथम और द्वितीय ध्यान से उठकर योगी ध्यान-सम्प्रयुक्त प्रीति के क्षय-धर्म का ग्रहण करता है। इस प्रकार, योगी विपश्यना-क्षण मे ध्यान-सम्प्रयुक्त प्रीति को आलम्बन बना, चित्त को प्रमुदित करता है। यह विपश्यना-वश चित्त-प्रमोद है।

११ तीसरे प्रकार में योगी प्रथम ध्यानादि द्वारा चित्त को आलम्बन में समरूप से अवस्थित करते हुए श्वास छोडना और श्वास लेना सीखता है। अर्पणा-क्षण में समाधि के चरम उत्कर्ष के कारण चित्त किंचिन्मात्र भी लीन और उद्धत भाव को नही प्राप्त होता तथा स्थिर और समाहित होता है। ध्यान से उठकर योगी ध्यान-सम्प्रयुक्त चित के क्षय-धर्म को देखता है और उसे विपश्यना-क्षण में चित की अनित्यता आदि लक्षणो का क्षण-क्षण

पर अवबोध होता है। इससे क्षणमात्र स्थायी समाधि उत्पन्न होती है। यह समाधि आलम्बन में एकाकार से निरन्तर प्रवृत्त होती मालूम पडती है और चित्त को निश्चल रखती है।

१२ चौथे प्रकार मे प्रथम ध्यान द्वारा विघ्नो (=नीवरण) से चित्त को मुक्त कर, द्वितीय द्वारा वितर्क-विचार से मुक्त कर, तृतीय द्वारा प्रीति से मुक्त कर चतुर्थ ध्यान द्वारा सुख-दु ख से चित्त को मुक्त कर, योगी श्वास छोडने और श्वास लेने का अभ्यास करता है अथवा ध्यान से व्युत्थान कर ध्यान-सम्प्रयुक्त चित्त के क्षय-धर्म का ग्रहण करता है और विपश्यना-क्षण मे अनित्य-भावदर्शी हो चित्त को नित्य-सज्ञा से विमुक्त करता है, अर्थात् योगी अनित्यता की परमकोटि 'भग' का दर्शन कर सस्कार की अनित्यता का साक्षात्कार करता है। इसलिए, सस्कृत-धर्मों के सम्बन्ध मे उसकी जो मिथ्या-सज्ञा है, वह दूर हो जाती है। जिसका अनित्य भाव है, वह दु ख है, सुख कदापि नही है, जो दु ख है, वह अनात्मा है, आत्मा कभी नही है। इस ज्ञान द्वारा वह चित्त को सुख-सज्ञा और आत्म-सज्ञा से विमुक्त करता है। वह देखता है कि जो अनित्य, दु ख और अनात्मा है, उसमे अभिरति और राग न होना चाहिए। उसके प्रति योगी को निर्वेद और वैराग्य उत्पन्न होता है। वह चित्त को प्रीति और राग से विमुक्त करता है। जब योगी का चित्त सस्कृत-धर्मों से विरक्त होता है, तब वह सस्कारो का निरोध करता है, उन्हें उत्पन्न होने नही देता। इस प्रकार, निरोध-ज्ञान द्वारा वह चित्त को उत्पत्ति-धर्मसमुदय से विमुक्त करता है। सस्कारो का निरोध कर वह नित्य आदि आकार से उनका ग्रहण नही करता, वह उनका परित्याग करता है, वह क्लेशो का परित्याग करता है और सस्कृत-धर्मों का दोष देखकर तद्विपरीत असस्कृत-धर्म निर्वाण में चित्त का प्रवेश करता है।

तीसरा वर्ग भी चार प्रकार का है।

१३ पहले प्रकार में योगी अनित्य-ज्ञान के साथ श्वास छोडना और श्वास लेना सीखता है। पहले यह जानना चाहिए कि अनित्य क्या है? अनित्यता क्या है? अनित्य-दर्शन किसे कहते है? और, अनित्यदर्शी कौन है? पचस्कन्ध अनित्य हैं, क्योकि इनके उत्पत्ति, विनाश और अन्यथाभाव हैं। पचस्कन्धो का उत्पत्ति-विनाश ही अनित्यता है। यह उत्पन्न होकर अभाव को प्राप्त होते हैं। उस आकार में उनकी अवस्थिति नही होती। उनका क्षण-भग होता है। रूप आदि को अनित्य देखना अनित्यानुपश्यना है। इस ज्ञान से जो समन्वागत है, वह अनित्यदर्शी है।

१४. दूसरे प्रकार में योगी विराग-ज्ञान के साथ श्वास छोड़ना और श्वास लेना सीखता है। विराग दो हैं—१ क्षय-विराग और २ अत्यन्त-विराग। सस्कारो का क्षण-भग क्षय-विराग है। यह क्षणिक निरोध है। अत्यन्त विराग, निर्वाण के अधिगम से सस्कारो का अत्यन्त, न कि क्षणिक, निरोध होता है। क्षय-विराग के ज्ञान से विपश्यना और अत्यन्त विराग के ज्ञान से मार्ग की प्रवृत्ति होती है।

१५ तीसरे प्रकार मे योगी निरोधानुपश्यना से समन्वागत हो श्वास छोडना और श्वास लेना सीखता है। निरोध भी दो प्रकार का है—१ क्षय-निरोध और २ अत्यन्त-निरोध।

१६ चौथे प्रकार में योगी प्रतिनिसर्गानुपश्यना से समन्वागत हो श्वास छोडना और श्वास लेना सीखता है। प्रतिनिसर्ग (=त्याग) भी दो प्रकार का है—१ परित्याग-प्रतिनिसर्ग और २ प्रस्कन्दन-प्रतिनिसर्ग। विपश्यना और मार्ग को प्रतिनिसर्गानुपश्यना कहते हैं। विपश्यना द्वारा योगी अभिसस्कारक स्कन्धो-सहित क्लेशो का परित्याग करता है तथा सस्कृत-धर्मों का दोष देखकर तद्विपरीत असस्कृत-निर्वाण में प्रस्कन्दन, अर्थात् प्रवेश करता है।

इस तरह १६ प्रकार से आनापान-स्मृति-समाधि की भावना की जाती है। चार-चार प्रकार का एक-एक वर्ग है। अन्तिम वर्ग शुद्ध उपासना की रीति से उपदिष्ट हुआ है; शेष वर्ग शमथ तथा विपश्यना, दोनो रीतियो से उपदिष्ट हुए हैं। (शमथ लौकिक समाधि को कहते हैं, विपश्यना एक प्रकार का विशिष्ट ज्ञान है, इसे लोकोत्तर समाधि भी कहते हैं)

आनापान-स्मृति-भावना का जब परमोत्कर्ष होता है, तब चार स्मृत्युपस्थापन का परिपूरण होता है। स्मृत्युपस्थापनाओ के सुभावित होने से सात बोध्यगो (स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि, उपेक्षा) का पूरण होता है और इनके पूरण से मार्ग और फल का अधिगम होता है।

इस भावना की विशेषता यह है कि मृत्यु के समय जब श्वास-प्रश्वास निरुद्ध होते है, तब योगी मोह को प्राप्त नही होता। मरण-समय के अन्तिम आश्वास-प्रश्वास उसको विशद और विभूत होते है। जो योगी आनापान-स्मृति की भावना भली भाँति करता है, उसको मालूम पडता है कि मेरा आयुसस्कार अब इतना अवशिष्ट रह गया है। यह जानकर वह अपना कृत्य सम्पादित करता है और शान्तिपूर्वक शरीर का परित्याग करता है।

चार ब्रह्म-विहार

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा यह चार चित्त की सर्वोत्कृष्ट और दिव्य अवस्थाएँ हैं। इनको 'ब्रह्म-विहार' कहते हैं। चित्त-विशुद्धि के ये उत्तम साधन है। जीवो के प्रति किस प्रकार सम्यक् व्यवहार करना चाहिए, इसका भी यह निदर्शन है। जो योगी इन चार ब्रह्म-विहारो की भावना करते है, उनकी सम्यक् प्रतिपत्ति होती है। वह सब प्राणियो के हित-सुख की कामना करता है। वह दूसरो के दु खो को दूर करने की चेष्टा करता है। जो सम्पन्न सम-भाव होता है, किसी के साथ वह पक्षपात नही करता।

सक्षेप में—इन चार भावनाओ द्वारा राग, द्वेष, ईर्ष्या, असूया आदि चित्त के मलो का क्षालन होता है। योग के अन्य परिकर्म केवल आत्महित के साधन है, किन्तु यह चार ब्रह्म-विहार परहित के भी साधन है।

आर्य-धर्म के ग्रन्थो में इन्हें 'अप्रामाण्य' या 'अप्रमाण' भी कहा है। क्योंकि, इनकी इयत्ता नही है। अपरिमाण जीव इन भावनाओ के आलम्बन होते हैं।

जीवो के प्रति स्नेह और सुहृद्भाव प्रवर्तित करना मैत्री है। मैत्री की प्रवृत्ति परहित-साधन के लिए है। जीवो का उपकार करना, उनके सुख की कामना करना, द्वेष और द्रोह का

परित्याग; इसके लक्षण है। मैत्री-भावना की सम्यक् निष्पत्ति से द्वेष का उपशम होता है। राग इसका आसन्न शत्रु है। राग के उत्पन्न होने से इस भावना का नाश होता है। मैत्री की प्रवृत्ति जीवो के शील आदि गुण-ग्रहण-वश होती है। राग भी गुण देखकर प्रलोभित होता है। इस प्रकार, राग और मैत्री की समान शीलता है। इसलिए, कभी-कभी राग मैत्रीवत् प्रतीयमान हो प्रवञ्चना करता है। स्मृति का किंचिन्मात्र भी लोप होने से राग मैत्री को अपनीत कर आलम्बन मे प्रवेश करता है। इसलिए, यदि विवेक और सावधानी से भावना न की जाय, तो चित्त के रागारूढ होने का भय रहता है। हमको सदा स्मरण रखना चाहिए कि मैत्री का सौहार्द तृष्णा-वश नही होता, किन्तु जीवो की हित-साधना के लिए होता है। राग लोभ, और मोह के वश होता है, किन्तु मैत्री का स्नेह मोह-वश नही होता, किन्तु ज्ञानपूर्वक होता है। मैत्री का स्वभाव अद्वेष है और यह अलोभ-युक्त होता है।

पराये दु ख को देखकर सत्पुरुषो के हृदय का जो कम्पन होता है, उसे 'करुणा' कहते है। करुणा की प्रवृत्ति जीवो के दु ख का अपनय करने के लिए होती है, दूसरो के दु ख को देखकर साधु-पुरुष का हृदय करुणा से द्रवित हो जाता है। वह दूसरो के दु ख को सहन नही कर सकता, जो करुणाशील पुरुष है, वह दूसरो की विहिसा नही करता। करुण-भावना की सम्यक् निष्पत्ति से विहिसा का उपशम होता है। शोक की उत्पत्ति से इस भावना का नाश होता है। शोक, दौर्मनस्य इस भावना का निकट शत्रु है।

'मुदिता' का लक्षण 'हर्ष' है। जो मुदिता की भावना करता है, वह दूसरो को सम्पन्न देखकर हर्ष करता है, उनसे ईर्ष्या या द्वेष नही करता। दूसरो की सम्पत्ति, पुण्य और गुणोत्कर्ष को देखकर उसको असूया और अप्रीति नही उत्पन्न होती। मुदिता की भावना की निष्पत्ति से अरति का उपशम होता है, पर यह प्रीति ससारी पुरुष की प्रीति नही है। पृथग्जनोचित प्रीति-वश जो हर्ष का उद्वेग होता है, उससे इस भावना का नाश होता है। मुदिता-भावना मे हर्ष का जो उत्पाद होता है, उसका शान्त प्रवाह होता है। वह उद्वेग और क्षोभ से रहित होता है।

जीवो के प्रति उदासीन भाव 'उपेक्षा' है। 'उपेक्षा' की भावना करनेवाला योगी जीवो के प्रति सम-भाव रखता है, वह प्रिय-अप्रिय मे कोई भेद नही करता। सबके प्रति उसकी उदासीन वृत्ति होती है। वह प्रतिकूल और अप्रतिकूल इन दोनो आकारो को ग्रहण नही करता, इसीलिए उपेक्षा-भावना की निष्पत्ति होने से विहिसा और अनुनय दोनो का उपशम होता है। उपेक्षा-भावना द्वारा इस ज्ञान का उदय होता है कि 'मनुष्य कर्म के अधीन है, कर्मानुसार ही सुख से सम्पन्न होता है या दु ख से मुक्त होता है या प्राप्त सम्पत्ति से च्युत नही होता।' यही ज्ञान इस भावना का आसन्नकारण है। मैत्री आदि प्रथम तीन भावनाओ द्वारा जो विविध प्रवृत्ति होती थी, उसका ज्ञान द्वारा प्रतिषेध होता है। पृथक्-जनोचित अज्ञान-वश उपेक्षा की उत्पत्ति से इस भावना का नाश होता है।

ये चारो ब्रह्म-विहार समान रूप से ज्ञान और सुगति को देनेवाले है।

मैत्री-भाव-भावना का विशेष कार्य द्वेष (=व्यापाद) का प्रतिघात करना है। करुणा-भावना का विशेष कार्य विहिंसा का प्रतिघात करना है। मुदिता-भावना का विशेष कार्य अरति, अप्रीति का नाश करना है और उपेक्षा-भावना का विशेष कार्य राग का प्रतिघात करना है।

प्रत्येक भावना के दो शत्रु हैं—१ समीपवर्त्ती और २. दूरवर्त्ती। मैत्री-भावना का समीपवर्त्ती शत्रु राग है। राग की मैत्री से समानता है। व्यापाद उसका दूरवर्त्ती शत्रु है। दोनो एक दूसरे के प्रतिकूल है। दोनो एक साथ नही रह सकते। व्यापाद का नाश करके ही मैत्री की प्रवृत्ति होती है। करुणा-भावना का समीपवर्त्ती शत्रु शोक, दौर्मनस्य है। जिन जीवो की भोगादि-विपत्ति देखकर चित्त करुणा से आर्द्र हो जाता है, उन्ही के विषय में तन्निमित्तशोक भी उत्पन्न हो सकता है। यह शोक, दौर्मनस्य पृथग्जनोचित है, जो ससारी पुरुष है, वह इष्ट, प्रिय, मनोरम और कमनीय रूप की अप्राप्ति से और प्राप्त सम्पत्ति के नाश से उद्विग्न और शोकाकुल हो जाते है। जिस प्रकार दु ख के दर्शन से करुणा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शोक भी उत्पन्न होता है। शोक करुणा-भावना का आसन्न शत्रु है। विहिसा दूरवर्त्ती शत्रु है। दोनो से भावना की रक्षा करनी चाहिए।

पृथग्जनोचित सौमनस्य मुदिता-भावना का समीपवर्त्ती शत्रु है। जिन जीवो की भोग-सम्पत्ति देखकर मुदिता की प्रवृत्ति होती है, उन्ही के विषय में तन्निमित्त पृथग्जनोचित सौमनस्य भी उत्पन्न हो सकता है। वह इष्ट, प्रिय, मनोरम और कमनीय रूपो के लाभ से ससारी पुरुषो की तरह प्रसन्न हो जाता है। जिस प्रकार सम्पत्ति-दर्शन से मुदिता की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार पृथग्जनोचित सौमनस्य भी उत्पन्न होता है। यह सौमनस्य मुदिता का आसन्न शत्रु है। अरति, अप्रीति दूरवर्त्ती शत्रु हैं। दोनो से भावना को सुरक्षित रखना चाहिए।

अज्ञान-सम्मोह-प्रवर्तित उपेक्षा उपेक्षा-भावना का आसन्न शत्रु है। मूढ और अज्ञ पुरुष, जिसने क्लेशो को नही जीता है, जिसने सब क्लेशो के मूलभूत सम्मोह के दोष को नही जाना है और जिसने शास्त्र का मनन नही किया है, वह रूपो को देखकर उपेक्षा-भाव प्रदर्शित कर सकता है, पर इस सम्मोहपूर्वक उपेक्षा द्वारा क्लेशो का अतिक्रमण नही कर सकता। जिस प्रकार उपेक्षा-भावना गुण-दोष का विचार न कर केवल उदासीन वृत्ति का आलम्बन करती है, उसी प्रकार अज्ञानोपेक्षा जीवो के गुण-दोष का विचार न कर केवल उपेक्षावश प्रवृत्त होती है। यही दोनो की समानता है। इसलिए, यह अज्ञानोपेक्षा उपेक्षा-भावना का आसन्न शत्रु है। यह अज्ञानोपेक्षा पृथग्जनोचित है। राग और द्वेष इस भावना के दूरवर्त्ती शत्रु है। दोनो से भावना चित्त की रक्षा करनी चाहिए।

सब कुशल कर्म इच्छामूलक है। इसलिए, चारो ब्रह्म-विहार के आदि मे इच्छा है, नीवरण (=योग के अन्तराय) आदि क्लेशो का परित्याग मध्य में है और अर्पणा-समाधि पर्यवसान में है। एक जीव या अनेक प्रज्ञप्ति रूप में इन भावनाओ के आलम्बन हैं। आलम्बन की वृद्धि क्रमश होती है। पहले एक आवास के जीवो के प्रति भावना की जाती है। अनुक्रम से आलम्बन की वृद्धि कर एक ग्राम, एक जनपद, एक राज्य, एक दिशा, एक चक्रवाल के जीवो के प्रति भावना होती है।

सब क्लेश, द्वेष, मोह, राग पाक्षिक है । इनसे चित्त को विशुद्ध करने के लिए ये चार ब्रह्म-विहार उत्तम उपाय है। जीवो के प्रति कुशल-चित्त की चार ही वृत्तियाँ है—दूसरो का हित-साधन करना, उनके दु ख का अपनयन करना, उनकी सम्पन्न अवस्था देखकर प्रसन्न होना और सब प्राणियो के प्रति पक्षपात-रहित और समदर्शी होना । इसलिए, ब्रह्म-विहारो की सख्या चार है । जो योगी इन चारो की भावना चाहता है, उसे पहले मैत्री-भावना द्वारा जीवो का हित करना चाहिए । तदनन्तर, दु ख से अभिभूत जीवो की प्रार्थना सुनकर करुणा-भावना द्वारा उनके दु ख का अपनयन करना चाहिए । तदनन्तर, दु खी लोगो की सम्पन्न अवस्था देखकर मुदिता-भावना द्वारा प्रमुदित होना चाहिए और तत्पश्चात् कर्त्तव्य के अभाव मे उपेक्षा-भावना द्वारा उदासीन वृत्ति का अवलम्ब करना चाहिए । इसी क्रम से इन भावनाओ की प्रवृत्ति होती है, अन्यथा नही ।

यद्यपि चारो ब्रह्म-विहार अप्रमाण है, तथापि पहले तीन केवल प्रथम तीन ध्यानो का उत्पाद करते है और चौथा ब्रह्म-विहार अन्तिम ध्यान का ही उत्पाद करता है । इसका कारण यह है कि मैत्री, करुणा और मुदिता, दौर्मनस्य-सम्भूत, व्यापाद, विहिंसा और अरति के प्रतिपक्ष होने के कारण सौमनस्य-रहित नही होती । सौमनस्य-सहित होने के कारण इनमे सौमनस्य-विरहित उपेक्षा-सहगत चतुर्थ ध्यान का उत्पाद नही हो सकता । उपेक्षा-वेदना से सयुक्त होने के कारण केवल उपेक्षा-ब्रह्म-विहार मे अन्तिम-ध्यान का लाभ होता है ।

चार अरूप-ध्यान

चार ब्रह्म-विहारो के पश्चात् चार अरूप-कर्मस्थान उद्दिष्ट है । अरूप-आयतन चार है—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिंचन्यायतन और नैवसज्ञानासज्ञायतन ।

चार रूपध्यानो की प्राप्ति होने पर ही अरूप-ध्यान की प्राप्ति होती है, करजरूप काय में और इन्द्रिय तथा उनके विषय मे दोष देखकर रूप का समतिक्रम करने के हेतु से यह ध्यान किया जाता है। चौथे ध्यान मे कसिण-रूप रहता है । उस कसिण-रूप का समतिक्रम इस ध्यान में होता है । जिस प्रकार कोई पुरुप सर्प को देखकर भयभीत हो भाग जाता है, और सर्प के समान दिखाई देनेवाले रज्जु आदि का भी निवारण चाहता है, उसी प्रकार योगी करजरूप से भयभीत हो चतुर्थ ध्यान प्राप्त करता है, जहाँ करजरूप से समतिक्रम होता है, लेकिन उसके प्रतिभाग-रूप में कसिण-रूप स्थित होता है । उस कसिण—रूप का निवारण करने की इच्छा से योगी अरूप-ध्यान को प्राप्त करता है, जहाँ सभी प्रकार के रूप का समतिक्रम सम्भव है ।

आकाशानन्त्यायतन—में तीन सज्ञाओ का निवारण होता है रूप-सज्ञा, अर्थात् जडसृष्टि-सम्बन्धी विचार, प्रतिघ-सज्ञा, अर्थात् इन्द्रिय और विषयो का प्रत्याघात-मूलक विचार; नानात्व-सज्ञा, अर्थात् अनेकविध रूप-शब्दादि-आलम्बनो का विचार । इन तीनो सज्ञाओ का अनुक्रम से समतिक्रम, अस्तगम और अमनसिकार होने पर 'आकाश अनन्त है' ऐसी सज्ञा उत्पन्न होती है । इसे आकाशानन्त्यायतन-ध्यान कहते है ।

परिच्छिन्न आकाश-कसिण को छोड़कर अन्य किसी कसिण को आलम्बन कर चतुर्थ ध्यान को प्राप्त करने पर ही यह भावना की जाती है । कसिण पर चतुर्थ ध्यान साध्य करने

के पूर्व ही उस कसिण की मर्यादा अनन्त की जानी चाहिए। कसिण प्रथम छोटे आकार का होता है, जिसे अनुक्रम से बढाकर समस्त विश्वाकार किया जाता है, उस विश्वाकार आकृति पर चतुर्थ ध्यान साध्य करने के पश्चात् योगी अपने ध्यान-बल से उस आकृति को दूर करके 'विश्व मे केवल एक आकाश ही भरा हुआ है', ऐसा देखता है। चतुर्थ ध्यान तक रूपात्मक आलम्बन था, अब अरूपात्मक आलम्बन है। इसलिए 'आकाश अनन्त है', ऐसी सज्ञा होने से इसे आकाशानन्त्यायतन कहा है।

विज्ञानानन्त्यायतन—इस ध्यान मे योगी आकाश-सज्ञा का समतिक्रम करता है। आकाश की अनन्त मर्यादा ही विज्ञान की मर्यादा है। ऐसी सज्ञा उत्पन्न करने पर वह विज्ञान का आनन्त्य जिसका आलम्बन है, ऐसे ध्यान को प्राप्त करता है।

आकिञ्चन्यायतन—इस ध्यान में योगी विज्ञान में भी दोष देखता है और उसका समतिक्रम करने के लिए विज्ञान के अभाव की सज्ञा प्राप्त करता है। "अभाव भी अनन्त है, कुछ भी नही है, कुछ भी नही है, सब कुछ शान्त है", इस प्रकार की भावना करने पर योगी इस तृतीय अरूप-ध्यान को प्राप्त होता है।

नैवसज्ञानासज्ञायतन—अभाव की सज्ञा भी बडी स्थूल है। अभाव की सज्ञा का भी अभाव जिसमें है, ऐसा अति शान्त, सूक्ष्म यह चौथा आयतन है। इस ध्यान में सज्ञा अति सूक्ष्मरूप में रहती है, इसलिए उसे असज्ञा नही कह सकते, और स्थूलरूप में न होने के कारण उसे सज्ञा भी नही कहते है। पालि में एक उपमा देकर इसे समझाया है। गुरु और शिष्य प्रवास में थे। रास्ते मे थोडा पानी था। शिष्य ने कहा—'आचार्य ! मार्ग में पानी है, इसलिए जूता निकाल लीजिए।' गुरु ने कहा—'अच्छा तो स्नान कर लूँ, लोटा दो।' शिष्य ने कहा—'गुरु जी ! स्नान करने योग्य पानी नही है।' जिस प्रकार उपानह को भिगाने के लिए पर्याप्त पानी है किन्तु स्नान के लिए पर्याप्त नही, इसी प्रकार इस आयतन में सज्ञा का अतिसूक्ष्म अश विद्यमान है, किन्तु सज्ञा का कार्य हो, इतना स्थूल भी वह नही है, इसीलिए आयतन को नैवसज्ञानासज्ञायतन कहा है।

इस आयतन को प्राप्त करने पर ही योगी निरोध-समापत्ति को प्राप्त कर सकता है, जिसमें अमुक काल (= सात दिन) तक योगी की मनोवृत्तियो का आत्यन्तिक निरोध होता है।

इन चार अरूप-ध्यानो में केवल दो ही ध्यानाग रहते हैं—उपेक्षा और चित्तैकाग्रता। ये चार ध्यान अनुक्रम से शान्ततर, प्रणीततर और सूक्ष्मतर होते है।

आहार में प्रतिकूल संज्ञा

आरूप्य के अनन्तर आहार में प्रतिकूल-सज्ञा नामक कर्मस्थान निर्दिष्ट है। आहरण करने के कारण 'आहार' कहते है। यह चतुर्विध है—कवलीकार (= खाद्य पदार्थ), स्पर्शाहार, मनोसचेतनाहार और विज्ञानाहार। इनमें से कवलीकार आहार ओजयुक्त-रूप का आहरण करता है, स्पर्शाहार सुख, दु ख, उपेक्षा, इन तीन वेदनाओ का आहरण करता है, मनोसचेतनाहार काम, रूप, अरूप भवो में प्रतिसन्धि का आहरण करत है, विज्ञानाहार प्रतिसन्धि के क्षण

में नाम-रूप का आहरण करता है। ये चारो आहार भयस्थान हैं, किन्तु यहाँ केवल कवलीकार आहार ही अभिप्रेत है। उस आहार में जो प्रतिकूल-सज्ञा उत्पन्न होती है, वही यह कर्मस्थान है। इस कर्मस्थान की भावना करने का इच्छुक योगी असित, पीत, खायित, सायित, प्रभेद का जो कवलीकार आहार है, उसके गमन, पर्येषण, परिभोग, आशय, निधान, अपरिपक्वता, परिपक्वता, फल, निष्यन्द और सम्रक्षण, रूप से जो अशुचिभाव का विचार करता है, उस विचार से उसे आहार मे प्रतिकूल-सज्ञा उत्पन्न होती है, और कवलीकार-आहार उसी प्रकार प्रकट होता है। वह उस प्रतिकूल भावना को बढाता है। उसके नीवरणो का विष्कम्भन होता है और चित्त उपचार-समाधि को प्राप्त होता है, अर्पणा नही होती है।

इस सज्ञा से योगी की रसतृष्णा-नष्ट होती है। वह केवल दु ख-निस्सरण के लिए ही आहार का सेवन करता है, पच काम-गुण में राग उत्पन्न नही होता और कायगता स्मृति उत्पन्न होती है।

चतुर्धातु-व्यवस्थान

चालीस कर्मस्थानो मे यह अन्तिम कर्मस्थान है। स्वभाव-निरूपण द्वारा विनिश्चय को 'व्यवस्थान' कहते है। महासतिपट्ठान, महाहत्थिपादोपम, राहुलोवाद आदि सूत्तो में इसका विशेष वर्णन आता है। महासतिपट्ठान-सुत्त मे कहा है—"भिक्षुओ! जिस प्रकार कोई दक्ष गोघातक बैल को मारकर चौराहे पर खण्ड-खण्ड कर रख दे-और उसे उन खण्डो को देखकर 'यह बैल है', ऐसी सज्ञा नही उत्पन्न होती, उसी प्रकार भिक्षु इसी काय को धातु द्वारा व्यवस्थित करता है कि—इस काय में पृथिवी-धातु है, आपोधातु है, तेजोधातु है, वायु-धातु है। इस प्रकार के व्यवस्थान से काय मे "यह सत्त्व है, यह पुद्गल है, यह आत्मा है", ऐसी संज्ञा नष्ट होकर धातु-सज्ञा ही उत्पन्न होतीं हैं।

भिक्षु इस सज्ञा को उत्पन्न कर अपने आध्यात्मिक और बाह्य रूप का चिन्तन करता है। वह आचार्य के पास ही केशा लोमा-नखा-दन्ता आदि कर्मस्थान को ग्रहण कर उनमें भी चतुर्धातु का व्यवस्थान करता है, फिर पृथिवी-आदि महाभूतो के लक्षण, समुत्थान, नानात्व, एकत्व, प्रादुर्भाव, सज्ञा, पारिहार और विकार का चिन्तन करता है। उनमें अनात्म-सज्ञा, दुःख-सज्ञा, और अनित्य-सज्ञा को उत्पन्न करता है और उपचार-समाधि को प्राप्त करता है। अर्पणा प्राप्त नही होती।

चतुर्धातु-व्यवस्थान में अनुयुक्त योगी शून्यता मे अवगाह करता है, सत्त्वसज्ञा का समुद्घात करता है और महाप्रज्ञा को प्राप्त करता है।

विपश्यना

समाधि-मार्ग का विस्तृत वर्णन हमने ऊपर दिया है। किन्तु, निर्वाण के प्रार्थी को शमथ की भावना के पश्चात् विपश्यना की वृद्धि करना आवश्यक है। इसके विना अर्हत्पद में प्रतिष्ठा नही होती।

विपश्यना एक प्रकार का विशेष दर्शन है। जिस समय इस ज्ञान का उदय होता है कि—सब धर्म अनित्य हैं, दुःखमय हैं तथा अनात्म हैं—उस समय विपश्यना का प्रादुर्भाव होता है।

बौद्धागम में पुद्गल (जीव) संस्कार-समूह है। यह एक सन्तान है। आत्मा नाम का नित्य, ध्रुव और स्वरूप से अविपरिणाम-धर्मवाला कोई पदार्थ नहीं हैं, पंच-स्कन्ध-मात्र है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान यह स्कन्ध-पंचक क्षण-क्षण में उत्पद्यमान और विनश्यमान हैं। यह साश्रव धर्म 'दुःख' है; क्योंकि क्लेश-हेतु-वश इनकी उत्पत्ति होती है। क्लेश सन्तान को दूषित करते हैं। दुःख का अन्त करने में प्रज्ञा की प्रधानता है। पहले इसका ज्ञान होना चाहिए कि न आत्मा है, न आत्मीय, सब संस्कृत-धर्म अनित्य हैं। जो सब धर्मों को अनित्यता, दुःखता और अनात्मता के रूप में देखता है, वह यथाभूतदर्शी है। उसको विपश्यना-ज्ञान प्राप्त है। इसीलिए, धर्मपद की अर्थकथा[1] में आत्मभाव के क्षय-व्यय की प्रतिष्ठा कर सतत अभ्यास से अर्हत्पद के ग्रहण को विपश्यना कहा है।

विपश्यना प्रज्ञा का मार्ग है। इसे लोकोत्तर समाधि भी कहते हैं। इस मार्ग का अनुगामी 'विपश्यनायानिक' कहलाता है। सप्त विशुद्धियों द्वारा विपश्यना-मार्ग के फल की प्राप्ति होती है। यह सात विशुद्धियाँ इस प्रकार हैं—

१ शील-विशुद्धि, २. चित्त-विशुद्धि, ३ दृष्टि-विशुद्धि (=नामरूप का यथावद्दर्शन), ४ कांक्षा-वितरण-विशुद्धि (=संशयों को उत्तीर्ण कर नाम-रूप के हेतु का परिग्रह), ५ मार्गामार्ग-ज्ञानदर्शन-विशुद्धि (=मार्ग और अमार्ग का ज्ञान और दर्शन), ६ प्रतिपत्तिज्ञानदर्शन-विशुद्धि (=अष्टांगिक मार्ग का ज्ञान तथा प्रत्यक्ष-साक्षात्कार), ७ ज्ञानदर्शन-विशुद्धि (=स्रोतापत्ति-मार्ग, सकृदागामि-मार्ग अनागामि-मार्ग, अर्हन्मार्ग, इन चार मार्गों का ज्ञान और प्रत्यक्ष दर्शन)।

---

१ इमस्मिं सासने कति धुरानीति? गन्थधुरं विपस्सना धुरन्ति द्वे येव धुरानि भिक्खूति। कतमं 'विपस्सना धुरन्ति? सल्लहुक वुत्तिनो पन पन्त सेनासनाभिरतस्स अत्तभावे खयवयं पट्ठपेत्वा सातच्चकिरियवसेन विपस्सनं वड्ढेत्वा अरहत्तगहणन्ति इदं विपस्सनाधुर नामाति। (धम्मपदट्ठकथा, १।१)

द्वितीय खण्ड

[महायान-धर्म और दर्शन, उसकी उत्पत्ति तथा विकास-साहित्य और साधना]

षष्ठ अध्याय

महायान-धर्म की उत्पत्ति

जब महाराज अशोक बौद्ध हो गये, तब उनका प्रश्रय पाकर बौद्ध-धर्म बहुत फैला। उनका विस्तृत साम्राज्य था। उन्होने धर्म का प्रचार करने के लिए दूर-दूर उपदेशक भेजे। भारत के बाहर भी उनके भेजे उपदेशक गये थे। उन्होने अनेक स्तूप और विहार बनवाये। अशोक के कौशाम्बी के लेख से मालूम होता है कि यहाँ एक भिक्षु-सघ था। एक सघ का पता सारनाथ के लेख से चलता है। भाब्रू-लेख मे अशोक कहते है कि सब बुद्ध-वचन सुभाषित है, किन्तु मैं कुछ वचनो की विशेष रूप से सिफारिश करता हूँ। उन्ही के समय मे 'खुतन' में भारतीयो का उपनिवेश हुआ। वहाँ से ही पहले-पहल बौद्ध-धर्म चीन गया।

अशोक के समय में बौद्धो में मूर्त्तिपूजा न थी। बुद्ध का प्रतीक रिक्त-आसन, चक्र, कमल-पुष्प या चरणपादुका था। स्तूप में बुद्ध का धातु-मार्ग रखकर पूजा करते थे। कथा है कि अशोक ने बुद्ध की अस्थियो को प्राचीन स्तूपो से निकालकर ८४,००० स्तूपो में बाँट दिया। चैत्य की पूजा भी प्राचीन थी। आरम्भ मे बुद्ध यद्यपि अन्य अर्हतो की अपेक्षा श्रेष्ठ समझे जाते थे, यद्यपि उनका जन्म, उनके लक्षण, मार-धर्षण, जन्म के पूर्व तुषितलोक मे निवास उनकी मृत्यु, सभी अद्‌भुत थे; तथापि प्राचीन निकायो के अनुसार बुद्ध का निर्वाण अन्य अर्हतों के निर्वाण से भिन्न न था। उनका यह विश्वास न था कि परिनिर्वृत बुद्ध इस लोक में हस्तक्षेप कर सकते है। यद्यपि ये बुद्ध के निर्वाण को महाशून्य मानते थे, तथापि उनके लिए बुद्ध त्राता नही थे, जैसे ईसाईयो के लिए ईसामसीह त्राता है। शास्ता ने कहा है कि तुम्ही अपने लिए दीपक हो, दूसरे का आश्रय मत लो, धर्म ही एकमात्र तुम्हारा दीप, शरण, सहाय हो। बुद्ध का कहना था कि निर्वाण का साक्षात्कार प्रत्येक को स्वय करना होता है। उनके लिए वे संघ के गणाचार्य थे, शास्ता थे। वे उनके लिए मैत्री और ज्ञान की मूर्त्ति थे। उनको बुद्ध की शरण मे जाना पडता था। बुद्ध की अनुस्मृति एक कर्मस्थान था, किन्तु जब शास्ता का परिनिर्वाण हो गया, तब पूजा का विषय अतीन्द्रिय हो गया। अब प्रश्न यह हुआ कि पूजा से क्या फल होगा ?

कर्मवाद के अनुसार बौद्ध यह नही मानते थे कि पूजा करने से बुद्ध वरदान देगे। किन्तु वे मानते थे कि बुद्ध का ध्यान करने से चित्त समाहित और विशुद्ध होगा, और पूजक अपने को निर्वाण के लिए तैयार करेगा। सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक अपने किये कर्मों का फल भोगता है। बुद्ध की शिक्षा में प्रसाद (ग्रेस) और प्रार्थना को स्थान नही दिया गया है। इसके लिए कोई उचित शब्द भी नही है। मिलता-जुलता एक शब्द प्रणिधि, प्रणिधान है,

किन्तु उसका अर्थ 'प्रतिज्ञा' है। कभी-कभी यह पुण्य-विपरिणामना (=सत्य-वचन) है। किन्तु, ईसवी-सदी के कुछ पहले से बौद्धो में करुणामय देवो की पूजा प्रारम्भ हुई, जिनकी प्रतिमा या प्रतीक की वे पूजा करने लगे और जिनसे सुख और मोक्ष की प्राप्ति के लिए वे प्रार्थना करने लगे। ये देव शाक्यमुनि, पूर्व-बुद्ध, अनागत-बुद्ध, मैत्रेय, बोधिसत्त्व हैं। भक्ति का प्रभाव बढने लगा। निर्वाण का स्वरूप भी बदलने लगा। सुखभूमि की प्राप्ति इसका उद्देश्य होने लगा। बुद्ध लोकोत्तर हो गये। यद्यपि पालिनिकाय में बुद्ध को लोकोत्तर कहा है, किन्तु वहाँ इसका अर्थ केवल इतना है कि बुद्ध पद्म-पत्र की तरह लोक से ऊपर हैं। उनका विशेषत्व केवल यही है कि उन्होने निर्वाण के मार्ग का आविष्कार किया है। बुद्ध को लक्षण और अनुव्यजनो से युक्त महापुरुष भी कहा है, वह भी इसी अर्थ में है। जैसे—नारायण को 'महापुरुष' कहते है, जो एक, अद्वितीय, शाश्वत है, वैसे पालि-आगम के बुद्ध नही हैं।

किन्तु, कुछ बौद्ध उनको विशेष अर्थ मे लोकोत्तर मानने लगे। कुछ अन्धक और उत्तरापथक मानते थे कि भगवान् के उच्चार-प्रस्राव (=मल-मूत्र) की गन्ध अन्य गन्धो से विशिष्ट हैं। कथावत्थु के १८वें वर्ग के अनुसार भगवान् ने एक शब्द भी नही कहा है। आनन्द ने ही उपदेश दिया है। इस मत के बौद्ध लोकोत्तरवादी कहलाते थे। उनके अनुसार निर्वाण का अर्थ बुद्ध-अवस्था का शाश्वतत्व है। गान्धार-रीति की जो बुद्ध की मूर्त्तियाँ है, उनमें शाक्यमुनि, पूर्वबुद्ध तथा अन्यबुद्धो को ध्यान की अवस्था में दिखाया है। चरम-भविक (=अन्तिम जन्मवाला) बोधिसत्त्व तुषित-लोक से बुद्ध होने के लिए अवतीर्ण होता है। वह लोकोत्तर पुरुष है। उसका जन्म अद्भुत है, और वह लक्षणो से सयुक्त है। स्थविरो का कहना है कि बोधि के अनन्तर वह लोकोत्तर होते हैं, किन्तु वह लोकानुवर्त्तन करते है। अनेक कल्प हुए कि हमारे शाक्यमुनि ने पूर्वबुद्ध के सम्मुख यह प्रणिधान किया कि 'मै बुद्ध हूँगा'। उन्होने अनेक जन्मो मे १० पारमिताओ की साधना की। उन्होने अन्तिम जन्म में कुमारी-माया के गर्भ में मनोमय-शरीर धारण किया। उनकी पत्नी भी कुमारी थी, क्योकि अन्तिम जन्म में बुद्ध काम-राग मे अभिनिविष्ट नही होते। भूतदया से प्रेरित हो वे मानव-जन्म ले लोगो को उपदेश देते हैं। 'वेतुल्लक' कहते हैं कि—शाक्यमुनि ने मनुष्य-लोक में कभी अवस्थान नही किया, वे वास्तव में तुषित-लोक में रहते है। मनुष्यो और देवताओ ने केवल उनकी छाया देखी है। 'सद्धर्म-पुण्डरीक' में यह वाद सुपल्लवित हुआ है। इस ग्रन्थ में शाक्यमुनि का माहात्म्य वर्णित है। उनका यथार्थ-काय सम्भोगकाय है। ये धमदेशना के लिए समय-समय पर लोक में प्रादुर्भूत होते हैं। यह उनका निर्माणकाय है। इसी की स्तूप-पूजा होती है। पाँचवी-छठी शताब्दी में कुछ बौद्ध आदिबुद्ध (=आदि कल्पिक बुद्ध) भी मानने लगे, जिनसे अन्य बुद्धो का प्रादुर्भाव हो सकता था। किन्तु, यह विचार तीर्थक (हेरिटिक) विचार माना जाता था।

सूत्रालकार (९।७७) में इसका प्रतिषेध यह कहकर है कि कोई पुरुष आदि से बुद्ध नही होता, क्योकि बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए पुण्य और ज्ञान-सम्भार की आवश्यकता है। धीरे-धीरे बुद्धो की सख्या बढने लगी। पूर्वविश्वास के अनुसार एक काल में एक साथ दो बुद्ध नही होते थे। महायान में एक काल में अनेक बुद्ध हो सकते हैं, किन्तु एक लोक मे अनेक

नही हो सकते । पहले ७ मानुषी बुद्धो का उल्लेख मिलता है, धीरे-धीरे यह सख्या २४ हो जाती है । इनके अलग-अलग बुद्ध-क्षेत्र हैं, जहाँ इनका आधिपत्य है । इसी प्रकार का एक बुद्ध-क्षेत्र सुखावती-व्यूह है, जहाँ अमिताभ या अमितायु-बुद्ध शासन करते हैं । यहाँ दुख का लव-लेश भी नही है । यह विशुद्ध-सत्त्व से निर्मित है । वहाँ अमिताभ के भक्त मरणानन्तर निवास करते है । सुखावती-व्यूह मे नाम-जप, नाम-घोष, नाम-सकीर्त्तन का वडा माहात्म्य है । जो सुशील-पुरुप सच्चे हृदय से अमिताभ का नाम एक वार भी लेते है , वे सुखावती में जन्म लेते हैं । इस निकाय का प्रचार जापान मे विशेप रूप से हुआ । यहाँ एक मन्दिर में ही यह ग्रन्थ मिला था ।

इस प्रकार धीरे-धीरे बुद्धवाद विकसित हुआ । यह बौद्ध-शासन मे एक नूतन परि-वर्त्तन है । यह लोकोत्तरवाद महासाघिको में उत्पन्न हुआ । हम महासाघिको का स्थविरो से पृथक् होना वता चुके है । विकसित होते-होते इस निकाय से महायान की उत्पत्ति हुई । बौद्ध-सघ दो प्रधान यानो (=मार्ग) मे विभक्त हो गया—हीनयान और महायान ।

हमने देखा कि किस प्रकार महायान ने बुद्ध को एक विशेप अर्थ में लोकोत्तर वना दिया । इससे बुद्ध-भक्ति वढने लगी । जव यूनानियो ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया, तव बुद्ध की मूर्त्तियाँ वनने लगी । भक्ति के कारण मूर्त्तिकला मे भी उन्नति हुई । प्रसिद्ध रूपकारों ने प्रस्तर मे भगवान् के कुशल-समाहित-चित्त, उनकी मैत्री-भावना और करुणा, उनके पुण्य और ज्ञान के सम्भार का उद्ग्रहण करने की सफल चेष्टा की । यह व्यक्त है कि मूर्त्ति-कला पर इसका वडा प्रभाव पडा । गुप्तकाल इसका समृद्धिकाल है ।

महायान-धर्म की विशेषता

स्थविरवाद का आदर्श अर्हत्त्व और उसका लक्ष्य निर्वाण था । अर्हत् रागादि-मलो का उच्छेद कर क्लेश-वन्धन-विनिर्मुक्त होता था । उसका चित्त ससार से विमुक्त और मन निर्विषय होता था । अर्हत् अपनी ही उन्नति के लिए यत्नवान् होता था । उसकी साधना अष्टागिक मार्ग की थी । स्थविरवादियो के मत में बुद्ध यद्यपि लोक-ज्येष्ठ एव श्रेष्ठ हैं, तथापि बुद्ध-काय जरा-व्याधि-मरण इत्यादि दुखो से विमुक्त न था । महासाघिको के विचार में बुद्ध एक विशेष अर्थ मे लोकोत्तर थे । महासाघिक-वाद के अन्तर्गत लोकोत्तरवाद एक अवान्तर शाखा थी । इसके विनय का प्रधानग्रन्थ 'महावस्तु' है । इनके मत मे बुद्ध को विश्राम अथवा निद्रा की आवश्यकता नही है, और जितने समय तक वह जीवित रहना चाहे, उतने समय तक जीवित रह सकते है । स्थविरवादियो के अनुसार यदि नियम-पूर्वक अच्छा अभ्यास किया जाय, तो इस दृष्ट-धर्म मे ही निर्वाण-फल का अधिगम होता है । मोक्ष के इस मार्ग का अनुसरण वह करता है, जो शील-प्रतिष्ठित है, और ब्रह्मचर्य का पालन करता है । बुद्ध अन्य अर्हतो मे मिलते हैं, क्योंकि उन्होने सत्य का उद्घाटन किया और उस मार्ग का निर्देश किया, जिसपर चलकर लोग ससार से विमुक्त होते हैं । इस विशेषता का कारण है कि बुद्ध ने पूर्व-जन्मो मे पुण्य-राशि का सचय और अनन्त ज्ञान प्राप्त किया था ।

चरियापिटक मे बुद्ध के पूर्वजन्मो की कथा वर्णित है। इस ग्रन्थ मे भी पारमिता का उल्लेख मिलता है। अर्हत् का आदर्श परम कारुणिक बुद्ध के आदर्श की अपेक्षा तुच्छ मालूम पडने लगा। बुद्धचरित के अनुशीलन से बुद्ध के अनुकरण करने की इच्छा प्रकट हुई। भगवान् सर्वज्ञ थे। वह जानते थे कि जीव दुःख से आर्त्त है। जीवो के प्रति उनको महा-करुणा उत्पन्न हुई और इसी करुणा से प्रेरित होकर भगवान् बुद्ध ने जीवो के कल्याण के लिए ही धर्मोपदेश करना स्वीकार किया। बुद्धचरित से प्रभावित होकर बौद्धो में एक नवीन विचार-पद्धति का उदय हुआ। अष्टागिकमार्ग की जगह पर बोधिसत्त्व-चर्या का विकास हुआ और इस समुदाय का आदर्श अर्हत्त्व न होकर बोधिसत्त्व हुआ, क्योकि भगवान् बुद्धत्व की प्राप्ति के पूर्व तक 'बोधिसत्त्व' थे। 'बोधिसत्त्व' उसे कहते है, जो सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति चाहता है। जिसमें सम्यक् ज्ञान है, उसी के चित्त में जीवलोक के प्रति करुणा का प्रादुर्भाव हो सकता है। इस नवीन धर्म का नाम महायान पडा। महायानवादी प्राचीन विचारवालो को हीनयान-वादी कहते थे। हीनयान का दूसरा नाम श्रावक-यान है। इसका प्रतिपक्ष महायान या बोधिसत्त्वयान है, इसको अग्रयान भी कहा है। बुद्ध-वश में श्रावक और प्रत्येक-बुद्ध सम्यक्-सम्बुद्ध के प्रतिपक्षी है। श्रावकयान और प्रत्येक-बुद्धयान में ऐसा अन्तर नही है, दोनो एक ही बोधि और निर्वाण को पाते है। प्रत्येक-बुद्ध सद्धर्म के लोप हो जाने पर अपने उद्योग से बोधि प्राप्त करते है। प्रत्येक-बुद्ध उपदेश से विरत है, केवल प्रातिहार्य द्वारा अन्यधर्मावलम्बियो (तीर्थियो) को बौद्धधर्म की शिक्षा देते है।

सद्धर्मपुण्डरीक, तथा अन्य कई सूत्रो का स्पष्ट कहना है कि एक ही यान है—बुद्धयान। पर इसकी साधना में बहुत समय लगता है, इसलिए बुद्ध ने अर्हत् के निर्वाण का निर्देश किया है। एक प्रश्न यह उठता है कि—क्या महायान के आचार्यो के मत मे महायान ही मोक्ष-दायक है? इत्सिग का कहना है कि दोनो यान बुद्ध की आर्य-शिक्षा के अनुकूल है। दोनो समान रूप से सत्य और निर्वाणगामी हैं। इत्सिग स्वय हीनयान-वादी था। वह कहता है कि यह बताना कठिन है कि हीनयानान्तर्गत अट्ठारह वादो में से किसकी गणना महायान या हीनयान में की जाय। युआन-च्वाग (ह्वेनत्सग) ऐसे भिक्षुओ का उल्लेख करता है, जो स्थविरवादी होकर भी महायान के अनुयायी थे और विनय मे पूर्ण थे। ऐसा मालूम पडता है कि कुछ हीनयान के भिक्षु भी महायान-सवर का ग्रहण और पालन करते थे। महायान के विनय का प्राचीनतम रूप ज्ञात नही है। यह सम्भव है कि आदि में महायान-वाद के निज के विनय नही थे। पीछे से साधक के लिए न्थो की रचना की गई। इत्सिग के अनुसार महायान की विशेषता केवल बोधिसत्त्वो की पूजा में थी। महायान के अन्तर्गत भी हीनयान के समान अनेक वाद थे। इनमे पारमिता-यान या बोधिसत्त्व-यान या बुद्ध-यान, प्रज्ञायान (=ज्ञानमार्ग) और भक्ति-मार्ग प्रधान है। आगे चलकर तन्त्र के प्रभाव से मन्त्रयान, वज्रयान, और तन्त्रयान का विकास हुआ।

प्राय महायानवादी हीनयान की साधना को तुच्छ समझते है। कुछ का यहाँतक कहना है कि श्रावकयान द्वारा निर्वाण नही मिल सकता। शान्तिदेव का कहना है कि श्रावक-यना की कथा का उपदेश नही करना चाहिए, न उसको सुने, न उसको पढे, क्योकि इससे

क्लेशो का अन्त न हो सकेगा। हम आगे चलकर महायान के दर्शन एव साधना का विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्रज्ञा-यान के अन्तर्गत दो दार्शनिक विचार-पद्धतियो का उदय हुआ—मध्यमक और विज्ञानवाद। मध्यमक-वादी मानते थे कि सब वस्तु स्वभाव-शून्य है और विज्ञानवादी बाह्य वस्तु-जात को असत् और विज्ञान को सत् मानते थे और यह विश्वास रखते थे कि बोधिसत्त्व सहायता करते हैं। महायान-वादियो को प्राचीन निकाय मान्य है, पर हीनयान के अनुयायी महायान के ग्रन्थो को प्रामाणिक नही मानते। महायान-वादियो का कहना है कि महायान नवीन नही है और हीनयान के आगम-ग्रन्थ ही महायान की प्रामाणिकता सिद्ध करते है। मध्यमक-कारिका के वृत्तिकार चन्द्रकीर्त्ति का कहना है कि हीनयान के ग्रन्थो मे भी शून्यता की शिक्षा मिलती है। हीनयान के ग्रन्थो में महावस्तु में दशभूमि और पारमिता का भी वर्णन है। महायान के ग्रन्थ गाथा और सस्कृत में है।

हीनयान के वैभाषिक-प्रस्थान के ग्रन्थ सस्कृत में हैं। उनका विवरण 'बौद्ध-सस्कृत-साहित्य के अध्ययन' के प्रकरण में देगे।

लोकोत्तरवाद का पर्यवसान त्रिकायवाद में हुआ, जो महायान की विशेषता है, इसलिए अब त्रिकायवाद का उल्लेख करेंगे।

त्रिकायवाद

पालिनिकाय मे त्रिकायवाद नही है, किन्तु उसमे बुद्ध के तीन कायो मे विशेष किया गया है—चातुर्महाभौतिक काय, मनोमय काय और धर्मकाय। प्रथम काय पूतिकाय है। यह जरायुज-काय है। शाक्यमुनि ने माता की कुक्षि मे इसी काय को धारण किया था। पालि में बुद्ध के निर्माण-काय का उल्लेख नही है। किन्तु चातुर्महाभौतिक काय के विपक्ष में एक मनोमय काय का भी उल्लेख है (सयुत्त, पृ० २८२, दीघ, २, पृ० १०६)। सर्वास्ति-वाद की परिभाषा में बुद्ध में नैर्माणिकी और पारिणामिकी ऋद्धि थी। वह अपने सदृश अन्य रूप निर्मित कर सकते थे और अपने काय का पारिदापन्न भी कर सकते थे। यथा ब्रह्मा का काय अधर देवो के असदृश है, वह अभिनिर्मित शरीर से उनको दर्शन देते है (दीघ २, पृ० २१२, कोश, ३, पृ० २६६)। इसलिए, अवतसक में बुद्ध की तुलना ब्रह्मा से करते है। पालिनिकाय में रूपी देव को मनोमय कहा है। मज्झिम, १, ४१०, विनय, २, १८५ में कहा है कि कोलियपुत्त कालकर मनोमय काय में उपन्न हुआ है। बाह्य प्रत्यय के विना मनस् से निष्पन्न, निर्वृत-काय मनोमय काय है। विशुद्धिमार्ग के अनुसार (पृ० ४०५) यह अधिष्ठान मन से निर्मित है। यह अरूपी का सज्ञामय काय नही है। सर्वास्तिवादी भी मनोमय काय के देवो का रूपावचर मानता है। सौत्रान्तिक के मत से यह रूप और आरूप्य दोनो के है। अन्तराभव भी मनोमय कहलाता है, क्योकि यह केवल मन से निर्मित है और शुक्र-शोणितादि किञ्चित् बाह्य का उपादान न लेकर इसका भाव होता है। योगाचार के अनुसार—आठवी भूमि में काय मनोमय होता है, इसमे मन का वेग होता है, यह मन की तरह शीघ्र गमन करता है और इसकी गति अप्रतिहत होती है। सब श्रावक मनोमय काय धारण कर सकते है (योगशास्त्र, ८०)।

मनोमय काय के १० प्रकार हैं । कुछ के अनुसार यह काय मन स्वभाव है, दूसरो के अनुसार इस काय की उत्पत्ति इच्छानुसार होती है, पूर्वकाय का परिणाम-मात्र है । अभिनव काय की उत्पत्ति नही होती ।

बुद्ध का यथार्थ-काय रूप-काय नही है, जिसके धातु-गर्भ की पूजा-उपासना करते हैं, किन्तु धर्म (= धर्म-विनय) यथार्थ-काय है । धर्म-काय प्रवचन-काय है । शाक्य-पुत्रीय भिक्षु इसी धर्म-काय से उत्पन्न हुए हैं "मैं भगवत् का औरस पुत्र हूँ, धर्म मे उत्पन्न हूँ, धर्म का दायाद हूँ" (दीघ, ३, पृ० ८४, इतिवुत्तक, पृ० १०१) । दूसरा कारण यह है कि भगवान् धर्म-भूत हैं, ब्रह्म-भूत हैं, धर्म-काय भी हैं (दीघ, ३, ८४, मज्झिम, ३, पृ० १९५) । इसी प्रकार कहते हैं, प्रज्ञा-पारमिता धर्म-काय है, तथागत-काय है । जो प्रतीत्यसमुत्पाद का दर्शन करता है, वह धर्म-काय का दर्शन करता है । प्रज्ञापारमितास्तोत्र में नागार्जुन कहते हैं—जो तुझे भाव से देखता है, वह तथागत को देखता है । शान्तिदेव बोधिचर्यावतार के आरम्भ मे सुगतात्मज और धर्म-काय की भी वन्दना करते हैं (पृ० ३) ।

स्थविरवाद से महायान में आते-आते बुद्ध में पूर्ण अलौकिक गुण आ जाते हैं । अब बुद्ध को केवल अलौकिक गुण-व्यूह-सम्पत्ति से समन्वागत ही नही किया गया, पर उनका व्यक्तित्व ही नष्ट कर दिया गया । बुद्ध अजन्मा, प्रपच-विमुक्त, अव्यय और आकाश-प्रतिसम हो गये ।

स्थविरवादियो के अनुसार भगवान् बुद्ध लोकोत्तर थे । बुद्ध ने स्वय कहा था कि मैं लोक में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हूँ और सब सत्त्वो में अनुत्तर हूँ । एक बार द्रोण ब्राह्मण बुद्ध के पादो में सर्वाकार-परिपूर्ण चक्रो को देखकर चकित हुआ । उसने बुद्ध से पूछा कि आप देव हैं, यक्ष हैं, गन्धर्व हैं, क्या हैं ? भगवान् ने कहा—मैं इनमें से कोई नही हूँ । द्रोण बोला—फिर क्या आप मनुष्य हैं ? बुद्ध ने उत्तर दिया—मैं मनुष्य भी नही हूँ, मैं बुद्ध हूँ, जिससे देवोत्पत्ति होती है, जिससे यक्षत्व या गन्धर्वत्व की प्राप्ति होती है । सब आसवो का मैंने नाश किया है । हे ब्राह्मण ! जिस प्रकार पुण्डरीक जल से लिप्त नही होता, उसी प्रकार मैं लोक से उपलिप्त नहीं होता ।[१] दीघनिकाय[२] के अनुसार बोधिसत्त्व की यह धर्मता है कि जब वह तुषितकाय से च्युत हो माता की कुक्षि में अवक्रान्त होते हैं, तब सब लोको में अप्रमाण-अवभास का प्रादुर्भाव होता है । यह अवभास देवताओ के तेज को भी अभिभूत कर देता है । लोको के बीच जहाँ अन्धकार-ही-अन्धकार है, जहाँ चन्द्रमा और सूर्य ऐसे महानुभावो की भी आभा नही पहुँचती, वहाँ भी अप्रमाण-अवभास का प्रादुर्भाव होता है । बोधिसत्त्व महापुरुषो के बत्तीस लक्षणो से और अस्सी अनुव्यजनो से समन्वागत होता है ।[३] एक स्थल पर[४] भगवान् आनन्द से कहते हैं कि दो काल में तथागत का छवि-वर्ण परिशुद्ध होता है—

---

१ अगुत्तरनिकाय, भाग २, चतुक्कनिपात, चक्कवग्ग, पृ० ३८ ।

२ भाग २, पृ० १२, महापदानसुत्तन्त ।

३ दीघनिकाय, भाग २, पृ० १६ ।

४ दीघनिकाय, भाग ३, पृ० १३४ ।

१ जिस रात्रि को भगवान् सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करते हैं ।

२ जिस रात्रि को भगवान् अनुपधि-शेष-निर्वाण मे प्रवेश करते हैं ।

पालिनिकाय के अनुसार जब बोधिसत्त्व ने गर्भावक्रान्ति की, तब मानुष और अमानुष परस्पर हिसा का भाव नही रखते थे और सब सत्त्व हृष्ट और तुष्ट थे। भगवान् के यह सब अद्भुत धर्म त्रिपिटक मे वर्णित हैं । इन सब अद्भुत धर्मों से समन्वागत होते हुए भी स्थविरवादी बुद्ध को इसी अर्थ मे लोकत्तर मानते थे कि वह लोक को अभिभूत कर स्थित है, अर्थात् लोक से अनुपलिप्त होकर विहार करते हैं। जहाँ दूसरे बुद्ध के बताये हुए मार्ग का अनुसरण कर अर्हत् अवस्था को प्राप्त करते हैं और उनको मार्ग का अन्वेषण नही करना पडता, वहाँ बुद्ध स्वय अपने उद्योग से निर्वाण-मार्ग का उद्घाटन करते हैं। यही उनकी विशेषता है । पर स्थविरवादी मनुष्य-लोक मे बुद्ध की स्थिति को स्वीकार करते थे। वे उनके जीवन की घटनाओ को सत्य मानते थे। इसपर उनका पूरा विश्वास था कि बुद्ध लोक मे उत्पन्न हुए, लोक मे ही उन्होने सम्यक्-ज्ञान की प्राप्ति की लोक और में ही उन्होने धर्म का उपदेश किया। स्थविरवादी बुद्ध के व्यक्तित्व को स्वीकार करते हुए उनकी शिक्षा पर अधिक जोर देते थे। परिनिर्वाण के पूर्व स्वय बुद्ध ने अपने शिष्य आनन्द से कहा था[1]—"हे आनन्द! तुममे से किसी का विचार यह हो सकता है कि शास्ता का प्रवचन अतीत हो गया, अब हमारा कोई शास्ता नही है। पर ऐसा विचार उचित नही है। जिस धर्म और विनय का मैंने तुमको उपदेश किया है, मेरे पीछे वह तुम्हारा शास्ता हो।" बुद्ध ने यह भी कहा[2] है कि जो धर्म को देखता है वह मुझको देखता है और जो मुझको देखता है, वह धर्म को देखता है। इसका यही अर्थ है कि जिसने धर्म का तत्त्व समझ लिया है, उसी ने वास्तव में बुद्ध का दर्शन किया है। बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् यही धर्म शास्ता का कार्य करता है। बुद्ध का बुद्धत्व इसी मे है कि उन्होने दुःख की अत्यन्त-निवृत्ति के लिए धर्म का उपदेश किया। बुद्ध केवल पथ-प्रदर्शक है, उनके बताये हुए धर्म की शरण मे जाने से ही निर्वाण का अधिगम होता है। बुद्ध कहते हैं—'हे आनन्द! तुम अपने लिए स्वय दीपक हो, धर्म की शरण मे जाओ, किसी दूसरे का आश्रय न खोजो।" धर्म की प्रधानता को मानते हुए भी स्थविरवादी बुद्ध के व्यक्तित्व को स्वीकार करते थे, पर बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् श्रद्धालु-श्रावक बुद्ध को देवातिदेव मानने लगे और यह मानने लगे कि बुद्ध सहस्र-कोटि-कल्प से है और उनका आयु प्रमाण अनन्त कल्प का है। बुद्ध लोक के पिता और स्वयम्भू हो गये, जो सदा गृध्रकूट-पर्वत पर निवास

---

१. दीघनिकाय, भाग २, पृ० १५४, महापरिनिब्बान-सुत्त ।

२ "धम्म हि सो भिक्खवे भिक्खु पस्सति, धम्म पस्सन्तो मं पस्सति' ति।"—इतिवुत्तक, वग्ग ५, सुत्त ३, पृ० ९१। "यो खो वक्कलि धम्म पस्सति सो म पस्सति। यो म पस्सति सो धम्म पस्सति"—संयुत्तनिकाय, भाग ३, पृ० १२०।"

करते हैं[1], और जब धर्म का उपदेश करना चाहते हैं, तब भ्रूमध्य के ऊर्णाकोश से एक रश्मि प्रसृत करते हैं जिससे अट्ठारह सहस्र बुद्धक्षेत्र अवभासित होते हैं। बुद्धों की संख्या भी अनन्त हो गई। महायान-सूत्रों मे इस प्रकार के विचार प्राय पाये जाते हैं। 'सद्धर्म पुण्डरीक' वैपुल्य-सूत्रों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इसमें तथागतायुष्प्रमाण पर एक अध्याय है। इस अध्याय मे भगवान् बुद्ध कहते हैं कि सहस्र-कोटि-कल्प व्यतीत हुए, जिसका कि प्रमाण नही है, जब मैंने सम्यक् ज्ञान प्राप्त किया, और मैं नित्य-धर्म का उपदेश करता हूँ।[2] भगवान् कहते हैं कि "मैं सत्त्वो की शिक्षा के लिए उपाय का निदर्शन करता हूँ और उनको निर्वाण-भूमि का दर्शन कराता हूँ। मै स्वय निर्वाण में प्रवेश नही करता और निरन्तर धर्म का प्रकाश करता रहता हूँ। पर विमूढ-चित्त पुरुष मुझको नही देखते। यह समझकर कि मेरा परिनिर्वाण हो गया है, वह मेरे धातु की विविध प्रकार से पूजा करते हैं, पर मुझको नही देखते। उनमे एक प्रकार की स्पृहा उत्पन्न होती है, जिसमे उनका चित्त सरल हो जाता है। जब ऐसे सरल और मृदु सत्त्व शरीर का उत्सर्ग करते हैं, तब मैं श्रावक-सघ को एकत्र कर गृध्रकूट-पर्वत पर उनको अपना दर्शन कराता हूँ, और उनसे कहता हूँ, कि मेरा उस समय निर्वाण नही हुआ था, यह मेरा केवल उपाय-कौशल था, मैं जीवलोक में बार-बार आता हूँ।"[3]

---

१ एवेम इ लोकपिता स्वयभू चिकित्सक सर्व-प्रजान-नाथ ।
विपरीत मूढाश्च विदित्व बालान् अनिर्वृतो निर्वृत दर्शयामि ॥२१॥
(सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३२६)

२ अचिन्तिया कल्पसहस्रकोट्यो यासा प्रमाण न कदाचि विद्यते ।
प्राप्ता मया एष तदाग्रबोधिर्धर्मं च देशेम्यह नित्यकालम् ॥१॥
(सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३२३)

३ निर्वाणभूमिं चुपदर्शयामि विनयार्थसत्त्वान वदाम्युपायम् ।
न चापि निर्वाम्यहु तस्मि काले इहैव चो धर्मु प्रकाशयामि ॥३॥
तत्रापि चात्मानमधिष्ठहामि सर्वाश्च सत्त्वान तथैव चाहम् ।
विपरीतबुद्धी च नरा विमूढा तत्रैव तिष्ठन्तु न पश्यिषू माम् ॥४॥
परिनिर्वृत दृष्ट्व ममात्मभाव धातूषु पूजा विविधा करोन्ति ।
मा च अपश्यन्ति जनेन्ति तृष्णा ततोजुक चित्त प्रभोति तेषाम् ॥५॥
ऋजू यदा ते मृदुमार्दवाश्च उत्सृष्टकामाश्च भवन्ति सत्त्वा ।
ततो अह श्रावकसघ कृत्वा आत्मान दर्शेम्यहु गृध्रकूटे ॥६॥
एव च इ तेष वदामि पश्चात् इहैवनाह तद आसि निर्वृत ।
उपायकौशल्य ममेति भिक्षव पुन पुनो भोम्यहु जीवलोके ॥७॥
(सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३२३-३२४)

प्रज्ञापारमिता-सूत्र के भाष्य मे नागार्जुन कहते है कि तथागत सदा धर्म का उपदेश करते रहते है, पर सत्त्व अपने पाप-कर्म के कारण उनके उपदेश को नही सुनते और न उनकी आभा को देखते है, जैसे बहरे वज्र के निनाद को नही सुनते और अन्धे सूर्य की ज्योति को नही देखते। 'ललितविस्तर' में एक स्थल पर आनन्द और बुद्ध का सवाद है। भगवान् आनन्द से कहते है कि—"भविष्य-काल में कुछ भिक्षु अभिमानी और उद्धत होगे। वे बोधिसत्त्व की गर्भावक्रान्ति-परिशुद्धि में विश्वास न करेगे। वे कहेगे कि यह किस प्रकार सम्भव है कि बोधि-सत्त्व माता की कुक्षि से बाहर आते हुए गर्भमल से उपलिप्त नही हुए। वे नही जानते कि तथागत देवतुल्य है और हम मनुष्य-मात्र है, और उनके स्थान की पूर्त्ति करने में समर्थ नही हैं। उनको समझना चाहिए कि हमलोग भगवान् की इयत्ता या प्रमाण को नही जान सकते, वह अचिन्त्य है।" 'करण्डक-व्यूह' मे अवलोकितेश्वर के गुणो का वर्णन है। इस ग्रन्थ मे लिखा है कि आरम्भ मे आदिबुद्ध का उदय हुआ। इनको स्वयम्भू और आदिनाथ भी कहा है। इन्होने ध्यान द्वारा ससार की सृष्टि की। अवलोकितेश्वर की उत्पत्ति आदिबुद्ध से हुई है और उन्होने सृष्टि की रचना मे आदिबुद्ध की सहायता की। अवलोकितेश्वर की आँखो से सूर्य और चन्द्रमा की सृष्टि हुई, मस्तक से महेश्वर, स्कन्ध से ब्रह्मा और हृदय से नारायण उत्पन्न हुए।

सुखावती-व्यूह मे लिखा है कि यदि तथागत चाहे, तो एक पिण्डपात कर कल्पशत-सहस्र तक और इससे भी अधिक काल तक रह सकते है, और तिस पर भी उनकी इन्द्रियाँ नष्ट न होगी, उनका मुख विवर्ण न होगा, और उनके छविवर्ण मे परिवर्त्तन न होगा। यह बुद्ध का लोकोत्तर भाव है।[1] सुखावती-लोक मे अमिताभ-तथागत निवास करते है, अमिताभ की प्रतिभा अनुपम है, उसका प्रमाण नही है। इसी कारण उनको 'अमिताभ', 'अमितप्रभ' आदि नाम से सकीर्त्तित करते है। यदि तथागत कल्प-भर अमिताभ के कर्म का प्रभा से आरम्भ कर वर्णन करे, तो उनकी प्रभा का गुण-पर्यन्त अधिगत न कर सके, क्योकि अमिताभ की प्रभा-गुण-विभूति अप्रमेय, असख्येय, अचिन्त्य और अपर्यन्त है। अमिताभ का श्रावकसघ भी अनन्त और अपर्यन्त है। अमिताभ की आयू अपरिमित है। इसीलिए, इन्हें 'अमितायु' भी कहते है। साम्प्रत कल्पगणना के अनुसार इस लोकधातु मे अमितायु को सम्बोधि प्राप्त किये दस कल्प व्यतीत हो चुके है। समाधिराज में लिखा है कि बुद्ध का ध्यान करते हुए श्रावक को किसी रूपकाय का ध्यान न करना चाहिए। क्योकि, बुद्ध का धर्म-शरीर है, बुद्ध की उत्पत्ति नही होती, वह बिना कारण के ही कार्य है, वह सबके आदिकारण है, उनका आरम्भ नही है। सुवर्णप्रभाससूत्र मे भी बतलाया है कि बुद्ध का जन्म नही होता। उनका सच्चा शरीर 'धर्म-काय' या धर्म-धातु है। इसीलिए, सुखावतीव्यूह मे बुद्ध को 'धर्मस्वामी' और बुद्धचरित मे धर्मराज' कहा है।

---

१ 'आकाङ्क्षन्नानन्द तथागत एकपिण्डपातेन कल्प वा तिष्ठेत् कल्पशतं वा कल्पसहस्त्र वा कल्पशतसहस्त्रं वा यावत् कल्पकोटीन्ययुतशतसहस्त्र वा ततो वोत्तरि तिष्ठेत् न च तथागतस्येन्द्रियाण्युपनश्येयु-र्न मुखवर्णस्यान्यथात्व भवेन्नापि च्छविवर्ण उपहन्येत। (सुखावतीव्यूह, पृ० ४)

महायानश्रद्धोत्पाद-शास्त्र का कहना है कि बुद्ध ने निर्वाण मे प्रवेश नही किया, उनका काय शाश्वत है।

स्थविरवादियो ने महायानियो के लोकोत्तरवाद का विरोध किया, जैसा कथावत्थु से स्पष्ट है। कथावत्थु के अट्ठारहवें वर्ग मे इसकी स्थापना की गई है कि बुद्ध मनुष्य-लोक में थे और इस पूर्व-पक्ष का खण्डन किया गया है कि उनकी स्थिति मनुष्य-लोक में न थी। पूर्व-पक्ष का खण्डन करते हुए पिटक-ग्रन्थो से बुद्ध-वचन उद्धृत कर यह दिखाया गया है कि बुद्ध के सवादो से ही यह सिद्ध है कि बुद्ध की स्थिति मनुष्यलोक मे थी। बुद्ध लोक में उत्पन्न हुए थे, सम्यक्सम्बोधि प्राप्त कर उन्होने धर्म-चक्र का प्रवर्त्तन किया था और उनका परिनिर्वाण हुआ था। इसी वर्ग में इस पूर्व-पक्ष का भी खण्डन किया गया है कि बुद्ध ने धर्म का उपदेश नही किया। स्थविरवादी पूछता है कि यदि बुद्ध ने धर्म का उपदेश नही किया, तो फिर किसने किया। पूर्व-पक्ष इसका उत्तर देता है कि 'अभिनिर्मित' ने धर्म-देशना की, और यह अभिनिर्मित 'आनन्द' था। सिद्धान्त बताते हुए सूत्रो से उद्धरण दिये गये है, जिनसे मालूम होता है कि बुद्ध ने स्वय शारिपुत्र से कहा था कि मै सक्षेप मे भी और विस्तार से भी धर्म का उपदेश करता हूँ, इसलिए यह स्वीकार करना पडता है कि भगवान् बुद्ध ने स्वय धर्मदेशना की थी।[1]

यह हम ऊपर कह चुके है कि त्रिपिटक मे ही, बुद्ध के धर्म-काय की सूचना मिलती है। बुद्ध ने स्वय कहा है कि जो धर्म को देखता है, वह मुझको देखता है और जो मुझको देखता है, वह धर्म को देखता है।

धर्मकाय—यह उन धर्मो का समुदाय है, जिनके प्रतिलाभ से एक आश्रय-विशेष सर्व-धर्म का ज्ञान प्राप्त कर बुद्ध कहलाता है। बुद्ध कारकधर्म-क्षयज्ञान, अनुत्पादज्ञान, सम्यक्-दृष्टि है। इन ज्ञानो के परिवार अनास्रव पच-स्कन्ध है। धर्मकाय अनास्रव धर्मो की सन्तति है या आश्रयपरिनिर्वृति है। यह पचभाग या पचाग धर्मकाय कहलाता है। धर्म-सग्रह (पृ० २३) में इन्हे लोकोत्तर-स्कन्ध कहा है, महाव्युत्पत्ति मे असमसमस्कन्ध है, इन्हें जिन-स्कन्ध भी कहते है। यह दीघनिकाय (३,२२९, ४, २७९) के धम्मक्खन्ध है। यह इस प्रकार है—शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, विमुक्ति-ज्ञान-दर्शन। बुद्ध की शरण मे जाने का अर्थ है, धर्मकाय की शरण मे जाना, यह उनके रूपकाय की शरण मे जाना नही है। भिक्षु की भिक्षुता, उसका सवरशील उसका धर्मकाय है। इसी प्रकार, बुद्ध का बुद्धत्व, बुद्ध के अनास्रव-धर्म, उनके धर्मकाय है। दीघनिकाय (३, ८४) में कहा है कि तथागत का यह धर्मकाय श्रेष्ठ अधिवचन है। धर्मकाय ब्रह्मकाय है। यह धर्मभूत, ब्रह्मभूत भी है। भगवत् के फलसम्पत् का लक्षण धर्मकाय है। फलसम्पत् चतुर्विध है। धर्मकाय की परिनिष्पत्ति से इनकी

---

१ "न वत्तब्ब बुद्धो भगवा मनुस्सलोके अट्ठासीति। आमन्ता—ह्न्वि भगवा लोके जातो लोके सम्बुद्धो लोक अभिभुय्य विहरति अनुपलित्तो लोकेन, नो वत रे वत्तब्बे बुद्धो भगवा मनुस्स लोके अट्ठासीति।" (मनुस्सलोककथा)।

प्राप्ति होती है। चार सम्पत्तियाँ ये हैं—ज्ञानसम्पत्, प्रहाणसम्पत्, प्रभावसम्पत्, रूपकायसम्पत्। प्रभावसम्पत् बाह्य विषय के निर्माण, परिणाम और अधिष्ठानवशिता की सम्पत् है। अपूर्व-वाह्य सम्पत् का उत्पादन निर्माण है। पत्थर का सोना बना देना आदि परिणाम हैं। किसी विषय को दीर्घकाल तक अवस्थान कराने की सामर्थ्य अधिष्ठानवशिता है। प्रभावसम्पत् के अन्तर्गत आयु के उत्सर्ग और अधिष्ठानवशिता की सम्पत् आवृत्त-गमन, आकाश-गमन, सुदूर-क्षिप्र-गमन, अल्प मे बहु का प्रवेश, विविध और स्वाभाविक आश्चर्य-धर्मों की सम्पत् भी है। यह अन्तिम भगवत् का सहज प्रभाव है। बुद्धो की यह धर्मता है कि उनके चलने पर निम्नस्थल समतल हो जाता है, जो ऊँचा है, वह नीचा हो जाता है, जो नीचा है, वह ऊँचा हो जाता है। अन्धे दृष्टि का, बहरे श्रोत्र का, उन्मत्त स्मृति का प्रतिलाभ करते हैं।

यह धर्मकाय अचिन्त्य है और सब तथागतो द्वारा समान रूप से अधिकृत है। अष्ट-साहस्रिका-प्रज्ञापारमिता के अनुसार वास्तव मे बुद्ध का यही शरीर है। रूपकाय सत्काय नही है। धर्मशरीर ही भूतार्थिक शरीर है।[1] आर्यशालिस्तम्बसूत्र के अनुसार धर्मशरीर अनुत्तर है। 'वज्रच्छेदिका' का कहना है कि बुद्ध का ज्ञान धर्म द्वारा होता है, क्योकि बुद्ध धर्मकाय हैं, पर धर्मता अविज्ञेय है।[2] धर्म क्या है? आर्यशालिस्तम्बसूत्र के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद ही धर्म है। जो इस प्रतीत्यसमुत्पाद को यथावत् अविपरीत देखता है और जानता है कि यह अजात, अव्युपशम-स्वभाव है, वह धर्म को देखता है।[3] यह प्रतीत्यसमुत्पाद बुद्ध के मध्यम मार्ग का सार है। इसको भगवान् ने गम्भीर-नय कहा है। 'तत्त्वज्ञान'-अधिगम धर्म के कारण ही बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। 'तत्त्वज्ञान' को 'धर्म' और 'प्रज्ञा' दोनो कहते हैं। इसलिए, कोई आश्चर्य की बात नही है, जो बुद्ध-स्वभाव को 'धर्म' और 'प्रज्ञा' कहा गया है। अष्टसाहस्रिका मे प्रज्ञा-पारमिता को बुद्ध का धर्मकाय बताया है। प्रज्ञा को एक स्थान पर तथागतो की माता भी कहा है। यह धर्मकाय के असदृश सर्वप्रपञ्च-व्यतिरिक्त है। यह 'शुद्धकाय' है, क्योकि यह

---

१ "तथापि नाम तथागतनेत्रीचित्रीकारेण एतद्धि तथागताना भूतार्थिकशरीरम्। तत्कस्य हेतो? उक्त ह्येतद् भगवता धर्मकाया बुद्धा भगवन्त। मा खलु पुनरिम भिक्षव सत्काय काय मन्यध्वम्। धर्मकायपरिनिष्पत्तितो मा भिक्षवो द्रक्ष्यन्त्येष च तथागतकायो भूतकोटि-प्रभावितो द्रष्टव्यो यदुत प्रज्ञापारमिता। अपि नु खलु पुनर्भगवन्नित प्रज्ञापारमितातो निर्जातानि तथागतशरीराणि पूजां लभन्ते।" (अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, पृ० ९४)

२ "धर्मतो बुद्धा द्रष्टव्या धर्मकाया हि नायका। धर्मता चाप्यविज्ञेया न सा शक्या विजानितुम्॥" (वज्रच्छेदिकाम्, पृ० ४३)

३ "यदुक्त भगवता धर्मस्वामिना सर्वज्ञेन यो भिक्षव प्रतीत्यसमुत्पाद पश्यति स धर्म पश्यति यो धर्म पश्यति स बुद्ध पश्यति · य इमं प्रतीत्यसमुत्पाद सततसमित निर्जीव यथावदविपरीतमजातमभूतमसस्कृत प्रतिघमनालम्बन शिवमभयमहार्यमव्युपशमस्वभाव पश्यति स धर्म पश्यति। सोऽनुत्तर धर्मशरीर बुद्ध पश्यति।" (बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ३८९)

प्रपच या आवरण से रहित और प्रभास्वर है। इसको 'स्वभावकाय' भी कहा है।[1] 'क्सोमा' के अनुसार चार काय हैं और 'स्वभावकाय' धर्मकाय से भिन्न तथा अन्य भी अनुत्तर शरीर है। 'अमृतकणिका' का भी यही मत है कि धर्मकाय स्वाभाविक काय से भिन्न है। तत्त्वज्ञान से ही निर्वाण का अधिगम होता है। इसलिए, कही-कही धर्मकाय को 'समाधि-काय' भी कहा है। यह तत्त्वज्ञान या बोधि ही परमार्थ- सत्य है। सवृतिमत्य की दृष्टि से उसको शून्यता, तथता भूतकोटि और धर्मधातु कहते हैं।[2] सव पदार्थ नि स्वभाव, अर्थात् शून्य हैं; न उनकी उत्पत्ति है और न निरोध। यही परमार्थसत्य है। नागार्जुन 'माध्यमिकसूत्र' में कहते हैं —

अप्रतीत्यसमुत्पन्नो धर्म कश्चिन्न विद्यते ।
यस्मात्तस्मादशून्यो हि धर्मः कश्चिन्न विद्यते ॥

(प्रकरण २४, श्लोक १९)

अर्थात्, कोई ऐमा धर्म नही है, जिमका उत्पाद हेतु-प्रत्यय-वश न हो। इसलिए, अशून्य धर्म कोई नही है। मव धर्म शून्य है, अर्थात् नि स्वभाव हैं, क्योकि यदि भावो की उत्पत्ति स्वभाव से हो, तो स्वभाव हेतु-प्रत्यय-निरपेक्ष होने के कारण न उत्पन्न होता है और न उसका उच्छेद होता है, यदि भावो की उत्पत्ति हेतु-प्रत्यय-वश होती है, तो उनका स्वभाव नही होता। इसलिए, स्वभाव की कल्पना में अहेतुकत्व का आगम होता है और इससे कार्य, कारण, कर्त्ता, करण, क्रिया, उत्पाद, निरोध और फल की वाधा होती है। पर जो स्वभाव-शून्यतावादी हैं, उनके लिए किसी कार्य को वाधा नही पहुँचती, क्योकि जो प्रतीत्य-समुत्पाद है, वही शून्यता है अर्थात् स्वभाव से भावो का अनुत्पाद है। भगवान् कहते हैं —

यः प्रत्ययैर्जायति सह्यजातो न तस्य उत्पादु स्वभावतोऽस्ति ।
य प्रत्ययाधीनु स शून्य उक्तो य शून्यतो जानति सोऽप्रमत्त ॥

(मध्यमकवृत्ति, पृ० ५०४)

अर्थात्, जिसकी उत्पत्ति प्रत्ययवश है, वह अजात है, उसका उत्पाद स्वभाव से नही है। जो प्रत्यय के अधीन है, वह शून्य है। जो शून्यता को जानता है, वह प्रमाद नही करता।

माध्यमिकसूत्र के अट्ठारहवे प्रकरण में नागार्जुन कहते हैं कि शून्यता, अर्थात् धर्मता चित्त और वाणी का विषय नही है। यह निर्वाण-सदृश अनुत्पन्न और अनिरुद्ध है।[3] शून्यता

---

१ "सर्वप्रपन्चव्यतिरिक्तो भगवतः स्वाभाविको धर्मकाय त एव चाधिगमस्वभावो धर्म ।"
(बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ३)

२ "बोधिबुद्धत्वमेकानेकस्वभावविविक्तमनुत्पन्नानिरुद्धमनुच्छेदमशाश्वत सर्वप्रपन्चविनिर्मुक्त-माकाशप्रतिममं धर्मकायाख्यं परमार्थतत्त्वमुच्यते। एतदेव च प्रज्ञापारमिता-शून्यता-तथता भूत-कोटि-धर्मधात्वादिशब्देन सवृतिमुपादायाभिधीयते ।"
(बोधिचर्यावतारपञ्जिका, अ० ६, श्लो० ३८)

३ "निवृत्तमभिधातव्यं निवृत्तो चित्तगोचर ।
अनुत्पन्ना निरुद्धा हि निर्वाणमिव धर्मता ॥"
(माध्यमिकवृत्ति, पृ० ३६४)

एक प्रकार से सब दृष्टियो का नि सरण है। माध्यमिक की कोई प्रतिज्ञा नही है। जो शून्यता की दृष्टि रखते है, अर्थात् जिनका शून्यता मे अभिनिवेश है, उनको बुद्ध ने असाध्य बताया है।[1]

अब शून्यतावादी के अनुसार बुद्धकाय की परीक्षा करनी चाहिए।

माध्यमिकसूत्र मे 'तथागतपरीक्षा' नाम का एक प्रकरण है। नागार्जुन कहते है कि निष्प्रपच-तथागत के सम्बन्ध मे कोई भी कल्पना सम्भव नही है। तथागत न शून्य है, न अशून्य, न उभय और न न-उभय। जो प्रपचातीत तथागत के सम्बन्ध मे विविध प्रकार के परिकल्प करते है, वे मूढ पुरुष तथागत को नही जानते, अर्थात् तथागत की गुण-समृद्धि के अत्यन्त परोक्षवर्त्ती है।[2] जिस प्रकार से जन्मान्ध सूर्य को नही देखता, उसी प्रकार वे बुद्ध को नही देखते। नागार्जुन आगे चलकर कहते है कि तथागत का जो स्वभाव है, वही स्वभाव इस जगत् का है, जैसे तथागत नि स्वभाव है, उसी प्रकार यह जगत् भी नि स्वभाव है।[3] प्रज्ञा-पारमिता मे कहा है कि सब धर्म मायोपम है, सम्यक् सम्बुद्ध भी मायोपम है, निर्वाण भी मायोपम है, और निर्वाण से भी विशिष्टतर यदि कोई धर्म हो, तो वह भी मायोपम है। माया और निर्वाण अद्वय है। एक सूत्र[4] मे कहा है कि तथागत अनास्रव-कुशल धर्म के प्रतिबिम्ब है, न तथता है, न तथागत, सब लोको मे बिम्ब ही दृश्यमान है। इन सबका आशय यही है कि शून्यतावादी के मत मे बुद्ध नि स्वभाव है, अर्थात् वस्तुनिबन्धन से मुक्त है और परमार्थ सत्य की दृष्टि से तथागत और जगत् का यही यथार्थ रूप है।

अब विज्ञानवाद के अनुसार बुद्धकाय की परीक्षा करनी है।

विज्ञानवादी का कहना है कि--शून्यता लक्षणो का अभाव है और तत्त्वत यह एक अलक्षण 'वस्तु' है। क्योकि, शून्यता की सम्भावना के लिए दो बातो का मानना परमावश्यक है--1. उस आश्रय का अस्तित्व, जो शून्य है और 2. किसी वस्तु का अभाव, जिसके कारण हम कह सकते है कि यह शून्य है, पर यदि इन दोनो का अस्तित्व न माना जाय, तो शून्यता असम्भव

---

1 "शून्यता सर्वदृष्टीना प्रोक्ता नि सरणं जिनै।
येषां तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे॥"

(माध्यमिकसूत्र, 13।8)

2 "प्रपञ्चयन्ति ये बुद्धं प्रपञ्चातीतमव्ययम्।
ते प्रपञ्च हता सर्वे न पश्यन्ति तथागतम्॥"

(माध्यमिकसूत्र, 22।15)

3. "तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिद जगत्।
तथागतो नि स्वभावो नि स्वभावमिदं जगत्॥"

(माध्यमिकसूत्र, 22।16)

4 "तथागतो हि प्रतिबिम्बभूत' कुशलस्य धर्मस्य अनाश्रवस्य।
नैवात्र तथता न तथागतोऽस्ति बिम्ब च सदृश्यति सर्वलोके॥"

(माध्यमिकवृत्ति, पृ० 449)

हो जायगी। शून्यता को विज्ञानवादी 'वस्तुमात्र' मानते हैं और यह वस्तुमात्र 'चित्तविज्ञान' या 'आलय-विज्ञान' है, जिनमें सास्रव और अनास्रव वीज का सग्रह रहता है। सास्रव-वीज प्रवृत्ति-धर्मों का और अनास्रव-वीज निवृत्ति-धर्मों का हेतु है। जो कुछ है, वह चित्त का ही आकार है। जगत् चित्तमात्र है। चित्त के व्यतिरिक्त अन्य का अभ्युपगम विज्ञानवादी को नही मान्य है। इस चित्त के दो प्रभास हैं—१. रागादि आभास, और २ श्रद्धादि आभास। चित्त से पृथक् धर्म और अधर्म नही हैं। सब कुछ मनोमय है। ससार और निर्वाण दोनो चित्त के धर्म हैं। परमार्थत, चित्त का स्वभाव प्रभास्वर और अद्वय है तथा वह आगन्तुक दोष से विनिर्मुक्त है। पर, रागादि-मल से आवृत होने के कारण चित्त सक्लिष्ट हो जाता है, जिससे आगन्तुक धर्मों का प्रवर्त्तन होता है और ससार की उत्पत्ति होती है। यही प्रवृत्ति धर्म या विज्ञान का सक्लेश-ससार कहलाता है और विज्ञान का व्यवदान ही निर्वाण है। यही शून्यता है। विज्ञानवादी के अनुसार तथता, भूततथता, धर्मकाय, सत्यस्वभाव है। प्रत्येक वस्तु का स्वभाव शाश्वत और लक्षण-रहित है। जब लक्षण-युक्त हो जाता है, तब उसे माया कहते हैं और जब वह अलक्षण है तब वह शून्य के समान है। बुद्धत्व ही धर्मकाय है। क्योंकि, बुद्धत्व विज्ञान की परिशुद्धि है और यदि विज्ञान वास्तव मे सक्लिष्ट होता, तो वह शुद्ध न हो सकता। इस दृष्टि मे बुद्धत्व प्रत्येक वस्तु का शाश्वत और अपरिवर्त्तित स्वभाव है। 'त्रिकायस्तव' नाम का एक छोटा सा स्तोत्र-ग्रन्थ है। इसमे स्रग्धरा छन्द के सोलह श्लोक हैं। नालन्दा के किसी भिक्षु ने सन् १००० ईसवी (=विक्रम-स० १०५७) के लगभग इस स्तोत्र को चीनी अक्षरो में लिपिवद्ध किया था। फाहियान ने चीनी-लिपि में उसे लिखा था। तिब्वती-भाषा मे इसका अनुवाद पाया जाता है और पहले वारह श्लोको का सस्कृत-पाठ भी वही सुरक्षित है। धर्मकाय के सम्वन्ध का श्लोक यहाँ उद्धृत किया जाता है। इस श्लोक में धर्मकाय की वडी सुन्दर व्याख्या की गई है। कुछ लोगो का अनुमान है कि 'त्रिकायस्तव' नागार्जुन का है

यो नैको नाथनेको स्वपरहितमहासम्पदाधारभूतो
नैवाभावो न भाव. खमिव समरसो निर्विभावस्वभावः।
निर्लेप निर्विकार शिवमसमसम व्यापिन निष्प्रपञ्च
वन्दे प्रत्यात्मवेद्य तमहमनुपम धर्मकाय जिनानान् ॥

"धर्मकाय एक नही है, क्योकि वह सबको व्याप्त करता है और सबका आश्रय है, धर्मकाय अनेक भी नही है, क्योकि वह समरत है। यह बुद्धत्व का आश्रय है। यह अरूप है। न इसका भाव है, न अभाव। आकाश के समान यह एकरस है, इसका स्वभाव अव्यक्त है; यह निर्लेप, निर्विकार, अतुल्य, सर्वव्यापी और प्रपचरहित है। यह स्वसवेद्य है। बुद्धो का ऐसा धर्मकाय अनुपम है।"

तान्त्रिक ग्रन्थो मे धर्मकाय को वैरोचन, वज्रसत्त्व या आदिबुद्ध कहा है। यह धर्मकाय बुद्ध का सर्वश्रेष्ठ काय है।

रूपकाय या निर्माण-काय—भगवान् का जन्म लुम्बिनी वन मे हुआ था। उनका जन्म जरायुज है, औपपादुक नही। वह गर्भ में सम्प्रजन्य के साथ निवास करते है और सम्प्रजन्य के सहित गर्भ से बाहर आते हैं। औपपादुक योनि श्रेष्ठ समझी जाती है, किन्तु बोधिसत्त्व जरायुज योनि पसन्द करते है। मरण पर औपपादुक अर्चि के सदृश विनष्ट हो जाता है। ऐसा होने पर उपासक धातुगर्भ की पूजा न कर सकते। इसलिए, बोधिसत्त्व ने जरायुज योनि पसन्द की। महावस्तु के अनुसार यद्यपि बोधिसत्त्व की गर्भावक्रान्ति होती है, तथापि वह औपपादुक है।

सर्वास्तिवादियो के अनुसार रूपकाय सास्रव है, किन्तु महासाघिक और सौत्रान्तिको का मत है कि बुद्ध का रूपकाय अनास्रव है। महासाघिक इस सूत्र का प्रमाण देते है। "तथागत लोक मे समृद्ध होते है, वह लोक को अभिभूत कर विहार करते है, वह लोक से उपलिप्त नही होते (सयुत्त, ३। १४०)। विभाषाकार इस मत का निराकरण करते है और यह सिद्ध करते है कि जन्मकाय सास्रव है। यदि अनास्रव होता, तो अनुपमा मे बुद्ध के प्रति कामराग उत्पन्न नही होता, अगुलिमाल मे द्वेष-भाव उत्पन्न नही होता इत्यादि। वह कहते है कि सूत्र के पहले भाग मे जन्मकाय का उल्लेख है और जब सूत्र कहता है कि यह काय लौकिक धर्मों से उपलिप्त नही होता है, तो उसकी अभिसन्धि धर्मकाय से है। भगवान् का रूपकाय अविद्या-तृष्णा से निवृत्त है, अत वह सास्रव है। किन्तु, हम रूपकाय के लिए भी यह कह सकते है कि यह लाभादि ८ लौकिक धर्मों से प्रभावित नही है।

बुद्ध का रूपकाय निर्माण-काय या निर्मित-काय कहलाता है। सुवर्णप्रभास में कहा है कि भगवान् न कृत्रिम हैं और न उत्पन्न होते हैं। केवल सत्त्वो के परिपाक के लिए निर्मित-काय का दर्शन कराते है। अस्थि और रुधिर-रहित काय मे धातु (=अस्थि) की कहाँ सम्भावना है ? भगवान् मे सर्षप-मात्र भी धातु नही है। केवल सत्त्वो का हित करने के लिए वह उपाय-कौशल द्वारा धातु का निर्माण करते है। वेतुल्यको का यह विचार था कि बुद्ध ससार मे जन्म नही लेते, वह सदा तुषित-लोक में निवास करते है, पर ससार के हित के लिए निर्मित रूप-मात्र लोक मे भेजते है। 'सद्धर्मपुण्डरीक' मे एक स्थल पर तथागत-मैत्रेय का सवाद है, जिसमे मैत्रेय पूछते है कि इन असख्य-बोधिसत्त्वो का, जो पृथ्वी-विवर से निकले हैं, समुद्गम कहाँ से हुआ। उस समय जो सम्यक् सम्बुद्ध अन्य असख्य लोक-धातुओ से आये हुए थे, और शाक्यमुनि तथागत के निर्मित थे, और अन्य लोकधातुओ मे धर्म का उपदेश करते थे, शाक्यमुनि के चारो ओर पर्य क-बद्ध हो आसनोपविष्ट हुए। यहाँ अन्य लोकधातु के तथागतो को शाक्यमुनि तथागत का निर्मित कहा है[1], अर्थात् वह उनकी लीला या माया-मात्र है। 'कथावत्यु' में भी इस मत का उल्लेख पाया जाता है। 'दिव्यावदान' मे हम 'बुद्ध-निर्माण' और निर्मित का प्रयोग पाते हैं। 'प्रातिहार्य-सूत्रावदान' में यह कथा वर्णित है कि एक समय भगवान् राजगृह मे विहार

१ 'तेन खलु पुन समयेन ये ते तथागता अर्हन्त सम्यक्सम्बुद्धा अन्येभ्यो लोकधातुकोटीन युतशतसहस्त्रेभ्योऽभ्यागता भगवत शाक्यमुनेस्तथागतस्य निर्मिता येऽन्येषु लोकधातुषु सत्त्वानां धर्मं देशयन्ति स्म।'

(सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३०७)

करते थे। उस समय पूरणकश्यप आदि छ तीर्थिक राजगृह मे एकत्र हुए और कहने लगे कि जब से श्रमण गौतम का लोक मे उत्पाद हुआ है तबसे हम लोगो का लाभ-सत्कार सर्वथा समुच्छिन्न हो गया है। हम लोग ऋद्धिमान् और ज्ञानवादी है, श्रमण-गौतम अपने को ऐसा समझते है, उनको चाहिए कि हमारे साथ ऋद्धि-प्रातिहार्य दिखलावे। जितने ऋद्धिप्रातिहार्य वह दिखलायेंगे, उसके दुगुने हम दिखलायेंगे। भगवान् ने विचारा कि अतीत बुद्धो ने किस स्थान पर प्राणियो के हित के लिए महाप्रातिहार्य दिखलाया था। उनको ज्ञात हुआ कि श्रावस्ती में। तब वह भिक्षु-सघ के साथ श्रावस्ती गये। तीर्थिको ने राजा प्रसेनजित् से प्रार्थना की कि आप श्रमण-गौतम से प्रातिहार्य दिखलाने को कहे। राजा ने बुद्ध से निवेदन किया। बुद्ध ने कहा—मेरी तो शिक्षा यह है कि कल्याण को छिपाओ और पाप को प्रकट करो। राजा ने कहा कि आप ऋद्धिप्रातिहार्य दिखलावें और तीर्थिको की निर्भर्त्सना करें। बुद्ध ने प्रसेनजित् से कहा कि—आज से सातवें दिन तथागत सबके समक्ष महाप्रातिहार्य दिखलायेंगे। जेतवन में एक मण्डप बनाया गया और तीर्थिको को सूचना दी गई। सातवे दिन तीर्थिक एकत्र हुए। भगवान् मण्डप में आये। भगवान् के काय से रश्मियाँ निकली और उन्होंने समस्त मण्डप को सुवर्ण-वर्ण की कान्ति से अवभासित किया। भगवान् ने अनेक प्रातिहार्य दिखलाकर महाप्रातिहार्य दिखलाया। ब्रह्मादि देवता भगवान् की तीन बार प्रदक्षिणा कर भगवान् के दक्षिण ओर तथा शक्रादि देवता बाईं ओर बैठ गये। नन्द, उपनन्द, नाग-राजाओ ने शकट-चक्र के परिमाण का सहस्रदल सुवर्ण-कमल निर्मित किया। भगवान् पद्मकर्णिका में पर्य क-बद्ध हो बैठ गये और पद्म के ऊपर दूसरा पद्म निर्मित किया। उसपर भी भगवान् पर्य क-बद्ध हो बैठे दिखाई पडे। इस प्रकार, भगवान् ने बुद्ध-पिण्डी अकनिष्ठ-भवन-पयन्त निर्मित की। कुछ बुद्ध-निर्माण शय्यासीन थे, कुछ खडे थे, कुछ प्रातिहार्य करते थे और कुछ प्रश्न पूछते थे। राजा ने तीर्थिको से कहा कि तुम भी ऋद्धि-प्रातिहार्य दिखलाओ। पर वे चुप रह गये और एक दूसरे से कहने लगे कि तुम उठो, तुम उठो, पर कोई भी नही उठा। पूरणकश्यप को इतना दु ख हुआ कि वह गले मे बालुकाघट बाँधकर शीत-पुष्करिणी में कूद पडा और मर गया। इस कथा से ज्ञात होता है कि बुद्ध प्रातिहार्य द्वारा अनेक बुद्धो की सृष्टि कर लेते थे। इनको 'बुद्ध-निर्माण' कहा है। तथागत की यह धर्मता है कि महाप्रातिहार्य करने के पश्चात् वह अपनी माता माया को अभिधर्म का उपदेश करने के लिए स्वर्गलोक को जाते हैं। उनको प्रतिदिन भिक्षा के लिए मर्त्यलोक में जाना पडता था। इसलिए, अपनी अनुपस्थिति में शिक्षा देने के लिए उन्होने अपना प्रतिरूप निर्मित किया था। वर्षा में भगवान् स्वर्ग मे रहे। जब वह उतरनेवाले थे, तब शक्र ने विश्वकर्मा से त्रिपद सोपान बनवाया, जिसका अधोपाद साकाश्य नगर के समीप रखा गया। भगवान् का साकाश्य के समीप स्वर्गलोक से अवतरण हुआ। यहाँ सब बुद्ध स्वर्ग से उतरे है। बुद्ध अनेक प्रकार का रूप सर्वत्र धारण कर सकते है। इसलिए, निर्माण-काय को 'सर्वत्रग' कहा है। 'त्रिकायस्तव' में कहा है कि तत्त्वो के परिपाक के लिए बुद्ध अनेक रूप धारण करते है। विज्ञानवादियो के अनुसार बुद्ध के अनेक निर्मित रूप ही निर्माण-काय नही है, किन्तु समस्त जगत् बुद्ध

का निर्माण-काय कहा जा सकता है। शून्य और प्रकृति-प्रभास्वर विज्ञान धर्म-काय है। निर्माण-काय इस धर्म-काय के असत्-रूप है। जब विज्ञान वासना से सक्लिष्ट होता है, तब वह रूपलोक और कामलोक का निर्माण करता है।

सम्भोग-काय––धर्मकाय और निर्माण-काय के अतिरिक्त एक और काय की कल्पना की गई है, यह है 'सम्भोग-काय। इसे 'विपाक-काय' भी कहते है। स्थविरवादियो के ग्रन्थो मे सम्भोग-काय की कोई सूचना नही मिलती। वैसिलीफ का कहना है कि सौत्रान्तिक धर्मकाय और सम्भोग-काय दोनो को मानते थे। सम्भोग-काय वह काय है, जिसको बुद्ध दूसरो के कल्याण के लिए बोधिसत्त्व के रूप मे अपने पुण्य-सम्भार के फल-स्वरूप तबतक धारण करते है, जबतक निर्वाण में प्रवेश नही करते। महायान-ग्रन्थो मे हम बार-बार इस विचार का उल्लेख पाते है कि बुद्धत्व ज्ञान-सम्भार और पुण्य-सम्भार का फल है। महायान-ग्रन्थो मे ऐसे बुद्धो की सूचना मिलती है, जो शून्यता में प्रवेश नही करते, जो दूसरो का कल्याण चाहते है और जो सबको सुखी करने के लिए ही बुद्धत्व की आकाक्षा करते है। वह एक उत्कृष्ट प्रणिधान की रचना करते है, जो प्रणिधान अन्त मे सफल होता है। वह फल-स्वरूप एक बुद्ध-क्षेत्र के अधिकारी हो जाते है, जो नाना-प्रकार की प्रचुर दिव्य-सम्पन् के समन्वागत होता है। उस बुद्ध-क्षेत्र में अपने पार्षदो के साथ वह सुशोभित होते है। सुखावती-व्यूह मे वर्णित है कि धर्माकार भिक्षु ने ऐसे ही प्राणिधान का अनुष्ठान किया था और सुखावती-लोक उनका बुद्ध-क्षेत्र हुआ। वहाँ अमिताभ नाम के बुद्ध निवास करते है। भगवान् के मुख से धर्माकार भिक्षु की प्रणिधान-सम्पत्ति को सुनकर आनन्द बोले—क्या धर्माकार भिक्षु सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर परिनिर्वाण मे प्रवेश कर गये अथवा अभी सम्बोधि को प्राप्त नही हुए अथवा अभी वर्त्तमान है और धर्म-देशना करते है ? भगवान् बोले—वह न अतीत और न अनागत-बुद्ध है। वह इस समय वर्त्तमान है। सुखावती-लोकधातु मे अमिताभ नाम के तथागत धर्म-देशना करते है। उनके बुद्ध-क्षेत्र की सम्पत्ति अनन्त है। उनकी प्रतिभा अमित है, उनकी इयत्ता का प्रमाण नही है। अनेक बोधिसत्त्व अमिताभ का दर्शन करने, उनसे परिप्रश्न करने तथा वहाँ के बोधिसत्त्वगण और बुद्ध-क्षेत्र के गुणालकार-व्यूह को देखने सुखावती जाते है। बुद्ध अपनी पुण्य-राशि से यहाँ शोभित है। अमिताभ के पार्षद अवलोकितेश्वर और महास्थाम-प्राप्त है। अमिताभ के नाम-श्रवण से ही जिनको चित्तप्रसाद उत्पन्न होता है, जो श्रद्धावान् है, जिनमे सशय और विचिकित्सा नही है। जो अमिताभ का नाम-कीर्त्तन करते है, वह सुखावती मे जन्म लेते है। अमिताभ बुद्ध का सम्भोग-काय है। यह सुकृत का फल है जैसा 'त्रिकायस्तव' मे कहा है —

> लोकातीतामचिन्त्या सुकृतशतफलामात्मनो यो विभूति
> पर्षन्मध्ये विचित्रा प्रथयति महतीं धीमतीं प्रीतिहेतो।
> बुद्धानां सर्वलोकप्रसृतमविरतोदारसद्धर्मघोष
> वन्दे सम्भोगकाय तमहमिह महाधर्मराज्यप्रतिष्ठम्॥

भगवान् इस काय के द्वारा अपनी विभूति को प्रकट करते है। धर्मकाय के असदृश यह काय रूपवान् है, पर यह रूप अपार्थिव है। चन्द्रकीर्त्ति सम्भोग-काय के लिए 'रूपकाय' का प्रयोग करते है और उसकी तुलना धर्मकाय से करते है। मध्यमकावतार की टीका मे वह कहते है[1] कि ज्ञान-सम्भार, अर्थात् ध्यान और प्रज्ञा से धर्मकाय होता है, जिसका लक्षण 'अनुत्पाद' है और पुण्य-सम्भार रूपकाय का हेतु है। इस 'रूपकाय' को 'नाना-रूप-वाला' कहा है, क्योकि सम्भोग-काय अपने को अनेक रूपो (निर्माण-काय) मे प्रकट करने की शक्ति रखता है। बोधिचर्यावतार (पृ० ३२३) मे सम्भोग-काय को 'लोकोत्तर काय' कहा है।

चीन के बौद्ध-साहित्य मे भी हम त्रिकाय का उल्लेख पाते है। इस साहित्य के अनुसार 'त्रिकाय' बुद्ध के इन तीन रूपो का भी सूचक है —

१ शाक्यमुनि (मानुषी बुद्ध), जिनका इस लोक मे उत्पाद हुआ। यह कामधातु मे निवास करते है। यही निर्माणकाय है।

२ लोचन, यह ध्यानी बोधिसत्त्व है। यह रूपधातु मे निवास करते है। यह सम्भोग-काय है।

३ वैरोचन (या ध्यानी बुद्ध), यह धर्मकाय है। यह अरूप-धातु मे निवास करते है।

ध्यानी बुद्ध की स्थिति से वह चतुर्थ बुद्ध-क्षेत्र का आधिपत्य करते है। इस बुद्ध-क्षेत्र में सब सत्त्व शान्ति और प्रकाश की शाश्वत अवस्था मे रहते है। ध्यानी बोधिसत्त्व की स्थिति से वह तृतीय बुद्ध-क्षेत्र के अधिकारी है, जहाँ भगवान् का धर्म सहज ही स्वीकृत होता है और जहाँ सत्त्व इस धर्म के अनुसार अनायास ही पूर्णरूपेण आचरण करते है। मानुषी बुद्ध की स्थिति से बुद्ध द्वितीय और प्रथम क्षेत्र के अधिकारी है। द्वितीय क्षेत्र मे अकुशल नही है, यहाँ सब सत्त्व श्रावक और अनागामिन् की अवस्था को प्राप्त होते है। प्रथम क्षेत्र मे शुभ और अशुभ, कुशल और अकुशल दोनो पाये जाते है।[2]

सक्षेप में यदि कहा जाय, तो बुद्धत्व की दृष्टि से त्रिकाय की व्याख्या इस प्रकार होगी। बुद्ध का स्वभाव, बोधि या प्रज्ञा-पारमिता या धर्म है। यही परमार्थ सत्य है। इस ज्ञान-सम्भार के लाभ से निर्वाण का अधिगम होता है। इसीलिए, धर्मकाय निर्वाण-स्थित या निर्वाण-सदृश समाधि की अवस्था मे स्थित बुद्ध है। बुद्ध जबतक निर्वाण मे प्रवेश नही करते, तबतक लोक-कल्याण के लिए वह पुण्य-सम्भार के फलस्वरूप अपना दिव्य रूप सुखावती या तुषित-लोक मे बोधिसत्त्वो को दिखलाते है। यह सम्भोग-काय है। मानुषी बुद्ध इनके निर्माण-काय है जो समय-समय पर ससार मे धर्म की प्रतिष्ठा के लिए आते है।

---

१ "तत्र य पुण्यसम्भार स भगवतीं सम्यक्सबुद्धानां शतपुण्यलक्षणवतोऽद्‌भुताचिन्त्यस्य नानारूपस्य रूपकायस्य हेतु, धर्मात्मकस्य कायस्य अनुत्पादलक्षणस्य ज्ञानसम्भारो हेतु।" (मध्यमावतारटीका, पृ० ६२-६३)

२ हैण्डबुक ऑव चाइनीज बुद्धिज्म अर्नेस्ट जे० एटिल। पृ० ३ और १७८।

दार्शनिक दृष्टि से यदि विचार किया जाय, तो धर्मकाय शून्यता है या अलक्षण-विज्ञान है। सम्भोग-काय धर्मकाय का सत्, चित्, आनन्द या करुणा के रूप में विकास-मात्र है। यही चित् जब दूषित होकर पृथग्-जन के रूप मे विकसित होता है, तब वह निर्माण-काय कहलाता है।

त्रिकाय की कल्पना हिन्दू-धर्म मे नही पाई जाती। पर, यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय, तो विदित होगा कि वेदान्त का परब्रह्म, विष्णु और विष्णु के मानुषी अवतार (जैसे राम, कृष्ण) क्रमश धर्म-काय, सम्भोग-काय और निर्माण-काय के समान है। जिस प्रकार बौद्ध-ग्रन्थो में धर्मकाय को निर्लेप, निर्विकार, अतुल्य, सर्वव्यापी और प्रपच-रहित कहा है, उसी प्रकार उपनिषदो मे ब्रह्म को अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, शान्त, शिव, प्रपचोपशम, निर्गुण, निष्क्रिय, सूक्ष्म, निर्विकल्प और निरजन कहा है।[१] दोनो मन और वाणी के विषय नही है और दोनो के स्वरूप का निरूपण नही हो सकता। जिम प्रकार विष्णु करुणा के रूप है उसी प्रकार बुद्ध भी करुणा के रूप है। पुराणो मे तथा श्रीरामानुजाचार्य-रचित 'श्रीवैकुण्ठ-गद्य' में विष्णु-लोक का जो वर्णन हमको मिलता है, उसकी तुलना सुखावती-लोक के वर्णन से करने पर कई बातो मे समानता पाई जाती है। दोनो लोक दिव्य है और प्रचुर दिव्य-सम्पत्ति से समन्वागत है। दोनो लोको में सब वस्तु इच्छामात्र से ही सुलभ है। दोनो का तेज अनन्त है। विष्णु और अमिताभ परिजनो से परिवृत है। विष्णु के शेष, शेषाशनादि पार्षद है। ये नित्य-मुक्त है। लोग दोनो का स्तुति-पाठ करते है। दोनो लोको मे आये हुए जीव सुखपद को प्राप्त करते है और वहाँ से फिर नही लौटते।[२] अनन्य-भक्ति द्वारा ही दोनो लोको की प्राप्ति होती है।[३] दोनो विशुद्ध-सत्त्व से निर्मित है। इसीलिए, दोनो ज्ञान और आनन्द के वर्धक

---

१ "अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशमं शान्त शिवमद्वैत चतुर्थ मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय।" (माण्डूक्योपनिषत्)

"अहेयमनुपादेयमनाधेयमनाश्रयम्।
निर्गुण निष्क्रिय सूक्ष्म निर्विकल्प निरञ्जनम्।
अनिरूप्यस्वरूप यन्मनो वाचामगोचरम्॥" (अध्यात्मोपनिषत्)

"निष्कले निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरञ्जने।
अद्वितीये परे तत्त्वे व्योमवत् कल्पना कुत॥
न विरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधक।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥" (आत्मोपनिषत्)

माध्यमिक सिद्धान्त से इसकी तुलना कीजिए।

२ "तस्मिन् बन्धविनिर्मुक्ता· प्राप्यन्ते सुसुख पदम्।
य प्राप्य न निवर्त्तन्ते तस्मात् मोक्ष उदाहृत·॥"
(पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, अध्याय २६)

३ "एकेन द्वयमन्त्रेण तथा भक्त्या त्वनन्यया।
तद्गम्य शाश्वत दिव्य प्रपद्ये वै सनातनम्॥" (अध्याय ३०)

है। दोनो अत्यद्भुत वस्तु है। विष्णु और अमिताभ की प्रभा से समस्त जगत् उद्भासित हो जाता है। जिस प्रकार बौद्धागम में आदिबुद्ध शब्द का व्यवहार पाया जाता है उसी प्रकार 'त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत्' मे 'आदिनारायण' का प्रयोग मिलता है। जिस प्रकार मानुषी बुद्ध सम्भोग-काय के निर्माण-काय है, उमी प्रकार राम, कृष्ण आदि विष्णु के अवतार है। यह धर्म की स्थापना के लिए ससार मे समय-समय पर आते है।

ईसाई-धर्म में भी ईसा के व्यक्तित्व के बारे में कुछ इसी प्रकार के विचार पाये जाते है। ईसाईयो में भी कुछ मत ऐसे प्रकट हुए, जो यह शिक्षा देते थे कि ईसा का पार्थिव शरीर न था, वह माता के गर्भ से उत्पन्न नही हुए थे, देखने मे ही वह मनुष्य मालूम होते थे, यह उनका माया-निर्मित शरीर था। वे उनके लोक मे उत्पाद को तथा उनकी मृत्यु को एक सत्य घटना नही मानते थे। इनमें से कुछ ऐसे भी थे, जो ईसा के शरीर का अस्तित्व तो मानते थे, पर उसको पार्थिव न मानकर दिव्य मानते थे और उनका यह विश्वास था कि ईसा सुख और दुःख के अधीन न थे। इस प्रकार के विचारो को 'डोसेटिज्म' कहते है।

पारसियो के अवेस्ता में जिन चार स्वर्गों का उल्लेख मिलता है, उनमे से एक का नाम 'अनन्त प्रभावाला' है। इससे इलियट महाशय अनुमान करते है कि अमिताभ की पूजा बाहर से भारत में आई।[1] जैनो का सत्पुर भी सुखावती-लोक से मिलता-जुलता है।[2]

---

१ इलियट हिन्दुइज्म ऐण्ड बुद्धिज्म, भा० २, पृ० २८-२९।

२ उपमितभवप्रपञ्चा कथा, पृ० ६७७ आदि।

सप्तम अध्याय

बौद्ध-संस्कृत-साहित्य का अर्वाचीन अध्ययन

महायान के ग्रन्थ गाथा और सस्कृत में है। महायान के ग्रन्थो की भाषा सस्कृत होने के कारण प्राय लोग आजकल महायान को सस्कृत-बौद्ध-धर्म कहते है, परन्तु यह ठीक नही है, क्योकि हीनयान के अन्तर्गत सर्वास्तिवाद के आगम-ग्रन्थ भी सस्कृत मे है। हम महायान के ग्रन्थो का विवरण उसके प्रधान आचार्यो के परिचय के साथ देगे, यहाँ हीनयान के सस्कृत-ग्रन्थो का थोडा परिचय देना आवश्यक है।

पालिनिकाय का अध्ययन यूरोप में अट्ठारहवी शताब्दी में ही आरम्भ हो गया था, पर बौद्धधर्म के सस्कृत-साहित्य से यूरोपीय विद्वान् अपरिचित थे। सन् १८१६ ई० में जब नेपाल-युद्ध का अन्त हुआ और अँगरेजो से नेपाल-दरबार की मैत्री स्थापित हुई, तब से सिगौली के सुलहनामे के अनुसार काठमाण्डू में अँगरेज-रेजिडेण्ट रहने लगे। जब पहले-पहल रेजिडेसी कायम हुई, तब ब्रायन् हाजसन् रेजिडेण्ट के सहायक नियुक्त हुए। यह बडे विद्याव्यसनी थे। रेजिडेसी में अमृतानन्द नाम के एक बौद्ध-पण्डित मुन्शी का काम करते थे। यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि नेपाल मे इस समय भी बौद्धधर्म जीवित था। जब मुसलमानो के आक्रमण और अत्याचारो के कारण बौद्धधर्म भारत से लुप्त हो गया, तब बौद्ध-भिक्षुओ को नेपाल और तिब्बत में ही शरण मिली। पहाडी प्रदेश होने के कारण नेपाल मुसलमानो के आक्रमण से भी सुरक्षित रहा। अमृतानन्द एक अच्छे विद्वान् थे। इन्होने कई सस्कृत-ग्रन्थो की रचना की थी। बुद्धचरित की जो पोथी उस समय नेपाल मे प्राप्य थी, वह अधूरी थी। अमृतानन्द ने इस कमी को पूरा किया और चार सर्ग अपने रचे जोड दिये। हाजसन् का ध्यान बौद्धधर्म की ओर आकृष्ट हुआ और अमृतानन्द की सहायता से वह हस्तलिखित पोथियो का सग्रह करने लगे। हाजसन् का सग्रह बगाल की एशियाटिक सोसायटी, पेरिस के बिब्लिओथेक नाशलाल और इण्डिया ऑफिस के पुस्तकालय मे बँट गया। बर्नूफ ने पेरिस के ग्रन्थो के आधार पर बौद्धधर्म का इतिहास फ्रेच-भाषा मे लिखा और 'सद्धर्मपुण्डरीक' का अनुवाद किया।

इधर नेपाल के राजमन्त्री राणा जगबहादुर ने एक बौद्ध-विहार पर कब्जा कर उसके ग्रन्थ सडक पर फेंक दिये थे। रेजिडेसी के डॉक्टर राइट ने इनको माँग लिया और केम्ब्रिज की युनिवर्सिटी को दान दे दिया। बगाल की एशियाटिक सोसायटी को हाजसन् का जो सग्रह मिला था, उसकी सूची डॉक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने तैयार की, जो सन्१८८२ ई० मे 'नेपालीज् बुद्धिस्ट लिटरेचर' के नाम से प्रकाशित हुई। केम्ब्रिज के सग्रह का सूची-पत्र प्रोफेसर सी० सी० बेण्डल

ने सन् १८८३ ई० मे प्रकाशित किया। इन सूचीपत्रो के प्रकाशित होने से महायान-धर्म के सिद्धान्तो के सम्वन्ध में तथा उनके विकास के इतिहास के सम्वन्ध में वहुत-सी उपयोगी वातें मालूम हुई और विद्वानो का ध्यान वौद्ध-सस्कृत-साहित्य की ओर गया। राजेन्द्रलाल मित्र ने 'ललितविस्तर' और 'अष्टसाहस्त्रिकाप्रज्ञापारमिता' ग्रन्यों को 'विव्लिओथिका इण्डिका' में प्रकाशित किया और वेण्डल महाशय ने 'शिक्षासमुच्चय' नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया। फ्रासीसी विद्वान् सेनार्ट ने 'महावस्तु-अवदान' तीन खण्डो में और महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने 'स्वयम्भू-पुराण' प्रकाशित किया। हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज में वेण्डल सन् १८८४ ई० में नेपाल गये। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने १८९७ में नेपाल की यात्रा की। सिलवॉं लेवी भी नेपाल गये और 'असग'-रचित सूत्रालकार' की एक प्रति उनके हाथ लगी, जिसको फ्रेच-अनुवाद के साथ उन्होने प्रकाशित किया। सन् १८९८–९९ ई० मे वेण्डल के साथ हरप्रसाद शास्त्रीजी फिर नेपाल गये और इस समय शास्त्रीजी ने दरवार के पुस्तकालय की पोथियो का सूचीपत्र तैयार किया, जो १९०५ में प्रकाशित हुआ। इसका दूसरा भाग १९१५ में प्रकाशित हुआ। वगाल की एशियाटिक सोसायटी में जो वौद्ध-सस्कृत-साहित्य का सग्रह सन् १८९७ ई० के वाद से हुआ था, उसका सूचीपत्र शास्त्रीजी ने सन् १९१६ ई० में प्रकाशित किया। शास्त्रीजी का खयाल था कि तिव्वत और चीन के पूर्व-भाग में सस्कृत के अनेक ग्रन्थ खोजने से मिल सकते हैं। इधर मध्य एशिया मे तुरफान, काशगर, खुतन, तोखारा और कूचा में खोज में वहुत-से हस्तलिखित ग्रन्थ तथा लेख और चित्र मिले हैं। युआन-च्वाग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है कि ७वी शताव्दी मे इस प्रदेश मे वौद्धधर्म का प्रचुरता से प्रसार था। यारकन्द और खुतन मे महायान-धर्म और उत्तरी भाग में सर्वास्तिवाद प्रचलित था। लेफ्टिनेण्ट वावर को ई० १८९० मे भूर्जपत्र पर लिखी हुई एक प्राचीन पोथी मिली थी। डॉक्टर होअर्नले ने इस पोथी को पढा। यह गुप्तलेख में लिखी हुई थी और इसका समय पाँचवी शताव्दी के लगभग था। इस अन्वेषण का फल यह हुआ कि कश्मीर, लद्दाख और काशगर के पोलिटिकल एजेण्टो को व्रिटिश-गवर्नमेण्ट ने पुरानी पोथियो की खोज का आदेश किया। ई० १८९२ में द्युत्युएल–द–री[1] ने खुतन मे तीन पोथियाँ पाई। इनमें एक ग्रन्थ खरोष्ठी लिपि में है। यह पालि-धम्मपद का प्राकृत-रूपान्तर है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राकृत मे भी वौद्धो के धार्मिक ग्रन्थ लिखे जाते थे। सर आरेल स्टाइन ने खुतन के चारो ओर सन् १९०१ ई० मे खोज करना आरम्भ किया। स्टाइन की देखादेखी जर्मनी के विद्वानो ने सन् १९०२ ई० में ग्रुन वेण्डल और हुथ को तुरफान भेजा। पिशेल के उद्योग से जर्मनी में खोज की एक कमेटी वनाई गई और इस कमेटी की ओर से सन् १९०४ और १९०७ ई० में ल कौक[2] और ग्रनवेण्डल की अध्यक्षता में तुर्किस्तान को मिशन भेजे गये। इन लोगो ने कूचा और तुरफान का कोना-कोना ढूँढ डाला। सन् १९०६–१९०८ ई० में स्टाइन ने तुनहुआग मे पुस्तको का एक वहुत वडा ढेर पाया।

१ Dutrevil be Rheidns

२. Le Coq

इस खोज से कई नई भाषाओ तथा लिपियो के अस्तित्व का पता चला है। मगोल, तोखारी इत्यादि भाषाओ मे बौद्ध-ग्रन्थो के अनुवाद मिले है। सबसे बडी बात यह मालूम हुई है कि सस्कृत मे भी एक निकाय था। इस निकाय के कुछ अश ही प्राप्त हुए है। यह निकाय सर्वास्तिवाद का निकाय था। उदानवर्ग, एकोत्तरागम और मध्यमागम के अश प्राप्त हुए है। जो सग्रह इन खोजो से प्राप्त हुआ है, उसका अध्ययन किया जा रहा है। अनुमान किया जाता है कि कई वर्षों के निरन्तर परिश्रम के उपरान्त ही प्राप्त ग्रन्थो का पूरा विवरण प्रकाशित हो सकेगा। अभी तक इस निकाय के विनय और धर्मग्रन्थो के अश ही मिले है।

यहाँ सर्वास्तिवाद का सक्षेप मे विवरण देना आवश्यक और उपयोगी प्रतीत होता है। बौद्ध-धर्म के अट्ठारह निकायो मे सर्वास्तिवाद की भी गणना है। एक समय इसका सबसे अधिक प्रसार और प्रभाव था। जैसा नाम से ही स्पष्ट है, सर्वास्तिवादियो के मत मे वाह्य वस्तुजात और आध्यात्मिक वस्तुजात दोनो का अस्तित्व है। यह निकाय स्थविरवाद से बहुत पहले पृथक् हो गया था। दीपवश से मालूम होता है कि वैशाली की धर्म-सगीति के अनन्तर महीशासक स्थविरवाद से और महीशासक से 'सव्वत्थिवाद' और धर्मगुप्त पृथक् हो गये। चीनी यात्री इत्सिग के विवरण[1] से ज्ञात होता है कि उसके समय में चार प्रधान निकाय थे, जिनमे से एक आर्यमूल-सर्वास्तिवाद-निकाय था। इसके अन्तर्गत मूलसर्वास्तिवाद, धर्मगुप्त, महीशासक और काश्यपीय निकाय थे। इससे यह स्पष्ट है कि इन अन्तिम तीन वादो मे और मूल-सर्वास्तिवाद मे विशेष अन्तर न था। अन्यथा, वह सव एक निकाय के विभिन्न अग न समझे जाते।

इस निकाय का इतिहास वास्तव में अशोक के समय की धर्म-सगीति से आरम्भ होता है। इसी सगीति में मोग्गलिपुत्त तिस्स ने कथावत्थु का संग्रह किया था। इस ग्रन्थ का उद्देश्य अपने समय के उन वादो का खण्डन करना था, जो स्थविरवाद को मान्य नही थे। इस ग्रन्थ में 'सव्वत्थिवाद' के विरुद्ध केवल तीन प्रश्न उठाये गये है—

१ क्या एक अर्हत् अर्हत्त्व से हीन हो सकता है ?

२ क्या समस्त वस्तुजात प्रत्यक्ष-ग्राह्य है ?

३ क्या चित्त-सन्तति समाधि है ?

इन तीनो प्रश्नो का उत्तर सव्वत्थिवाद के अनुसार और स्थविरवाद के प्रतिकूल था। अशोक के समय में जब कथावत्थु का सग्रह हुआ, तब इस निकाय का विशेष प्रभाव नही मालूम पडता। ऐसा प्रतीत होता है कि गान्धार और कश्मीर में पहले-पहल वैभाषिक नाम से इस निकाय का उत्थान हुआ और इन प्रदेशो मे इसने विशेष उन्नति प्राप्त की। 'वैभाषिक' शब्द[2] की व्युत्पत्ति 'विभाषा' शब्द से है। ज्ञान-प्रस्थान नामक ग्रन्थ की वृत्ति का नाम

---

१ इ-त्सिग · रेकार्ड ऑव दि बुद्धिस्ट रिलिजन, इण्ट्रोडक्शन, पृ० २३।

२ 'विभाषया दिव्यन्ति चरन्ति वा वैभाषिका।'

'विभाषा वा विदन्ति वैभाषिकाः।' विब्लिओथिका बुद्धिका, पृ० २१,१२।

'विभाषा' है । ज्ञान-प्रस्थान के रचयिता कात्यायनी-पुत्र थे । यह सर्वास्तिवादी थे। विभाषा' का रचना-काल कनिष्क के राज्यकाल के पीछे है। विभाषा मे 'सर्वास्तिवाद-निकाय के भिन्न-भिन्न आचार्यों का मत सावधानी के साथ उपनिवद्ध किया गया है, जिसमें पाठक अपनी रुचि के अनुसार जिस मत को चाहें, ग्रहण कर लें। इसी कारण इसका नाम विभाषा है । ज्ञान-प्रस्थान-शास्त्र सर्वास्तिवादियो का प्रधान ग्रन्थ है । विभाषा के रचयिता वसुमित्र थे और इस ग्रन्थ का पूरा नाम 'महाविभाषा-शास्त्र' हुआ ।

विभाषा-ग्रन्थ अपने असली रूप में उपलब्ध नही है । इसका कुछ ही अश मिला है, जिसके देखने से मालूम होता है कि वह विस्तार और उत्कृष्टता मे किसी प्रकार कम न था। इस ग्रन्थ से इसकी दार्शनिक पद्धति प्रौढ मालूम पडती है । परमार्थ (सन् ४९९–५९९ ई०) के अनुसार छठी शताब्दी में यह ग्रन्थ शास्त्रार्थ का प्रधान विषय था । इस समय बौद्धो से साख्यो का विवाद चल रहा था ।

फाहियान[1] (सन् ३९९–४१४ ई०) अपने यात्रा-विवरण में लिखता है कि सर्वास्तिवाद के अनुयायी पाटलिपुत्र और चीन में थे । पर उनका विनयपिटक उस समय तक लिपिवद्ध नही हुआ था । युआन-च्वाग (ह्वेनत्साग) (सन् ६२९—६४५ ई०) के समय में इस निकाय का अच्छा प्रचार था । उसके अनुसार काशगर, उद्यान (स्वात), उत्तरी सीमा के कई अन्य प्रदेश, फारस, कन्नौज और राजगृह के पास किसी एक स्थान में इस मत का प्राधान्य था । यद्यपि युआन-च्वाग तेरह स्थानो का उल्लेख करता है, जहाँ सर्वास्तिवाद का प्राधान्य था, परन्तु खास भारतवर्ष मे इस निकाय के उतने अनुयायी नही थे, जितने कि अन्य निकायो के थे । इत्सिग सातवी शताब्दी में भारत आया (६७१–६९५ ई०) । वह स्वय सर्वास्तिवाद का अनुयायी था । वह इस निकाय का पूरा विवरण देता है । इत्सिग[2] के अनुसार इसका प्रचार मगध, लाट, सिन्धु, दाक्षिणात्य, पूर्व भारत, सुमात्रा, जावा, चम्पा (कोचीन चाइना), चीन के दक्षिण-पश्चिम-पूर्व के प्रान्त तथा मध्य एशिया मे था । इस विवरण से ज्ञात होता है कि सातवी शताब्दी के पहले या पीछे किसी अन्य निकाय का इतना प्रचार नही हुआ, जितना कि सर्वास्तिवादनिकाय का था । इत्सिग के अनुसार इस निकाय का त्रिपिटक तीन लाख श्लोको में था । चीनी भाषा में बौद्ध-साहित्य का जो भाण्डार उपलब्ध है, उसको देखने से मालूम होता है कि इस निकाय का अपना अलग विनयपिटक और अभिधम्म-पिटक था । इत्सिग ने सर्वास्तिवाद के समग्र विनयपिटक का चीनी-भाषा में अनुवाद किया और उसके प्रचलित विनय के नियमो पर स्वय एक ग्रन्थ लिखा ।

भारतवर्ष में केवल मूलसर्वास्तिवाद के ही अनुयायी थे । लका में यह वाद प्रचलित नही था । मूलसर्वास्तिवाद के अन्य तीन विभाग मध्य एशिया में पाये जाते थे । पूर्व और

---

१ लग-फा-हिआन, पृ० ९९ ।

२ रेकॉर्ड ऑव दि बुद्धिस्ट रिलिजन, इण्ट्रोडक्शन : इत्सिग ।

पश्चिम चीन में केवल धर्मगुप्त प्रचलित था। वासिलीफ[1] कहते है कि तिव्वत का विनय सर्वास्तिवादी निकाय का है।

सिलवाँ लेवी के अनुसार सस्कृत के विनय-ग्रन्थ पहले-पहल तीसरी या चौथी शताव्दी मे सगृहीत हुए। एकोत्तरागम (=अगुत्तरनिकाय), दीर्घागम (=दीघनिकाय), मध्यमागम (=मज्झिमनिकाय) के अश पूर्वी तुर्किस्तान मे खोज मे मिले है। धर्मत्रात के उदान वर्ग (=उदान) के भी अश मिले है। प्रातिमोक्षसूत्र के एक तिव्वती और चार चीनी अनुवाद मिलते है। इससे मालूम होता है कि प्रातिमोक्ष-सूत्र विनयपिटक मे था। पालि के विनयपिटक के ग्रन्थो के नाम सस्कृत-निकाय के ग्रन्थो के नाम से मिलते है। स्थविरवाद के समान सर्वास्तिवाद के अभिधर्म-ग्रन्थो की भी सख्या सात है, पर नाम प्राय भिन्न है। सर्वास्तिवादी ज्ञान-प्रस्थान को अपना मुख्य ग्रन्थ ममझते है और अन्य छ ग्रन्थ एक प्रकार के परिशिष्ट है। ज्ञान-प्रस्थान काय है और अन्य छ ग्रन्थपाद है। जो सम्वन्ध वेद, वेदाग का है, वही इनका सम्बन्ध है। इन अभिधर्म-ग्रन्थो का उल्लेख सवसे पहले यशोमित्र की अभिधर्मकोश-व्याख्या[2] (कारिका ३ की व्याख्या) मे पाया जाता है। ज्ञान-प्रस्थान पर दो वृत्तियाँ है—विभाषा और महाविभाषा। प्रवाद है कि वसुमित्र ने विभाषा का सग्रह किया था। महाविभाषा एक वृहत् ग्रन्थ है और प्रामाणिक माना जाता है। यह वौद्ध-अभिधर्म का एक प्रकार का विश्वकोष है। महाविभाषा का वृहत् आकार होने के कारण एक छोटे ग्रन्थ की आवश्यकता प्रतीत हुई, इसलिए आचार्य वसुवन्धु ने कारिका रूप में अभिधर्मकोश लिखा। वसुवन्धु का विरोधी सघभद्र था। उसने इस ग्रन्थ का खण्डन करने के लिए 'अभिधर्मन्यायानुसार' और 'अभिधर्मसमयप्रदीपिका' रचा। यह मूल सस्कृत-ग्रन्थ अप्राप्य है, किन्तु चीनी-अनुवाद उपलब्ध है। पालि के अभिधर्म-ग्रन्थो में और इनमे कोई समानता नही पाई जाती।

सौत्रान्तिक इन अभिधर्म-ग्रन्थो को बुद्ध-वचन न मानकर केवल सामान्य-शास्त्र मानते थे। वह केवल सूत्रान्तो को प्रमाण मानते थे। इसलिए, इनको सौत्रान्तिक कहते है। सौत्रान्तिक स्वसवित्ति के सिद्धान्तो को मानते थे। इनका कहना था कि वस्तु स्वभाव से नाशवान् है, वे अनित्य नही है, पर क्षणिक है। उनका परमाणुवाद के विकास में हाथ है। उनका कहना है कि अणुओ मे स्पर्श नही है, क्योकि अणु के अवयव नही होते, इसलिए एक अवयव का दूसरे अवयव से स्पर्श नही होता। अणुओ मे निरन्तरत्व है।

अबतक सौत्रान्तिक-साहित्य वहत कम प्राप्त हो सका है। वसुवन्धु यद्यपि वैभापिक थे, तथापि सौत्रान्तिकवाद की ओर उनका विशेष झुकाव था। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' और

---

१ वासिलीफ बुद्धिज्म्स, पृ० ६६।

२ "श्रूयन्ते ह्यभिधर्मशास्त्राणा कर्त्तार। तद्यथा—ज्ञानप्रस्थानस्य आर्यकात्यायनीपुत्र कर्त्ता। प्रकरणपादस्य स्थविरवसुमित्र। विज्ञानकायस्य स्थविरदेवशर्मा। धर्मस्कन्धस्य आर्यशारिपुत्र। प्रज्ञप्तिशास्त्रस्य आर्यमौद्गल्यायन। धातुकायस्य पूर्ण। सगीतिपर्यायस्य महाकौष्ठिलः।" (विब्लिओथिका, २१, पृ० १२)

उसके भाष्य मे उन्होने स्थल-स्थल पर इसका परिचय दिया है। अभिधर्मकोश के व्याख्याकार यशोमित्र तो स्पष्ट ही सौत्रान्तिक थे। युआन-च्वाग के अनुसार सौत्रान्तिक-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक कुमारलाभ या कुमारलब्ध थे। सौत्रान्तिक आचार्यो मे श्रीलब्ध, धर्मत्रात, बुद्धदेव आदि के नाम आते है, परन्तु इनके ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नही हो सके है।

कुछ विद्वानो ने दिङ्नाग और उनकी परम्परा के अन्य आचार्यों को सौत्रान्तिक माना है। ऐसी अवस्था मे सौत्रान्तिक साहित्य विपुल हो जाता है। वस्तुत, सौत्रान्तिक की गणना हीनयान में किया जाता है, जबकि उसके कुछ सिद्धान्त महायान से मिलते है, क्योकि सौत्रान्तिकवाद सक्रमणावस्था का दर्शन है।

बौद्ध-संकर-संस्कृत का विकास

'महावस्तु', 'ललितविस्तर' आदि ग्रन्थो की भाषा शुद्ध सस्कृत नही है। कोई इसे गाथा-सस्कृत कहता है, कोई मिश्र-सस्कृत या बौद्ध-सस्कृत। प्रोफेसर एजर्टन इसे बौद्ध-सकर-सस्कृत का नाम देते हैं। प्रो० एजर्टन के अनुसार यह भाषा मूलत मध्यप्रदेश की कोई प्राचीन बोल-चाल की भाषा थी या उसपर आश्रित थी। यह ईसा के पूर्व की भाषा है। किन्तु, आरम्भ से ही हम देखते है कि कम-से-कम हस्तलिखित पोथियो मे सस्कृत के प्रति इसका झुकाव है। शब्दो की वर्णना मे हम अशत सस्कृत का प्रभाव पाते हैं। हमारा अनुमान है कि सस्कृत की बढती हुई प्रतिष्ठा के कारण ऐसा हुआ होगा। इन ग्रन्थो मे हम बहुत-से शुद्ध सस्कृत-शब्द और रूप पाते हैं। कुछ आशिक रूप से सस्कृत है, और कुछ ऐसे है, जो अपने शुद्ध रूप को अपरिवर्त्तित रखते है। इन ग्रन्थो का शब्द-भाण्डार बहुत कुछ मध्यदेशीय है, अर्थात् यह शब्द सस्कृत के नही है अथवा सस्कृत मे उनका भिन्न अर्थ है। जहाँ कही इनकी वर्णना पर सस्कृत का प्रभाव पडा है, वहाँ भी इनका मूल प्रभाव प्रकट हो जाता है। क्योकि, सस्कृत-भाषा मे या तो इनका प्रयोग नही पाया जाता या वहाँ यह किसी दूसरे ही अर्थ मे प्रयुक्त होते है।

ज्यो-ज्यो समय बीतता गया, सस्कृत का प्रभाव इस भाषा पर बढता गया। लेखको ने शुद्ध मध्यदेशीय शब्दो का बहिष्कार करना भी आरम्भ कर दिया और उनके स्थान पर सस्कृत शब्द रखने लगे, किन्तु अधिकतर शब्द-रूप और धातु-रूप के ही सस्कृत-रूप देने का प्रयत्न होता था। ऐसे भी ग्रन्थ हमको मिलते है जो बाहर से शुद्ध सस्कृत मे लिखे मालूम होते है, किन्तु सूत्र की परीक्षा करने पर अनेक असस्कृत रूप और शब्द मिलते है। आजकल जो सज्जन इन ग्रन्थो का सम्पादन करते है, वे इस दोष के सबसे बडे भागी है। वह विना विचारे असस्कृत-शब्दो और रूपो को बहिष्कृत करते हैं। वह समझते है कि यह ग्रन्थ भ्रष्ट सस्कृत में लिखे गये है और उनको सुधारना वह अपना कर्त्तव्य समझते है। किन्तु, यह बडी भारी भूल है। यह भाषा मध्यदेशीय है, अशुद्ध सस्कृत नही। इसलिए, हमारा कर्त्तव्य है कि हम प्रत्येक ऐसे शब्द और रूप को सुरक्षित रखे।

अनेक ग्रन्थो मे पद्य की अपेक्षा गद्यभाग को कही अधिक सस्कृत रूप दिया गया है। इस भाषा को किसी परिचित मध्यदेशीय वोली से मिलाना ठीक नही है। इसके कई प्रयत्न किये गये है, किन्तु सव विफल रहे। हम यह भी नही वता सकते कि यह भाषा किस प्रदेश की थी। किन्तु, इस भाषा की कुछ ऐसी विशेषताएँ है, जो अन्य भाषाओ मे नही पाई जाती। कुछ विद्वानो ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि यह भाषा अर्द्धमागधी है, किन्तु यह ठीक नही है। कुछ बातो मे सादृश्य होने से ऐसा भ्रम हो गया था, किन्तु परीक्षण करने पर यह मालूम हुआ कि विभिन्नता कही अधिक है।

भगवान् वुद्ध ने भिक्षुओ को उपदेश दिया था कि वह भगवान् के वचन को अपनी-अपनी भाषा में परिवर्त्तित करे। वैदिक भाषा मे वुद्ध-वचन को परिवर्त्तित करने का निषेध था। इसलिए आगम-ग्रन्थ पालि, प्राकृत सस्कृत आदि अनेक भाषाओ मे पाये जाते है। इसी आदेश के अनुसार उत्तर भारत की कई वोलियो मे वुद्ध-वचन उपनिवद्ध किये गये। इन्ही मे से एक वोली पाली थी, जो उज्जयिनी मे कदाचित् वोली जाती थी। इसी में त्रिपिटक लिखा गया, जो लका, वर्मा आदि देशो मे मान्य हुआ। एक दूसरी वोली, जिसका मूलस्थान—हमको मालूम नही है, वौद्ध-सकर-सस्कृत का है। सस्कृत की चारो ओर प्रतिष्ठा होने से धीरे-धीरे इसपर सस्कृत का प्रभाव पडने लगा। आरम्भ में यह प्रभाव थोडा और आशिक था। आगे चलकर इसमे वृद्धि हुई, किन्तु पूर्णरूपेण सस्कृत का प्रभाव नही पड सका। प्रो० एजर्टन ने इस भाषा का व्याकरण और कोश लिखकर वडा उपकार किया है। ये ग्रन्थ येल-विश्वविद्यालय से सन् १९५३ ई० मे प्रकाशित हुए है।

महावस्तु

हीनयान का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'महावस्तु' या 'महावस्तु-अवदान' है। महासाघिक और लोकोत्तरवादी वौद्ध-निकाय का उद्भव कैसे हुआ, इसका विचार पहले हमने किया है। महावस्तु इन्ही लोकोत्तरवादी महासाघिको का विनय-ग्रन्थ है। हीनयान के अनेक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थो में इसकी गणना है। महावस्तु का प्रथम सम्पादन सेना (इ० सेना) ने तीन भागो मे सन् १८८२–१८९७ ई० मे किया है। महावस्तु का अर्थ है 'महान् विषय या कथा', अर्थात् उपसम्पदा इत्यादि वौद्ध-विनय-सम्बन्धी कथा। पालिविनय के 'महावग्ग' के प्रारम्भ मे वुद्ध की वोधिप्राप्ति का, धर्मचक्रप्रवर्त्तन का तथा सघ-स्थापना का वर्णन मिलता है। महावस्तु के प्रारम्भ मे ही चार वोधिसत्त्व-चर्याओ का वर्णन दिया गया है—प्रकृतिचर्या, प्राणिधानचर्या, अनुलोमचर्या और अनिवर्त्तनचर्या। इन चार चर्याओ की पूर्त्ति से वोधिसत्त्व वुद्धत्व की प्राप्ति करते है। इन चर्याओ का उल्लेख करके ग्रन्थ का नाम दिया गया है—'आर्यमहासाघिकाना लोकोत्तरवादिना मध्यदेशिकाना पाठेन विनयपिटकस्य महावस्तुनो. . 'आदि। 'इस परिचय के वाद चतुर्विध उपसम्पदाओ का वर्णन है। स्वाभ उपसम्पदा, एहिभिक्षुकाय उपसम्पदा, दशवर्गेण गणेन उपसम्पदा, और पचवर्गेण गणेन उपसम्पदा।

यह ग्रन्थ लोकोत्तरवादियो का है। इसका प्रमाण यह भी है कि ग्रन्थ में भगवान् वुद्ध को लोकोत्तर वताया गया है। एक जगह कहा है कि वोधिसत्त्व माता-पिता से उत्पन्न नही होते, उनका जन्म औपपादुक है। इतना ही नहीं, तुषित-स्वर्ग से च्युत होने के वाद वे काम-सेवन भी नही करते। ऐसी परिस्थिति मे गौतमवुद्ध का पुत्र राहुल है, इसका सामजस्य किस प्रकार है ? इसके सम्बन्ध में कहा है—"भो जिनपुत्र ! को हेतु, क प्रत्यय, य अप्रहीणेहि क्लेशेहि वोधिसत्त्वा कामा न प्रतिसेवन्ति, राहुलश्च कथमुत्पन्न इति ? एवमनुश्रूयते भो धुतधर्मधर ! राजानश्च क्रवर्त्तिन औपपादुका वभूवु । तद्यथा . चक्रवर्त्तिगणा औपपादुका आसन्न तथा राहुलभद्र इति।" इसी प्रकार, भगवान् का शरीर, उनका आहार, उनका चीवर-धारण भी लोकोत्तर माना गया है। महावस्तु मे वुद्धानुस्मृति नाम का वुद्धस्तोत्र है (जिल्द १, पृ० १६३), इसमें तो यहाँतक कहा गया है कि दीपकर भगवान् के पास जव वोधिसत्त्व ने अनिवर्त्तनचर्या का प्रारम्भ किया, तभी से वह वीतराग है

दीपङ्करमुपादाय वीतरागस्तथागत ।
राहुलं पुत्रं दर्शेन्ति एषा लोकानुवर्त्तना ।। इत्यादि।

इस प्रकार, महावस्तु में भगवान् को लोकोत्तर माना गया है। हीनयान से महायान की ओर यह सक्रमणावस्था है। हीनयान में समाधि का महत्त्व था। महावस्तु में भक्ति प्रधान स्थान लेती है। स्तूप की परिक्रमा करने से अथवा पुष्पोपहार द्वारा भगवान् की आराधना करने से अमित पुण्य प्राप्त होता है। एक स्थल पर कहा गया है कि वुद्ध की उपासना से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

हीनयान के प्राचीन पालिग्रन्थो में वोधिसत्त्व की दशभूमियो का उल्लेख कहीं नही मिलता। 'महावस्तु' में ही इसका प्रथम विस्तृत वर्णन हम पाते हैं।

वोधिसत्त्व की दस भूमियाँ ये हैं—दुरारोहा, वर्द्धमाना, पुष्पमण्डिता, रुचिरा, चित्त-विस्तारा, रूपवती, दुर्जया, जन्मनिदेश, यौवराज और अभिषेक। वोधिसत्त्व ने इन भूमियो की प्राप्ति किस प्रकार और किन वुद्धो के सान्निध्य मे की, इसका विस्तृत वर्णन महावस्तु मे मिलता है। 'दशभूमिशास्त्र' में जिन भूमियो का उल्लेख है, वे इनसे भिन्न हैं। दस भूमियो का सिद्धान्त पहले-पहल 'महावस्तु' में ही उपदिष्ट है और उसी को आगे चलकर महायान-ग्रन्थों में सुपल्लवित किया गया।

वुद्ध का जीवन-चरित ही महावस्तु का मुख्य उद्देश्य है। इसलिए, उसे महावस्तु-अवदान कहा गया है। किन्तु, 'ललितविस्तर' में जीवन-चरित का जो व्यवस्थित रूप हम पाते है, वह महावस्तु' में नही है। जातक, सूत्र, कथा और विनय ऐसे कई अगो का यहाँ मिश्रण है। शाक्यवश और कोलियवश के उद्भव की कथा पालिग्रन्थो के वर्णन से मिलती है। वुद्ध के जन्म की कथा पालि 'निदानकथा' और सस्कृत 'ललितविस्तर' में काफी मिलती है। भाषा की दृष्टि से 'महावस्तु' का पद्यमय भाग ललितविस्तर से प्राचीन है। महावस्तु में कई भाग ऐसे हैं, जो पालिनिकायो से मिलते है। सुत्तनिपात के पव्वज्जासुत्त, पधानसुत्त, खग्गविमाण-

सुत्त, धम्मपद का सहस्सवग्ग, दीघनिकाय का महागोविन्दसुत्त और मज्झिमनिकाय का दीघनखसुत्त आदि अनेक ऐसे सुत्तन्त है, जो 'महावस्तु' में पूर्णतया पाये जाते है। 'महावस्तु' का आधा से अधिक भाग जातक और अन्य कथाओ से भरा है, जो सामान्यतः पालिजातको का अनुसरण करता है।

'महावस्तु' के काल का निश्चय करना कठिन है। किन्तु, इसमे सन्देह नही कि इसका मूलरूप प्राचीन है। इसके वह अश, जो पालिनिकाय मे भी पाये जाते है, निश्चित रूप से अति प्राचीन है। इसकी भाषा भी इसकी प्राचीनता का सूचक है। समग्र ग्रन्थ 'मिश्र सस्कृत' में लिखा गया है, जब कि महायान के ग्रन्थो में मिश्र सस्कृत और शुद्ध सस्कृत, दोनो का प्रयोग पाया जाता है। लोकोत्तरवाद का ग्रन्थ होना भी इसकी प्राचीनता को सिद्ध करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थ के मूलरूप की रचना ईसा से २०० वर्ष पूर्व हुई, किन्तु ग्रन्थ का समय-समय से विस्तार होता रहा। हूण और चीनी-भाषा तथा लिपि का उल्लेख होने से यह सिद्ध होता है कि ग्रन्थ के कुछ अश चौथी शताब्दी के है।

ललितविस्तर

'ललितविस्तर' महायान सूत्र-ग्रन्थो मे, बहुत पवित्र माना जाता है। इसकी गणना वैपुल्य-सूत्रो मे है। आरम्भ में हीनयानान्तर्गत सर्वास्तिवादी निकाय का यह ग्रन्थ था। इसमें बुद्धचरित का वर्णन है। भूमण्डल पर भगवान् बुद्ध ने जो क्रीडा (=ललित) की. उसका वर्णन होने के कारण ग्रन्थ का नाम 'ललितविस्तर' पडा। अभिनिष्क्रमण-सूत्र (नेञ्जियो-सूची-स० ६८०) के अनुसार इसको महाव्यूह भी कहत है।

डॉक्टर एस्० लेफमान ने इस ग्रन्थ के आरम्भ के कुछ अध्यायो का अनुवाद बर्लिन से सन् १८७५ ईसवी में प्रकाशित किया था। 'बिब्लिओथिका इण्डिका' नामक ग्रन्थमाला के लिए डॉक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने ललितविस्तर का अँगरेजी-अनुवाद तैयार किया था, पर सन् १८८१ से १८८६ ई० के बीच में केवल पन्द्रह अध्यायो का ही अनुवाद प्रकाशित हो सका। डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र ने मूल ग्रन्थ का भी एक अपूर्ण सस्करण निकाला था। समग्र मूल ग्रन्थ का सम्पादन डॉक्टर एस्० लेफमान ने किया। इसका फ्रेंच-अनुवाद फूको ने एनल द मुसे गिमे (जिल्द ६ और १९, पेरिस, सन् १८८४–१८९२ ई०) म प्रकाशित किया। तिब्बती-भाषा में इस ग्रन्थ का अनुवाद पाँचवी शताब्दी में हुआ था।

पहले अध्याय में यह बतलाया है कि एक समय रात्रि के मध्य याम मे भगवान् समाधिस्थ हुए। उसी क्षण भगवान् के उष्णीष-विवर से रश्मि प्रादुर्भूत हुई, जिसने सब देव-भवनो को अपने प्रकाश से अवभासित किया और देवताओ को क्षुब्ध किया। रात्रि के व्यतीत होने पर ईश्वर, महेश्वर इत्यादि देवपुत्र जेतवन आये और भगवान् की पाद-वन्दना कर एक ओर बैठ गये और कहने लगे—"भगवन्! ललितविस्तर नामक धर्मपर्याय का आप व्याकरण करे। भगवान् का तुषितलोक में निवास गर्भावक्रान्ति, जन्म, बालचर्या, सर्वमारमण्डलविध्वसन इत्यादि विषयो का इस ग्रन्थ मे वर्णन है। पूर्व तथागतो ने भी इस ग्रन्थ का व्याकरण किया था।"

भगवान् ने जनकाय के कल्याण और सुख के लिए तथा सद्धर्म की वृद्धि के लिए देवपुत्रों की प्रार्थना स्वीकार की और भिक्षुओं को आमन्त्रित कर 'अविदूरे निदान' (तुषित-काय से च्युति से प्रारम्भ कर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति तक का काल 'अविदूर निदान' कहलाता है) की कथा से आरम्भ कर बुद्धचरित का वर्णन सुनाने लगे। बोधिसत्त्व एक महाविमान में तुषित-लोक में निवास करते थे। बोधिसत्त्व ने क्षत्रिय-कुल में जन्म लेने का निश्चय किया। भगवान् ने बतलाया कि बोधिसत्त्व शुद्धोदन की महिषी मायादेवी के गर्भ में उत्पन्न होंगे। वही बोधिसत्त्व के लिए उपयुक्त माता है। वह रूप-यौवन-सम्पन्न है, शीलवती और पतिव्रता है। परपुरुष का स्वप्न में भी ध्यान नहीं करती। जम्बूद्वीप में कोई दूसरी स्त्री नहीं है, जो बोधिसत्त्व के तुल्य महापुरुष का गर्भधारण करने में समर्थ हो। इसको दस सहस्र नागों का बल प्राप्त है। देवताओं की सहायता से बोधिसत्त्व ने महानाग कुंजर के रूप में गर्भावक्रान्ति की। कुक्षिगत बोधिसत्त्व के निवास के लिए देवताओं ने एक रत्नव्यूह तैयार किया, जिसमें बोधिसत्त्व को दुर्गन्धयुक्त मनुष्याश्रय में निवास न करना पड़े। आकृति और वर्ण में यह रत्नव्यूह अनुपम था। बोधिसत्त्व इस रत्नव्यूह में बैठे हुए अत्यन्त शोभित थे। माता की कोख में से बोधिसत्त्व ने समस्त दिशाओं को अपने तेज और वर्ण से अवभासित किया। बोधिसत्त्व के शरीर से दूर तक प्रभा निकलती थी। यदि कपिलवस्तु या अन्य किसी जनपद में किसी स्त्री या पुरुष को भूत का आवेग होता था, तो बोधिसत्त्व की माता के दर्शनमात्र से उसको चेतना का पुनर्लाभ होता था। जो लोग नाना रोग से पीड़ित होते थे, उनके सिर पर बोधिसत्त्व की माता अपना दाहिना हाथ रखती थी। इसी से उनकी व्याधि दूर हो जाती थी, यहाँतक कि रोगियों को मायादेवी भूमि से तृण-गुल्म उठाकर देती थी, उसी से रोगी निर्विकार होते थे। मायादेवी जब अपना दक्षिण पार्श्व देखती थी, तब उनको कुक्षिगत बोधिसत्त्व उसी प्रकार दिखलाई पड़ते थे, जिस प्रकार शुद्ध आदर्श-मण्डल में मुखमण्डल का दर्शन होता है। जिस प्रकार अन्तरिक्ष में चन्द्रमा तारागण से परिवृत हो शोभा को प्राप्त होता है, उसी तरह बोधिसत्त्व बत्तीस लक्षणों से अलंकृत थे। वह राग-द्वेष और मोह की बाधा से परिमुक्त थे। क्षुत्पिपासा, शीतोष्ण आदि उनको किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाते थे। नित्य दिव्य-तूरि का वाद होता था और नित्य सुन्दर दिव्य-पुष्पों की वर्षा होती थी। मानुष और अमानुष परस्पर हिंसा का भाव नहीं रखते थे। सत्त्व हृष्ट और तुष्ट थे। समय पर वृष्टि होती थी। तृण, पुष्प और ओषधियाँ समय पर होती थीं। राजगृह में सात रात रत्नों की वर्षा हुई। कोई सत्त्व दरिद्र या दुःखी न रहा। दस महीने बीतने पर जब बोधिसत्त्व का जन्म-समय उपस्थित हुआ, तब राजा शुद्धोदन के गृह और उद्यान में बत्तीस पूर्वनिमित्त प्रादुर्भूत हुए। मायादेवी पति की आज्ञा ले लुम्बिनी-वन गई। वहाँ बोधिसत्त्व का जन्म हुआ। उसी समय पृथ्वी को भेदकर महापद्म का प्रादुर्भाव हुआ। नन्द, उपनन्द, नागराजाओं ने बोधिसत्त्व को शीत और उष्ण जल की वारिधारा से स्नान कराया। अन्तरिक्ष से दो चामर और रत्न-छत्र प्रादुर्भूत हुए। बोधिसत्त्व ने महापद्म पर बैठकर चारों दिशाओं को देखा। बोधिसत्त्व ने दिव्य-चक्षु से समस्त लोकधातु को देखा और जाना कि प्रज्ञा, शील, समाधि या कुशलमूल-चर्या में मेरे तुल्य कोई सत्त्व नहीं है। विगत-भय हो, सर्वसत्त्वों का चित्त और चरित जानकर बोधिसत्त्व ने

पूर्वाभिमुख हो सात कदम रखे। उस समय अन्तरिक्ष में उनके ऊपर श्वेत वर्ण का दिव्य विपुल छत्र और दो शुभ चामर धारण कराये गये। जहाँ-जहाँ बोधिसत्त्व पैर रखते थे, वहाँ-वहाँ कमल प्रादुर्भूत होता था। इसी प्रकार दक्षिणमुख और पश्चिममुख हो सात-सात कदम रखे। सातवे कदम पर सिंह की तरह निनाद किया और कहा कि मै लोक मे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हूँ। यह मेरा अन्तिम जन्म है। मैं जाति-जरा और मरण-दुःख का अन्त करूँगा। उत्तराभिमुख हो बोधिसत्त्व ने कहा कि मै सब सत्त्वो में अनुत्तर हूँ। नीचे की ओर सात पग रखकर कहा कि मार को उसकी सेना के सहित नष्ट करूँगा और नरक-निवासी सत्त्वो लिए महाधर्म-मेघ की वृष्टि कर निरयाग्नि को शान्त करूँगा। ऊपर की ओर भी बोधित्त्व ने सात पग रखे और अन्तरिक्ष की ओर ताका।

जिस समय बोधिसत्त्व ने जन्म लिया, उस समय नाना प्रकार के प्रातिहार्य उदित हुए। दिव्य दुन्दुभियाँ बजी, सब ऋतु और समय के वृक्षो मे फूल और फल लगे। विशुद्ध गगनतल से मेघशब्द सुन पडा। पृथ्वी कम्पायमान हुई। मेघ-रहित आकाश से वर्षा हुई। सुगन्धित वायु बहने लगी। सब दिशाएँ सुप्रसन्न मालूम पडी। सब सत्त्वो को काय-सुख और चित्त-सुख प्राप्त हुआ। सब सत्त्व अकुशल-क्रिया से विरत हुए। सब सत्त्व राग-द्वेष, मोह, दर्प इत्यादि दोषो से रहित हुए। जिनको नेत्रविकलता थी, उनको चक्षु-लाभ हुए। दरिद्रो ने धन पाया। जो बद्ध थे, वे बन्धन से मुक्त हुए। अवीचि आदि नरको मे वास करनेवाले सत्त्व दु ख-रहित हो गये। तिर्यग्योनिवालो का अन्योन्य-भक्षण-दुःख दूर हुआ। यमलोक-निवासी सत्त्वो का क्षुत्पिपासा-दु ख शान्त हुआ। सप्तपदी के समय सर्वलोक तेज से परिस्फुटित हो गये। गीत और नृत्य शब्द हुआ और पुष्प, चूर्ण, गन्ध, माल्य, रत्न, आभरण और वस्त्र की वर्षा हुई। सक्षेप में, यह क्रिया अद्भुत और अचिन्त्य हुई।

सातवे अध्याय मे आनन्द और बुद्ध का सवाद है। आनन्द ने अजलिबद्ध हो बुद्ध को प्रणाम किया और कहा कि बुद्ध का अद्भुत धर्म है। मै भगवान् की शरण मे अनेक बार जाता हूँ। भगवान् ने कहा कि हे आनन्द! भविष्य-काल में कुछ भिक्षु उद्धत और अभिमानी होंगे। उनको भगवान् मे श्रद्धा न होगी। उनका चित्त विक्षिप्त होगा। वे सशयान्वित होगे। वे बोधिसत्त्व की गर्भावक्रान्ति-परिशुद्धि मे विश्वास न करेंगे। वे कहेंगे कि यह किस प्रकार सम्भव है कि बोधिसत्त्व माता की कोख से बाहर आते हुए गर्भमल से उपलिप्त नही हुए। वे मोह-पुरुष इस बात को न जानेंगे कि पुण्यवान् सत्त्वो का शरीर उच्चार-प्रस्रावमण्ड में नही होता, तथागत की गर्भावक्रान्ति कल्याण को देनेवाली होती है। भगवान् की गर्भ मे अवस्थिति भूतदया के कारण होती है। वे नही जानते कि तथागत देवतुल्य हैं और हम लोग मनुष्यमात्र हैं। उनके स्थान की पूर्त्ति करने मे हम समर्थ नही हैं। उनको समझना चाहिए कि हम लोग भगवान् की इयत्ता या प्रमाण को नही जान सकते। वह अचिन्त्य है। उद्धत भिक्षु ऋद्धि और प्रातिहार्य पर विश्वास नही करेंगे। वे बुद्धधर्मो का प्रतिक्षेप करेंगे। उनकी दुर्गति होगी। आनन्द ने भगवान् से पूछा कि इन असत्पुरुषो की क्या गति होगी? भगवान् बोले कि जो

कोई इन सूत्रान्तो को सुनकर इनपर श्रद्धा न लायगा, वह च्युत होने पर अवीचि नाम महानरक मे गिरेगा। आनन्द! तथागत की बात अप्रामाणिक नही होती। इसके विपरीत जो इन सूत्रान्तो को सुनकर प्रसन्न होगे, उनको प्रसाद सुलभ होगा। उनका जीवन और मानुष्य सफल और सार्थक होगा। वे सार पदार्थ का ग्रहण करेगे। वे तीनो अपायो से मुक्त होगे। तथागत-धर्म से श्रद्धा रखने का यही फल है। जिन सत्त्वो को भगवान् का दर्शन या धर्मश्रवण प्रिय होता है, भगवान् उनको मुक्त करते है और उनको भगवद्भाव की प्राप्ति होती है। श्रद्धा का अभ्यास करना चाहिए। मित्र से मिलने के लिए लोग योजनशत भी जाते है और अदृष्टपूर्व मित्र को देखकर सुखी होते है। फिर, उसका क्या कहना जो मेरे आश्रित हो कुशलमूल का आरोपण करता है। जो मुझपर श्रद्धा रखते है, अनागत बुद्ध भी उनकी अभिलाषा पूर्ण करेगे। जो मेरी शरण में आये है, वे मेरे मित्र है। मै उनका कल्याण साधित करता हूँ। तथागत के यह मित्र है, यह समझकर अनागतबुद्ध भी उनके साथ मैत्री करेगे। इसलिए, हे आनन्द! श्रद्धोत्पाद के लिए उद्योग करो।

यह सवाद अकारण नही है। बुद्ध की गर्भावक्रान्ति तथा जन्म की जो कथा ललितविस्तर में मिलती है, वह पालिग्रन्थो मे वर्णित कथा से भिन्न है। यद्यपि पालिग्रन्थो मे भगवान के अनेक अद्भुत धर्म वर्णित है, तथापि इन अद्भुत धर्मों से समन्वागत होते हुए भी पालि-ग्रन्थो के बुद्ध अन्य मनुष्यो के समान जरा-मरण-दुःख और दौर्मनस्य के अधीन थे। बुद्ध ने स्वय कहा था कि मै लोक में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हूँ और सर्वसत्त्वो में अनुत्तर हूँ। सयुत्तनिकाय (स्कन्धवग्ग, भाग ३, पृ० १४०) में बुद्ध ने कहा है कि जिस प्रकार हे भिक्षु! कमल उदक में ही उत्पन्न होता है और उदक में ही सम्वद्ध है, पर उदक से अनुपलिप्त होकर उदक के ऊपर स्थित है, उसी प्रकार तथागत लोक में सम्वद्ध होकर भी लोक को अभिभूत कर लोक से बिना उपलिप्त हुए विहार करते है। दीघनिकाय (दूसरा भाग, पृ० १२, महापदानसुत्तन्त) के अनुसार, बोधिसत्त्व की यह धर्मता है कि जब वह तुषितकाय से च्युत हो माता की कुक्षि में उत्क्रान्ति करते है, तब सब लोको में अप्रमाण-अवभास का प्रादुर्भाव होता है। यह अवभास देवताओ के तेज को भी अवभासित करता है। दीघनिकाय (भाग ३, पृ० १६) के अनुसार बोधिसत्त्व महापुरुष के बत्तीस लक्षणो से और बयासी अनुव्यजनो से समन्वागत होते हैं। महापरिनिर्वाणसूत्र के अनुसार तथागत यदि चाहें, तो कल्पपर्यन्त या कल्पावशेष-पर्यन्त निवास कर सकते है। इसीलिए, आनन्द ने भगवान् से देव-मनुष्यो के कल्याण के लिए कल्प-पर्यन्त अवस्थिति रखने की प्रार्थना की। पर, भगवान् आयु-सस्कार का उत्सर्ग पहले ही कर चुके थे, इसलिए उन्होने आनन्द की प्रार्थना स्वीकार नही की। इन अद्भुत धर्मो को मानते हुए भी पालि-ग्रन्थो के बुद्ध लोकोत्तर केवल इसी अर्थ में है कि उन्होने विशेष उद्योग कर मोक्ष के मार्ग का अन्वेषण किया और दूसरे उनके बताये हुए मार्ग का अनुसरण करने से ही अर्हत्त्व की अवस्था को प्राप्त कर सकते है, उनको मार्ग का अन्वेषण नही करना पडता। पर महासाघिक लोकोत्तरवादी लोकोत्तर शब्द का प्रयोग इस अर्थ मे नही करते। यदि उनको भी यह अर्थ मान्य होता, तो बौद्धो में इस प्रश्न पर मतभेद होने का कोई कारण न था और न उनमें लोको-

त्तरवाद नामक वाद ही प्रचलित होता। इससे स्पष्ट है कि लोकोत्तरवादियो के मत मे 'लोकोत्तर' का कोई विशेष अर्थ है। आनन्द-बुद्ध के सवाद से यह प्रकट होता है कि लोकोत्तरवादी वोधिसत्त्व की गर्भावक्रान्ति-परिशुद्धि मे विश्वास करते थे और उनको अचिन्त्य मानते थे।

आगे चलकर 'ललितविस्तर' का वर्णन 'महावग्ग' की कथा से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। जहाँ समानता है, वहाँ भी कुछ वाते ललितविस्तर मे ऐसी वर्णित है, जो अन्य ग्रन्थो मे नही पाई जाती। ऐसी दो कथाओ का हम यहाँ पर सक्षेप मे उल्लेख करते है। एक कथा आठवें अध्याय में वर्णित है। शाक्यो ने राजा शुद्धोदन से कहा कि कुमार को देवकुल मे ले चलना चाहिए। जव कुमार को आभूषण पहनाये गये, तव स्मितपूर्वक कुमार वोले—'मुझसे वढकर कौन देवता है? मै देवातिदेव हूँ।' जब कुमार ने देवकुल मे पैर रखा, तव सव प्रतिमाएँ अपने-अपने स्थान से उठी और उनके पैरो पर गिर पडी, प्रतिमाओ ने अपना-अपना स्वरूप दिखाकर भगवान् को नमस्कार किया। इसी प्रकार, दसवे अध्याय मे वोधिसत्त्व के लिपिशाला मे जाने की कथा है। अनेक मगल-कृत्य करके दस हजार वालको के साथ कुमार लिपिशाला मे ले जाये गये। आचार्य विश्वामित्र कुमार के तेज को न सह सके और धरणितल पर अधोमुख गिर पडे। तव शुभाग नाम के तुषित-कायिक देवपुत्र ने उन्हें उठाया और उपस्थित राजा और जन-काय को सम्वोधित करके कहा—"यह कुमार मनुष्य-लोक के सभी शास्त्र, सख्या लिपि, गणना, धातुतन्त्र और अप्रमेय लौकिक शिल्पयोग मे अनेक कल्प-कोटियो के पूर्व ही शिक्षित है। किन्तु, लोकानुवर्त्तना के हेतु अनेक दारको को अग्रयान मे प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से और असख्य सत्त्वो का विनयन करने के लिए आज यह कुमार लिपिशाला में आये हैं। लोकोत्तर चार आर्य-सत्यपथो में जो विधिज्ञ है, जो हेतु-प्रत्यय मे कुशल है और जो शीतीभाव को प्राप्त है, उसे लिपिशास्त्र मे भला क्या जानना है? त्रिलोक मे भी इसका कोई आचार्य नही है, सर्व-देवमनुष्यो में यही ज्येष्ठ है। कल्पकोटियो के पहले इसने जिन लिपियो का शिक्षण पाया है, उनके नाम भी आप जानते नही है, यह शुद्धसत्त्व एक क्षण में जगत् की विविध और विचित्र चित्तधाराओ को जानता है। अदृश्य और रूपरहित की गति को जाननेवाले इस कुमार को दृश्यरूप लिपि को जानना क्या कठिन है?" इस प्रकार सम्वोधन करके वह देवपुत्र अन्तर्हित हुआ। धात्री और चेटीवर्ग को कुमार के पास छोडकर शुद्धोदन राजा और जन-काय घर लौटे। तव वोधिसत्त्व ने उरग-सागर चन्दनमय लिपि-फलक को लाकर विश्वामित्र आचार्य से कहा—'भो उपाध्याय! आप मुझे किस लिपि की शिक्षा देगे?' वोधिसत्त्व ने ब्राह्मी, खरोष्ठी, पुष्करसारि, अग, वग, मगध आदि ६४ लिपियाँ गिनाई। आचार्य ने कुमार के कौशल को देखकर उसका अभिनन्दन किया।

इस प्रकार १२ और १३ परिवर्त्तों में कुछ ऐसी कथाएँ वर्णित है, जो अन्यत्र नही पाई जाती, किन्तु १४–२६ परिवर्त्तों में कथामुख मे थोडा ही अन्तर पाया जाता है। वुद्ध के जीवन की प्रधान घटनाएँ ये है—चार पूर्व-निमित्त, जिनसे वुद्ध ने जरा, व्याधि, मृत्यु और प्रव्रज्या-ज्ञान प्राप्त किया। अभिनिष्क्रमण, विम्विसारोपसक्रमण, दुष्करचर्या, मारधर्षण, अभि-सम्वोधन और धर्मदेशना। जहाँतक इनका सम्वन्ध है, ललितविस्तर की कथा कुछ वहुत भिन्न

नहीं है। किन्तु, ललितविस्तर में अतिशयोक्ति की मात्रा अधिक है। २७वे परिवर्त्त में महायान-ग्रन्थों की परिपाटी के अनुसार ग्रन्थ के माहात्म्य का वर्णन है "जो इस धर्मपर्याय को सुनेंगे, वह वीर्यलाभ करेंगे, मार का धर्षण करेंगे। जो इस धर्मपर्याय की कथा वाचेंगे, जो कथा को सुनकर साधुकार देंगे, जो इस पुस्तक को लिखकर उसकी पूजा करेंगे, जो इसका विस्तार से प्रकाश करेंगे, वह विविध धर्मों का लाभ उठावेंगे, इस धर्मपर्याय की महिमा अनन्त है। यदि तथागत कल्प-भर रात-दिन इस धर्मपर्याय का माहात्म्य वर्णन करे, तो भी उसका अन्त न हो और तथागत के प्रति भाव का क्षय न हो।'

यह बहुत सम्भव मालूम होता है कि ललितविस्तर हीनयान के किसी प्राचीन मूलग्रन्थ का रूपान्तर है। सर्वास्तिवादियो के मतानुसार यह आरम्भ में बुद्धचरित का ग्रन्थ था, पीछे से महायान के रूप और आकार में परिणत और परिवर्द्धित हुआ। ग्रन्थ गद्यमय है, बीच-बीच मे गाथा उपन्यस्त है। कथाभाग प्राय गद्य मे ही है। अनेक गाथाएँ है, बड़े सुन्दर ग्राम्य-गीत हैं, जिनका समय सुत्तनिपात की गाथाओ के सदृश अति प्राचीन है। सातवें परिवर्त्त में वर्णित जन्म और असित कथा, सोलहवे परिवर्त्त मे वर्णित बिम्बिसारोपसंक्रामण, अट्ठारहवें परिवर्त्त में वर्णित मारसंवाद इसके उदाहरण है। यह गाथाएँ बुद्ध के कुछ शताब्दी के बाद की हैं। २६वें परिवर्त्त के कुछ गद्यभाग भी, जैसे वाराणसी का धर्मचक्र-प्रवर्त्तन, बौद्ध-आम्नाय के प्राचीनतम अंश है। दूसरी ओर अपेक्षाकृत नवीन भाग है, जो गद्य और गाथा मे लिखे गये हैं।

हमको यह ज्ञात नहीं है कि ललितविस्तर का अन्तिम संस्कार कब हुआ। पहले यह भूल से कहा जाता था कि ललितविस्तर का चीनी-अनुवाद ईसा की पहली शताब्दी मे हुआ था। वस्तुत, हम यह भी नही जानते कि जो बुद्धचरित चीनी-भाषा में धर्मरक्षित द्वारा सन् ३०८ में अनूदित हुआ था और जिसके बारे मे कहा जाता है कि यह ललितविस्तर का दूसरा अनुवाद है, सचमुच वह हमारे ग्रन्थ का अनुवाद भी है। संस्कृत का शुद्ध तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है, जिसका समय पाँचवी शती है। फूको ने इसका सम्पादन फ्रेंच-अनुवाद के साथ किया है। यह निश्चय है कि जिन रूपकारो ने (सन् ८५०-६०० ई०) जावा-स्थितबोरो बुदुर के मन्दिर को प्रतिमाओ से सुशोभित किया था, वह ललितविस्तर के किसी-न-किसी पाठ से, जो हमारे पाठ से प्राय अभिन्न था, अवश्य परिचित थे। शिल्प में बुद्ध का चरित इस प्रकार खचित है, मानो शिल्पी ललितविस्तर को हाथ मे लेकर इस कार्य मे प्रवृत्त हुए थे। जिन शिल्पियो ने उत्तर भारत मे बौद्ध-यूनानी कला-वस्तुओ को बुद्धचरित के दृश्यो से समलंकृत किया था, वह भी ललितविस्तर मे वर्णित बुद्धकथा से परिचित है।

अत, यह कहना उपयुक्त होगा कि ललितविस्तर मे पुरानी परम्परा के अनुसार बुद्ध-कथा वर्णित है तथा अपेक्षाकृत कई शताब्दी पीछे की कथा का भी सन्निवेश है। इसमें सन्देह नही कि ललितविस्तर से बुद्धकथा के विकास का इतिहास जाना जाता है। साहित्य की दृष्टि से इसका बड़ा गौरव है। ललितविस्तर में सुरक्षित गाथा और उसके कथांशो के आधार पर ही अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' नामक अनुपम महाकाव्य की रचना की थी।

अश्वघोष-साहित्य

सन् १८९२ ई० मे सिलवाँ लेवी ने 'बुद्धचरित' का प्रथम सर्ग प्रकाशित किया था। उस समय तक योरप में कोई यह नही जानता था कि अश्वघोष एक महान् कवि हो गया है। चीनी और तिब्बती आम्नाय के अनुसार अश्वघोष महाराज कनिष्क के समकालीन थे। बुद्ध-चरित का चीनी-अनुवाद पाँचवी शताब्दी के पूर्वभाग मे हुआ था। अश्वघोष का एक दूसरा ग्रन्थ 'शारिपुत्र-प्रकरण' है। प्रोफेसर लूडर्स के अनुसार इस ग्रन्थ के जो अवशेष पाये गये हैं, उनकी लिपि कनिष्क या हुविष्क के समय की है। जो प्रमाण उपलब्ध हैं, उनके आधार पर हम यह कहते हैं कि अश्वघोष कनिष्क के समकालीन या उनसे कुछ पूर्व के थे। चीनी-आम्नाय के अनुसार अश्वघोष का सम्बन्ध विभाषा से भी था। पहले तो हमको विभाषा का काल निश्चित रूप से नही मालूम है। हम यह भी नही कह सकते कि समग्र ग्रन्थ की रचना एक ही समय में हुई। पुन यह भी नही प्रतीत होता कि अश्वघोष विभाषा के सिद्धान्तो से परिचित थे। कनिष्क के समय मे जो धर्म-सगीति बताई जाती है, उसके अस्तित्व के बारे मे भी सन्देह है।

अश्वघोष की काव्य-शैली सिद्ध करती है कि वह कालिदास से कई शताब्दी पूर्व के थे। भास उनका अनुकरण करते हैं और उनका शब्द-भाण्डार यह सिद्ध करता है कि वह कौटिल्य के निकटवर्त्ती हैं।

अश्वघोष अपने को 'साकेतक' कहते हैं और अपनी माता का नाम 'सुवर्णाक्षी' बताते हैं। रामायण का उनके ग्रन्थो पर विशेष प्रभाव है, और वह इस बात पर जोर देते हैं कि 'शाक्य' इक्ष्वाकु-वश के थे। अश्वघोष ब्राह्मण थे। ब्राह्मणो के समान उनकी शिक्षा हुई थी। हमको यह नही मालूम है कि वह कैसे बौद्धधर्म मे दीक्षित हुए। किन्तु, उनके तीनो ग्रन्थ के विषय ऐसे हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि वह बौद्धधर्म के प्रचार मे बहुत व्यस्त थे। तिब्बती विवरण के अनुसार वह एक अच्छे सगीतज्ञ भी थे और गायको के साथ भ्रमण करते थे, और बौद्धधर्म का प्रचार गानो द्वारा करते थे। चीनी यात्री इत्सिग का कहना है कि उनके समय में बुद्धचरित का बडा प्रचार था और समस्त भारत मे तथा दक्षिण समुद्र के देशो (सुमात्रा, जावा आदि) में बुद्धचरित बडा लोकप्रिय था।

बुद्धचरित, सौन्दरनन्द और शारिपुत्र-प्रकरण--अश्वघोष के इन तीन ग्रन्थो से हम परिचित हैं। किन्तु, प्रथम सर्ग का ३/४ भाग, २–१३ सर्ग, तथा १४वें सर्ग का १/३ भाग ही मिलते हैं। बुद्धकथा भगवत्प्रसूति से आरम्भ होती है और सवेगोत्पत्ति, अभिनिष्क्रमण, मार-विजय, सम्बोधि, धर्मचक्र-प्रवर्त्तन, परिनिर्वाण आदि घटनाओ का वर्णन कर प्रथम धर्मसगीति और अशोक के राज्यकाल पर परिसमाप्त होती है। सौन्दरनन्द मे बुद्ध के भाई नन्द के बौद्धधर्म मे दीक्षित होने की कथा है। इस ग्रन्थ मे १८ सर्ग हैं। समग्र ग्रन्थ सुरक्षित है। शारिपुत्र-प्रकरण नाटक-ग्रन्थ है। इसमे ९ अक हैं। इसमे शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के बौद्धधर्म मे दीक्षित

होने की कथा वर्णित है। इसका कियदश ही प्राप्त है। इसका उद्धार प्रोफेसर लूडर्स ने किया है। यह तीनो ग्रन्थ एक ही ग्रन्थकार के रचे मालूम होते हैं। एक ही प्रकार के भाव और वाक्य वुद्धचरित और सौन्दरनन्द में वार-वार मिलते है। श्रीजान्सटन, जिन्होने वुद्धचरित का सम्पादन किया है, भूमिका में लिखते हैं कि मैं तवतक वुद्धचरित का सम्पादन नही कर सका, जवतक मैंने सौन्दरनन्द का पाठ ठीक तरह से निश्चित नही कर लिया। चीनी और तिव्वती-अनुवाद अश्वघोप को अन्य ग्रथो का भी रचयिता वताते हैं। टॉमस ने इन ग्रन्थो की सूची 'कवीन्द्रवचनसमुच्चय' में दी है; क्योकि सस्कृत-ग्रन्थ अप्राप्य है। इसलिए, उनके सम्वन्ध मे कुछ निश्चित रूप से कहना सम्भव नही है। किन्तु, वे ग्रन्थ, जिनका विपय मुख्यत दार्शनिक है, अथवा जिनमें महायान का विकसित रूप पाया जाता है, अश्वघोष के नही हो सकते, क्योकि अश्वघोप कवि और प्रचारक हैं, और उनका समय महायान के विकसित रूप से पूर्व का है। किन्तु, कुछ ऐसे सस्कृत-ग्रन्थ हैं, जिनके सम्वन्ध मे मत देना आवश्यक है।

प्रोफेसर लूडर्स को शारिपुत्र-प्रकरण के साथ दो नाटको के अश मिले थे, इनमें से एक के तीन श्लोक मिले हैं। इनकी शैली अश्वघोप की शैली से मिलती है। एक श्लोक में वुद्ध के ऋद्धि-वल का प्रदर्शन है और सौन्दरनन्द, सर्ग ३, श्लोक २२ से इसका साम्य है। दोनो में एक ही उपमा का प्रयोग किया गया है। क्या यह सम्भव है कि कोई दूसरा अश्वघोप की शैली की विशेषताओ का इतना अच्छा अनुकरण कर सकता? दूसरे नाटक में एक नवयुवक की कथा है, जिसका अनुचित सम्वन्ध मगधवती से हो गया, और जिसने वौद्धधर्म में दीक्षा ली। इस नाटक के रचयिता के सम्वन्ध में कुछ कहना कठिन है, क्योकि हमारे पास यह कहने के लिए पर्याप्त प्रमाण नही है कि यह ग्रन्थ भी अश्वघोप की रचना है।

तीन और ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनके रचयिता अश्वघोप वताये जाते है। इनमे से एक 'वज्र-सूची' है। इस ग्रन्थ की शैली अश्वघोष की शैली से सर्वथा भिन्न है। चीनी-अनुवाद के अनुसार धर्मकीर्त्ति इसके रचयिता हैं। इसकी सत्यता पर सन्देह करने का कोई कारण नही मालूम होता। कम-से-कम यह ग्रन्थ अश्वघोष का नही है। दूसरा ग्रन्थ 'गण्डी-स्तोत्र' है। इसमें २९ श्लोक हैं। अधिकाश श्लोको का छन्द स्रग्धरा है। २०वें श्लोक के अनुसार यह ग्रन्थ कश्मीर में लिखा गया, जव कि वहाँ का प्रवन्ध विगड गया था। शैली की दृष्टि से इसका अश्वघोष की कृतियो से कोई साम्य नही है। पुन यह ग्रन्थ कई शताव्दी पीछे का मालूम पडता है।

इत्सिग 'सूत्रालकार' नाम के ग्रन्थ का उल्लेख करते हैं, जिसे वह अश्वघोप का वताते हैं। सन् १९०८ ई० मे ई० ह्यूवर ने इस नाम से एक चीनी ग्रन्थ का अनुवाद प्रकाशित किया था, जिसे चीनी-अनुवादक अश्वघोप का वताते है। वाद को मध्य एशिया मे मूल सस्कृत के अश लूडर्स को मिले और उन्होने सिद्ध किया कि ग्रन्थकार का नाम वहाँ कुमारलात वताया गया है, और ग्रन्थ का नाम 'कल्पनामण्डितिका' है। इससे वडा विवाद उठ खडा हुआ। कई प्रसिद्ध विद्वानो ने अपना यह मत व्यक्त किया कि यह सग्रह या तो अश्वघोप का है अथवा कुमारलात ने अश्वघोप की किसी रचना को नया रूप दिया है। अव सामान्यत

विद्वान् इसपर सहमत है कि यह अश्वघोष की रचना नही है, हस्तलिखित पोथी का काल ही इसका निर्णय करने में पर्याप्त है।

यह निश्चित है कि अश्वघोष हीनयान के अनुयायी थे। चीनी आम्नाय के अनुसार वह सर्वास्तिवादी थे और पार्श्व (=पूर्ण या पूर्णाश) ने उनको बौद्धधर्म मे दीक्षित किया था। किन्तु, अश्वघोष विभाषा के सिद्धान्तो से अपरिचित थे। यदि वह सर्वास्तिवादी थे, तो वह ऐसे समय में रहे होगे, जब विभाषा के मुख्य सिद्धान्त स्थिर नही हुए थे। सौन्दरनन्द, १७वाँ सर्ग, श्लोक १८ देखिए—

यस्मादभूत्वा भवतीह सर्वं भूत्वा च भूयो न भवत्यवश्यम्।

सर्वास्तिवादी इसका प्रतिषेध करते है। यह विचार मज्झिमनिकाय (३।२५) के आधार पर है। पुन सौन्दरनन्द के १२वे सर्ग में श्रद्धा की बडी महिमा बताई गई है। इसकी समता केवल पूर्वकालीन महायान-सूत्र में पाई जाती है। श्रद्धा केवल धर्मच्छन्द नही है, यह बुद्ध के प्रति भक्ति है। सर्वास्तिवाद के आगमन मे इसका कोई महत्त्व नही है, किन्तु अश्वघोष इसपर बहुत जोर देते है। अश्वघोष कहते है—

श्रद्धाङ्कुरमिमं तस्मात् संवर्द्धयितुमर्हसि।
तद्वृद्धौ वर्द्धते धर्मो मूलबद्धो यथा द्रुम.।।४१।।

जहाँ वसुबन्धु सौन्दरनन्द के एक श्लोक का उद्धरण देते है, किन्तु अश्वघोष का उल्लेख नही करते, वही 'सप्तसिद्धि' के रचयिता हरिवर्मा अश्वघोष को प्रमाण मानते है। सत्य-सिद्धि (पूसें के अनुसार 'तत्त्वसिद्धि') के दो उद्धरण अश्वघोष की उक्तियो से मिलते-जुलते हैं, किन्तु उनका उल्लेख अभिधर्मकोश मे नही है। अनित्य के सम्बन्ध में इसमें कहा है कि धर्म अनित्य है, क्योकि उनके हेतु अनित्य है। सौन्दरनन्द, सर्ग १७, श्लोक १८ में इसी प्रकार की उक्ति है। पुन एक दूसरे स्थान पर कहा है—स्कन्ध, धातु, आयतन और हेतु-प्रत्यय सामग्री है और कोई कर्त्ता और भोक्ता नही है। ये विचार सौन्दरनन्द, सर्ग १७, श्लोक २० में पाये जाते है। इससे यह स्वाभाविक अनुमान है कि अश्वघोष या तो बहुश्रुतिक है या किसी ऐसे निकाय मे प्रपन्न है, जिससे बहुश्रुतिक निकले है। बहुश्रुतिक के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान वसुमित्र के ग्रन्थ पर आश्रित है। वसुमित्र के अनुसार बहुश्रुतिक दो वस्तुओ को छोडकर अन्य विषयो मे सर्वास्तिवादी थे। उनका विचार था कि अनित्य, दु ख, शून्य, अनात्मक और शान्त (=निर्वाण) के सम्बन्ध मे बुद्ध की शिक्षा लोकोत्तर है, क्योकि यह नि सरण-मार्ग है। सौन्दर-नन्द, सर्ग १७, श्लोक १७–२१ का मत सत्यसिद्धि के मत से मिलता है। अत, अश्वघोष बहुश्रुतिक है। बहुश्रुतिक महासाघिक की शाखा है और इसलिए यह महादेव के ५ वस्तुओ को स्वीकार करते है। इनमें से चतुर्थ के अनुसार अर्हत् पर-प्रत्यय से ज्ञान प्राप्त करते है, यह स्पष्ट है कि पर-प्रत्यय के लिए श्रद्धा अत्यन्त आवश्यक है। कोश के अनुसार यह व्यक्ति श्रद्धानुसारी है। जान्सटन का कहना है कि यहाँ हमको मालूम होता है कि अश्वघोष श्रद्धा पर क्यो इतना जोर देते है। जान्सटन इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि अश्वघोष बहुश्रुतिक या कौकुलिक है।

तारानाथ के अनुसार मातृचेट अश्वघोष का दूसरा नाम है। इत्सिंग का कहना है कि मातृचेट का स्तोत्र अत्यन्त लोकप्रिय था। इत्सिग ने स्वय इसका चीनी में अनुवाद किया था। सौभाग्य से मध्य एशिया मे मूलस्तोत्र का एक वहुत वडा भाग खोज में मिल गया है। मातृचेट अश्वघोष के वाद के हैं। इसी प्रकार, 'आर्यशूर', जिनकी जातकमाला प्रसिद्ध है, अश्वघोष के ऋणी है। जातकमाला ३४ जातक-कथाओ का सग्रह है। इनमें से लगभग सभी कथाएँ पालिजातक में पाई जाती हैं। इत्सिग जातकमाला की भी प्रशसा करता है और कहता है कि इसका उस समय वडा आदर था। अजन्ता की गुफाओं मे जातकमाला के दृश्य खचित हैं। आर्यशूर का समय चौथी शताव्दी है।

अवदान-साहित्य

अवदान (पालि = अपदान) शव्द की व्युत्पत्ति अज्ञात है, कम-से-कम विवाद-ग्रस्त है। ऐसा समझा जाता है कि इसका प्रारम्भिक अर्थ असाधारण, अद्भुत कार्य है। अवदान-कथाएँ कर्म-प्रावल्य को सिद्ध करने की दृष्टि से लिखी गई हैं। आरम्भ मे 'अवदान' का कोई भी अर्थ क्यो न रहा हो, यह असन्दिग्ध है कि प्राय इस शव्द का अर्थ कथामात्र रह गया है। 'महावस्तु' को भी 'अवदान' कहा है। अवदान-कथाओ का सवसे प्राचीन सग्रह अवदान-शतक है। तीसरी शताव्दी में इसका चीनी-अनुवाद हुआ था। प्रत्येक कथा के अन्त में यह निष्कर्ष दिया हुआ है कि शुक्ल कर्म का शुक्ल फल, कृष्ण का कृष्ण, और व्यामिश्र का व्यामिश्र फल होता है। इनमें से अनेक अवदानो मे अतीत जन्म की कथा दी है, जिसका फल प्रत्युत्पन्न काल में मिला। किसी-किसी अवदान में वोधिसत्त्व की कथा है, इन्हें हम जातक भी कह सकते है, क्योकि जातक मे वोधिसत्त्व के जन्म की कथा दी गई है, किन्तु कुछ ऐसे भी अवदान हैं, जिनमें अतीत की कथा नही पाई जाती। कुछ अवदान 'व्याकरण' के रूप में है, अर्थात् इनमे प्रत्युपन्न की कथा वर्णित कर अनागत फल का व्याकरण किया गया है।

अवदान-शतक—हीनयान का ग्रन्थ है। इसके चीनी अनुवादको का यह मत नही है, किन्तु इसके अन्तरग प्रमाण भी विद्यमान है। सर्वास्तिवाद-आगम के परिनिर्वाणसूत्र तथा अन्य सूत्रो के उद्धरण 'अवदान-शतक' में पाये जाते हैं। यद्यपि इसकी कथाओ में बुद्धपूजा की प्रधानता है, तथापि वोधिसत्त्व का उल्लेख नहीं मिलता। अवदान-शतक की कई कथाएँ अवदान के अन्य सग्रहो में और कुछ पालि-अपदानो भी पाई जाती है।

दिव्यावदान—का सग्रह वाद का है, किन्तु इसमें कुछ प्राचीन कथाएँ भी हैं। यह मूलत हीनयान का ग्रन्थ है, यद्यपि इसके कुछ अश महायान से सम्वन्ध रखते है। ऐसा विश्वास था कि इसकी सामग्री वहुत कुछ मूलसर्वास्तिवाद के विनय से प्राप्त हुई है। विनय के कुछ अशों के प्रकाशन से (गिलगिट-हस्तलिखित पोथी, जिल्द ३) यह वात अव निश्चित हो गई है। दिव्यावदान में दीर्घागम, उदान, स्थविरगाथा आदि के उद्धरण प्राय मिलते हैं। दिव्यावदान में विनय से अनेक अवदान शव्दश उद्धृत किये गये हैं। कही-कही वौद्ध भिक्षुओ की चर्या के नियम भी दिये गये हैं, जो इस दावे की पुष्टि करते हैं कि दिव्यावदान मूलत विनयग्रन्थ है।

इस ग्रन्थ की रचना में कोई योजना नहीं दीखती। भाषा और शैली भी एक प्रकार की नहीं है। अधिकाश कथाएँ सरल सस्कृत-गद्य में लिखी गई है। बीच-बीच में गाथाएँ उपन्यस्त हैं, किन्तु कुछ ऐसी भी कथाएँ है, जिनमें समासान्त पदो का बाहुल्य से प्रयोग किया गया है और प्रौढ काव्य के छन्द व्यवहृत हुए है। ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न भाग एक काल के नहीं है। कुछ ऐसे अश है, जो निश्चित रूप से तीसरी शताब्दी (ईसा) से पूर्व के हैं, किन्तु संग्रह चौथी शताब्दी से पूर्व का नहीं हो सकता। 'दीनार' शब्द का प्रयोग बार-बार आता है। इसमें शुंग-वश के राजाओ का भी उल्लेख है। पुन शार्दूल-कर्णावदान का अनुवाद चीनी-भाषा में सन् २६५ ई० में हुआ था। दिव्यावदान में अशोकावदान और कुमारलात की कल्पनामण्डितिका से अनेक उद्धरण हैं। दिव्यावदान की कई कथाएँ अत्यन्त रोचक हैं। उपगुप्त और मार की कथा और कुणालावदान इसके अच्छे उदाहरण है।

अवदान-शतक की सहायता से अनेक अवदान-मालाओ की रचना हुई। यथा. **कल्पद्रुमावदानमाला, अशोकावदानमाला। द्वाविंशत्यवदानमाला** भी अवदानशतक का ऋणी है। अवदानो के अन्य सग्रह **भद्रकल्यावदान** और **विचित्रकर्णिकावदान** हैं। इनमें से प्राय सभी अप्रकाशित हैं। कुछ केवल तिब्बती और चीनी-अनुवाद मिलते हैं।

क्षेमेन्द्र कवि की **अवदानकल्पलता** का उल्लेख करना भी आवश्यक है। इस ग्रन्थ की समाप्ति सन् १५०२ ई० में हुई। तिब्बत में इस ग्रन्थ का बडा आदर है। इस सग्रह में १०७ कथाएँ है। क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र ने ग्रन्थ की भूमिका ही नहीं लिखी, किन्तु एक कथा भी अपनी ओर से जोड दी। यह 'जीमूतवाहन-अवदान' है।

महायान-सूत्र

महायान-सूत्र अनेक हैं, किन्तु इनमें से कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनका विशेष रूप से आदर है। इनकी सख्या ९ है। ये इस प्रकार हैं—अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीक, ललित-विस्तर, लंकावतार, सुवर्णप्रभास, गण्डव्यूह, तथागतगुह्यक, समाधिराज और दशभूमीश्वर। इन्हें नेपाल में नवधर्म (धर्मपर्याय) कहते है। इन्हें वैपुल्यसूत्र भी कहते हैं। नेपाल में इनकी पूजा होती है।

सद्धर्मपुण्डरीक—महायान के वैपुल्य-सूत्रो का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ सद्धर्मपुण्डरीक है। महायान की पूर्ण प्रतिष्ठा होने के बाद ही सम्भवत इस ग्रन्थ की रचना हुई। इस ग्रन्थ का सम्पादन सन् १९१२ ई० में प्रो० एच्० कर्न और प्रो० बुनयिउ नजियो ने किया है। 'सद्धर्मपुण्डरीक' नाम के बारे मे एम्० अनिसाकी कहते हैं—'पुण्डरीक', अर्थात्, 'कमल' शुद्धता और पूर्णता का चिह्न है। पक मे उत्पन्न होने पर भी जिस प्रकार कमल उससे उपलिप्त नहीं होता, उसी प्रकार बुद्ध इस लोक मे उत्पन्न होने पर भी उससे निर्लिप्त रहते हैं। यह ग्रन्थ चीन, जापान आदि महायानधर्मी देशो में बहुत पवित्र माना जाता है। चीनी-भाषा में मूलग्रन्थ के छ अनुवाद हुए, जिनमें सबसे पहला अनुवाद ईसवी-सन् २२३ में हुआ। धर्मरक्ष, कुमारजीव, ज्ञानगुप्त और धर्मगुप्त इन आचार्यों के अनुवाद भी पाये जाते हैं। चीनी-परम्परा के अनुसार इस

ग्रन्थ पर बोधिसत्त्व वसुबन्धु ने सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र-शास्त्र नाम की टीका लिखी थी, जिसका अनुवाद बोधिरुचि और रत्नमति ने लगभग ५०८ ई० में चीनी-भाषा में किया था। चीन और जापान में सद्धर्मपुण्डरीक का कुमारजीव-कृत अनुवाद अधिक लोकप्रिय है और उसपर कई टीकाएँ लिखी गई हैं। ईसा के ६१५वें वर्ष मे जापान के एक राजपुत्र शी-तोकु-ताय-शि ने इसी ग्रन्थ पर एक टीका लिखी थी, जो आज भी बडे आदर से पढी जाती है। सद्धर्मपुण्डरीक का रचनाकाल यद्यपि निश्चित नही है, तथापि उसकी मिश्र-सस्कृत भाषा स्तूप-पूजा, बुद्ध-भक्ति आदि का विशेष वर्णन देखकर यह कहा जा सकता है कि 'महावस्तु' और ललितविस्तर, के बाद, किन्तु ईसा के प्रथम शतक के प्रारम्भ मे, इसकी रचना हुई है।

इस ग्रन्थ के अन्तिम सात अध्याय बाद को जोडे गये हैं। यदि हम इनका तथा अन्य क्षेपक स्थलो का विचार न करे, तो इस ग्रन्थ की रचना एक विशेष पद्धति के अनुसार हुई मालूम पडती है। यह महायान-धर्म के विशेष-सिद्धान्तो की एक अच्छी भूमिका है। साहित्य की दृष्टि से भी यह एक उच्च कोटि का ग्रन्थ है, यद्यपि इसकी शैली आज के लोगो को नही पसन्द आयगी। इसमें अतिशयोक्ति है, एक ही बात बार-बार दुहराई गई है। शैली सक्षिप्त न होकर विस्तार-बहुल है।

सद्धर्मपुण्डरीक मे कुल २७ अध्याय हैं, जिन्हे 'परिवर्त्त' कहा जाता है। पहले निदान-परिवर्त्त मे ग्रन्थ के निर्माण के विषय मे कहा गया है कि यह ग्रन्थ 'वैपुल्यसूत्रराज' है.

वैपुल्यसूत्रराज परमार्थनयावतारनिर्देशम्।
सद्धर्मपुण्डरीकं सत्त्वाय महापथं वक्ष्ये॥

सूत्र का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—एक समय भगवान् राजगृह मे गृध्रकूट-पर्वत पर अनेक क्षीणास्रव, बोधिसत्त्व, देव, नाग, किन्नर, असुर और राजा मागध अजातशत्रु से परिवेष्टित हो, 'महानिर्देश' नाम के धर्मपर्याय का उपदेश करके 'अनन्तनिर्देश-प्रतिष्ठान' नामक समाधि में स्थित हुए। उस समय भगवान् के उष्णीष-विवर से रश्मि प्रादुर्भूत हुई, जिससे सभी बुद्धक्षेत्र परिस्फुट हुए। इस आश्चर्य को देखकर मैत्रेय बोधिसत्त्व को ऐसा हुआ—'अहो! भगवान् का यह प्रातिहार्य किसी महानिमित्त को लेकर हुआ है।' मैत्रेय बोधिसत्त्व ने मंजुश्री बोधिसत्त्व से प्रार्थना की कि वे इसका रहस्य बतावें। मजुश्री बोधिसत्त्व ने बताया कि महाधर्म का श्रवण कराने हेतु, महाधर्म-वर्षा करने की इच्छा से, भगवान् यह प्राति-हार्य बता रहे हैं। पूर्वकाल मे भी चन्द्र, सूर्य, प्रदीप, नाम के तथागत हुए थे। उन्होने भी श्रावको को चतुरार्यसत्य-सम्प्रयुक्त प्रतीत्यसमुत्पाद-प्रवृत्त-धर्म का उपदेश दिया, जो दुःख का समतिक्रम करनेवाला था और निर्वाण-पर्यवसायी था। जो बोधिसत्त्व थे, उन्हें षट्पारमिताओ का तथा सर्वज्ञानपर्यवसायी धर्म का उपदेश दिया। वे भी महानिर्देश नाम के धर्म-पर्याय का उपदेश करने पर ऐसे ही समाधिस्थ हुए थे। उस समय उनके भी उष्णीष-विवर से ऐसी ही रश्मि प्रादुर्भूत हुई थी और उसके बाद उन्होने सर्वबुद्धो के परिग्रह से युक्त, सर्व-बोधिसत्त्वो की प्रशसा से समन्वित महावैपुल्यसूत्रान्त 'सद्धर्मपुण्डरीक' का उपदेश किया था। आज भी भगवान् इस समाधि से व्युत्थित होने पर 'सद्धर्मपुण्डरीक' का उपदेश करेगे।

भगवान् समाधि से व्युत्थित हुए और शारिपुत्र को सम्बोधित किया—'हे शारिपुत्र ! बुद्धो का ज्ञान, सम्यक् सम्बुद्धो का ज्ञान श्रावक और प्रत्येकबुद्धो के लिए दुर्विज्ञेय है। स्व-प्रत्यय से वे धर्म का प्रकाशन करते है और सत्त्वो के भिन्न-भिन्न स्वभाव के अनुसार विविध उपाय-कौशल्यो के द्वारा उनके दुःख का निवारण करते है।' भगवान् के इन वचनो को वहाँ उपस्थित आज्ञातकौण्डिन्य आदि अर्हत्, क्षीणास्रव महाश्रावको ने सुना। उन्हे आश्चर्य हुआ कि क्या कारण है कि आज भगवान् विना प्रार्थना किये ही स्वय कह रहे है कि बुद्ध-धर्म दुरनुवोध है ? भगवान् ने जो विमुक्ति वतलाई है, उस विमुक्ति को—निर्वाण को—तो हमने प्राप्त ही किया है। भगवान् कैसे कहते है कि बुद्ध-ज्ञान हमारे लिए दुर्विज्ञेय है ? शारिपुत्र ने भगवान् से प्रार्थना की कि वे अर्हतो के कुतूहल का, शका का, निवारण करे। भगवान् ने कहा—शारिपुत्र ! सुनो, मै कहता हूँ।

भगवान् के मुख से ये शब्द निकलते ही उस परिषद् से पाँच हजार आभिमानिक भिक्षु-भिक्षुणी, उपासक और उपासिकाएँ आसन से उठकर भगवान् को प्रणाम करके चले गये।

तब भगवान् ने कहा—अच्छा हुआ शारिपुत्र ! अब सघ शुद्ध है। सुनो। हे शारिपुत्र ! तथागत का सघभाष्य दुर्वोध्य है। नाना निरुक्ति और निदर्शनो से और विविध उपाय-कौशल्यो से मैने धर्म का प्रकाशन किया है। सद्धर्म तर्क-गोचर नही है। तथागत सत्त्वो को ज्ञान का प्रतिबोध कराने के लिए ही उत्पन्न होते है। यह महाकृत्य एक ही यान पर अधिष्ठित होकर बुद्ध करते है। यह यान है 'बुद्धयान'। इससे अन्य कोई दूसरा या तीसरा यान नही है। नाना अधिमुक्तियो के लिए और नाना धात्वाशय के सत्त्वो के लिए विविध उपाय-कौशल्य है, किन्तु उन सभी उपाय-कौशल्यो का पर्यवसान बुद्धयान मे ही है। यह बुद्धयान ही सर्वज्ञता-पर्यवसान, तथागत-ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति, उसका सदर्शन, अवतरण और प्रतिबोधन करनेवाला है। अतीत, अनागत और वर्त्तमान तीनो काल मे तथागतो ने बुद्धयान ही स्वीकृत किया है। हे शारिपुत्र ! जब सम्यक् सम्बुद्ध क्लेश, दृष्टि, सक्षोभ और अकुशलमूल के वाहुल्य से युक्त सत्त्वो के बीच पैदा होते है, तब बुद्धयान का ही तीन यानो के रूप मे निर्देश करते है। इसलिए, हे शारिपुत्र ! जो श्रावक, अर्हत् या प्रत्येकवुद्ध इस बुद्धयान को न सुनेगे या न मानेगे, वे न तो श्रावक है, न अर्हत् है और न प्रत्येकवुद्ध ही है। इसलिए, हे शारिपुत्र ! तुम विश्वास करो कि एक ही यान है 'बुद्धयान'

एक हि यान द्वितीय न विद्यते
....तृतिय हि नैवास्ति कदाचि लोके।
एकं हि कार्यं द्वितीयं न विद्यते
न हीनयानेन नयन्ति बुद्धा ॥ (२-५५)

यह दूसरा उपाय-कौशल्य-परिवर्त्त है। भगवान् का यह उपदेश सुनकर शारिपुत्र ने प्रमुदित होकर भगवान् को प्रणाम किया और कहा—"भगवन् ! आपका यह घोष सुनकर मै आश्चर्य-चकित हूँ। हे भगवन् ! मै वार-वार खिन्न होता हूँ कि मै हीनयान मे क्यो प्रविष्ट हुआ। अनागत काल मे बुद्धत्व प्राप्त करके धर्मोपदेश करने का मौका मैने गँवाया। किन्तु, भगवन् !

तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने भगवान् से पूछा—"भगवन्! यदि तीन यान वास्तव में नहीं है, तो श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्त्व यह तीन प्रज्ञप्तियाँ क्यों है?"

भगवान् ने कहा—"हे काश्यप! जिस प्रकार कुम्भकार एक ही मृत्तिका से अनेक भाजन बनाता है, उनमें से कोई गुड-भाजन, कोई घृत-भाजन और कोई क्षीर-भाजन होता है। इससे मृत्तिका का नानात्व तो नही होता, किन्तु द्रव्यप्रक्षेपमात्र से भाजनो का नानात्व होता है। इसी प्रकार हे काश्यप! बुद्धयान ही वास्तव मे एक यान है, दूसरा या तीसरा कोई यान नही है।"

तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने पूछा—"भगवन्! यदि सत्त्व नानाधिमुक्त हैं और वे त्रैधातुक मे नि सृत है, तो क्या उसका एक ही निर्वाण है या दो या तीन है?" भगवान् ने कहा—"काश्यप! सर्वधर्म-समतावबोध से ही निर्वाण होता है। वह एक ही है, दो या तीन नही।" महाकाश्यप आदि स्थविरो का यह वचन सुनकर भगवान् ने कहा—"साधु, साधु, महाकाश्यप! तुमने ठीक ही कहा है। हे काश्यप! तथागत धर्मस्वामी, धर्मराज और प्रभु हैं। वे सर्वधर्मों का युक्ति से प्रतिपादन करते हैं। जिस प्रकार इस त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु में पृथ्वी, पर्वत और गिरि-कन्दरो मे उत्पन्न हुए जितने तृण, गुल्म, ओषधि और वनस्पतियाँ हैं, उन सबको महाजल मेघ समकाल में वारिधारा देता है, वहाँ यद्यपि एक धरणी पर ही तरुण एव कोमल तृण, गुल्म, ओषधियाँ और महाद्रुम भी प्रतिष्ठित है और वे एक तोय से अभिष्यन्दित है, तथापि अपने-अपने योग्यतानुरूप ही जल लेते है और फल देते है। ठीक उसी प्रकार जब तथागत इस लोक मे उत्पन्न होकर धर्म-वर्षा करते है, तब बहुसहस्र सत्त्व उनसे धर्मश्रवण करने आते है। तथागत भी उन सत्त्वो के श्रद्धादि इन्द्रिय, वीर्य और परापरवैमात्रता को जानकर भिन्न-भिन्न धर्मपर्यायो का उपदेश करते है। सत्त्व भी यथाबल यथास्थान सर्वज्ञधर्म में अभियुक्त होते है। जिस प्रकार मेघ एक जल है, उसी प्रकार तथागत जिस धर्म का उपदेश देते है, वह सर्वधर्म एकरस है—विमुक्तरस, विरागरस, निरोधरस और सर्वज्ञ-ज्ञान-पर्यवसान है। इस सर्वज्ञ-ज्ञान-पर्यवसान धर्म का उपदेश देते समय तथागत श्रोताओ की हीन, मध्यम और उत्कृष्ट अधिमुक्ति को भी जानते है। इसलिए काश्यप! मैं निर्वाणपर्यवसान, नित्यपरिनिर्वृत्त, एकभूमिक और आकाशगतिक अधिमुक्ति को जानकर, सत्त्वो के रक्षण के लिए सहसा सर्वज्ञज्ञान को प्रकाशित नही करता। इसलिए, तुम मेरे आज के उपदेश को दुर्विज्ञेय मानते हो। इसलिए हे काश्यप! बोधि की प्राप्ति ही वास्तविक प्राप्ति है।"

प्रज्ञामध्यव्यवस्थानात्प्रत्येकजिन उच्यते।
शून्यज्ञानविहीनत्वाच्छ्रावक सम्प्रभाष्यते॥
सर्वधर्मावबोधात्तु सम्यक्सम्बुद्ध उच्यते।
तेनोपायशतैर्नित्यं धर्म देशेति प्राणिनाम्॥ (५।२-७३)

यह ओषधी-परिवर्त्त नाम का पचम परिवर्त्त है।

व्याकरण-परिवर्त्त नाम के छठे परिवर्त्त मे अनेक श्रावकयान के स्थविरो के बारे मे व्याकरण किया गया है। बुद्ध कहते है कि "श्रावक काश्यप भविष्य मे 'रश्मिप्रभास' नाम के तथागत होंगे, स्थविर सुभूति 'शशिकेतु' नाम के तथागत होंगे, महाकात्यायन 'जाम्बूनदप्रभास' नाम के

तथागत होगे और स्थविर महामौद्गल्यायन 'तमालपत्रचन्दनगन्ध' नाम के तथागत होगे।" इत्यादि।

पूर्वयोग-परिवर्त्त नाम के सप्तम परिवर्त्त मे अतीतकाल के एक महाभिज्ञाज्ञानाभिभू नाम के तथागत का और उनकी चर्या का वर्णन है। पचभिक्षुशतव्याकरण-परिवर्त्त मे पूर्ण मैत्रायणीपुत्र आदि अनेक भिक्षुओ की बुद्धत्व-प्राप्ति का व्याकरण किया गया है। नवम व्याकरण-परिवर्त्त मे आयुष्मान् आनन्द, राहुल आदि दो सहस्र श्रावको के बारे मे भी वुद्धत्व-प्राप्ति का व्याकरण है। दशम धर्मभागक-परिवर्त्त मे भगवान् कहते है कि इस परिषद् मे जिस किसी ने इस धर्मपर्याय की एक भी गाथा सुनी हो या एक चित्तोत्पाद से भी इसकी अनुमोदना की हो, वे सभी अनागत काल मे बुद्धत्व को प्राप्त करेंगे। एकादश स्तूपसन्दर्शन-परिवर्त्त में वताया गया है कि इस धर्मपर्याय के उपदेश के वाद भगवान् के सामने ही परिषद् के मध्य से एक सप्तरत्नमय स्तूप अभ्युद्गत हुआ और अन्तरिक्ष मे प्रतिष्ठित हुआ। भगवान् ने कहा—"हे वोधिसत्त्व! इस महास्तूप में तथागत का शरीर स्थित है, उसी का यह स्तूप है। इस परिवर्त्त मे भगवान् के अनेक प्रातिहार्य वताये गये है, जो अद्भुत धर्म है। इस स्तूप में भी वुद्ध का एक विश्वरूपदर्शन जैसा दर्शन प्राप्त होता है। उसका दर्शन सागर-नागराज की कन्या को हुआ, जिसने परमभक्ति से अपनी महार्घ-मणि भगवान् को समर्पित किया। उसी क्षण सर्वलोक के सामने उस नागकन्या का स्त्रीन्द्रिय अन्तर्हित हुआ और पुरुषेन्द्रिय प्राप्त हुआ। वह वोधिसत्त्व के रूप मे स्थित हुई।" बारहवे उत्साह-परिवर्त्त में अनेक वोधिसत्त्व और भिक्षु भगवान् से कहते है—"भगवन्! आप इस धर्मपर्याय के विषय में अल्पोत्सुक हो। हम तथागत के परिनिर्वृत्त होने पर इस धर्मपर्याय को प्रकाशित करेंगे। यद्यपि भगवन्! अनागत काल मे सत्त्व परीत्तकुशल-मूल और अधिमुक्ति-विरहित होगे, तथापि हम शान्तिबल को प्राप्त करके इस सूत्र को धारण करेंगे, उपदेश करेंगे, उसे लिखेगे। अपने काय और जीवित का उत्सर्ग करके भी हम इस सूत्र का प्रकाशन करेगे। भगवान् इस विषय मे अल्पोत्सुक, निश्चिन्त हो।"

उस समय महाप्रजापती गोतमी और भिक्षुणी राहुल-माता यशोधरा उसी परिषद् में दुखी होकर वैठी थी कि भगवान् ने हमारे वारे में बुद्धत्व का व्याकरण क्यो नही किया। भगवान् ने उनके चित्त का विचार जानकर कृपा से उनका भी व्याकरण किया।

सुखविहार-परिवर्त्त नाम के त्रयोदश परिवर्त्त मे भगवान् वताते है कि जो वोधिसत्त्व आचारगोचर में प्रतिष्ठित हो, सुख-स्थित हो, धर्मप्रेम से पूर्ण हो और मैत्री-विहार से युक्त हो, ऐसा ही वोधिसत्त्व इस धर्मपर्याय का उपदेश करने योग्य है।

चतुर्दश वोधिसत्त्व-पृथिवी-विवर-समुद्गम-परिवर्त्त में गगानदीवालुकोपम सख्या के वोधिसत्त्वो का दर्शन होता है। तथागतायुष्प्रमाण-परिवर्त्त नामक पन्द्रहवे परिवर्त्त में वुद्ध के लोकोत्तर भाव का परिचय मिलता है।

वहाँ भगवान् कहते है—"हे कुलपुत्रो! लोग ऐसा मानते है कि भगवान् शाक्यमुनि ने शाक्यकुल से अभिनिष्क्रमण करके गया मे वोधिमण्ड के नीचे अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति की है। हे कुलपुत्र! ऐसा नही है। अनेक कोटि कल्पो के पहले ही मैंने सम्यक् सम्वोधि की

प्राप्ति की है। जब से मैंने इस लोकधातु में सत्त्वों को धर्मोपदेश देना प्रारम्भ किया है, तब से आजतक मैंने जिन सम्यक् सम्बुद्धों का परिकीर्त्तन किया है, दीपकर प्रभृति तथागतों के निर्वाण का जो वर्णन किया है, वह सब मैंने उपाय-कौशल्य से धर्मदेशना के लिए ही किया है। जो सत्त्व अल्पकुशलमूल-सयुक्त हैं, उन्हें मैं कहता हूँ कि मै दहर हूँ, अभी ही मैंने सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति की है। यह मेरा कहना केवल सत्त्वों के परिपाचनार्थ ही है। सत्त्वों के विनय के लिए ही ये सर्वधर्मपर्याय हैं। सत्त्वों के ही उपकार के लिए तथागत आत्मालम्बन या परालम्बन से उपदेश देते हैं। किन्तु, तथागत ने सत्य का दर्शन किया है कि यह त्रैधातुक न भूत है, न अभूत, न सत् है, न असत्, न ससार है, न निर्वाण। वस्तुत, भगवान् चिरकाल से अभिसम्बुद्ध हैं और अपरिमित आयु में स्थित हैं। तथागत अपरिनिर्वृत्त हैं, केवल वैनेयवश होकर परिनिर्वाण को बताते हैं।"—अपरिनिर्वृत्तस्तथागत परिनिर्वाणमादर्शयति वैनेयवशेन। "तथागत का प्रादुर्भाव दुर्लभ है। यह बताने से वे लोग वीर्यारम्भ में उत्साहित होते हैं। इसीलिए, मैं परिनिर्वाण को प्राप्त न होते हुए भी परिनिर्वाण को प्राप्त होता हूँ। यह मृषावाद नही है, यह महाकरुणा है।"

सोलहवाँ पुण्यपर्याय-परिवर्त्त है। सत्रहवाँ अनुमोदना-पुण्यनिर्देश-परिवर्त्त है। उसमे कहा है कि जो इस सूत्र की अनुमोदना करेगा, वह शक्रासन और ब्रह्मासन का लाभी होगा। अट्ठारहवे धर्मत्राणकानुगम-परिवर्त्त मे इस सूत्र के धर्मभाणक के गुणों का वर्णन है। उन्नीसवे सदापरिभूत-परिवर्त्त में इस सूत्र के निन्दकों के विपाक बताये गये हैं। बीसवाँ तथागत-धर्माभिसम्कार-परिवर्त्त है। इक्कीसवें धारणी-परिवर्त्त में इस धर्मपर्याय की रक्षावरणगुप्ति के लिए अनेक धारणी-मन्त्र दिये गये हैं। बाईसवे भैषज्यराज-पूर्वयोग-परिवर्त्त मे भैषज्यराज बोधिसत्त्व की चर्या का वर्णन है। तेईसवे गद्गद्स्वर-परिवर्त्त मे गद्गदस्वर बोधिसत्त्व का सवाद है। चौबीसवें समन्तमुख-परिवर्त्त मे अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की महिमा का अद्भुत वर्णन है। भक्तिमार्ग की चरम कोटि यहाँ मिलती है। पच्चीसवे शुभ-व्यूहराज-पूर्वयोग-परिवर्त्त में शुभव्यूह नाम के राजा की कथा है। छब्बीसवे समन्तभद्रोत्साहन-परिवर्त्त मे बताया गया है कि समन्तभद्र नामक अन्य बुद्धक्षेत्र बोधिसत्त्व सद्धर्मपुण्डरीक के श्रवण के लिए गृद्धकूट-पर्वत पर आता है। अन्तिम परिवर्त्त का नाम है अनुपरीन्दना-परिवर्त्त। सद्धर्मपुण्डरीक का उपदेश करने पर भगवान् धर्मासन से उठे और उन्होंने सभी बोधिसत्त्वों का सम्बोधन करके कहा—"हे कुलपुत्रो! असख्य कल्पो से सम्पादित इस सम्यक्-सम्बोधि को मैं तुम्हें सौंपता हूँ।" वह जैसे विपुल और विस्तार को प्राप्त हो, ऐसा करो। सभी बोधिसत्त्वों ने भगवान् का अभिनन्दन किया। यहाँ सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र समाप्त होता है।

सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र के इस सक्षिप्त अवलोकन से महायान बौद्धधर्म का हीनयान से सम्बन्ध स्पष्ट होता है। शारिपुत्र, मौद्गल्यायन जैसे धुरीण स्थविर अर्हतों को बुद्धयान की दीक्षा देने के लिए भगवान् ने यह द्वितीय धर्मचक्रप्रवर्त्तन किया है। पालिग्रन्थों में भगवान् का उपदेश दो प्रकार का बताया जाता है। एक केवल शीलकथा, दानकथा आदि उपासकोचित धर्म की देशना है, दूसरी 'सामुक्कसिका धम्मदेसना' है, जिसमें चतुरार्यसत्य का उपदेश है,

जो भिक्षु होने योग्य व्यक्तियो को दिया जाता है। सद्धर्मपुण्डरीक मे चतुरार्यसत्य की देशना और सर्वज्ञ-ज्ञान-पर्यवसायी देशना—ये दो देशनाएँ है। यह द्वितीय देशना भगवान् ने शारिपुत्र को पहले ही क्यो नही दी? इसका उत्तर यह है कि यह भगवान् का उपायकौशल्य है। द्वितीय देशना ही परमार्थ-देशना है। इस द्वितीय धर्मचक्र-प्रवर्त्तन मे शारिपुत्र आदि सभी महास्थविर अर्हतो को तथा महाप्रजापती गोतमी आदि स्थविराओ को आश्वासन दिया गया है कि वे सभी भविष्य मे बुद्धत्व को प्राप्त होगी। हीनयान में उपदिष्ट धर्म भी बुद्ध का ही है। उसे एकान्ततः मिथ्या नही कहा है। वह केवल उपाय-सत्य है। परमार्थ-सत्य तो बुद्धयान ही है। इस प्रकार, महावस्तु और ललितविस्तर मे ही हम भगवान् का लोकोत्तर स्वरूप देखते है। सद्धर्मपुण्डरीक मे यह स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है।

सद्धर्मपुण्डरीक मे यद्यपि बुद्धयान और तथागत की महिमा का प्रधान वर्णन है तथापि इस ग्रन्थ के कुछ अध्यायो मे अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्त्वो को बुद्ध के तुल्य स्थान दिया गया है। समन्तमुख-परिवर्त्त नाम के चौबीसवें परिवर्त्त मे अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व की महाकरुणा का अद्भुत वर्णन है। अन्य बोधिसत्त्व और अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व मे अन्तर यह है कि अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व ने बोधि की प्राप्ति की है, किन्तु जबतक ससार का एक भी सत्त्व दु ख मे बद्ध रहेगा, तबतक निर्वाण प्राप्त न करने का उनका सकल्प है। वास्तव मे वे बुद्ध ही है, किन्तु जिस प्रकार अन्य बुद्ध निर्वाण को यथासमय प्राप्त होते है, उस प्रकार अवलोकितेश्वर निर्वाण में प्रवेश न करेंगे। वे सदा बोधिसत्त्व की साधना से सम्पन्न है। इससे उनकी श्रेष्ठता कम नही होती। सद्धर्मपुण्डरीक मे कहा है—

यच्च कुलपुत्रं द्वाषष्ठीनां गङ्गानदीवालुकासमाना बुद्धाना भगवता सत्कारं कृत्वा पुण्याभिसंस्कारो यश्चावलोकितेश्वरस्य बोधिसत्त्वस्य महासत्त्वस्यान्तश एकमपि नमस्कारं कुर्यान्नामधेयं च धारयेत्ससोऽनधिकोऽनतिरेक पुण्याभिसंस्कार उभयतो भवेत्।

(सद्धर्म०, परिवर्त्त २४)

अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व का नाममात्र भी अनेक दु खो और आपदाओ से रक्षण करता है। महान् अग्निस्कन्ध से, वेगवती नदी के भय से, समुद्र-प्रवास के समय कालिकावात से रक्षण करने की शक्ति एकमात्र अवलोकितेश्वर के नामोच्चारण मे है। अवलोकितेश्वर की भक्ति मे बोधिसत्त्व-उपासना का प्रबल प्रारम्भ हम देखते है।

कारण्ड-व्यूह—कारण्ड-व्यूह नाम के एक महायानसूत्र मे इस बोधिसत्त्व की महिमा का गान है। इसे गुण-कारण्ड-व्यूह भी कहते है। यह ग्रन्थ गद्य और पद्य दोनो मे मिलता है। गद्य कारण्ड-व्यूह को सत्यव्रतसामश्रमी ने ई० १८७३ मे प्रकाशित किया था। पद्य कारण्ड-व्यूह में एक विशेष सिद्धान्त का उल्लेख है। सद्धर्मपुण्डरीक में ही गौतमबुद्ध की, अनेक कल्पो के पहले ही, वीतरागता या बुद्धत्व की प्राप्ति का वर्णन मिलता है। पद्य कारण्ड-व्यूह मे 'आदिबुद्ध' की कल्पना मिलती है। योगदर्शन के नित्यमुक्त और सर्वज्ञ ईश्वर की कल्पना से यह कल्पना मिलती-जुलती है। इतना ही नही, यह आदिबुद्ध जगत् का कर्त्ता भी है। समस्त विश्व के

प्रारम्भ में 'स्वयम्भू' या 'आदिनाथ' नाम के 'आदिबुद्ध' प्रकट हुए और उन्होने समाधि से विश्व को निर्मित किया। उनके सत्त्व में से अवलोकितेश्वर की उत्पत्ति हुई, जिसके शरीर से देवो को सृष्टि हुई। यहाँ हमें पुराणो का-सा वर्णन दृष्टिगोचर होता है। मैत्रेयनाथ अपने महायानसूत्रालकार (९।७७) में कहते है कि 'आदिबुद्ध' कोई नही है। इस खण्डन से, अनुमान होता है कि आदिबुद्ध की कल्पना ईसा की चौथी शती से पहले की है। अवलोकितेश्वर भक्ति-सम्प्रदाय इस समय में खूब प्रचलित था। इसका प्रमाण यह है कि चीनी पर्यटक फाहियान ने (जो ईसा की चौथी शती में भारत आया था) लका से चीन जाते समय समुद्र-प्रवास में तूफान से वचने के लिए अवलोकितेश्वर की प्रार्थना की थी। अवलोकितेश्वर के अनेक चित्र और मूर्तियाँ मिली है, जिनका समय ५वी शती के समीप का माना जाता है। इस पद्य-ग्रन्थ का तिव्वती-अनुवाद नही मिलता है, किन्तु गद्य-कारण्ड-व्यूह का तिव्वती-भाषान्तर ईसवी-सन् ६१६ मे हुआ था, जिसमे आदिबुद्ध का उल्लेख नही है।

कारण्ड-व्यूह में अवलोकितेश्वर की महाकरुणा के अनेक वर्णन हैं। वह अवीचि नरक में जाकर नारकियो को दु:ख से वचाती है। वह प्रेत, भूत तथा राक्षसो को भी सुख पहुँचाती है। अवलोकितेश्वर केवल करुणामूर्त्ति ही नही है। वह सृष्टि का स्रष्टा भी है। उनका रूप विराट् है। उसकी आँखो से सूर्य और चन्द्र, भ्रू से महेश्वर, भुजाओ से ब्रह्मन् आदि देव, हृदय से नारायण, अन्त्य दन्तो से सरस्वती, मुख से मरुत्, पैरो से पृथिवी और पेट से वरुण उत्पन्न हुए है। उसकी उपासना स्वर्गापवर्ग की प्रापक है। कारण्ड-व्यूह में हम तन्त्र और मन्त्रो को भी पाते है। 'ॐ मणिपद्मे हु' यह षडक्षर मन्त्र, जो आज भी तिव्वत में प्रतिष्ठा-प्राप्त है, पहली वार कारण्ड-व्यूह मे मिलता है। कुछ विद्वानो के अनुसार मणिपद्मा अवलोकितेश्वर की अर्धांगिनी है। इस प्रकार, कारण्ड-व्यूह में हमे आदिबुद्ध, स्रष्टा-बुद्ध और मन्त्र-तन्त्रो से समन्वित बौद्धधर्म का और भक्तिमार्ग का दर्शन होता है।

अक्षोभ्य-व्यूह एव करुणा-पुण्डरीक—'अक्षोभ्यव्यूह' और 'करुणा-पुण्डरीक' नाम के और दो सूत्र-ग्रन्थो में अनुक्रम मे वुद्ध अक्षोभ्य और पद्मोत्तर के लोको का वर्णन मिलता है। ये दोनो ग्रन्थ ईसा की चौथी शती के पहले चीनी-भाषा में अनूदित हुए थे। वोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर से सम्वद्ध एक वुद्ध है, जिन्हे अमिताभ कहते है।

सुखावती-व्यूह—सुखावती-व्यूह नामक महायान-सूत्र में वुद्ध अमिताभ के सुखावती लोक का वर्णन है। सस्कृत में इसके दो ग्रन्थ उपलब्ध है। एक ग्रन्थ विस्तृत है और दूसरा सक्षिप्त। पहले का प्रकाशन और अँगरेजी-भाषान्तर मैक्समूलर ने, दूसरे का फ्रेंच-भाषान्तर भी जापानी विद्वानो ने किया।

'पुण्यसम्भार' की कल्पना सुखावती-व्यूह में अधिक प्रवल है। सुखावती, यह बौद्धो का नन्दनवन है, जहाँ वुद्ध अमिताभ का, जिन्हे अमितायु भी कहते है, राज्य है। जो व्यक्ति पुण्यसम्भार को प्राप्त करके मृत्यु के समय वृद्ध अमिताभ का चिन्तन करता है, वह इस बुद्धलोक

को प्राप्त होता। इस बुद्धलोक में नरक, प्रेत, असुर और तिर्यंच-लोक का अभाव है। वहाँ सदाकाल दिन है, रात्रि नही है। सुखावती मे गर्भज जन्म नही है। वहाँ सभी सत्त्व औपपादुक है और कमलदल से उद्भूत है। यहाँ के सत्त्व पाप से सर्वथा विरत हैं और प्रज्ञा से सयुक्त हैं।

दीर्घ सुखावती-व्यूह के कुल बारह भाषान्तर चीनी-भाषा मे हुए थे, जिनमे से आज केवल पाँच ही चीनी-त्रिपिटक में उपलब्ध है। इनमे से सबसे पुराना भाषान्तर ई० सन् १४७ और १८६ के बीच का है। सक्षिप्त सुखावती-व्यूह का चीनी-भाषान्तर कुमारजीव, गुणभद्र और युआन-च्वाग ने किया था। 'अमितायुर्ध्यानसूत्र' नामक एक और ग्रन्थ चीनी-भाषा मे उपलब्ध है, जिसमे सुखावती को प्राप्त करने के लिए अनेक ध्यानो का वर्णन है। शताब्दियो से ये तीन ग्रन्थ चीन और जापान के अमितायु के उपासक बौद्धो के पवित्र ग्रन्थ माने जाते हैं। वहाँ आज भी अमिद के नाम से अमितायु की पूजा प्रचलित है और जापान मे जोडो-शु और शिन्-शु ये दो बौद्ध सम्प्रदाय केवल अमितायु के ही उपासक हैं।

आर्यबुद्धावतसक—बोधिसत्त्व-उपासना का परम प्रकर्ष हम 'आर्यबुद्धावतसक' नाम के महायान-सूत्र मे पाते है। इस ग्रन्थ का उल्लेख महाव्युत्पत्ति (६५।४) में आता है। चीनी-त्रिपिटक और तिब्बती-काजुर मे अवतसक-साहित्य पाया जाता है। इस नाम का एक बौद्धनिकाय ईसा की छठी शती मे उत्पन्न हुआ। उसी का यह पवित्र ग्रन्थ है। जापान का केगोन (kegon)-निकाय भी इसे मान्यता देता है। चीनी-परम्परा के अनुसार छ भिन्न-भिन्न अवतसक-सूत्र थे, जिनमे छत्तीस हजार से लेकर एक लक्ष गाथाओ का सग्रह है। इनमे से छत्तीस हजार गाथाओ का चीनी-भाषान्तर बुद्धभद्र ने अन्य भिक्षुओ के सहयोग से ई० ४१८ मे किया था। शिक्षानन्द ने ४५,००० गाथा-ग्रन्थ का भाषान्तर सातवी शती मे किया था। अवतसक-सूत्र मूल सस्कृत मे अभी उपलब्ध नही है। किन्तु 'गण्ड-व्यूह-महायानसूत्र' नामक ग्रन्थ सस्कृत मे मिला है, जो चीनी-अवतसक-सूत्र से मिलता जुलता है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन डॉक्टर सुजूकी ने कियोटो से सन् १९३४ ई० में किया था।

गण्ड-व्यूह—बोधिसत्त्व-उपासना के अध्ययन मे गण्ड-व्यूह-महायानसूत्र महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थ का प्रारम्भ इस प्रकार है। एक समय भगवान् श्रावस्ती के जेतवन मे महाव्यूह-कूटागार मे विहार करते थे। उनके साथ समन्तभद्र, मजुश्री आदि प्रमुख पाँच हजार बोधिसत्त्व थे। ये सभी बोधिसत्त्व 'समन्तभद्र-बोधिसत्त्व-चर्या' मे प्रतिष्ठित थे। वे सर्वज्ञाता ज्ञानाभिलाषी थे। उन्होंने इच्छा की कि भगवान् उन्हे 'पूर्वसर्वज्ञता-प्रस्थान' आदि अनेक चर्याएँ तथा 'तथागत-सर्व-सत्त्वदेशनानुशासनी प्रातिहार्य' आदि अनेक प्रातिहार्य बताये। तब भगवान्—सिंहविजृम्भित नाम की समाधि में समाहित हुए और उसी समय अवर्णनीय प्रातिहार्य दिखलाई पडे। जिन्हे देखने के लिए आगे दिशाओ के सहस्रो बोधिसत्त्व वहाँ आकर उपस्थित हुए। वहाँ उपस्थित सभी बोधि-सत्त्वो ने इस महान् प्रातिहार्य को देखा। वही पर शारिपुत्र, मौद्गल्यायन, महाकाश्यप आदि

प्रमुख महाश्रावक उपस्थित थे। लेकिन वे इस अद्भुत प्रातिहार्य को देख न सके। जिस प्रकार गंगा महानदी के दोनो तीर पर सैंकड़ो प्रेत क्षुत्पिपासा से पीडित होकर भ्रमण करते है, किन्तु उस गंगानदी के जल को नही देख सकते, या देखते भी है, तो उसे निरुदक और शुष्क ही देखते है, उसी प्रकार वे स्थविर महाश्रावक जेतवन मे स्थिर होने पर भी सर्वज्ञताविपक्षिक अविद्या के पटल के कारण तथा सर्वज्ञताभूमि-कुशलमूल के अपरिग्रह के कारण तथागत के उस महान् प्रातिहार्य को देख न सके। तब समन्तभद्र बोधिसत्त्व ने उस बोधिसत्त्व-परिषद् को भगवान् की इस महान् समाधि और प्रातिहार्य का प्रकाशन और उपदेश किया। तब भगवान् ने उन बोधिसत्त्वो को सिंह-विजृम्भित समाधि मे सनियोजन करने के हेतु भ्रूविवरान्तर के उर्णकोश से 'धर्मधातु-समन्तद्वार-विज्ञप्ति-त्र्यध्वावभास' नामक रश्मि निश्चारित किया, जिससे दसो दिशाओ के सर्वलोकधातु का अवभासन हुआ। उन बोधिसत्त्वो ने बुद्धानुभाव से वही बैठकर दसो दिशाओ के लोकधातु का विशद दर्शन किया। तब उन्होने दशदिग्लोकधातु मे सहस्रो बोधिसत्त्वो को देखा, जो सर्वसत्त्वो को महाकरुणा से प्लावित करते थे। कोई बोधिसत्त्व श्रमण रूप से, कोई ब्राह्मण रूप से, कोई वणिक् रूप से, कोई वैद्य, नर्त्तक या अन्य शिल्पाधार रूप से सर्वग्राम, निगम, नगर, जनपद, राष्ट्रो मे अनन्त सत्त्वो के हित के लिए प्रवृत्त थे। सत्त्वपरिपाक-विनय के हेतु से ये बोधिसत्त्वचर्या में प्रवृत्त थे। तब मजुश्री बोधिसत्त्व भी अनेक देव, देवता और बोधिसत्त्वो के परिवार के साथ अपने विहार से निकले और भगवान् की पूजा करके सत्त्वपरिपाक के हेतु दक्षिणापथ की ओर विहार करने लगे।

तब आयुष्मान् शारिपुत्र ने बुद्धानुभाव से मजुश्री बोधिसत्त्व की कृपा से इस विहार को देखा और भगवान् को प्रणाम कर साठ भिक्षुओ के साथ उन्होने मजुश्री बोधिसत्त्व का अनुगमन किया। प्रवास मे शारिपुत्र ने मजुश्री बोधिसत्त्व की महान् विभृति की प्रशंसा की। जैसे-जैसे शारिपुत्र उनका गुणकीर्त्तन करते, वैसे-वैसे उन साठ भिक्षुओ के चित्त प्रसाद को प्राप्त होते थे। बुद्धधर्मों में उनके चित्त परिणत हुए। उन्होने मजुश्री के चरणो को प्रणाम किया और उनसे प्रार्थना की कि उनको भी इस बोधिसत्त्व-विभूति की प्राप्ति हो।

तब मजुश्री बोधिसत्त्व ने उन भिक्षुओ को कहा—भिक्षुओ! दस प्रकार के चित्तोत्पाद के समन्वागम से महायान-सम्प्रस्थित कुलपुत्र तथागतभूमि को प्राप्त होता है। सर्व-तथागत-दर्शन-पर्युपासन और पूजा-स्थान में, सर्वकुशल-मूलो के उपचय मे, सर्वधर्म-पर्येषण में सर्वबोधिसत्त्व-पारमिताप्रयोग मे, सर्वबोधिसत्त्व-समाधि-परिनिष्पादन मे, सर्व-अध्वपरम्परावतार में दशदिक्सर्व-बुद्धक्षेत्र-समुद्रस्फरणपरिशुद्धि मे, सर्वसत्त्वधातुपरिपाकविनय मे, सर्वक्षेत्रकल्प-बोधिसत्त्वचर्या-निर्हार मे, सर्वबुद्धक्षेत्र-परमाणुरज समपारमिताप्रयोग से एक करके सर्वसत्त्व धातुओ को परि-मोचन करनेवाले बल के निष्पादन मे जो कुलपुत्र प्रसादयुक्त चित्तोत्पाद करता है, वही तथागतभूमि को प्राप्त होता है।

मजुश्री से इस धर्मनय को सुनकर वे भिक्षु—'सर्वबुद्धविदर्शनासंगविषय' नाम के समाधि को प्राप्त हुए। उसके अनुभाव से उन्होने दसो दिशाओ के तथागतो का और सत्त्वो का

दर्शन किया। उन लोकधातुओ के प्रत्येक परमाणु तक का उन्हे दर्शन हुआ। इस प्रकार, सर्वबुद्धधर्मो की परिनिष्पत्ति मे वे भिक्षु प्रतिष्ठित हुए।

तब मजुश्री बोधिसत्त्व ने उन भिक्षुओ को सम्यक्सम्बोधि मे प्रतिष्ठित करके दक्षिणापथ के धन्याकर नाम के महानगर की ओर प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचने पर उन्होने 'धर्मधातु-नयप्रभास' नाम के सूत्रान्त का प्रकाशन किया। वहाँ उनकी परिषद् मे सुधन नाम का एक श्रेष्ठिपुत्र बैठा था। उसने मजुश्री बोधिसत्त्व से इस सूत्रान्त को सुना। अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि की अभिलाषा से उसका चित्त व्याकुल हुआ और उसने मजुश्री के पास बोधिसत्त्व-चर्या की पूर्त्ति के उपदेश की प्रार्थना की।

मजुश्री ने सुधन श्रेष्ठिपुत्र का साधुकार किया और कहा—साधु! साधु! कुलपुत्र! यह अभिनन्दनीय है कि तुमने अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि मे चित्त उत्पन्न किया है और अब बोधिसत्त्व-मार्ग को पूर्ण करना चाहते हो। हे कुलपुत्र! सर्वज्ञता-परिनिष्पत्ति का आदि और निष्यन्द है—कल्याण-मित्रो का सेवन, भजन और पर्युपासन। इसी से हे कुलपुत्र! बोधिसत्त्व के 'समन्तभद्रचर्यामण्डल' की परिपूर्णता होती है। हे कुलपुत्र! इसी दक्षिणापथ के रामावर्त्तन्त जनपद मे सुग्रीव नाम का पर्वत है। वहाँ मेघश्री नाम का भिक्षु है। तुम उसके पास जाकर बोधिसत्त्वचर्या को पूछो, वह कल्याणमित्र तुम्हे 'समन्तभद्रचर्यामण्डल' का उपदेश देगा।

आर्य सुधन ने मजुश्री से विदा ली और मेघश्री के पास पहुँचा। मेघश्री ने उसे सागर-मेघ नामक भिक्षु के पास अन्य जनपद मे भेजा। इस प्रकार, करीब पचास भिन्न-भिन्न जगहो पर सुधन ने भिन्न-भिन्न कल्याणमित्रो की पर्युपासना की। प्रत्येक कल्याणमित्र ने उसका अभिनन्दन करके उसे बोधिसत्त्वचर्या मे एक-एक श्रेणी आगे बढाया। अपनी-अपनी साधना बताई। भारतवर्ष के कोने-कोने मे आर्य सुधन ने इस प्रकार चक्रमण किया। उसने बुद्धमाता माया से और बुद्धपत्नी गोपा से भी भेंट की। गोपा से उसने जो प्रश्न पूछे है, वे बहुत ही गम्भीर है। उसने गोपा को अजलिबद्ध होकर कहा—"आर्ये! मैने अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि में चित्त उत्पाद किया है, किन्तु बोधिसत्त्व ससार मे ससरण करने पर भी ससार-दोषो से किस प्रकार लिप्त नही होते, यह मै नही जानता। आर्ये! बोधिसत्त्व सर्वधर्म-समता-स्वभाव को जानते है पर श्रावक-प्रत्येक-बुद्धभूमि मे पतित नही होते। वे बुद्धधर्मावभास-प्रतिलब्ध होते है, किन्तु बोधिसत्त्वचर्या का व्यवच्छेद नही करते है। बोधिसत्त्व-भूमि मे प्रतिष्ठित होकर भी तथागतविषय को सन्दर्शित करते है। सर्वलोक-गति से समतिक्रान्त होते है और सर्वलोक-गतियो मे विचरण भी करते है। धर्मकायपरिनिष्पन्न होते हुए भी अनन्तवर्ण और रूपकाय का अभिनिर्हार करते है। अलक्षण धर्मपरायण होते हुए भी सर्ववर्णसस्थान-युक्त स्वकाय का दर्शन देते है। अनभिलाप्य सर्वधर्म-स्वभाव को प्राप्त होते हुए भी सर्ववाक्पथ-निरुक्ति-उदाहारो से सत्त्वो को धर्म की देशना देते है, सर्वधर्मो को नि सत्त्व जानते हुए भी सत्त्व धातुविनयप्रयोग से निवृत्त नही होते। सर्व-धर्मो को अनुत्पाद-अनिरोध कहते हुए भी सर्वतथागत-पूजोपस्थान से विगत नही होते। सर्वधर्मो

को अकर्म-अविपाक मानते हैं, परन्तु कुशल-कर्माभिसस्कार-प्रयोग से विरत नही होते। आर्ये ! वोधिसत्त्वचर्या से इस आश्चर्यकारक विरोध को मैं नही जान पाता हूँ। आर्ये ! आप मुझे इसका उपदेश दें।"

आर्य सुधन के ये प्रश्न शून्यवाद और बोधिसत्त्व-यान के परस्पर सम्वन्ध के वारे मे वहुत ही मार्मिक हैं। गोपा से उसे उत्तर नही मिला। कल्याणमित्र की खोज में घूमते-घूमते वह अन्त में समुद्रकच्छ नामक जनपद में वैरोचनव्यूहालकार नामक विहार के कूटागार मे मैत्रेय बोधिसत्त्व के दर्शनार्थ उपस्थित हुआ। उसने मैत्रेय का दर्शन किया और कहा—आर्य ! मैं अनुत्तरा सम्यक् सम्वोधि में अभिसम्प्रस्थित हूँ, किन्तु वोधिसत्त्वचर्या को नही जानता हूँ। आर्य ! आपके वारे में व्याकरण हुआ है कि आप सम्यक् सम्वोधि में केवल एक-जातिप्रतिवद्ध हैं। आर्य ! जो एक-जातिप्रतिवद्ध है, उसने सर्ववोधिसत्त्व-भूमियो को प्राप्त किया है, वह उस सर्वज्ञ ज्ञान-विपय मे अभिपिक्त हुआ है। जो सर्व-वुद्धधर्मो का प्रभव है। आर्य ! आप ही मुझे वोधिसत्त्वचर्या को वताने मे समर्थ हैं।

तव आर्य मैत्रेय ने आर्य सुधन की भूरि-भूरि प्रशसा की और वोधिचित्तोत्पाद का माहात्म्य वताकर कहा—'कुलपुत्र ! तुम वोधिसत्त्वचर्या को जानने के लिए उत्सुक हो, तो इस वैरोचनव्यूहालकारगर्भ के महाकूट के अभ्यन्तर में प्रवेश करके देखो। वहाँ तुम जानोगे कि किस प्रकार वोधिसत्त्वचर्या की पूर्त्ति होती है और उसकी परिनिष्पत्ति क्या है।" मैत्रेय के अनुभाव से सुधन ने उस कूटागार में विराट् दर्शन किया। सव सत्त्वलोको के वुद्धो का और वोधिसत्त्वो का उसे दर्शन हुआ। यह सारा वर्णन अत्यन्त रोमाचकारी है। धर्म के विकास मे, भक्ति-परम्परा में, वौद्धधर्म में, इन विराट् दर्शनो की वाढ-सी आई है, जिसका परम प्रकर्ष हम यहाँ देख सकते हैं। उसे देखकर सुधन स्तिमित हुआ। यह सारा प्रातिहार्य आर्य मैत्रेय का ही अनुभाव था। आर्य मैत्रेय ने उसे समाधि से उठाकर कहा—"कुलपुत्र ! यही धर्मो की धर्मता है। मायास्वप्नप्रतिभासोपम यह सारा विश्व है। कुलपुत्र ! तुमने अभी वोधिसत्त्व के 'सर्वत्र्यध्वारम्वणज्ञानप्रवेशासम्मोपस्मृतिव्यूहगत' नाम के विमोक्ष को और उसके समाधि-प्रीति-सुख को प्राप्त किया है। कुलपुत्र ! वोधिसत्त्वो की गति है। वह अचलनास्थान गति है। वह अनालया-निकेतन गति है, वह अच्युत्युपपत्ति गति है। वह अस्थानमक्रान्ति गति है। वह अचलना-नुत्थान गति है। वह अकर्मविपाक गति है। वह अनुत्पादानिरोध गति है। वह अनुच्छेदाशाश्वत गति है। ऐसा होने पर भी हे कुलपुत्र ! वोधिसत्त्व की गति महाकरुणा-गति है। महामैत्री-गति है, शीलगति है, प्रणिधानगति है, अनभिसस्कार-गति है, अनायह-वियूह-गति है, प्रज्ञोपायगति है और निर्वाणसन्दर्शनगति है। हे कुलपुत्र ! प्रज्ञापारमिता वोधिसत्त्वो की माता है, उपायकौशल्य पिता है, दानपारमिता स्तन्य है, शीलपारमिता धात्री है, क्षान्तिपारमिता भूपण है, वीर्यपारमिता सवर्द्धिका है, ध्यानपारमिता चर्याविशुद्धि है, कल्याणमित्र उसका शिक्षाचार्य है, बोध्यग उसके सहायक है, वोधिसत्त्व उसके भाई है, वोधिचित्त उसका कुल है। इसमे हे कुलपुत्र ! वोधिसत्त्व वालपृथग्जनभूमि को अवक्रान्त करके तथागतभूमि में प्रतिपन्न होता है।"

"हे कुलपुत्र ! मैने तुझे सक्षेप मे बताया है। परन्तु हे कुलपुत्र ! तुम बोधिसत्त्वचर्या के बारे में उसी कल्याणमित्र मजुश्री के पास जाओ और प्रश्न करो। वह मजुश्री वोधिसत्त्व परमपारमिता-प्राप्त है।"

तब सुधन ने परमभक्ति मे मजुश्री की प्रार्थना की। दस हजार योजन परदूर स्थित मजुश्री वोधिसत्त्व ने महाकरुणा से प्रेरित हो उसके मस्तक पर अपना आशीर्वाद-हस्त रखकर उसका अभिनन्दन किया। उसे असख्य धर्म मे प्रतिष्ठित किया, अनन्तज्ञानमहावभास को प्राप्त कराया, अपर्यन्तबोधिसत्त्व-धारणी प्रतिभान-समाधि-अभिज्ञाज्ञान से विभूपित किया और उसे समन्तभद्रचर्यामण्डल में प्रतिष्ठित किया।

इस प्रकार, गण्डव्यूह में हम वोधिसत्त्व-उपासना का अति सुन्दर वर्णन देखते हैं। भाषा, वर्णनशैली और कथाभाग की दृष्टि से यह ग्रन्थ अद्भुत है। ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक, कारण्डव्यूह, सुखावतीव्यूह और गण्डव्यूह मे हम वोधिसत्त्व-उपासना का प्रकर्ष देखते हैं। वोधि-मत्त्वयान में गण्डव्यूह ने कलश चढा दिया है। आश्चर्य नही कि यह ग्रन्थ 'अवतसकसूत्र' के नाम से ही परिचित है।

रत्नकूट—अवतसकसूत्र के समान ही चीनियों का एक और मौलिक ग्रन्थ है, जिसे 'रत्नकूट' कहते हैं। तिव्वती-कान्जुर मे भी यह सगृहीत है। यह ४९ सूत्रो का एक सग्रह-ग्रन्थ है, जिसमे 'अक्षोभ्यव्यूह, मजुश्री-बुद्धक्षेत्र-गुणव्यूह, वोधिसत्त्व-पिटक, पितापुत्र-समागम, काश्यप-परिवर्त्त, राष्ट्रपालपरिपृच्छा आदि अनेक छोटे-छोटे ग्रन्थ सम्मिलित हैं। तारानाथ के अनुसार 'रत्नकूट-धर्मपर्याय' नाम का ग्रन्थ (जिसमे एक सहस्र अध्याय थे) कनिष्क के पुत्र के समय मे रचा गया था। इसके कुछ मौलिक सस्कृत-भाग खुतन के समीप मिले हैं। कुछ विद्वानो का मत है कि 'रत्नकूट' और 'काश्यप-परिवर्त्त' एक ही ग्रन्थ है और रत्नकूट मे अन्य ग्रन्थो का सग्रह वाद मे हुआ है।

काश्यप-परिवर्त्त—में भगवान् का भिक्षु महाकाश्यप से सवाद है। वोधिसत्त्वयान और शून्यता का इसमें बार-बार उल्लेख आता है। एक जगह पर तो यहाँतक कहा है कि तथागत से भी वोधिसत्त्व की पूजा अधिक फलप्रद है। "हे काश्यप ! जिस प्रकार प्रतिपदा के चन्द्र की विशेष पूजा होती है, पूर्णिमा के चन्द्र की विशेष पूजा नही होती, उसी प्रकार मेरे अनुयायियो को चाहिए कि वे तथागत से भी विशेष पूजा वोधिसत्त्व की करें। क्योकि, तथागत वोधिसत्त्वो से ही उत्पन्न होते हैं।"

काश्यप-परिवर्त्त का चीनी-अनुवाद ई० सन् १७८ और १८४ के वीच किया गया था, ऐसी मान्यता है। 'रत्नकूट' में अनेक परिपृच्छाएँ सगृहीत हैं।

परिपृच्छा-ग्रन्थ—राष्ट्रपालपरिपृच्छा मे दो परिवर्त्त है। प्रथम परिवर्त्त का नाम निदान-परिवर्त्त है। एक समय भगवान् राजगृह मे गृध्रकूट पर अनेक वोधिसत्त्वो के परिवार में धर्मदेशना देते थे। उस समय प्रामोद्यराज नाम के वोधिसत्त्व ने भगवान् की स्तुति की और अनिमेष नयनो से तथागत-काय को देखते हुए गम्भीर, दुरवगाह दुर्दर्श,

दुरनुबोध्य, अतर्क्य, तर्कापगत, शान्त, सूक्ष्म धर्मधातु का उसे विचार आया। उसने देखा कि बुद्ध भगवान् अनालयगगन-गोचर हैं। अनावरण-बुद्धविमोक्ष की उसने अभिलाषा की। भगवान् बुद्ध का काय ध्रुव, शिव और शाश्वत है। वह सर्वसत्त्वाभिमुख और सर्वबुद्धक्षेत्र-प्रसरानुगत है। इस गम्भीर धर्म का अवलोकन करके वह तूष्णीम्भूत हुआ और धर्मधातु का ही विचार करने लगा।

तब आयुष्मान् राष्ट्रपाल श्रावस्ती से त्रैमास्य के अत्यय पर भगवान् के दर्शन के लिए आया। अभिवादन कर उसने भगवान् को बोधिसत्त्वचर्या के बारे में प्रश्न किया। भगवान् ने उसे बोधिसत्त्वचर्या का उपदेश किया। यह सारा उपदेश पालि-अंगुत्तरनिकाय का अनुसरण है। हे राष्ट्रपाल! चार धर्मों से समन्वागत बोधिसत्त्व परिशुद्धि को प्राप्त होता है। कौन से चार? अध्याशयप्रतिपत्ति, सर्वसत्त्वसमचित्तता, शून्यताभावना और यथावादितथाकारिता। इन चार धर्मों से समन्वागत बोधिसत्त्व परिशुद्धि का प्रतिलाभ करता है। इसी प्रकार अन्य कई धर्मों का उपदेश इस ग्रन्थ में आया है। प्रथम परिवर्त्त के अन्त में भगवान् ने भविष्य का व्याकरण किया है कि बुद्धशासन विकृत होगा और भिक्षु असंयमी बनेंगे। यह व्याकरण हमें पालि की थेरगाथा में आये हुए व्याकरणों की याद दिलाता है। अनात्मवाद को मानकर चलने में तब भी कितनी कठिनाई थी, यह निम्नांकित श्लोकों से प्रतीत होता है—

> यत्रात्म नास्ति न जीवो देशित पुद्गलोऽपि न कथंचित्।
> व्यर्थ श्रमोऽत्र घटते य· शीलप्रयोग संवरक्रिया च॥
> यद्यस्ति चैव महायानं नात्र हि आत्मसत्त्व मनुजो वा।
> व्यर्थ· श्रमोऽत्र हि कृतो मे यत्र न चात्मसत्त्वउपलब्धिः॥

द्वितीय परिवर्त्त में पुण्यरश्मि नाम के राजकुमार की जातक-कथा है।

'राष्ट्रपालपरिपृच्छा' का चीनी-भाषान्तर ई० ५८५ और ५९२ के बीच में हुआ था। इस ग्रन्थ का प्रकाशन एल्० फिनो ने सन् १९०१ ई० में किया है। उरगपरिपृच्छा, उदयन-वत्स-राज-परिपृच्छा, उपालिपरिपृच्छा, चन्द्रोत्तरा-दारिका-परिपृच्छा, नैरात्म्यपरिपृच्छा आदि अनेक संवाद-ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं, जिनका उल्लेख 'शिक्षासमुच्चय' में मिलता है।

दशभूमीश्वर—को भी अवतंसक का एक भाग समझा जाता है। इस ग्रन्थ में दश-भूमियों का वर्णन है, जिनसे बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। 'महावस्तु' में इस सिद्धान्त का पूर्वरूप मिलता है। 'दशभूमक' इस सिद्धान्त का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का चीनी-अनुवाद धर्मरक्ष ने सन् २९७ ई० में किया था।

प्रज्ञापारमितासूत्र

महायान के वैपुल्यसूत्रों में दो प्रकार के ग्रन्थ पाये जाते हैं। एक में बुद्ध, बोधिसत्त्व, बुद्धयान, की महत्ता बतलाई गई है। ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक आदि ग्रन्थ इस प्रकार के हैं। दूसरा प्रकार उन ग्रन्थों का है, जिनमें महायान के मुख्य सिद्धान्त 'शून्यता' या 'प्रज्ञा' की महत्ता बताई गई है। ऐसा ग्रन्थ है 'प्रज्ञापारमितासूत्र'। एक ओर शून्यता और दूसरी ओर महाकरुणा, इन दो सत्यों का समन्वय करने का प्रयत्न प्रज्ञापारमितासूत्र में दिखाई

देता है। आगे चलकर 'बोधिचर्यावतार' मे आर्य शान्तिदेव ने इसी समन्वय को व्यवस्थित किया है।

महायान-साहित्य में प्रज्ञापारमिता-सूत्रो का स्थान महत्त्व का है। इन्हें हम आगम-ग्रन्थ भी कह सकते हैं। इनकी सवाद-शैली प्राचीन है। दूसरे महायान-ग्रन्थो में बुद्ध प्राय किसी बोधिसत्त्व से सवाद करते हैं। यहाँ बुद्ध, सुभूति नामक स्थविर से प्रश्न करते हैं। शून्यता के बारे में इन ग्रन्थो में सुभूति और शारिपुत्र इन दो स्थविरो का सवाद बहुत ही तात्त्विक और गम्भीर है। प्रज्ञापारमिता-सूत्रो की रचना भी प्राचीन है। ई० १७९ मे प्रज्ञापारमिता-सूत्र का चीनी-भाषान्तर हुआ था, जिससे सम्भव है कि ख्रिस्तपूर्व काल मे ही इनकी रचना हुई हो।

नेपाली परम्परा के अनुसार मूल प्रज्ञापारमिता-महायानसूत्र सवा लाख श्लोको का था और क्रमश घटाकर लक्ष, पच्चीस हजार, दस हजार और आठ हजार श्लोको का सूत्र-ग्रन्थ वना। दूसरी परम्परा के अनुसार मूलग्रन्थ आठ हजार श्लोको का था, जिसे 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, कहते हैं। उसी को बढाकर अनेक परमिता-ग्रन्थ वनाये गये। यह परम्परा अधिक ठीक जँचती है। शुआन-च्वाग ने अपने 'महाप्रज्ञापारमितासूत्र' मे बारह भिन्न-भिन्न प्रज्ञा-पारमिता-सूत्रो का अनुवाद किया है। चीनी और तिब्बती-भाषा मे इसके और भी अनेक प्रकार हैं, जिसमें एक लक्ष श्लोको से लेकर 'एकाक्षरी प्रज्ञापारमिता' भी सगृहीत हैं। सस्कृत मे ये ग्रन्थ उपलब्ध हैं—१ शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, २. पर्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, ३ अष्ट साहस्रिका प्रज्ञापारमिता, ४ सार्धद्विसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता, ५. सप्तशतिका प्रज्ञापारमिता ६. वज्रच्छेदिका प्रज्ञापारमिता, ७ अल्पाक्षरा प्रज्ञापारमिता, ८ प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र। इन सभी ग्रन्थो में अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमितासूत्र ही सबसे प्राचीनतम है, जिसका वर्णन हम यहाँ करेंगे।

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता—ग्रन्थ के कुल वत्तीस परिवर्त्त हैं। प्रथम परिवर्त्त का नाम है सर्वाकारज्ञताचर्या-परिवर्त्त। ग्रन्थ का प्रारम्भ इस प्रकार होता है—"ऐसा मैंने सुना। एक समय भगवान् राजगृह में गृध्रकूट पर सार्धत्रयोदशशत अर्हतो से परिवारित हो विराजमान थे। उस सभा में आयुष्मान् आनन्द को छोडकर, शेष सभी अर्हत् कृतकृत्य थे। उस सभा मे भगवान् ने आयुष्मान् सुभूति से कहा—"हे सुभूति! तुम्हें वोधिसत्त्व महासत्त्वो की प्रज्ञापारमिता की पूर्णता के बारे मे प्रतिभान हो।" भगवान् के इस वचन को सुनकर आयुष्मान् शारिपुत्र के मन में सन्देह हुआ—क्या स्थविर सुभूति अपने सामर्थ्य से यह प्रतिभान करेंगे या वुद्धानुभाव से? स्थविर सुभूति ने उनके मन की वात वुद्धानुभाव से जानकर कहा—"आयष्मान् शारिपुत्र! जो कुछ भी श्रावक भापण करते है, उपदेश करते है, या प्रकाशन करते है, वह सर्वथा तथागत का ही पुरुषकार है, क्योकि हे शारिपुत्र! धर्मता के अविलोम जो कुछ श्रावक कहेंगे, वह वुद्धानुभाव ही है, वुद्धो से ही प्रथम उपदिष्ट है।"

तव आयुष्मान् सुभूति ने भगवान् को अजलिवद्ध होकर कहा—"भगवन्! वोधिसत्त्व-बोधिसत्त्व और प्रज्ञापारमिता-प्रज्ञापारमिता, ऐसा कहा जाता है; किन्तु भगवन्! किस धर्म का यह अधिवचन है? मै ऐसे किसी धर्म को नही देखता हूँ, न जानता हूँ, जिसे मै वोधिसत्त्व कह

सकूँ या जिसे प्रज्ञापारमिता कह सकूँ।" ऐसा होने पर भी चित्त में विषाद न लाकर प्रज्ञापारमिता की भावना करते हुए भी, बोधिसत्त्व को चाहिए कि वह बोधिचित्त को परमार्थत न माने, क्योंकि वह चित्त अचित्त है, चित्त की प्रकृति प्रभास्वर है। ('तत्कस्य हेतो ? तथाहि तच्चित्त-मचित्त प्रकृतिश्चित्तस्य प्रभास्वरा')।

तब शारिपुत्र ने कहा—"क्या आयुष्मन् सुभूति ! ऐसा भी कोई चित्त है, जो अचित्त हो ?" सुभूति ने कहा—"क्या आयुष्मन् शारिपुत्र ! जो अचित्तता है, उस अचित्तता में अस्तिता या नास्तिता की उपलब्धि होती है ?"

शारिपुत्र ने कहा—"नहीं। आयुष्मन् ! यह 'अचित्तता' क्या है ?"

सुभूति ने कहा—"आयुष्मन्। यह अचित्तता अविकार अविकल्प है।" ('अविकारा-युष्मन् अविकल्पाऽचित्तता')।

सुभूति का वचन सुनकर शारिपुत्र ने साधुवाद किया कि हे आयुष्मन् ! श्रावकभूमि में भी, प्रत्येकबुद्धभूमि में भी और बोधिसत्त्वभूमि में भी जो शिक्षा-काय है, उसे इसी प्रज्ञापारमिता का प्रवर्त्तन करना चाहिए। इसी प्रज्ञापारमिता में सर्वबोधिसत्त्व-धर्म उपदिष्ट है। उपायकौशल्य में इसी का योग करणीय है।

तब सुभूति ने भगवान् से फिर कहा—"भगवन् ! मैं बोधिसत्त्व का कोई नामधेय भी नहीं जान सकता हूँ, क्योंकि नामधेय भी अविद्यमान है। वह न स्थित है, न अस्थित है, न विष्ठित है, न अविष्ठित है। और, यह भी है भगवन् ! कि प्रज्ञापारमिता में विचरण करते हुए बोधिसत्त्व को न रूप में, न वेदना में, न सज्ञा में, न सस्कार में, न विज्ञान में स्थित होना चाहिए। क्योंकि, वह यदि रूप में स्थित होता है, तो रूपाभिसस्कार में ही स्थित होता है, प्रज्ञापारमिता में स्थित नहीं होता। इसलिए, प्रज्ञापारमिता की पूर्त्ति करने के इच्छुक बोधिसत्त्व को 'सर्वधर्मापरिगृहीत' नामक अप्रमाणनियत और असाधारण समाधि की प्राप्ति करनी चाहिए। वह रूप का तथा सज्ञा ..विज्ञान का परिग्रह नहीं करता। यही उसकी प्रज्ञापारमिता है। वह प्रज्ञा को बिना पूर्ण किये अन्तरापरिनिर्वाण को भी प्राप्त नहीं करता, जबतक कि वह दस तथागतबलों से अपरि-पूर्ण हो। यह भी उसकी प्रज्ञापारमिता है। और, यह धर्मता भी है कि रूप रूपस्वभाव से विरहित है, वेदना वेदना-स्वभाव से. . . विज्ञान विज्ञानस्वभाव से विरहित है। प्रज्ञापारमिता भी प्रज्ञापारमिता-स्वभाव से विरहित है। सर्वज्ञता भी सर्वज्ञता-स्वभाव से विरहित है। लक्षण भी लक्षण-स्वभाव से विरहित है। स्वभाव भी स्वभाव से विरहित है।"

तब आयुष्मान् शारिपुत्र ने सुभूति से प्रश्न किया—"क्या आयुष्मन् ! जो बोधिसत्त्व यहाँ शिक्षित होगा, वह सर्वज्ञता को प्राप्त होगा ?"

सुभूति ने कहा—"जो बोधिसत्त्व इस प्रज्ञापारमिता में शिक्षित होगा, वह सर्वज्ञता को प्राप्त होगा। क्यों, हे आयुष्मन् ? सर्वधर्म अजात है, अनिर्यात है। ऐसा जानने पर बोधिसत्त्व सर्वज्ञता के आसन्न होता है। जैसे-जैसे वह सर्वज्ञता के आसन्न होता है, वैसे-वैसे वह सत्त्व-परिपाचन, कायचित्तपरिशुद्धि, लक्षणपरिशुद्धि, बुद्धिक्षेत्रशुद्धि और बुद्धों से समवधान करता है। इस प्रकार, हे आयुष्मन् ! प्रज्ञापारमिता में विहार करने से सर्वज्ञता आसन्न होती है।"

तब शारिपुत्र ने भगवान् से प्रश्न किया—"भगवन् ! इस प्रकार शिक्षा पानेवाला वोधिसत्त्व किस धर्म में शिक्षा प्राप्त करता है ?"

भगवान् ने कहा–"शारिपुत्र ! इस प्रकार शिक्षा पानेवाला किसी भी धर्म मे शिक्षा नही पाता। क्यो, हे शारिपुत्र ! धर्म वैसे विद्यमान नही है, जैसे वाल और पृथग्जन उसमे अभिनिविष्ट है।"

शारिपुत्र ने पूछा– 'भगवन् ! धर्म कैसे विद्यमान है ?" भगवान् ने कहा–"जिस प्रकार वे सविद्यमान नही है, उस प्रकार वे सविद्यमान है, अविद्यमान है, इसलिए कहा जाता है कि यह अविद्या है। उसमें वाल और पृथग्जन अभिनिविष्ट है। उन्होने अविद्यमान सर्वधर्मो की कल्पना की है। वे उनकी कल्पना करके दो अन्तो मे सक्त होते है, अतीतानागत–प्रत्युत्पन्न धर्मो की कल्पना करते है और नानारूपो में अभिनिविष्ट है। इस कारण वे मार्ग को नही जानते। यथाभूत मार्ग को विना जाने वे त्रैधातुक से मुक्त नही होगे, और न वे भूतकोटि को जानेंगे। इसलिए वे वाल और पृथग्जन है। जो वोधिसत्त्व है, वह किसी भी धर्म मे अभिनिवेश नही करता। हे शारिपुत्र ! वह वोधिसत्त्व सर्वज्ञता मे भी शिक्षित नही होता और इसी कारण सर्वधर्मों में शिक्षित होता है, सर्वज्ञता को प्राप्त होता है।"

तव आयुष्मान् सुभूति ने भगवान् से प्रश्न किया—"भगवन् ! जो ऐसा पूछे कि क्या मायापुरुष सर्वज्ञता मे शिक्षित होगा ? सर्वज्ञता को प्राप्त होगा ? ऐसे पूछे जाने पर क्या उत्तर दिया जाय ?"

भगवान् ने कहा—"सुभूति ! मै तुमसे ही प्रश्न करता हूँ, क्या वह माया अलग है, और रूप अलग है ? सज्ञा विज्ञान अलग है और माया अलग है ?" सुभूति ने कहा—"नही भगवान् ! रूप ही माया है, माया ही रूप है।. विज्ञान ही माया है, माया ही विज्ञान है।" भगवान् ने कहा—"तो क्या सुभूति, यही, इन पाँच उपादान-स्कन्धो मे ही क्या यह सज्ञा, प्रज्ञप्ति-व्यवहार नही है कि यह वोधिसत्त्व है ?" सुभूति ने कहा—"भगवन् ! ठीक ऐसा ही है। भगवान् ने रूपादि को मायोपम कहा है। यह पचोपादान-स्कन्ध ही मायापुरुष है। किन्तु, भगवन् ! नवयानसम्प्रस्थित वोधिसत्त्वो को यह उपदेश सुनकर सन्त्रास होगा। क्योकि, भगवन् ! फिर वोधिसत्त्व, क्या पदार्थ है ? उसे क्यो महासत्त्व कहा जाता है ?"

भगवान् ने कहा–"सुभूति ! वोधिसत्त्व पदार्थ अपदार्थ है। सर्वधर्मों में असक्तता मे ही यह शिक्षित होता है। उसी से वह सम्यक् सम्बोधि को अभिसम्बुद्ध करता है। वोध्यर्थ से वह वोधिसत्त्व महासत्त्व कहा जाता है। महान् सत्त्वराशि मे, महान् सत्त्वनिकाय मे वह अग्रता को प्राप्त करता है, इसलिए वह महासत्त्व है।"

तव शारिपुत्र ने कहा—"भगवन् ! मैं मानता हूँ कि आत्मदृष्टि, सत्त्वदृष्टि, जीव-पुद्गल-भव-विभव-उच्छेद-शाश्वत और सत्कायदृष्टि आदि महती दृष्टियो के प्रहाण के लिए धर्म का उपदेश करता है, इसलिए वोधिसत्त्व महासत्त्व कहा जाता है।"

तव सुभूति ने कहा—"भगवन् ! वोधिचित्त जो सर्वज्ञताचित्त है, अनास्रव है और

सर्वश्रावकप्रत्येक-बुद्धो के चित्तो मे असाधारण है। ऐसे महान् चित्त में भी अनासक्त और अपर्यापन्न होने से वह बोधिसत्त्व महासत्त्व कहा जाता है।"

शारिपुत्र ने पूछा—"आयुष्मन् सुभूति! क्या कारण है कि ऐसे महान् चित्त मे भी वह अनासक्त और अपर्यापन्न है?"

सुभूति ने कहा—"हे शारिपुत्र! इसलिए कि वह चित्त अचित्त है।"

तब पूर्ण मैत्रीयणीपुत्र ने कहा—"भगवन्! महासन्नाहसन्नद्ध होने से, महायान में सम्प्रस्थित होने से सत्त्व महासत्त्व कहा जाता है।"

भगवान् ने कहा—"सुभूते! यह महासन्नाद्धसम्बद्ध इसलिए है कि उसका ऐसा प्रणिधान है—'अप्रमेय सत्त्वो का मुझे परिनिर्वापण करना है।' वह उन असख्येय सत्त्वो का परिनिर्वापण करता है। वास्तव में सुभूते! ऐसा कोई सत्त्व नही है, जो परिनिर्वृत्त हो या परिनिर्वृत्त कराता हो। सुभूते! यह धर्मो की धर्मता है कि सभी मायाधर्म हैं। जिस प्रकार कोई यक्ष मायाकार महान् जनकाय का निर्माण करके उसका अन्तर्द्धान करे, लेकिन उससे न कोई जन्म पाता है, न मरता है, न नष्ट होता है, न अन्तर्हित होता है, उसी प्रकार हे सुभूते! वह बोधिसत्त्व अप्रमेय सत्त्वो को परिनिर्वृत्त करता है, तथापि न कोई निर्वाण को प्राप्त होता है, न कोई निर्वाण का प्रापक है।"

तब सुभूति ने कहा—"तब तो भगवान् के भाषण का अर्थ यह है कि बोधिसत्त्व असन्नाह-सन्नद्ध ही है?"

भगवान् ने कहा—"ठीक ऐसा ही है, सुभूते! सर्वज्ञता अकृत है, अविकृत है, अनभि-सस्कृत है। वे सत्त्व भी अकृत हैं, अविकृत हैं, अनभिसस्कृत हैं, जिनके लिए यह बोधिसत्त्व सन्नाहसन्नद्ध है। क्यो? निर्माण को प्राप्त होनेवाला और प्रापक ये दोनो धर्म अविद्यमान हैं।"

तब सुभूति ने भगवान् से कहा—"भगवन्! महायान–महायान कहते हैं। महायान क्या पदार्थ है? भगवन्! मैं मानता हूँ कि आकाशसम होने से, अतिमहान् होने से यह महायान कहा जाता है। इसका न आगम देखा जाता है, न निर्गम। इसका स्थान सविद्यमान नहीं है। इसका पूर्वान्त, मध्यान्त या अपरान्त भी अनुपलब्ध है। यह यान सम है, इसलिए यह महायान है। भगवन्! महायान नाम का कोई पदार्थ नही है। 'बुद्ध' यह भी एक नामधेयमात्र है, बोधिसत्त्व, प्रज्ञापारमिता यह भी नामधेय मात्र है। " · " और ऐसा क्यो? भगवन्! जब बोधिसत्त्व इन रूपादि धर्मो की प्रज्ञापारमिता मे परीक्षा करता है, तब रूप न प्राप्त होता है न नष्ट होता है, न वह रूप का उत्पाद देखता है, न विनाश देखता है। (इसी प्रकार अन्य स्कन्ध भी) क्यो? जो रूप का अनुत्पाद है वह रूप नही है, जो रूप का अव्यय है, वह भी रूप नही है। इस प्रकार से अनुत्पाद और रूप तथा अव्यय और रूप ये दोनो अद्वय हैं, अद्वैधीकार हैं।"

तब आयुष्मान् शारिपुत्र ने कहा—"आयुष्मान् सुभूति! आपकी देशना के अनुसार बोधिसत्त्व भी अनुत्पाद है। ऐसा होने पर वह बोधिसत्त्व दुष्कर चारिका करने के लिए क्यो उत्साहित होगा?"

आयुष्मान् सुभूति ने कहा—"आयुष्मन् शारिपुत्र ! मैं नही चाहता कि बोधिसत्त्व दुष्कर चारिका करे या दुष्कर सज्ञा को प्राप्त करे। दुष्कर सज्ञा से अप्रमेय और असख्येय सत्त्वो की अर्थसिद्धि नही होती। इसलिए, उस बोधिसत्त्व को सर्वसत्त्वो मे सुखसज्ञा, मातृ-पितृसज्ञा उत्पन्न करनी चाहिए और आत्मविसर्जन करना चाहिए। ऐसा होने पर आपने जो कहा कि 'क्या बोधिसत्त्व अनुत्पाद है ?' तो मै फिर से कहता हूँ कि हे आयुष्मन् ! ऐसा ही है, बोधिसत्त्व अनुत्पाद है। केवल बोधिसत्त्व ही नही,, बोधिसत्त्व-धर्म भी, सर्वज्ञता और सर्वज्ञता-धर्म भी, पृथग्जन और पृथग्जन-धर्म भी अनुत्पाद ही है।

"आयुष्मन् शारिपुत्र ! यही सर्वधर्मानिश्रित पारमिता है, यही सर्वयानिकी पारमिता है, जो 'प्रज्ञापारमिता' है। ऐसी गम्भीर प्रज्ञापारमिता के उपदेश से जिसका चित्त द्विविधा को प्राप्त नही होता, वही इस गम्भीर प्रज्ञापारमिता को, इस अद्वय-ज्ञान को, प्राप्त करता है।" भगवान् ने और आयुष्मान् शारिपुत्र ने आयुष्मान् सुभूति के इस बुद्धानुभाव से उक्त वचनो का साधुवाद से अभिनन्दन किया।

अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र के इस प्रथम परिवर्त्त का सक्षेप यहाँ हमने दिया है। विराट् प्रज्ञापारमिता मे जिन विषयो की चर्चा बार-बार आती है, उनका साराश इसी परिवर्त्त मे आ गया है। व्यवहारसत्य और परमार्थसत्य का एकत्र निरूपण करने से जो कठिनाइयाँ पैदा होती है, उनका प्रत्यय हमे आयुष्मान् शारिपुत्र और सुभूति के इस संवाद मे मिलता है। स्थविर-वादी सुभूति और शारिपुत्र के ही द्वारा इस चर्चा का किया जाना और भी मार्मिक है। हीनयान के अर्हतो से ही शून्यवाद की स्थापना कराने का यह प्रयत्न है। बोधिसत्त्व, महासत्त्व, महायान आदि शब्दो के भिन्न-भिन्न अर्थ इस परिवर्त्त में बताये गये है। अद्वयज्ञान मे प्रतिष्ठित होना ही बोधिचर्या है। यह अद्वयज्ञान ही प्रज्ञा है। इस सिद्धान्त का प्रथम स्पष्ट दर्शन यहाँ होता है। इसी सिद्धान्त को नागार्जुन आदि आचार्यो ने व्यवस्थित रूप दिया। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के अनुसार 'शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' नागार्जुन की कृति है। यह निश्चित है कि नागार्जुन के पहले ही ये ग्रन्थ अस्तित्व मे थे। नागार्जुन ने इनपर टीकाएँ अवश्य लिखी है, जो चीनी-भाषा मे उपलब्ध है। नागार्जुन का 'प्रज्ञापारमितासूत्रशास्त्र' ग्रन्थ 'पचविशति-साहस्रिका-पारमिता' की ही टीका है। पारमिताशास्त्रो को आगे चलकर 'भगवती' यह विशेषण भी दिया गया है, जिससे इसकी महत्ता स्पष्ट होती है।

लंकावतारसूत्र

महायान-बौद्धधर्म प्रमुखत शून्यवाद और विज्ञानवाद नाम के दो निकायो मे विभक्त है। प्रज्ञापारमितासूत्र-ग्रन्थो मे हमने शून्यवाद-सिद्धान्त का अवलोकन किया है। विज्ञानवाद का प्रारम्भ शून्यवाद के बाद और शून्यवाद की आत्यन्तिकता के विरोध मे हुआ। 'लकावतार-सूत्र' नामक वैपुल्य-सूत्रग्रन्थ विज्ञानवाद का मूल ग्रन्थ है। विज्ञान ही सत्य है, विज्ञान से भिन्न वस्तु की सत्ता नही है। यह इस वाद की मान्यता है।

लकावतार-सूत्र के चीनी में तीन भाषान्तर हुए है। ई० सन् ४४३ में गुणभद्र ने, ई० ५१३ मे वोधिरुचि ने और ई० ७००-७०४ में शिक्षानन्द ने इसके चीनी-अनुवाद किये थे, जो उपलब्ध है। इस ग्रन्थ का सम्पादन 'वुन्यिउ नजिग्रो' ने क्योटो (जापान) से १९२३ ई० में किया है। डॉ० सुजूकी ने इस ग्रन्थ पर विशेष अध्ययनपूर्ण ग्रन्थ भी लिखा है।

लकावतारसूत्र का अर्थ है लकाधीश रावण को सद्धर्म का उपदेश। इस ग्रन्थ के कुल दस परिवर्त्त हैं। प्रथम परिवर्त्त में लका के राक्षसाधिपति रावण का वुद्ध से सम्भाषण है। वोधिसत्त्व महामति के कहने पर रावण भगवान् से धर्म और अधर्म के सम्वन्ध में प्रश्न करता है। द्वितीय परिवर्त्त मे महामति वोधिसत्त्व भगवान् से एक सौ प्रश्न पूछता है। प्राय. ये सभी प्रश्न मूल सिद्धान्त से सम्वद्ध हैं। निर्वाण, ससार-वन्धन, मुक्ति, आलयविज्ञान, मनोविज्ञान, शून्यता आदि गम्भीर विषयो के वारे में, तथा चक्रवर्त्ती, माण्डलिक, शाक्यवश आदि के वारे में भी ये प्रश्न है। तृतीय परिवर्त्त में कहा गया है कि तथागत ने जिस रात्रि को सम्यक् सम्वोधि की प्राप्ति की और जिस रात्रि को महापरिनिर्वाण की प्राप्ति की, उसके वीच उन्होंने एक शब्द का भी उच्चारण नही किया है। यह भगवान् के उपदेश का लोकोत्तर स्वभाव है। इसी परिवर्त्त में कहा गया है कि जिस प्रकार एक वस्तु के अनेक नाम उपयुक्त होते हैं, उसी प्रकार वुद्ध के असख्य नाम हैं। कोई उन्हे तथागत कहते है, तो कोई स्वयम्भू, नायक, विनायक, परिणायक, वुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, विष्णु, ईश्वर, प्रधान, कपिल, भूतान्त, भास्कर, अरिष्टनेमि, राम, व्यास, शुक्र, इन्द्र, वलि, वरुण आदि नामो से पुकारते है। उन्हें ही अनिरोधानुत्पाद, शून्यता, तथता, सत्य, धर्मधातु और निर्वाण, ये सज्ञाएँ दी गई है। दूसरे से सातवें परिवर्त्त तक विज्ञानवाद के सूक्ष्म सिद्धान्तो की चर्चा है। अष्टम परिवर्त्त में मासाशन का निषेध है। हीनयान के विनयपिटक में त्रिकोटि-परिशुद्ध मास का विधान है, किन्तु महायान में मासाशन वर्जित है। इसका प्रथम दर्शन हमें लकावतारसूत्र में मिलता है। नवम परिवर्त्त में अनेक धारणियो का वर्णन है। अन्तिम दशम परिवर्त्त में ८८४ श्लोको में विज्ञानवाद की विस्तृत चर्चा है, जो आगे के दार्शनिक विज्ञानवाद के लिए भित्तिरूप है।

दसवें परिवर्त्त में कुछ स्थल पर भविष्य के वारे में व्याकरण है। भगवान् कहते है कि उनके परिनिर्वाण के वाद व्यास, कणाद, ऋषभ, कपिल आदि उत्पन्न होगे। निर्वाण के एक सौ वर्ष वाद व्यास, कौरव, पाण्डव, राम और मौर्य (चन्द्रगुप्त) होगे और उनके वाद नन्द, गुप्त राज्य करेगे। उसके वाद म्लेच्छो का राज्य होगा, जव कलियुग का भी प्रारम्भ होगा और शासन वृद्धिगत न होगा। अन्य एक स्थल पर पाणिनि, अक्षपाद, वृहस्पति (लोकायत के आचार्य), कात्यायन, याज्ञवल्क्य, वाल्मीकि, कौटिल्य, आश्वलायन आदि ऋषियो के वारे में व्याकरण है।

इन व्याकरणो से विद्वानो ने निर्णय किया है कि लकावतार का यह दशम परिवर्त्त पीछे का, अर्थात् उत्तर-गुप्तकाल का है और उसका विज्ञानवाद-सम्वन्धी भाग योगाचार के सस्थापक आर्य मैत्रेयनाथ के समय का, अर्थात् चौथी शती का है।

अन्य सूत्र—अन्य सूत्रग्रन्थो में 'समाधिराजसूत्र' और 'सुवर्णप्रभाससूत्र' ये दो सूत्र विशेष महत्त्व के हैं। समाधिराज का दूसरा नाम चन्द्रप्रदीपसूत्र' है। इस ग्रन्थ में योगाचार की अनेक समाधियो का वर्णन है।

'सुवर्णप्रभाससूत्र' में भगवान् के धर्मकाय की प्रतिष्ठा है, अर्थात् बुद्ध का रूपकाय नही है, और इसलिए भगवान् के धातु की वस्तुतः उत्पत्ति नही है। इसके तीन चीनी-अनुवाद उपलब्ध हैं। धर्मक्षेम (सन् ४१४–४३३ ई०) परमार्थ तथा उनके शिष्य (सन् ५५२–५५७ ई०) और इत्सिग (सन् ७०३ ई०) ने सुवर्णप्रभास के चीनी-अनुवाद किये थे। महायान देशो मे इस ग्रन्थ का बडा आदर है। मध्य एशिया मे भी इस ग्रन्थ के कुछ अश मिले हैं।

अष्टम अध्याय

महायान-दर्शन की उत्पत्ति और उसके प्रधान आचार्य

पहले हम महायान-धर्म की उत्पत्ति और उसकी कुछ विशेषताओं का उल्लेख कर चुके हैं। हमने देखा है कि महायान का हीनयान से मौलिक भेद है। इसके आगम-ग्रन्थ, इसकी चर्या, इसका बुद्धवाद, इसका सब कुछ भिन्न है। हम देखेंगे कि इसका दर्शन भी सर्वथा भिन्न है। संक्षेप में महायान की ये विशेषताएँ हैं—बोधिसत्त्व की कल्पना, बोधि-चित्तग्रहण, षट्पारमिता की साधना, दशभूमि, त्रिकायवाद और धर्म-शून्यता या तथता। महायानग्रन्थों में हीनयान को श्रावक-यान और महायान को बोधिसत्त्वयान भी कहते हैं। असंग महायानसूत्रालंकार में कहते हैं कि श्रावक-यान में परहितसाधन का प्रयत्न नहीं है, केवल अपने ही मोक्ष का उपाय-चिन्तन है। महायान का अनुगमन करनेवाला अपर्यन्त सत्त्वों के समुद्धरण का आशय रखता है, और इसके लिए बोधिचित्त का समादान करता है। हीनयान का अनुयायी केवल पुद्गल-नैरात्म्य में प्रतिपन्न है, किन्तु महायान का अनुयायी धर्मनैरात्म्य या धर्मशून्यता में भी प्रतिपन्न है। महायानी का कहना है कि वह क्लेशावरण और ज्ञेयावरण दोनों को अपनीत करता है। उसके अनुसार हीनयानी केवल क्लेशावरण का ही अपनयन करता है। महायान का प्रधान आगम प्रज्ञापारमिता है। हमने पिछले अध्याय में देखा है कि इसमें ही सबसे पहले शून्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन है। यही हीनयान से महायानदर्शन को भिन्न करने का बीज है। सौत्रान्तिकों के अनुसार महायान की शिक्षा सबसे पहले अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता में पाई जाती है। प्रज्ञापारमिताएँ कई हैं। इनमें अष्टसाहस्रिका सबसे प्राचीन है। इसका समय ईसा से एक शती पूर्व अवश्य होगा। साहस्रिकाएँ महायान के सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ समझे जाते हैं। महायान-दर्शन के आदि आचार्य नागार्जुन ने इनमें से एक का भाष्य लिखा था। इस ग्रन्थ को महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र कहते हैं।

पहले हमने कहा है कि महायान के संकेत हीनयान में भी पाये जाते हैं। सर्वास्तिवाद का जो अवदान-साहित्य है, उसमें बोधिसत्त्व-यान का पूर्वरूप व्यक्त होता है। दिव्यावदान सर्वास्तिवाद का ग्रन्थ है, इसमें पूर्ण की कथा मिलती है। दिव्यावदान में अनुत्तरा सम्यक् सम्बोधि का भी उल्लेख है। ऐसी अनेक कथाएँ हैं, जिनमें दिखाया गया है कि पारमिताओं की साधना के लिए उपासक अपने जीवन का भी उत्सर्ग करते हैं, वह ऐहिक या पारलौकिक सुख के लिए यत्नशील न होकर अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि के लिए यत्नवान् हैं, जिसमें वह सब जीवों को विमुक्त करें। महावस्तु में हम ऐसे उपासकों का उल्लेख पाते हैं, जो बोधि-चित्त का ग्रहण कर बोधि के

लिए चित्त का आवर्जन करते हैं। महावस्तु में तीन यानो का उल्लेख है, जैसे दिव्यावदान मे श्रावक-बोधि, प्रत्येक-बोधि और अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि का उल्लेख है। हमने पहले देखा है कि इसमें वोधिसत्त्व की चार चर्याओ और दशभूमियो का भी उल्लेख है। किन्तु, यह दश-भूमियाँ दशभूमकसूत्र की दशभूमियो से बहुत कम समानता रखती हैं। महावस्तु महासाधिको में लोकोत्तरवादियो का विनय-ग्रन्थ है। महासाधिक महायानियो के पूर्ववर्त्ती हैं। दशभूमकसूत्र में भूमियो के दो विभाग किये गये हैं, पहली ६ भूमियो में बोधिसत्त्व पुद्गल-शून्यता का साक्षात्कार करता है (यही श्रावक-बोधि है) तथा अन्तिम ४ भूमियो में धर्मशून्यता का साक्षात्कार करता है। अत , ७वी भूमि से ही महायान की साधना का आरम्भ होता है।

हीनयान के साहित्य में भी 'शून्यता' शब्द का प्रयोग पाया जाता है, किन्तु महायान में इसका एक नया ही अर्थ है। महायान के त्रिकाय मे से रूप (या निर्माण)—काय और धर्मकाय दिव्यावदान और महावस्तु मे भी पाये जाते हैं। दिव्यावदान में कहा है कि मैंने तो भगवत् का धर्मकाय देखा है, रूपकाय नही। धर्मकाय प्रवचन-काय है। यह वुद्ध का स्वाभाविक काय है। किन्तु, महायान में धर्मकाय का एक भिन्न अर्थ है। त्रिकायवाद में हम इसका विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। सर्वास्तिवादी की परिभाषा में वुद्ध मे नैर्माणिकी ऋद्धि थी। वह अपने सदृश अन्यरूप निर्मित कर सकते थे। दिव्यावदान मे है कि शाक्यमुनि एक वुद्ध-पिण्डी का निर्माण करते हैं, किन्तु इन ग्रन्थो मे सम्भोगकाय का वर्णन नही है। अत , महायान-धर्म का आरम्भ उस समय में हुआ, जब धर्मशून्यता (=तथता) और सम्भोगकाय के विचार पहले-पहल प्रविष्ट हुए। धर्म-शून्यता का नया सिद्धान्त सबसे प्रथम प्रज्ञापारमिता-ग्रन्थो में प्रतिपादित हुआ। अष्टसाहस्रिका में दो कायो का ही वर्णन है, नगार्जुन के महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र में भी इन्ही दो कायों का उल्लेख है। धर्मकाय के दो अर्थ हैं—१ धर्मों का समूह, २ धर्मता। योगाचार मे रूपकाय औदारिक और सूक्ष्म दो प्रकार का है। प्रथम को रूप या निर्माण-काय कहते हैं, द्वितीय को सम्भोगकाय कहते हैं। लकावतारसूत्र मे सम्भोगकाय को निष्यन्द-वुद्ध या धर्मता-निष्यन्द-वुद्ध कहते हैं। सूत्रालकार मे निष्यन्द-वुद्ध को सम्भोगकाय और धर्मकाय को स्वाभाविक काय कहा है। पचविंशतिसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता में सम्भोगकाय वृद्ध का सूक्ष्मकाय है, जिसके द्वारा वुद्ध वोधिसत्त्वों को उपदेश देते हैं। शतसाहस्रिका मे सम्भोगकाय को आसेचनक काय कहा है। इसे प्रकृत्यात्मभाव भी कहते हैं। यह शरीर तेज का पुज है। इस शरीर के प्रत्येक रोमकूप से अनन्त रश्मि-राशि नि सृत होती है, जो अनन्त लोकधातु को अवभासित करती है। तव वुद्ध अपने प्रकृत्यात्मभाव का देव-मनुष्य को दर्शन कराते हैं। सकल लोक-धातु के सव सत्त्व शाक्यमुनि वुद्ध को भिक्षुओ तथा वोधिसत्त्वो को प्रज्ञापारमिता का उपदेश देते देखते हैं।

अतः, पचविंशतिसाहस्रिका मे सवसे प्रथम सम्भोगकाय का उल्लेख पाया जाता है। नागार्जुन के समय तक सम्भोगकाय रूपकाय (अथवा निर्माणकाय) से पृथक् नही किया गया था। उस समय तक इस साम्भोगिक काय को निर्मित मानते थे और इसलिए उसे रूपकाय के अन्तर्गत मानते थे। दशभूमियो का उल्लेख सवसे पहले महावस्तु में पाया जाता है,

तदनन्तर शत और पर्चविंशतिसाहस्रिका में। दशभूमकसूत्र, वोधिसत्त्वभूमि, लकावतार, सूत्रालकार आदि ग्रन्थो में, भूमियो का विकसित रूप पाया जाता है।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि प्रज्ञापारमिता-ग्रन्थो में अष्ट और दशसाहस्रिका सवसे प्राचीन हैं। इसके पश्चात् शत और पर्चविंशतिप्रज्ञापारमिता का समय है। यद्यपि धर्मशून्यता का विचार अष्टसाहस्रिका में पाया जाता है, तथापि महायान में त्रिकाय और दशभूमि पर्चविंशति-प्रज्ञापारमिता के पूर्व नही पाये जाते।

अष्टसाहस्रिका आदि प्रज्ञापारमिता-ग्रन्थो का मुख्य विचार यह है कि प्रज्ञापारमिता अन्य-पारमिताओ की नायिका अथवा पूर्व गमा है। अष्टसाहस्रिका पृथ्वी से प्रज्ञापारमिता की तुलना करती है, जिसपर अन्य पारमिताओ का अवस्थान है, और जिसपर वह सर्वज्ञता के फल का उत्पाद करती है। अत, प्रज्ञापारमिता सर्वज्ञ तथागत की उत्पादक है। अन्य पारमिताओ की तरह प्रज्ञापारमिता का अभ्यास नही किया जाता। यह चित्त की अवस्था है, जिसके होने पर दान-पारमिता अलक्षण और नि स्वभाव प्रतीत होती है और ग्राह्य-ग्राहक-विकल्प प्रहीण होता है। प्रज्ञापारमिता वताती है कि किसी में अभिनिवेश नही होना चाहिए और वोधिसत्त्व को सदा इसका ध्यान रखना चाहिए कि पारमिता, समाधि, समापत्ति, फल या वोधिपाक्षिक धर्म उपायकौशल्य-मात्र हैं। वस्तुत, इनका कोई स्वभाव नही है। प्रज्ञापारमिता-ग्रन्थो की शिक्षा है कि सव शून्य है, अर्थात् पुद्गल (आत्मा) और धर्म द्रव्यसत्स्वभाव नही हैं। इनकी शिक्षा है कि विज्ञान और विज्ञेय (वाह्यार्थ) दोनो का परमार्थत अस्तित्व नही है, केवल सवृतित है। सर्वास्तिवाद पुद्गल-नैरात्म्य तो मानता है, किन्तु वह एक नियत सख्या को द्रव्यसत् मानता है। किन्तु, महायान के ये ग्रन्थ इन धर्मों को भी नि स्वभाव मानते हैं। धर्म भी सवृतित है, परमार्थत नही। जीवन प्रवाहमात्र है, यह शाश्वत नही है और इसका उच्छेद भी नही होता। धर्मो का विभाजन करके जव हम देखते है, तव उन्हें हम नि स्वभाव पाते है, वे प्रवाहमात्र हैं, जिनमें निरन्तर परिवर्त्तन होता रहता है, इस प्रवाह का स्वरूप क्या है, यह नही वताते।

योगाचार-विज्ञानवादी इस प्रवाह को आलय-विज्ञान कहता है। इस नय में चित्त-चैत्त वस्तु सत् है, वाह्यार्थप्रज्ञप्तिमात्र है। आलय-विज्ञान स्रोत के रूप में अव्युपरत प्रवर्त्तित होता है। स्रोत का अर्थ हेतु-फल की निरन्तर प्रवृत्ति है। इस विज्ञान की सदा से यह धर्मता रही है कि प्रतिक्षण फलोत्पत्ति होती है, और हेतु का विनाश होता है। आलय-विज्ञान में धर्मो का निरन्तर स्वरूप-विशेष होता है, और आलय-विज्ञान नवीन धर्म आक्षिप्त करता रहता है। यह नित्य व्यापार है, आलय-विज्ञान विज्ञानो का आलय और सर्वसाक्लेशिक वीजो का सग्रह-स्थान है।

विज्ञानवाद माध्यमिकवाद की प्रतिक्रिया है। जहाँ माध्यमिक विज्ञान को भी शून्य और नि स्वभाव मानता है, वहाँ विज्ञानवाद त्रैधातुक को चित्तमात्र मानता है, उसके अनुसार सव शून्य है, केवल विज्ञप्ति वस्तु-सत् है। विज्ञानवाद दशभूमकशास्त्र को अपना आधार मानता है, तथापि इस वाद का आरम्भ वस्तुतः आचार्य असग से होता है। माध्यमिकवाद के प्रथम आचार्य नागार्जुन हैं।

अब हम आगे इन दोनो दर्शनो के प्रधान आचार्यों का सक्षिप्त परिचय देगे ।

नागार्जुन—तारानाथ का कहना है, हीनयानवादियो के अनुसार शतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता अन्तिम महायान-सूत्र है और इसके रचयिता नागार्जुन है। प्रज्ञापारमितासूत्रशास्त्र अवश्य नागार्जुन का बताया जाता है। यह पचविशतिसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता की टीका है। हो सकता है, इसी कारण भूल से नागार्जुन को शतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता का रचयिता मान लिया गया हो। कम-से-कम नागार्जुन महायान के प्रतिष्ठापक नही है, क्योकि इसमे सन्देह नही कि उनसे बहुत पहले ही महायान-सूत्रो की रचना हो चुकी थी ।

शुआन-च्वाग के अनुसार अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव और कुमारलब्ध (= कुमारलात) समकालीन थे। वह इनको बौद्ध जगत् के चार सूर्य मानते है। 'राजतरगिणी' के अनुसार बोधिसत्त्व-नागार्जुन हुष्क, जुष्क और कनिष्क के समय मे कश्मीर के एकमात्र स्वामी थे। तारानाथ के अनुसार नागार्जुन, कनिष्क के काल मे पैदा हुए थे। नागार्जुन का समय द्वितीय शताब्दी हो सकता है, किन्तु नागार्जुन के सम्बन्ध मे इतनी कहानियाँ प्रचलित है कि कभी-कभी उनके अस्तित्व के बारे मे ही सन्देह होने लगता है। कुमारजीव ने ४०५ ई० के लगभग चीनी-भाषा में नागार्जुन की जीवनी का अनुवाद किया था। इसके अनुसार उनका जन्म दक्षिण भारत मे ब्राह्मण-कुल में हुआ था। वह ज्यौतिष, आयुर्वेद तथा अन्य विद्याओ मे निपुण थे। वह जादूगर समझे जाते थे। उनकी इतनी प्रसिद्धि हुई कि कई शताब्दी बाद मे भी अनेक ग्रन्थ उन्ही के बताये जाते है।

नागार्जुन का मुख्य ग्रन्थ कारिका या माध्यमिकसूत्र है। इस ग्रन्थ मे ४०० कारिकाएँ है। नागार्जुन ने इसपर एक टीका लिखी थी। जिसका नाम 'अकुतोभया' है। इसका केवल तिब्बती-अनुवाद पाया जाता है। बुद्धपालित और भावविवेक ने भी इस ग्रन्थ पर टीकाएँ लिखी थी, किन्तु उनके भी केवल तिब्बती-अनुवाद ही मिलते है। केवल चन्द्रकीर्त्ति की 'प्रसन्नपदा' नामक सस्कृत-टीका उपलब्ध है। नागार्जुन ने माध्यमिक सम्प्रदाय की स्थापना की। इसे शून्यवाद भी कहते है। चन्द्रकीर्त्ति सिद्ध करते है कि माध्यमिक नास्तिक नही है। नागार्जुन सवृतिसत्य और परमार्थसत्य की शिक्षा देते है। परमार्थसत्य की दृष्टि से न ससार है, न निर्वाण।

नागार्जुन के अन्य ग्रन्थ युक्तिषष्ठिका, शून्यतासप्तति, प्रतीत्यसमुत्पादहृदय, महायान-विशक और विग्रह-व्यावर्त्तनी है। इनके अतिरिक्त भी कई ग्रन्थ है, जो नागार्जुन के बताये जाते है। किन्तु, उनके बारे में हम निश्चित रूप से कुछ नही कह सकते। धर्मसग्रह पारिभाषिक शब्दो का एक कोष है। इसे भी नागार्जुन का लिखा बताते है। इसी प्रकार 'सुहृल्लेख' के रचयिता भी नागार्जुन कहे जाते है। इत्सिग ने इसकी बडी प्रशसा की है। उनके समय मे यह बहुत लोकप्रिय था। उनके अनुसार इसके रचयिता नागार्जुन थे। चीनियो के अनुसार जिस राजा को यह लेख लिखा गया था, वह शातवाहन था। तिब्बतियो के अनुसार वह उदयन था। माध्यमिक के अन्य प्रसिद्ध आचार्य देव या आर्यदेव बुद्धपालित, चन्द्रकीर्त्ति और

शान्तिदेव हैं। चन्द्रकीर्त्ति छठी शताब्दी के है। यह मध्यमकावतार और प्रसन्नपदा के रचयिता हैं। नागार्जुन के वाद का विस्तृत परिचय इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में देंगे।

आर्यदेव—नागार्जुन के शिष्य आर्यदेव भी एक प्रसिद्ध शास्त्रकार हो गये हैं। इन्हे देव, काणदेव या नीलनेत्र भी कहते है। शुआन-च्वाग के अनुसार यह सिंहल देश से आये थे। कुमारजीव ने इनकी जीवनी का अनुवाद चीनी-भाषा मे किया था। आर्यदेव का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ चतु शतक है। इसमे ४०० कारिकाएँ हैं। चन्द्रकीर्त्ति के ग्रन्थ मे शतक या शतक-शास्त्र के नाम से इसका उल्लेख है। शुआन-च्वाग ने इसका चीनी-भाषा मे अनुवाद किया था। इनका एक दूसरा ग्रन्थ 'चित्तविशुद्धिप्रकरण' वताया जाता है। इसके कुछ ही भाग मिले हैं। विण्टरनित्ज को इसमे सन्देह है, कि यह ग्रन्थ आर्यदेव का है। चीनी-त्रिपिटक मे दो ग्रन्थ है, जिनका अनुवाद वोधिसत्त्व (सन् ५०८–५३५ ई०) ने किया है और जो आर्यदेव के वताये जाते हैं। आर्यदेव का एक ग्रन्थ 'मुष्टि-प्रकरण' है, जिसके सस्कृत-पाठ का निर्माण टॉमस ने चीनी और तिव्वती-अनुवादो की सहायता से किया है।

असंग, वसुबन्धु—अवतक यह समझा जाता था कि योगाचार-विज्ञानवाद के प्रतिष्ठापक आर्यासग थे। परम्परा के अनुसार, अनागत वुद्ध मैत्रेय ने तुषित-लोक मे असग के कई ग्रन्थ प्रकाशित किये थे। किन्तु, अव इस लोककथा का व्याख्यान इस प्रकार किया जाता है कि जिन ग्रन्थो के सम्बन्ध में ऐसी उक्ति है, वह वस्तुत असग के गुरु मैत्रेयनाथ की रचना है। अव इसकी अधिक सम्भावना है कि मैत्रेयनाथ योगाचार-मतवाद के प्रतिष्ठापक थे। कम-से-कम अव यह निश्चित हो गया है कि 'अभिसमयालकारकारिका' मैत्रेयनाथ की कृति है। यह ग्रन्थ पच-विंशतिसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र की टीका है। यह टीका योगाचार की दृष्टि से लिखी गई है। विण्टरनित्ज का कहना है कि महायानसूत्रालकार के भी रचयिता सम्भवत मैत्रेय-नाथ थे। सिलवाँ लेवी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन और अनुवाद किया है। उनका मत है कि यह ग्रन्थ असग का है। एक और ग्रन्थ 'योगाचारभूमिशास्त्र' या 'सप्तदशभूमिशास्त्र' है, जिसका केवल एक भाग, अर्थात् वोधिसत्त्वभूमि सस्कृत मे मिलता है। इसके सम्वन्ध में भी कहा जाता है कि मैत्रेय ने इसको असंग के लिए प्रकाशित किया था। विण्टरनित्ज का कहना है कि यह भी प्राय मैत्रेयनाथ की रचना है। किन्तु, तिव्वती-लेख इस ग्रन्थ को असग का वताते हैं। शुआन-च्वाग का भी यही मत है। जो कुछ हो, इसमें तनिक भी सन्देह नही कि योगाचार-विज्ञानवाद के आचार्य के रूप में मैत्रेयनाथ की अपेक्षा असग की अधिक प्रसिद्धि है। इनके ग्रन्थो का परिचय चीनी-अनुवादो से मिलता है—महायानसम्परिग्रह, जिसका अनुवाद परमार्थ ने किया, प्रकरण-आर्यवाचा, महायानाभिधर्म-सगीतिशास्त्र, जिसका अनुवाद शुआन-च्वाग ने किया, वज्रच्छेदिका की टीका, जिसका अनुवाद धर्मगुप्त ने किया।

असग तीन भाई थे। असग ही सबसे वडे थे। इनका जन्म पुरुषपुर (पेशावर) में ब्राह्मण-कुल में हुआ था। इनका गोत्र कौशिक था। इनसे छोटे वसुवन्धु थे। वौद्ध-साहित्य में इनका ऊँचा स्थान है। आरम्भ में दोनो भाई सर्वास्तिवाद के अनुयायी थे। अभिधर्मकोश के देखने से मालूम होता है, कि वसुवन्धु स्वतन्त्र विचारक थे। किन्तु, उनका झुकाव सौत्रान्तिक

मतवाद की ओर था। पीछे से असग ने महायान-धर्म स्वीकार कर लिया और उनकी प्रेरणा से वसुबन्धु भी महायान के माननेवाले हो गये।

ताकाकूसू के अनुसार वसुवन्धु का काल ४२० ई० और ५०० ई० के वीच है। वोगिहारा वसुबन्धु का समय ३९० ई० और ४७० ई० के बीच तथा असग का ३७५ ई० और ४५० ई० के बीच निर्धारित करते है। सिलवाँ लेवी के अनुसार असग का काल ५वी शताव्दी का पूर्वार्द्धभाग है। किन्तु एन्० पेरी ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वसुवन्धु का जन्म ३५० ई० के लगभग हुआ। इससे विण्टरनित्ज दोनो भाइयो का समय चौथी शताव्दी मानते है।

परमार्थ ने वसुबन्धु की जीवनी लिखी थी। परमार्थ का समय ४९९-५६९ ई० है। ताकाकूसू ने चीनी से इसका अनुवाद किया है। तारानाथ के इतिहास मे वसुवन्धु की जीवनी मिलती है, किन्तु यह प्रामाणिक नही है। वसुवन्धु का सवसे प्रसिद्ध ग्रन्थ अभिधर्म-कोश है। इसके चीनी और तिव्वती-अनुवाद उपलब्ध है। लुई द ला वली पूसें ने चीनी से फ्रेच मे अनुवाद किया। राहुल साकृत्यायन तिव्वत से मूल सस्कृत-ग्रन्थ का फोटो लाये थे। जायसवाल-शोध-प्रतिष्ठान, पटना की ओर से मूल ग्रन्थ के प्रकाशित करने की व्यवस्था की जा रही है। चीनी-भाषा मे इस ग्रन्थ के दो अनुवाद है—एक परमार्थ का, दूसरा शुआन-च्वाग का। परमार्थ का अनुवाद सन् ५६३ ई० का है। इस ग्रन्थ मे ६०० कारिकाएँ है और वसुवन्धु ने इसका स्वय भाष्य लिखा है। इस ग्रन्थ का बौद्ध जगत् पर वडा व्यापक प्रभाव पडा। सब निकायो मे तथा सर्वत्र इसका आदर हुआ। इसने बहुत शीघ्र अन्य प्राचीन ग्रन्थो का स्थान ले लिया। यह वडे महत्त्व का ग्रन्थ है। वसुबन्धु के अनुसार अभिधर्मकोश मे वैभाषिक-सिद्धान्त का निरूपण कश्मीर-नय से किया गया है। कोश के प्रकाशित होने पर सर्वास्तिवाद के प्राचीन ग्रन्थो (अभिधर्म और विभाषा) का महत्त्व घट गया। कोश मे वैभाषिक-सौत्रान्तिक का विवाद भी दिया गया है, अन्त मे ग्रन्थकार अपना मत भी देते है। कोश मे अन्य ग्रन्थो से उद्धरण भी दिये गये है। इस प्रकार, प्राचीन साहित्य के अध्ययन के लिए भी कोश का बडा मूल्य है।

अभिधर्मकोश पर कई टीकाएँ लिखी गई थी, किन्तु केवल यशोमित्र की 'स्फुटार्था' व्याख्या पाई जाती है। इसका सम्पादन वोगिहारा ने जापान से किया है। कलकत्ता से देव-नागरी अक्षरो मे यह ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। दिङ्नाग, स्थिरमति, गुणमति आदि ने भी कोश पर टीकाएँ लिखी है—मर्मप्रदीप, तत्त्वार्थटीका, लक्षणानुसार आदि। चीनी-भाषा मे भी कोश पर कई टीकाएँ है।

सघभद्र ने न्यायानुसार नाम का अभिधर्मशास्त्र वसुवन्धु के मत का खण्डन करने तथा यह वताने के लिए लिखा कि कहाँ वसुवन्धु शास्त्र से व्यावृत्त करते है, न्यायानुसार अभिधर्मकोश की आलोचनात्मक टीका है। जहाँ-जहाँ वसुवन्धु का भाष्य वैभापिक मत का विरोध करता है, वहाँ-वहाँ न्यायानुसार उसका खण्डन करता है।

वृद्धावस्था में वसुवन्धु ने असग के प्रभाव से महायान-धर्म स्वीकार किया और विंशतिका और त्रिंशिका नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ रचे। यह विज्ञानवाद के ग्रन्थ है। विंशतिका पर वसुवन्धु ने अपनी वृत्ति लिखी। त्रिंशिका पर १० टीकाएँ थी। इनमें से केवल स्थिरमति की टीका उपलब्ध है। शुआन-च्वाड् ने त्रिंशिका पर 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' नामक ग्रन्थ चीनी-भाषा में लिखा। पूसे ने इस ग्रन्थ का फ्रेंच मे अनुवाद प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ वडे महत्त्व का है, क्योकि इसमें त्रिंशिका के सव टीकाकारो के मत का निरूपण है और धर्मपाल की टीका भी सन्निविष्ट है।

वसुवन्धु ने अन्य भी ग्रन्थ लिखे थे, जो अप्राप्त है। विश्वभारती से त्रिस्वभाव-निर्देश नाम का ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसके रचयिता वसुवन्धु वताये जाते है। वसुवन्धु के कुछ अन्य ग्रन्थ यह है—पचस्कन्धप्रकरण, व्याख्यायुक्ति और कर्मसिद्धिप्रकरण। वसुवन्धु की मृत्यु ८० वर्ष की अवस्था में अयोध्या मे हुई। इस ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड मे हम असग के विज्ञानवाद का, वसुवन्धु के वैभाषिकवाद तथा विज्ञानवाद का विस्तृत परिचय देंगे।

दिङनाग, धर्मकीर्त्ति और अन्य आचार्य—आचार्य असग और वसुवन्धु के दो प्रधान शिष्य दिङनाग (या दिग्नाग) और स्थिरमति थे। स्थिरमति माध्यमिक और विज्ञानवाद के वीच की कडी है। विज्ञानवाद की दूसरी शाखा के प्रतिष्ठापक दिङ्नाग है। इस शाखा का माध्यमिक से सर्वथा विच्छेद हो गया। इस शाखा का केन्द्र नालन्दा था। दिङ्नाग वौद्धन्याय के प्रतिष्ठापक माने जाते है। भारतीय दर्शन में इनका ऊँचा स्थान है। इनके ग्रन्थो में न्याय-के प्रवेश, आलम्वन-परीक्षा प्राप्त है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रमाणसमुच्चय' का प्रत्यक्ष परिच्छेद भी प्रकाशित हो चुका है। अन्य ग्रन्थों के भी तिव्वती अनुवाद उपलव्ध है। दिङनाग के पश्चात् धर्मकीर्त्ति (सन् ६७५-७०० ई०) हुए, जिनका न्यायविन्दु, हेतुविन्दु और प्रमाणवार्त्तिक सस्कृत में उपलव्ध है। शुआन-च्वाग ने नालन्दा-सघाराम में अध्ययन किया था और शीलभद्र उनके आचार्य थे। विज्ञानवाद के अन्य आचार्य जयसेन तथा चन्द्रगोमिन् (सातवी शती) थे। यह एक प्रसिद्ध वैयाकरण, दार्शनिक और कवि थे। तारानाथ के अनुसार चन्द्रगोमिन् ने अनेक स्तोत्र और अन्य ग्रन्थ रचे। यह असन्दिग्ध है कि सातवी शती में विज्ञानवाद का वडा प्रभाव था। पीछे के माध्यमिक आचार्यों का विज्ञानवाद के आचार्यों से वडा शास्त्रार्थ होता था। यद्यपि माध्यमिक विज्ञानवादियो के पूर्ववर्त्ती है, तथापि वौद्धधर्म के तिव्वती और चीनी-इतिहासो में योगाचार-विज्ञानवाद को प्राय हीनयान और माध्यमिक के वीच की कडी माना गया है। उनके अनुसार माध्यमिको का वाद पूर्ण है।

नालन्दा के एक प्रसिद्ध आचार्य धर्मपाल थे, जिन्होने त्रिंशिका पर टीका लिखी थी। इनके शिष्य चन्द्रकीर्त्ति ने माध्यमिक दर्शन पर अनेक ग्रन्थ लिखे। चन्द्रकीर्त्ति ने वुधपालित और भव्य के शिष्य कमलवुद्धि से नागार्जुन के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। वुधपालित प्रासगिक-निकाय के प्रतिष्ठापक है और भावविवेक (भव्य) ने स्वतन्त्र निकाय की स्थापना की थी। इनके ग्रन्थो के केवल तिव्वती-अनुवाद मिलते है। चन्द्रकीर्त्ति का मुख्य ग्रन्थ मध्यमकावतार है। मूल मध्यमककारिका पर प्रसन्नपदा नाम की टीका भी चन्द्रकीर्त्ति की है। इन्होने चतु:-

शतिका पर भी एक टीका लिखी, जो बहुत प्रसिद्ध है। ये ग्रन्थ चन्द्रकीर्त्ति की अपूर्व विद्वत्ता के प्रमाण है।

शान्तिदेव--शान्तिदेव सातवी शताब्दी में हुए। तारानाथ के अनुसार शान्तिदेव का जन्म सौराष्ट्र (=वर्त्तमान गुजरात) मे हुआ था, और वह श्रीहर्ष के पुत्र शील के समकालीन थे। परन्तु, भारतीय अथवा चीनी-लेखो मे अथवा शील किसी अन्य नाम के पुत्र का पता नही चलता। शान्तिदेव राजपुत्र था, पर तारा की प्रेरणा से उसने राज्य का परित्याग किया। कहा जाता है कि स्वय बोधिसत्त्व मजुश्री ने योगी के रूप में उसको दीक्षा दी और अन्त में वह भिक्षु हो गया।

तारानाथ के अनुसार शान्तिदेव बोधिचर्यावतार, सूत्रसमुच्चय और शिक्षासमुच्चय के रचयिता थे। बोधिचर्यावतार औरों से पीछे लिखी गई। शिक्षासमुच्चय की जो हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई है, उनमे ग्रन्थकार का नाम नही पाया जाता है, पर तजोर-इण्डेक्स ३१ के अनुसार शान्तिदेव ही इस ग्रन्थ के रचयिता है। महायान-धर्म के विद्वान् दीपकर श्रीज्ञान (अतीश) इस उक्ति की पुष्टि करते है। शिक्षासमुच्चय के अनेक अशो का उद्धरण उन्होने किया है और इस ग्रन्थ को वह शान्तिदेव की ही कृति समझते थे।

बोधिचर्यावतार के टीकाकार प्रज्ञाकरमति भी शान्तिदेव को ही शिक्षासमुच्चय तथा बोधिचर्यावतार का ग्रन्थकार मानते है। दोनो ग्रन्थ एक ही व्यक्ति की कृतियाँ है। इसका अन्तरग प्रमाण भी है। दोनो ग्रन्थो मे कई श्लोक सामान्य है। इसके अतिरिक्त बोधिचर्यावतार (पचम परिच्छेद, श्लोक १०५, १०६) मे शिक्षासमुच्चय अथवा सूत्रसमुच्चय के वारम्वार अभ्यास करने का आदेश किया गया है :

शिक्षासमुच्चयोऽवश्यं द्रष्टव्यश्च पुनः पुनः।
विस्तरेण सदाचारो यस्मात्तत्र प्रदर्शितः॥
सक्षेपेणाथवा तावत्पश्येत्सूत्रसमुच्चयम्।

यदि शिक्षासमुच्चय के रचियता बोधिचर्यावतार के रचियता से भिन्न होते, तो यह मानना पडता कि एक ने दूसरे के श्लोको की चोरी की है और उस अवस्था मे जिस ग्रन्थ से चोरी की गई है, उस ग्रन्थ का उल्लेख नही पाया जाता।

अत स्पष्ट है, दोनो ग्रन्थो के कर्त्ता शान्तिदेव ही है। प्रज्ञाकरमति अपनी बोधिचर्यावतारपजिका मे ऊपर उद्धृत किये हुए श्लोको की टीका में लिखते है--

शिक्षासमुच्चयोऽपि स्वयमेभिरेव कृत। तदा नानासूत्रैकदेशनां वा समुच्चय एभिरेव कृत।

बोधिचर्यावतार मे आर्य नागार्जुन द्वारा लिखे हुए एक दूसरे सूत्रसमुच्चय का उल्लेख पाया जाता है--

आर्यनागार्जुनाबद्ध द्वितीयं च प्रयत्नत।

प्रज्ञाकरमति के अनुसार आर्य नागार्जुन के लिखे हुए शिक्षाममुच्चय और सूत्रसमुच्चय है।

टीका—आर्यनागर्जुनपादैर्निबद्धं द्वितीयं शिक्षासमुच्चयं सूत्रसमुच्चयं च पश्येत् प्रयत्नतः आदरतः।

पर, यह अर्थ उपयुक्त नही प्रतीत होता है। 'द्वितीय' से द्वितीय सूत्रसमुच्चय से तात्पर्य है, क्योकि श्लोक के प्रथम पाद में सूत्रसमुच्चय का ही उल्लेख है।

कर्न साहब के अनुसार दोनो ग्रन्थ नागार्जुन के है। (मैनुअल ऑव इण्डियन बुद्धिज्म, पृ० १२७, नोट ५)

सी० बेण्डल साहब इसका अर्थ इस प्रकार लगाते है—

आर्य नागार्जुन-रचित सूत्रसमुच्चय अवश्य द्रष्टव्य है। यह श्रामणेर का द्वितीय अभ्यास है। (शिक्षासमुच्चय, सी० बेण्डल द्वारा रचित, १ बिब्लिओथिका बुद्धिका, पृ० ४ के सामने, नोट २)

इस अर्थ के अनुसार शान्तिदेव अपने रचे किसी सूत्रसमुच्चय का उल्लेख नही करते। वास्तव में, यह निर्णय करना कि कौन-सा अर्थ ठीक है, असम्भव-सा है। नागार्जुन ने यदि इन नामो के कोई ग्रन्थ लिखे भी हो, तो वे उपलब्ध नही। शान्तिदेव ने यदि सूत्रसमुच्चय नामक ग्रन्थ रचा भी हो, तो उसकी कोई प्रति नही मिलती, तजोर-इण्डेक्स (बर्लिन की प्रति, जो कि इण्डिया ऑफिस द्वारा प्रमाणित है) में शान्तिदेव के एक चौथे ग्रन्थ का उल्लेख है। इसका नाम शारिपुत्र-अष्टक है, पर यह सन्दिग्ध है।

शिक्षासमुच्चय का सम्पादन सी० बेण्डल महाशय द्वारा सेण्ट पीटर्सबर्ग की रूसी बिब्लिओथिका बुद्धिका-ग्रन्थमाला में सन् १८९७ ई० में हुआ। दूसरा सस्करण सन् १९०२ ई० में हुआ। इसका अँगरेजी-अनुवाद सी० बेण्डल तथा डब्ल्यू० एच्० डी० राउज द्वारा हुआ है और सन् १९२२ ई० में इण्डियन टेक्स्ट सिरीज मे प्रकाशित हुआ है।

इस पुस्तक का तिब्बती भाषा में अनुवाद ८१६ और ८३८ ई० के बीच हुआ था। अनुवाद तीन महाशयो द्वारा हुआ था। इनके नाम ये है—जिनमित्र, दानशील और एक तिब्बती पण्डित ज्ञानसेन। ज्ञानसेन का चित्र तजोर-इण्डेक्स के उस भाग के आरम्भ मे पाया जाता है, जिसमे शिक्षासमुच्चय है (इण्डिया ऑफिस की प्रति)। अन्त के दो अनुवादक तिब्बती राजा रव्री-दे-स्र्-ल्मान (सन् ८१६—८३८ ई०) के आश्रित थे। इससे प्रकट होता है कि मूल पुस्तक सन् ८०० ई० से पूर्व लिखी गई।

शान्तिदेव का दूसरा ग्रन्थ जो प्रकाशित हो चुका है, बोधिचर्यावतार है। रूसी विद्वान् आइ० पी० मिनायेव ने सबसे प्रथम इसे जापेस्की मे प्रकाशित किया था। हरप्रसाद शास्त्री ने बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसाइटी के जरनल में पीछे से प्रकाशित किया।

प्रज्ञाकरमति की टीका (पजिका) फ्रेंच-अनुवाद के साथ ला वली पूसें ने बिब्लियोथिका इण्डिका मे सन् १९०२ ई० मे प्रकाशित की। टीका की एक प्रति, जिसमे केवल ९वें परिच्छेद की टीका थी, पूसे ने लैटिन-अक्षरो मे 'बुद्धिस्म स्तदी एत मटीरियाँ' १, (लन्दन, लुजाक) में प्रकाशित की थी। बोधिचर्यावतार-टिप्पणी नाम की एक हस्तलिखित पोथी मिली है, पर यह

खण्डित है। प्रोफेसर सी० वेण्डल को यह पोथी नेपाल-दरवार-लाइब्रेरी मे मिली थी। सन् १८९३ ई० में शास्त्रीजी को पजिका की एक प्रति मिली थी, यह प्रतिलिपि नेवारी-अक्षरो में सन् १०७८ ई० मे लिखी गई। लेखक का नाम नही है, पर प्रज्ञाकरमति टीकाकार को तातपाद कहता है—इससे जान पडता है कि वह टीकाकार का शिष्य था। प्रज्ञाकरमति विक्रमशिला-विहार के आचार्य थे (एस्०सी० विद्याभूषण-लिखित इण्डियन लॉजिक, पृ० १५१) और ११वी शताब्दी के आरम्भ मे हुए। मिथिला-अक्षरो मे केवल प्रज्ञापाठपरिच्छेद की टीका की एक प्रति भी उसी समय उपलब्ध हुई।

टोकियो के प्रोफेसर ओमिगा का कहना है कि नाँजियो के कैटलॉग मे बोधिचर्यावतार की एक भिन्न व्याख्या है। तीन तालपत्र मिले, जिनमें शान्तिदेव का जीवन-चरित दिया है। (एशियाटिक सोसाइटी ऑव वगाल के सरकारी सग्रह-न० ९९९० मे) ये पत्र १४वी शताब्दी में काठमाण्डू मे नेवारी-अक्षरो में लिखे गये थे। इसमें लिखा है कि शान्तिदेव किसी राजा के पुत्र थे। राजा का नाम मजुवर्मा था। उनकी राजधानी का नाम मिट गया है, पढा नही जाता। (तारानाथ का कहना है वह सुराष्ट्र के राजा का लडका था। तारानाथ का समय इन तालपत्रो के समय से पीछे है)।

शान्तिदेव महायान-धर्म का एक प्रसिद्ध शास्त्रकार हो गया है। दीपकर (अतीश) नागार्जुन, आर्यदेव और अश्वघोष के साथ शान्तिदेव का भी नाम लेते है।

तारानाथ और अन्य तिब्बती-लेखक शान्तिदेव से भली भाँति परिचित है। ('शान्तिदेव', हरप्रसाद शास्त्री द्वारा लिखित, एण्टीक्वेरी, १९१३, पृ० ४९—५२)

जब उनका युवराज-पद पर अभिषेक हुआ, तब उनकी माता ने बताया कि राज्य केवल पाप मे हेतु है। माँ ने कहा—तुम वहाँ जाओ, जहाँ बुद्ध और बोधिसत्त्व मिले। मजुवज्र के पास जाने से तुमको नि श्रेयस् की प्राप्ति होगी। वह एक हरितवर्ण घोडे पर सवार होकर अपने पिता के राज्य से चला गया। कई दिनो तक वह खाना-पीना भूल गया। गहन वन मे एक सुन्दरी ने उसके घोडे को पकड लिया और उसको उसपर से उतारा। उसने पीने के लिए अच्छा पानी दिया, और बकरी का मास भूँजा। उसने कहा कि मैं मजुवज्रसमाधि की शिष्या हूँ। शान्तिदेव प्रसन्न हुआ, क्योकि वह उसी का शिष्य होना चाहता था। १२ वर्ष तक वह गुरु के समीप रहा और मजुश्रीज्ञान का प्रतिलाभ किया। शिक्षा की समाप्ति पर गुरु ने मध्यदेश जाने का आदेश किया। वहाँ वह अचलसेन नाम रखकर 'राउत' हो गया। देवदारु-काष्ठ का एक खड्ग वनवाया और राजा का शीघ्र ही प्रिय हो गया। अन्य राजभृत्य उससे ईर्ष्या करने लगे। उन्होने राजा से निवेदन किया कि इसने देवदारु-वृक्ष का एक खड्ग वनवाया है, यह किस प्रकार युद्ध मे सेवा कर सकेगा। राजा ने सब राजभृत्यो के खड्गो को देखना चाहा। अचलसेन ने कहा कि मेरा खड्ग न देखा जाय। पर राजा ने नही माना और अचलसेन इस शर्त्त पर एकान्त में दिखलाने के लिए तैयार हुआ कि वह एक आँख वन्द कर देगा। राजा ने ज्योही खड्ग देखा, उसकी आँख भूमि पर गिर पडी। राजा को आश्चर्य और प्रसन्नता हुई।

अचलसेन ने खड्ग को पत्थर पर फेंक दिया। नालन्दा गया, और समार का परित्याग किया। शान्तचित्त होने से 'शान्तिदेव' नाम पडा। उसने तीनो पिटको को सुना। उसका नाम भुसुकु भी पडा, क्योकि—भुञ्जानोपि प्रभास्वर, सुप्तोऽपि, कुटीं ततोऽपि तदेवेति भुसुकु ममाधिसमापन्नत्वात् भुसुकु नामख्याति सङ्घेऽपि।

नालन्दा के युवको ने उनके ज्ञान की परीक्षा करने मे उत्सुकता दिखाई। नालन्दा की प्रथा थी कि प्रतिवर्ष ज्येष्ठ मास के शुक्लपक्ष में धर्मकथा होती थी। उन्होने उनको इसके लिए वाध्य किया। नालन्दा-विहार की उत्तर-पूर्व दिशा में एक वडी धर्मशाला थी। उस धर्मशाला में सव पण्डित एकत्र हुए और शान्तिदेव सिंहामन पर वैठाये गये। उसने तत्काल पूछा—

किमार्ष पठामि अथार्ष वा, तत्र ऋषि परमार्थज्ञानवान् ऋष् गतौ इत्यत्र औणादिकः किः। ऋषिणा जिनेत प्रोक्तं आर्ष। ननु प्रज्ञापारमितादौ सुभूत्यादिदेशितं कथमार्षम् इत्यत्रोच्यते युवराजार्यमैत्रेयेण।

यदर्थवद् धर्मपदोपसहितं त्रिधातुसंक्लेशनिवर्हणं वचः।
भवे भवेच्छान्त्यनुशंसदर्शक तद्वत् किमार्ष विपरीतमन्यथा॥

तदाकृष्ट आर्यार्थैरथार्ष सुभूत्यादिदेशना तु भगवदधिष्ठानादित्यदोष।

पण्डित लोग आश्चर्यान्वित हुए और उनसे अथार्ष ग्रन्थ का पाठ सुनाने को कहा। उन्होने विचारा कि स्वरचित तीन ग्रन्थो में से किसका पाठ सुनावे। उन्होने वोधिचर्यावतार को पसन्द किया और पढने लगे—सुगतान् ससुतान् सधर्मकायान् इत्यादि। लेकिन, जव वह—

यदा न भावो नाभावो मते सन्तिष्ठते पुरः।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्वः प्रशाम्यति॥

पढने लगे, तव भगवान् सन्मुख प्रादुर्भूत हुए, और शान्तिदेव को स्वर्ग ले गये। पण्डित आश्चर्यान्वित हुए। उनकी पढु-कुटी (स्टूडेण्ट्स कॉटेज) ढूँढी। वहाँ से तीनो ग्रन्थो को ले उन्हें प्रकाशित किया।

यह वृत्तान्त इन तीन तालपत्रो से प्राप्त होता है।

उनके ग्रन्थो से मालूम होता है कि वह माध्यमिक-दर्शन के अनुयायी थे। वेण्डल का कहना है कि शान्तिदेव के ग्रन्थो में तन्त्र का प्रभाव पाया जाता है। कार्दिये-कृत कैटलॉग से पाया जाता है कि शान्तिदेव 'श्रीगुह्यसमाजमहायोगतन्त्रवलिविधि' नामक तान्त्रिक ग्रन्थ के रचयिता थे। दरवार-लाइब्रेरी, नेपाल मे 'चर्याचर्यविनिश्चय' नामक तालपत्र से मालूम होता है कि भुसुकु ने वज्रयान के कई ग्रन्थ लिखे, वँगला में भुसुकु के कई गान वताये जाते है। एक गान में लिखा कि वह वगाली थे—

४८ रागमल्लारी भुसुकुपादानां—
वाजनाव पाडी पऊँआ खालें वाहिउ।
अदय वंगाले क्लेश लुडिउ॥ ध्रु०॥

आजि भुसुकु बंगाली भइलि—
एने अघरिणी चण्डालि लेलि ॥ध्रु०॥

प्रज्ञापारमिताम्भोधिपरिमथनातमृतपरितोषितसिद्धाचार्य्य भुसुकुपादो बंगालिका व्याजेन तमेवार्थं प्रतिपादयति । प्रज्ञारविन्दकुहरह्लदे सद्गुरुचरणोपायेन प्रवेशित तत्रानन्दादि शब्दो हीत्यादि अक्षरसुखाद्वय वंगालेन वाहित इति अभिन्नत्वं कृतं ।

यह नगर वगाल मे था । वगाल मध्यप्रदेश के आगे है । शान्तिदेव तराई के जगलो मे गये । उनका काल ६४८ ईसवी से ८१६—८३८ ईसवी है, जव कि यह ग्रन्थ तिव्वती-भाषा मे अनूदित हुआ । भुसुकु द्वारा निर्मित वताये जानेवाले गीत भी इसी समय के होगे । यद्यपि ये वौद्धधर्म के सहजिया-सम्प्रदाय के गीत है, जो वज्रयान की एक शाखा है; अथवा उसी का पर्याय है । नेपाल की दरवार-लाइब्रेरी मे 'वोधिचर्यावतारानुशन' नाम का एक ग्रन्थ है, जो कि बोधिचर्यावतार ही है, केवल उसमे कुछ पद जोड दिये गये है । भुसुकु ने एक दोहे मे अपना नाम 'कण्ट' लिखा है—

राउत भणइ कट भुसुकु भणइ कट सअला अइस सहाव ।
ज इतो मूढा अइसी भान्ति पुच्छतु सद्गुरु पाव ॥

हरप्रसाद शास्त्री इस सम्वन्ध मे 'दोहा' मे कुछ और भी कहना चाहते है । वासिलजीन का खयाल है कि अपभ्रश में वौद्ध ग्रन्थ थे । तारानाथ का भी यही मत है । नेपाल मे सन् १८९८-९९ ई० में वेण्डल और मुझको (हरप्रसाद शास्त्री को) 'सुभाषितसग्रह' नामक ग्रन्थ मिला था—वेण्डल ने इसे प्रकाशित किया है ।

इसमे अपभ्रश के कुछ उद्धरण है । सन् १९०७ ई० मे मैंने (हरप्रसाद शास्त्री ने) अपभ्रश के कई ग्रन्थ नेपाल में पाये । इसे मैं (हरप्रसाद शास्त्री) प्राचीन वँगला कहता हूँ । इसमें सन्देह नही कि पूर्व भारत मे ७वी, ८वी और ९वी शताव्दी में यही भाषा वोली जाती थी ।

दशम अध्याय मे हम शान्तिदेव के आधार पर वोधिचर्या एव उनके दर्शन का विस्तार देगे ।

शान्तरक्षित—८वी शताव्दी मे शान्तरक्षित ने तत्त्वसग्रह नाम के ग्रन्थ की रचना की । यह ग्रन्थ कमलशील की टीका के साथ वड़ोदा से प्रकाशित हुआ है । इस ग्रन्थ मे स्वातन्त्रिक-योगाचार की दृष्टि से वौद्ध तथा अन्य दार्शनिक मतवादो का खण्डन किया है । शान्तरक्षित नालन्दा से तिव्वत गये थे । वहाँ उन्होने 'सामये' नाम के सघाराम की स्थापना सन् ७४९ ई० में की थी । इनकी मृत्यु तिव्वत मे सन् ७६२ ई० में हुई ।

नवम अध्याय

माहात्म्य, स्तोत्र, धारणी और तन्त्रो का संक्षिप्त परिचय

महायान-सूत्र और पुराणो मे बडा सादृश्य है। जिस तरह पौराणिक साहित्य में अनेक माहात्म्य और स्तोत्र पाये जाते है, उसी तरह महायान-साहित्य में भी इसी प्रकार की रचनाएँ पाई जाती है। स्वयम्भूपुराण, नेपालमाहात्म्य और इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थो से हम परिचित है। स्वयम्भूपुराण मे नेपाल के तीर्थ-स्थानो की महिमा वर्णित है। यह ग्रन्थ पुराना नही है। महावस्तु तथा ललितविस्तर मे भी कुछ स्तोत्र पाये जाते है। मातृचेट के स्तोत्र का हम पहले उल्लेख कर चुके है।

तिब्बती-अनुवाद में नागार्जुन का चतुःस्तव मिलता है। सुप्रभातस्तव, लोकेश्वर-शतक और परमार्थ नाम संगीति भी प्रसिद्ध है। तारा के लिए अनेक स्तोत्र लिखे गये है। ८वी शताब्दी में इस प्रकार का एक स्तोत्र कश्मीरी कवि सर्वज्ञमित्र ने लिखा था। इसका नाम आर्यतारा-स्रग्धरा-स्तोत्र है।

धारणी का महायान-साहित्य मे बडा स्थान है। धारणी रक्षा का काम करती है। जो कार्य वैदिक मन्त्र करते थे, विशेषकर अथर्ववेद के, वही कार्य बौद्धधर्म में 'धारणी' करती है। सिंहल मे आज भी कुछ सुन्दर 'सुत्तों' से 'परित्त' का काम लेते है। इसी प्रकार, महायान धर्मानुयायी सूत्रो को मन्त्रपदो मे परिवर्त्तित कर देते थे। अल्पाक्षरा प्रज्ञापारमिता(सूत्र)धारणी का काम करती है। धारणियो में प्राय बुद्ध, बोधिसत्त्व और ताराओ की प्रार्थना होती है। धारणी के अन्त में कुछ ऐसे अक्षर होते है, जिनका कोई अर्थ नही होता। धारणी के साथ कुछ अनुष्ठान भी होते है। अनावृष्टि, रोग आदि के समय धारणी का प्रयोग होता है। पाँच धारणियो का एक संग्रह 'पंचरक्षा' नेपाल में अत्यन्त लोकप्रिय है। इनके नाम इस प्रकार है—महाप्रतिसार, महासहस्रप्रमर्दिनी, महामयूरी, महाशीतकर्त्ता, महा (रक्षा) मन्त्रानुसारिणी। महामयूरी को विद्या राज्ञी कहते है। सर्पदंश तथा अन्य रोगो के लिए इसका प्रयोग करते है। हर्षचरित में इसका उल्लेख है।

मन्त्रयान और वज्रयान महायान की शाखाएँ है। मन्त्रयान मे मन्त्रपदो के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है। इन मन्त्रपदो में गुह्यशक्ति होती है। वज्रयान में मन्त्रो द्वारा तथा 'वज्र' द्वारा निर्वाण का लाभ होता है। शून्य और विज्ञान वज्रतुल्य है और इसलिए उनका विनाश नही होता। वज्रयान अद्वैत-दर्शन की शिक्षा देता है। सब सत्त्व वज्र-सत्त्व है। और एक ही वज्र-सत्त्व सब जीवो मे पाया जाता है।

शाक्तो के अनुसार त्रिकाय के अतिरिक्त एक सुखकाय भी है। इस महासुख की प्रीति एक अनुष्ठान द्वारा होती है। मन्त्रयान और वज्रयान का साहित्य 'तन्त्र' कहलाता है। कुछ महायानसूत्र ऐसे है, जिनमे तन्त्र-भाग भी पाया जाता है। बौद्ध तन्त्रो के चार वर्ग है—क्रिया-तन्त्र, जिसमे मन्दिर-निर्माण, प्रतिमा-प्रतिष्ठा आदि से सम्बन्ध रखनेवाले अनुष्ठान वर्णित है; चर्यातन्त्र, जिसमे चर्या का वर्णन है, योगतन्त्र, जिसमें योग की क्रिया वर्णित है और अनुत्तरयोग-तन्त्र। प्रथम वर्ग का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आदिकर्मप्रदीप' है, जिसहे गृह्यसूत्रो तथा कर्मप्रदीपो की शैली में बुद्धत्व की कामना से महायान का अनुसरण करनेवाले 'आदिकर्मिक बोधिसत्त्व' की दीक्षा के नियमो तथा उसकी दिनचर्या बताई गई है। क्रियातन्त्र का दूसरा ग्रन्थ 'अष्टमी-व्रत-विधान' है, जिसमें प्रतिपक्ष की अष्टमी को रहस्यमय मन्त्रो और मुद्राओ के करने का अनुष्ठान विहित है।

तन्त्र-साहित्य में साधनाओ का भी समावेश होता है। साधनाओ में मन्त्रो, मुद्राओ और ध्यान के द्वारा अणिमा, लघिमा आदि सिद्धियो के अतिरिक्त सर्वज्ञता तथा निर्वाण की सिद्धि के उपाय बताये गये है। ध्यान के लिए उपास्य देवो का जो वर्णन किया गया है, उसका बौद्ध शिल्पियो ने मूर्त्ति-निर्माण के लिए पर्याप्त उपयोग किया है। इस दृष्टि से 'साधनमाला', जिसमे ३१२ साधनाएँ सगृहीत है, तथा 'साधनसमुच्चय' जैसे ग्रन्थो का बडा महत्त्व है। उपास्य देवो मे ध्यानी बुद्ध तथा उनके कुटुम्व और तारा आदि देवियाँ भी है। बौद्धो का कामदेव भी है, जिसका नाम वज्रानग है, और जो मजुश्री का अवतार है। साधनाओ का मुख्य तात्पर्य तन्त्र और इन्द्रजाल से है, यद्यपि इनका अधिकार प्राप्त करने के लिए योगाभ्यास, ध्यान, पूजा, मैत्री, करुणा आदि का अनुष्ठान करना आवश्यक बताया गया है। 'तारा-साधना' में इन गुणो का विस्तृत निरूपण है। साधनाओ का निर्माण-काल ७वी से ११वी शताब्दी तक माना गया है। कतिपय साधनाओ के प्रणेता तन्त्रो के भी प्रणेता बताये गये है। नागार्जुन ने (माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रणेता नही) ७वी शताब्दी मे अनेक साधनाओ और तन्त्रो का प्रणयन किया। इनके सम्बन्ध मे कहा जाता है कि ये एक साधना भोट देश, अर्थात् तिव्वत से लाये थे। इनके अनेक तन्त्र-ग्रन्थ तजोर में पाये गये है। उड्डयान (उडीसा) के राजा और 'ज्ञान-सिद्धि' तथा अनेक अन्य तन्त्र-ग्रन्थो के रचयिता इन्द्रभूति (६८७–७१७ ई०) भी एक साधना के प्रणेता बताये जाते है। इनके समकालीन पद्मवज्र-कृत 'गुह्यसिद्धि' मे वज्रयान की समस्त गुह्यक्रियाओ का निरूपण है। इन्द्रभूति के पुत्र पद्मसम्भव लामा-सम्प्रदाय के प्रणेता थे। इन्द्रभूति की बहन लक्ष्मीकरा ने अपने ग्रन्थ 'अद्वयसिद्धि' मे सहजयान के नवीन अद्वैत-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जो बगाल के बाउल लोगो मे अव भी प्रचलित है। उसने तपस्या, क्रिया तथा मूर्त्तिपूजा का खण्डन किया, और सर्वदेवो के निवासस्थान मानव-शरीर का ध्यान करने का विधान किया। तन्त्र-लेखको मे 'सहजयोगिनीचिन्ता' आदि अन्य प्रमुख लेखिकाओ के अनेक नाम दिखाई देते है।

प्रारम्भिक तन्त्र महायानसूत्रो से बहुत मिलते-जुलते है। इसमें ७वी शती में प्रणीत 'तथागतगुह्यक' या 'गुह्यसमाज' बडा प्रामाणिक ग्रन्थ है। 'पचकर्म इसी का एक

अश कहा जाता है। यह अनुत्तर योगतन्त्र है। इसमें मुख्य रूप से योगसिद्धि की पाँच भूमियों का ही वर्णन है, किन्तु इन भूमियो की प्राप्ति के उपाय मण्डल, यन्त्र, मन्त्र और देवपूजन बताये गये हैं। इस ग्रन्थ के पाँच भाग है। तीसरे भाग के रचयिता शाक्यमित्र (८५० ई०) तथा शेष ४ भागो के प्रणेता नागार्जुन बताये गये हैं।

'मजुश्रीमूलकल्प' नाम का ग्रन्थ अपने को 'अवतसक' के अन्तर्गत 'महावैपुल्यमहायान-सूत्र' के रूप मे प्रकट करता है। किन्तु, विषय की दृष्टि से यह मन्त्रयान के अन्तर्गत है। इसमे शाक्यमुनि ने मजुश्री को मन्त्र, मुद्रा और मण्डलादि का उपदेश किया है। 'एकल्लवीर-चण्डमहारोपणतन्त्र' मे एक ओर महायान-दर्शन के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या की गई है और दूसरी ओर योगिनियो की साधनाएँ बताई गई है। 'श्रीचक्रसम्भारतन्त्र' में, जो केवल तिब्बती-भाषा मे उपलब्ध है, महासुख की प्राप्ति के साधन-रूप से मन्त्र, ध्यान आदि का निरूपण है और मन्त्रो की प्रतीकात्मक व्याख्या की गई है।

दशम अध्याय

महायान में साधना की नई दिशा

महायान में उपदेशको का अदम्य उत्साह और जीवो की अर्थचर्या की अमिट अभिलाषा थी। उनका आदर्श अर्हत् के समान व्यक्तिगत निःश्रेयस् के लाभ का न था। पूर्णावदान में इस नये प्रकार के भिक्षु का चित्र हमको मिलता है। यह कथा पालिनिकाय मे भी है (सयुक्त, ४।६०, मज्झिम, ३।२६७)। किन्तु, दिव्यावदान में इसका विकसित रूप मिलता है। दिव्यावदान के अनुसार पूर्ण जन्म से ही रूपवान्, गौर, सुवर्णवर्ण का था और वह महापुरुष के कुछ लक्षणो से समन्वागत था। शाक्यमुनि ने उसकी उपसम्पदा की थी। उसने बुद्ध से सक्षिप्त अववाद की देशना चाही। भगवत् ने देशनानन्तर पूछा कि तुम किस जनपद मे विहार करोगे? पूर्ण ने कहा—श्रोणापरान्तक मे। बुद्ध ने कहा—किन्तु वहाँ के लोग चण्ड है, परुषवाची है। यदि आक्रोश करे, तुम्हारा अपवाद करे, तो तुम क्या सोचोगे? पूर्ण ने कहा—मै सोचूँगा कि वे लोग भद्रक है, जो मुझे हाथ से नही मारते; केवल परुष-वचन कहते है। बुद्ध ने फिर कहा—यदि वह हाथ से मारें, तो क्या सोचोगे? पूर्ण ने कहा कि मै सोचूँगा कि वे लोग भद्रक है, जो मुझे हाथ से मारते है, दण्ड से नही मारते। बुद्ध ने पुन पूछा—यदि वे दण्ड से मारे? पूर्ण ने कहा—तब मै सोचूँगा कि भद्र पुरुष है, जो मेरे प्राण नही हर लेते। और यदि वे प्राण हर ले? पूर्ण ने कहा—तब मै सोचूँगा कि वे भद्रपुरुष है, जो मुझे इस पूतिकाय (दुर्गन्धपूर्ण शरीर) से अनायास ही विमुख करते है। बुद्ध ने कहा—साधु-साधु! इस उपशम से, इस क्षान्तिपारमिता से समन्वागत हो, तुम उन चण्ड पुरुषो में विहार कर सकते हो। जाओ पूर्ण! दूसरो को विमुक्त करो। दूसरो को ससार के पार लगाओ।

पूर्ण का आदर्श अर्हत्त्व नही है। वह बोधिसत्त्व है, अर्थात् उसका अभिप्राय बोधि की प्राप्ति है। वह कुछ लक्षणो से अन्वित है, सब लक्षणो से नही, जैसे बुद्ध होते है। इससे यह सिद्ध होता है कि पूर्ण बोधिचर्या मे कुछ उन्नति कर चुका है। उष्णीष, ऊर्णा, उसके लम्बे हाथ, सब इसके चिह्न है। वह क्षान्तिपारमिता से समन्वागत है। जब वह श्रोणापरान्तक में उपदेश का कार्य आरम्भ करता है, तब लोग उसके साथ दुष्ट व्यवहार करते है। एक लुब्धक, जो आखेट के लिए जा रहा था, इस मुण्डित भिक्षु को देखकर, उसे अपशकुन समझा, उसकी ओर दौडा। पूर्ण ने उससे कहा कि तुम मुझे मारो, हरिण का वध मत करो। यह नवीन प्रकार का भिक्षु है, जो धर्म के प्रचार को सबसे अधिक महत्त्व देता है। इसमें सन्देह नही कि हीनयान के भिक्षुओ में भी इस प्रकार का उत्साह था, जैसे आनन्द में। किन्तु, इस नये भिक्षु

की साधना अष्टांगिक मार्ग की नही है, पारमिता की है। यह क्षान्तिपारमिता में परिपूर्ण है। यह बुद्ध होना चाहता है, अर्हत् नही। जातक की निदान-कथा से मालूम होता है कि शाक्यमुनि ने ५४७ जन्मो मे पारमिताओ की साधना की थी। बुद्ध होने के पूर्व वे बोधिसत्त्व थे। इस चर्या से उन्होने पुण्य और ज्ञान-सम्भार प्राप्त किया था। वेस्सन्तर जातक में बोधिसत्त्व ने अपने शरीर का मास भी दान मे दे दिया था। वे सबके साथ मैत्री-भाव रखते थे। वे कहते है—जैसे माता अपने एकमात्र पुत्र की रक्षा प्राण देकर भी करती है, उसी प्रकार सब जीवो के साथ अप्रमेय (प्रमाण-रहित) मैत्री होनी चाहिए। इस नई विचार-प्रणाली के अनुसार भिक्षु इस मैत्री-भावना के बिना नही हो सकता। इस दृष्टि में बुद्ध का पूर्ण वैराग्य ही पर्याप्त नही है, किन्तु बुद्ध की सक्रिय मैत्री भी चाहिए। यह महायान का आदर्श है। बोधिसत्त्व ससार के जीवो के निस्तार के लिए निर्वाण मे प्रवेश को भी स्थगित कर देता है। वह सब जीवो को दु ख से विमुक्त करना चाहता है। वह कहता है कि सबका दु ख-सुख बराबर है। मुझे सबका पालन आत्मवत् करना चाहिए। जब सबको समान रूप से दु ख और भय अप्रिय है, तब मुझमें क्या विशेषता है, जो मै अपनी ही रक्षा करूँ, दूसरो की न करूँ। उसके अर्हत्त्व से क्या लाभ, जो अपने लिए ही अर्हत् है? क्या वह राग-विनिर्मुक्त है, जो अपने ही दुःख-विमोचन का खयाल करता है? जो केवल अपने ही निर्वाण का विचार करता है, जो स्वार्थी है, जो सर्वक्लेश-विनिर्मुक्त है, जो द्वेष और करुणा दोनो से विनिर्मुक्त है, ऐसा अर्हत् क्या निर्वाण के मार्ग का पथिक होगा? हीनयानी व्यर्थ कहते है कि उनका अर्हत् जीवन्मुक्त है। सच्चा अर्हत् बोधिसत्त्व है। इनके अनुसार हीनयानियो का मोक्ष अरमिक है (बोधिचर्यावतार, ८।१०८)। अर्हत् के निर्वाण और बुद्ध के निर्वाण में भी भेद हो गया। स्तोत्रकार मातृचेट कहते है कि जिस प्रकार नील आकाश और रोमकूप के विवर दोनो आकाश-धातु है, किन्तु दोनो में आकाश-पाताल का अन्तर है, उसी प्रकार का अन्तर भगवत् के निर्वाण और दूसरो के निर्वाण में है।

बुद्ध के पूर्वजन्म

शाक्यमुनि सर्वज्ञ थे। वे परम कारुणिक थे। जीवो के उद्धार के लिए उन्होने उस सत्य का उद्घाटन किया और उस मार्ग का आविष्कार किया, जिस पर चलकर लोग ससार से मुक्त होते है। उन्होने सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति केवल अपने लिए नही की, किन्तु अनेक जीवो के क्लेश-बन्धन को नष्ट करने के लिए की। इसके विपरीत अर्हत् केवल अपने निर्वाण के लिए यत्नवान् होता था। अर्हत् का आदर्श बुद्ध के आदर्श की अपेक्षा तुच्छ था। इस विशेषता का कारण यह है कि बुद्ध ने पूर्वजन्मो में पुण्यराशि का सचय किया था, और अनन्त ज्ञान प्राप्त किया था। भगवान् बुद्ध का जीवनचरित अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वह पूर्वजन्मो में 'बोधिसत्त्व' थे। जातक की निदान-कथा में वर्णित है कि अनेक कल्प व्यतीत हो गये कि शाक्यमुनि अमरवती नगरी में, एक ब्राह्मण-कुल में, उत्पन्न हुए थे। उनका नाम सुमेध था। बाल्यकाल मे ही उनके माता-पिता का देहान्त हो गया था। सुमेध को वैराग्य उत्पन्न हुआ और

उसने तापस-प्रव्रज्या की। एक दिन उसने विचार किया कि पुनर्भव दु ख है, मैं उस मार्ग का अन्वेषण करता हूँ, जिसपर चलने से भव से मुक्ति मिलती है। ऐसा मार्ग अवश्य है। जिस प्रकार लोक मे दु ख का प्रतिपक्ष सुख है, उसी प्रकार भव का भी प्रतिपक्ष विभव होना चाहिए। जिस प्रकार उष्ण का उपशम शीत है, उसी प्रकार रागादि दोष का उपशम निर्वाण है। ऐसा विचार कर सुमेध तापस हिमालय मे पर्णकुटी बनाकर रहने लगे। उस समय लोकनायक दीपकर बुद्ध ससार में धर्मोपदेश करते थे। एक दिन सुमेध तापस आश्रम से निकलकर आकाश-मार्ग से जा रहे थे, देखा कि लोग नगर को अलकृत कर रहे है, भूमि को समतल कर रहे है, उस पर बालुका आकीर्ण कर लाज और पुष्प विकीर्ण कर रहे है, नाना रग के वस्त्रो की ध्वजा-पताका का उत्सर्ग कर रहे है और कदली तथा पूर्ण घट की पक्ति प्रतिष्ठित कर रहे है। यह देखकर सुमेध आकाश से उतरे और लोगो से पूछा कि किसलिए मार्ग-शोधन हो रहा है। सुमेध को प्रीति उत्पन्न हुई और 'बुद्ध-बुद्ध' कहकर वे बडे प्रसन्न हुए। सुमेध भी मार्ग-शोधन करने लगे। इतने में दीपकर बुद्ध आ गये। भेरी बजने लगी। मनुष्य और देवता 'साधु-साधु' कहने लगे। आकाश से मन्दार-पुष्पो की वर्षा होने लगी। सुमेध अपनी जटा खोलकर, वल्कल, चीर और चर्म बिछाकर, भूमि पर लेट गये और यह विचार किया कि यदि दीपकर मेरे शरीर का अपने चरणकमल से स्पर्श करे, तो मेरा हित हो। लेटे-लेटे उन्होने दीपकर की बुद्धश्री को देखा और चिन्ता करने लगे कि सर्वक्लेश का नाश कर निर्वाण-प्राप्ति से मेरा उपकार न होगा। मुझको यह अच्छा मालूम होता है कि मै भी दीपकर की तरह परम सम्बोधि प्राप्त कर अनेक जीवो को धर्म की नौका पर चढाकर ससार-सागर के पार ले जाऊँ, और पश्चात् स्वय परि-निर्वाण में प्रवेश करूँ। यह विचार कर उन्होने 'बुद्धभाव' के लिए उत्कट अभिलाषा (पालि= अभिनीहार) प्रकट की।

दीपकर के समीप सुमेध ने बुद्धत्व की प्रार्थना की और ऐसा दृढ विचार किया कि बुद्धो के लिए मै अपना जीवन भी परित्याग करने को उद्यत हूँ। इस प्रकार, सुमेध अधिकार-सम्पन्न हुए।

दीपकर पास आकर बोले—इस जटिल तापस को देखो। यह एक दिन बुद्ध होगा। यह बुद्ध का 'व्याकरण' हुआ। 'यह एक दिन बुद्ध होगा', इस वचन को सुनकर देवता और मनुष्य प्रसन्न हुए और बोले—यह 'बुद्धबीज' है, यह 'बुद्धाकुर' है। वहाँ पर जो 'जनपुत्र' (बुद्धपुत्र) थे, उन्होने सुमेध की प्रदक्षिणा की, लोगो ने कहा—तुम निश्चय ही बुद्ध होगे। दृढ पराक्रम करो, आगे बढो, पीछे न हटो। सुमेध ने सोचा कि बुद्ध का वचन अमोघ होगा।

बुद्धत्व की आकाक्षा की सफलता के लिए सुमेध बुद्धकारक धर्मों का अन्वेपण करने लगे, और महान् उत्साह प्रदर्शित किया। अन्वेषण करने से १० पारमिताएँ प्रकट हुई, जिनका आसेवन पूर्वकाल मे बोधिसत्त्वो ने किया था। इन्ही के ग्रहण से बुद्धत्व की प्राप्ति होगी। 'पारमिता' का अर्थ है 'पूर्णता', पालिरूप 'पारमी' है। दस पारमिताएँ ये है —दान, शील, नैष्क्रम्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान (दृढ निश्चय), मैत्री (अहित और हित मे समभाव

रखना) तथा उपेक्षा (सुख और दुःख मे समान रूप रहना)। सुमेध ने बुद्धगुणो का ग्रहण कर दीपकर को नमस्कार किया। सुमेध की चर्या, अर्थात् साधना प्रारम्भ हुई और ५५० विविध जन्मो के पश्चात् वह तुपित-लोक में उत्पन्न हुए, और वहाँ बोधि-प्राप्ति के सहस्र वर्ष पूर्व बुद्ध-हलाहल शब्द इस अभिप्राय से हुआ कि सुमेध की सफलता निश्चित है। तुपितलोक से च्युत होकर मायादेवी के गर्भ में उनकी अवक्रान्ति हुई, और मनुष्यभाव धारण कर उन्होंने सम्यक् सम्बोधि प्राप्त की।

सुमेध-कथा से स्पष्ट है कि सुमेध ने सम्यक् सम्बोधि के आगे अर्हत् के आदर्श निर्वाण को तुच्छ समझा और बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए दस पारमिताओ का ग्रहण किया। शाक्य मुनि ने ५५० विविध जन्म लेकर पारमिताओ द्वारा सम्यक् सम्बुद्ध की लोकोत्तर सम्पत्ति प्राप्त की। शाक्यमुनि का पुण्य-सम्भार और ज्ञान अर्हत् के पुण्य-सम्भार और ज्ञान से कही बढकर है। बुद्ध अन्य अर्हतो से भिन्न हैं, क्योकि उन्होने निर्वाण-मार्ग का आविष्कार किया है। अर्हत् ने बुद्ध के मुख से दुःख-निरोध का उपाय श्रवण किया, और उनके बताये हुए मार्ग का अनुसरण कर अर्हत-अवस्था प्राप्त की। बुद्ध का ज्ञान अनन्त है और उनकी चर्या, साधना परार्थ है।

बुद्धत्व

महायान-धर्म सर्वभूतदया पर आश्रित है। 'आर्यगयाशीर्ष' में कहा है—

किमारम्भा मञ्जुश्री बोधिसत्त्वानां चर्या। किमधिष्ठाना। मञ्जुश्रीराह महाकरुणारम्भा देवपुत्र बोधिसत्त्वाना चर्या सत्त्वाधिष्ठानेति विस्तर.।

(बोधिचर्यावतारपजिका, पृ० ४८७)

अर्थात्, हे मजुश्री, बोधिसत्त्वो की चर्या का आरम्भ क्या है, और उसका अधिष्ठान, अर्थात् आलम्बन क्या है? मजुश्री बोले—हे देवपुत्र! बोधिसत्त्वो की चर्या महाकरुणा-पुरःसर होती है, अतः महाकरुणा ही उसका आरम्भ है। इस करुणा के जीव ही पात्र हैं। दुःखित जीवो का आलम्बन करके ही करुणा की प्रवृत्ति होती है।

आर्यधर्मसगीति में कहा है—

न भगवन् बोधिसत्त्वेनातिबहुषु धर्मेषु शिक्षितव्यम्। एक एव हि धर्मो बोधिसत्त्वेन स्वाराधितकर्त्तव्य. सुप्रतिविद्ध। तस्य करतलगता सर्वे बुद्धधर्मा भवन्ति।

भगवन्! येन बोधिसत्त्वस्य महाकरुणा गच्छति तेन सर्वबुद्धधर्मा. गच्छन्ति। तद्यथा भगवन् जीवितेन्द्रिये सति शेषाणाम् इन्द्रियाणा प्रवृत्तिर्भवति एवमेव भगवन् महाकरुणायां सत्याम् बोधिकारकाणाम् धर्माणा प्रवृत्तिर्भवति।

(बोधि०, पृ० ४८६–४८७)

अर्थात्, हे भगवन्, बोधिसत्त्व के लिए बहुधर्म की शिक्षा का ग्रहण अनावश्यक है। बोधिसत्त्व को एक ही धर्म स्वायत्त करना चाहिए। उसके हस्तगत होने से सब बुद्धधर्म हस्तगत होते है। जिस ओर महाकरुणा की प्रवृत्ति होती है, उसी ओर सब बुद्धधर्मो की प्रवृत्ति होती है, जिस प्रकार जीवितेन्द्रिय के रहते अन्य इन्द्रियो की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार महाकरुणा के रहने से बोधिकारक अथवा बोधिपाक्षिक धर्मों की प्रवृत्ति होती है।

महायान-धर्म मे महाकरुणा को सम्यक् सम्बोधि का साधन माना है। भगवान् बुद्ध के चरित से भी महाकरुणा की उपयोगिता प्रकट होती है। 'महावग्ग' मे वर्णित है कि जब भगवान् को बोधि-वृक्ष के तले सम्बोधि प्राप्त हुई, तब धर्म-देशना मे उनकी प्रवृत्ति न थी। उन्होने सोचा कि लोग अन्धकार से आच्छन्न है, और राग-दोष से सयुक्त है। अत , धर्म का प्रकाश नही देख सकते। यदि मै इन्हे धर्मोपदेश भी करूँ, तब भी इनको सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति न होगी। बुद्ध का यह भाव जानकर ब्रह्मा सहम्पति को चिन्ता हुई कि यदि बुद्ध धर्मोपदेश न करेगे, तो ससार नष्ट हो जायगा। आर्त्तजन को दु खार्णव के उस पार कौन ले जायगा, और धर्मनदी का प्रवर्त्तन कर कौन जीवलोक की तृष्णा का उपशम करेगा ? यह विचार कर ब्रह्मा बुद्ध के सम्मुख प्रादुर्भूत हुए, और भगवान् से प्रार्थना की, कि भगवान् धर्म का उपदेश करे, नही तो जो लोग दोषपूर्ण है, वे धर्म का परित्याग कर देगे। भगवान् ने कहा कि मैने गम्भीर और दुरनुबोध धर्म पाया है, पर धर्म-देशना मे मेरा चित्त नही लगता। ब्रह्मा के विशेष प्रार्थना करने पर जीवो पर करुणा कर भगवान् ने बुद्ध-चक्षु से लोक को देखा और जाना कि जीव दु खार्दित है। अत , ब्रह्मा सहम्पति की प्रार्थना भगवान् ने स्वीकार की और सर्वभूतदया से प्रेरित होकर सत्त्वो के कल्याण के लिए धर्मोपदेश किया।

जहाँ 'हीनयान' का अनुगामी केवल अपने दुःख का अत्यन्त निरोध चाहता है, वहाँ महायान-धर्म का साधक बुद्ध के समान अपने ही नही, किन्तु सत्त्व-समूह के जन्म-मरणादि दु खो का अपनयन चाहता है। बोधिचर्या (बुद्धत्व की प्राप्ति की साधना, जो पारमिता की साधना है) का ग्रहण केवल इसी अभिप्राय से है कि जिसमें साधक सब चीजो का समुद्धरण करने में समर्थ हो। महायान का अनुगामी निर्वाण का अधिकारी होते हुए भी भूतदया से प्रेरित हो, ससार का उपकार करने के लिए अपने इस अपूर्व अधिकार का भी परित्याग करता है। इसी कारण महायान-ग्रन्थो में सप्तविध अनुत्तर पूजा का एक अग 'बुद्ध-याचना' कहा है, जिसमें निर्वाण की इच्छा रखनेवाले कृतकृत्य जनो से प्रार्थना की जाती है, कि वे अनन्त कल्प तक निवास करें, जिसमे यह लोक अन्धकार से आच्छन्न न हो।

हीनयान तथा महायान की परस्पर तुलना करते हुए अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता के एकादश परिवर्त्त मे कहा है कि हीनयान के अनुयायी का विचार होता है कि मै एक आत्मा का दमन करूँ, एक आत्मा को शम की उपलब्धि कराऊँ और एक आत्मा को निर्वाण की प्राप्ति कराऊँ। उसकी सारी चेष्टाएँ इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए होती है। पर बोधिसत्त्व की शिक्षा अन्य प्रकार की है। उसका अभिप्राय उदार और उत्कृष्ट है। वह अपने को परमार्थ-सत्य मे स्थापित करना चाहता है, पर साथ-ही-साथ सब सत्त्वो की भी परमार्थ-सत्य मे प्रतिष्ठा चाहता है। वह अप्रमेय सत्त्वो को परिनिर्वाण की प्राप्ति कराने के लिए उद्योग करता है, इसलिए बोधिसत्त्व को हीनयान की शिक्षा ग्रहण न करनी चाहिए। सर्वज्ञान के मूल स्वरूप प्रज्ञापारमिता को छोडकर जो शाखा-पत्र-स्वरूप हीनयान मे सार-वृद्धि देखते है, वह भूल करते है।

एक महायान-ग्रन्थ का कहना है कि महाकरुणा ही मोक्ष का उपाय है। हीनयान-वादी इस मोक्षोपाय को नही रखता। उसकी प्रज्ञा असमर्थ है, क्योकि वह पाप-शोधन का उपाय नही रखता।

महायान-ग्रन्थो के अनुसार जो बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए यत्नवान् है, अर्थात् जो बोधिसत्त्व है, उसे षट् पारमिता का ग्रहण करना चाहिए। दान-शीलादि गुणो में जिसने पूर्णता प्राप्त की है, उसके लिए कहा जाता है कि इसने दान-शीलादि पारमिता हस्तगत कर ली है। यही बोधिसत्त्व-शिक्षा है और इसी को बोधिचर्या कहते है।

षट् पारमिताएँ निम्नलिखित हैं—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। षट् पारमिता में प्रज्ञापारमिता का प्राधान्य है। प्रज्ञापारमिता यथार्थ ज्ञान को कहते हैं। इसका दूसरा नाम भूत-तथता है। प्रज्ञा के बिना पुनर्भव का अन्त नही होता। प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए ही अन्य परमिताओ की शिक्षा कही गई है। प्रज्ञा द्वारा परिशोधित होने पर ही दान आदि पूर्णता को प्राप्त होते है, और 'पारमिता' का व्यपदेश प्राप्त करते है। बुद्धत्व की प्राप्ति में इस पुण्य-सम्भार की परिणामना होने के कारण ही इनकी पारमिता सार्थक होती है। यह पच-पारमिता प्रज्ञा-रहित होने पर लौकिक कहलाती है। उदाहरण के लिए, जबतक दाता भिक्षु दान और अपने अस्तित्व में विश्वास रखता है, तबतक उसकी दान-पारमिता लौकिक होती है, पर जब वह इन तीनो के शून्य-भाव को मानता है तब उसकी पारमिता लोकोत्तर कहलाती है। जब पचपारमिताएँ प्रज्ञापारमिता से समन्वागत होती हैं, तभी वह सचक्षुष्क होती हैं, और उसको लोकोत्तर सज्ञा प्राप्त होती है। प्रज्ञा की प्रधानता होते हुए भी अन्य पारमिताओ का ग्रहण नितान्त आवश्यक है। सम्बोधि की प्राप्ति मे दान प्रथम कारण है, शील दूसरा कारण है। दान, शील की अनुपालना क्षान्ति द्वारा होती है। दानादि-त्रितय पुण्य-सम्भार, वीर्य, अर्थात् कुशलोत्साह के विना नही हो सकता है। और, बिना ध्यान, अर्थात् चित्तैकाग्रता के प्रज्ञा का प्रादुर्भाव नही होता, क्योकि समाहितचित्त होने से ही यथाभूत परिज्ञान होता है, जिससे सब आवरणो की अत्यन्त हानि होती है।

इसी बोधिचर्या का वर्णन शान्तिदेव ने बोधिचर्यावतार तथा शिक्षासमुच्चय मे विशेष रूप से किया है। शान्तिदेव महायान-धर्म के एक प्रसिद्ध शास्त्रकार हो गये हैं। इनके ग्रन्थो के आधार पर हम बोधिचर्या का वर्णन करेंगे।

बोधिचित्त तथा बोधिचर्या

मनुष्य-भाव की प्राप्ति दुर्लभ है। इसी भाव में परम पुरुपार्थ अभ्युदय और नि श्रेयस् की प्राप्ति के साधन उपलब्ध होते है। यही भाव अक्षणो[1] से विनिर्मुक्त हैं। अक्षणावस्था में

---

[1] आठ अक्षण ये हैं—नरकोपपत्ति, तिर्यगुपपत्ति, यमलोकोपपत्ति, प्रत्यन्तजनपदोपपत्ति, दीर्घायुष्देवोपपत्ति, इन्द्रियविकलता, मिथ्यादृष्टि, और चित्तोत्पादविरागिता। (धर्मसग्रह)

धर्म-प्रविचय करना अशक्य है, इसलिए इस सुअवसर को खोना न चाहिए। यदि हमने मनुष्य-भाव मे अपने और पराये हित की चिन्ता न की, तो ऐसा समागम हमको फिर प्राप्त न होगा। मनुष्य-भाव मे भी अकुशल पक्ष मे अभ्यस्त होने के कारण साधारणतया मनुष्य की बुद्धि शुभ-कर्म मे रत नही होती। पुण्य सर्वकाल मे दुर्बल है और पाप अत्यन्त प्रबल है। ऐसी अवस्था मे प्रबल पाप पर विजय केवल किसी बलवान् पुण्य द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। भगवान् बुद्ध ही लोगो की अस्थिर मति को एक मुहूर्त्त के लिए शुभकर्मो की ओर प्रेरित करते है। जिस प्रकार बादलो से घिरे हुए आकाश-मण्डल मे रात्रि के समय क्षणमात्र के विद्युत्प्रकाश से वस्तु-ज्ञान होता है, उसी प्रकार इस अन्धकारमय जगत् मे भगवत्कृपा से ही क्षणमात्र के लिए मानव-बुद्धि शुभकर्मों मे प्रवृत्त होती है। वह बलवान् शुभ कौन-सा है, जो घोरतम पाप को अपने तेज से अभिभूत करता है? यह शुभ बोधिचित्त ही है। इससे बढकर पाप का प्रतिघातक और विरोधी दूसरा नही है। बोधिचित्त क्या है? सब जीवो के समुद्धरण के अभिप्राय से बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए सम्यक् सम्बोधि मे चित्त का प्रतिष्ठित होना बोधिचित्त का ग्रहण करना है। एक बोधि-चित्त ही सर्वार्थसाधन की योग्यता रखता है। इसी के द्वारा अनेक जीव भवसागर के पार लगते है। बोधिचित्त का ग्रहण सदा सबके लिए आवश्यक है। इसका परित्याग किसी अवस्था मे न होना चाहिए। जो श्रावक की तरह दु ख का अत्यन्त निरोध चाहते है, जो बोधिसत्त्वो की तरह केवल अपने ही नही, किन्तु सत्त्वसमूह के दु खो का अपनयन चाहते है, और जिनको दु खाप-नयनमात्र नही, वरच ससार-सुख की भी अभिलाषा है, उन सबको सदा बोधिचित्त का ग्रहण करना चाहिए। शान्तिदेव बोधिचर्यावतार (प्रथम परिच्छेद, श्लोक ८) मे कहते है—

भवदु.खशतानि तर्त्तुकामैरपि सत्त्वव्यसनानि हर्त्तुकामै ।
बहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्यं हि सदैव बोधिचित्तम् ॥

बोधिचित्त के उदय के समय ही वह बुद्धपुत्र हो जाता है, और इस प्रकार देवता और मनुष्य सब उसकी वन्दना और स्तुति करते है। जिस प्रकार एक पल रस, सहस्र पल लोहे को सोना बना देता है, उसी प्रकार बोधिचित्त एक प्रकार का रसधातु है, जो मनुष्य के अमेध्य कलेवर और स्वभाव को बुद्ध-विग्रह और स्वभाव मे परिवर्त्तित कर देता है। बोधिचित्त-ग्रहण से पापशुद्धि होती है, ऐसा आर्य मैत्रेय ने विमोक्ष मे कहा है। जिस प्रकार एक गुहा का सहस्रो वर्षो से सचित अन्धकार प्रदीप के प्रवेशमात्र से ही नष्ट हो जाता है, और वहाँ प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार बोधिचित्त अनेक कल्पो के सचित पाप का ध्वस और ज्ञान का प्रकाश करता है। यह केवल सर्वशुभ का सचय ही नही करता, वरच उन समस्त दारुण और महान् पापो का एक क्षण मे क्षय करता है, जो बोधिचित्त-ग्रहण के पूर्व किये गये है। जिस प्रकार कोई बडा अपराध करके भी किसी बलवान् की शरण मे जाने से अपनी रक्षा करता है, उसी प्रकार बोधिचित्त का आश्रय ग्रहण करने से एक ही क्षण मे पुण्यराशि का अनुपम लाभ होता है, और समस्त पाप का ध्वस हो जाता है। बोधिचित्त के उत्पाद से प्रसूत आकाशधातु के समान व्यापक पुण्यराशि मे पाप अन्तर्लीन हो जाता है, और जिस प्रकार सबल दुर्बल

को दवा देता है, उमी प्रकार पाप प्रतिपक्षी से अभिभूत होकर फल देने में असमर्थ हो जाता है।

वोधिचित्त ही मव पापो के निर्मूल करने का महान् उपाय है। यह मतत फल देनेवाला कल्पवृक्ष है, सकल दारिद्र्य को दूर करनेवाला चिन्तामणि है और सवका अभिप्राय परिपूर्ण करनेवाला भद्रघट है। आर्यगण्डव्यूहसूत्र मे भगवान् अजित ने स्वय कहा है कि सव वुद्धधर्मो का वीज वोधिचित्त है ('वोधिचित्त हि कुलपुत्रवीजभूत मर्वबुद्धधर्माणाम्')। अत, महायान-धर्म की शिक्षा की मूल भित्ति वोधिचित्त ही है।

वोधिचित्तोत्पाद के विना कोई व्यक्ति, जो महायान का अनुगामी होना चाहता है, वोधिसत्त्व की चर्या, अर्थात् शिक्षा ग्रहण करने का अधिकारी नही होता। वोधिचित्तग्रहण-पूर्वक ही वोधिमत्त्व-शिक्षा का समादान होता है, अन्यथा नही। वह वोधिचित्त दो प्रकार का है—वोधिप्रणिधि-चित्त और वोधिप्रस्थान-चित्त। प्रणिधि का अर्थ है—ध्यान अथवा कर्मफल का परित्याग। शिक्षासमुच्चय (पृ० ८) में कहा है—'मया वुद्धेन भवितव्यमिति चित्त प्रणिधानादुत्पन्न भवति।' अर्थात्, मै सर्वजगत् के परित्राण के लिए वुद्ध होऊँ, ऐसी भावना प्रार्थना-रूप में जव उदित होती है, तव वोधिप्रणिधि-चित्त का उत्पाद होता है। यह पूर्वावस्था है। महायान का पथिक होने की इच्छा-मात्र प्रकट हुई है। अभी उस मार्ग पर पथिक ने प्रस्थान नही किया है। पर जव व्रत का ग्रहण कर वह मार्ग पर प्रस्थान करता है, और कार्य मे व्यापृत होता है, तव वोधिप्रस्थान-चित्त का उत्पाद होता है। प्रस्थान-चित्त निरन्तर पुण्य का देनेवाला है। इसीलिए, शूरंगमसूत्र मे कहा है कि ऐसे प्राणी इम जीवलोक में अत्यन्त दुर्लभ है, जो सम्वोधि-प्राप्ति के लिए प्रस्थान कर चुके हैं। वह जगत् के दु ख की ओषधि और जगदानन्द का वीज है। वह सव दु खित जनो के समस्त दु खो का अपनयन कर सवको सर्वसुख-सम्पन्न करने का उद्योग करता है। वह मव का अकारण वन्धु है। उनका व्यापार अहैतुक है। उसकी महिमा अपार है, जो उसका निरादर करता है, वह सव वुद्धो का निरादर करता है और जो उसका सत्कार करता है, उसने सव वुद्धो का सत्कार किया।

सप्तविध अनुत्तर पूजा—वोधिचित्त का उत्पाद करने के लिए सप्तविध अनुत्तर पूजा का विधान है। धर्मसग्रह के अनुसार इम लोकोत्तर पूजा के मात अग इस प्रकार हैं—वन्दना, पूजना, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, वोधिचित्तोत्पाद और परिणामना। वोधिचर्यावतार के टीकाकार प्रज्ञाकरमति के अनुसार इम पूजा के आठ अग हैं—वन्दन, पूजन, शरणगमन, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, वुद्धाध्येपण, याचना और वोधिपरिणामना।

वोधिचित्त-ग्रहण के लिए सवसे, पहले वुद्ध, सद्धर्म तथा वोधिसत्त्वगण की पूजा आवश्यक है। यह पूजा मनोमय पूजा है। शान्तिदेव मनोमय पूजा के हेतु देते हैं—

अपुण्यवानस्मि महादरिद्र. पूजार्थमन्यन्मम नास्ति किञ्चित् ।
अतो ममार्थाय परार्थचित्ता गृह्णन्तु नाथा इदमात्मशक्त्या ॥
(वोधि० परि० २।७)

अर्थात्, मैने पुण्य नही किया है, मै महादरिद्र हूँ, इसलिए पूजा की कोई सामग्री मेरे पास नही है। भगवान् महाकारुणिक हैं, सर्वभूत-हित में रत है। अत, इस पूजोपकरण को नाथ! ग्रहण करें। अकिंचन होने के कारण आकाशधातु का जहाँतक विस्तार है, तत्पर्यन्त निरवशेष पुष्प, फल, भैषज्य, रत्न, जल, रत्नमय पर्वत, वनप्रदेश, पुष्पलता, वृक्ष, कल्पवृक्ष, मनोहर तटाक तथा जितनी अन्य उपहार वस्तुएँ प्राप्त है, उन सवको वुद्धो तथा वोधिसत्त्वो के प्रति वह दान करता है। यही अनुत्तर दक्षिणा है। यद्यपि वह अकिंचन है, पर आत्मभाव उसकी निज की सम्पत्ति है, उसपर उसका स्वामित्व है। इसलिए, वह वुद्ध को आत्मभाव-समर्पण करता है। भक्तिभाव से प्रेरित होकर वह दासभाव स्वीकार करता है। भगवान् के आश्रय मे आने से वह निर्भय हो गया है। वह प्रतिज्ञा करता है कि अव मै प्राणिमात्र का हित-साधन करूँगा, पूर्वकृत पाप का अतिक्रमण करूँगा और फिर पाप न करूँगा। मनोमय पूजा के अनन्तर साधक वुद्ध, वोधिसत्त्व, सद्धर्म, चैत्य आदि की विशेष पूजा करता है। मनोरम स्नानगृह मे गन्धपुष्प-पूर्ण रत्नमय कुम्भो के जल से गीत-वाद्य के साथ वुद्ध तथा वोधिसत्त्व को स्नान कराता है, स्नानानन्तर निर्मल वस्त्र से शरीर-समार्जन कर सुरक्त, वासित वर-चीवर उनको प्रदान करता है। दिव्य अलकारो से उनको विभूषित करता है, उत्तमोत्तम गन्ध-द्रव्य से शरीर का विलेपन करता है। तदनन्तर, उनको माला से विभूषित करता है, धूप, दीप तथा नैवेद्य अर्पित करता है। वह वुद्ध, धर्म और सघ की शरण में जाता है, तत्पश्चात् अपने सर्वपाप का प्रख्यापन करता है। इसे पापदेशना कहते हैं। जो कायिक, वाचिक, मानसिक पाप उसने स्वयं किया है अथवा दूसरे से कराया है अथवा जिसका अनुमोदन किया है, उन सव पापो को वह प्रकट करता है। अपना सव पाप वह वुद्ध के समक्ष प्रकाशित करता है, और भगवान् से प्रार्थना करता है कि भगवन्! मेरी रक्षा करो। जवतक मै पाप का क्षय न कर लूँ, तवतक मेरी मृत्यु न हो, नही तो मै दुर्गति, अपाय मे पड़ूँगा। मेरा इस अनित्य जीवन में विशेष आग्रह था। मैं यह नही जानता था कि मुझको नरकादि दुःख भोगना पडेगा। मै यौवन, रूप, धनादि के मद से उन्मत्त था, इसलिए मैंने अनेक पापो का अर्जन किया। मैंने चारो दिशाओ में घूमकर देखा कि कौन ऐसा साधु है, जो मेरी रक्षा करे, दिशाओ को त्राणशून्य देखकर मुझको समोह हुआ और अन्त मे मैंने यह निश्चय किया कि वुद्धो की शरण मे जाऊँ, क्योकि वह सामर्थ्यवान् है, ससार की रक्षा के लिए उपयुक्त है, और सवके त्रास के हरनेवाले हैं। मै वुद्ध द्वारा साक्षात्कृत धर्म की तथा वोधिसत्त्व-गण की भी शरण में जाता हूँ। मै हाथ जोडकर भगवान् के सम्मुख अपने समस्त उपार्जित पापो का प्रख्यापन करता हूँ, और प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज से कभी अनार्य या गर्हित कर्म न करूँगा।

पापदेशना के अनन्तर साधक सर्वसत्त्वो के लौकिक शुभकर्म का प्रसादपूर्वक अनुमोदन करता है तथा सव प्राणियो के सर्वदु ख-विनिर्मोक्ष का अनुमोदन करता है। इसे पुण्यानुमोदन

कहते हैं। तदनन्तर, अजलिबद्ध हो सर्वदिशाओं में अवस्थित बुद्धो से प्रार्थना करता है कि अज्ञान-तम से आवृत जीवो के उद्धार के लिए भगवान् धर्म का उपदेश करें। यही बुद्धाध्येषणा है। वह फिर कृतकृत्य जिनो से याचना करता है कि वह अभी परिनिर्वाण में प्रवेश न करें, जिसमें यह लोक मार्ग का ज्ञान न होने निश्चेतन न हो जाय। यह बुद्ध-याचना है। अन्त में साधक प्रार्थना करता है कि उक्त क्रम से अनुत्तर पूजा करने से जो सुकृत मुझे प्राप्त हुआ है, उसके द्वारा मैं समस्त प्राणियो के सर्वदु खो का प्रशमन करने में समर्थ होऊँ और उनको सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति कराऊँ, यह बोधि-परिणामना है। साधक भक्तिपूर्वक प्रार्थना करता है— हे भगवन्! जो व्याधि से पीडित हैं, उनके लिए मैं उस समय तक ओषधि, चिकित्सक और परिचारक होऊँ, जवतक व्याधि की निवृत्ति न हो, मैं क्षुधा और पिपासा की व्यथा का अन्न-जल की वर्षा से निवर्त्तन करूँ, और दुर्भिक्षान्तर कल्प में जब अन्नपान के अभाव से प्राणियो का एक दूसरे का मास, अस्थि-भक्षण ही आहार हो, उस समय मैं उनके लिए पान-भोजन बनूँ। दरिद्र लोगो का मैं अक्षय धन होऊँ। जिस-जिस पदार्थ की वह अभिलाषा करें, उस-उस पदार्थ को लेकर मैं उनके सम्मुख उपस्थित होऊँ।

पारमिताओ की साधना

दान-पारमिता—बोधिसत्त्व बोधिचित्तोत्पाद के अनन्तर शिक्षा-ग्रहण के लिए विशेष रूप से यत्नशील होता है। पहली पारमिता दान-पारमिता है। सर्व वस्तुओं का सब जीवो के लिए दान और दानफल का भी परित्याग दान-पारमिता है। इसलिए, बोधिसत्त्व आत्मभाव का उत्सर्ग करता है। वह सर्वभोग्य वस्तुओं का परित्याग करता है तथा अतीत, वर्त्तमान और अनागत काल के कुशल मूल का भी परित्याग करता है, जिससे सब प्राणियो की अर्थसिद्धि हो। आत्मभाव का त्याग ही निर्वाण है।

यदि निर्वाण के लिए सब कुछ त्यागना ही है, तो अच्छा तो यह है कि सब कुछ प्राणियो को अर्पित कर दिया जाय। ऐसा विचार कर अपना शरीर सब प्राणियो के लिए अर्पित करता है। चाहे वे दण्डादि से उसकी ताडना करे, चाहे जगुप्सा करे, चाहे उसपर धूल फेकें और चाहे उसके साथ क्रीडा करे, वह केवल इतना चाहता है कि उसके द्वारा किसी प्राणी का अनर्थ सम्पादित न हो। वह चाहता है कि जो उसपर मिथ्या दोष आरोपित करते हैं या उसका अपकार करते हैं या उपहास करते हैं, वे भी बुद्धत्व-लाभ करें। वह चाहता है कि जिस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार महाभूत समस्त आकाशधातु-निवासी अनन्त प्राणियो के अनेक प्रकार से उपभोग्य होते हैं, उसी प्रकार वह भी तबतक सब सत्त्वो का आश्रय-स्थान रहे, जबतक सब ससार-दु ख से विनिर्मुक्त न हो।

उसका किसी वस्तु में भी ममत्व नही होता। वह सब सत्त्वो को पुत्रतुल्य देखता है और अपने को सबका पुत्र समझता है। यदि कोई याचक उससे किसी वस्तु की याचना करता है, तो तुरन्त वह वस्तु उसे दे देता है, मात्सर्य नही करता। बोधिसत्त्व के लिए ये चार बाते कुत्सित हैं—शाठ्य, मात्सर्य, ईर्ष्या-पैशुन्य और ससार में लीनचित्तता। बोधिसत्त्व को ऐसी

किसी वस्तु का ग्रहण न करना चाहिए, जिसमें उसकी त्यागचित्तता उत्पन्न न हुई हो। जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उसको वह वस्तु विना शोक किये, विना फल की आकाक्षा के और विना प्रतिसार के दे दे 'अशोचन्नविप्रतिसारी अविपाकप्रतिकाक्षी परित्यक्ष्यामि।' (शिक्षासमुच्चय, पृ० २१)

सांसारिक दुःख का मूल सर्वपरिग्रह है, अत अपरिग्रह द्वारा भव-दु ख से विमुक्ति मिलती है। इस प्रकार, बोधिसत्त्व अनन्त कल्प तक लौकिक तथा लोकोत्तर सुखसम्पत्ति का अनुभव करता है और दूसरो का भी निस्तार करता है। इसीलिए, रत्नमेघ मे कहा है—'दान हि बोधिसत्त्वस्य वोधिरिति।' (शिक्षासमुच्चय, पृ० ३४)

इस प्रकार, आत्मभाव आदि का उत्सर्ग कर, अनाथ सत्त्वो पर दया कर, स्वयं दु ख उठाते हुए दूसरो के दु ख का विनाश करने के अभिप्राय से वह बुद्धत्व ही को उपाय ठहराकर, वह बुद्धत्व के लिए बद्धपरिकर हो जाता है और अन्य पारमिताओ का ग्रहण करता है।

शील-पारमिता—आत्मभाव का उत्सर्ग इसीलिए बताया गया है कि जिससे सव सत्त्व उसका उपभोग करे। पर, यदि इस आत्मभाव की रक्षा न होगी, तो दूसरे उसका उपभोग किस प्रकार करेगे? वीरदत्तपरिपृच्छा मे कहा है—

शकटमिव भारोद्वहनार्थं केवलं धर्मबुद्धिना वोढव्यमिति।

(शिक्षासमुच्चय, पृ० ३४)

अर्थात्, यह समझकर, कि शकट की नाईं केवल भारोद्वहन करना है, धर्मबुद्धि से शरीर की रक्षा करे, इसलिए आत्मभावादि का परिपालन आवश्यक है। यह शिक्षा की रक्षा और कल्याणमित्र के अपरित्याग से हो सकता है। कहा भी है—

परिभोगाय सत्त्वाना आत्मभावादि दीयते।
अरक्षिते कुतो भोगः कि दत्त यन्न भुज्यते॥
तस्मात्सत्त्वोपभोगार्थं आत्मभावादि पालयेत्।
कल्याणमित्रानुत्सर्गात् सूत्राणा च सदेक्षणात्।

(शिक्षासमुच्चय, पृ० ३४)

कल्याणमित्र के अपरित्याग से मनुष्य दुर्गति मे नही पडता, कल्याणमित्र प्रमाद-स्थान से निवारण करता है। क्या करणीय है और क्या अकरणीय है, इसका ज्ञान शिक्षा की रक्षा से होता है, और विहित कर्म करने से और प्रतिषिद्ध के न करने से नरकादि-विनिपात-गमन से रक्षा होती है।

आत्मभावादि की रक्षा शिक्षा की रक्षा से होती है। शिक्षा की रक्षा चित्त की रक्षा मे होती है। चित्त चलायमान है। यदि इसको स्वायत्त न किया जायगा, तो शिक्षा की स्थिरता नष्ट हो जायगी। भय और दु ख का कारण चित्त ही है। चित्त द्वारा ही, अर्थात् मानसकर्म द्वारा ही वाक्-कर्म और काय-कर्म की उत्पत्ति होती है। अत, वाक्कायकर्म का चित्त ही समुत्थापक है।

चित्त ही अति विचित्र सत्त्व-लोक की रचना करता है, इसलिए चित्त का दमन अत्यन्त आवश्यक है। जिसका चित्त पाप से निवृत्त हैं, उसके लिए भय का कोई हेतु नही है। जिसका चित्त स्वायत्त है, उसके सुख की हानि नही होती। इसलिए, पापचित्त से कोई अधिक भयानक वस्तु नही है। यहाँ पर यह शका हो सकती है कि दान-पारमिता आदि में चित्त कैसे प्रधान है, क्योंकि दान-पारमिता का लक्षण सब प्राणियो का दारिद्रय दूर करना है, और इसका चित्त से कोई सम्बन्ध नही है। यह शका अनुचित है। यदि दान-पारमिता का अर्थ—समस्त जगत् के दारिद्रय को दूर कर सब सत्त्वों को परिपूर्ण करना हो, तो अनेक बुद्ध हो चुके हैं, पर आज भी जगत् दरिद्र है। तो क्या उनमें दान-पारमिता न थी? ऐसा नही कहा जा सकता। दान-पारमिता का अर्थ केवल यही है कि सब वस्तुओ का सब जीवो के लिए दान और दानफल का भी परित्याग। इस प्रकार के अभ्यास से मात्सर्य-मल का अपनयन होता है, और चित्त निरासग हो जाता है। इस प्रकार, दान-पारमिता निष्पक्ष होती है। इसलिए, दान-पारमिता चित्त से भिन्न नही है। शील-पारमिता भी इसी प्रकार चित्त से भिन्न नही है। शील का अर्थ है—प्राणातिपात आदि सब गर्हित कार्यो से चित्त की विरति। विरतिचित्तता ही शील है। इसी प्रकार, क्षान्ति-पारमिता का अर्थ है—दूसरे के द्वारा अपकार के होते हुए भी चित्त की अकोपनता। शत्रु गगन के समान अपर्यन्त हैं। उनका मारना अशक्य है, पर उपाय द्वारा यह शक्य है। उनके किये हुए अपकार को न गिनना ही उपाय है। क्रोधादि से चित्त की निवृत्ति होने से ही उनकी मृत्यु हो जाती है। वीर्य-पारमिता का लक्षण कुशलोत्साह है। यह स्पष्टरूपेण चित्त है। ध्यान-पारमिता का लक्षण चित्तैकाग्रता है, इसलिए उसको चित्त से पृथक् नही बताया जा सकता। प्रज्ञा तो निर्विवाद रूप से चित्त ही है।

शत्रु प्रभृति जो बाह्य भाव हैं, उनका निवारण करना शक्य नही है, चित्त के निवारण से ही कार्यसिद्धि होती है। इसलिए, बोधिसत्त्व को अपकार-क्रिया से अपने चित्त का निवारण करना चाहिए। शान्तिदेव कहते हैं—

> भूमिं छादयितुं सर्वां कुतश्चर्म भविष्यति।
> उपानच्चर्ममात्रेण छन्ना भवति मेदिनी॥
>
> (बोधि० ५।१३)

अर्थात्, कण्टकादि से रक्षा करने के लिए पृथ्वी को चर्म से आच्छादित करना उचित ही है। पर यह सम्भव नही है, क्योंकि इतना चर्म कहाँ मिलेगा? यदि मिले भी, तो छादन असम्भव है। पर, उपाय द्वारा कण्टकादि से रक्षा शक्य है। उपानह के चर्म द्वारा सब भूमि छादित हो जाती है। इसी प्रकार, अनन्त बाह्य भावो का निवारण एक चित्त के निवारण से होता है।

चित्त की रक्षा के लिए 'स्मृति' और 'सम्प्रजन्य' की रक्षा आवश्यक है। 'स्मृति' का अर्थ है 'स्मरण'। किसका स्मरण? विहित और प्रतिषिद्ध का स्मरण 'विहितप्रतिषिद्धयोर्यथायोग स्मरण स्मृति (बो०, पृ० १०८)।

आर्यरत्नचूडसूत्र मे कहा है, कि स्मृति से क्लेशो का प्रादुर्भाव नही होता; स्मृति से ही सुरक्षित होकर मनुष्य उत्पथ या कुमार्ग मे पैर नही रखता। स्मृति उस द्वारपाल की तरह है, जो अकुशल को अवकाश नही देती (शिक्षा०, पृ० १२०)।

सम्प्रजन्य का अर्थ है—प्रत्यवेक्षण। किसकी प्रत्यवेक्षा करना? काय और चित्त की अवस्था का प्रत्यवेक्षण करना। खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते हर समय काय और चित्त का निरीक्षण अभीष्ट है। स्मृति तीव्र आदर से ही उत्पन्न होती है। तीव्र आदर शमथ-माहात्म्य जानने से ही होता है। 'शमथ' चित्त की शान्ति को कहते हैं। अचपलता, अचचलता, सौम्य-भाव, अनुद्धतता, कर्मण्यता, एकाग्रता, एकारामता इत्यादि शम के लक्षण हैं।

शम ही के प्रभाव से चित्त समाहित होता है और समाहितचित्त होने से ही यथाभूत दर्शन होता है। यथाभूत दर्शन से ही सत्त्वो के प्रति महाकरुणा उत्पन्न होती है, वोधिसत्त्व की इच्छा होती है कि मैं सब सत्त्वो को भी यथाभूत परिज्ञान कराऊँ। इस प्रकार, वह शील, चित्त, और प्रज्ञा की परिपूर्ण शिक्षा प्राप्त कर सम्यक् सम्वोधि प्राप्त करता है। इसलिए, वह शील मे सुप्रतिष्ठित होता है, और विना विचलित हुए, विना शिथिलता के, उसके लिए यत्नवान् होता है। यह जानकर कि शम से अपना और पराये का कल्याण होगा, अनन्त दु खो का समतिक्रमण और अनन्त लौकिक तथा लोकोत्तर सुख-सम्पत्ति की प्राप्ति होगी, वोधिसत्त्व को शम की आकाक्षा होनी चाहिए। इससे शिक्षा के लिए तीव्र आदर उत्पन्न होता है जिससे स्मृति उत्पन्न होती है, स्मृति से अनर्थ का परिहार होता है। इसलिए, जो आत्मभाव की रक्षा करना चाहता है, उसको स्मृति के मूल का अन्वेषण कर नित्य सजग रहना चाहिए। शील से समाधि होती है। चन्द्रदीपसूत्र में कहा है, कि जो समाधि चाहता है, उसका शील विशुद्ध होना चाहिए और उसको स्मृति तथा सम्प्रजन्य ग्रहण करना चाहिए। शीलार्थी को भी समाधि के लिए यत्नवान् होना चाहिए।

शील और समाधि द्वारा चित्त-परिकर्म की निष्पत्ति होती है। यही वोधिसत्त्व-शिक्षा है, क्योकि पुरुषार्थ का यही मूल है (शिक्षा, पृ० १२१)। आर्यरत्नमेघ में कहा है—'चित्तपूर्व-ङ्गमाश्च सर्वधर्मा। चित्ते परिज्ञाते सर्वधर्मा परिज्ञाता भवन्ति' (शिक्षा०, पृ० १२१), अर्थात् सब धर्म चित्तपुर सर हैं। चित्त का ज्ञान होने पर सब धर्म परिज्ञात होते हैं। आर्यधर्मसगीति सूत्र में कहा है—'तदुच्यते। चित्ताधीनो धर्मो धर्माधीना वोधिरिति' (शिक्षा०, पृ० १२२)। अर्थात्, चित्त के अधीन धर्म है, और धर्म के अधीन वोधि है। आर्यगण्डव्यूहसूत्र मे भी कहा है—'स्वचित्ताधिष्ठान सर्ववोधिसत्त्वचर्या स्वचित्ताधिष्ठान सर्वसत्त्वपरिपाकविनय'(शिक्षा०, पृ० १२२)। अर्थात्, वोधिसत्त्वचर्या अपने चित्त में अधिष्ठित है, सब सत्त्वो को सम्वोधि प्राप्त कराने की शिक्षा अपने चित्त में अधिष्ठित है। इसलिए, चित्त-नगर के परिपालन मे कुशल होना चाहिए। चित्त-नगर का परिपालन ससार के सब विषयो मे विरक्त होने से होता है। ईर्ष्या, मात्सर्य और शठता के अपनयन से चित्तनगर का परिशोधन करना चाहिए। सर्वक्लेश और मार (=कामदेव) की सेना का विमर्दन कर चित्त-नगर को दुर्योध्य तथा दुरासाद्य वनाना चाहिए। चित्त-नगर के विस्तार के लिए सब सत्त्वो के प्रति महामैत्री प्रदर्शित करनी चाहिए।

सर्व जगत् को आध्यात्मिक और बाह्य वस्तु का दान कर चित्त-नगर का द्वार खोलना चाहिए। चित्त-नगर की शुद्धि से सब आवरण नष्ट होते हैं (शिक्षा०, पृ०१२२-१२३)। इसलिए, यह व्यवस्थित हुआ कि चित्त-परिकर्म ही बोधिसत्त्व-शिक्षा है। जब चित्त अचपल होता है, तभी उसका परिकर्म होता है। शम से चित्त अचल होता है। जो निरन्तर प्रत्यवेक्षा नहीं करता और जिसमें स्मृति का अभाव है, उसका चित्त चलायमान होता है। पर, स्मृति और सम्प्रजन्य से जिसकी बाह्य चेष्टाओं का निवर्तन हो गया है, उसका चित्त इच्छानुसार एक आलम्बन में ही निबद्ध रहता है।

इसलिए, स्मृति को मनोद्वार से कभी न हटावे। यदि प्रमादवश स्मृति अपने उचित स्थान से हट जाय, तो उसको फिर से अपने स्थान पर लौटाकर आरोपण करे। स्मृति की उत्पत्ति ऐसे लोगों के लिए सुकर है, जो आचार्य का सवास करते हैं, जिनके हृदय में उनके प्रति आदर का भाव है, और जो यत्नशील हैं। जो सदा यह ध्यान करता है कि बुद्ध और बोधिसत्त्व-गण समस्त वस्तु-विषय का अप्रतिहत ज्ञान रखते हैं, सब कुछ उनके सामने है, मैं भी उनके सम्मुख हूँ, वह शिक्षा में आदरवान् होता है, और अयोग्य कर्म के प्रति लज्जा करता है। जब चित्त की रक्षा के लिए स्मृति मनोद्वार पर द्वारपाल की नाई अवस्थित होती है तब सम्प्रजन्य विना प्रयत्न के उत्पन्न होता है। अत, स्मृति ही सम्प्रजन्य की उत्पत्ति और स्थैर्य मे कारण है। जिसका चित्त सम्प्रजन्य से रहित है, उसको वस्तु का उसी प्रकार स्मरण नहीं रहता, जिस प्रकार सच्छिद्र कुम्भ का जल ऊपर भरा जाता है, और नीचे से निकल जाता, है। सम्प्रजन्य के अभाव में सचित कुशल धन भी विलुप्त हो जाता है, और मनुष्य दुर्गति को प्राप्त होता है। क्लेश-तस्कर छिद्रान्वेषण में तत्पर होते हैं, और प्रवेश-मार्ग पाकर हमारे कुशल धन का अपहरण करते हैं और सद्गति का नाश करते हैं। इसलिए, चित्त की सदा प्रत्यवेक्षा करे, और इसकी प्रत्यवेक्षा करे कि मन कहाँ जाता है पहले अवलम्बन में निबद्ध है, अथवा कहीं अन्यत्र चला गया है।

ऐसा प्रयत्न करे, जिससे मन समाहित हो। अनर्थ-विवर्जन के लिए सदा काष्ठवत् रहना चाहिए। विना प्रयोजन नेत्र-विक्षेप न करना चाहिए। दृष्टि सदा नीचे की ओर रखे, पर कभी-कभी दृष्टि को विश्राम देने के लिए अपने चारों ओर भी देखे। जब कोई समीप आवे, तब उसकी छाया-मात्र के अवगत होने से उसका स्वागत करे, अन्यथा अवज्ञा करने से अकुशल की उत्पत्ति होती है। भय-हेतु जानने के लिए मार्ग में वारम्बार चारों ओर देखे। अच्छी तरह निरूपण कर अग्रसर हो अथवा पीछे अपसरण करे।

इस प्रकार, सब अवस्थाओं में बुद्धिपूर्वक कार्य करे, जिससे उपघात का परिहार और आत्मभाव की रक्षा हो। प्रत्येक काम में शरीर की अवस्था पर ध्यान रखे, बीच-बीच में देखता रहे। देह की भिन्न अवस्था होने पर उसका पूर्ववत् अवस्थापन करे। नानाविध प्रलाप सुनने तथा कुतूहल देखने के लिए उत्सुक न हो। निष्प्रयोजन नख-दण्डादि से भूमि-फलकादि पर रेखा न खींचे। कोई निरर्थक कार्य न करे। जब चित्त मान, मद या कुटिलता से दूषित हो, तब उसको स्थिर करे। जब चित्त में अनेक गुणों के अतिशय प्रकाशन की इच्छा प्रकट हो, या दूसरोंके छिद्रान्वेषणकी आकांक्षा का उदय हो, या दूसरे से कलह करने के लिए चित्त चलायमान

हो, तो उस समय मन को स्थिर करे। जव मन परार्थ-विमुख और स्वार्थाभिनिविष्ट होकर लाभ, सत्कार और कीर्त्ति का अभिलाषी हो, तव मन को काष्ठवत् स्थिर करे। इस प्रकार, चित्त की सर्वप्रवृत्तियो का निरोध करे और मन को निश्चल रखे। शरीर मे अभिनिवेश न रखे। चित्तरहित मृतकाय व्यापार-शून्य होता है। आमिष-लोभी गृध्र जव शरीर को इधर-उधर खीचते है, तब वह आत्मरक्षा मे समर्थ नही होता और प्रतिकार मे असमर्थ होता है। इसलिए शरीर सर्वथा अनुपयोगी है। इसकी अपेक्षा नही करनी चाहिए। इस मास और अस्थि के पुज को आत्मवत् स्वीकार करके इसकी रक्षा मे प्रयत्नशील न होना चाहिए। जब यह आत्मा से भिन्न है, तव इसके अपचय से कोई अनिष्ट सम्पादित नही होता। जिसको तुम अपना समझते हो, वह अपवित्र है। इम अपवित्र, अमेध्य-घटित यन्त्र की रक्षा से कोई लाभ नही है। इस चर्मपुट को अस्थि-पजर से पृथक् कर अस्थियो को खण्ड-खण्ड कर मज्जा को देखे, और स्वय विचार करे कि इसमे सारभूत क्या है। इस प्रकार यत्न-पूर्वक ढूँढने पर भी जव कुछ सारवस्तु नही दिखलाई देती, तव शरीर की रक्षा व्यर्थ है। जब इसकी अँतडियाँ नही चूस सकते, इसका रक्तपान नही कर सकते, तव फिर इस कार्य मे क्यो आसक्ति है? जिसकी रक्षा केवल गृध्र-शृगालो के आहारार्थ की जाती है, उसमे अभिनिवेश न होना चाहिए। यह शरीर मनुष्य के लिए एक उपयुक्त कर्मोपकरण अवश्य है। जो भृत्य भृत्य-कर्म नही करता उसको वस्त्रादि नही दिया जाता। शरीर को वेतनमात्र देना चाहिए। मन द्वारा शरीर को स्वायत्त करे। जो शरीर के स्वभाव और उपयोग को विचार कर उसको अपने वश मे करता है, बह सदा प्रसन्न रहता है। वह ससार का वन्धु है। वह दूसरो का स्वागत करता है। वह निष्फल कार्य नही करता। सदा उसकी नि शब्द मे अभिरति होती है। जिस प्रकार वक, विडाल और चोर नि शब्द भ्रमण करते हुए विवक्षित अर्थ को पाते है, उसी प्रकार आचरण करता हुआ बोधिसत्त्व अभिमत फल पाता है।

जो दूसरो को उपदेश देने मे दक्ष है, और विना प्रार्थना के ही दूसरो के हित की कामना करते है, उनका अपमान न करना चाहिए और उनका हितविधायक वचन आदर-पूर्वक ग्रहण करना चाहिए। अपने को सवका शिष्य समझना चाहिए। सवसे सव कुछ सीखना चाहिए। इस प्रकार, ईर्ष्या-मल का प्रक्षालन करना चाहिए। कुशल-कर्म करनेवाले को देखकर उसका पुण्य-कर्म सराहे। सव सत्त्वो के सारे उपक्रम तुष्टि के लिए है। तुष्टि धन के विसर्ग द्वारा भी दुर्लभ है। इसलिए, पराये गुण को श्रवण कर विना परिश्रम किये तुष्टि-सुख का अनुभव होता है। इसमे कुछ व्यय नही है, और दूसरे को भी सुख मिलता है। पर, दूसरे के गुण का अभिनन्दन न करने से दु ख और द्वेष उत्पन्न होता है।

बोधिसत्त्व को मित और स्निग्धभाषी होना चाहिए। किसी से कर्कश वचन न वोले। सदा सवको सरल दृष्टि से देखे, जिसमे लोग उसकी ओर आकृष्ट हो, और उसकी वात का विश्वास करे। सदा कार्य-कुशल होना चाहिए, और सत्त्वो के हित, सुख का विधान करने के लिए नित्य उत्थान करना चाहिए। किसी कार्य मे दूसरे की अपेक्षा न करे। सव काम स्वय करे। प्रातिमोक्ष मे जिस कर्म का निषेध है, उसका आचरण न करे।

सद्धर्म-सेवक काय को थोड़े के लिए कष्ट न दे, अन्यथा महती अर्थराशि की हानि होगी। क्षुद्र अवसर पर अपने जीवन का परित्याग न करे, अन्यथा एक सत्त्व के अर्थ-सग्रह के लिए महान् अर्थ की हानि सम्पन्न होगी। सब सत्त्वों के लिए आत्मभाव का उत्सर्ग पहले ही हो चुका है। केवल अकाल-परिभोग से उसकी रक्षा करनी है। इस प्रकार, उपाय-कौशल से विहार करता हुआ बोधिसत्त्व बोधि-मार्ग से भ्रष्ट नहीं होता।

क्षान्ति-पारमिता—अनेक प्रकार से शील-विशुद्धि का प्रतिपादन किया जा चुका है। आत्मभाव, पुण्य तथा भोग की रक्षा और शुद्धि का भी प्रतिपादन किया गया है। अब क्षान्ति-पारमिता का उल्लेख करते हैं। शान्तिदेव कारिका में कहते हैं—

क्षमेत श्रुतमेषेत संश्रयेत वनं ततः।
समाधानाय युज्येत भावयेदशुभादिकम्॥

शिक्षासमुच्चय में इस कारिका के प्रत्येक पद को लेकर व्याख्या की गई है।

मनुष्य में क्षान्ति होनी चाहिए। जो अक्षम है, वह श्रुतादि में खेद सहन करने की शक्ति न रखने के कारण अपना वीर्य नष्ट करता है। अखिन्न होकर श्रुत की इच्छा करनी चाहिए, क्योंकि विना ज्ञान के समाधि का उपाय नहीं जाना जाता, और क्लेश-शोधन का उपाय भी अधिगत नहीं होता। ज्ञानी के लिए भी संकीर्णचारी होने से समाधान दुष्कर है; इसलिए वन का आश्रय ले वन में भी विना चित्त-समाधान के विक्षेप का प्रशमन नहीं होता। इसलिए, समाधि करे। समाहित-चित्त होने पर भी विना क्लेश-शोधन के कोई फल नहीं है, इसलिए अशुभ आदि की भावना करे।

जिस प्रकार अग्निकण तृणराशि को दग्ध करता है, उसी प्रकार द्वेष सहस्रों कल्प के उपार्जित शुभकर्म को तथा बुद्ध-पूजा को नष्ट करता है।

द्वेष के समान दूसरा पाप नहीं है और क्षान्ति के समान कोई तप नहीं है। इसलिए, नाना प्रकार से क्षान्ति का अभ्यास करना चाहिए। जिसके हृदय में द्वेषानल प्रज्वलित है, उसको शान्ति और सुख कहाँ! उसको न नींद आती है, और न उसका चित्त सुखी होता है। वह लाभ-सत्कार से जिनका अनुनय करता है और जो उसके आश्रित हैं, वे भी उसका विनाश चाहते हैं, उसके मित्र भी उससे त्रास खाते हैं। दान देने पर भी उसकी कोई सेवा नहीं करता, संक्षेप में क्रोधी कभी सुखी नहीं होता। अत, मनुष्य को द्वेष के परित्याग के लिए यत्नवान् होना चाहिए। जो क्रोध का नाश करता है, वह इस लोक तथा परलोक, दोनों में, सुखी रहता है। द्वेष के उपघात के लिए उसके कारण का उपघात करना चाहिए। जो हमारी कल्पना में हमारे सुख का साधन है, वह इष्ट है, और जो इसके विपरीत है, वह अनिष्ट है। अनिष्ट के सम्पादन से अथवा इष्ट के उपघात से मानस-दुःख की उत्पत्ति होती है। इसलिए, जो अनिष्टकारी है, अथवा इष्ट-विरोधी हैं, उनके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। दौर्मनस्य-रूपी भोजन पाकर द्वेष बलवान् होता है, इसलिए द्वेष के नाश की इच्छा रखता हुआ बोधिसत्त्व सबसे पहले दौर्मनस्य का समूल उपघात करे, क्योंकि द्वेष का उद्देश्य

वध ही है। इस प्रकार द्वेष के दोषो को भली भाँति जानकर द्वेष के विपक्षरूप क्षान्ति का उत्पादन करे। क्षान्ति तीन प्रकार की है—१ दु खाधिवासना-क्षान्ति; २. परापकार-मर्षण-क्षान्ति और ३ धर्मनिध्यान-क्षान्ति।

१ दु खाधिवासना-क्षान्ति वह है, जिसमें अत्यन्त अनिष्ट का आगम होने पर भी दौर्मनस्य न हो। दौर्मनस्य से कोई लाभ नही है। वह केवल पुण्य का नाश करता है। अतः, दौर्मनस्य के प्रतिपक्षरूप 'मुदिता' की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। दु ख पडने पर प्रमुदित-चित्त रहना चाहिए। चित्त में क्षोभ या किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न होने देना चाहिए। दौर्मनस्य से कोई लाभ नही है, वरच प्रत्यक्ष हानि ही है। यदि इष्ट-विघात का प्रतीकार हो, तव भी दौर्मनस्य व्यर्थ और निष्प्रयोजन है। ऐसा विचार कर दौर्मनस्य का परित्याग ही श्रेष्ठ है।

प्रतीकार होने पर भी क्षुब्ध व्यक्ति मोह को प्राप्त होता है और क्रोध से मूर्च्छित हो जाता है, उसको यथार्थ-अयथार्थ का विवेक नही रह जाता। उसका उत्साह मन्द पड जाता है और उसे आपत्तियाँ घेर लेती है। इसलिए, प्रतीकार भी असफल हो जाता है। इसी से कहा है कि दौर्मनस्य का त्याग हो सकता है। अभ्यास से दुष्कर भी सुकर हो जाता है। सुख अत्यन्त दुर्लभ है, दुःख सदा सुलभ है। दु ख का सर्वदा परिचय मिलता रहता है। इसलिए उसका अभ्यास कठिन नही है।

निस्तार का उपाय भी दुःख ही है, इसलिए दु ख का परिग्रह युक्त ही है। चित्त को दृढ करना चाहिए और कातरता का परित्याग करना चाहिए। वोधिसत्त्व तो अपने को तथा दूसरो को बुद्धत्व की प्राप्ति कराने का वीडा उठा चुका है। उसको तो कदापि कातर न होना चाहिए। यदि यह कहो कि अल्प दु ख तो किसी प्रकार सहा जा सकता है, पर, कर-चरण-शिरच्छेदनादि दु ख अथवा नरकादि का दु ख किस प्रकार सहा जा सकेगा ? ऐसी शका अनुचित है; क्योकि ऐसी कोई वस्तु नही है, जो अभ्यास द्वारा अधिगत न हो सके। अल्पतर व्यथा के अभ्यास से महती व्यथा भी सही जा सकती है। अभ्यासवश ही जीवो को दु ख-सुख का ज्ञान हो सकता है, इसलिए दु ख के उत्पाद के समय सुख-सज्ञा के प्रत्युपस्थान का अभ्यास करने से सुख-सज्ञा का ही प्रवर्त्तन होता है। इससे सर्वधर्मसुखाक्रान्त नाम की समाधि का प्रतिलाभ होता है। इस समाधि के लाभ से वोधिसत्त्व सव कार्यो में सुखवेदना का ही अनुभव करता है।

क्षुत्पिपासा आदि वेदना को और मशक-दश आदि व्यथा को निरर्थक न समझना चाहिए। इन मृदु व्यथाओ के अभ्यास के कारण ही हम महती व्यथा के सहन करने में समर्थ होते है। शीतोष्ण, वृष्टि, वात, मार्ग-क्लेश, व्याधि आदि का दु ख सुकुमार-चित्तता के कारण बढता है, इसलिए चित्त को दृढ रखना चाहिए। हम देखते है कि कोई भी सग्राम-भूमि में अपना रक्त बहता देखकर और भी वीरता दिखलाते है, और कोई ऐसे है कि दूसरे का रुधिर-दर्शन होने से ही मूर्च्छा को प्राप्त होते है। यह चित्त की दृढता और कातरता के

कारण है ? इसलिए, जो दु ख मे पराजित नही होता, वही व्यथा को अभिभूत करता है। दु ख मे भी पण्डित को चित्तक्षोभ न करना चाहिए; क्योकि उसने क्लेश-शत्रुओ से सग्राम छेड रखा है, और सग्राम मे व्यथा का होना अनिवार्य है। जो शत्रु के सम्मुख जाकर उसके प्रहारो को अपने वक्ष स्थल पर धारण करते हुए समर-भूमि में विजयी होते हैं, वे ही सच्चे विजयी और शूर है, शेप मृतमारक हैं।

दु ख का यह भी गुण है कि उससे यौवन-धनादि विपयक मद का भंग होता है, और ससार के सत्त्वो के प्रति करुणा, पाप से भय तथा बुद्ध में श्रद्धा उत्पन्न होती है।

पित्तादि दोपत्रय के प्रति हम कोप नही करते, यद्यपि वे व्याधि उत्पन्न कर सब दु खो के हेतु होते हैं। इसका कारण यह है कि हम समझते हैं कि वे अचेतन हैं, और बुद्धिपूर्वक दु खदायक नही है। इसी प्रकार सचेतन भी कारणवश ही कुपित होते हैं। पूर्वकर्म के अपराध से कुपित होकर वे दु खदायक होते हैं। उनका प्रकोप भी कारणाधीन है। इसलिए, उन पर भी कोप नही करना चाहिए। जिस प्रकार पित्तादि की इच्छा के विना शूल अवश्य उत्पन्न होता है, उसी प्रकार विना इच्छा के कारण-विशेप से क्रोध उत्पन्न होता है। कोई मनुष्य क्रोध करने के लिए ही इच्छापूर्वक क्रोध नही करता, और न क्रोध विचारपूर्वक उत्पन्न होता है। मनुष्य जो पाप या विविध अपराध करता है, वह प्रत्यय-बल से ही करता है। उनकी स्वतन्त्र प्रवृत्ति नही होती। प्रत्यय-सामग्री को यह चेतना नही रहती की मैं कार्य की उत्पत्ति कर रही हूँ और कार्य को भी यह चेतना नही रहती कि अमुक प्रत्यय-सामग्री द्वारा मै उत्पन्न हुआ हूँ। यह जगत् प्रत्ययमात्र है। सर्वधर्म हेतु-प्रत्यय के अधीन है। अत, किसी वस्तु का सम्भव स्वतन्त्र नही है। सांख्य के मत मे प्रधान और वेदान्त के मत में आत्मा स्वतन्त्र है, पर यह उनकी कल्पनामात्र है। यदि प्रधान या आत्मा विपय में प्रवृत्त होते है, तो उनकी निवृत्ति नही होती, अन्यथा अनित्यत्व का प्रसग होगा। यदि वह नित्य और अचेतन है, तो स्पष्ट ही अक्रिय है, क्योकि यद्यपि उसका प्रत्ययान्तर से सम्पर्क भी हो, तब भी निर्विकार, अर्थात् पूर्व-स्वभाव से च्युत न होने से उसमें किसी प्रकार की क्रिया का होना सम्भव नही है। जो अक्रिया-काल तथा क्रिया-काल मे एक रूप है, वह क्रिया का कौन-सा अश सम्पादित करता है ? आत्मा और क्रिया मे सम्बन्ध का अभाव है। यदि यह कहा जाय कि क्रिया ही सम्बन्ध है, तो इसमें कोई निमित्त नही ज्ञात होता। इस प्रकार, सब बाह्य तथा आध्यात्मिक वस्तुएँ परायत्त है, स्वायत्त नही। हेतु भी स्वहेतु-परतन्त्र है। इस प्रकार, अनादि ससार-परम्परा है। यहाँ स्ववशिता कहाँ सम्भव है ? परमार्थ-दृष्टि में कौन किसके साथ द्रोह करता है, जिसके कारण अपराधी के प्रति द्वेप किया जाय ? अत, जो चेष्टा और व्यापार से रहित है, उनपर कोप करना उपयुक्त नही प्रतीत होता।

यह कहा जा सकता है कि जब कोई स्वतन्त्र नही है, तब द्वेप आदि का निवारण भी सम्भव नही है, सब वस्तुजात प्रत्यय-सामग्री के बल से उत्पन्न होते है, कौन निवारण करता है, जब कि को स्वतन्त्र कर्त्ता नही है ? और, किसका निवारण किया जाता है, जब कि किसी वस्तु की स्वतन्त्र प्रवृत्ति नही होती ? अत, द्वेपादि से निवृत्ति का उपाय भी व्यर्थ है, क्योकि सब कुछ

परवश है, स्ववश नही है; ऐसी शका करना उचित नही है। यद्यपि सर्व वस्तुजात व्यापार-रहित है, तथापि प्रत्यय-बल से उत्पन्न होने के कारण परतन्त्र है। अविद्यादि प्रत्यय-बल से संस्कारादि उत्तरोत्तर कार्य-प्रवाह का प्रवर्त्तन होता है और पूर्व-पूर्व की निवृत्ति से निवर्त्तन होता है, इसलिए दु ख की निवृत्ति अभिमत है। द्वेषादि पापप्रवृत्ति-निवारणरूपी प्रत्यय-बल से अभ्युदय-नि श्रेयफल की उत्पत्ति होती है। इसलिए, यदि शत्रु या मित्र कुछ अपकार करें, तो यह विचार कर कि ऐसे ही प्रत्यय-बल से उनकी ऐसी प्रवृत्ति हुई है, दु ख से सन्तप्त न होना चाहिए। अपनी इच्छा-मात्र से इष्टप्राप्ति और अभीष्टहानि नही होती, हेतुवश ही होती है। यदि इच्छा-मात्र से अभीष्ट की सिद्धि होती, तो किसी को दु ख न होता; क्योकि दु ख कोई नही चाहता, सभी अपना सुख चाहते हैं।

२. दूसरे के किये हुए अपकार को सहन करना, और उसका प्रत्यपकार न करना, परापकारमर्षण-क्षान्ति है। प्रमादवश, क्रोधवश अथवा अगम्य-परदार-धनादि-लिप्सावश, सत्त्व अनेकानेक कष्ट उठाते हैं, पर्वतादि से गिरकर अथवा विप खाकर आत्महत्या कर लेते हैं अथवा पापाचरण द्वारा अपना विनाश करते है। जब क्लेशवश सत्त्व अपने-आपको पीडा पहुँचाते हैं, तब पराये के लिए अपकार से विरत कैसे हो मकते है। अत , ये जीव कृपा के पात्र हैं, न कि द्वेष के स्थान। क्लेश से उन्मत्त हो परापकार द्वारा आत्मघात मे प्रवृत्त हैं, अत ये दया के पात्र हैं। इनके प्रति क्रोध कैसे उत्पन्न हो सकता है? यदि दूसरो के साथ उपद्रव करना बालको का स्वभाव है, तो उनपर कोप करना उपयुक्त नही। अग्नि का स्वभाव जलाना है, यदि वह दहन-क्रिया छोड दे, तो तत्स्वभावता की हानि का प्रसग उपस्थित हो। यह विचार कर कोई अग्नि पर कोप नही करता। यदि यह कहा जाय कि सत्त्व दुष्ट स्वभाव के नहीं हैं, वरच सरल स्वभाव के हैं, और यह दोष आगन्तुक हैं, तब भी इनपर कोप करना अयुक्त होगा। जिस प्रकार धूम से आच्छन्न आकाश के प्रति क्रोध करना मूर्खता है, क्योकि आकाश का स्वभाव निर्मल है, वह प्रकृति से परिशुद्ध है, कटुता उसका स्वभाव नही है। इसी प्रकार, प्रकृति-शुद्ध सत्त्वो पर आगन्तुक दोप के लिए क्रोध करना मूर्खता है।

कटुता आकाश का स्वभाव नही है, धूम का है। इसलिए धूम से द्वेष करे, न कि आकाश से। अत , सत्त्वो पर क्रोध न कर दोषो पर क्रोध करना चाहिए। दु ख का जो प्रधान कारण है, उसी पर कोप करना चाहिए, न कि अप्रधान कारण पर। शरीर पर दण्ड-प्रहार होने से जो दु ख-वेदना होती है, उसका मुख्य कारण दण्ड ही प्रतीत होता है। यदि कहा जाय कि दण्ड दूसरे की प्रेरणा से दु ख-वेदना उत्पन्न करता है, इसमे दण्ड का क्या दोष है। अत , दण्ड के प्रेरक से द्वेष करना युक्त होगा, तो यह अधिक समुचित होगा कि दण्ड-प्रेरक के प्रेरक द्वेष से द्वेष किया जाय

मुख्यं दण्डादिकं हित्वा प्रेरके यदि कुप्यते ।
द्वेषेण प्रेरितः सोऽपि द्वेषे द्वेषोऽस्तु मे वर ।। (बोधि० ६।४१)

बोधिसत्त्व को विचार करना चाहिए कि मैंने भी पूर्वजन्मो मे सत्त्वो को ऐसी पीडा पहुँचाई थी, इसलिए यह युक्त है कि ऋणपरिशोधन-न्यायेन मेरे साथ भी दूसरा अपकार करे।

अपकारी का शस्त्र और मेरा शरीर दोनों दुःख के कारण हैं। उसने शस्त्र ग्रहण किया है और मैंने शरीर ग्रहण किया है। यदि कारणोपनायक पर ही क्रोध करना है, तो अपने ऊपर भी क्रोध करना चाहिए।

जो कार्य की अभिलाषा नहीं करता, उसको उसके कारण का ही परिहार करना चाहिए। पर, मेरी तो उलटी मति है। मैं दुःख नहीं चाहता, पर दुःख के कारण शरीर में मेरी आसक्ति है। इसमें अपराध मेरा है। दूसरे पर कोप करना व्यर्थ है, दूसरा तो सहकारी-मात्र है। आत्मवध के लिए मैंने स्वयं शस्त्र ग्रहण किया है, तो दूसरे पर क्यों कोप करूँ? नरक का असिपत्र-वन और वहाँ के पक्षी जो नरक में मेरे दुःख के हेतु हैं, वे मत्कर्म-जनित हैं। इसमें दूसरा कारण नहीं है। इसी प्रकार दूसरा यदि मेरे साथ दुष्ट व्यवहार करता है, और उससे मुझको दुःख उत्पन्न होता है, तो उसमें भी मेरा कर्म ही हेतु है। ऐसा विचार कर कोप न करना चाहिए।

मैंने पहले दूसरों के साथ अपकार किया, इसलिए मेरे कर्म से प्रेरित होकर वे भी अपकार करते हैं और नरक में निवास करते हैं, इसलिए मैंने ही इनका नाश किया। इन्होंने मेरा विघात नहीं किया। इस प्रकार चित्त का बोध करना चाहिए।

इन अपकारियों के निमित्त क्षान्ति-धारण करने से पूर्वजन्मकृत परापकार-जनित पाप दुःखानुभव द्वारा क्षीण हो जाता है, और मेरे निमित्त इनका नरक-गमन होता है, जहाँ इनको दुःसह दुःख का अनुभव करना होता है। इस प्रकार, मैं ही इनका अपकारी हूँ और यह मेरे उपकारी हैं। फिर उपकारी के प्रति मेरी अपकार की बुद्धि क्यों है?

मैं यदि अपकारी होते हुए भी किसी उपाय-कौशल से, यथा प्रत्यपकार-निवृत्ति-निष्ठा द्वारा नरक न जाऊँ, और अपनी रक्षा करूँ, तो इसमें इन उपकारियों की क्या क्षति है? यदि ऐसा है, तो उपकारी के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करनी चाहिए और अपकार-निवृत्ति द्वारा अपनी रक्षा न करनी चाहिए। पर, प्रत्यपकार करने से भी इनकी रक्षा नहीं होती। इनको अपने पापकर्म का फल भोगने के लिए नरक में अवश्य निवास करना होगा, और ऐसा करने से मैं बोधिसत्त्वचर्या से भ्रष्ट हो जाऊँगा। कहा है—

सर्वसत्त्वेषु न मैत्रचित्तं मया निक्षेप्तव्यम्। अन्तशो न दग्धस्थूणायामपि प्रतिघचित्त-मुत्पादयितव्यम्।

इसके अतिरिक्त, मैं सब सत्त्वों की रक्षा करने में अशक्य हो जाऊँगा, और इस प्रकार वे दुर्गति में पड़ेंगे।

३ अब धर्मनिध्यान-क्षान्ति बतलाते हैं। दुःख दो प्रकार का है—कायिक और मानसिक। इसमें मानसिक दुःख परमार्थतः नहीं है, क्योंकि मन अमूर्त्त है, और इसलिए मन पर दण्डादि द्वारा प्रहार शक्य नहीं है। पर, इस कल्पना द्वारा कि यह शरीर मेरा है, शरीर को दुःख पहुँचने से चित्त भी दुःखी होता है। पर, अयश और परुष-वाक्य तो शरीर का उपघात नहीं करते। फिर, किसलिए इनसे चित्त कुपित होता है। यदि यह कहा जाय कि जब लोग मेरे अयश इत्यादि की बात सुनते हैं, तब वे मुझसे अप्रसन्न होते हैं और उनकी अप्रसन्नता

मुझको अभीष्ट नही है। पर, यह विचार कर कि लोक का अप्रसाद न इस लोक में मेरा अनर्थ सम्पादन कर सकता है, न जन्मान्तर मे, इसलिए लोक की अप्रसन्नता में अभिनिवेश न करना चाहिए।

यदि यह सन्देह हो कि लाभ का विघात होगा, लोग मुझसे विमुख हो जायेंगे और पिण्डपातादि लाभ-सत्कार से मुझको वचित रखेंगे, तो यह विचार करना चाहिए कि लाभ विनश्वर होने के कारण नष्ट हो जायगा, पर पाप सदा स्थिर रहेगा।

नंक्ष्यतीहैव मे लाभः पाप तु स्थास्यति ध्रुवम्। (बोधि० ६।५५)

लाभ के अभाव मे आज ही मर जाना अच्छा है, पर परापकार द्वारा लाभ-सत्कार पाकर चिरकाल तक मिथ्या जीवन व्यतीत करना बुरा है, क्योकि चिरकाल तक जीवित रहने मे भी मृत्यु का दु ख वैसा ही बना रहता है। एक स्वप्न में १०० वर्ष का सुख अनुभव कर जागता है, और दूसरा मुहूर्त्त के लिए सुखी होकर जागता है। स्वप्नोपलब्ध सुख जाग्रत् अवस्था में लौट नही आता। उसका स्मरणमात्र अवशिष्ट रह जाता है। जाग्रत् अवस्था मे उपभुक्त सुख भी विनष्ट होकर नही लौटता। इसी प्रकार मनुष्य चाहे चिरजीवी हो या अल्पजीवी, उसका उपभुक्त सुख मरण-समय मे विनष्ट हो जाता है। प्रचुरतर लाभ-सत्कार पाकर और दीर्घकाल-पर्यन्त अनेक सुखो का उपभोग करके भी अन्त मे खाली हाथ और नग्नशरीर जाना होता है, मानो किसी ने सर्वस्व हर लिया हो

लब्ध्वापि च बहूँल्लाभान् चिर भुक्त्वा सुखान्यपि।
रिक्तहस्तश्च नग्नश्च यास्यामि मुषितो यथा॥ (बोधि० ६।५६)

यदि यह विचार हो कि लाभ द्वारा चीवरादि का विघात न होने से चिरकाल तक जीवित रहकर हम पापक्षय और पुण्य-सचय करेंगे, तो यह भी स्मरण रहे कि लाभ के लिए द्वेष करनेवाले का सुकृत नष्ट हो जाता है, और अक्षान्ति से पापराशि की उत्पत्ति होती है

पापक्षयं च पुण्य च लाभाञ्जीवन् करोमि चेत्।
पुण्यक्षयश्च पापं च लाभार्थ क्रुध्यतो ननु॥ (बोधि० ६।६०)

जिसके लिए मेरा जीवन है, यदि वही नष्ट हो जाय, तो ऐसे निन्दित जीवन से क्या लाभ? बोधिसत्त्व का जीवन इतर जन के जीवन के सदृश निष्प्रयोजन नही है। उसका जीवन पाप के क्षय के लिए, और पुण्य की अभिवृद्धि के लिए है। यदि यह उद्देश्य फलीभूत न हो और सुकृत का क्षय हो, तो ऐसा अशुभ जीवन व्यर्थ है। यदि यह कहो कि जो मेरे गुणो को छिपाकर केवल दोषो का आविष्करण करता है, उससे मेरा द्वेष करना युक्त है, क्योकि वह सत्त्वो का नाश करता है, तो जब दूसरे किसी का कोई अयश प्रकाशित करता है, तब उसके प्रति तुमको क्यो कोप उत्पन्न नही होता? जो दूसरे की निन्दा करता है, उसको तो तुम क्षमा कर देते हो, उसके प्रति क्रोध नही करते, तब अपनी निन्दा करनेवाले को भी क्षमा क्यो नही करते?

जो प्रतिमा, स्तूप और सद्धर्म के निन्दक या नाशक हो, उनके प्रति भी श्रद्धावश द्वेष करना युक्त नही है, इससे बुद्धादि को कोई पीडा नही पहुँचती। यदि कोई गुरुजन, सहोदर

भाई तथा अन्य बन्धुवर्ग का भी अपकार करे, तो उसपर भी क्रोध न करना चाहिए। एक अज्ञान के वश हो, दूसरे के साथ अपकार करता है, अथवा दूसरे की निन्दा करता है, तो दूसरा अपकारी पर मोहवश क्रोध करता है। इनमें से किसको अपराधी और किसको निर्दोष कहें? दोनो का दोष समान है। पहले ऐसे कर्म क्यो किये, जिनके कारण दूसरो द्वारा पीडित होना पडता है? सब अपने कर्म के अधीन हैं। कर्मफल के निवर्त्तन में कोई समर्थ नही है, ऐसा विचार कर कुशल-कर्म के सम्पादन में यत्नवान् होना चाहिए, जिसमें सन्मार्ग में प्रवेश कर सब सत्त्व द्रोह छोडकर एक दूसरे के हित-सुख-विधान में तत्पर हो।

जिस प्रकार जब एक घर में आग लगती है और वह आग फैलकर दूसरे घर में जाती है, और वहाँ के तृणादि में लगती है, तब शीघ्र उस तृण आदि को हटाकर उसकी रक्षा का विधान किया जाता है, उसी प्रकार चित्त जिस वस्तु के सग से द्वेषाग्नि से दह्यमान हो, उस वस्तु का उसी क्षण परित्याग करना चाहिए।

जिसको मारण-दण्ड मिला है, यदि वह हस्तच्छेदमात्रानन्तर मुक्त कर दिया जाय, तो इसमें उसका स्पष्ट लाभ है, क्षति नही है। इसी प्रकार, यदि मनुष्य को, दुःख का अनुभव कर नरक-दुःख से छुटकारा मिले, तो इसमें सुखी होना चाहिए। क्योकि, नरक-दुःख की अपेक्षा मनुष्य-दुःख कुछ भी नही है। यदि इतना भी दुःख नही सहा जा सकता, तो उस क्रोध का निवारण क्यो नही करते, जिसके कारण नरक की व्यथा भोगनी पडती है? इसी क्रोध के निमित्त अनेकसहस्र वार मुझको नरक-व्यथा सहनी पडी है। इससे न मैंने अपना उपकार किया और न दूसरो का। इसलिए, सारा दुःखानुभव निष्प्रयोजन ही हुआ। पर मनुष्य-दुःख नरक-दुःख के समान कठोर नही है, और यह इसके अतिरिक्त बुद्धत्व का साधन भी है। अतः, इस दुःख में अभिरुचि होनी चाहिए, क्योकि यह ससार के दुःख का प्रशमन करेगा। यदि किसी गुणी के गुणो का वर्णन कर दूसरे सुखी होते हैं, तो तुम भी उसका गुणानुवाद कर अपने मन को क्यो नही प्रसन्न करते? ईर्ष्यानल की ज्वाला से क्यो जलते हो? यह सुख अनिन्द्य है, और सुख का कारण है। इसमें सबसे बडा गुण यह है कि सत्त्वो के आवर्जन का यह सर्वोत्तम उपाय है।

यदि यह कहो कि पराये की गुण-प्रशसा मुझको प्रिय नही है, क्योकि इसमें दूसरे को सुख प्राप्त होता है, तो इससे बडा अनर्थ सम्पादित होगा। इससे ऐहिक और पारलौकिक दोनो फल नष्ट हो जायेंगे। दूसरे की सुख-सम्पत्ति को देखकर कुढना अनुचित है। जब अपने गुण का सकीर्त्तन सुन तुम यह इच्छा रखते हो कि दूसरे प्रसन्न हो, तो क्यो दूसरो की प्रशसा सुनकर तुम स्वय प्रसन्न नही होते? तुमने इसलिए बोधिचित्त का ग्रहण किया है कि बुद्धत्व के अनुपम लाभ द्वारा सब सत्त्वो को समस्त सुख-सम्पत्ति का उपभोग करायेंगे, तो फिर यदि वे स्वय सुख प्राप्त करें, तो इससे क्यो अप्रसन्न होते हो? दूसरे की सुख-सम्पत्ति देख तुम्हारी यह असहिष्णुता क्यो है? तुम तो यह आकाक्षा रखते हो कि सत्त्वो को बुद्धत्वप्राप्त करावेंगे, जिसमें वे त्रैलोक्य में पूजे जायँ, फिर इनके स्वल्प लाभ-सत्कार को देखकर क्यो जलते हो?

> त्रैलोक्यपूज्य बुद्धत्वं सत्त्वाना किल वाञ्छसि।
> सत्कारमित्वरं दृष्ट्वा तेषां किं परिदह्यसे॥ (बोधि० ६।८१)

सब सत्त्व तुम्हारे आत्मीय हैं। उनके पोषण का भार तुमने अपने ऊपर लिया है। जो उनका पोषण करता है, वह तुम्ही को देता है। ऐसे पुरुष को पाकर तुम क्रोध करते हो। उनको सुखी देख तुमको सुखी होना चाहिए। यदि यह कहो कि बुद्धत्व के ही लिए मैंने जगत् को आमन्त्रित किया है, न कि अन्य सुख के लिए, तो यह उपयुक्त नही है। जो सत्त्वो के लिए बुद्धत्व की इच्छा रखता है, वह उनके लिए लौकिक तथा लोकोत्तर समस्त वस्तुजात की इच्छा रखता है। जो दूसरे की सुखसम्पत्ति को देखकर क्रुद्ध होता हो और दूसरे का लाभ-सत्कार नही देख सकता हो, उसकी बोधिचित्त की प्रतिज्ञा मिथ्या है। यदि उसने लाभ-सत्कार न पाया, तो दान की वस्तु दानपति के घर मे रहती है, वह वस्तु किसी अवस्था मे भी तुम्हारी नही हो सकती। लाभ-सत्कार का पानेवाला क्या उस पूर्व-जन्मकृत पुण्य का निवारण करे, जिसके कारण उसको लाभ-सत्कार प्राप्त होता है, अथवा दाता का निवारण करे ? अथवा अपने गुणो का निवारण करे, जिनसे प्रसन्न हो दानपति लाभ-सत्कार का दान करता है ? कहो, किस प्रकार से तुम्हारा परितोष हो ? तुम अपने किये हुए पापो के लिए शोक नही करते, पर दूसरे के पुण्य की ईर्ष्या करते हो। यदि तुम्हारी अभिलाषा-मात्र से तुम्हारे शत्रु का अनिष्ट सम्पादित हो, तो उससे क्या फल मिलेगा ? विना हेतु के केवल तुम्हारी अभिलाषा से ही किसी का अनिष्ट नही हो सकता। यदि हो भी, तो दूसरे के दु ख मे तुमको क्या सुख मिलता है ?

यदि दूसरे को दु खी देखना ही तुम्हारा अभिप्राय हो, और इसी मे अपना सुख मानते हो, तो इससे बढकर तुम्हारे लिए क्या अनर्थ हो सकता है ? यम के दूत तुमको ले जाकर कुम्भीपाक नरक मे पकावेगे। स्तुति के विघात से दु ख उत्पन्न होने का कोई कारण नही है। स्तुति, यश अथवा सत्कार से न पुण्य की वृद्धि होती है, न आयु की, न वल की, न आरोग्य लाभ होता है और न शरीर-सुख प्राप्त होता है। बुद्धिमान् पुरुप इन पांच प्रकार के पुरुषार्थों की कामना करता है। यश के लिए लोग अपने धन और प्राण को भी तुच्छ समझते हैं। यश के लिए मरने पर उसका सुख किसको प्राप्त होता है ? केवल अक्षर-मात्र हैं। तो क्या अक्षर खाये जायेगे ? यह वालक्रीडा के समान है। जिस प्रकार एक बालक धूलिमय गृह बनाकर परम परितोष से क्रीडा करता है, पर उसके भग्न हो जाने पर अत्यन्त दु खी हो करुण स्वर से आर्त्तनाद करता है, उसी प्रकार उस व्यक्ति की दशा होती है, जो स्तुति और यशरूपी खिलौनो से खेलता है और उनके विघात से दु खी होता है।

यदि कोई मुझसे या किसी दूसरे से प्रीति करता है, तो मुझे क्या ? यह प्रीति-सुख उसी को है। इसमें मेरा किंचिन्मात्र भी भाग नही है। यदि दूसरे के सुख से सुख की प्राप्ति हो, तो सर्वत्र ही मुझको सुख की प्राप्ति हो और जब कोई किसी का लाभ-सत्कार करे, तो मुझको भी सुख हो, पर ऐसा नही होता। मै तभी प्रसन्न होता हूँ, जब दूसरे मेरी प्रशसा करते हैं। यह तो बालचेष्टा है। स्तुति आदि कल्याण की घातक होती है। स्तुति आदि द्वारा गुणी के प्रति ईर्ष्या और परलाभसत्कारामर्षण का उदय होता है। स्तुति आदि मे यह दोप है। इसलिए, जो मेरी निन्दा के लिए उद्यत है, वह नरकपात से मेरी रक्षा करने मे प्रवृत्त हुआ है।

लाभ-सत्कार विमुक्ति के लिए बन्धन है। मैं मुमुक्षु हूँ। इसलिए, जो इन बन्धनों से मुझको मुक्त करता है, वह शत्रु किस प्रकार है, वह तो एक प्रकार का कल्याणमित्र है। इसलिए उससे द्वेष करना अयुक्त है। यह बुद्ध का ही माहात्म्य है कि मैं तो दुःख-सागर में प्रवेश करना चाहता हूँ और ये कपाट बन्द कर मेरा मार्ग अवरुद्ध करना चाहते हैं, अतः दुःख से मेरी रक्षा करते हैं। फिर क्यों मैं इनसे द्वेष करूँ? जो पुण्य का विघात करे, उसपर भी क्रोध करना अयुक्त है, क्योंकि क्षान्ति, तितिक्षा के तुल्य कोई तप, अर्थात् सुकृत नहीं है, और यह सुकृत विना किसी यत्न के ही उपस्थित होता है। पुण्यविघ्नकारी के छल से पुण्यहेतु की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत यदि मैं पुण्यविघ्नकारी को क्षमा न करूँ, तो मैं ही पुण्यहेतु उपस्थित होने पर पुण्य का बाधक होता हूँ। यदि वह पुण्यविघातकारी है, तो किस प्रकार वह पुण्य का हेतु हो सकता है? यह शंका उचित नहीं है। जिसके विना कार्य नहीं होता और जिसके रहने पर ही कार्य होता है, वही उस कार्य का कारण है, वह उसका विघातहेतु नहीं कहलाता। दान देने के समय यदि दानपति के पास कोई अर्थी आवे, तो यह नहीं कहा जा सकता कि उस याचक ने दान में विघ्न डाला, क्योंकि वह दान का कारण है। विना अर्थी के दान प्रवृत्त नहीं होता। इसी प्रकार, शिक्षा ग्रहण कराने के लिए यदि परिव्राजक आवे, तो उसकी प्राप्ति प्रव्रज्या में विघ्नकारक नहीं है। लोक में याचक सुलभ हैं, पर अपकारी दुर्लभ हैं, क्योंकि जो दूसरे के साथ बुराई नहीं करता, उसका कोई अनिष्ट नहीं करता। इसलिए, यह समझना चाहिए कि मेरे घर में विना श्रम के एक निधि उपार्जित हुई है। अपने शत्रु का कृतज्ञ होना चाहिए; क्योंकि वह बोधिचर्या में सहायक है। इस प्रकार, क्षमा का फल मुझको और उसको दोनों को मिलता है। वह मेरे धर्म में सहायक है, इसलिए यह क्षमा-फल पहले उसी को देना चाहिए।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि ऐसा युक्तियुक्त होता, यदि शत्रु इस अभिप्राय से कार्य में प्रवृत्त होता कि मुझको क्षमा-फल की प्राप्ति हो? यद्यपि शत्रु कुशल का हेतु है, तथापि वह बुद्धि से अपकार नहीं करता कि दूसरों को क्षमा-फल प्राप्त हो। ऐसा होते हुए भी शत्रु पूजनीय है। जैसे सद्धर्म की पूजा इसलिए होती है कि वह कुशल-निष्पत्ति का हेतु है, यद्यपि वह अचित्त, अर्थात् निरभिप्राय है। यदि अभिप्राय ही पूजा में हेतु होता, तो आशय-शून्य होने से सद्धर्म भी पूजनीय न होता। यदि यह कहो कि अपकार-बुद्धि होने से शत्रु की पूजा न करनी चाहिए, तो बताओ क्षान्ति कैसे हो? अपकार का न सहना या प्रत्यपकार करना युक्त नहीं है। जिस प्रकार हितसुख-विधायक सुवैद्य के प्रति रोगी का प्रेम और आदर-भाव रहता है, द्वेष का गन्ध भी नहीं रहता, वहाँ शान्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, उसी प्रकार जो अपकारी नहीं है, उसके प्रति द्वेष-चित्त के निवर्त्तन का क्या प्रश्न?

दुष्टाशय के कारण ही क्षमा की उत्पत्ति होती है, शुभाशय को लक्ष्य कर नहीं होती। इसलिए, वह क्षमा का हेतु है और सद्धर्म की तरह उसका सत्कार करना चाहिए। मुझे उसके आशय के विचार करने का कोई प्रयोजन नहीं है।

सत्त्व-क्षेत्र और जिन-क्षेत्र का वर्णन भगवान् ने किया है, क्योंकि इनकी अनुकूलता से बहुतों ने बुद्धत्व प्राप्त कर लौकिक और लोकोत्तर सर्वसम्पत्ति-पर्यन्त पाई है। ऐसी शंका

हो सकती है कि यद्यपि सत्त्व सर्वसम्पत्ति के हेतु है, तथापि तथागत बुद्ध के साथ उनकी समानता युक्त नही है। पर यह उपयुक्त नही है, क्योकि जब दोनो से समान रूप में बुद्ध-धर्मों का आगम होता है, तब जिनो के प्रति गौरव होना और सत्त्वो के प्रति न होना युक्त नही है। सत्त्व यदि रागादि मलो से सयुक्त होने के कारण हीनाशय है, तो भगवत् से समानता कैसे हो सकती है? यह शका भी अनुचित है। क्योकि, यद्यपि भगवान् का माहात्म्य अपरिमित पुण्य और ज्ञान के होने के कारण लोकोत्तर है, तथापि कार्य के तुल्य होने से सम माहात्म्य कहा जाता है। सत्त्व 'जिन' के समान इसीलिए है, क्योकि वह भी बुद्धधर्म का लाभ कराते है। यद्यपि परमार्थ दृष्टि मे वह भगवान् के समान नही है, क्योकि भगवान् गुणो के सागर हैं, और गुणार्णव का एक देश भी अनन्त है। यदि किसी सत्त्व मे बुद्ध के गुणो की एक कणिका भी पाई जाय, तो तीनो लोक पूजा के लिए अपर्याप्त है।

अकृत्रिम सुहृद् और अनन्त उपकार करनेवाले बुद्ध तथा बोधिसत्त्वो के प्रति जो अपकार किया गया है, उसका परिशोधन इससे बढकर क्या हो सकता है कि जीवो की सेवा करे। बोधिसत्त्व जीवो के हित-सुख के लिए अपने अग काट-काटकर दे देते है और अवीची नामक नरक मे सत्त्वो के उद्धार के लिए प्रवेश करते है। इसीलिए, परम अपकार करनेवाले की ओर से भी चित्त को दूषित नही करना चाहिए। किन्तु, अनेक प्रकार से मनसा वाचा कर्मणा दूसरो का कल्याण ही करना चाहिए। इसी से लोकनायक बुद्ध अनुकूल होगे और इसी से वाछित कल मिलेगा। बोधिसत्त्व को विचारना चाहिए कि जिनके निमित्त भगवान् अपने शरीर और प्राणो की उपेक्षा करते हैं, और तृणवत् उनका परित्याग करते है, उन सत्त्वो से वह कैसे मान कर सकता है? सत्त्वो को सुखी देखकर मुनीन्द्र हर्ष को प्राप्त होते है और उनकी पीडा से उनको विषाद होता है। उनकी प्रसन्नता मे बुद्धो की प्रसन्नता है और उनका अपकार करने से बुद्ध अपकृत होते है।

जिसका शरीर चारो ओर से अग्नि से प्रज्वलित हो रहा है, वह किसी प्रकार इच्छाओं में सुख नही मानता। इस प्रकार, जब सत्त्वो को दु.खवेदना होती है, तब दयामय भगवान् प्रसन्न नही होते। मैंने सत्त्वो को दुःख देकर सब बुद्धो को दु खित किया है, इसलिए आज मैं अपना पाप महाकारुणिक जिनो के आगे प्रकाश करता हूँ। मैंने उनको दु ख पहुँचाया, इस-लिए क्षमा माँगता हूँ। मै अपने को सब प्रकार से लोगो का दास मानता हूँ। लोग चाहे मेरे सिर पर पैर रखें, उनका पैर मै प्रसन्नता से सिर पर धारण करूँगा। इसमें सशय नही है कि बुद्ध और बोधिसत्त्वो ने समस्त जगत् को अपनाया है। यह निश्चित है कि बुद्धसत्त्व के रूप में वे दिखलाई पडते है। वे नाथ है। हम उनका अनादर कैसे कर सकते है

आत्मीकृत सर्वमिदं जगत्तै. कृपात्मभिर्नैव हि संशयोऽस्ति ।
दृश्यन्त एते ननु सत्त्वरूपास्त एव नाथा किमनादरोऽत्र ॥

(बोधि० ६।१२६)

तथागत बुद्ध इसी से प्रसन्न होते है। स्वार्थ की सिद्धि भी इसी से होती है। लोक का दु ख भी इसी से नष्ट होता है। इसलिए यही मेरा व्रत हो

तथागताराधनमेतदेव स्वार्थस्य संसाधनमेतदेव ।
लोकस्य दुःखापहमेतदेव तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव ॥ (बोधि० ६।१२७)

एक राजपुरुष जन-समूह का विमर्दन करता है और वह समूह उसका कुछ बिगाड नही सकता। वह अकेला नही है। उसको राजबल प्राप्त है। इसी प्रकार जो अपराध करता है, उसको दुर्बल समझकर अपमानित न करना चाहिए। वह अकेला नही है। नरकपाल और दयामय उनके बल हैं। इसलिए, जैसे भृत्य कुपित राजा को प्रसन्न करता है, उसी प्रकार सबको सत्त्वो को प्रसन्न करना चाहिए। कुपित होकर भी राजा उतना कष्ट नही दे सकता, जितना कष्ट सत्त्वो को अप्रसन्न कर नारकीय यातना के अनुभव से मिलता है। राजा प्रसन्न होकर यदि बडे-से-बडा पदार्थ भी दे, तब भी वह बुद्धत्व की समता नही कर सकता, जो सत्त्वाराधन से मिलता है। सत्त्वाराधन से भविष्य में बुद्धत्व की प्राप्ति के साथ-साथ इस लोक में सौभाग्य, यश और सुख मिलता है। जो क्षमा करता है, वह ससार मे आरोग्य, चित्तप्रसाद, दीर्घायु और अत्यन्त सुख पाता है।

वीर्य-पारमिता—जो क्षमी है, वही वीर्यलाभ कर सकता है। वीर्य में बोधि प्रतिष्ठित है। वीर्य के बिना पुण्य नही है, जैसे वायु के बिना गति नही है। कुशल कर्म में उत्साह का होना ही वीर्य का होना है। इसके विपक्ष आलस्य, कुत्सित में आसक्ति, विषाद और आत्म-अवज्ञा हैं। ससार-दुःख का तीव्र अनुभव न होने से कुशल-कर्म में प्रवृत्ति नही होती। इस निर्व्यापारिता से आलस्य होता है। क्या नही जानते कि क्लेश-रूपी मछुओ से आक्रान्त तुम जन्म के जाल में पडे हो? क्या नही जानते कि मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो। क्या अपने वर्ग के लोगो को, एक के बाद दूसरे को, मारे जाते नही देखते हो? तुम यह देखकर भी निद्रा के मोहजाल मे पडे हो। अपने को निःशरण देखकर भी सुखपूर्वक बैठे हो। तुमको भोजन कैसे रुचता है? नीद क्योकर आती है, और ससार में रति कैसे होती है? आलस्य छोडकर कुशलोत्साह की वृद्धि करो। मृत्यु अपनी सामग्री एकत्र कर शीघ्र ही तुम्हारे वध के लिए आ उपस्थित होगी। उस समय तुम कुछ न कर सकोगे। उस समय तुम इस चिन्ता से विह्वल हो जाओगे कि हा! काम विचारा था, वह न कर सका, जिसका आरम्भ किया था या जिसको कुछ निष्पन्न किया था, उस कार्य को समाप्त न कर सका और बीच ही में अकस्मात् मृत्यु का आक्रमण हुआ। तुम उस समय यमदूतो के मुख की ओर निहारोगे, तुम्हारे बन्धु-बान्धव तुम्हारे जीवन से निराश हो जायेंगे और शोक के वेग से उनके नेत्रो से अश्रुधारा प्रवाहित होगी। मरण-समय उपस्थित होने पर सुकृत या पापकर्म का स्मरण होने से तुमको पश्चात्ताप होगा। तुम नारक शब्दो को सुनोगे और त्रास से पुरीषोत्सर्ग के कारण तुम्हारे गात्र मलमूत्र से उपलिप्त हो जायेगे। शरीर, वाणी और चित्त तुम्हारे अधीन न रहेंगे। उस समय तुम क्या करोगे? ऐसा समझकर स्वस्थ अवस्था में ही कुशल-कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। जिस प्रकार बहुत-से लोग क्रमश खाने के लिए ही मछलियो को पालते हैं, उनका मरण आज नही, तो कल अवश्य होगा, उसी प्रकार सत्त्वो को समझना चाहिए कि आज नही, तो कल मृत्यु अवश्यमेव होगी। उन लोगो को विशेषकर तीव्र नारक दुःखो से

भयभीत होना चाहिए, जिन्होने पापकर्म किया है। सुकुमार होने के कारण जब तुम उष्णोदक के स्पर्श को भी सहन नही कर सकते, तो नारक कर्म करके सुखासीन क्यो हो ? विना पुरुषार्थ किये फल की आकाक्षा करते हो, दु ख सहने का सामर्थ्य नही है, मृत्यु के वशीभूत हो। तुम्हारी दशा कष्टपूर्ण है। अष्टाक्षण-विनिर्मुक्त मनुष्यभाव-रूपी नौका तुमको मिली है। दु खमयी महानदी को पार करो। वीर्य का अवलम्बन कर सब दु खो को पार करो। यह निद्रा का समय नही है। यदि इस समय पुरुषार्थ न करोगे, तो फिर नौका का मिलना कठिन होगा। समागम वार-बार नही होता। कुत्सित कर्मों में आसक्त न हो। शुभकर्मों में रति होने से अपर्यन्त सुख-प्रवाह प्रवाहित होता है। इसको छोडकर तुम्हारी प्रवृत्ति रति, हास, क्रीडा इत्यादि मे क्यो है ? यह केवल दु ख का हेतु है।

अविषाद, वलव्यूह, निपुणता, आत्मवशवर्त्तिता, परात्मसमता और परात्मपरिवर्त्तन से वीर्य-समृद्धि का लाभ होता है। कोई पुरुष-विशेष अपरिमित पुण्य-ज्ञान के बल से दुष्कर कर्मों का अनुष्ठान कर कही असख्येय कल्पो मे बुद्धत्व को प्राप्त होता है। मैं साधारण व्यक्ति किस प्रकार बुद्धत्व को प्राप्त करूँगा ? ऐसा विपाद न करना चाहिए, क्योकि सत्यवादी तथागत बुद्ध ने सत्य कहा है कि जिन बुद्धो ने उत्साहवश, दुर्लभ, अनुत्तरबोधि को पाया है, वे भी ससार-सागर के आवर्त्त मे परिभ्रमण करते हुए मशक, मक्षिका और कृमि की योनियो में उत्पन्न हुए थे। जिसमें पुरुषार्थ है, उसके लिए कुछ दुष्कर नही। मैं मनुष्यभाव में हूँ, हित-अहित पहचानने की मुझमें शक्ति है।

सर्वज्ञ के बताये हुए मार्ग के अपरित्याग से बोधि अवश्य प्राप्त होगी। अति दुष्कर कर्म के श्रवण से अनध्यवसाय ठीक नही है। हस्त-पादादि दान मे देना होगा, कैसे ऐसे दुष्कर कर्म कर सकेंगे, ऐसा भय केवल इसीलिए होता है कि मोहवश गुरु और लाघव का परमार्थ-विचार नही होता। पापकर्म कर सत्त्व नरकाग्नि मे जलाये जाते हैं, और नाना प्रकार की यातनाएँ भोगते है। यह दु ख महान्, पर निष्फल है। इससे बोधि नही प्राप्त होती, पर बुद्धत्व का प्रसाधक दु ख अल्प और सफल है। शरीर मे प्रविष्ट शल्य के उद्धरण में थोडा दु ख अवश्य होता है, पर बहुव्यथा का निवर्त्तन होता है। इसी प्रकार थोडा दु ख सहकर दीर्घकालिक दुःख का उपशम होता है। इसलिए, इस थोडे-से दु:ख को सहना उचित है। वैद्य लघन, पाचन आदि दु खमय क्रियाओ द्वारा रोगियो को आरोग्य-लाभ कराता है। इससे वहुत-से दु ख नष्ट हो जाते हैं। इसलिए, बुद्धिमान् पुरुष को थोडा दु ख स्वीकार करना चाहिए। पर सर्व-व्याधि-चिकित्सक भगवान् ने साधक के लिए इन उचित दु खोत्पादिनी क्रियाओ का कर्त्तव्य-रूप मे प्रतिपादन नही किया है। वह सामर्थ्यानुसार मृदु उपचार द्वारा दीर्घ रोगियो की चिकित्सा करते हैं। प्रारम्भ मे शल्य के परित्याग मे यथा शाकादि दान मे, नियुक्त करते है। पीछे से जब मृदु दानाभ्यास-कर्म मे अधिक मात्रा मे दानाभ्यास-प्रकर्ष होता है, तव अपना मास, रुधिर आदि भी प्रसन्नतापूर्वक देने का सामर्थ्य प्रकट होता है। जव अभ्यासवश स्वमाम में शाक के समान निरासग वुद्धि उत्पन्न होती है, तव स्वमासादि दान भी सुलभ हो जाता है।

बोधिसत्त्व को कायिक और मानसिक दोनो प्रकार के दु ख नही होते। पाप से विरत होने के कारण कायिक दु ख नही होता । बाह्य और अध्यात्म-नैरात्म्य होने के कारण मानसिक दुःख भी उसको नही होता। मिथ्याकल्पना से मानसिक और पाप से कायिक व्यथा होती है। पुण्य से शरीर-सुख और यथार्थ ज्ञान से मानसिक सुख मिलता है । जो दयामय है और जिसका जीवन संसार में परमार्थ के लिए ही है, उसको कौन-सा दु ख हो सकता है ? यदि यह शका हो, कि दीर्घकाल में पुण्य-सचय द्वारा सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति होती है, इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि शीघ्र काल मे फल देनेवाले हीनयान का ही आश्रय ले, तो ऐसी शका न करनी चाहिए । क्योकि, महायान पूर्वकृत पापो का क्षय करता है और पुण्यसागर की प्राप्ति कराता है। इसलिए, यह हीनयान की अपेक्षा शीघ्रगामी है ।

बोधिचित्त-रथ पर आरूढ होना चाहिए । यह सब क्लेशो का निवारक है । इस प्रकार उत्तरोत्तर अधिकाधिक सुख पाते हुए कौन ऐसा सचेतन है, जो विषाद को प्राप्त हो ? सत्त्वो की अर्थसिद्धि के लिए बोधिसत्त्व के पास एक बलव्यूह है, जो इस प्रकार है—छन्द, स्थाम, रति, और मुक्ति। 'छन्द' कुशल की अभिलाषा को कहते है। इस भय से कि अशुभ कर्म से दुःख उत्पन्न होता है और यह सोचकर कि शुभकर्म द्वारा अनेक प्रकार से मधुर फलो की उत्पत्ति होती है, सत्त्व को कुशल-कर्म की अभिलाषा होनी चाहिए। 'स्थाम' आरब्ध की दृढता को कहते है । 'रति' सत्कर्म मे आसक्ति है। 'मुक्ति' का अर्थ उत्सर्ग है । यह बलव्यूह वीर्य-साधन में चतुरगिणी सेना का काम देता है। इसके द्वारा आलस्यादि विपक्ष का उन्मूलन कर वीर्य-प्रवर्द्धन के लिए यत्न करना चाहिए ।

मुझको अपने और पराये अप्रमेय काय-वाक्-चित्तसमाश्रित दोष नष्ट करने है। एक-एक दोष का क्षय मुझ मन्दवीर्य से अनेक शत-सहस्र कल्पो में होगा। दोषनाश के लिए मुझमें लेशमात्र भी उत्साह नही दिखलाई पडता। मै अपरिमित दु ख का भाजन हूँ। मेरा हृदय क्यो नही विदीर्ण होता ? इस अद्भुत और दुर्लभ मनुष्य-जन्म को मैने वृथा गँवाया। मैने भगवत्पूजा का सुख नही उठाया। मैने बुद्ध-शासन की पूजा नही की। भीतो को अभयदान नही दिया। दरिद्रो की आशा नही पूरी की। आर्त्तों को सुखी नही किया। मेरा जन्म केवल माता को दु ख देने के लिए हुआ है। पूर्वकृत पापो के कारण धर्म की अभिलाषा का अभाव है। इसीलिए, इस जन्म में मेरी यह दशा हुई है। ऐसा समझकर कौन कुशल-कर्म की अभिलाषा का परित्याग करेगा ? सब कुशलो का मूल 'छन्द' है। उसका भी मूल बार-बार शुभ-अशुभ कर्मो के विपाक-फल की भावना है। जो पापी हैं, उनको अनेक प्रकार के कायिक, मानसिक, नारकादि दु ख होते है, और उनके लाभ का विघात होता है। पुण्यवान् को पुण्यबल से अभिवाछित फल मिलता है, पापी को जब-जब सुख की इच्छा का उदय होता है, तब-तब दु ख-शस्त्रो से उसका विघात होता है। जो असाधारण शुभकर्म करते हैं, वे इच्छा न रखते हुए मातृकुक्षि में नही उत्पन्न होते । जो अशुभ कर्म करते है, काल-दूत उनके शरीर की सारी खाल उधेडते है । आग में गलाये हुए ताँबे से उनके शरीर को स्नान कराते हैं, जलती हुई तलवार और शक्ति के प्रहार से मास के सैकडो खण्ड करते है, और सुतप्त लौहभूमि पर वे बार-बार

गिरते हैं, शुभ और अशुभ कर्मों का यह मधुर और कटु फल-विपाक होता है। इसलिए, शुभ-कर्मों की अभिलाषा होनी चाहिए।

उपस्थित सामग्री का निरूपण कर बलाबल का विचार करना चाहिए। फिर, कार्य का आरम्भ करे अथवा न करे। आरम्भ न करने में इतना दोष नहीं है, जितना कि आरम्भ करके निवर्त्तन करने में है। प्रतिज्ञात कर्म के न करने से पाप होता है और उससे दुःख की वृद्धि होती है। इस प्रकार, आरब्ध कर्म का ही सम्पादन न होता हो, ऐसा नहीं है, पर उस काल में जो अन्य कार्य हो सकते थे, वह भी नहीं होते। कर्म, उपक्लेश और शक्ति में 'मान' होता है। 'मुझ अकेले के ही करने का यह काम है', यह भाव 'कर्म-मानिता' कहलाता है। सब सत्त्व क्लेशाधीन हैं, स्वार्थ-साधन में समर्थ नहीं हैं, ये अशक्त हैं और मैं भारोद्वहन में समर्थ हूँ। इसलिए, मुझको सबका सुख-सम्पादन करने के लिए बोधिचित्त का उत्पाद करना चाहिए। मुझ दास के रहते और लोग क्यों नीच कर्म करें? जो काम मेरे करने का है, उसे और क्यों करें? यदि मैं इस मान से कि यह मेरे लिए अयुक्त है, उसे न करूँ, तो इससे तो यही अच्छा है कि मेरा मान ही नष्ट हो जाय। यदि मेरा चित्त दुर्बल है, तो थोड़ी भी आपत्ति बाधक होगी। मृत सर्प को पाकर काक भी गरुड़ हो जाता है। जो विषादयुक्त है, उसके लिए आपत्ति सुलभ है, पर जो उत्साहसम्पन्न है और स्मृति-सम्प्रजन्य द्वारा उपक्लेशों को अवकाश नहीं देता, उसको बड़े-से-बड़ा भी नहीं जीत सकता। इसलिए, बोधिसत्त्व दृढचित्त हो आपत्ति का अन्त करता है। यदि बोधिसत्त्व क्लेशों के वशीभूत हो जाय, तो उसका उपहास हो। क्योंकि, वह त्रैलोक्य के विजय की इच्छा रखता है। वह विचार करता है कि मैं सबको जीतूँ और मुझको कोई नहीं जीते। उसको इस बात का मान है कि मैं शाक्यसिंह का पुत्र हूँ। जो मान से अभिभूत हो रहे हैं, वे मानी नहीं हैं, क्योंकि मानी शत्रु के वश में नहीं आता और वह मानरूपी शत्रु के वश में है। मान से वे दुर्गति को प्राप्त होते हैं। मनुष्य-भाव में भी उनको सुख नहीं मिलता। वे दास, परभृत, मूर्ख और अशक्त होते हैं, यदि उनकी गणना मानियों में हो, तो बताओ दीन किन्हें कहेंगे? वही सच्चा मानी, विजयी और शूर है, जो मानशत्रु की विजय करने के लिए मान धारण करता है और जो उसका नाश कर लोक में बुद्धत्व को प्राप्त होता है। सक्लेशों के बीच में रहकर सहस्रगुण अग्रसर होना चाहिए। जो काम आगे आवे, उसका व्यसनी हो जाय। द्यूतादि क्रीडा में आसक्त पुरुष उसके सुख को पाने की बार-बार इच्छा करता है। इसी प्रकार बोधिसत्त्व को काम से तृप्ति नहीं होती। वह बार-बार उसकी अभिलाषा करता है। सुख के लिए ही कर्म किया जाता है, अन्यथा कर्म में प्रवृत्ति न हो। पर, कर्म ही जिसको सुख-स्वरूप है, जिसको कर्म के अतिरिक्त किसी दूसरे सुख की अभिलाषा नहीं है, वह निष्कर्म होकर कैसे सुखी रह सकता है?

बोधिसत्त्व को चाहिए कि एक काम के समाप्त होने पर दूसरे काम में लग जाय। पर, अपनी शक्ति का क्षय जानकर काम को उस समय छोड़ देना चाहिए। यदि कार्य अच्छी तरह समाप्त हो जाय, तो उत्तरोत्तर कार्य के लिए अभिलाषी होना चाहिए। क्लेशों के प्रहार से अपनी रक्षा करनी चाहिए और जिस प्रकार शस्त्र-विद्या में कुशल शत्रु के साथ खड्ग-युद्ध

करते हुए निपुणतर दृढ प्रहार किया जाता है, उसी प्रकार दृढ प्रहार करना चाहिए। अणुमात्र भी दोष को अवकाश न देना चाहिए। जैसे विष रुधिर में प्रवेशकर शरीर भर में व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार दोष अवकाश पाकर चित्त में व्याप्त हो जाता है।

अत , क्लेश-प्रहार के निवारण में यत्नवान् होना चाहिए। जब निद्रा और आलस्य का प्रादुर्भाव हो, तब उनका शीघ्र प्रतीकार करे, जैसे किसी पुरुष की गोद में यदि सर्प चढ आता है, तो वह झट-से खडा हो जाता है। जब-जब स्मृति-प्रमोष हो, तब-तब परिताप होना चाहिए और सोचना चाहिए कि क्या करें, जिससे फिर ऐसा न हो। बोधिसत्त्व को सत्सग की इच्छा करनी चाहिए। जैसे रुई वायु की गति से सचालित होती है, वैसे ही बोधिसत्त्व उत्साह के वश होता है और इस प्रकार अभ्यास-परायण होने से ऋद्धि की प्राप्ति होती है।

ध्यान-पारमिता— वीर्य की वृद्धि कर समाधि में मन का आरोप करे, अर्थात् चित्तैकाग्रता के लिए यत्नवान् हो, क्योंकि विक्षिप्त-चित्त पुरुष वीर्यवान् होता हुआ भी क्लेशो से कवलित होता है। जन-सम्पर्क के विवर्जन से तथा कामादि वितर्कों के विवर्जन से विक्षेप का प्रादुर्भाव नही होता और निरासग होने से आलम्बन में चित्त की प्रतिष्ठा होती है। इसलिए, ससार का परित्याग कर रागद्वेषमोहादि-विक्षेप हेतुओ का परित्याग करना चाहिए। स्नेह के वशीभूत होने से और लाभ, सत्कार, यश आदि के प्रलोभन से ससार नही छोडा जाता। विद्वान् को सोचना चाहिए कि जिसने चित्तैकाग्रता द्वारा यथाभूत तत्त्वज्ञान की प्राप्ति की है, वही क्लेशादि दु खो का प्रहाण कर सकता है। ऐसा विचार कर क्लेश-मुमुक्षु पहले शमथ, अर्थात् चित्तैकाग्रता के उत्पादन की चेष्टा करे। जो समाहित-चित्त है और जिसको यथाभूत तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई, है उसकी बाह्य चेष्टा का निवर्त्तन होता है और शम के होने से उसका चित्त चचल नही होता।

लोक-विषय में निरपेक्ष बुद्धि रखने से ही यह शमथ उत्पन्न होता है। अनित्य-पुत्रदारादिको मे अनित्य तत्त्व का स्नेह रखना युक्त नही है, जब यह विदित है कि अनेक जन्मपर्यन्त उस आत्मप्रिय का पुन दर्शन नही होगा। यह जानते हुए भी दर्शन न मिलने से चित्त व्याकुल हो जाता है और किसी प्रकार सुस्थिर नही होता। जब उसको प्रिय-दर्शन होता है, तब भी चित्त का पूर्ण रूप से सन्तर्पण नही होता और दर्शन की अभिलाषा पूर्ववत् पीडा देती है। उसको प्रिय-समागम की आकाक्षा से मोह उत्पन्न होता है। वह गुण-दोष नही विचारता। अत , वह निरन्तर शोक-सन्तप्त रहता है। उस प्रिय की चिन्ता से तथा तल्लीनचित्तता के कारण प्रतिक्षण आयु का क्षय होता है और कोई कुशल-कर्म सम्पादित नही होता। जिस मित्र के लिए आयु का क्षय होता है, वह स्थिर नही है। वह क्षणभगुर है, अशाश्वत है। उसके लिए दीर्घ-कालावस्थायी शाश्वतधर्म की हानि क्यो करते हो। यदि यह सोचते हो कि उसके समागम से हित-सुख की प्राप्ति होगी, तो यह भूल है, क्योकि यदि तुम्हारा आचरण उसके सदृश हुआ, तो तुम अवश्य दुर्गति को प्राप्त होगे और यदि असदृश हुआ, तो वह तुमसे द्वेष करेगा। इस प्रकार, दोनो अवस्थाओ मे वह तुम्हारे हित-सुख का निमित्त नही हो सकता। इस समागम से क्या लाभ है? क्षण में यह मित्र है और क्षण मे यह शत्रु है। जहाँ प्रसन्न होना चाहिए, वहाँ कोप करते है। इनका आराधन

दुष्कर है । यदि इनसे इनके हित की बात कहो, तो यह कोप करते है, और दूसरे को भी हित-पथ से निवारण करते है, और यदि उनकी बात न मानी जाय, तो क्रुद्ध होते है । ससार के मूढ पुरुषो से भला कही हित हो सकता है ? वह दूसरे का उत्कर्ष नही सह सकते । जो उनके बराबर के है, उनसे विवाद करते है और जो उनसे अधम है, उनसे अभिमान करते है, जो उनका दोप-कीर्त्तन करते है, उनसे वह द्वेप करते है । मूढ के ससर्ग से आत्मोत्कर्ष, परनिन्दा, ससार-रति-कथा आदि अकुशल अवश्यमेव होते है । 'दूसरे के सग से अनर्थ का समागम निश्चय जानो । यह विचार कर अकेला सुखपूर्वक रहने का निश्चय करे । मूढ की सगति कभी न करे । यदि दैवयोग से कभी सग हो, तो प्रिय उपचारो द्वारा उसका आराधन करे और उसके प्रति उदासीन वृत्ति रखे । जिस प्रकार भृग कुसुम से मधु-सग्रह करता है, पर परिचय नही पैदा करता, उसी प्रकार मूढ से केवल उसको ले ले, जो धर्मार्थ प्रयोजनीय हो ।

इस प्रकार, प्रिय-सगति का कारण स्नेह अपाकृत होता है । साम्प्रत लाभादि तृष्णा का, जिनके कारण लोक का परित्याग नही बन पडता, परिहार करना चाहिए । विद्वान् को रति की आकाक्षा न करनी चाहिए । जहाँ-जहाँ मनुष्य का चित्त रमता है, वह-वह वस्तु सहस्र-गुना दु ख रूप हो उपस्थित होती है । इच्छा से भय की उत्पत्ति होती है, इसलिए बुद्धिमान् पुरुष किसी वस्तु की इच्छा न रखे । बहुतो को विविध लाभ और यश प्राप्त हुए, पर वह लाभ-यश के साथ कहाँ गये, यह पता नही है । कुछ मेरी निन्दा करते है और कुछ मेरी प्रशसा करते है, अपनी प्रशसा सुनकर क्यो प्रसन्न होऊँ ? और, आत्मनिन्दा सुनकर क्यो विषाद को प्राप्त होऊ ? जब बुद्ध भी अनेक सत्त्वो का परितोप न कर सके, तो मुझ जैसे अज्ञो की क्या कथा ? मुझको लोकचिन्ता न करनी चाहिए । जो सत्त्व लाभ-रहित है, उसकी यह कहकर लोग निन्दा करते है कि यह सत्त्व पुण्य-रहित है, इसीलिए क्लेश उठाकर भी वह पिण्डपातादिमात्र लाभ भी नही पाता, और जो लाभ-सत्कार प्राप्त करते है, उनका यह कहकर लोग उपहास करते है कि इन्होने दानपति को किसी प्रकार प्रसन्न कर यह लाभ प्राप्त किया है । उभयथा उनके चित्त को शान्ति नही मिलती । ऐसे लोग स्वभाव से दु ख के हेतु होते है । ऐसे लोगो का सवास न मालूम क्यो प्रिय होता है ? मूढ पुरुष किसी का मित्र नही है, उसकी प्रीति नि स्वार्थ नही होती । जो प्रीति स्वार्थ पर आश्रित है, वह अपने लिए ही होती है ।

मुझको अरण्य-वास के लिए यत्नशील होना चाहिए । वृक्ष तुच्छ दृष्टि से नही देखते और न उनके आराधन के लिए कोई प्रयत्न करना पडता है । कब इन वृक्षो के सहवास का सुख मुझको मिलेगा ? कब मै शून्य देवकुल में, वृक्षमूल मे, गुहा मे, सर्वनिरपेक्ष हो बिना पीछे देखे हुए निवास करूँगा ? कब मै गृह त्यागकर स्वच्छन्दतापूर्वक प्रकृति के विस्तीर्ण प्रदेशो मे, जहाँ किसी का स्वामित्व नही है, विहार करूँगा ? कब मै मृण्मय भिक्षापात्र ले शरीरनिरपेक्ष हो निर्भय विहार करूँगा ? भिक्षापात्र ही मेरा समस्त धन होगा, मेरा चीवर चोरो के लिए भी अनुपयुक्त होगा । फिर, मुझको किसी प्रकार का भय न रहेगा ।

मैं कब श्मशान-भूमि मे जाकर दुर्गन्ध-युक्त निजदेह की तुलना पूर्वमृत जीवो के अस्थि-पजर से करूँगा ? शृगाल भी अतिदुर्गन्ध के कारण समीप नही आयेंगे। इस शरीर के साथ उत्पन्न होनेवाले अस्थिखण्ड भी पृथक् हो जायेंगे, फिर प्रियजनो का क्या कहना ? यदि यह सोचा जाय कि पुत्र-कलत्रादि सुख-दु ख में मेरे सहायक होते हैं, इसलिए इनका अनुनय करना युक्त है, तो ऐसा नहीं है। कोई किसी का दु ख बाँट नही लेता। जीव अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है। सब लोग अपने-अपने कर्म का फल भोगते हैं। इसलिए, यह केवल अभिमान है कि पुत्र-कलत्रादि सुख-दु ख मे सहायक होते हैं। वह केवल विघ्न ही करते हैं। अत , उन प्रियजनो से कोई लाभ नहीं है।

परमार्थ-दृष्टि से देखा जाय, तो कौन किसकी सगति करता है। जिस प्रकार, राह चलते पथिको का एक स्थान में मिलन होता है और फिर वियोग होता है, उसी प्रकार ससार-रूपी मार्ग पर चलते हुए ज्ञाति, सगोत्र आदि सम्बन्धो द्वारा आवास-परिग्रह होता है। मरने पर वह उनके साथ नही जाते। पूर्व इसके कि लोग मरणावस्था में उसका परित्याग करें और उसके लिए विलाप करें, मनुष्य को वन का आश्रय लेना चाहिए। किसी से परिचय और न किसी से विरोध रखे। स्वजन बान्धवो के लिए प्रव्रज्या के अनन्तर वह मृत के समान है। वन में ज्ञाति, सगोत्रादि कोई उसके समीपवर्त्ती नही है, जो अपने शोक से व्यथा पहुँचावें या विक्षेप करे। इसलिए, एकान्तवास-प्रिय होना चाहिए। एकान्तवास मे आयास या क्लेश नही है। वह कल्याण-दायक है और सब प्रकार के विक्षेप का शमन करता है। इस प्रकार, जन-सम्पर्क के विवर्जन से काय-विवेक का लाभ होता है। तदनन्तर, चित्त-विवेक की आवश्यकता है। चित्त के समाधान के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। चित्त-समाधान का विपक्षी काम-वितर्क हैं। इसका निवारण करना चाहिए। रूपादि विषयो के सेवन से लोक और परलोक दोनो में अनर्थ होता है। जिसके लिए तुमने पाप और अपयश को भी न गिना, और अपने को भय में डाला, वह अब अस्थिमात्र है, और किसी के अधिकार में नही है। जो मुख कुछ काल पहले लज्जा से अवनत था और सदा अवगुण्ठन से आवृत रहता था, उसे आज गृध्र व्यक्त करते हैं, जो मुख दूसरो के दृष्टिपात से सुरक्षित था, उसे आज गृध्र खाते हैं। अब क्यो नही उसकी रक्षा करते ? गृध्रो और शृगालो से विदारित इस मास-पु ज को देखकर अब क्यो भागते हो ? काष्ठ-लोष्ठ के समान निश्चल इस अस्थि-पजर को देखकर अब क्यो त्रास होता है ? पुरीष और श्लेष्म दोनो एक ही आहार-पान मे उत्पन्न होते हैं। इनमे पुरीष को तुम अपवित्र मानते हो, पर कामिनी के अधर का मधुपान करने के लिए उसके श्लेष्म-पान मे क्यो रति होती है ? जो काम-सुख के अभिलाषी हैं, उनकी विशेष रति अपवित्र स्त्री-कलेवर में ही होती है। यदि तुम्हारी आसक्ति अशुचि मे नही है, तो क्यो इस स्नायु-बद्ध अस्थि-पजर और मास के लोथडे का आलिंगन करते हो ? अपने ही इस अमेध्य शरीर पर सन्तोष करो। यह काय स्वभाव से ही विकृत है। यह अभिरति का युक्त स्थान नही है। जब शरीर का चर्म उत्पाटित होता है, तब त्रास उत्पन्न होता है। यह शरीर का स्वभाव है। पर ऐसा जानकर भी इसमे रति क्यो उत्पन्न होती है ? यदि यह कहो कि यद्यपि शरीर स्वभाव से अमेध्य है, पर चन्दनादि सुरभि वस्तुओ

के उपलेप से कमनीय हो जाता है, तो यह उचित नही है। सहस्र सस्कार करने पर भी शरीर का स्वभाव नही बदल सकता। नग्न, वीभत्स और भयकर काय की केशनखादि रचना-विशेष कर स्नान, अभ्यग और अनुलेपन द्वारा विविध सस्कार कर मनुष्य आत्मव्यामोहन करता है, जो उसके वध का कारण होता है।

विना धन के सुख का उपभोग नही होता। बाल्यावस्था में धनोपार्जन की शक्ति नही होती। युवावस्था धनोपार्जन मे ही व्यतीत होती है। जब उमर ढल जाती है, तब विषयो का कोई उपयोग नही रह जाता। कुछ लोग दिन-भर भृति-कर्म कर सायकाल को परिश्रान्त होकर लौटते और मृत-कल्प सो जाते है। वह इस प्रकार केवल आयु का क्षय करते है, काम-सुख का आस्वाद नही करते।

जो दूसरो के सेवक है, उनको स्वामी के कार्यवश प्रवास का क्लेश भोगना पडता है। वे अनेक वर्षो मे भी स्त्री और पुत्र को नही देखते। जिस सुख की लालसा से दूसरे का दासत्व स्वीकार किया, वह सुख न मिला। केवल दूसरो का काम कर व्यर्थ ही आयु का क्षय किया। लोग जीविका के लिए रण मे प्रवृत्त होते है, जहाँ जीवन का भी सशय होता है। यह विडम्बना नही, तो क्या है ? इस जन्म में भी कामासक्त पुरुष विविध दु खो का अनुभव करते है। वह सुख-लिप्सा से कार्य मे प्रवृत्त होते है, पर अनर्थ-परम्परा की प्रसूति होती है। धन का अर्जन और अर्जित धन की प्रत्यवायो से रक्षा कष्टमय है, और रक्षित धन का नाश विषाद और चित्त की मलिनता का कारण होता है। इस कारण अर्थ अनर्थ का कारण होता है। धनासक्त पुरुष का चित्त एकाग्र नही होता। भव-दु ख से विमुक्त होने के लिए उसको अवकाश ही नही मिलता। इस प्रकार, कामासक्ति मे अनर्थ बहुत है, सुखोत्पाद की वार्त्ता भी नही है। धनासक्त पुरुष की वही दशा है, जो उस बैल की होती है, जिसको शकट-भार वहन करना पडता है, और खाने को घास मिलती है। इस थोडे से सुखास्वाद के लिए मनुष्य अपनी दुर्लभ सम्पत्ति नष्ट कर देता है। निश्चय ही मनुष्य की उलटी मति है, क्योकि वह निकृष्ट, अनित्य और नरकगामी शरीर के सुख के लिए निरन्तर परिश्रम करता रहता है। इस परिश्रम का कोटिशत भाग भी बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए पर्याप्त है। इसपर भी मन्द बुद्धिवाले लोग बुद्धत्व के लिए उत्साही नही होते। जो कामान्वेषी है, उनको बोधिसत्त्व की अपेक्षा कही अधिक दु ख उठाना पडता है। काम का निदान दु.ख है। शस्त्र, विष, अग्नि इत्यादि मरणमात्र दु ख देते है, पर काम दीर्घकालिक तीव्र नरक-दु ख का हेतु है। काम का परित्याग कर चित्त-विवेक मे रति उत्पन्न करनी चाहिए। और, कलह-शून्य, शान्त वनभूमियो में विहार कर सुखी होना चाहिए। वह धन्य है, जो वन में सुखपूर्वक भ्रमण करते है और सत्त्वो को सुख देने के लिए चिन्तना करते है, या वन में, शून्य आलय मे, वृक्ष के तले या गुफा मे, अपेक्षा-विरत हो यथेष्ट विहार करते है। जिस सन्तोष-सुख का भोग स्वच्छन्दचारी निर्गृही करता है, वह सन्तोष-सुख इन्द्र को भी दुर्लभ है। इस प्रकार, काय-विवक और चित्त-विवेक के गुणो का चिन्तन कर सत्त्व वितर्कों का उपशम करता है, और जब चित्त परिशुद्ध होता है, तब बोधिचित्त की भावना मे प्रकर्ष-पद की प्राप्ति होती है।

वह भावना करता है कि सब प्राणियों को समान रूप से सुख अनुग्राहक और दुःख बाधक होता है, इसलिए मुझको आत्मवत् सबका पालन करना चाहिए। वह विचारता है कि जब मुझको और दूसरों को सुख समानरूप से प्रिय और दुःख तथा भय समानरूप से अप्रिय है, तो मुझमें क्या विशेषता है कि मैं अपने ही सुख के लिए यत्नवान् होऊँ और अपनी ही रक्षा करूँ? करुणा-परतन्त्रता से लोग दूसरों के दुःख से दुःखी होते हैं और सर्वदुःख के अपहरण के लिए यत्नवान् होते हैं। एक के दुःख से यदि बहुत सत्त्वों का दुःख दूर होता, तो दयावान् को वह दुःख उत्पादित करना चाहिए। जो कृपावान् हैं, वह दूसरे के उद्धार के लिए नारक दुःख को भी सुख ही मानते हैं। जीवों के निस्तार से उनको अनन्त परितोष होता है।

प्रज्ञा-पारमिता—चित्त की एकाग्रता से प्रज्ञा के प्रादुर्भाव में सहायता मिलती है। जिसका चित्त समाहित है, उसी को यथाभूत परिज्ञान होता है। प्रज्ञा से सब आवरणों की अत्यन्त हानि होती है। प्रज्ञा के अनुकूलवर्त्ती होने पर ही दान आदि पाँच पारमिताएँ सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति कराने में समर्थ और हेतु होती हैं। दानादि गुण प्रज्ञा द्वारा परिशोधित होकर अभ्यासवश प्रकर्ष की पराकाष्ठा को पहुँचते हैं और अविद्या-प्रवर्त्तित सकल विकल्प का ध्वंस कर तथा क्लेश और आवरणों को निर्मूल कर परमार्थ-तत्त्व की प्राप्ति में हेतु होते हैं। इस प्रकार षट्पारमिता में प्रज्ञापारमिता की प्रधानता पाई जाती है। 'आर्यशत-साहस्री प्रज्ञा-पारमिता' में भगवान् कहते हैं—"हे सुभूति! जिस प्रकार सूर्य-मण्डल और चन्द्र-मण्डल चार द्वीपों को प्रकाशमान करते हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा-पारमिता का कार्य पंच-पारमिता में दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार बिना सप्तरत्न से समन्वागत हुए राजा चक्रवर्त्ती का पद नहीं पाता, उसी प्रकार प्रज्ञा-पारमिता से रहित होने पर पंचपारमिता 'पारमिता' के नाम से नहीं पुकारी जा सकती। प्रज्ञा-पारमिता अन्य पारमिताओं को अभिभूत करती है। जो जन्म से अन्धे हैं, उनकी संख्या चाहे कितनी ही क्यों न हो, बिना मार्ग-प्रदर्शक के मार्गावतरण में असमर्थ हैं। इसी प्रकार दानादि पाँच पारमिताएँ नेत्र-विकल हैं, बिना प्रज्ञा-चक्षु की सहायता के बोधि-मार्ग में अवतरण नहीं कर सकतीं। जब पंचपारमिता प्रज्ञा-पारमिता से परिगृहीत होती है, तभी सचक्षुष्क होती हैं। जिस प्रकार क्षुद्र नदियाँ गंगा नाम की महानदी का अनुगमन कर उसके साथ महासमुद्र में प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार पाँच पारमिताएँ प्रज्ञा-पारमिता से परिगृहीत हो और उसका अनुगमन कर सर्वाकारज्ञता को प्राप्त होती हैं।"

अतः, यह पारमिता पंचात्मक पुण्य-सम्भार की समुत्थापक है। जब चित्त समाहित होता है, तब चित्त को सुख-शान्ति मिलती है और चित्त के शान्त होने से ही प्रज्ञा का प्रादुर्भाव होता है। शिक्षासमुच्चय (पृ० ११९) में कहा है—

किं पुनरस्य शमथस्य माहात्म्यं यथाभूतज्ञानजननशक्तिः। यस्मात् समाहितो यथाभूतं जानातीत्युक्तवान् मुनिः।

अर्थात्, इस 'शमथ' का क्या माहात्म्य है? यथाभूत ज्ञानोत्पत्ति में सामर्थ्य ही इसका माहात्म्य है, क्योंकि भगवान् ने कहा है कि जो समाहित-चित्त हैं, वही यथाभूत का ज्ञान

रखता है। जो यथाभूतदर्शी है, उसी के हृदय मे सत्त्वो के प्रति महाकरुणा उत्पन्न होती है। इस महाकरुणा से प्रेरित हो शील, प्रज्ञा और समाधि इन तीनो शिक्षाओ को पूरा कर वोधिसत्त्व सम्यक् सम्वोधि प्राप्त करता है।

सर्वधर्म के अनुपलम्भ को ही प्रज्ञा-पारमिता कहते हैं। अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता मे कहा है—**योऽनुपलम्भ सर्वधर्माणां सा प्रज्ञापारमितेत्युच्यते**। शून्यता मे जो प्रतिष्ठत है, उसी ने प्रज्ञा-पारमिता प्राप्त की है। जव यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि भावो की उत्पत्ति न स्वत होती है, न परत होती है, न उभयत होती है और न अहेतुत होती है, तभी प्रज्ञा-पारमिता की प्राप्ति होती है। उस समय किसी प्रकार का व्यवहार नही रह जाता। उस समय इस परमार्थ-सत्य की प्रतीति होती है कि दृश्यमान वस्तुजात माया के सदृश है, स्वप्न और प्रतिविम्व की तरह अलीक और मिथ्या हैं। केवल व्यवहार-दशा में उनका सत्यत्व है। जो स्वरूप दृष्टि-गोचर होता है, वह सावृत-स्वरूप है। यथाभूत दर्शन से इस अनादि ससार-प्रवाह का यथावस्थित सावृत-स्वरूप उद्भावित होता है। व्यवहार-दशा में ही प्रतीत्यसमुत्पाद की सत्ता है, पर परमार्थ-दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद धर्म-शून्य है। क्योकि, परमार्थ मे भावो का स्वकृतत्व, परकृतत्व और उभयकृतत्व निषिद्ध है। वास्तव मे सव शून्य ही शून्य है। सव धर्म स्वभाव से अनुत्पन्न हैं। यह ज्ञान आर्यज्ञान कहलाता है। जव इस आर्यज्ञान का उदय होता है, तव अविद्या की निवृत्ति होती है। अविद्या के निरोध से सस्कारो का निरोध होता है। इस प्रकार, पूर्व-पूर्व कारणभूत के निरोध से उत्तरोत्तर कार्यभूत का निरोध होता है। अन्त में दु ख का निरोध होता है। इस प्रकार अविद्या, तृष्णा और उपादान-रूपी क्लेश-मार्ग का, सस्कार और भवरूपी कर्म-मार्ग का और दु ख-मार्ग का व्यवच्छेद होता है। पर, जो मनुष्य असत् मे सत् का समारोप करता है, उसकी बुद्धि विपर्यस्त होती है और उसको रागादि क्लेश उत्पन्न होते हैं। इसी से कर्म की उत्पत्ति होती है। कर्म से ही जन्म होता है और जन्म के कारण ही जरा, मरण, व्याधि, शोक, परिदेवनादि दु ख उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार, केवल महान् दु ख-स्कन्ध की उत्पत्ति होती है।

प्रज्ञा द्वारा सव धर्मों की नि स्वभावता सिद्ध होती है और प्रत्यवेक्षमाण जगत् स्वप्न-मायादिवत् हो जाता है। तव इस ज्ञान का स्फुरण होता है कि जो प्रत्यय के अधीन है, वह शून्य है। सब धर्म मायोपम है। वुद्ध भी मायोपम हैं। यथार्थ मे वुद्धधर्म नि स्वभाव है। सम्यक् सम्बुद्धत्व भी मायोपम है। निर्वाण भी मायोपम है। यदि निर्वाण से भी कोई विशिष्टतर धर्म हो, तो वह भी मायोपम तथा स्वप्नवत् ही है। जव परमार्थज्ञान की प्राप्ति होती है, तव वासनादि नि शेष दोपराशि की विनिवृत्ति होती है। यही प्रज्ञा सव दु खो के उपशम की हेतु है।

सर्वधर्मशून्यता के स्वीकार करने से लोकव्यवहार असम्भव हो जाता है। जव सव कुछ शून्य-ही-शून्य है, यहाँतक कि वुद्धत्व और निर्वाण भी शून्य है, तव लोक-व्यवहार कहाँ से चल सकता है? शून्य का स्वरूप अनिवर्चनीय है, यह अनक्षर है। इसलिए इसका ज्ञान और उपदेश कैसे हो सकता है? शून्यता के सम्बन्ध में इतना भी कहना कि यह अनक्षर है,

अर्थात् वाग्विषयातीत है, मिथ्या है। ऐसा केवल समारोप से ही होता है। जब किसी के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता और जब 'शून्यता' शब्द का प्रयोग भी केवल लोकव्यवहार-सिद्ध है, परन्तु परमार्थ में अलीक और मिथ्या है, तब एक प्रकार से हमारा मुँह ही बन्द हो जाता है और लोक-व्यवहार का अत्यन्त व्यवच्छेद होता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए सत्यद्वय की व्यवस्था की गई है—संवृति-सत्य और परमार्थ-सत्य। संवृति-सत्य व्यावहारिक सत्य है। 'संवृति' उसे कहते हैं, जिससे यथाभूत परिज्ञान का आवरण हो। अविद्या से ही स्वभाव का आवरण होता है और यथावस्थित सावृत-स्वरूप का उद्भावन होता है। अविद्या से ही असत् का सत् में आरोप होता है और वह असत् सत्यवत् प्रतिभात होता है। लोक में यह संवृति दो प्रकार की है——तथ्य-संवृति और मिथ्या-संवृति। जिस वस्तुजात के ग्रहण में इन्द्रियों का उपघात नहीं होता, अर्थात् जिसकी उपलब्धि इन्द्रियों द्वारा बिना किसी दोष के होती है, वह लोक में सत्य प्रतीयमान होता है और उसकी संज्ञा 'तथ्य-संवृति' है। पर, मृगतृष्णा के समान जिस वस्तु-जात की इन्द्रियोपलब्धि दोषवती होती है, वह विकल्पित है, और लोक में उसकी संज्ञा 'मिथ्या-संवृति' है। पर, दोनों प्रकार के संवृति-सत्य सम्यग्दर्शी के लिए मृषा है, क्योंकि परमार्थ-दशा में संवृति-सत्य भी अलीक और मिथ्या है। परमार्थ-सत्य वह है, जिसके द्वारा वस्तु का अकृत्रिम रूप अवभासित होता है। वस्तु-स्वभाव के अधिगम से आवृति, वासना और क्लेश की हानि होती है।

सब धर्म निःस्वभाव और शून्य हैं। तथता, भूतकोटि, धर्मधातु इत्यादि शून्य के पर्याय हैं। जो रूप दृश्यमान है, वह सत् स्वभाव का नहीं है, क्योंकि उत्तर काल में उसकी स्थिति नहीं है। जिसका जो स्वभाव होता है, वह कदापि किंचिन्मात्र भी परिवर्त्तित नहीं होता। उसका स्वरूप अविचलित है, अन्यथा उसकी स्वभावता के नष्ट होने का प्रसंग उपस्थित होगा। उत्पद्य-मान वस्तु का न तो कहीं से सत्-स्वरूप में आगम होता है, और न निरोध होने पर उसका कहीं लय होता है। हेतुप्रत्यय-सामग्री का आश्रय लेकर ही वस्तु माया के समान उत्पन्न होती है, और हेतुप्रत्यय-सामग्री की विकलता से ही सर्व वस्तुजात का निरोध होता है। जो वस्तु हेतु-प्रत्यय-सामग्री का आश्रय लेकर उत्पन्न होती है, अर्थात् जिसकी उत्पत्ति पराधीन है, उस वस्तु की सत्स्वभावता कहाँ? यदि परमार्थ-दृष्टि से देखा जाय, तो हेतुप्रत्यय-सामग्री से भी किसी पदार्थ की समुत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वह सामग्री भी अपर सामग्री-जनित है और उसका आत्मलाभ भी पराधीन होने के कारण स्वभावरहित है। इस प्रकार, पूर्व-पूर्व सामग्री की निःस्व-भावता जाननी चाहिए। जब कार्य कारण के अनुरूप होता है, तब किस प्रकार निःस्वभाव से स्वभाव की उत्पत्ति सम्भव है? जो हेतुओं से निर्मित हैं और जो माया से निर्मित हैं, उनके सम्बन्ध में निरूपण करने से ज्ञात होगा कि वह प्रतिबिम्ब के समान कृत्रिम हैं। जिस प्रकार मुखादि-बिम्ब आदर्श-मण्डल के सन्निधान से उसमें प्रतिबिम्बित होता है और यदि उसका अभाव हो, तो मुख-बिम्ब का उसमें प्रतिभास न हो, उसी प्रकार जिस वस्तु के रूप की उपलब्धि दूसरे हेतु-प्रत्यय के सन्निधान से होती है, अन्यथा नहीं होती, वह वस्तु प्रतिबिम्ब के समान कृत्रिम है। इसलिए यत्किंचित् हेतु-प्रत्ययोपजनित है, वह परमार्थ में असत् है। इस प्रकार, शून्य-

धर्मो से शून्य धर्म ही उत्पन्न होते हैं । भावो की उत्पत्ति स्वतः स्वभाव से नही है । उत्पाद के पूर्व वह स्वभाव विद्यमान नही है, इसलिए कहाँ से उसकी उत्पत्ति हो ? उत्पन्न होने पर उसका स्वरूप निष्पन्न हो जाता है, फिर क्या उत्पादित किया जाय ? यदि यह कहा जाय कि जात का पुनर्जन्म होता है, तो यह भी ठीक नही है, क्योकि बीज और अकुर एक नही है । रूप, रस, वीर्य और विपाक मे दोनो भिन्न हैं । अपने स्वभाव से यदि जन्म होता, तो किसी की उत्पत्ति ही न होती । स्वभाव और उत्पत्ति इतरेतर-आश्रित है । जबतक स्वभाव नही होता, तबतक उत्पत्ति नही होती, और जबतक उत्पत्ति नही होती, तबतक स्वभाव नही होता । इससे यह स्पष्ट है कि स्वत किसी की उत्पत्ति नही होती, परत भी किसी की उत्पत्ति नही होती; क्योकि ऐसा मानने मे शालि-बीज से कोद्रवाकुर की उत्पत्ति का प्रसग उपस्थित होगा, अथवा ऐसी अवस्था में सबका जन्म सबसे मानना पडेगा, जो दूषित है । यह मानना भी ठीक न होगा कि कार्यकारण का अन्योन्य जन्यजनकभाव नियामक होने से सबकी उत्पत्ति होती है । जबतक कार्य की उत्पत्ति नही होती, तबतक यह नही बतलाया जा सकता कि इसकी शक्ति किसमे है । और जब कार्य की उत्पत्ति होती है, उस अवस्था म कारण का अभाव होने से यह नही कहा जा सकता कि यह किसकी शक्ति है । कार्य-कारण का जन्यजनकभाव नही है, क्योकि दोनो समान काल मे नही रहते । कार्यकारण की एक सन्तति मानना भी युक्त नही है, क्योकि कार्य-कारण के बिना सन्तति का अभाव है और कार्य-कारण का एक क्षण भी अवस्थान नही है । पूर्वापर क्षण-प्रवाह मे सन्तति की कल्पना की गई है । वास्तव मे सन्तति-नियम नही है । इस प्रकार सादृश्य भी कोई नियामक नही है । अतः, परत भी किसी की उत्पत्ति नही होती और उभयत भी उत्पत्ति नही होती । दोनो मे से जब प्रत्येक अलग-अलग सम्भव मे असमर्थ है, तब फिर दोनो मिलकर किस प्रकार समर्थ हो सकते है ? यदि सिकता के एक कण मे तैल-दान का सामर्थ्य नही है, तो अनेक कण मिलकर भी योग्यता नही प्राप्त कर सकते । अत , उभयत भी किसी की उत्पत्ति का होना सम्भव नही है । यह भी युक्त नही है कि, अहेतुत उत्पत्ति होती है, क्योकि ऐसा मानने मे भावो के देशकालादि नियम के अभाव का प्रसग होगा और जो परमार्थ-सत्य की उपलब्धि चाहते है, उनके लिए किसी प्रतिनियत उपाय का अनुष्ठान न हो सकेगा ।

इसलिए, अहेतुत भाव स्वभाव का प्रतिलाभ नही करते । आचार्य नागार्जुन मध्यमकमूल (१।१) में कहते है—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्या नाप्यहेतुत. ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावा. क्वचन केचन ।।

जब परिदृश्यमान रूप का सद्भाव विचार करने पर नही मालूम पडता, तब अनागत आदि की सम्भावना की क्या कथा ? अत , यह सिद्ध हुआ कि भाव तत्त्वत नि स्वभाव हैं । नि स्वभाव ही सब भावो का पारमार्थिक रूप ठहरता है । यह परमार्थ परम प्रयोजनीय है, पर इसमे भी अभिनिवेश न होना चाहिए, क्योकि भावाभिनिवेश और शून्यताभिनिवेश मे कोई विशेषता नही है । दोनो ही सावृत होने के कारण कल्पनात्मक है । अभाव का भी कोई

स्वरूप नही है, भाव-विकल्प ही सकल विकल्प का प्रधान कारण है। जब उसका निराकरण हुआ, तब सब विकल्प एक ही प्रहार में निरस्त हो जाते है।

वस्तुत, न किसी का समुत्पाद है और न समुच्छेद। यदि प्रतीत्यसमुत्पाद के सम्बन्ध में यह व्यवस्थित है कि वह अनुत्पादादिविशिष्ट है, तो फिर भगवान् ने यह क्यो कहा है कि सस्कार अनित्य है, उदय-व्यय उनका धर्म है, वह उत्पन्न होकर निरुद्ध होते है और उनका उपशम सुखकर है। यदि सब शून्य है, तो सुगति और दुर्गति भी स्वभाव-शून्य है। यदि दुर्गति नि स्वभाव है, तो निर्वाण के लिए पुरुषार्थ व्यर्थ है। पर ऐसी शका करना ठीक नही है। यदि हम परमार्थ-दृष्टि से विवेचना करे, तो दुर्गति स्वभाव-शून्य है। परन्तु, लोकदशा मे दुर्गति सत्य है। जो यह ज्ञान रखता है कि समस्त वस्तुजात शून्य और प्रपच-रहित है, वह ससार मे उपलिप्त नही होता। उसके लिए न सुगति है, न दुर्गति। वह सुख और दु ख, पाप और पुण्य, दोनो से परे है, किन्तु, जिसको यथाभूत दर्शन नही है, वह ससार-चक्र मे भ्रमण करता है। यदि तत्त्वत सब भाव उत्पाद-निरोध से रहित है, केवल कल्पना मे जाति-जरा-मरणादि का योग होता है, तो यह महान् विरोध उपस्थित होता है कि सब आवरणो का प्रहाण कर निर्वाण मे प्रतिष्ठित बुद्ध भी जन्मादि ग्रहण करे। यदि ऐसा है, तो बोधिचर्या का भी कुछ प्रयोजन नही है। बोधिचर्या का आश्रय इसलिए लिया जाता है कि इसमे सर्व सासारिक धर्मों की निवृत्ति होती है और सर्व गुणात्मक बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। यदि बोधिचर्या के ग्रहण मे भी सासारिक धर्म की निवृत्ति न हो, तो उससे क्या लाभ ? पर यह भी शका अयुक्त है। जबतक प्रत्यय-सामग्री है, तबतक माया है, अर्थात् जबतक कारण का विनाश नही होता, तबतक माया का निवर्त्तन नही होता। पर, जब प्रत्यय-हेतु नष्ट हो जाते है, तब काल्पनिक व्यवहार मे भी सासारिक धर्म नही रहते। तत्त्वाभ्यास द्वारा अविद्या आदि का निरोध करने से प्रत्ययो का समुच्छेद होता है।

अनेक प्रकार की प्रतीत्यता का कारण 'सवृति' है। 'सवृति' का अर्थ है 'आवरण', अर्थात् 'अविद्या का आवरण'। इस आवरण द्वारा यथाभूत दर्शन नही होता, किन्तु मृषा-ज्ञान होता है। यह आवरण उसी प्रकार हमको आच्छन्न करता है, जिस प्रकार जन्म होते ही आकाश प्रत्येक ओर से हमको आच्छन्न कर लेता है। सवृति स्वत सिद्ध है। किसी अन्य प्रकार से इसका उत्पाद नही बतलाया जा सकता। स्वप्न मे हम जो कुछ देखते है, उसका मिथ्यात्व जाग्रत् अवस्था मे ही अनुभूत होता है। स्वप्नावस्था में किसी प्रमाण द्वारा उसका मिथ्यात्व सिद्ध नही हो सकता। इसी प्रकार सवृति को मृषा-दर्शन प्रमाणित करने के लिए उन युक्तियो का प्रयोग नही हो सकता, जो सावृतिक अवस्था की है, केवल परमार्थ-सत्य के अधिगम से ही सवृति-सत्य मृषा सिद्ध हो सकता है। जबतक परमार्थ-सत्य की उपलब्धि नही होती, तबतक युक्तियाँ सवृति को अप्रामाणिक ठहराने के लिए अपर्याप्त है। व्यवहार के लिए सवृति-सत्य की कल्पना की गई है। जबतक लोक है, तबतक सवृति-सत्य लोक का अवितथ रूप है। इस प्रकार, सब पदार्थों का स्वभाव दो प्रकार का होता है—सावृतिक और पारमार्थिक। मृषादर्शी का जो विषय है, वह सवृति-सत्य कहलाता है, सम्यग्दर्शी का जो विषय है, वह तत्त्व या परमार्थ-सत्य कहलाता है।

सवृति-सत्य की तो प्रतीति होती है, क्योंकि हमारी बुद्धि अविद्या के अन्धकार से आवृत है। अविद्या से उपप्लुत होने के कारण चित्त का स्वभाव अविद्यायुक्त हो जाता है, इसलिए सवृति-सत्य की प्रतीति होती है। पर, यह नही ज्ञात है कि परमार्थ-सत्य का क्या स्वरूप और लक्षण है। परमार्थ-सत्य ज्ञान का विषय नही है। वह सर्वज्ञान का अतिक्रमण करता है। वह किसी प्रकार बुद्धि का विषय नही हो सकता, तथापि कहा जा सकता है कि परमार्थ-तत्त्व सर्वप्रपच-विनिर्मुक्त है, इसलिए सर्वोपाधि से शून्य है। जो सर्वोपाधि-शून्य है, वह कैसे कल्पना द्वारा जाना जा सकता है ? उसका स्वरूप कल्पना के अतीत है और शब्दो का विषय नही है। वहाँ शब्दो की प्रवृत्ति नही होती। यद्यपि सकल विकल्प की हानि होने से परमार्थ-तत्त्व का प्रतिपादन नही हो सकता, तथापि सवृति का आश्रय लेकर शास्त्र में यत्किंचित् निदर्शनोपदर्शन किया जाता है। वास्तव मे, तत्त्व अवाच्य है, पर दृष्टान्त द्वारा कथचित् शास्त्र मे वर्णित है। विना व्यवहार का आश्रय लिये परमार्थ का उपदेश नही हो सकता और विना परमार्थ के अधिगत किये निर्वाण की प्राप्ति नही होती। आचार्य नागार्जुन ने कहा है—

व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ॥ (मध्यमकमूल, २४।१०)

आर्य ही परमार्थ-सत्य की उपलब्धि करते है। इसमे उनकी सवित् ही प्रमाण है।

सत्य-द्वय की व्यवस्था होने से तदधिकृत लोग भी दो श्रेणी के है—१ योगी और २ प्राकृतिक। योग समाधि को कहते है। सब धर्मों का अनुपलम्भ, अर्थात् सर्वधर्मशून्यता ही इस समाधि का लक्षण है। योगी तत्त्व को यथारूप देखता है। प्राकृतिक वह है, जो प्रकृति, अर्थात् अविद्या से आवृत है। वह वस्तु-तत्त्व को विपरीत भाव से देखता है। प्राकृत ज्ञान भ्रान्त है। जिन रूपादिको का स्वरूप सर्वजन-प्रतिपन्न है, वह भी योगियो की दृष्टि मे स्वभाव-रहित है। यद्यपि वस्तुतत्त्व यही है कि सब भाव नि स्वभाव है, तथापि दानादि पारमिता का आदरपूर्वक अभ्यास करना चाहिए। यद्यपि दानादि वस्तुत स्वभाव-रहित है, तथापि परमार्थ-तत्त्व के अधिगम के लिए सब सत्त्वो पर करुणा कर बोधिसत्त्व को इनका उपादान नितान्त प्रयोजनीय है। मार्गाभ्यास करने से समलावस्था से निर्मलावस्था और सविकल्पावस्था से निर्विकल्पावस्था उत्पन्न होती है। मध्यमकावतार (६।८०) मे कहा है—

उपायभूत व्यवहारसत्यमुपेयभूतं परमार्थसत्यम्।

अर्थात्, व्यवहार-सत्य उपाय अथवा हेतुरूप है और परमार्थ-सत्य उपेय अथवा फल-स्वरूप है। दानादिपारमिता-रूपी उपाय द्वारा परमार्थ-तत्त्व का लाभ होता है।

बोधिसत्त्व की उत्कृष्टतम साधना प्रज्ञापारमिता की है। 'प्रज्ञापारमिता' और 'धर्मधातु' पर्याय है। इनके आदर के लिए बौद्धग्रन्थो मे प्रज्ञापारमिता तथा धर्मधातु के पूर्व भगवती और भगवान् विशेषण लगाते है। किन्तु, तत्त्व का यह अभिधान भी सवृति-सत्य के उत्पादन मे ही है। 'सवृतिसत्यमुपादायाभिधीयते।' (बोधि० प०, पृ० ४२१)

बोधिचित्तोत्पादसूत्रशास्त्र[1] में प्रज्ञापारमिता को सर्वधर्ममुद्राक्षय या अक्षया मुद्रा कहा है। उनके अनुसार प्रज्ञापारमिता मुद्रालक्षण नहीं है। यह सत्य, भूत, प्रज्ञोपाय है। बोधिसत्त्व का चित्त इस प्रकार प्रज्ञा की भावना करने से, धर्मता के परिशुद्ध होने से शान्त हो जाता है और उसकी प्रज्ञा-पारमिता पूरी होती है।

इस प्रकार, षट्पारमिता के अधिगत होने से बोधिसत्त्व की साधना फलवती होती है।

---

१. "अपि नाम कश्चन धर्मो यो ह्यलक्षणो नामेत्युच्यते सर्वधर्ममुद्राक्षयामुद्रा। आसु मुद्रासु न मुद्रालक्षण-मित्युच्यते सत्य भूत प्रज्ञोपाय प्रज्ञापारमिता। . . . बोधिसत्त्वस्य महासत्त्वस्य प्रज्ञा भावयतो न चित्तं चरति धर्मतायाः परिशुद्धत्वात्। एवं पूरयति प्रज्ञापारमिताम्।" (बो० चि० सू० शा०, पृ० २७)

तृतीय खण्ड

[बौद्धदर्शन के सामान्य सिद्धान्त]

एकादश अध्याय

बौद्धदर्शन की भूमिका

भारत के जितने दर्शन है, उनका लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। इस अर्थ में सब दर्शन मोक्षशास्त्र है। विज्ञानभिक्षु 'साख्यप्रवचनभाष्य' की भूमिका में लिखते है कि मोक्षशास्त्र चिकित्सा-शास्त्र के समान चतुर्व्यूह है। जिस प्रकार रोग, आरोग्य, रोग का निदान, औषध यह चार व्यूह चिकित्सा-शास्त्र के प्रतिपाद्य है उसी प्रकार हेय, हान, हेय-हेतु और हानोपाय यह चार मोक्षशास्त्र के प्रतिपाद्य है, त्रिविध दु ख 'हेय' है, उनकी आत्यन्तिक निवृत्ति 'हान' है; अविद्या 'हेय-हेतु' है और तत्त्वज्ञान 'हानोपाय' है। यही चार व्यूह पातजल योगसूत्र में भी पाये जाते है। किन्तु, न्यायशास्त्र में हेय-हेतु को हेय के अन्तर्भूत माना है, 'हान' को तत्त्वज्ञान बताया है और 'उपाय' शास्त्र है। न्यायशास्त्र मे इसको अर्थपद कहा है। वाचस्पति-मिश्र (तात्पर्यटीका) के अनुसार अर्थपद का अर्थ पुरुषार्थ का स्थान है। वार्त्तिककार कहते है कि सब अध्यात्मविद्याओ मे सब आचार्य इन चार अर्थपदो का वर्णन करते है। न्याय की परिभाषा में यह चार अर्थपद इस प्रकार है—१ हेय, अर्थात् दु ख और उसका निवर्त्तक (उत्पादक), अर्थात् दुःख-हेतु, २ आत्यन्तिक हान, अर्थात् दु ख-निवृत्तिरूप मोक्ष का कारण, अर्थात् तत्त्वज्ञान, ३ उसका उपाय (शास्त्र), ४. अधिगन्तव्य, अर्थात् लभ्य मोक्ष (१।१।१ पर न्यायभाष्य)। इसी प्रकार बौद्धदर्शन की चतु सूत्री है। यह चार आर्यसत्य है—दु ख, दु खहेतु, दु खनिरोध और दु खनिरोधगामिनी प्रतिपत्ति (मार्ग)।

साख्यशास्त्र के अनुसार प्रकृति और पुरुष के सयोग द्वारा जो अविवेक होता है, वह दु ख का हेतु है और विवेक-ख्याति, अर्थात् तत्त्वज्ञान ही दु ख-निवृत्ति का उपाय है; क्योंकि इस शास्त्र मे सख्या के सम्यग् विवेक से आत्मा का वर्णन है, इसलिए इसे साख्यशास्त्र कहते है। न्याय के अनुसार दु ख के अपाय से, अर्थात् आसन्नविमुक्ति से नि श्रेयस् की सिद्धि होती है। इसमें उपात्त जन्म का त्याग और अपर जन्म का अग्रहण होता है। इस अपर्यन्त अवस्था को अपवर्ग कहते है। प्रमाणादि षोडश पदार्थ का तत्त्वज्ञान मोक्ष का कारण बताया गया है। इन पदार्थों में से प्रमेय पदार्थ का तत्त्वज्ञान ही मोक्षलाभ का साक्षात् कारण है। शेष १५ पदार्थों का तत्त्वज्ञान प्रमेय तत्त्वज्ञान का सम्पादक और रक्षक है। यह तत्त्वज्ञान मोक्षलाभ का पारम्पर्येण कारण है। ससार का बीज मिथ्याज्ञान है। इसका उच्छेद करके ही तत्त्वज्ञान मोक्ष का कारण होता है। अनात्म मे आत्मग्रह मिथ्याज्ञान है। 'मै हूँ' इस प्रकार का मोह, अहकार, अर्थात् अनात्मा (देहादि) को आत्मा के रूप मे देखना यह दृष्टि-अहकार है। शरीर,

इन्द्रिय, मन, वेदना, बुद्धि यह पदार्थसमूह (अर्थजात) है, जिसके विषय में अहकार होता है। जीव शरीरादि पदार्थ-समूह को 'मै हूँ' यह निश्चित कर शरीरादि के उच्छेद को आत्मोच्छेद मानता है। वह शरीरादि की चिर-स्थिति के लिए व्याकुल होता है और वार-वार उसका ग्रहण करता है। उसका ग्रहण कर जन्म-मरण के निमित्त यत्नशील होता है।

किन्तु, जो दु ख को, दु खायतन को तथा दु खानुषक्त सुख को देखता है कि यह सव दु ख है (सर्वमिद दु खमिति पश्यति), वह दु ख की परिज्ञा करता है। परिज्ञात दु ख प्रहीण होता है। इस प्रकार, वह दोषो को और कर्म को दु ख-हेतु के रूप मे देखता है, तथा दोषो का प्रहाण करता है। दोषो के प्रहीण होने पर पुनर्जन्म के लिए प्रवृत्ति नही होती। इस प्रकार, प्रमेयो का चतुर्विध विभाग कर अभ्यास करने से सम्यग् दर्शन, अर्थात् यथार्थभूत अववोध या तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति होती है।

वैशेपिकशास्त्र में पदार्थो के तत्त्वज्ञान से नि श्रेयस् की सिद्धि होती है। वैशेपिकशास्त्र के अनुसार (१।१।४) यह तत्त्वज्ञान द्रव्यादि पदार्थो के साधर्म्य-वैधर्म्य के ज्ञान से उत्पन्न होता है। साधर्म्य, समान-धर्म, वैधर्म्य, विरुद्ध-धर्म है, अर्थात् पदार्थो के सामान्य और विशेप लक्षण (अनुगत धर्म, व्यावृत्त धर्म) के ज्ञान से तत्त्वज्ञान होता है।

सव मोक्षशास्त्रो में तत्त्व-साक्षात्कार के लिए योगाभ्यास का प्रयोजन वताया गया है। न्यायदर्शन[1] में कहा है, कि योगाभ्यास के कारण तत्त्वबुद्धि उत्पन्न होती है। यम-नियम द्वारा तथा योगशास्त्र-विहित अध्यात्मविधि और उपाय-समूह द्वारा आत्मसस्कार करना चाहिए।[2] योगाभ्यास-जनित जो धर्म है, वह जन्मान्तर में भी अनुवर्तन करता है। तत्त्वज्ञान के निमित्त यह धर्म वृद्धि की पराकाष्ठा को प्राप्त होता है ('प्रचयकाष्ठागत'), और उसकी सहायता से किसी जन्म में समाधि-प्रयत्न प्रकृष्ट होता है, तव समाधि-विशेष उत्पन्न होता है। उससे तत्त्वज्ञान का लाभ होता है। वैशेपिकशास्त्र में कहा है कि आत्म-प्रत्यक्ष योगियो को होता है तथा आत्म-कर्म से मोक्ष होता है (६।२।१६)। यह न्याय का आत्मसस्कार है। शकरमिश्र ने उपस्कार में कहा है कि आत्मकर्म श्रवण, मनन, योगाभ्यास, निदिध्यासन, आसन, प्राणायाम और शम-दम है। योग योगशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। इस कारण न्याय-वैशेपिक में सकेतमात्र किया है कि तन्त्रान्तर से इस आत्मकर्म की प्रतिपत्ति होती है। वेदान्त में कहा है कि सूक्ष्मदर्शी योगी प्रज्ञान द्वारा आत्मा को जान सकता है।

इसी प्रकार, वौद्धधर्म में भी तत्त्वज्ञान के लिए योग का प्रयोजन वताया गया है। वौद्ध ईश्वर और आत्मा की सत्ता को स्वीकार नही करते, तथापि उनका भी यही प्रयोजन है कि दु ख से अत्यन्त निवृत्ति हो और निर्वाण का लाभ हो। योग का उपाय सवको समान रूप से स्वीकृत है।

---

१. "समाधिविशेषाभ्यासात्।" (न्याय० ४।२।३८)।

२. "तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः।" (न्याय० ४।२।४६)

बौद्धो के अनुसार आत्मा प्रज्ञप्तिमात्र है। जिस प्रकार 'रथ' नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है, वह शब्दमात्र है, परमार्थ में अग-सम्भार है। उसी प्रकार आत्मा, सत्त्व, जीव, नामरूप-मात्र (स्कन्ध-पचक) है। यह कोई अविपरिणामी शाश्वत पदार्थ नही है। बौद्ध अनीश्वरवादी और अनात्मवादी हैं। सर्वास्तिवादी सस्वभाववादी तथा बहुधर्मवादी हैं, किन्तु वह कोई शाश्वत पदार्थ नही मानते। उनके द्रव्य सत् है, किन्तु क्षणिक है। यह द्रव्य चैत्त और रूपी-धर्म है। बौद्ध-सिद्धान्त में किसी मूल कारण की व्यवस्था नही है। वह नही मानते कि ईश्वर महादेव या वासुदेव, पुरुष, प्रधानादिक किसी एक कारण से सर्व जगत् की प्रवृत्ति होती है। यदि भावो की उत्पत्ति एक कारण से होती, तो सर्व जगत् की उत्पत्ति युगपत् होती, किन्तु हम देखते है कि भावो का क्रम सम्भव है।

बौद्धदर्शन चार हैं—सर्वास्तिवाद (वैभाषिक), सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद (योगाचार), और माध्यमिक (शून्यवाद)। सर्वास्तिवाद के अनुसार बाह्य जगत् प्रत्यक्ष का विषय है। वह प्रकृति और मन की स्वतन्त्र सत्ता मानता है। प्रकृति की प्रत्यक्ष उपलब्धि मन से होती है। सौत्रान्तिक भी बाह्य जगत् की सत्ता मानते है, किन्तु उनके अनुसार यह प्रत्यक्ष का विषय नही है। बाह्य वस्तुओ के बिना पदार्थों का मन मे अवभास नही होता, इसलिए हम बाह्य वस्तुओ की सत्ता का अनुमान करते हैं। यह दोनो मतवाद बहुस्वभाववादी हैं। विज्ञानवाद के अनुसार ज्ञान के समस्त विषय मन के विकल्प है। इस वाद मे त्रैधातुक को चित्त-मात्र व्यवस्थापित किया है। इससे बाह्यार्थ का प्रतिषेध होता है। रूपादि अर्थ के बिना ही रूपादि-विज्ञप्ति उत्पन्न होती है। यह विज्ञान ही है (चित्त, मनस्, विज्ञान और विज्ञप्ति पर्याय है), जो अर्थ के रूप मे अवभासित होता है। वस्तुत, अर्थ असत् हैं। यह वैसे ही है, जैसे तिमिर का एक रोगी असत्-कल्प केश-चन्द्रादि का दर्शन करता है। अर्थ की सत्ता नही है। माध्यमिक (शून्यवादी) ग्राह्य-ग्राहक दोनो की सत्ता का प्रत्याख्यान करते है और इनके परे शून्य तक जाते है, जो ज्ञानातीत है। विज्ञानवादी दोनो का अयथार्थ मतवाद मानते है और दोनो से व्यावृत्त होते हैं। सर्वास्तिवादी विज्ञान और विज्ञेय दोनो को द्रव्यसत् मानते है। शून्यवादी विज्ञान और विज्ञेय दोनो का परमार्थत अस्तित्व नही मानते, केवल सवृतित मानते हैं। विज्ञानवादी केवल चित्त, विज्ञान को द्रव्यसत् मानते है, और जो विविध आत्मोपचार और धर्मोप्रचार प्रचलित है, उनको वे मिथ्योपचार मानते हैं। उनके अनुसार परिकल्पित आत्मा और धर्म विज्ञान और विज्ञप्ति के परिणाम-मात्र हैं, चित्त-चैत्त एकमात्र वस्तु-सत् है।

पूर्व इसके कि हम विविध दर्शनो का विस्तारपूर्वक वर्णन करे, हम उन वादो का व्याख्यान करना चाहते है, जो सभी बौद्ध-प्रस्थानो को मान्य है। बौद्धदर्शन को समझने के लिए प्रतीत्य-समुत्पादवाद, क्षणभगवाद, अनीश्वरवाद तथा अनात्मवाद का सक्षिप्त परिचय आवश्यक है। अगले अध्याय मे हम इनका वर्णन करेगे और तदनन्तर कर्मवाद एव निर्वाण-सम्बन्धीवि भिन्न बौद्ध-सिद्धान्तो का विवेचन करेगे।

द्वादश अध्याय

प्रतीत्यसमुत्पादवाद

यह हेतु-प्रत्ययता का वाद है। इसके होने पर, इस हेतु, इस प्रत्यय से, वह होता है। इसके उत्पाद से, उसका उत्पाद होता है। इसके न होने पर वह नही होता, इसके निरोध से वह निरुद्ध होता है, यह हेतु-फल-परम्परा है। इसको प्रत्ययाकार (पच्चयाकार) निदान भी कहते हैं। इस वाद का सम्बन्ध अनित्यता और अनात्मता के सिद्धान्त से भी है। कोई वस्तु शाश्वत नही है, सब धर्म क्षणिक है और हेतु-प्रत्यय-जनित है।

स्थविरवाद में 'हेतु' तीन दोष है—राग, द्वेष, मोह। ये चित्त की अवस्थाओ को अभिसंस्कृत करते है। अत, ये अवस्थाएँ सहेतुक कहलाती है। इसके विपक्षभूत प्रत्यय (पच्चय) धर्मों का विविध सम्बन्ध है। जो धर्म जिसकी उत्पत्ति मे या निर्वृति मे उपकारक होता है, वह उसका प्रत्यय कहलाता है।

सर्वास्तिवाद में हेतु प्रधान कारण है और प्रत्यय उपकारक धर्म है, यथा बीज का भूमि में आरोपण होता है। बीज हेतु है, भूमि, उदक तथा सूर्य प्रत्यय हैं, वृक्ष, फल है। स्थविरवाद में चौबीस प्रत्यय है और सर्वास्तिवाद में चार प्रत्यय, छ हेतु और पांच फल है।

कर्मवाद के साथ प्रतीत्यसमुत्पाद का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कर्म कर्मफल को भी कहते है, यथा कहते है कि उसका शुभ या अशुभ कर्म उसकी प्रतीक्षा करता है। पुण्य-अपुण्य के विपाक के सम्बन्ध में कर्म से हेतु-फल-व्यवस्था अभिप्रेत है। प्राचीन काल मे स्थविरवादियो में कर्म और प्रतीत्यसमुत्पाद मे भेद किया जाता था। फल की अभिनिर्वृति मे कर्म केवल एक प्रकार का हेतु था। कर्म के अतिरिक्त दु ख के उत्पाद मे अन्य भी हेतु है। 'अभिधम्मत्थ-संगहो' के अनुसार चित्त, आहार और ऋतु के अतिरिक्त कर्म भी रूप के चार प्रत्ययो मे से एक है। 'अभिधर्मकोश' में लोकधातु के विवृत होने में सत्त्वो के कर्म-समुदाय को हेतु माना है। महायान के अनुसार लोक की उत्पत्ति कर्म से है।

यह हेतुप्रत्ययवाद देश, काल और विषय के प्रति सामान्य है। असख्य लोकधातुओ को, देवलोको को और नरको को यह हेतु-फलसम्बन्ध-व्यवस्था लागू है। यह व्यवस्था त्रिकाल को भी लागू है। असंस्कृत धर्मो को छोडकर यह सर्व सस्कृत धर्मों पर भी लागू है। अत, भव-चक्र अनादि है। यदि आदि हो, तो आदि का अहेतुकत्व मानना होगा और यदि किसी एक धर्म की उत्पत्ति अहेतुक होती है, तो सब धर्मो की उत्पत्ति अहेतुक होगी। किन्तु, देश और काल के प्रतिनियम से यह देखा जाता है कि बीज अकुर का उत्पाद करता है, अग्नि पाकज का उत्पाद करती है। अत, कोई प्रादुर्भाव अहेतुक नही है। दूसरी ओर नित्य-

कारणास्तित्ववाद भी सिद्ध नही होता। किन्तु, हेतु-प्रत्यय का विनाश हो, तो हेतु-प्रत्यय से अभिनिर्वृति या उत्पत्ति नही होगी। यथा बीज के दग्ध होने से अकुर की उत्पत्ति नही होती। इस प्रकार, कर्म-क्लेश-प्रत्ययवश उत्पत्ति, उत्पत्तिवश कर्म-क्लेश, पुन अन्य कर्म-क्लेश-प्रत्ययवश उत्पत्ति, इस प्रकार भवचक्र का अनादित्व सिद्ध होता है।

यह स्कन्ध-सन्तति तीन भवो में वृद्धि को प्राप्त होती है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद है, जिसके बारह अग और तीन काण्ड है। पूर्वकाण्ड के दो, अपरान्त के दो और मध्य के आठ अग है। बारह अग ये है—अविद्या, सस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा-मरण। ये तीन काण्डो मे विभक्त है—अविद्या और सस्कार अतीत में, पूर्वभव मे, जाति और जरा-मरण अपर भव मे, शेष आठ अग प्रत्युत्पन्न भव मे।

हमारा यह मत नही है कि मध्य के आठ अग सब सत्त्वो के प्रत्युत्पन्न भव मे सदा पाये जाते है। यह 'परिपूरिन्' सत्त्व के अभिप्राय से है, जो सब अगभूत अवस्थाओ से होकर गुजरता है। जिसका अकाल-मरण होता है, यथा जिसका मरण गर्भावस्था मे होता है, वह सत्त्व 'परिपूरिन्' नही है। इसी प्रकार, रूपावचर और आरूप्यावचर सत्त्व भी 'परिपूरिन्' नही है।

हम प्रतीत्यसमुत्पाद को दो भागो मे विभक्त कर सकते है —पूर्वान्त (अतीत भव,१-२ अपने फल के साथ, ३-७) और अपरान्त (अनागत भव के हेतु, ८–१० और अनागत भव, ११–१२ के साथ)। प्रतीत्यसमुत्पाद की इस कल्पना मे जो विविध अग है, उनका हम वर्णन करते है।

अविद्या पूर्वजन्म की क्लेशदशा है। अविद्या से केवल अविद्या अभिप्रेत नही है, न क्लेश-समुदाय, 'सर्वक्लेश' ही अभिप्रेत है। किन्तु, पूर्वजन्म की सन्तति (स्वपचस्कन्धो के सहित) अभिप्रेत है, जो क्लेशावस्था मे होती है। वस्तुत, सर्वक्लेश अविद्या के सहचारी होते है और अविद्या-वश उनका समुदाचार होता है, यथा 'राजागमन' इस वचन से उनके अनुयायियो का आगमन भी सिद्ध होता है।

संस्कार पूर्वजन्म की कर्मावस्था है। पूर्वभव की सन्तति पुण्य-अपुण्यादि कर्म करती है। यह पुण्यादि कर्मावस्था सस्कार है।

विज्ञान प्रतिसन्धि-स्कन्ध है। प्रतिसन्धि-क्षण या उपपत्तिभव-क्षण मे कुक्षिगत ५ स्कन्ध-विज्ञान है।

नामरूप विज्ञान-क्षण से षडायतन की उत्पत्ति तक की अवस्था है।

षडायतन स्पर्श के पूर्व के पाँच स्कन्ध है। इन्द्रियो के प्रादुर्भाव-काल से इन्द्रिय, विषय और विज्ञान के सनिपात-काल तक षडायतन है।

स्पर्श सुख-दु खादि के कारण-ज्ञान की शक्ति के उत्पन्न होने से पूर्व की अवस्था है। जबतक बालक सुख-दु खादि को परिच्छिन्न करने मे समर्थ नही होता, तबतक की अवस्था स्पर्श कहलाती है।

वेदना जबतक मैथुन-राग का समुदाचार नहीं होता, तबतक की अवस्था है। इस अवस्था को वेदना कहते हैं, क्योंकि वहाँ वेदना के कारणों का प्रतिसवेदन होता है। अत, यह वेदना प्रकर्षिणी अवस्था है।

तृष्णा भोग और मैथुन की कामना करनेवाले पुद्गल की अवस्था है। रूपादि काम-गुण और मैथुन के प्रति राग का समुदाचार होता है। यह तृष्णा की अवस्था है। इसका अन्त तब होता है, जब इस राग के प्रभाव से पुद्गल भोगों की पर्येष्टि आरम्भ करता है।

उपादान का तृष्णा से भेद है। यह उस पुद्गल की अवस्था है, जो भोगो की पर्येष्टि में दौडता-धूपता है। अथवा उपादान चतुर्विध क्लेश है। इस अवस्था को उपादान कहते हैं, जिसमें इस चतुर्विध क्लेश का समुदाचार हो।

इस प्रकार, प्रधावित होकर वह कर्म करता है, जिनका फल अनागत भव है। इस कर्म को भव कहते हैं। क्योंकि, उसके कारण भव होता है (भवत्यनेन)। भोगो की पर्येष्टि में कृत और उपचित कर्म पौनर्भविक है। जिस अवस्था में पुद्गल कर्म करता है, वह भव है।

जाति पुन प्रतिसन्धि है। मरण के अनन्तर प्रतिसन्धि-काल के पचस्कन्ध जाति हैं। प्रत्युत्पन्न भव की समीक्षा में जिस अग को विज्ञान का नाम देते हैं, उसे अनागत भव की समीक्षा में जाति की संज्ञा मिलती है।

जाति से वेदना तक जरा-मरण हैं। प्रत्युत्पन्न भव के चार अग—नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना—अनागत भव के सम्बन्ध में जरा-मरण कहलाते हैं। यह बारहवाँ अग है।

विभिन्न दृष्टियों से प्रतीत्यसमुत्पाद चतुर्विध हैं। क्षणिक, प्राकर्षिक (अनेकक्षणिक या अनेकजन्मिक), साम्बन्धिक (हेतु-फल-सम्बन्ध-युक्त) और आवस्थिक (पचस्कन्धिक १२ अवस्थाएँ)।

प्रतीत्यसमुत्पाद क्षणिक कैसे हैं ?

जिस क्षण में क्लेश-पर्यवस्थित पुद्गल प्राणातिपात करता है, उस क्षण में द्वादश अग परिपूर्ण होते हैं। १ उसका मोह अविद्या है, २ उसकी चेतना सस्कार है, ३ उसके आलम्बन-विशेष का स्पष्ट विज्ञान है, ४ विज्ञान-सहभू चार स्कन्ध नामरूप हैं (मत-विशेष से तीन स्कन्ध), ५ नामरूप में व्यवस्थित इन्द्रिय षडायतन हैं, ६ षडायतन का अभिनिपात स्पर्श है (चक्षु का अभिनिपात उसकी रूप मे प्रवृत्ति है।) ७ स्पर्श का अनुभव वेदना है, ८ राग तृष्णा है, ९ तृष्णा-सम्प्रयुक्त पर्यवस्थान (अह्री आदि पर्यवस्थान हैं) उपादान हैं, १०. वेदना या तृष्णा से समुत्थित काय या वाक्-कर्म भव है, ११ इन सब धर्मों का उन्मज्जन, उत्पाद जाति है, १२ इनका परिपाक जरा है, इनका भग मरण है।

पुन कहा है कि प्रतीत्यसमुत्पाद क्षणिक और साम्बन्धिक है। आवस्थिक प्रतीत्य-समुत्पाद पचस्कन्धिक बारह अवस्थाएँ हैं। तीन निरन्तर जन्मो में सम्बद्ध होने से यह प्राकर्षिक भी है। अत, यह प्रश्न उठता है कि द्वादशागसूत्र मे भगवान् का अभिप्राय इन चार में से किस प्रकार के प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना देने का है।

वैभाषिक सिद्धान्त के अनुसार आवस्थिक° इष्ट है। किन्तु, यदि प्रत्येक धर्म पचस्कन्ध का समूह है, तो अविद्यादि प्रज्ञप्तियो का क्यो व्यवहार होता है ? अगो का नाम-कीर्त्तन उस धर्म के नाम से होता है, जिसका वहाँ प्राधान्य है। जिस अवस्था में अविद्या का प्राधान्य है, वह अविद्या कहलाती है। अन्य अगो की भी इसी प्रकार योजना करनी चाहिए। यद्यपि सव अगो का एक ही स्वभाव हो, तथापि इस प्रकार विवेचन करने में कोई दोप नही है।

प्रकरण कहते है कि प्रतीत्यसमुत्पाद सव सस्कृत धर्म है। फिर, सूत्र मे प्रतीत्यसमुत्पाद का लक्षण वारह अगो की सन्तति के रूप में क्यो है ? सूत्र की देशना आभिप्रायिक है, और अभिधर्म में लक्षणो की देशना है। एक ओर प्रतीत्यसमुत्पाद आवस्थिक, प्राकर्षिक और सत्त्वाख्य है। दूसरी ओर वह क्षणिक, साम्वन्धिक, सत्त्वासत्त्वाख्य है।

सूत्र की देशना सत्त्वाख्य प्रतीत्यसमुत्पाद की ही क्यो है ? पूर्वान्त, अपरान्त और मध्य के प्रति समोह की विनिवृत्ति के लिए। इस हेतु से सूत्र त्रिकाण्ड में प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना देता है। जव कोई पूछता है कि—"क्या मै अतीत अध्व मे था ? क्या मै नही था ? मै कैसे और कव था ?" यह पूर्वान्त का समोह है। "क्या मै अनागत अध्व म होऊँगा। " यह अपरान्त का समोह है। "यह क्या है ? यह कैसे है ? हम कौन है ? हम क्या होगें ?" यह मध्य का समोह है। यह त्रिविध समोह अविद्या. जरा-मरण के यथाक्रम उपदेश से विनष्ट होता है।

यह द्वादशाग प्रतीत्यसमुत्पाद त्रिविध है—क्लेश, कर्म और वस्तु। अविद्या, तृष्णा और उपादान ये तीन अग क्लेश-स्वभाव है। संस्कार और भव कर्म-स्वभाव है। विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, जाति, जरा-मरण, वस्तु है। इनको वस्तु इसलिए कहते है कि ये क्लेश और कर्म के आश्रय, अधिष्ठान है।

प्रतीत्यसमुत्पाद द्विविध भी है—हेतु और फल। जो अंग वस्तु है, वह फल भी है। शेष जो वस्तु नही है, हेतुभूत है, क्योकि वह कर्म-क्लेश-स्वभाव है।

विशुद्धिमार्ग (४१०) मे क्लेश, कर्म और वस्तु को तीन वर्त्म (=वट्ट) कहा है—क्लेश-वर्त्म, कर्म-वर्त्म, विपाक-वर्त्म। यहाँ तृतीय वर्त्म का लक्षण विपाक (=फल या वस्तु) है। इस भवचक्र के तीन वर्त्म है। इसका पुन-पुन प्रवर्त्तन होता रहता है।

प्रत्युत्पन्न भव के काण्ड मे हेतु और फल का व्याख्यान विस्तार से क्यो है ? क्लेश के दो अग, कर्म के दो अग और वस्तु के पांच अग। जव कि अतीत और अनागत अध्व के लिए ऐसा व्याख्यान नही है। अनागत अध्व के फल को सक्षिप्त किया है। इसके दो अग है।

इसका कारण यह है कि प्रत्युत्पन्न भव के क्लेश-कर्म और वस्तु के निरूपण से अतीत और अनागत अध्व के हेतु-फल का सम्पूर्ण निर्देश ज्ञापित होता है। अत, यह वर्णन निष्प्रयोजनीय है।

किन्तु यह कहा जायगा कि यदि प्रतीत्यसमुत्पाद के केवल वारह अग है, तो ससरण की आदि कोटि होगी, क्योकि अविद्या का हेतु निर्दिष्ट नही है। ससरण की अन्त कोटि होगी, क्योकि जरा-मरण का फल निर्दिष्ट नही है। अत, नये अग जोडना चाहिए। नही; क्योकि यह मालूम होता है कि भगवान् ने अविद्या के हेतु और जरा-मरण के फल को ज्ञापित किया है। क्लेश से अन्य क्लेश की उत्पत्ति होती है, यथा तृष्णा से उपादान। क्लेश से कर्म की उत्पत्ति होती है, यथा सस्कारो मे विज्ञान, भव से जाति। वस्तु से वस्तु की उत्पत्ति होती है; यथा विज्ञान से नामरूप, नामरूप से पडायतन इत्यादि। वस्तु से क्लेश की उत्पत्ति होती है; यथा वेदना से तृष्णा। अगो का यह नय है। यह स्पष्ट है कि अविद्या का हेतु क्लेश या वस्तु है। यह स्पष्ट है कि जरा-मरण (विज्ञान से वेदना पर्यन्त शेप वस्तु) का फल क्लेश है। एक सूत्र (सहेतु-सप्रत्यय-सनिदान-सूत्र) में कहा है कि अविद्या का हेतु 'अयोनिशोमनसिकार' है। एक दूसरे सूत्र मे कहा है कि अयोनिशोमनसिकार का हेतु अविद्या है। अत, अविद्या निर्हेतुक नही है और अगान्तर के उपसख्यान का भी कोई स्थान नही है। अनवस्था-प्रसग भी नही है, क्योकि अयोनिशोमनसिकार जो अविद्या का हेतु है, स्वय मोह-सज्ञा से प्रज्ञप्त अविद्या से उत्पन्न होता है। विशुद्धिमग्गो में अविद्या की आदिकोटिता के सम्बन्ध में विचार किया है।[१]

इस प्रकार, अगो का निर्देश परिपूर्ण है। वस्तुत, सन्देह इस पक्ष के जानने मे है कि इहलोक परलोक से कैसे सम्बद्ध होता है, परलोक इहलोक से कैसे सम्बद्ध होता है? सूत्र का केवल इतना ही अर्थ विवक्षित है। इस अर्थ को पूर्व ही कहा है—"पूर्वान्त, अपरान्त और मध्य के समोह की विनिर्वृति के लिए।"

---

१ विशुद्धिमग्गो (३६८) में अविद्या को आदि में क्यों कहा? क्या प्रकृतिवादियों की प्रकृति के समान अविद्या भी लोक का मूल कारण है और स्वय अकारण है? यह अकारण नहीं है, क्योंकि सूत्र (मज्झिम० १।५४) में कहा है कि अविद्या का कारण आस्रव है (आसवसमुदया अविज्जासमुदयो)। किन्तु एक पर्याय है, जिससे अविद्या मूल कारण हो सकती है। अविद्या वर्त्म-कथा के शीर्ष में है। भगवान् वर्त्म-कथा के कहने में दो धर्मों का शीर्षमात्र बताते हैं। अविद्या और भव-तृष्णा। 'हे भिक्षुओ! अविद्या की पूर्व कोटि नहीं जानी जाती। हम यह नहीं कह सकते कि इसके पूर्व अविद्या न थी और पश्चात् हुई। हम केवल यह कह सकते हैं कि अमुक प्रत्ययवश अविद्या उत्पन्न होती है।" पुन: भगवान् कहते हैं— 'भव तृष्णा की पूर्वकोटि नहीं जानी जाती। केवल इतना कह सकते हैं कि इस प्रत्यय के कारण भव-तृष्णा होती है।" (अ० ५।११३, ११६) इन दो धर्मों को शीर्षस्थान इसलिए देते हैं, क्योंकि यह दो सुगतिगामी और दुर्गतिगामी कर्म के विशेष हेतु हैं। दुर्गतिगामी कर्म का विशेष हेतु अविद्या है, क्योंकि अविद्या से अभिभूत पृथग्जन प्राणातिपातादि अनेक प्रकार के दुर्गतिगामी कर्म का आरम्भ करता है। सुगतिगामी कर्म का विशेष हेतु भव-तृष्णा है, क्योंकि इससे अभिभूत पृथग्जन सुगति की प्राप्ति के लिए सुगतिगामी अनेक कर्म करता है। कहीं एकधर्ममूलक देशना है, कहीं उभयमूलक है।

सूत्र मे कहा है—"भिक्षुओ ! मैं तुम्हें प्रतीत्यसमुत्पाद और प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों की देशना दूँगा।"

प्रतीत्यसमुत्पाद और इन धर्मों में क्या भेद है ?

अभिधर्म के अनुसार कोई भेद नही है। उभय का लक्षण एक ही है। प्रकरणो मे कहा है—"प्रतीत्यसमुत्पाद क्या है ? सर्वसंस्कृत धर्म। प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म क्या है ? सर्वसंस्कृत धर्म।" सर्वसंस्कृत धर्म त्रैयध्विक है। अनागत धर्म और अतीत तथा प्रत्युत्पन्न संस्कृत धर्मों के एकजातीय होने से इसकी युक्तता कही जाती है। यथा अनागत रूप 'रूप' कहलाता है। क्योकि, वह रूप्यमाण रूप की जाति का है। किन्तु, प्रतीत्यसमुत्पाद और प्रतीत्य-समुत्पन्न धर्मों मे विशेष करने मे सूत्र का क्या अभिप्राय है ? समुत्पाद हेतु है। समुत्पन्न फल है, जो अग हेतु है। वह प्रतीत्यसमुत्पाद है, क्योकि, उससे उत्पाद होता है। जो अग फल है, वह प्रतीत्यसमुत्पन्न है, क्योकि वह उत्पन्न होता है। किन्तु, यह प्रतीत्यसमुत्पाद भी है, क्योकि इससे समुत्पाद भी होता है, और सब अगो का हेतु-फल भी है, अतः वह एक ही काल मे दोनो है।

निकायान्तरीय (आर्य महीशासक, विभाषा २३) व्याख्या के अनुसार विभज्यवादिन् ('समयभेद' के अनुसार महासांघिक) का मत है कि प्रतीत्यसमुत्पाद असंस्कृत है, क्योकि सूत्रवचन[1] है–"तथागतो का उत्पाद हो या न हो, धर्मों की यह धर्मता स्थित है।" यदि इसका यह अर्थ है कि अविद्यादि प्रत्ययवश संस्कारादि का सदा उत्पाद होता है, अन्य प्रत्ययवश नही, अहेतुक नही, और इस अर्थ मे प्रतीत्यसमुत्पाद की स्थिरता है, यह नित्य है, तो यह निरूपण यथार्थ है। किन्तु, यदि इसका यह अर्थ लगाया जाता है कि प्रतीत्यसमुत्पाद नाम के एक नित्य धर्म का सद्भाव है तो यह मत अग्राह्य है, क्योकि उत्पाद संस्कृत-लक्षण है। एक धर्म नित्य और प्रतीत्यसमुत्पन्न दोनो कैसे हो सकता है ?

---

१ "उप्पादा वा तथागतान अनुप्पादा वा तथागतान ठिता व सा धातु धम्मट्ठितता धम्मनियामता इदप्पच्चयता . इति खो भिक्खवे या तत्र तथता अवितथता अनतञ्ञथा इदप्पच्चयता, अयं वुच्चति भिक्खवे पटिच्चसमुप्पादो ति।" (संयुत्त, २।२५–२६) प्रतीत्यसमुत्पाद प्रत्यय-धर्म है। उन-उन प्रत्ययों से निर्वृत-धर्म प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्म है (विशुद्धि०, पृ० ३६२) उन-उन प्रत्ययों से (न न्यून, न अधिक) उस-उस धर्म का सम्भव होने से यह नयतथता कहलाता है। प्रत्यय-सामग्री के उपगत होने पर उससे निर्वृत होनेवाले धर्मों की अनुत्पत्ति, अभाव होने से यह अवितथता है। अन्य धर्म-प्रत्ययों से अन्य धर्मो की अनुत्पत्ति होने से यह अनन्यथात्व है। तथोक्त इन जरा-मरणादि का प्रत्यय या प्रत्यय समूह इदम्प्रत्ययता है। कोई यह अर्थ करते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद उत्पादमात्र है, अर्थात् तीर्थिक-परिकल्पित प्रकृतिपुरुषादि कारण-निरपेक्ष हैं। यह युक्त नहीं है (विशुद्धि०, ३६२-३६३)। प्रत्ययता से धर्मसमूह की प्रवृत्ति होती है। यह गम्भीर नय है। इसलिए, भगवान् सम्बोधि-रात्रि के प्रथम याम में प्रतीत्यसमुत्पाद की भावना अनुलोम-प्रतिलोम रूप से करते हैं। यह उत्पाद-मात्र में नहीं है।

प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का क्या अर्थ है ?

'प्रति' का अर्थ है 'प्राप्ति', इण्' धातु गत्यर्थक है; किन्तु उपसर्ग धातु के अर्थ को बदलता है। इसलिए, 'प्रति-इ' का अर्थ 'प्राप्ति' है, और 'प्रतीत्य' का अर्थ 'प्राप्त कर' है। पद् धातु सत्तार्थक है। सम्-उत् उपसर्ग-पूर्वक इसका अर्थ 'प्रादुर्भाव' है। अत, प्रतीत्य-समुत्पाद = प्राप्त होकर प्रादुर्भाव, अर्थात् वह उत्पद्यमान है। प्रत्ययो के प्रति गमन कर उसका उत्पाद होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का अर्थ एक सूत्र में ज्ञापित है। "इसके होने पर वह होता है, इसकी उत्पत्ति से उसकी उत्पत्ति है।" प्रथम वाक्य में प्रतीत्य का अवधारण है, दूसरे में समुत्पाद का। भगवान् प्रतीत्यसमुत्पाद का निर्देश पर्याय-द्वय से करते हैं। प्रथम पर्याय से यह सिद्ध होता है कि अविद्या के होने पर सस्कार होते है। किन्तु, यह सिद्ध नही होता कि केवल अविद्या के होने पर संस्कार होते हैं। द्वितीय पर्याय पूर्व पर्याय का अवधारण करता है, अविद्या के ही उत्पाद से सस्कारो का उत्पाद होता है।

अग-परम्परा दिखाने के लिए भी पर्याय-द्वय का निर्देश है। इस अग (अविद्या) के होने पर यह (सस्कार) होता है। इस अग (सस्कार) के उत्पाद से—दूसरे के उत्पाद से नही—यह अग (विज्ञान) उत्पन्न होता है।

जन्म-परम्परा दिखाने के लिए भी पर्याय-द्वय का निर्देश किया गया है। पूर्वभव के होने पर प्रत्युत्पन्न भव होता है। प्रत्युत्पन्न भव के उत्पाद से अनागत भव उत्पन्न होता है। अविद्यादि अगो का प्रत्यय-भाव दिखाने के लिए भी जो यथायोग भिन्न है, ऐसा होता है। अविद्यादि अगो का प्रत्यय-भाव साक्षात या पारम्पर्येण होता है। यथा क्लिष्ट सस्कार अविद्या के समनन्तर उत्पन्न होते है, पारम्पर्य से कुशल सस्कार उत्पन्न होते है। दूसरी ओर अविद्या सस्कार का साक्षात् प्रत्यय है और विज्ञान का पारम्पर्येण प्रत्यय है।

पूर्वाचार्यों का मत है कि प्रथम पर्याय अप्रहाण ज्ञापनार्थ है। "अविद्या के होने पर, अप्रहीण होने पर सस्कार होते है, प्रहीण नही होते।" द्वितीय पर्याय उत्पत्ति-ज्ञापनार्थ है—"अविद्या के उत्पाद से सस्कार उत्पन्न होते है।"

विशुद्धिमार्ग में (पृ० ३६४-३६५) प्रतीत्यसमुत्पाद के अनेक अर्थ किये गये है। यथा प्रत्ययता से प्रवृत्त यह धर्मसमूह है। इसकी प्रतीति से हित-सुख साधित होता है। अत, पण्डित को उचित है कि वह इसकी प्रतीति करे। यह पटिच्च (प्रत्यययोग्य) है। एक साथ सम्यक् उत्पाद होता है, एक-एक करके नही और न अहेतुक। जो 'पटिच्च' और 'समुप्पाद' है, वह पटिच्च-समुप्पाद है। एक दूसरा निर्वचन सहोत्पाद 'समुत्पाद' है। प्रत्यय सामग्री-वश होता है, यथा कहते हैं कि बुद्धो का उत्पाद सुख है, तब अभिप्राय यह होता है कि उत्पाद सुख का हेतु है। उसी प्रकार, प्रतीत्य फलोपचार से उक्त है। अथवा यह हेतुसमूह है, जो सस्कारादि के प्रादुर्भाव के लिए अविद्यादि एक-एक हेतुशीर्ष द्वारा निर्दिष्ट है, वह साधारण फल की निष्पत्ति के लिए तथा अवैकल्य के लिए सामग्री के अगो के अन्योन्य प्रतिमुख जाता है, अत, वह 'पटिच्च' कहलाता है। वह 'समुप्पाद' भी है, क्योंकि वह अन्योन्य का उत्पाद एक साथ करता है।

एक दूसरा नय है। यह प्रत्ययता अन्योन्य-प्रत्ययवश धर्मों का सहोत्पाद मिलकर करती है। इसलिए, इसे प्रतीत्य कहते हैं। अविद्यादि शीर्ष से निर्दिष्ट प्रत्ययो मे से जो प्रत्यय सस्कारादिक धर्म का उत्पाद करते है, वह ऐसा करने मे असमर्थ होते हैं, जब अन्योन्य-विकलता होती है, जब अन्योन्य-प्रत्यय का अभाव होता है। अत , एक साथ मिलकर और अन्योन्य का आश्रय लेकर वह प्रत्ययता धर्मों का उत्पाद करती हैं, पूर्वापर-भाव से या एकदेश से नही। 'पटिच्च' पद से शाश्वतादि वाद का अभाव द्योतित होता है। 'समुप्पाद' पद से उच्छेदादि वाद का विघात होता है। पूर्व-पूर्व प्रत्ययवश पुन -पुन उत्पद्यमान धर्मों का कहाँ उच्छेद है ?

प्रतीत्यसमुत्पाद-वचन से मध्यम प्रतिपत्ति द्योतित होती है। "जो करता है, वह उसके फल का प्रतिसवेदन करता है" तथा "कर्म, करण एक है, भोक्ता दूसरा है" इन दोनो वादो का प्रहाण होता है, क्योकि प्रत्यय-सामग्री की सन्तति का उपच्छेद न कर उन-उन धर्मों का सम्भव होता है।

अविद्या-प्रत्ययवश सस्कार कैसे होते है ? . . . और जाति-प्रत्यय-वश जरा-मरण कैसे है ?

पृथग्जन यह न जानकर कि प्रतीत्यसमुत्पाद सस्कारमात्र है, अर्थात् सस्कृत धर्म है, आत्मदृष्टि और अस्मिमान में अभिनिविष्ट होता है। वह सुख और अदु खासुख के लिए काय-वाक्-मन से त्रिविध कर्म करता है। ऐहिक सुख के लिए अपुण्य, आयति-सुख के लिए कामावचर पुण्य, प्रथम तीन ध्यानो के सुख के लिए और ऊर्ध्व भूमियो के अदु खासुख के लिए आनिज्य कर्म। यह कर्म अविद्या-प्रत्ययवश सस्कार है।

विज्ञान-सन्तति का अन्तराभव के साथ सम्बन्ध होने से कर्माक्षेप-वश यह सन्तति अतिविप्रकृष्ट गतियो मे भी ज्वाला के समान पहुँच जाती है, अर्थात् निरन्तर उत्पन्न होती जाती है। सस्कार-प्रत्ययवश यह विज्ञान है, विज्ञान का यह निर्देश उपपन्न है। हम प्रतीत्य-समुत्पाद-सूत्र के इस विज्ञानाग-निर्देश से सहमत है। विज्ञान क्या है ? षट् विज्ञानकाय। विज्ञान पूर्व गम नामरूप की उत्पत्ति इस गति मे होती है। यह पचस्कन्ध है। पश्चात् नामरूप की वृद्धि से काल पाकर षडिन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। यह षडायतन है। पश्चात् विषय-सयोग से विज्ञान की उत्पत्ति और त्रिक-सन्निपात से स्पर्श होता है, जो सुखादि सवेदनीय है। इससे सखादि वेदनात्रय होते है। इस वेदनात्रय से विविध तृष्णा होती है। कामतृष्णा या दु ख से अर्दित सत्त्व की कामावचरी सुखावेदना के लिए तृष्णा, रूप-तृष्णा या प्रथम तीन ध्यान की सुखावेदना और चतुर्थ ध्यान की अदु खासुखावेदना के लिए तृष्णा, आरूप्य तृष्णा है। पश्चात् वेदना की तृष्णा से चतुर्विध उपादान—काम°, दृष्टि°, शीलव्रत°, आत्मवाद° होते है। काम पचकाम-गुण है। दृष्टियाँ बासठ है। जैसा ब्रह्मजालसूत्र मे निर्दिष्ट है। शील दौःशील्य का प्रतिषेध है; यथा निर्ग्रन्थो का नग्नभाव, ब्राह्मणो का दण्ड अजिन, पाशुपतो का जटाभस्म, परिव्राजको का त्रिदण्ड और मौञ्ज इत्यादि। इन नियमो का समादान शील-व्रतोपादान है। आत्मवाद आत्मभाव है, जिसके लिए वाद है कि यह आत्मा है।

एक दूसरे मत के अनुसार आत्मवाद आत्मदृष्टि और अस्मिमान है। क्योंकि, इन दो के कारण आत्मा का वाद होता है। यदि आगम वाद शब्द का प्रयोग करता है, तो इसका कारण यह है कि आत्मा असत् है।

कायदृष्टि का उपादान उनके प्रति छन्द और राग है, उपादान-प्रत्ययवश उपचित कर्म पुनर्भव का उत्पाद करता है, यह भव है। सूत्रवचन है—हे आनन्द! पौनर्भविक कर्म भव का स्वभाव है।

भव-प्रत्ययवश विज्ञानावक्रान्ति के योग से अनागत जन्म जाति है। यह पचस्कन्धिका है, क्योंकि यह नाम-रूप-स्वभाव है। जाति-प्रत्ययवश जरा-मरण होता है। इस प्रकार, केवल, अर्थात् आत्मरहित इस महान् दुख स्कन्ध का समुदय होता है। यह महान् है; क्योंकि, इसका आदि-अन्त नहीं है। बारह अग पचस्कन्धिक बारह अवस्थाएँ हैं। यह वैभाषिकों का न्याय है।

अविद्या विद्या का अभाव नहीं है, यह विद्या का विपक्ष है यह धर्मान्तर है, यथा अमित्र मित्र का अभाव नहीं है, किन्तु मित्र का विपक्ष है। 'नञ्' उपसर्ग कुत्सित के अर्थ मे होता है। यथा बुरे पुत्र को अपुत्र कहते हैं। क्या यह नहीं कह सकते कि अविद्या कुत्सित विद्या, अर्थात् कुत्सित प्रज्ञा है? नहीं, अविद्या कुप्रज्ञा नहीं है, क्योंकि कुप्रज्ञा या क्लिष्टप्रज्ञा निस्सन्देह दृष्टि है। किन्तु, अविद्या निश्चय ही दृष्टि नहीं है।

वैभाषिक सौत्रान्तिक के इस मत को नहीं मानते कि अविद्या एक पृथक् धर्म नहीं है, किन्तु क्लिष्ट-प्रज्ञा है और इस तरह प्रज्ञा का एक प्रकार है। वैभाषिक कहते है कि अविद्या प्रज्ञा-स्वभाव नहीं है। वह भदन्त श्रीलाभ के इस मत का भी प्रतिषेध करते है कि अविद्या सर्वक्लेश-स्वभाव है। वह कहते हैं कि यदि अविद्या सर्वक्लेश-स्वभाव है, तो सयोजनादि मे इसका पृथक् वचन नहीं हो सकता। वैभाषिक के अनुसार अविद्या का लक्षण चतुःसत्य, त्रिरत्न, कर्म और फल का असम्प्रख्यान (अज्ञान) है। आप पूछेंगे कि असम्प्रख्यान का स्वभाव क्या है? प्राय निर्देश स्वभाव-प्रभावित नहीं होते, किन्तु कर्म-प्रभावित होते हैं। यथा चक्षु का निर्देश इस प्रकार करते हैं—"जो रूपप्रसाद चक्षुर्विज्ञान का आश्रय है।" क्योंकि, इस अप्रत्यक्ष रूप को केवल अनुमान से जानते है। इसी प्रकार, अविद्या का स्वभाव उसके कर्म या कारित्र से जाना जाता है। यह कर्म विद्या का विपक्ष-स्वरूप है। अत, यह विद्या-विपक्ष धर्म है।

सयुक्त मे है—पूर्वान्त के विषय मे अज्ञान, अपरान्त के विषय में अज्ञान, मध्यान्त के विषय में अज्ञान . त्रिरत्न के विषय मे दु ख-समुदय और निरोध-मार्ग के विषय मे . कुशल-अकुशल-अव्याकृत के विषय में, आध्यात्मिक . बाह्य के विषय मे अज्ञान, यत्किंचित् उस-उस विषय में अज्ञान है, वह तमआवरण है।[1]

---

१. विशुद्धि०, पृ० ३७१ सूत्र के अनुसार दु खादि चार स्थान में अज्ञान अविद्या है। अभिधर्म के अनुसार दु खादि चतु सत्य, पूर्वान्त, अपरान्त, पूर्वान्तापरान्त और इदं-प्रत्ययता तथा प्रतीत्यसमुत्पन्न धर्मों के विषय में अज्ञान अविद्या है। (धम्मसगणि, ११५)

नामरूप[1] में रूप रूप-स्कन्ध है और नाम अरूपी स्कन्ध है। वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान यह चार अरूपी स्कन्ध 'नाम' कहलाते हैं। क्योकि नाम का अर्थ है, 'जो झुकता है' (नमतीति नाम)। अरूपी स्कन्ध नामवश, इन्द्रियवश और अर्थवश, अर्थो मे नमते है, अर्थात् प्रवृत्त होते है, उत्पन्न होते है। 'नामवश' इस पद मे नाम शब्द का ग्रहण उस अर्थ मे है, जो लोक में प्रसिद्ध है। इसका अर्थ यहाँ सज्ञाकरण है। यह समुदाय-प्रत्यायक है, यथा गो-अश्वादि। अथवा एकार्थ-प्रत्यायक है, यथा रूपादि।

स्पर्श छ है, त्रिक-सन्निपात से स्पर्श उत्पन्न होता है। पहला चक्षु सस्पर्श है, छठा मन सस्पर्श है। इन्द्रिय, विषय और विज्ञान इन तीनो के सन्निपात से यह उत्पन्न होते है। सौत्रान्तिक के अनुसार स्पर्श त्रिक-सन्निपात है, किन्तु सर्वास्तिवादी और बुद्धघोष के अनुसार स्पर्श त्रिक-सन्निपात नही है, किन्तु इस सन्निपात का कार्य है, और एक चैतसिक धर्म है। प्रथम पाँच सस्पर्श प्रतिघ-सस्पर्श हैं, छठा अधिवचन है। चक्षु सस्पर्शादि प्रथम पाँच के आश्रय सप्तविध इन्द्रिय है। अत, इनको प्रतिघ-सस्पर्श कहते हैं। मन सस्पर्श को अधिवचन-सस्पर्श

लोकोत्तर सत्य-द्वय को वर्जित कर शेष स्थानों में आलम्बनवश भी अविद्या उत्पन्न होती है। अविद्या के उत्पाद से दु ख-सत्य प्रतिच्छादित होता है। पुद्गल उसके लक्षणों का प्रतिवेध नहीं कर सकता। पूर्वान्त अतीत स्कन्ध-पचक है। अपरान्त अनागत स्कन्ध-पचक है। पूर्वान्तापरान्त उभय है। अविद्यावश यह प्रतिवेध नहीं हो सकता कि यह अविद्या है, यह सस्कार है।

विशुद्धि० (पृ० ४०७) में प्रतीत्यसमुत्पाद की सूची में शोकादि अन्त में उक्त है। भवचक्र के आदि में उक्त अविद्या इनसे सिद्ध होती है। जो पुद्गल अविद्या से विमुक्त नहीं है, उसको शोक-दौर्मनस्यादि होते हैं। जो मूढ हैं, उनको परिदेवना होती है। अत, जब शोकादि सिद्ध होते हैं, तब अविद्या सिद्ध होती है। पुन यह भी कहा है कि आस्रवों से अविद्या होती है।

(म० १।५४) शोकादि भी आस्रवों से उत्पन्न होते हैं। कैसे?

काम-वस्तु से वियोग होने पर कामास्रव से शोक उत्पन्न होता है। पुन यह सकल शोकादि दृष्टि से उत्पन्न होते हैं। यथा उक्त है कि—जब उसको यह सज्ञा होती है कि मैं रूप हूँ, मेरा रूप है, तब रूप का अन्यथाभाव होने पर शोकादि उत्पन्न होते हैं (स० ३।३), यथा दृष्ट्यास्रव से, उसी प्रकार भवास्रव से। यथा पाँच पूर्वनिमित्त देखकर मृत्यु-भय से देव सन्त्रस्त होते हैं। इसी प्रकार, अविद्यास्रव से शोकादि होते हैं। यथा सूत्र में उक्त है—हे भिक्षुओ! मूढ इस जन्म में त्रिविध दु ख-दौर्मनस्य का प्रतिसवेदन करता है (म० ३।१६३)। इस प्रकार, आस्रवों में यह धर्म उत्पन्न होते हैं। इनके सिद्ध होने पर अविद्या के हेतुभूत आस्रव सिद्ध होते हैं। जब आस्रव सिद्ध होते हैं, तब अविद्या सिद्ध होती है, जब अविद्या सिद्ध होती है, तब हेतु-फल-परम्परा का पर्यवसान नहीं होता। अत, भवचक्र का आदि अविदित है। हेतु-फल-सम्बन्धवश यह चक्र सतत प्रवर्तित होता है।

१ विशुद्धि० (पृ० ३६३) में आलम्बन के अभिमुख नमने से वेदनादि तीन स्कन्ध 'नाम' कहलाते हैं। अभिधर्मकोश के अनुसार विज्ञान भी 'नाम' है।

कहते है। अधिवचन नाम है। किन्तु, नाम मनोविज्ञान-सम्प्रयुक्त स्पर्श का बाहुल्येन आलम्बन होता है। वस्तुत , यह उक्त है कि चक्षुर्विज्ञान से वह नील को जानता है, किन्तु, वह यह नही जानता कि यह नील है। मनोविज्ञान मे वह नील को जानता है और यह भी जानता है कि 'यह नील है।' अत , मनोविज्ञान के स्पर्श को अधिवचन-सस्पर्श कहते है (अधिवचनसफस्स, दीघ, २।६२) । छठा सस्पर्श तीन प्रकार का है—विद्या, अविद्या और इतर स्पर्श। यह तीन यथाक्रम अमल, क्लिष्ट, इतर है। यह स्पर्श अनास्रव प्रज्ञा से, क्लिष्ट अज्ञान से, नैवविद्या नाविद्या से, अर्थात् कुशल सास्रव प्रज्ञा से अथवा अनिवृताव्याकृत प्रज्ञा से सम्प्रयुक्त स्पर्श है। सर्वक्लेश-सम्प्रयुक्त अविद्या-सस्पर्श का प्रदेश नित्य समुदाचारी है। इसके ग्रहण मे दो स्पर्श होते है—व्यापाद-स्पर्श और अनुनय-स्पर्श। समस्त स्पर्श त्रिविध है—सुखवेदनीय, दु खवेदनीय और असुखादु खवेदनीय। इन स्पर्शो की यह सज्ञा इसलिए है, क्योकि इनका सुख, दु ख, असुखा-दु:ख के लिए हितभाव है। जिस स्पर्श में वेद्य सुख होता है, वह स्पर्श सुखवेद्य कहलाता है। वस्तुत., वहाँ एक सुखावेदना होती है।

वेदना स्पर्श से उत्पन्न होती है। पाँच कायिकी वेदना है, एक चैतसिकी है। पांच वेदनाएँ जो चक्षु और अन्य रूपी इन्द्रियो के सस्पर्श से उत्पन्न होती है, और जिनका आश्रय रूपी इन्द्रिय है, कायिकी कहलाती है। छठी वेदना मन सस्पर्श से उत्पन्न होती है। उसका आश्रय चित्त है, अत वह चैतसी है। वेदना और स्पर्श सहभू है, क्योकि वह सहभू-हेतु है। यह वैभाषिक मत है। सौत्रान्तिको के अनुसार वेदना स्पर्श के उत्तर काल में होती है।

यह चैतसी वेदना मनोपविचारो[1] के कारण अट्ठारह प्रकार की है, क्योकि छ सौमनस्यो-पविचार, छ दौर्मनस्य० और छ उपेक्षा० भी है। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य और धर्म इन छ विषयो के भेद से छ सौमनस्योपविचार है। इसी प्रकार, दौर्मनस्य० और उपेक्षा० भी छ-छ. है। इन अट्ठारह में कैसे विशेष करते है? यदि हम उनके वेदनाभाव का विचार करें, तो तीन उपविचार होगे—सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा। यदि हम उनके सम्प्रयोगभाव का विचार करें, तो वह एक है, क्योकि सबका मनोविज्ञान से सम्प्रयोग है। यदि हम उनके विषय का विचार करें, तो वह छ है। क्योकि रूप-शब्दादि विषय-षट्क उनके आलम्बन है।

हमको तीन प्रकार से व्यवस्थापन करना चाहिए। जो मनोविज्ञानमात्र-सम्प्रयुक्त एक चैतसी वेदना नाम का द्रव्य है, वह सौमनस्यादि स्वभावत्रय के भेद से त्रिविध है और इनमें से

---

१ पालि-ग्रन्थों में छ' सोमनस्सूपविचार, छ दोमनस्सूपविचार, छ उपेक्खूपविचार हैं (मज्झिम, ३।२१६—२३९, दीघ० ३।२४४, विभङ्ग, ३८ इत्यादि)। यथा—चक्षु से रूपों को देखकर सौमनस्य-स्थानीय रूपों का उपविचार करता है इत्यादि (मज्झिम०, अट्ठारसमनोपविचारी)।

प्रत्येक रूपादि विषय-षट्क के भेद से छ प्रकार के है। अत, पूर्ण संख्या अट्ठारह है। अट्ठारह उपविचार सास्रव है। कोई अनास्रव उपविचार नही है।

पुन, यही सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा, गेधाश्रित (अभिषगाश्रित) और नैष्क्रम्याश्रित भेद से ३३ शास्तृपद है।[1] यह शास्तृपद इसलिए कहलाते है, क्योकि इस भेद की देशना शास्ता ने की है। नैष्क्रम्य, सक्लेश या ससार-दु ख से निष्क्रम है। गर्ध अभिष्वग है।

तृष्णा—रूपादि भेद से तृष्णा षड्विध है। इनमे से प्रत्येक का प्रवृत्ताकार त्रिविध है—काम°, भव°, विभव°। जब चक्षु के अपाय मे रूपावलम्बन आता है और काम के आस्वादवश उसकी आस्वादन-प्रवृत्ति होती है, तब काम-तृष्णा होती है। जब यह शाश्वत-दृष्टि-सहगत राग हो, तब भव-तृष्णा है। उच्छेद-दृष्टि-सहगत राग विभव-तृष्णा है। इस प्रकार, अट्ठारह तृष्णाएँ है।

उपादान—यह अनुशय है। क्योकि, अनुशय उपग्रहण करते है। उपादान का अर्थ दृढ-ग्रहण है। यह चार है—काम°, दृष्टि°, शीलव्रत° और आत्मवाद°। तृष्णा के प्रसग में इनका वर्णन ऊपर हो चुका है।

भव—भव द्विविध है, कर्म° और उपपत्ति°। कर्म भव है, क्योकि यह भव का कारण है, यथा—'बुद्धो का उत्पाद सुख है', अर्थात् सुख का कारण है। सव कर्म, जो भवगामी है, कर्म-भव है। पुण्य, अपुण्य, आनेज्य-कर्म अल्प हो या बहु, कर्म-भव है। सक्षेप मे, कर्म-चेतना और चेतना-सम्प्रयुक्त अभिध्यादि कर्म सख्यात धर्म है। उपपत्ति-भव कर्माभिनिर्वृत स्कन्ध है। प्रभेद के कारण यह नवविध है—काम°, रूप°, अरूप°, सज्ञा°, असज्ञा°, नैवसज्ञा°, एक-व्यवकार°, चतुर्व्यवकार°,[2] पचव्यवकार°। जिस भव मे सज्ञा होती है, वह सज्ञा° है। इसका विपर्यय असज्ञा° है। औदारिक सज्ञा के अभाव से और सद्भाव से नैव° है। जिस भव का एक व्यवकार है, वह एक° है। एक मे एक° उपादान-स्कन्ध है। इत्यादि (विशुद्धि० पृ० ४०३)।

---

१ मज्झिम (३।२१९) में ३६ शास्तृपद वर्णित हैं। यह छत्तीस 'सत्तपदा' है। यह 'गेहसित' और 'नेक्खम्मसित' भेद से ३६ हैं। यथा 'गेहासितसोमनस्स' यह है—चक्षुर्विज्ञेय, इष्ट, मनोरम रूपों का प्रतिलाभ देखकर या पूर्व प्रतिलब्ध अतीत रूप का स्मरण कर सौमनस्य उत्पन्न होता है। यथा 'नेक्खम्मसितसोमनस्स' यह है—रूपों की अनित्यता जानकर सम्यक् प्रज्ञा से यथाभूत का दर्शन कर जो सौमनस्य उत्पन्न होता है।

२ पालि='वोकार'—व्यवकार। स्फुटार्था कहती है कि बुद्ध-काश्यप ने स्कन्ध को 'व्यवकार' की सज्ञा दी। व्यवकार=विशेषावकार=जो अपनी अनित्यताञ्श विसवादिनी हो। गाथा में कहा है—रूप फेनपिण्डोपम है।

विभाषा में उक्त है—"पूर्वतथागत स्कन्धों को व्यवकार की सज्ञा देते हैं; किन्तु शाक्यमुनि 'स्कन्ध' अधिवचन का व्यवहार करते हैं। पूर्व पाँच व्यवकार का उल्लेख करते हैं शाक्यमुनि पाँच उपादान-स्कन्ध का।"

हम ऊपर कह चुके हैं कि प्रतीत्य° क्लेश, कर्म और वस्तु है। क्लेश बीजवत्, नागवत्, मूलवत्, वृक्षवत्, तुषवत् है।

बीज से अकुर-पत्रादि उत्पन्न होते है, इसी प्रकार, क्लेश से क्लेश, कर्म और वस्तु उत्पन्न होते है। जिस तडाग में नाग होते है, वह शुष्क नही होता। इसी प्रकार, भवसागर, जहाँ यह क्लेशभूत नाग होता है, शुष्क नही होता। जिम वृक्ष का मूल नही काटा जाता, उसमें अकुर निकलते रहते है, यद्यपि उसके पत्तो को पुन-पुन तोडते रहते है। इसी प्रकार, जबतक इस क्लेशभूत मूल का उपच्छेद नही होता, तबतक गतियो की वृद्धि होती रहती है। वृक्ष भिन्न-भिन्न काल में पुष्प और फल देता है। इसी प्रकार, एक ही काल में यह क्लेशभूत वृक्ष क्लेश, कर्म और वस्तु नही प्रदान करता। बीज, यदि उसका तुष निकाल लिया गया हो; तो समग्र होने पर भी नहीं उगता। इसी प्रकार, पुनर्भव की उत्पत्ति के किए कर्म का तुषभूत क्लेश से सयुक्त होना आवश्यक है।

कर्म तुष-समन्वागत तण्डुल के समान है। यह औषध के तुल्य है, जो फल-विपाक होने पर नष्ट होता है। यह पुष्पवत् है। पुष्प फलोत्पत्ति का आसन्न कारण है। इसी प्रकार, यह विपाकोत्पत्ति का आसन्न कारण है।

वस्तु सिद्ध अन्न और पान के तुल्य है। सिद्ध अन्न और पान, सिद्ध अन्न और पान के रूप मे पुन उत्पन्न नही होते। उनका एकमात्र उपयोग अशन-पान में है। इसी प्रकार वस्तु है, जो विपाक है। विपाक से विपाकान्तर नही होता; क्योकि इस विकल्प में मोक्ष असम्भव हो जायगा।

स्कन्ध-सन्तान अपनी सस्कृतावस्था में चार भवो का (अन्तरा°, उपपत्ति°, पूर्वकाल°, मरण°) उत्तरोत्तर क्रम है। उपपत्ति° स्वभूमि के सर्वक्लेश से सदा क्लिष्ट होता है। यद्यपि मरणावस्था काय-चित्त मे अपटु है, तथापि यदि एक पुद्गल को किसी क्लेश में अभीक्ष्ण प्रवृत्ति होती है, तो पूर्वाक्षेप से यह क्लेश मरणकाल में समुदाचारी होता है। अन्य भव कुशल, क्लिष्ट और अव्याकृत होते है। यह चार भव सब धातुओ में नही होते। आरूप्यो मे अन्तरा-भव को वर्जित कर शेष तीन भव होते हैं। कामधातु और रूपधातु मे चारो भव होते है, यह प्रतीत्य-समुत्पाद का निर्देश है। भवचक्र अनादि है।

विशुद्धिमग्गो (पृ० ४०७—४१०) मे इस तन्त्री मे अविद्या प्रधान धर्म है। यह तीनो वर्त्मों में प्रधान है। अविद्या के ग्रहण से अवशेष क्लेश-वर्त्म और कर्मादि पुद्गल को उपनद्ध करते है, यथा सर्प के शिर के ग्रहण से सर्प का शेष शरीर उसके बाहु को परिवेष्टित करता है। अविद्या के समुच्छेद से क्लेशादि से विमोक्ष होता है, यथा—सर्प के सिर को काटने से बाहु का विमोक्ष होता है। यथा उक्त है (स० २।१) कि अविद्या के अशेष निरोध से सस्कार का निरोध होता है। अत, जिसके ग्रहण से बन्ध होता है और जिसके मुक्त होने से मोक्ष होता है, वह प्रधान धर्म है, आदि नही है। यह भवचक्र कारक-वेदक-रहित है; क्योकि अविद्यादि कारणो से सस्कारादि की प्रवृत्ति होती है। इसलिए, परिकल्पित ब्रह्मादि समार-कारक नही है, तथा सुख-दु:ख का वेदक परिकल्पित आत्मा नही है।

यह भव-चक्र द्वादशविध शून्यता से शून्य है। अविद्या का उदय-व्यय होता है, अत यह ध्रुवभाव से शून्य है। यह शुभभाव से शून्य है, क्योकि यह सक्लिष्ट और क्लेश-जनक है। यह सुखभाव से शून्य है, क्योकि यह उदय-व्यय से पीडित है। यह आत्मभाव से शून्य है, क्योकि यह वशवर्त्ती नही है। इसकी वृत्ति प्रत्ययो में आयत्त है। इसी प्रकार, सस्कारादि अन्य अग है। यह अग न आत्मा है, न आत्मा मे है, न आत्मवान् है। इसलिए, यह भवचक्र द्वादशविध शून्यता से शून्य है।

इस भवचक्र के अविद्या और तृष्णा मूल है। अविद्यामूल पूर्वान्त से आहृत होता है और वेदनावसान है। तृष्णामूल अपरान्त मे विस्तृत होता है और जरा-मरणावसान है। पहला दृष्टिचरित पुद्गल का मूल है, अपर तृष्णाचरित का। प्रथम मूल उच्छेद-कर्म के समुद्घात के लिए है। जरा-मरण का प्रकाश कर द्वितीय मूल शाश्वत दृष्टि का समुद्घात करता है।

यह चक्र त्रिवर्त्म है। सस्कार, भव कर्मवर्त्म है, अविद्या, तृष्णा उपादान-वर्त्म है। विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना विपाक-वर्त्म है।

भगवान् प्रतीत्य॰ की देशना विविध प्रकार से करते है—

यथा—वल्लिहारक आदि या मध्य से आरम्भ कर पर्यवसान तक अथवा पर्यवसान या मध्य से आरम्भ कर आदि तक बल्लि ग्रहण करता है। एक वल्लिहारक पहले वल्लि के मूल को देखता है। वह इस मूल का छेद कर सव वल्लि का आहरण करता है। इसी प्रकार, भगवान् अविद्या से आरम्भ कर जरा-मरण-पर्यन्त प्रतीत्य॰ की देशना करते है।

यथा—एक वल्लिहारक पहले मध्य को देखता है। वह मध्य मे वल्लि को काटता है, और ऊपर के भाग को लेता है। इसी प्रकार भगवान् कहते है—वेदना का अभिनन्दन करने से उसमे नन्दी उत्पन्न होती है। यह उपादान है। उपादान से भव, भव से जाति होती है। (मज्झिम, १।२६६)

यथा—एक वल्लिहारक पहले वल्लि के अग्र को देखता है। वह उसका ग्रहण कर यावत् मूल का आहरण करता है। इसी प्रकार भगवान् कहते है—"जाति से जरा-मरण होता है जाति भव से होती है ' सस्कार अविद्या से होता है।" (म० १।२६१–२६२)

यथा—एक वल्लिहारक पहले मध्य देखता है। वह मध्य मे काटकर मूल तक आता है। इसी प्रकार, भगवान् मध्य से आरम्भ कर आदि पर्यन्त देशना करते है। यथा भगवान् कहते है—"इन चार आहारो का क्या प्रभव है? तृष्णा इनका प्रभव है। तृष्णा का क्या प्रभव है? वेदना एवमादि।"

यह अनुलोम-प्रतिलोम-देशना है। अनुलोम-देशना से भगवान उत्पत्ति-क्रम को दिखाते है, और यह दिखाते है कि अपने-अपने कारण से यह प्रवृत्ति होती है। प्रतिलोम-देशना से वह कृच्छ्रापन्न लोक को दिखाकर यह बताते है कि तत्तत् जरा-मरणादिक दु ख का क्या कारण है। जो देशना मध्य से आदि को जाती है, वह आहार के निदान को व्यवस्थापित

कर अतीत अध्व में जाती है, और अतीताध्व से आरम्भ कर हेतु-फल-परिपाटी को दिखाती है। जो देशना मध्य से पर्यवसान को जाती है, वह अनागत अध्व को दिखाती है, और बताती है कि प्रत्युपन्न अध्व में अनागत हेतु का समुत्थान होता है। यहाँ अनुलोम-देशना उक्त है।

प्रतीत्यसमुत्पाद का यह विवेचन प्रधानत हीनयान के वादियों की दृष्टि से है। विज्ञानवाद तथा माध्यमिक सिद्धान्त के अध्याय में महायान के आचार्यों की प्रतीत्य०-सम्बन्धी व्याख्या प्रदर्शित करेंगे। हीनयानियों में सौत्रान्तिकों का इस सम्बन्ध में विशेष फलितार्थ है। वह क्षणभंगवाद है, जिसका अब विवेचन करना प्रासंगिक होगा।

क्षणभंगवाद

ऊपर प्रतीत्यसमुत्पाद का विश्लेपण स्थविरवाद और वैभाषिकवाद की दृष्टि से किया गया है। किन्तु, सौत्रान्तिकों ने इसका कुछ और भी सूक्ष्म विश्लेपण किया है, जिससे धर्मों का क्षणभंगवाद तथा क्षणसन्ततिवाद निश्चित होता है। स्थविरवादियों का ध्यान चित्त-चैतसिकों की क्षणिकता की ओर गया था, किन्तु बाह्य जगत् को क्षणिक मानने के पक्ष में वे नहीं थे। सर्वास्तिवादी वैभाषिक अवश्य ही कहीं-कहीं बाह्य वस्तु की क्षणिकता मानते हैं। जैसे अभिधर्मकोश (४।४) में **संस्कृतं क्षणिकं यत.** है। परन्तु, यह वसुबन्धु पर सौत्रान्तिक प्रभाव ही है। वस्तुत, पूर्वकालीन बौद्धों की क्षणिकता अनित्यता से आगे नहीं बढती। वैभाषिक सिद्धान्त में संस्कृत-धर्म जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता इन चार अवस्थाओं में अनुवृत्त होकर सत् होता है। वैभाषिकों की यह बाह्य अक्षणिकता तब और स्पष्ट हो जाती है, जब वह इन चतुर्विध लक्षणों की सत्ता के लिए चार अनुलक्षणों की सत्ता भी मान लेते हैं। इसलिए वैभाषिक मत में धर्मों का प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व त्रैयध्विक (अतीत-अनागत-प्रत्युत्पन्नवर्त्ती) ही हो सकता था। फलत, ये प्रतीत्यसमुत्पाद को आवस्थिक एवं प्राकर्षिक मानते हैं, परन्तु सौत्रान्तिक क्षणिक और साम्बन्धिक मानते हैं। सौत्रान्तिक अतीतानागताध्व का निषेध करते हैं, और प्रत्युत्पन्न में ही वस्तु के पूर्वोक्त चतुर्लक्षणों का विनियोग करते हैं। इस प्रकार, सौत्रान्तिक, अन्य हीनयानियों के समान यद्यपि बहुपदार्थवादी हैं, तथापि उनके प्रतीत्यसमुत्पाद-नय का अध्ययन उन्हें पदार्थों की क्षणभंगता तथा क्षण-सन्ततिवाद के सिद्धान्त पर पहुँचाता है। इसका विस्तार से विवेचन हम सौत्रान्तिकवाद के प्रसंग में करेंगे। यहाँ थोडे में केवल परवर्त्ती बौद्ध नैयायिकों की तर्क-पद्धति से धर्मों की क्षणभंगता का विचार करते हैं, क्योंकि यह प्रतीत्यसमुत्पाद का ही विकास है।

क्षणभंगता एक ओर तो अन्य तीर्थिकों के विकल्पित वादों का अनायासेन निरास करती है, जैसे सांख्यों का प्रधानवाद, गौतमादि का ईश्वरवाद, चार्वाकादि का भूतचतुष्टय-वाद, जैमिनीयों का वैदिकशब्दराशिनित्यतावाद। दूसरी ओर बहुसत्तावादी बौद्धदर्शनों के लिए अद्वयवाद का द्वार भी खोलती है।

किसी वस्तु के अस्तित्व का अर्थ है, उसकी क्षणिकता। सामान्यत' सत्ता और क्षणिकता में विरोध प्रतीत होता है, किन्तु वस्तु की सत्ता का निश्चय जब उसकी अर्थक्रियाकारिता से

करते है, तब यह भ्रम नष्ट हो जाता है, जैसे वर्त्तमान क्षण का घट जलाहरणरूप 'अर्थक्रिया' करता है। प्रश्न उठता है कि क्या अतीतानागत क्षणो मे भी घट वर्त्तमान क्षण की ही अर्थ-क्रिया करता है, या कोई दूसरी। प्रथम पक्ष तो इसलिए ठीक नही है कि इसके मानने से पूर्व-कृत का ही पुन करण होगा, जो व्यर्थ है। दूसरे पक्ष मे यह विचार करना होगा कि वस्तुत घट जब वर्त्तमान क्षण का कार्य करता है, तब उसी क्षण मे अतीतानागत क्षण के कार्य को करने में शक्त है या नही ? यदि शक्त है, तो अतीतानागत क्षण के कार्य को भी प्रथम क्षण मे ही क्यो नही करता ? क्योकि, समर्थ का कोई प्रतिबन्धक (क्षेपक) नही हो सकता। अन्यथा, वह घट वर्त्तमान क्षण के कार्य को भी नही कर सकेगा, क्योकि समान रूप से वह पूर्वापर कार्य मे शक्त है, पर अतीतानागत कार्य नही कर सका। इसलिए, कहना पडेगा कि वर्त्तमानक्षण-भावी घट अतीतानागतक्षण-भावी 'अर्थक्रिया' करने मे शक्त नही है, प्रत्युत सर्वथा अशक्त है। ऐसी अवस्था में शक्तत्व-अशक्तत्वरूप उभयविरुद्ध धर्मों का एक कार्य (घट)मे अध्यास मानना पडेगा। यह तभी सम्भव है, जब आप घट का क्षण-विध्वस अवश्य माने। इस प्रकार, जब एक कार्य मे ही समर्थता तथा उससे इतर स्वभाव (असमर्थता) दोनो मानने पडे, तब उससे समस्त घट-पटादि की क्षणभगता स्वय सिद्ध होती है।

एक प्रश्न यह उठता है कि बौद्धसिद्धान्त मे यदि वस्तु के सत्त्व का अर्थ उसका 'अर्थ-क्रियाकारित्व' है, तो घटादि की सत्ता के लिए उनमे अपने कार्य के प्रति प्रतिक्षण जनन-व्यवहार होना चाहिए। सिद्धान्ती कहता है, ठीक है, प्रतिक्षण जनन-व्यवहार होता है, क्योकि घट प्रतिक्षण अपूर्व है, और प्रतिक्षण नयी-नयी अर्थक्रियाएँ भी करता है। यह बात एक तर्क से स्पष्ट होती है—जब, जिस वस्तु में जनन-व्यवहार की पात्रता होती है, तब वह वस्तु अवश्य अपनी क्रिया भी करती है, क्योकि बिना अर्थक्रिया के वस्तु मे जनन-व्यवहार नही होता। इसीलिए, किसी वस्तु की उत्पादक अन्त्यकारण-सामग्री मे जनन-व्यवहारयोग्यता अन्य वादियो को भी सम्मत है। इस न्याय के घट से अन्य क्षण की तरह आद्यादि पूर्वक्षणो मे भी जनन-व्यवहार-योग्यता एव अपूर्व क्रियाकारिता है।

इस तर्क के विरुद्ध पूर्वपक्षी यदि कहे कि कुशूलस्थ बीज में कार्योत्पादन-सामर्थ्य का व्यवहार किया जाता है, परन्तु वह कार्य का साक्षात् जनक नही है। यह ठीक नही, क्योकि समर्थ व्यवहार पारमार्थिक और औपचारिक भेद से दो प्रकार का होता है। यहाँ पारमार्थिक जनन-व्यवहारगोचरता ही इष्ट है, जो कार्य का साक्षात् जनक है। कुशूलस्थ बीज मे औप-चारिक समर्थ-व्यवहार-गोचरता है।

पूर्वपक्षी कहता है कि सत्त्व हेतु (सर्वे पदार्था क्षणिका 'सत्त्वात्') से वस्तु के क्षणिकत्व का अनुमान नही किया जा सकता। सत्त्व से क्षणिकत्व की व्याप्ति (यत् सत् तत् क्षणिकम्) कार्य-कारण के अन्वय-व्यतिरेक से ही सम्भव है, किन्तु क्षणभग-पक्ष मे वह (व्याप्ति) प्रतिपन्न नही हो सकती, क्योकि कारण-बुद्धि से भावी कार्य गृहीत नही होगा और कार्य-बुद्धि से अतीत कारण गृहीत नही होगा, एव अतिप्रसग के भय से वर्त्तमानग्राही ज्ञान मे ही अतीता-नागत ज्ञानो का भी ग्रहण नही हो सकता। अपिच, क्षणभगवाद मे कोई एक प्रतिसन्धाता

भी नहीं बन सकेगा, जो पूर्वापरकाल के ज्ञानों का प्रतिसन्धान करे। इसलिए, सत्त्व का अर्थक्रियालक्षणत्व भी सिद्ध नहीं हो सकता।

पूर्वपक्षी प्रकारान्तर से भी अर्थक्रियाकारित्व-लक्षण सत्त्व को असिद्ध बनाता है। वह पूछता है—बीजादि मे कार्योत्पादन-सामर्थ्य का निश्चय स्वयं बीजादि के ज्ञान से होता है या उसके कार्य अंकुरादि से ? आपके मत में कार्य से ही सामर्थ्य का निश्चय होगा, परन्तु कार्यत्व-सिद्धि वस्तुत्व-सिद्धि पर निर्भर है और वस्तुत्व कार्यान्तर पर। फिर, कार्यान्तर के कार्यत्व की सिद्धि के लिए भी वस्तुत्व अपेक्षित है, उसके लिए फिर कार्यान्तर की अपेक्षा होगी। इस प्रकार, अनवस्था दोष होगा। इस अनवस्था से बचने के लिए आपको अन्त मे वस्तुत्व के लिए कार्यान्तर की अपेक्षा छोड़नी होगी। ऐसी अवस्था मे हम कहेंगे कि इसी न्याय से पूर्व-पूर्व वस्तुत्त्व की सिद्धि के लिए कार्यान्तर की अपेक्षा छूटती जायगी और उस-उसका असत्त्व सिद्ध होता जायगा, फिर एक का भी अर्थक्रियाकारित्व सिद्ध नहीं हो सकेगा।

सिद्धान्ती कहता है कि वस्तु के क्षणिकत्व को स्वीकार करने पर ही सामर्थ्य-प्रतीति बनती है; इसलिए सत्त्व के साथ क्षणिकत्व की व्याप्ति भी बन जायगी। कार्यग्राही ज्ञान में अवश्य ही कारणज्ञानोपादेयता संस्कार-गर्भित होकर रहती है। इसलिए, कार्य-सत्त्व से कारण-सत्त्व की अन्वय-व्याप्ति बनती है। ऐसे ही अभाव-स्थल में कार्यापेक्षया भूतल-कैवल्यग्राही ज्ञान मे कारणापेक्षया भूतल-कैवल्यग्राही ज्ञान की उपादेयता संस्कार-गर्भित होकर रहती है। इसलिए कार्याभाव मे कारणाभाव की व्यतिरेक-व्याप्ति बनती है। इस प्रकार, एक के निश्चय के समनन्तर ही उत्पन्न अन्य विज्ञान का अन्वय-निश्चय और एक के विरह-निश्चयानुभव के अनन्तर उत्पन्न अन्य विरह-बुद्धि का व्यतिरेक-निश्चय अनायास सिद्ध होता है।

सिद्धान्त में अर्थक्रियाकारित्व-रूप सामर्थ्य ही सत्त्व है। उसकी सिद्धि के लिए हमारा यह प्रयास नहीं है। क्योंकि प्रमाण-प्रतीत बीजादि धर्मी मे सामर्थ्य प्रमाण-प्रतीत है। हमें तो उसमें केवल क्षणभंगता सिद्ध करनी है। जबतक अंकुरादि-गत कार्यत्व दृष्टिगत नहीं है, तबतक सामर्थ्य के विषय में सन्देह रहेगा। फिर भी, उसकी सन्मात्रता अनिश्चित नहीं रहेगी। अन्यथा कहीं भी वस्तुत्व का निश्चय नहीं हो सकेगा। इसलिए, सत्त्व के शास्त्रीय लक्षण के सन्दिग्ध रहने पर भी पटु-प्रत्यक्ष मे सिद्ध अंकुरादिगत कार्यत्व बीजादि के सामर्थ्य को उपस्थापित करता है। इसलिए, सत्त्व हेतु की असिद्धि नहीं है। पूर्वपक्षी का यह कहना ठीक नहीं है कि क्षणिकवाद में सामर्थ्य नहीं बन सकती, क्योंकि कारणत्व का लक्षण नियत-प्राग्भावित्व है। उसका क्षणिकत्व के साथ कौन-सा विरोध है ? क्योंकि क्षणमात्रावस्थायी पदार्थ में अर्थक्रियाकारित्व-लक्षण सामर्थ्य बन जायगा। मेरे पक्ष में अनेक कालवर्ती एक वस्तु के न होने से व्याप्ति असम्भव नहीं है। क्योंकि, सिद्धान्त मे अतद्रूप-परावृत्त साध्य-साधन का प्रत्यक्ष-प्रमाण से व्याप्ति-ग्रह सम्मत है। बौद्ध सिद्धान्त मे प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय दो होते हैं—एक ग्राह्य, दूसरा अध्यवसेय। प्रकृत में यद्यपि प्रत्यक्ष का विषय ग्राह्य न हो, क्योंकि सकल अतद्रूप-परावृत्त वस्तु का साक्षात् ज्ञान सम्भव नहीं है, तथापि एक देश के ग्रहण से साध्य-साधन-मात्र का व्याप्ति-निश्चायक विकल्प उत्पन्न होगा। इस प्रकार, व्याप्ति का विषय अध्यवसेय होगा, जैसे

क्षण-ग्रहण से क्षण-सन्तति का और घट-रूप के ग्रहण से घट का निश्चय होता है। अन्यथा, पूर्वपक्षी के मत मे भी व्याप्ति नही बनेगी और अनुमानमात्र का उच्छेद हो जायगा।

नैयायिक समस्त पदार्थों को कृतक-अकृतक भेद से दो राशियो मे विभक्त करते है, और वात्सीपुत्रीय क्षणिक-अक्षणिक में विभक्त करते है। बौद्ध दोनो की क्षणभगता मानते है।

धर्मो के उपर्युक्त प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व तथा क्षणभगता के नय से अनीश्वरवाद एव अनात्मवाद अनायास सिद्ध होता है।

अनीश्वरवाद

समस्त कार्यकारणात्मक जगत् प्रतीत्यसमुत्पन्न है। हेतु और प्रत्ययो की अपेक्षा करके ही समस्त धर्मों की धर्मता स्थित है। इसलिए, इस नय मे ईश्वर, ब्रह्मा आदि कल्पित कारको का प्रतिषेध है।

ईश्वरवादी कहता है कि अभिमत वस्तु के साधन के लिए जो वस्तु स्थित्वा-प्रवृत्त होती है, वह किसी बुद्धिमत्कारण से अधिष्ठित होती है, जैसे द्वैधीकरण के लिए कुठारादि। कुठारादि स्वय प्रवृत्त नही होते, स्वय प्रवृत्त हो, तो कभी व्यापार-निवृत्त न हो। स्थित्वा-प्रवर्त्तन सर्वाभिमत है, इसलिए कोई प्रवर्त्तक भी होना आवश्यक है। घटादि वस्तुओ की अर्थक्रियाकारिता भी चेतनावत् प्रेरित होने से ही है।

सिद्धान्ती कहता है—मुझे इसमे इष्टसिद्धि है, क्योकि इससे ईश्वर नही सिद्ध होता। सिद्धान्त मे चेतनारूप कर्म स्वीकृत है और उससे समस्त पदार्थ अधिष्ठित है। उक्त भी है—

कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना मानसं च तत् । (अभि० ४।१)

पूर्वपक्षी कहता है कि लोक-वैचित्र्य केवल कर्म से नही, प्रत्युत ईश्वर-प्रेरित धर्माधर्म से है, और आप लोक का ईश्वराधिष्ठितत्व नही मानते, अत आपके पक्ष मे इष्टसिद्धि नही है। परन्तु, सिद्धान्त मे जब चेतनारूप कर्म स्वीकृत है, तब चेतनान्तर का मानना व्यर्थ है। यदि अन्य चेतनावत् का कर्तृत्व माने भी, तो घटादि ईश्वर-कारणक सिद्ध नही होते, क्योकि कुलालातिरिक्त ईश्वर की कारणता मानने का कोई प्रयोजन नही है। अन्यथा विपक्षी को ईश्वर के लिए भी ईश्वरान्तर मानना पडेगा। यदि अज्ञता के कारण कुलालादि की प्रवृत्ति ईश्वर-प्रेरित माने और तज्ज्ञ ईश्वर की प्रवृत्ति स्वयम्, तो यह भी मानना पडेगा कि सुखदु खोत्पाद मे सर्वथा असमर्थ अज्ञ जीव को ईश्वर-प्रेरित होकर ही स्वर्ग या नरक भोगना पडता है। इस प्रकार, ईश्वर वैषम्य-नैर्घृण्य दोषो से ग्रस्त होगा।

पुन, ईश्वर का सर्वज्ञत्व और सर्वकर्त्तृत्व अन्योन्याश्रय-बाधित है। ईश्वर मे पहले सर्वकर्त्तृत्व सिद्ध हो, तब सर्वज्ञत्व सिद्ध होगा और सर्वज्ञत्व सिद्ध होने पर सर्वप्रेरणा-कर्त्तृत्व साधित होगा। अन्यथा ईश्वर का भी प्रेरक अन्य ईश्वर मानना पडेगा। फिर, यह भी प्रश्न होगा कि सर्वज्ञ ईश्वर अज्ञ जीवो को असद्व्यवहार मे प्रवृत्त क्यो करता है। विवेकशील जन लोगो को सदुपदेश करते है। किन्तु, ईश्वर जब विपथगामी लोगो को भी उत्पन्न करता है, तब वह प्रमाण कैसे माना जाय? फिर, ईश्वर की यह कौन-सी बुद्धिमत्ता है कि जीव को पहले पाप मे प्रवृत्त करता है, बाद मे उससे व्यावृत्त कर धर्माभिमुख करता है।

यदि ईश्वर तत्कार्याधिष्ठित होकर ही जीव को पाप में प्रवृत्त कराता है, फिर भी उसके प्रेक्षाकारित्व की हानि माननी पडेगी। क्योकि, प्रश्न होगा कि उसने जीव से ऐसा पाप क्यो कराया? यदि यह माने कि वह अधर्म नही कराता है, बल्कि अधर्मकारी को फल का अनुभव कराता है, तो यह मानना पडेगा कि ईश्वर अपनी असमर्थता के कारण जीवो को पाप-कर्मो से हटा नही पाता। और, यदि वह यह नही कर पाता, तो उसके लिए सर्वकर्त्तृत्व की घोषणा करना व्यर्थ है। फिर, ऐसी अवस्था मे वह धर्मादि भी क्या करा सकेगा? क्या ईश्वर के बिना लोग अपने अधर्माचरण का फल नहीं भोग लेते? भोगते ही है, तो इस निरर्थक व्यापार मे कोई प्रेक्षावान् क्यो प्रवृत्त होगा? यदि उसकी ऐसी प्रवृत्ति क्रीडा के लिए होती है, तब उसका वह प्रेक्षाकारित्व धन्य है कि एक की क्षणिक तृप्ति के लिए अन्य को अपने जीवन को सकटमय बनाना पडे! आपके सिद्धान्त में समस्त शास्त्र यदि ईश्वरकृत है, तो दानादि के द्वारा उनके उपदेशो की सत्यासत्यता का निर्णय कैसे होगा? यदि दानादि विषयक कुछ शास्त्र उसके विरचित नही है, तो वह उसके समान सर्व को भी कैसे बना सकेगा? यदि ईश्वर को सत्त्वो के धर्माधर्म से ही प्रेरित होकर समस्त पदार्थ सम्भव करना पडता है, तो ईश्वर की कल्पना व्यर्थ है, क्योकि धर्माधर्म की प्रेरणा से सत्त्व ही यह सब क्यो न कर लेगा?

पूर्वपक्षी कहे कि जीव सबका कर्त्ता नही हो सकता, तो मै पूछता हूँ, तुम्हारे अभिप्रेत सर्व के कर्त्तृत्व का उपयोग ही क्या है? एक जीव के द्वारा न सही, सर्व जीवो के द्वारा सर्व-कर्त्तृत्व माने, तो तुम्हारी क्या क्षति है? देखा भी जाता है कि कभी बहुतो के द्वारा एक क्रिया सम्पादित होती है, और कभी एक के द्वारा बहुत क्रियाएँ। यदि कहो कि सर्वकारकत्व तो किसी एक में ही मानना पडेगा, अन्यथा उसमे सर्वज्ञत्व भी सम्भव नही हो सकेगा। इसलिए, एक प्रधान कर्त्ता ईश्वर को मानो, जो प्रार्थियो के मनोरथ सिद्ध कर सके, त्वदभिप्रेत सर्वज्ञतामात्र से कोई प्रार्थियो का सेव्य नही हो सकता। परन्तु, मै कहता हूँ, कोई अर्थानर्थ-क्रिया मे शक्त एव सर्वज्ञ भी हो, फिर भी अपनी अनुपकारिता के कारण ही किसी का सेव्य नही होगा। सर्वज्ञत्व एव सर्वशक्तित्व पहले निश्चित हो, तब सर्वकारकत्व सिद्ध होगा। परन्तु, सभी दृष्टान्तो मे असर्वज्ञ का ही कर्त्तृत्व देखा जाता है। इसलिए, कर्त्तृत्व से सर्वज्ञत्व सिद्ध नही होगा। फिर, अपने कार्य के प्रति कुलालादि मे अज्ञता ही कहाँ है, जिससे ईश्वर की आवश्यकता पडे? यदि सुज्ञ कुलाल मे भी ईश्वर की प्रेरणा के बिना कार्यक्षमता नही आती, तो उसी के समान ईश्वर को भी अपने कार्य मे अन्य से प्रेरित मानना पडेगा। यदि उसने अपने मे सर्वज्ञता सिद्ध करने के लिए सर्वप्रेरकता भी सिद्ध कर ली, तो इसे किसने देखा है?

ईश्वरवादी जगत् के विभिन्न संस्थान-विशेषो की रचना के लिए ईश्वर मे उपादान-गोचरता और चिकीर्षा आदि मानता है। परन्तु, वृक्षादि संस्थान अचित् बीजादि-कारण-विशेष से ही सम्पन्न होते है। इसके लिए पुरुषपूर्वकता आवश्यक नहीं है। क्योकि, कोई भी सुशिक्षित चेतन बीज-विजातीय वृक्ष उत्पन्न नही कर सकता। पूर्वपक्षी यदि कहे कि मृत्पिण्ड का संस्थान कुलाल उत्पन्न नही कर सकता, तो हम कहते है, मृत्पिण्ड को उत्पन्न ही क्या करना है? तादृक् वर्ण-संस्थान-रूप ही तो मृत्पिण्ड है।

यदि वट-बीज में स्वय वट-वृक्ष की वर्ण-सस्थान-रूपता नही है, तो अन्यत्र कहाँ से वह आयगी? उसे यदि ईश्वर उत्पन्न करता है, तो वह बीजातिरिक्त से उत्पन्न क्यो नही करता? इसलिए, स्वीकार करना पडेगा कि वृक्ष-बीज मे निहित वृक्ष-सस्थान आविर्भूत होता है, जैसे प्रदीप से अन्धकार-स्थित बालदारक। इसी प्रकार, कुलाल के द्वारा मृत्पिण्ड से ही सस्थान आविर्भूत होता है। कुलाल-पुरुष केवल साक्षीरूप से ही उसका उपयोक्ता बनता है, जैसे पुरुषो की भोग-सिद्धि के लिए प्रधान की प्रवृत्ति तथा सामाजिको के लिए नट की रगक्रिया। इस प्रकार, सुखाद्यर्थित्वरूपेण सकल की कारणता है। इसी से कार्य-परिसमाप्ति है। ईश्वर की आवश्यकता नही।

अनात्मवाद

अनात्मवाद को पुद्‌गल-प्रतिषेधवाद भी कहते है। बौद्ध आत्मा या पुद्‌गल को वस्तुसत् नही मानते। आत्मा नाम का कोई पदार्थ स्वभावत नही है। जो आत्मा अन्य मतो को इष्ट है, वह स्कन्ध-सन्तान के लिए प्रज्ञप्तिमात्र नही है, किन्तु वह स्कन्ध-व्यतिरिक्त वस्तुसत् है। आत्मग्राह के बल से क्लेशो की उत्पत्ति होती है। वितथ आत्मदृष्टि में अभिनिवेश होने से मतान्तर दूषित है अत बौद्धमत से अन्यत्र मोक्ष नही है। केवल बुद्ध ही नैरात्म्य का उपदेश देते है।

आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि किसी प्रमाण से नही होती, न प्रत्यक्ष प्रमाण से, न अनुमान प्रमाण से। यदि अन्य भावो के समान आत्मा का पृथक् सद्‌भाव है, तो इसकी उपलब्धि या तो प्रत्यक्ष ज्ञान से होनी चाहिए, जिस प्रकार पचेन्द्रिय-विज्ञान तथा मनोविज्ञान के विषयो की उपलब्धि होती है, अथवा अनुमान ज्ञान से होनी चाहिए, यथा अदृश्य अतीन्द्रिय उपादाय-रूप की होती है।

बौद्धो मे वात्सीपुत्रीय भी पुद्‌गलवादी है। वह कहते है कि आत्मा न स्कन्धो से अभिन्न है, और न भिन्न है। वह ऐसा इसलिए कहते है कि यह प्रकट न हो जाय कि वह तीर्थिको के सिद्धान्तो में अभिनिवेश रखते है। वात्सीपुत्रीय सौगतम्मन्य है। यथा साख्य, वैशेषिक, निर्ग्रन्थ आदि पुद्‌गल मे प्रतिपन्न है, उसी प्रकार वात्सीपुत्रीय भी इस कल्पित धर्म मे प्रतिपन्न है। पुद्‌गल का कारित्र नही है। केवल चित्त का कारित्र है। यदि पुद्‌गल भाव है, तो उसे स्कन्धो से अन्य कहना चाहिए, क्योकि उसका लक्षण भिन्न है। यदि वह हेतु-प्रत्यय से जनित है, तो उसका शाश्वतत्व और अविकारित्व नही है। यद वह असस्कृत है, तो उसमें अर्थक्रिया की योग्यता नही है, और उसका कोई प्रयोजन नही है। इसीलिए, पुद्‌गल को द्रव्य-विशेष मानना व्यर्थ है।

वात्सीपुत्रीय कहते है—हम नही कहते कि यह द्रव्य है, और न यह कि यह स्कन्धो का प्रज्ञप्तिमात्र है, किन्तु पुद्‌गल-प्रज्ञप्ति का व्यवहार प्रत्युत्पन्न आध्यात्मिक उपात्त स्कन्धो के लिए है। लोक-विश्वास है कि अग्नि न ईन्धन से अनन्य है, न अन्य। यदि अग्नि ईन्धन से अन्य होती, तो प्रदीप्त अग्नि होती। हमारा मत है कि पुद्‌गल स्कन्धो मे न अनन्य है, और

न अन्य। यदि यह स्कन्धों मे अन्य होता, तो यह शाश्वत और इसलिए असंस्कृत होता; यदि यह स्कन्धों से अनन्य होता, तो उसके उच्छेद का प्रसग होता।

वसुबन्धु का कहना है—यदि आत्मा समुदायमात्र है, भावान्तर नही, तो वह आत्मा नही है; और यदि वह साख्यों के पुरुष के सदृश है, तो उसका कोई प्रयोजन नही है। वसुबन्धु पुन कहते है कि यदि तुम्हारे पुद्गल का स्कन्धों से वही सम्बन्ध है, जो अग्नि का इन्धन से है, तो तुमको स्वीकार करना पडेगा कि वह क्षणिक है। वसुबन्धु प्रश्न करते हैं कि पुद्गल का कैसे ज्ञान होता है? वात्सीपुत्रीय कहता है कि षड्विज्ञान मे उपलब्धि होती है। जब चक्षुर्विज्ञान रूपकाय को जानता है, तब तदनन्तर ही वह पुद्गल की उपलब्धि करता है। इसलिए, हम कह सकते है कि पुद्गल चक्षुर्विज्ञान से जाना जाता है, यथा जब चक्षुर्विज्ञान क्षीर-रूप को जानता है, तब यह प्रथम रूप, गन्ध, रसादि की उपलब्धि करता है, और द्वितीय क्षण मे क्षीर का उपलक्षण करता है। वसुबन्धु इसका उत्तर देते हैं कि इसका परिणाम यह निकलता है कि समस्त स्कन्ध-समुदाय की ही प्रज्ञप्ति पुद्गल है, जैसे रूप-गन्धादि समस्त समुदाय की प्रज्ञप्ति क्षीर है। यह सज्ञामात्र है। यह वस्तुसत् नही है। वात्सीपुत्रीय स्वीकार करता है कि पुद्गल विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय नही है। वसुबन्धु कहते हैं कि बहुत अच्छा! किन्तु उस अवस्था मे यदि यह ज्ञेय नही है, तो इसका अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा। और, यदि इसका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता, तो आपका सिद्धान्त गिर जाता है। वसुबन्धु कहते है कि वेदना, सज्ञा, विज्ञान और चेतना यह चार अरूपी स्कन्ध है और रूप रूपी स्कन्ध है। जब हम कहते है कि 'पुरुष' है, तो हम इन्ही की बात करते है। विविध सूक्ष्म भेदो को व्यक्त करने के लिए विविध शब्दो का व्यवहार होता है, जैसे सत्त्व, नर, मनुज, जीव, जन्तु और पुद्गल। यह सब वैसे ही समुदायमात्र हैं, जैसे सेना शब्द। यह केवल लोक-व्यवहार के वचनमात्र, प्रतिज्ञामात्र है। सब आर्य यथार्थ देखते है कि केवल धर्मों का अस्तित्व है, किसी दूसरी वस्तु का अस्तित्व नही है। जब सूत्र आत्मा को रूपादि से समन्वागत बताता है, तो उसका अभिप्राय पुद्गल-प्रज्ञप्ति से है। जैसे लोक मे 'राशि' बहु के समुदायमात्र को कहते है, जिसमें कोई एकत्व नही होता, अथवा जैसे जलधारा बहु-क्षण में समवाहित जल को कहते है, जिसमें नैरन्तर्यमात्र है, नित्यता नही है। भगवान् कहते है—हे भिक्षुओ! यह जानो कि सब ब्राह्मण-श्रमण जो आत्मा को मानते हैं, केवल उपादान-स्कन्ध को मानते है। इसलिए, विपर्यास के कारण अनात्मधर्मों मे आत्मा की कल्पना होती है, और आत्मग्राह होता है।

कोई सत्त्व, कोई आत्मा नही है। केवल हेतु-प्रत्यय से जनित धर्म है, स्कन्ध, आयतन और धातु है। वात्सीपुत्रीय कहते है कि फिर आप बुद्ध को सर्वज्ञ कैसे कहते है? केवल आत्मा, पुद्गल में सर्वज्ञता हो सकती है, क्योकि चित्त-चैत्त सब धर्मों को नही जान सकते, वह विपरिणामी है, वह क्षण-क्षण पर उत्पन्न और निरुद्ध होते रहते है। वसुबन्धु इस आक्षेप की गुरुता का अनुभव करते है, और उत्तर देते है कि हम इस अर्थ मे बुद्ध को सर्वज्ञ नही कहते कि वह एक ही काल मे सब धर्मों को जानते है। बुद्ध शब्द से एक सन्तान-विशेष ज्ञापित होता है। इस सन्तति का यह सामर्थ्य-विशेष है कि चित्त के आभोगमात्र से ही तत्काल उस अर्थ

का अविपरीत ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसके सम्बन्ध में ज्ञान की इच्छा उदय हुई है। एक चित्त-क्षण सर्वज्ञान का सामर्थ्य नही रखता। अत:, इस सन्तति को सर्वज्ञ कहते है। वात्सीपुत्रीय प्रश्न करते है कि यदि अवक्तव्य पुद्‌गल नही है, तो भगवान् क्यो नही कहते कि जीव सर्वश नही है, वह क्यो वत्सगोत्र (एक भिक्षु) के प्रश्न करने पर कि आत्मा है या नही, 'हाँ' या 'न' मे उत्तर नही देते। इस प्रश्न का उत्तर स्वय भगवान् ने दिया है। भगवान् कहते है कि यह भिक्षु कदाचित् इस विचार से कि जीव स्कन्ध-सन्तान है, जीव के सम्बन्ध मे प्रश्न करता है। यदि भगवान् यह उत्तर देते हैं कि जीव सर्वश. नही है, तो प्रश्नकर्त्ता मिथ्यादृष्टि में अनुपतित होता है, और यदि भगवान् यह कहते है कि जीव है, तो यह धर्मता को बाधित करता है, क्योकि कोई धर्म न आत्मा है, न आत्मीय। दृष्टि से जो क्षत होता है, उसको विचार कर और दूसरी ओर कुशल कर्म का भ्रश देखकर बुद्ध धर्म की देशना उसी प्रकार करते है, जैसे व्याघ्री अपने बच्चे को दाँत से पकड ले जाती है। यहाँ एक श्लोक उदाहृत करते हैं—

दृष्टिदंष्ट्रावभेदं चापेक्ष्य भ्रंशं च कर्मणाम्।
देशयन्ति बुद्धा धर्मं व्याघ्रीपोतापहारवत्॥ (कुमारलात)

जैसे व्याघ्री अपने बच्चे को अति निष्ठुरता से दाँतो से नही पकडती और न अति-शिथिलता से ही, उसी प्रकार, बुद्ध पूछे जाने पर कि आत्मा है या नही, विधेयात्मक या निषेधात्मक कोई उत्तर नही देते। जो आत्मा के अस्तित्व मे प्रतिपन्न है, वह दृष्टि-दष्ट्रा से विदीर्ण होता है, और जो सवृतिसत् पुद्‌गल को नही मानता, वह कुशल कर्म का भ्रश करता है। आत्मवाद शाश्वतवाद है, और यह सोचना कि आत्मा नष्ट हो गई है, उच्छेदवाद है। तथागत इन दो अन्तो का परिहार कर मध्यमा प्रतिपत्ति से धर्म की देशना करते है। इसके होने पर वह होता है . अविद्या के होने पर सस्कार होते हैं; क्योकि कोई द्रव्यसत् जीव नही है, इसलिए बुद्ध नही कहते कि जीव अनन्य है या अन्य। वह यह भी नही कहते कि जीव का वास्तव में अस्तित्व नही है, इस भय से कि कही ऐसा कहने से लोग यह न समझने लगें कि प्राज्ञप्तिक जीव भी नही है।

एक दूसरा प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि यदि पुद्‌गल का अास्तित्व नही है, तो ससार मे सचरण कौन करता है? वसुबन्धु उत्तर देते है कि यथार्थपक्ष बहुत सीधा है, यथा जो अग्नि वन का दाह करती है, उसके विषय मे लोक मे कहते है कि यह सचरण करती है। यद्यपि वह अग्नि के क्षण है, तथापि ऐसा कहते है। क्योकि. इनकी एक सन्तान होती है। इसी प्रकार, स्कन्ध-समुदाय निरन्तर नवीन होकर उपचार से सत्त्व की आख्या प्राप्त करता है, और तृष्णा का उपादान लेकर स्कन्ध-सन्तति ससार मे ससरण करती है। वसुबन्धु एक दूसरी युक्ति देते है। यदि कोई आत्मा मे प्रतिपन्न है, तो इस आत्मीय दृष्टि से उसमे आत्मीय दृष्टि उत्पन्न होगी। इन दो दृष्टियो के होने से उसमें आत्मस्नेह और आत्मीय-स्नेह होगा। ऐसा होने से सत्काय-दृष्टि होगी। वह आत्मस्नेह और आत्मीय-स्नेह के बन्धनो से आबद्ध होगा और मोक्ष से अति दूर होगा।

आत्मवादी यह प्रश्न करते है कि यदि आत्मा का परमार्थत अस्तित्व नही है, तो चित्त, जो उत्पन्न होते ही निरुद्ध हो जाता है, बहुत पहले अनुभूत किये गये विषय का स्मरण

कैसे कर सकता है ? पूर्वानुभूत विषय के सदृश विषय का यह प्रत्यभिज्ञान कैसे कर सकता है ? कैसे एक चित्त देखता है, और दूसरा स्मरण करता है ? यदि आत्म द्रव्यसत् नही है, तो कौन स्मरण करता है, और कौन वस्तुओ का प्रत्यभिज्ञान करता है ? प्रथम यही आत्मा अनुभव करता है, पश्चात् यही आत्मा स्मरण करता है ।

वसुवन्धु उत्तर देते है कि निश्चय ही हम यह नही कह सकते कि एक चित्त एक विषय को देखता है, और दूसरा चित्त उस विषय का स्मरण करता है, क्योकि यह दोनो चित्त एक ही सन्तान के है । हमारा कथन है कि एक अतीत चित्त विषय-विशेष को ग्रहण कर एक दूसरे चित्त, अर्थात् प्रत्युत्पन्न चित्त का उत्पाद करता है, जो इस विषय का स्मरण करता है । दूसरे शब्दो में स्मरण-चित्त, दर्शन-चित्त (अनुभव-चित्त) से उत्पन्न होता है, जैसे फल वीज से सन्तति-विपरिणाम की अन्तिम अवस्था के वल से उत्पन्न होता है। अन्त में स्मरण से ही प्रत्यभिज्ञान होता है ।

वसुवन्धु पुन कहते है कि कतिपय आचार्य कहते है कि भाव को भविता की अपेक्षा है; जैसे देवदत्त का गमन देवदत्तकी अपेक्षा करता है । गमन भाव है, देवदत्त भविता है । इसी प्रकार, विज्ञान और यत्किंचित् भाव एक आश्रय की, विज्ञाता की अपेक्षा करते हैं । वसुवन्धु इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं—वास्तव मे देवदत्त का गमन शरीर-सन्तान का देशान्तरो में उत्पाद-मात्र ही है। कोई सोत्पाद हेतु, अर्थात् सन्तान का पूर्व क्षण 'गमन' कहलाता है। जैसे हम कहते हैं कि ज्वाला जाती है, उसी प्रकार देवदत्त के गमन को कहते हैं कि देवदत्त जाता है । इसका अर्थ है। कि ज्वाला की सन्तान उत्पन्न होकर एक देश से दूसरे देश को जाती है। इसी प्रकार लोक मे कहते हैं कि देवदत्त जानता है (विजानाति) । क्योकि, यह समुदाय, जिसे देवदत्त कहते हैं, विज्ञान का हेतु है और लोक-व्यवहार का अनुवर्तन कर स्वय आर्य इस भाषा का प्रयोग करते हैं। प्रदीप का गमन यह है—अर्चिंक्षण की अव्युच्छिन्न सन्तान में जिसे विपर्यय-वश एक करके ग्रहण करते हैं, प्रदीप का उपचार होता है । जव इन समनन्तर क्षणो में से एक, पूर्व क्षण से अन्यत्र, देशान्तर में उत्पद्यमान होता है, तव कहा जाता है कि प्रदीप जाता है। किन्तु, अर्चि:सन्तान से पृथक् और अन्य कोई गन्ता नही है । जव एक चित्त-क्षण विषयान्तर मे उत्पद्यमान होता है, तव कहते हैं कि विज्ञान इस विषय को जानता है । यदि हम यह भी मान लें कि एक नित्य आत्मा और नित्य असचारी मन का सयोग होता है, तथापि आप विशिष्ट सयोग का होना, जो विशिष्ट चित्त के लिए आवश्यक है, कैसे सिद्ध कर सकते हैं ? क्या आप यह कहेंगे कि यह विशिष्टता वुद्ध-विशेष के कारण होती है, जो आत्मा का गुण है ? किन्तु वुद्धि में भी वही कठिनाई है, जो मन में है । जव आत्मा विशिष्य है, तव वुद्धि कैसे विशिष्ट होगी ? क्या आप कहेगे कि सस्कार-विशेष से आत्मा और मन का सयोग-विशेष होता है, और इस विशेष से वुद्धि-विशेष होता है ? इस पक्ष मे आत्मा निष्प्रयोजनीय हो जाता है । आप यह क्यो नही कहते कि सस्कार-विशेषापेक्ष चित्त से ही चित्त-विशेष होता है । चित्तोत्पाद में आत्मा का सामर्थ्य नही है, और यह कहना कि आत्मा से चित्त प्रवृत्त होते हैं, एक कुहक-

वैद्य के समान आचरण करना है, जो मन्त्रो से ओषधि को अभिमन्त्रित करता है। 'फट्! स्वाहा!' मन्त्रो का उच्चारण करता है, यद्यपि औषध मे रोग के उपशम का सामर्थ्य है।

साख्य का आक्षेप है कि यदि अपर विज्ञान पूर्वविज्ञान से उत्पन्न होता है, आत्मा से नही, तो अपर विज्ञान पूर्वविज्ञान के सदृश नित्य क्यो नही होता, जैसे अकुर-काण्ड-पत्रादि का होता है? पहले प्रश्न का उत्तर यह है, क्योकि जो हेतु-प्रत्यय-जनित (सस्कृत) है, उसका लक्षण 'अन्यथात्व' (स्थित्यन्यथात्व) है। 'सस्कृत' का ऐसा स्वभाव है कि उनकी सन्तान मे अपर पूर्व से भिन्न होगा। यदि इसके विपरीत होता, तो ध्यान-समाहित योगी का स्वय व्युत्थान नही होता। क्योकि, काय और चित्त की उत्पत्ति नित्य सदृश होती, और सन्तान के उत्तरोत्तर क्षण अनन्य होते। दूसरी कठिनाई के सम्बन्ध मे यह कहना है कि चित्तो के उत्पाद का क्रम भी नित्य है। यदि किसी चित्त को किसी दूसरे चित्त के अनन्तर उत्पन्न होना है, तो वह उस चित्त के अनन्तर उत्पन्न होगा। दूसरी ओर कुछ चित्तो मे आशिक सादृश्य होता है, जिसके कारण वह अपने गोत्र के विशेष-लक्षणवश एक दूसरे के अनन्तर उत्पन्न होते है। जिस चित्त का इन चित्तो में से जो गोत्र, अर्थात् बीज होगा, उसके अनुसार यह दूसरा चित्त होगा, अन्यथा जब सदृश गोत्र नही होगा, तब नही होगा। पुनश्च, विविध हेतुवश एक चित्त के अनन्तर विविध चित्त पर्याय से उत्पन्न हो सकते है। इन सब चित्तो में जो 'बहुतर' है, जो अतीत के प्रवाह मे रह चुके है, जो 'पटुतर' है, जो उत्पाद्य चित्त के 'आसन्नतर' है, वह पहले उत्पन्न होते है, क्योकि इन चित्तो से चित्त-सन्तान प्रबल रूप से वासित होती है।

वसुबन्धु पुन कहते है कि यदि आपका यही मत है कि आत्मा चित्तो का आश्रय है, तो हम आपसे उदाहरण देकर इस आश्रय-आश्रित सम्बन्ध का विवेचन करने के लिए कहते है। चित्त (जिसे सस्कार प्रभावित करते है) चित्र या बदर-फल नही है, जिसे आत्मा का आधार चाहिए, जैसे भित्ति चित्र का आधार है या भाजन बदर-फल का आधार है। वस्तुत, एक पक्ष मे (आत्मा और चित्त-सस्कार के बीच) प्रतिघातित्व स्वीकार करना पडेगा और दूसरे पक्ष मे चित्र और बदर-फल का, भित्ति और भाजन का पृथग्-देशत्व होगा। आप कहते है कि यथा पृथिवी, गन्ध, रूप, रस, स्प्रष्टव्य का आश्रय है, उसी प्रकार, आत्मा चित्त-सस्कार का आश्रय है। हम इस उदाहरण पर प्रसन्न है, क्योकि यह आत्मा के अभाव को सिद्ध करता है। यथा गन्धादि से अन्यत्र पृथिवी की उपलब्धि नही होती, जिसे लोक मे 'पृथिवी' कहते है, वह रूपादि का समुदाय-मात्र है। उसी प्रकार, चित्तसस्कारो से अन्य आत्मा नही है। पृथिवी गन्धादि से अन्य है, यह कौन निर्धारित कर सकता है? किन्तु, यदि गन्धादि से अन्य पृथ्वी है, तो यह व्यपदेश कैसे होता है कि यह गन्धादि पृथिवी के है। विशेषण के लिए पृथिवी का गन्ध, पृथिवी का रस ऐसा कहते है। दूसरो शब्दो मे—इससे यह सूचित किया जाता है कि अमुक गन्ध-रस आदि की पृथिवी आख्या है, यह वह गन्ध, रस आदि नही है, जिनकी 'अप्' आख्या है। यथा लोक में जब किसी वस्तु को काष्ठ-प्रतिमा का शरीर कहते है, तब इससे यह सूचित किया है कि यह वस्तु काष्ठ की है, मृण्मय नही है।

वसुबन्धु पूछते है कि यदि आत्मा सस्कार-विशेष की अपेक्षा कर चित्त का उत्पाद करता है,

तो यह सब चित्तों का युगपत् उत्पाद क्यों नहीं करता ? वैशेपिक उत्तर देते हैं—क्योंकि, बलिष्ठ संस्कार-विशेष अन्य दुर्बल संस्कार-विशेषों की फलोत्पत्ति में प्रतिबन्धक है, और यदि बलिष्ठ संस्कार नित्य फल नहीं देता, तो इसका कारण वही है, जो आपने चित्त में सन्तान में आहित वासना के विवेचन में दिया है। हमारा मत है कि संस्कार नित्य नहीं हैं और उनका अन्यथात्व होता है। वसुबन्धु कहते हैं कि उस अवस्था में आत्मा निरर्थक होगा, संस्कारों के बल-विशेष से चित्त-विशेष उत्पन्न होंगे, क्योंकि आपके संस्कार और हमारी वासना के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है। वैशेपिक कहता है कि स्मृति-संस्कारादि गुण-पदार्थ हैं, इन गुण-पदार्थों का आश्रय कोई-न-कोई द्रव्य होना चाहिए और पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में ऐसा आत्मा ही हो सकता है, क्योंकि यह अग्राह्य है कि स्मृति तथा अन्य चैतसिक गुणों का आश्रय चेतन आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा द्रव्य हो। किन्तु, द्रव्य-गुण का सिद्धान्त नहीं है। बौद्ध इससे सहमत नहीं हैं कि स्मृति-संस्कारादि गुण-पदार्थ हैं, द्रव्य नहीं हैं। उनका मत है कि यत्किंचित् विद्यमान है, वह सब 'द्रव्य' है। वैशेपिक पुनः कहते हैं कि यदि वास्तव में आत्मा का अस्तित्व नहीं है, तो कर्मफल क्या है ? बौद्ध कहते हैं कि पुद्गल के सुख-दुःख का अनुभव ही कर्मफल है। वैशेपिक पूछते हैं कि आप पुद्गल से क्या समझते हैं ? बौद्ध कहते हैं कि जब हम 'अहम्' कहते हैं, तब हमारा आशय 'पुद्गल' से होता है। यह 'अहम्' अहंकार का विषय है। वैशेपिक पूछते हैं कि फिर कर्म का कर्त्ता कौन है, फल का उपभोग करनेवाला कौन है ? और, उत्तर देते हैं कि कर्त्ता, उपभोक्ता आत्मा है। बौद्ध कहते हैं कि जिसे किसी कर्म का कर्त्ता कहते हैं, वह उसके सब कारणों में उस कर्म का प्रधान कारण है। कायकर्म की उत्पत्ति का प्रधान कारण वास्तव में क्या है ? स्मृतिकर्म के लिए छन्द काम करने की अभिलाषा उत्पन्न करती है, छन्द से वितर्क उत्पन्न होता है, वितर्क से प्रयत्न प्रवृत्त होता है, इससे वायु उत्पन्न होती है, वायु से कायकर्म होता है। इस प्रक्रिया में वैशेपिकों की आत्मा का क्या कारित्र है ? यह आत्मा कायकर्म का कर्त्ता निश्चय ही नहीं है। इसी प्रकार, वाचिक तथा मानसिक कर्म को भी समझना चाहिए।

यद्यपि वसुबन्धु आत्मा के वस्तु-सत् होने का प्रतिपेध करते हैं, तथापि बौद्धधर्म में प्रायः अनिश्चितता देखी जाती है। लोक की शाश्वतता के प्रश्न को ले लीजिए, इस प्रश्न के सम्बन्ध में भगवान् ने चार बातों का व्याकरण नहीं किया है। यदि प्रश्नकर्त्ता लोक से आत्मा का ग्रहण करता है, तो प्रश्न की चतुष्कोटि अयथार्थ हो जाती है, क्योंकि आत्मा का अस्तित्व परमार्थतः नहीं है। यदि वह लोक से संसार का ग्रहण करता है, तो भी चतुष्कोटि अयथार्थ है। यदि संसार नित्य है, तो मनुष्य निर्वाण की प्राप्ति नहीं कर सकता, यदि यह नित्य नहीं है, तो सब आकस्मिक निरोध से—प्रयत्न से नहीं, निर्वाण का लाभ करेंगे। यदि यह नित्य और अनित्य दोनों है, तो कुछ निर्वाण प्राप्त नहीं करेंगे और अन्य अकस्मात् प्राप्त करेंगे। यह कहना कि लोक संसार के अर्थ में न शाश्वत है, न अशाश्वत, यह कहने के बराबर है कि जीव निर्वाण की प्राप्ति नहीं करते हैं और करते भी हैं। यह विरोधोक्ति है। वस्तुतः, निर्वाण मार्ग द्वारा पाया जा सकता है। इसलिए, कोई निश्चित उत्तर स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अन्त में, वसुबन्धु परीक्षा करते हैं कि बीज से फल की उत्पत्ति कैसे होती है। लोक में कहते हैं कि फल बीज से उत्पन्न होता है, किन्तु इस उक्ति का यह अर्थ नहीं होता कि फल निरुद्ध-बीज से उत्पन्न होता है, या फल बीज के अनन्तर, अर्थात् विनश्यमान बीज से उत्पन्न होता है। वास्तव में, बीज-सन्तान के परिणाम के अतिप्रकृष्ट क्षण से फल की उत्पत्ति है। बीज उत्तरोत्तर अंकुर, काण्ड, पत्र का उत्पादन करता है, और अन्त में पुष्प का; जिससे फल का प्रादुर्भाव होता है। यदि कोई यह कहता है कि बीज से फल की उत्पत्ति है, तो इसका कारण यह है कि बीज (मध्यवर्त्तियों की) परम्परा से पुष्प में फलोत्पादन का सामर्थ्य आहित करता है। यदि बीज फलोत्पादान के सामर्थ्य का, जो पुष्प में पाया जाता है, पूर्वहेतु न होता, तो पुष्प बीज के सदृश फल उत्पन्न न करता। इसी प्रकार, कहा जाता है कि फल कर्म-जनित है, किन्तु यह विनष्ट कर्म से उत्पन्न नहीं होता, यह कर्म के अनन्तर उत्पन्न नहीं होता, यह कर्म-समुन्थित सन्तान के परिणाम के अतिप्रकृष्ट क्षण से उत्पन्न होता है। सन्तान से हमारा अभिप्राय रूपी और अरूपी स्कन्धों से है, जो अविच्छिन्न रुप से एक सन्तान में उत्तरोत्तर प्रवर्त्तमान होते है, और जिस मन्तान का पूर्व हेतु कर्म है। इस सन्तान के निरन्तर क्षण है, इसलिए सन्तान का परिणाम, अन्यथात्व होता है। इस परिणाम का अन्त्य क्षण एक विशेष या प्रकृष्ट सामर्थ्य रखता है। यह सामर्थ्य फल का तत्काल उत्पादन करता है। इस कारण यह क्षण अन्य क्षणों से विशिष्ट है। इसलिए, इसे 'विशेष', अर्थात् परिणाम का प्रकर्षपर्यन्त प्राप्त क्षण कहते हैं।

त्रयोदश अध्याय

कर्मवाद

जीवलोक और भाजनलोक (विश्व) की विचित्रता ईश्वर-कृत नही है । कोई ईश्वर नही है, जिसने बुद्धिपूर्वक इसकी रचना की हो । लोक-वैचित्र्य कर्मज है । यह सत्त्वो के कर्म से उत्पन्न होता है । कर्म दो प्रकार के है—चेतना और चेतयित्वा । चेतना मानस कर्म है । चेतना से जो उत्पन्न होता है, अर्थात् चेतयित्वा-कर्म चेतनाकृत है । चेतयित्वा-कर्म दो है—कायिक और वाचिक । इन तीन प्रकार के कर्मों की सिद्धि आश्रय, स्वभाव और समुत्थान इन तीन कारणो से होती है । यदि हम आश्रय का विचार करते है, तो एक ही कर्म ठहरता है, क्योकि सब कर्मकाय पर आश्रित है । यदि हम स्वभाव का विचार करते है, तो वाक्-कर्म ही एक कर्म है, अन्य दो का कर्मत्व नही है, क्योकि काय, वाक् और मन इन तीन में से केवल वाक् स्वभावत कर्म है । यदि हम समुत्थान का विचार करते है, तो केवल मनस् कर्म है, क्योकि सब कर्मो का समुत्थान (आरम्भ) मन से है ।

सब कर्म 'उपचित' (सञ्चितकर्म, क्रियमाणानि कर्माणि, आरब्धफलानि कर्माणि) नही होते, अर्थात् फल देना आरम्भ नही करते । 'कृत' कर्म और 'उपचित' कर्म में भेद है । 'उपचित' कर्म की व्याख्या अभिधर्मकोश (४।१२०) मे दी है । वही कर्म उपचित होता है, जो स्वेच्छा से या बुद्धिपूर्वक (सचिन्त्य) किया जाता है । अबुद्धिपूर्वक कर्म, बुद्धिपूर्वक सहसाकृत कर्म, या वह कर्म, जो भ्रान्तिवश किया जाता है, उपचित नही होता । भाष्याक्षेप से अभ्यासवश जो मृषावाद का अनुष्ठान होता है, वह अकुशल कर्म है, किन्तु वह उपचित नही होता । जो भ्रान्तिवश अपने पिता का वध करता है, वह उपचित कर्म नही करता । जो कर्म असमाप्त रहता है, वह उपचित नही होता । कोई एक दुश्चरित से दुर्गति को प्राप्त होता है, कोई दो से, कोई तीन से, कोई एक कर्मपथ से, कोई दो से, कोई दस से । यदि जिस प्रमाण से दुर्गति की प्राप्ति होती है, वह प्रमाण असमाप्त रहता है, तो 'कृत' कर्म 'उपचित' नही होता, समाप्त होने पर ही उपचित होता है । कर्म करने के उपरान्त यदि अनुताप होता है, तो कृत कर्म 'उपचित' नही होता । पाप के आविष्कृत करने से पाप की मात्रा का तनुत्व या परिक्षय होता है । पाप कर्म का प्रतिपक्ष होने से कृत कर्म 'उपचित' नही होता । पाप-विरति का व्रत लेने से, शुभ का अभ्यास करने से, आश्रय-बल से, अर्थात् बुद्धादि की शरण मे जाने से, पाप कर्म 'उपचित' नही होता ।

जब कर्म अशुभ है, और उसका अकुशल परिवार है, तभी कर्म 'उपचित' होता है । जो कर्म विपाक-दान मे नियत है, वह उपचित होता है, जो अनियत है, वह 'उपचित' नही

होना। वस्तुत , 'पृष्ठ' से ही कर्म की परिसमाप्ति होती है। कर्म की गुरुता प्रयोग मौलकर्म और पृष्ठ की गुरुता पर निर्भर करती है।

शुद्ध मानसिक कर्म

हम ऊपर कह चुके हैं कि कर्म दो प्रकार का है —चेतना और चेतयित्वा-कर्म। चेतना मानस कर्म है। कायिक-वाचिक कर्म के विना ही मानस कर्म अपने अभीष्ट की प्राप्ति कर सकता है। दण्डकारण्यादि की कथा है कि ऋषियो के मन प्रदोष से वह निर्जन हो गये, उनके कोप से दण्डकादि शून्य हो गये, और महाजन का व्यापाद हुआ। यह मानस कर्म की गुरुता को सिद्ध करता है। अत , भगवान् कहते हैं कि तीन दण्डो (कायदण्ड, वाग्दण्ड, मनोदण्ड, दण्ड=कर्म) मे मनोदण्ड महासावद्य है, और सर्व सावद्यो (पापो) में मिथ्यादृष्टि सर्व-पापिष्ठ है। ऋद्धिमान् श्रमण या ब्राह्मण की चेतना का वडा सामर्थ्य है।

मैत्री-भावना भी एक चेतना है या चेतना-सन्तति है। मैत्री-भावना में कोई प्रतिग्राहक नही है। परानुग्रह नही होता, तथापि मैत्री-चित्त के बल से ही उसके लिए पुण्य का उत्पाद होता है। मैत्री-चित्त मे रुचि का होना ही मानस-कर्म है।

इसी प्रकार, भगवद्देशना को श्रवण कर, कि सर्व दु ख है, मैं उसमें श्रद्धा उत्पन्न करता हूँ, मै उसमे अभिनिविष्ट होता हूँ। अन्त मे, मेरी इस देशना मे रुचि होती है, और मै इस दु ख-सत्य का साक्षात्कार करता हूँ। यह सब चेतनाख्य कर्म है।

काय-कर्म, वाक्-कर्म

ऋषियो की शुद्ध चेतना से ही फल होता है। किन्तु, सामान्यत फलप्राप्ति के लिए चेतन को काय और वाक् का समुत्थान करना होता है।

शत्रु के प्राणातिपात की चेतना और शत्रु का प्राणातिपात एक नही हैं। प्राणातिपात एक चेष्टा-विशेष है, काय-सन्निवेश-विशेष है, जिससे जीव के जीवन का अपहरण होता है। यदि मै शत्रु का वध करता हूँ, तो मै उसका अधिक अपकार करता हूँ, यदि मै केवल उसका उपघात करता हूँ, तो कम अपकार करता हूँ। मेरे द्वेष का भाव प्राणातिपात से दृढ और सबल होता है। मानसिक पूजा और भक्ति से मेरी चित्त-सन्तति वासित होती है। किन्तु, यदि मेरी भक्ति सक्रिय हो, तो मेरा पुण्य अधिक हो। जो अप्रतिष्ठित देश मे बुद्ध का शारीर स्तूप प्रतिष्ठित करता है, जो चातुर्दिश भिक्षु-सघ को आराम-विहार प्रदान करता है, जो भिन्न सघ का प्रतिसन्धान करता है, वह ब्राह्म पुण्य का प्रसव करता है। अत , काय-विज्ञप्ति और वाग्-विज्ञप्ति का सामर्थ्य चेतना से पृथक् है।

कर्म की परिपूर्णता, समाप्तता (परिपूरि)

चेतना क्षणिक है। किन्तु पौन पुन्येन अभ्यासवश कायवाग्विज्ञप्ति का समुत्थान करने से इसकी गुरुता होती हे। अन्य शब्दो में बहु-चेतना-वश कर्म की गुरुता होती है। अत , परिसमाप्त और असमाप्त कर्म मे विशेष करना चाहिए।

कर्म की परिपूर्णता के लिए निम्नाकित चार बातों की आवश्यकता है—

प्रयोग—अर्थात्, यह आशय कि मै इस-इस कर्म को करूँगा (यह शुद्ध चेतना है। सूत्र इसे चेतना-कर्म कहता है। यहाँ चेतना ही कर्म है)।

मौल प्रयोग—तदनन्तर, पूर्वक्त सकल्प के अनुसार कर्म करने की चेतना का उत्पाद होता है। काय के सचालन या वाग्ध्वनि के नि सरण के लिए यह चेतना होती है। इस चेतनावश वह प्रयोग करता है। यथा : एक पुरुष पशु के मारने की इच्छा से अपने शयन से उठता है, रजत लेता है, आपण को जाता है, पशु की परीक्षा करता है, पशु का क्रय करता है, उसे ले जाता है, घसीटता है, उसे अपने स्थान पर लाता है, उसके साथ दुर्व्यवहार करता है। वह शस्त्र लेकर पशु पर एक वार, दो वार प्रहार करता है। जवतक कि वह उसको मार नही डालता, तवतक वध (प्राणातिपात) का प्रयोग करता रहता है।

मौल कर्मपथ—जिस प्रहार में यह पशु का वध करता है, अर्थात् जिस क्षण में पशु मृत होता है, उस क्षण की जो विज्ञप्ति (काय-कर्म), और उस विज्ञप्ति के साथ उत्पन्न जो अविज्ञप्ति होती है, वह 'मौल कर्मपथ' है। विज्ञप्ति से सम्भूत शुभ-अशुभ रूप 'अविज्ञप्ति' है। सौत्रान्तिको का कहना है कि जब वध के लिए नियुक्त पुरुष वध करता है, तव यह मान्य है कि प्रयोक्ता की चित्त-सन्तति में एक सूक्ष्म परिणाम-विशेष होता है, जिसके प्रभाव से यह सन्तति भविष्य में फल की अभिनिष्पत्ति करती है। दो कारणो से वह प्राणातिपात के पाप से स्पृष्ट होता है—प्रयोगत और प्रयोग के फलपरिपूरित ।

पृष्ठ—वध से उत्पन्न अनन्तर के अविज्ञप्ति-क्षण 'पृष्ठ' होते है, विज्ञप्ति-क्षण की सन्तति भी 'पृष्ठ' होती है। यथा पशु के चर्म का अपनयन करना, उसे धोना, तौलना, वेचना, पकाना, खाना, अपना अनुकीर्त्तन करना।

'प्रयोग' पूर्वक्त सकल्प और उसके अनुसार कर्म करने की चेतना का उत्पाद है। यह स्वय दूसरो का अपकारक है। वधिक पशु का वध करने के पूर्व उसको पीडा पहुँचाता है। 'प्रयोग' प्राय गरिष्ठ अवद्य से परिपूर्ण होता है। यथा एक पुरुष काम-मिथ्याचार की दृष्टि से स्तेय (अदत्तादान) या वध करता है।

'पृष्ठ' मौल कर्मपथ का अनुवर्त्तन करता है। इसका महत्त्व है। यदि मै हत शत्रु के विरुद्ध भी द्वेष करूँ, तो मै द्वेषभाव की वृद्धि करता हूँ। जब 'पृष्ठ' का सर्वथा अभाव रहता है, तव मौल कर्म का स्वभाव वदलता है। यदि मै दान देकर पश्चात्ताप करूँ, तो मेरे दान के पुण्य-परिमाण में कमी होती है।

प्रयोग और मौलकर्म

प्राणातिपात कर्मपथ के लिए मृत्यु होना आवश्यक है। यदि मैं वध की इच्छा से किसी पशु का उपघात करता हूँ, किन्तु वह मृत नही होता, तो प्राणातिपात नहीं है। जिस प्रहार से तत्काल या पश्चात् मृत्यु होती है, वह प्रहार प्राणातिपात के प्रयोग मे सम्मिलित है। जिस क्षण मे पशु मृत होता है, उस क्षण की जो विज्ञप्ति और उस विज्ञप्ति के साथ उत्पन्न जो अविज्ञप्ति होता है, वह मौल कर्मपथ है। अत , यदि मैं इस प्रकार प्रहार करूँ, जिसमें

पशु की मृत्यु हो जाय, और यदि उसकी मृत्यु तत्काल न हो, और मैं उस पशु की मृत्यु के पहले ही मृत हो जाऊँ, तो मैं प्राणातिपात के प्रयोग से 'स्पृष्ट' होकर मृत होता हूँ, किन्तु प्राणातिपात के मौल कर्मपथ से 'स्पृष्ट' नहीं होता। क्योंकि, जिस क्षण मौल कर्म सम्पन्न होता है, उस क्षण मैं अन्य होता हूँ। मैं अब वह आश्रय नहीं हूँ, जिसने प्रयोग सम्पन्न किया है।

प्राणातिपात की आज्ञापन-विज्ञप्ति

प्राणातिपात की आज्ञा प्राणातिपात नहीं है। प्राणातिपात तभी है, जब आज्ञा का अनुसरण हो, और यह उसी क्षण में है, जिस क्षण मे आज्ञा के अनुसार कार्य होता है। एक भिक्षु दूसरे भिक्षु से अमुक का वध करने के लिए कहता है। वह अपराध करता है। दूसरा भिक्षु अमुक का वध करता है। उस समय दोनो भिक्षु एक गुरु पाप के दोषी होते है। इससे उनकी भिक्षुता नष्ट होती है। यदि द्वितीय भिक्षु को सज्ञा-विभ्रम होता है, और वह अन्य का वध करता है, तो उस अवस्था मे प्रथम का एक अपूर्व अपराध होता है, द्वितीय का गुरु पाप होता है। यदि द्वितीय भिक्षु दूसरे का वध यह जान कर करता है कि यह अन्य है, तो प्रथम का उत्तरदायित्व नही है।

पुण्य-क्षेत्र

उपकार और गुण के कारण क्षेत्र विशिष्ट होता है; यथा माता को दिया दान विशिष्ट होता है, यथा शीलवान् को दान देकर शतसहस्र विपाक होता है। सब दानो मे मुक्त का मुक्त को दिया दान श्रेष्ठ है। इस प्रकार, कर्मों की लघुता और गुरुता जानने के लिए क्षेत्र का भी विचार रखना होता है। पितृ-मातृवध आनन्तर्य कर्म है। आनन्तर्य का दोषी इस जन्म के अनन्तर ही नरक मे जन्म लेता है। यह 'आनन्तर्य' इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि इनका फल अनन्तर ही उत्पन्न होता है। किसी भिक्षु को दान देना पुण्य है पर, किसी अर्हत् को दिया गया दान महत्पुण्य का प्रसव करता है। अर्हत्-वध आनन्तर्य कर्म है।

गुण के कारण विशिष्ट आर्य पुण्य-अपुण्य के क्षेत्र हैं। इनके प्रति किया हुआ शुभ या अशुभ महत्पुण्य का प्रसव करता है।

यदि मैं यज्ञदत्त (जो आर्य नही है) का वध करने की इच्छा से आर्य देवदत्त की हत्या करता हूँ, तो मैं आर्य के वध का आपन्न नही हूँ, क्योंकि आश्रय के विषय मे सज्ञा-विभ्रम है। किन्तु, यदि मैं बुद्धिपूर्वक, विना भ्रम के आर्य देवदत्त का वध करूँ, तो मैं आर्य के प्राणातिपात का आपन्न हूँ, यद्यपि मुझको आर्यता का ज्ञान न हो।

यदि मैं एक भिक्षु को, जो वस्तुतः आर्य है, सामान्य भिक्षु समझकर दान दूँ, तो मैं अमित पुण्य का भागी हूँगा। इसके विपरीत जो भिक्षु अपने से छोटे भिक्षु का, जिसके अर्हत्-गुण की वह उपेक्षा करता है, पराभव करता है, वह पाँच सौ बार दास होकर जन्म लेता है।

इसीलिए आर्य अरणा-समाधि (कोश ३७।३६) का अभ्यास करते है जिसमे उसके दर्शन से किसी में क्लेश की उत्पत्ति न हो, जिसमें उनके लिए किसी में राग-द्वेष-मानादि उत्पन्न न हो।

वह जानते है कि वह अनुत्तर पुण्य-क्षेत्र हैं। उनको भय है कि कही दूसरे उनको देखकर उनके विषय में क्लेश न उत्पन्न करे (जो विशेष कर उनको हानि पहुँचावे)। उनकी अरणा-समाधि का यह सामर्थ्य है कि दूसरो मे क्लेश उत्पन्न नही होता।

अविज्ञप्ति-कर्म

ऊपर हम कह चुके हैं कि विज्ञप्ति से सम्भूत कुशल-अकुशल रूप 'अविज्ञप्ति' है। यहाँ हम अविज्ञप्ति की व्याख्या करेगे।

'विज्ञप्ति' वह है, जो काय द्वारा या वाक् द्वारा चित्त की अभिव्यक्ति को 'ज्ञापित' करती है। प्राणातिपात-विरति का समादान (ग्रहण) जिस वाक्य से होता है, वह वाग्विज्ञप्ति है। प्राणातिपात की आज्ञा, अर्थात् 'अमुक का वध करो' वाग्विज्ञप्ति है। काय का प्रत्येक कर्म काय-विज्ञप्ति है।

जो प्राणातिपात की आज्ञा देता है, वह विज्ञप्ति का आपन्न है। जिस क्षण में वधिक वध करता है, वह काय-विज्ञप्ति का आपन्न होता है। किन्तु, हम कह चुके है कि प्राणातिपात की आज्ञा देनेवाला उस क्षण मे वध नामक कायिक विज्ञप्ति का आपन्न होता है, जिस क्षण मे उसकी आज्ञा का अनुवर्त्तन कर वध होता है। उस क्षण मे वह किस प्रकार का कर्म करता है? उस समय वह अन्य कार्य मे व्यापृत होता है। कदाचित् वह अपनी आज्ञा को भी भूल गया है। वह उस समय पाप-चित्त से सम्प्रयुक्त नही है। अत, यह स्वीकार करना पडेगा कि वध के क्षण में आज्ञा देनेवाले में अविज्ञप्ति-कर्म की उत्पत्ति होती है। यह कर्म कुछ 'ज्ञापित' नही करता, तथापि यह विज्ञप्ति के समान वस्तुसत् है। यह अविज्ञप्ति कायिक अविज्ञप्ति कहलाती है। यद्यपि यह वाग्विज्ञप्ति (प्राणातिपात की आज्ञापन-विज्ञप्ति) से सम्भूत होती है, क्योंकि यह काय-विज्ञप्ति (वध-कर्म) के क्षण मे उत्पन्न होती है।

जिस सत्त्व ने प्रातिमोक्ष-संवर[1] का समादान किया है, वह नि सन्देह अन्य से भिन्न है। जिस भिक्षु ने प्राणातिपात-विरति का समादान किया है, वह उससे कही श्रेष्ठ है, जो सुअवसर न पाने के कारण प्राणातिपात से विरत है, किन्तु जो अवसर पाने पर वध करेगा। निद्रा की अवस्था में भी भिक्षु, भिक्षु ही रहता है। अत, हमको स्वीकार करना पडता है कि "मैं प्राणातिपात से विरत होता हूँ", यह वाग्विज्ञप्ति एक अविज्ञप्ति का उत्पाद करती है। यह विज्ञप्ति के सदृश दूसरे को कुछ विज्ञापित नहीं करती। इसका अनुबन्ध है। निद्रा में, असंज्ञिसमापत्ति और निरोध-समापत्ति में यहाँतक कि विक्षिप्त चित्त मे भी, इसकी वृद्धि होती रहती है। यह एक सेतु है, जो दौःशील्य का प्रति-

---

१ 'संवर' विरति को कहते हैं। संवर वह है, जो दौःशील्य-प्रबन्ध का संवरण करता है। प्रातिमोक्ष-संवर इस लोक के सत्त्वों के शील को कहते हैं। यह आठ प्रकार का है—भिक्षु भिक्षुणी, श्रामणेर, श्रामणेरिका, उपासक, उपासिका, शिक्षमाण और उपवसथ का संवर।

बन्धक है। इसी प्रकार जिसका व्यवसाय वध करना है, वह सदा प्राणातिपात का अविज्ञप्ति-कर्म करता रहता है।

भिक्षु की अविज्ञप्ति 'सवर' है, वधिक की अविज्ञप्ति 'असवर' है। व्रत-समादान से 'सवर' का ग्रहण होता है। प्राणातिपात की जीविका होने से असवर का ग्रहण होता है। अथवा यदि कोई 'असवरस्थ' के कुल मे जन्म लेता है, या यदि प्रथम वार पापकर्म करता है, तब असवर का ग्रहण होता है। इसके लिए कोई विधिपूर्वक असवर का ग्रहण नही करता। सदा पाप-क्रिया के अभिप्राय से कर्म करने से असवर का लाभ होता है।

क्या कोई विना कायिक या वाचिक कर्म के, विना किसी प्रकार का विज्ञापन किये, मृषावादावद्य से स्पृष्ट हो सकता है? हाँ, भिक्षु भिक्षु-पोषध (उपवास) मे तूष्णीभाव से मृषावादी होता है। वस्तुत, भिक्षु-पोषध में विनयधर प्रश्न करता है—"क्या आप परिशुद्ध है?" यदि भिक्षु की कोई आपत्ति (दोष) है, और वह उसे आविष्कृत नही करता, और तूष्णीभाव से अधिवासना (अनुमोदन) करता है, तो वह मृषावादी होता है। किन्तु, भिक्षु काय-वाक् से पराक्रम (आक्रमण, मारण) नही करता, इसलिए विज्ञप्ति नही है, और कायावचरी अविज्ञप्ति वहाँ नही हो सकती, जहाँ विज्ञप्ति का अभाव है। इसका समाधान होना चाहिए।

सघभद्र समाधान करते है। वह कहते है कि अपरिशुद्ध भिक्षुसघ मे प्रवेश करता है, बैठता है, अपना ईर्यापथ कल्पित करता है। यह उसकी पूर्वविज्ञप्ति है। यह कायिक विज्ञप्ति मृषावाद की वाक्-अविज्ञप्ति का उत्पाद उस क्षण मे करती है, जिस क्षण मे वह उस स्थान पर खडा होता है।

केवल चेतना (आशय) और कर्म ही सकल कर्म नही है। कर्म के परिणाम का भी विचार करना होगा। इससे एक अपूर्व कर्म, एक अविज्ञप्ति होती है।

अत, दान का पुण्य दो प्रकार का है—वह पुण्य, जो त्यागमात्र से ही प्रसूत होता है (त्यागान्वय-पुण्य), और वह पुण्य, जो प्रतिग्रहीता द्वारा दानवस्तु के परिभोग से सम्भूत होता है (परिभोगान्वय-पुण्य)। एक सत्त्व भिक्षु को दान देता है। चाहे वह भिक्षु उस दान-वस्तु का परिभोग न करे, चाहे वह दिये अन्न को न खाये, तथापि सत्त्व का त्याग जो विज्ञप्ति है, पुण्य का प्रसव करता है। चैत्य को दिया दान त्यागान्वय-पुण्य है। इसी प्रकार, मैत्री ब्रह्मविहार मे किसी की प्रीति नही होती, और न किसी पर अनुग्रह होता है, तथापि मैत्री-चित्त के बल से त्यागान्वय-पुण्य प्रसूत होता है। किन्तु, यदि भिक्षु दान-वस्तु का परिभोग करता है, और उससे उपकृत हो उसमे समापत्ति मे प्रवेश करने की शक्ति उत्पन्न होती है, तो इनसे एक अविज्ञप्ति का उत्पाद होता है, जिसका पुण्य दानकृत अनुग्रह की मात्रा के अनुसार होता है।

दैव और पुरातन कर्म

कर्म चेतना तथा चेतनाकृत शरीर-चेष्टा और वाग्ध्वनि है। इससे कर्म-स्वातन्त्र्य का स्वभाव प्रकट होता है। कर्म मानस, कायिक और वाचिक है। कर्म के यह प्राचीन भेद है, यह भी यही सिद्ध करते है।

किन्तु, सब इस स्वातन्त्र्य को नही मानते। ईश्वरवादी यह कहते हैं कि ईश्वर सत्त्वो के कर्मों का विधायक हे। नियतिवादी कहते है कि दैव जीव को कर्म में नियोजित करता है, जैसे वह सुख-दु ख का देनेवाला है। दैव क्या है ? या तो यह यदृच्छा है, अर्थात हमारे कर्म अकारण होते है, या यह पुरातन कर्म है 'दैव पुरातन कर्म' (बोधिचर्यावतार, ८।८१)। इस जन्म के हमारे कर्म पूर्वजन्म-कृत कर्मों के फल हैं।

किन्तु यदि हम स्वतन्त्र नही हैं, तो हम पाप-क्रिया नही कर सकते और यदि यदृच्छावश, ईश्वरेच्छावश, पुरातन कर्मवश हमारे कर्म होते है, तो हम स्वतन्त्र नही है। जातकमाला (२३) मे निम्न पाँच वादो का निराकरण है। सब अहेतुक हैं, सब ईश्वराधीन हैं, सब पुरातन कर्म के आयत्त है, पुनर्जन्म नही है, वर्ण-धर्म का सबको पालन करना चाहिए।

किन्तु, अपने प्रतिवेशी के स्वातन्त्र्य मे विश्वास नही करना चाहिए। अंगुत्तर (३।८६) के अनुसार "जब एक भिक्षु किसी सब्रह्मचारी को अपने प्रति अपराध करते देखता है, तब वह विचारता है कि यह 'आयुष्मान्' जो मेरा आक्रोश करता है, पुरातन कर्म का दायाद है।"

बुद्धि और चेतना

हमने कहा है कि कर्म मुख्यत चेतना है। सर्वास्तिवादियो के अनुसार छन्द (=कर्त्तु-काम्यता या अनागत की प्रार्थना), मनसिकार (चित्त का आभोग, आलम्बन मे चित्त का आवर्जन, अवधारण) और अधिमोक्ष (आलम्बन का गुणावधारण) चेतना के सहभू है। इनमें व्यायाम, निश्चय और अध्यवसाय जोडिए। इनमे वितर्क जोडिए, जो छन्द के अनन्तर उत्पन्न होता है और जो कभी चेतना का प्रकार-विशेष है, और कभी प्रज्ञा का प्रकार-विशेष है।

सर्वास्तिवादियो के अनुसार चेतना एक चैत्त है, अर्थात् चित्त-महगत धर्म है। किन्तु, पचेन्द्रियविज्ञान (चक्षुर्विज्ञान कायविज्ञान) मे चेतना अत्यधिक दुर्बल होती है, और मनोविज्ञान मे पटु होती है। मनोविज्ञान, आलम्बन और आलम्बन का नाम, दोनो जानता है। यह मनोविज्ञान है, जो चक्षुर्विज्ञान से अभिसस्कृत हो वर्णों की ओर प्रवृत्त होता है, और इन्द्रियविज्ञान से पृथक् स्मृति-विषय की ओर प्रवृत्त होता है। यह चेतना है। यह सर्वचित्तगत है।

किन्तु, सब मनोविज्ञान चेतना नही है। जिस चेतना को भगवान् 'मानस कर्म' कहते हैं, वह विशेप प्रकार का मनोविज्ञान है। यह एक मनसिकार है, जो चित्त और कर्म का अभिसस्कार करता है। चेतना चित्त को आकार-विशेप प्रदान

करती है, और प्रतिसन्धि-(= उपपत्ति) विशेष के योग्य बनाती है। क्लेश का विपाक तभी होता है, जब यह चेतना का समुत्थापक होता है। चेतना कर्म का अभिसस्कार करती है। इसी के कारण शरीर-चेष्टा शुभ या अशुभ होती है। जब प्राणातिपात चेतना, सचेतना या अभिसचेतना से उत्पादित होता है, तब इसका विपाक नरकोपपत्ति होती है। बुद्धिपूर्वक होने से ही कर्म अभिसस्कृत होता है। यदि कोई यह समझकर कि वह धान्य दे रहा है, सुवर्ण देता है, तो सुवर्ण का दान तो हुआ, किन्तु यह सुवर्ण-दान के कर्म मे अभिसस्कृत नही होता, क्योकि सुवर्ण-दान की चेतना का अभाव है।

प्रत्येक कर्म के लिए एक मनसिकार चाहिए। एक इष्ट विषय दृष्टिगोचर होता है। मै वीतराग नही हूँ। रागानुशय का समुदाचार होता है। मै उस वस्तु के लिए प्रार्थना करता हूँ। यदि मै सहसा विना विचार किये उसको ग्रहण करता हूँ, तो यह कर्म नही है, क्योकि कोई चेतना नही है। आलम्बन मे मेरे चित्त का आवर्जन होता है। मै उपनिध्यान करता हूँ। यह दो प्रकार के है—१ योनिशो मनसिकार, २ अयोनिशो मनसिकार।

योनिशो मनसिकार—अनित्य को अनित्य, अनात्म को अनात्म, अशुभ को अशुभ, इस सत्यानुलोमिक नय से चित्त का समन्वाहार, आवर्जन 'योनिशो मनसिकार' है (योनि=पथ)।

अयोनिशो मनसिकार—अनित्य को नित्य इत्यादि से चित्त का उत्पथ आवर्जन है। पहले इष्ट विषय के यथार्थ स्वभाव का सन्तीरण (सम्यक् विचार-विमर्श) होता है। तदनन्तर जो कर्म होता है, वह कुशल है। दूसरे पक्ष मे मनसिकार उत्पथ है, कर्म भी अकुशल है।

कुशल-अकुशल मूल

कुशल (शुभ)-कर्म क्षेम है, क्योकि इसका इष्ट-विपाक है, इसलिए यह एक काल के लिए दु ख से परित्राण करता है (कुशल सास्रव)। अथवा यह निर्वाण-प्रापक है, और इसलिए दु ख से अत्यन्त परित्राण करता है (अनास्रव कुशल)। अकुशल (अशुभ)-कर्म अक्षेम है, इनका अनिष्ट विपाक है।

लौकिक शुभ कर्म का पुण्य-विपाक होता है। उसका विपाक सुख, अभ्युदय और सुगति है।

लोकोत्तर कर्म अनास्रव है। अत, यह पुण्य-अपुण्य से रहित है, अर्थात् अविपाक है। यह हित, परम पुरुषार्थ, अर्थात् दु ख की अत्यन्त निवृत्ति का उत्पाद करता है। यह निर्वाण परम शुभ है, क्योकि यह रोग के अभाव के समान सर्वथा शान्त है।

अत, जिसका दु ख-विपाक है, वह अकुशल है, जिसका सुख-विपाक है, या जिसका विपाक नि श्रेयस् है (स्वर्ग, ध्यान-लोक, निर्वाण), वह कुशल है। सम्यक् दृष्टि, जो निर्वाण-प्रापक है, शुभ है, यह निर्वाण का आवाहन करती है, क्योकि यह सत्य है। वैराग्य जो ध्यानोपपत्ति का उत्पाद करता है, शुभ है, क्योकि जिन वस्तुओ मे योगी विरक्त होता है, वह औदा-

रिक (=स्थूल), पृथग्जनोचित और दु खपूर्ण हैं। पुण्य-कर्म, जो स्वर्ग का उत्पाद करता है, इसलिए शुभ नही हैं कि वह स्वर्ग का उत्पाद करता है, किन्तु इसलिए कि वह धर्मता के (धर्मों की अनादिकालिक शक्ति) यथार्थ ज्ञान की अपेक्षा करता है, क्योकि यह द्वेष तथा परस्वहरण की इच्छा से रहित है। पुन दु ख का उत्पाद कहना अकुशल कर्म का स्वभाव ही है।

कुशल मूल आत्मत कुशल हैं, इनसे सम्प्रयुक्त चेतना और चित्त सम्प्रयोगत कुशल हैं। आत्मत कुशल या सम्प्रयोगत कुशल धर्मों से जिनका समुत्थान होता है, ऐसे काय-कर्म, वाक्-कर्मादि उत्थानत कुशल हैं। लोभ, द्वेष, मोह अकुशल मूल हैं।

मोह, विपर्यास, मिथ्याज्ञान, दृष्टि है। अमोह इसका विपर्यय है। यह सम्यक् दृष्टि, विद्या, ज्ञान, प्रज्ञा है। अलोभ लोभ का अभाव नही है, अद्वेष द्वेष का अभाव नही है, यथा अमित्र 'शत्रु' को कहते हैं, अनृत 'असत्य' को कहते हैं। इसी प्रकार, अलोभ लोभ का प्रतिपक्ष है, अद्वेष द्वेष का प्रतिपक्ष है, इसी प्रकार अविद्या विद्या का प्रतिपक्ष है, विद्या का अभाव नही है।

मूलत्रय का सम्बन्ध—लोभ और द्वेष का हेतु मोह है। हम राग-द्वेष केवल इसलिए करते है कि इष्ट-अनिष्ट के स्वभाव के विषय में हमारा विपर्यास है। किन्तु, पर्याय से राग-द्वेष भी मोह के हेतु हैं। जो पुद्गल राग-द्वेषवश पाप-कर्म करता है, उसका विश्वास होता है कि पुनर्जन्म में पाप का दु खविपाक नही होता। मोह से कर्म का आरम्भ नही होता, किन्तु जो पुद्गल पाप-कर्म के विपाक में प्रतिपन्न नही है, वह राग या द्वेषवश अवद्य करेगा।

मूलों का समुच्छेद—सब पुद्गल पुद्गल-भाव के कारण कुशल-अकुशल के भव्य हैं, क्योकि उनमें कुशल-अकुशल मूल की प्राप्ति है। यह बात नही है कि इन सब मूलो का सदा समुदाचार होता रहता है, किन्तु बाह्य प्रत्ययवश (यथा इष्ट या अनिष्ट वस्तु का दर्शन) इनका समुदाचार नित्य हो सकता है। हम उन पुद्गलो का वर्जन करते हैं, जिनके कुशल-अकुश मूल का समुच्छेद हुआ है।

कतिपय कर्म या लौकिक ध्यान से योगी अकुशल मूलो का तात्कालिक समुच्छेद करता है। निर्वाण-मार्ग से वह इनका आत्यन्तिक समुच्छेद करता है।

मिथ्यादृष्टिवश कुशल मूल का समुच्छेद होता है, किन्तु समुच्छिन्न कुशल मूल का पुनरुत्पाद हो सकता है। इसलिए, कुशल अकुशल से बलवत्तर है।

द्वेष-अद्वेष—द्वेष सदा अकुशल है। द्वेष-कर्मों का विपाक दु खमय होता है। द्वेष तथा ईर्ष्या, क्रोध और तज्जनित सर्वक्लेश, प्राणातिपात, उपघात, पारुष्य, पैशुन्य का मूल है। अत, इससे पर का विघात, दु ख होता है। अवद्य वह है, जो, दूसरे का अपकारक है।

द्वेष अकुशल है, क्योकि यह उसका अपकारक है, जो द्वेष करता है। यह चित्त का दूषक है। द्वेष दोष है। जो द्वेष या ईर्ष्या करता है, वह स्वय दु खी होता है। वह स्वभावत.

दौर्मनस्य से सम्प्रयुक्त है, अत द्वेष उस समय भी अकुशल है जब वह परापकार नही करता। क्रोध सत्त्व (जीव), असत्त्व के विरुद्ध आघात (चित्त-प्रकोप) है।

अद्वेष प्राणातिपातादि से विरति है, यह क्षान्ति है। इसके अन्तर्गत दान, सूनृता वाक्, लोक-सग्रह के कार्य, सघ-सामग्री (सघ को समग्र रखना, उसमें भेद न होने देना) मैत्री-भावनादि (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, यह चार ब्रह्मविहार) हैं। सामान्य आर्यों की मैत्री अद्वेष है। बुद्ध की मैत्री लोकोत्तर प्रज्ञा है और अमोह-स्वभाव है।

लोभ-अलोभ—लोभ अकुशल मूल है। अलोभ, निर्वेद, विराग, कुशल मूल है।

लोभ वह छन्द है, जो दूसरे के दु ख का हेतु होता है। अभिध्या, अदत्तादान और काममिथ्याचार लोभज हैं। ईर्ष्या, पैशुन्य, प्राणातिपात और द्वेष-हेतुक सर्व अवद्य अप्रत्यक्ष रूप से लोभ से प्रवृत्त होते हैं।

अत , लोभ राग से अन्य है। राग तभी अकुशल होता है, और दु ख-विपाक का उत्पाद करता है, जब वह सावद्य होता है। या तो वह दूसरे का अपकार करता है, यथा परस्त्रीगमन, मासाहार के लिए पशुवध, या अपना ही अपकार करता है, यथा मद्यपान करनेवाला, जो शिक्षापदो (अदत्तादानादि) की रक्षा नही करता, अथवा वह ह्री के नियमो का भग (अपनी स्त्री के साथ, अयोनिमार्ग से, अयुक्त स्थान मे, अकाल मे सम्भोग) करता है। वस्तुत , यदि सब अकुशल कर्म ऐहिक सुख के निमित्त किया जाता है, तो इसका विपर्यय ठीक नही है। कुछ कामसुख उचित हैं। इनका परिभोग ह्री और अपत्राप्य की हानि के विना हो सकता है। आत्मगौरव को देखकर, जो लज्जा होती है, वह ह्री है, और परगर्हा के भय से जो लज्जा होती है, वह अपत्राप्य है।

यदि कतिपय कामावचर काम-सुख मे राग मना नही है, तो अनागत जन्म के सुख मे, स्वर्ग के सुख मे, अनुरक्त होना और भी मना नही है। यह राग शुभ है, क्योकि यह पुण्यकर्म का हेतु है। किन्तु, यह काम-राग है इसलिए यह समाधि, ध्यान तथा सत्य-दर्शन द्वारा निर्वाण-मार्ग के प्रवेश मे प्रतिवन्ध है।

समापत्ति-राग और ध्यान-लोकोपपत्ति-सुख मे राग कामसुख नही है, किन्तु भवराग हैं। दो ऊर्ध्व धातुओ के प्रति जो राग होता है, उसके लिए ही भवराग सज्ञा है। इसे भवराग इसलिए कहते है, क्योकि इसकी अन्तर्मुखी वृत्ति है, और इस सज्ञा की व्यावृत्ति के लिए भी कि यह दो धातु मोक्ष है, इसे भवराग कहते है। यह राग शुभ है। इसे लोभ नही कहना चाहिए, यद्यपि यह तृष्णा है। यह कुशल-धर्मच्छन्द है, क्योकि कामसुख से यह विरक्त है।

अलोभ, विराग, आत्यन्तिक रूप से सदा कुशलमूल है। यह कामसुख समापत्ति तथा निर्वाण-मार्ग से भी वीतराग होता है।

निर्वाण का प्रतिलाभ लोभ के निरोध से होता है। निर्वाण की इच्छा करना क्या लोभ नही है ? आगम कहता है, निर्वाण-मार्ग का भी प्रहाण करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जो वैराग्य निर्वाण का आवाहन करता है, उसमे राग नही होना चाहिए।

मार्ग कोलोपम (कोल = रैफ्ट, तमेड) है। उसका अवश्य त्याग होना चहिए, किन्तु निर्वाण का त्याग नही होना चाहिए। वस्तुत , निर्वाण की इच्छा अन्य इच्छाओ से भिन्न है। इसे 'लोभ या तृष्णा' नही कहना चाहिए। अन्य इच्छाएँ स्वार्थपर होती हैं। उनमे ममत्व होता है। निर्वाण की इच्छा ऐसी नही है। न यह भव-तृष्णा है, न विभव-तृष्णा, क्योकि यद्यपि निर्वाण वस्तुमत् है, तथापि परिनिर्वृत (जिसका परिनिर्वाण हो गया है) के लिए यह नही कहा जा मकता कि उमका अस्तित्व नही है। निर्वाण अनिमित्त है। यह वस्तु निरभिलाप्य, अनिर्वचनीय स्वभाव है।

मोह और सम्यग् दृष्टि—तृतीय अकुशलमूल मोह है। अमोह, सम्यग् दृष्टि, धर्म-प्रविचय, प्रज्ञा का यह प्रतिपक्ष है। मोह और अज्ञान मे विशेप करना चाहिए। मोह क्लिष्ट अज्ञान है। यह द्वेप और राग का हेतु है, किन्तु अज्ञान अक्लिष्ट हो मकता है; यथा आर्यो का अज्ञान। केवल वुद्ध ने ही अक्लिष्ट अज्ञान का मर्वथा अत्यन्त विनाश किया है, अन्य बुद्ध धर्मो को, अतिविप्रकृष्ट देश और काल के अर्थो को तथा अर्थो के अनेक प्रभेदो को नही जानते। आर्य वस्तुओ के मामान्य लक्षणो (उनकी अनित्यता आदि) को जानते है। इसी अर्थ मे वुद्ध ने कहा है कि—"मै कहता हूँ कि यदि एक धर्म का भी अभिममय (सम्यग् ज्ञान) न हो, तो निर्वाण का प्रतिलाभ नही हो सकता।" किन्तु, वहुत कम वस्तुओ के स्वलक्षण का उनको ज्ञान होता है। कुछ तीर्थिको का मत है कि वुद्ध की सर्वज्ञता का केवल इतना अर्थ है कि यह सर्वज्ञता मोक्षविषयक ही है।

मर्वमोह क्लिष्ट है, किन्तु मर्वमोह अकुशल, पापदृष्टि नही है। मोह अकुशल है, जव उमका स्वभाव अपुण्य कर्म का उत्पाद करना है।

इसी प्रकार, सम्यग् दृष्टि, जो मोह का प्रतिपक्ष है, कई प्रकार की है। सामान्य जन की सम्यग् दृष्टि आशिक होती है। वे प्रधानत. पुनर्जन्म और कर्म-विपाक में विश्वास करते हैं। विविध आर्यो को अधिक या कम मत्य-दर्शन की प्राप्ति होती है। लौकिक दृष्टि के चार प्रकार है। उनके अनुरूप सम्यग् दृष्टि के भी चार प्रकार है।

अकुशल मोह जो अपाय-गति (नरक, प्रेत, तिर्यक् और असुर का उत्पाद करता) है, वह इम प्रकार है—१. मिथ्यादृष्टि, २ शीलव्रतपरामर्श।

एक मोह है, जो अकुशल नही है—आत्मप्रतिपत्ति।

अकुशल मोह मे सवसे प्रथम स्थान मिथ्यादृष्टि का है। सव दृष्टियाँ जो मिथ्याप्रवृत्त हैं, मिथ्यादृष्टि है, किन्तु मिथ्यादृष्टि को ही यह सज्ञा प्राप्त है, क्योकि यह सवकी अपेक्षा अधिक मिथ्या है, यथा अत्यन्त दुर्गन्ध को 'दुर्गन्ध' कहते हैं। यह नास्ति-दृष्टि है, यह अप-

वादिका दृष्टि है, जो दु खादि सत्य वस्तुसत् का अपवाद करती है। अन्य दृष्टियाँ समारोपिका हैं। बौद्ध उसको नास्तिक कहते हैं, जो कहते हैं कि "न दान है, न इष्टि, न हुत, न शुभ कर्म, न अशुभ कर्म, न माता, न पिता, न इहलोक है, न परलोक है, औपपादुक सत्त्व (जिसकी उत्पत्ति रज-वीर्य से नही होती) नही है, अर्हत् नही है।" किन्तु, अपवादो मे सबसे बुरा हेतु-फल का अपवाद है। 'न कुशल-कर्म है, न अकुशल-कर्म है।' यह हेतु का अपवाद है। 'कुशल-कर्म का विपाक-फल नही है।' यह फल का अपवाद है। मिथ्यादृष्टि अकुशल क्यो है ? वस्तुत , अकुशल वह है, जो नरक-यातना का उत्पाद करता है, जो परापकार करता है। कारण यह है कि जो पुद्गल पाप के फल में विश्वास नही करता, वह सर्व अवद्य के करने को प्रस्तुत रहता है। उसकी ह्री और अपत्राप्य की हानि होती है।

मिथ्यादृष्टि कुशलमूल का समुच्छेद करती है। अधिमात्राधिमात्र कुशलमूल-प्रकार मृदु-मृदु मिथ्यादृष्टि से समुच्छिन्न होता है। और इसी प्रकार, मृदु-मृदु कुशलमूल-प्रकार अधि-मात्राधिमात्र मिथ्यादृष्टि से समुच्छिन्न होता है। कुशलमूलो का अस्तित्व तबतक रहता है, जबतक उसका समुच्छेद नही होता। नारकीय सत्त्व जन्म से पूर्वजन्म की स्मृति रखते है। पश्चात् वह दु.ख-वेदना से अभ्याहत होते हैं। अत , उनमे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की बुद्धि नही होती। उनकी मिथ्यादृष्टि भी नही होती, जो कुशलमूल का समुच्छेद करती है, क्योकि आपायिको (दुर्गति को प्राप्त होनेवालो) की प्रज्ञा चाहे क्लिष्ट हो या अक्लिष्ट, दृढ नही होती। कुछ का ऐसा मत है कि स्त्रियाँ भी मूलच्छेद नही करती, क्योकि उनके छन्द और प्रयोग मन्द होते है। पुरुषो मे केवल दृष्टिचरित छेद करता है, तृष्णाचरित नही, क्योकि दृष्टिचरित का आशय, पाप, गूढ और दृढ होता है, और तृष्णाचरित का आशय चल है। इसी प्रकार, षण्डादि कुशलमूल का समुच्छेद नही करते, क्योकि वह तृष्णाचरित पक्ष के है, क्योकि उनकी प्रज्ञा आपायिको के तुल्य दृढ नही होती। देव भी समुच्छेद नही करते, क्योकि उनको कर्मफल का प्रत्यक्ष होता है। अचिरोपपन्न देवपुत्र विचारता है कि "मैं कहाँ से च्युत हुआ ? कहाँ उत्पन्न हुआ हूँ और किस कर्म से ?" वह मिथ्यादृष्टि मे पतित नही होता, जिसने कुशलमूल का समुच्छेद किया है, वह कुशल के अभव्य हैं। वह द्वेष और अकुशल छन्द मे अभिनिविष्ट होता है। किन्तु, उसमे इस विचिकित्सा या विमति का उत्पाद होता है कि कदाचित् अवद्य है, कदाचित् कर्म का विपाक है, अथवा उसको यह निश्चय होता है कि अवद्य है और हेतु-फल अवश्य होते है, तब कुशलमूल प्रतिसंहित होते है।

किन्तु, जिस आनन्तर्यकारी ने कुशलमूल का समुच्छेद किया है, वह दृष्टधर्म (इस जन्म) मे कुशलमूल का ग्रहण करने के लिए अभव्य है। किन्तु, वह नरक से च्यवमान हो, या नरक मे उपपद्यमान हो, अवश्य ही उससे पुन समन्वागत होगा। दो प्रकार है : १ जिसने स्वत. मिथ्यादृष्टि का सन्मुखीभाव किया है, २ जिसने अयथार्थ शास्ता का अनु-सरणमात्र किया है।

शीलव्रत-परामर्श

अहेतु में हेतुदृष्टि, अमार्ग में मार्गदृष्टि, शीलव्रत-परामर्श है। अर्थात्, महेश्वर, प्रजापति या किसी अन्य को, जो लोक का हेतु नही है, लोक का हेतु मानना, अग्नि-प्रवेश या जलप्रवेश इन आत्महत्या के अनुष्ठानो के फल को स्वर्गोपपत्ति मानना, शीलव्रतमात्रक को जो मोक्षमार्ग नही है, मोक्षमार्ग अवधारित करना, तथा योगी और साख्यो के ज्ञान को, जो मोक्षमार्ग नही है, मोक्षमार्ग मानना एवमादि। जो दृष्टि शीलव्रतमात्रक में बहुमान प्रदर्शित करती है, वह दृष्टि शीलव्रत-परामर्श कहलाती है।

यह दृष्टि दूसरे का अपकार करती है, यथा पशुयज्ञ मे; अपना अपकार करती है, यथा गोशील,श्वानशील के समादान के कष्ट, आत्महत्या का कष्ट। किन्तु, इसका सबसे अधिक दोष यह है कि यह स्वर्ग और निर्वाण के द्वार को पिनद्ध करती है, क्योकि यह अमार्ग को मार्ग अवधारित करती है।

यह समझना कि प्रार्थना और तीर्थयात्रा से पुत्रलाभ होता है, मूर्खता है। यदि प्रार्थना पर्याप्त होती, तो प्रत्येक के चक्रवर्त्ती राजा के तुल्य सहस्र पुत्र होते। तीन हेतु हो, तो गर्भाव-क्रान्ति होती है, माता नीरोग और ऋतुमती हो, माता-पिता मैथुन-धर्म करे और गन्धर्व प्रत्युपस्थित हो।

यह समझना कि मृतक-सस्कार, स्तोत्र-पाठ और मन्त्र-जप से मृत को स्वर्ग का लाभ होता है, घोर मूर्खता है।

स्नान से पाप का अपकर्षण नही होता। यदि जल से पाप-क्षालन होता, तो मकरो की स्वर्ग में उत्पत्ति होती (थेरगाथा, २३९)। "जल से शुद्धि नही होती। वही शुद्ध, यथार्थ ब्राह्मण है, जो सत्यवादी है" (उदान, १।९)। किसी ने बुद्ध से पूछा—क्या आप बाहुका नदी मे स्नान करते हैं? बुद्ध—बाहुका में स्नान करने से क्या होगा? प्रश्नकर्त्ता—यह पुण्य और मोक्ष की देनेवाली नदी है, बहुजन उसमें स्नान करके अपने पापो का प्रक्षालन करते है। किन्तु बुद्ध कहते है कि पवित्र नदियो मे स्नान करने से किल्विष करनेवाला मनुष्य शुद्ध नही होता। जो शुद्ध है, उसका उपोसथ है, उसका व्रत सदा सम्पन्न होता है। हे ब्राह्मण! गया जाकर क्या होगा? तुम्हारे लिए कूप ही गया है। यही स्नान करो। सर्वभूतो का क्षेम करो। मृषावाद न करो, प्राणी की हिंसा न करो, श्रद्धायुक्त और मात्सर्य-रहित हो (मज्झिम, १।३९)।

मोक्ष और विशुद्धि के उपाय हैं—जिनका प्रयोग श्रमण और प्रव्रजित करते हैं। अन्य तीर्थिक, बाह्यक, गोशील, श्वानशील आदि का समादान करते है। वह तृण चरते है, विष्ठा खाते है इत्यादि। अन्य अगच्छेद, जलाग्नि-प्रवेश पर्वत-निपात, अनशन-मरण आदि कष्टप्रद अनुष्ठान करते है। इनसे स्वर्गोपपत्ति या मोक्ष का लाभ नहीं होता। इनसे नारक दुःख ही

होता है। सघाटि के धारणमात्र से श्रमण नही होता, अचेलकमात्र से श्रमण नही होता (मज्झिमनिकाय, १।२८१)।

किन्तु, शुभ मगल, व्रत, अनुष्ठान का कुछ उपयोग है। कतिपय विद्याओ से ऋद्धि का प्रतिलाभ होता है। इनसे परचित्त का ज्ञान होता है, ऋद्धिप्रातिहार्य होता है, अभिज्ञाओ की सिद्धि होती है, किन्तु यह अकुशल है। बुद्ध ने कुछ अनुष्ठानो को गर्हित बताया है, यथा अचेलक रहना, श्वानशील का समादान करना। यदि शीलव्रत को मोक्ष का साधन समझे, तो सब प्रकार के शीलव्रत निन्द्य है, किन्तु चित्त-सशोधन के लिए तथा निर्वाण के लिए कई अनुष्ठान आवश्यक है। वह भिक्षु प्रशसा का पात्र है, जो कहता है कि—"मै इस पर्यक-आसन को भिन्न नही करूँगा, जबतक मै आस्रवो से चित्त को विमुक्त न कर लूँगा" (मज्झिम-निकाय, १।२१९)। बौद्धधर्म मे जलप्रवेश, अग्निप्रवेश, अनशन-मरण मना है।

हम यहाँ अनेक मिथ्यादृष्टियो को गिनाते है, जो शीलव्रत-परामर्श और दृष्टि-परामर्श के अन्तर्गत हैं। वसुबन्धु विभाषा के अनुसार मोहज प्राणातिपात, अदत्तादानादि का उल्लेख करते हैं यथा पशुयज्ञ को एक धार्मिक अनुष्ठान समझकर पशुवध करना, यथा धर्मपाठको के अधिकार से राजा दुष्टो के स्व का अपहरण करता है, यथा बहुत-से लोग विश्वास करते है कि सर्प-वृश्चिकादि के वध की आज्ञा है; क्योकि यह पशु-अपकारक है। वह समझते है कि आहार के लिए वन्य-पशु गो-वृषभ, पक्षी और महिष को मारने मे पाप नही है। कुछ जातियो मे यह विश्वास है कि वृद्ध और व्याधित माता-पिता के वध से पाप नही होता, किन्तु पुण्य होता है, क्योकि मरण से उनको अभिनव और तीक्ष्ण इन्द्रियो का लाभ होगा। ब्राह्मण यज्ञ के लिए पशु का वध करते हैं, और विश्वास करते हैं कि पशु की स्वर्ग मे उपपत्ति होती है। उनके धर्मपाठक कहते है कि दुष्टो को दण्ड देना राजा का मुख्य पुण्य-कर्म है। यह स्तेय और मृषावाद को युक्त सिद्ध करते है। वह कहते है कि—"उपहास मे, स्त्रियो से, विवाह मे, भय मे, मृषावाद अवद्य नही।" यह सब अज्ञानवश पापाचरण करते है। अत, शील के लिए तत्त्वज्ञान की आवश्यकता है।

तो क्या वह पाप का भागी नही होता, जो यह न जानकर कि वह पाप कर रहा है, पापकर्म करता है? नही। माता-पिता का वध, चाहे पुण्य-बुद्धि से किया जाय या द्वेषादि से, पाप है। वसुबन्धु राजा, धर्मपाठक, सैनिक, डाकू, सबको एक ही श्रेणी मे रखते है।

ऐसा मोह मिथ्यादृष्टि है, जो 'अकुशल' नही है। सत्कायदृष्टि और शाश्वत दृष्टि शुभ कर्म में हेतु हो सकते है। मै शुभ कर्म करता हूँ, क्योकि मै फल की आशा करता हूँ। मै दूसरे पर करुणा करता हूँ, क्योकि उसकी आत्मा भी मेरे समान दु ख भोगती है। लौकिक करुणा के अभ्यास के बिना यथार्थ करुणा का उत्पाद नही होता। प्रथम लौकिक करुणा की साधना होनी चाहिए। इसमे दु खी 'आत्मा' का अवधारण होता है। पश्चात् दु खी सत्त्व से पृथक् दु ख का अवधारण होता है। बुद्ध और आर्य लौकिक चित्त का प्रत्याख्यान नही करते।

किन्तु, आत्माभिनिवेश सर्व अकुशल मे हेतु है। "जो आत्मा में प्रतिपन्न है, वह उसमें अभिनिविष्ट होता है। आत्मा में अभिनिविष्ट कामसुख के लिए सतृष्ण होता है, तृष्णावश वह सुख-सम्प्रयुक्त दु ख को नही देखता।" "जबतक मन अहकार-सहित होता है, तबतक जन्म-प्रबन्ध शान्त नही होता। जबतक आत्मदृष्टि होती है, तबतक हृदय से अहकार नही जाता। हे बुद्ध! आपके अतिरिक्त दूसरा नैरात्म्यवादी नही है। अत, आपके मत को छोडकर मोक्षमार्ग नही है" (बोधिचर्यावतार, पृ० २३०)।

आत्मा नित्य है, ध्रुव है, वस्तुसत् है, इस दृष्टि का परित्याग करना चाहिए, किन्तु प्रज्ञप्ति-सत् आत्मा का प्रतिषेध उच्छेद-दृष्टि है, अर्थात् जो चित्त-सन्तति कर्म का उत्पाद करती है, और कर्मफल का परिभोग करती है, उस प्रज्ञप्ति-सत् आत्मा का प्रतिषेध नही करना चाहिए।

कर्मफल

सत्त्व सचेतन है, असत्त्व अचेतन है। एक ओर नित्य चित्त-सन्तान है, जो कभी शुद्ध चित्त-चैत्त होता है (आरूप्य धातु) और कभी जिसका रूपी आश्रय होता है, दूसरी ओर विविध रूप, अर्थात् महाभूत और भौतिक रूप हैं, यथा पर्वत, देवविमानादि। एक ओर सत्त्वलोक है, दूसरी ओर भाजन-लोक। सत्त्वो के उपभोग के लिए रूप है। रूप चित्त-सन्तान को सेन्द्रिय शरीर (आश्रय), विज्ञान-विषय, वेदना-विषय, आहार और निवास-स्थान प्रदान करता है। रूपी सत्त्वो की चित्त-सन्तति का निश्रय रूप है, और इस प्रकार इनकी प्रवृत्ति होती है। रूप का ऐसा उपयोग है, वह सत्त्वो के लिए ही है।

जैसी मनुष्य की चेतना, चित्त और कर्म होते है, वैसा वह होता है। सत्त्वो की अवस्था मे जो वैचित्र्य पाया जाता है वह सत्त्वो की गति का कर्मज है। प्रत्येक के कर्म के अतिरिक्त, कोई दूसरा प्रमुख कारण नही है।

सर्वास्तिवादी पुन कहते है कि लोक-वैचित्र्य भी सत्त्वो के कर्म से उत्पन्न होता है। कर्म-फल पञ्चविध है। इनमें अधिपति-फल कारण-हेतु से निर्वृत फल है। कारण-हेतु से अधिपति का प्रादुर्भाव होता है। सब धर्म स्वत. से अन्य सबके कारण-हेतु हैं। कोई धर्म अपना कारण-हेतु नही है। इस अपवाद के साथ सब धर्म, सब सस्कृत धर्मो के कारण-हेतु हैं, क्योकि उत्पत्ति-मान् धर्मो के उत्पाद के प्रति प्रत्येक धर्म का अविघ्न-भाव मे अवस्थान होता है। सत्त्वो के कर्म का प्रभाव भाजन-लोक पर पडता है। सत्त्वो के पाप से औषध, भूमि आदि बाह्यभाव अल्पवीर्य होते हैं, ऋतु-परिणाम विषम होते हैं, यह शिलावृष्टि, धूलिवृष्टि या क्षीरवृष्टि से अभिभूत होते हैं। यह अधिपति–फल है।

दूसरी ओर विपाक-फल और निष्यन्द-फल है। विपाक एक अव्याकृत धर्म है, अर्थात् कुशल और अकुशल से इसका व्याकरण नही होता। यह सत्त्वाख्य है। यह व्याकृत से उत्तर काल मे उत्पन्न होता है। विपाक अकुशल या कुशल सास्रव धर्मो से उत्पादित होता है। हेतु कुशल या अकुशल है, किन्तु फल सदा अव्याकृत है। क्योकि, यह फल स्वहेतु से

भिन्न है, और 'पाक' है। इसलिए इसे 'विपाक' (= विसदृश पाक) कहते हैं। पर्वत-नदी आदि असत्त्वाख्य धर्मों को विपाक-फल नही मानते, यद्यपि वह कुशल-अकुशल कर्मों से उत्पन्न होते हैं। असत्त्वाख्य धर्म स्वभाववश सामान्य हैं। सब लोग उनका परिभोग कर सकते हैं। किन्तु, विपाक-फल स्वभावत स्वकीय है। जिस कर्म की निष्पत्ति मैंने की है, उसके विपाक-फल का भोग दूसरा नही कर सकता। विपाक-फल के अतिरिक्त कर्म अधिपति-फल का उत्पाद करता है। सब इस फल का समान परिभोग करते हैं, क्योकि कर्म-समुदाय इसकी अभिनिर्वृति में सहयोग करता है। अत., भाजन-लोक सत्त्व-समुदाय के कुशल-अकुशल कर्मों से जनित होता है। यह अव्याकृत है, किन्तु यह विपाक नही है, क्योकि विपाक एक सत्त्व-सख्यात धर्म है। अत , यह कारणहेतु-भूत कर्मों का अधिपति-फल है। हेतु-सदृश फल निष्यन्द कहलाता है। सभाग हेतु और सर्वत्रग हेतु यह हेतुद्वय निष्यन्द-फल प्रदान करते हैं, क्योकि इन दो हेतुओ का फल स्वहेतु के सदृश है, यथा कुशलोत्पन्न कुशल और अकुशलोत्पन्न अकुशल।

अधिपति-फल और लोकधातु

कर्म के अधिपति-फल से लोकधातु की सृष्टि और स्थिति होती है। लोकधातु सत्त्वो के लिए बाह्यभाव प्रदान करता है।

लोकधातु अनन्त हैं। किसी की सवर्त्तनी (विनाश) होती है, तो किसी की निवर्त्तनी (उत्पत्ति) होती है। किसी की अन्य स्थिति होती है।

एक महाकल्प मे ८० अन्त कल्प होते। इनमे विवर्त्त, विवृत्त स्थिति, सवृत्त की स्थिति और सवर्त्त का समप्रमाण है। एक बार विवृत्त होने पर यह लोक २० अन्तरकल्प तक अवस्थान करता है। लोक-सवर्त्तनी के अनन्तर दीर्घकाल तक लोक विनष्ट रहता है, २० अन्तर-कल्प तक विनष्ट रहता है। जहाँ पहले लोक था, वहाँ अब आकाश है। जब आक्षेपक कर्मवश अनागत भाजन-लोक के प्रथम निमित्त प्रादुर्भूत होते है, जब आकाश मे मन्द-मन्द वायु का स्पन्दन होता है, उस समय से २० अन्तरकल्प की परिसमाप्ति कहनी चाहिए। जिसमे लोक सवृत्त था और उसे २० अन्तरकल्प का आरम्भ करना चाहिए, जिस काल मे लोक की विवर्त्तमान अवस्था होती है। वायु की वृद्धि होती जाती है और अन्त मे उसका वायुमण्डल बन जाता है। पश्चात् इस क्रम और विधान से भाजन की उत्पत्ति होती है—वायुमण्डल, अब्मण्डल, काचनमयी पृथिवी, सुमेरु आदि। विवर्त्त कल्प का प्रथम अन्तरकल्प भाजन, ब्राह्म विमानादि की निर्वृति मे अतिक्रान्त होता है। इस कल्प के अवशिष्ट १९ अन्तरकल्पो मे नरक-सत्त्व के प्रादुर्भाव तक मनुष्यो की आयु अपरिमित होती है, जब विवर्त्तन की परिसमाप्ति होती है, तब उनकी आयु का ह्रास होने लगता है, यहाँतक कि १० वर्ष से अधिक आयु का सत्त्व नही होता। जिस काल मे यह ह्रास होता है, वह विवृत्त अवस्था का पहला अन्तरकल्प है।

पश्चात् १८ अन्तरकल्प उत्कर्ष और अपकर्ष के होते हैं। १० वर्ष की आयु से वृद्धि होते-होते ८०,००० वर्ष की आयु होती है। पश्चात् आयु का ह्रास होता है, और यह घटकर १० वर्ष की हो जाती है। जिस काल मे यह उत्कर्ष और अपकर्ष होता है, वह दूसरा अन्तर-कल्प है। इस कल्प के अनन्तर ऐसे १७ अन्य कल्प होते हैं। बीसवाँ अन्तरकल्प केवल उत्कर्ष का है। मनुष्यो की आयु की वृद्धि १० वर्ष से ८०,००० वर्ष तक होती है। १८ कल्पो के उत्कर्ष और अपकर्ष के लिए जो काल चाहिए, वह प्रथम कल्प के अपकर्ष-काल और अन्त्य कल्प के उत्कर्ष-काल के बराबर है। इस प्रकार, लोक २० कल्प तक निर्वृत रहता है। भाजन-लोक की निर्वृति एक अन्तरकल्प मे होती है। यह उन्नीस में व्याप्त होता है, यह उन्नीस मे शून्य होता है, यह एक अन्तरकल्प मे विनष्ट होता है, जब आयु १० वर्ष की होती है, तब अन्तरकल्प का निर्याण होता है। तब शस्त्र, रोग और दुर्भिक्ष से जो यथाक्रम सात दिन, सात मास और सात वर्ष अवस्थान करते है, कल्प का निर्याण होता है।

कल्प के अन्त में तीन ईतियाँ होती हैं। कल्प के निर्याण-काल मे देव नही बरसता। इससे तीन दुर्भिक्ष—चञ्चु, श्वेतास्थि, शलाकावृत्ति होते है। चंचु कोप का दुर्भिक्ष है, श्वेतास्थि, श्वेत अस्थियो का दुर्भिक्ष है, शलाकावत्ति वह दुर्भिक्ष है, जिसमें जीवन-यापन शलाका पर होता है। इसमे गृह के प्राणी शलाका की सूचना के अनुसार भोजन करते हैं, आज गृहपति की पारी है; कल गृहपत्नी की पारी है। अब सवर्त्तनी का समय उपस्थित होता है। सत्त्व अधर-भाजनो से अन्तर्हित होते हैं, और किसी ध्यानलोक मे सन्निपतित होते हैं। अग्नि-सवर्त्तनी सप्त सूर्यों से, जल-सवर्त्तनी वर्षावश और वायु-सवर्त्तनी वायुधातु के क्षोभ से होती है। इन सवर्त्तनियो का यह प्रभाव होता है कि विनष्ट भाजन का एक भी परमाणु अवशिष्ट नही रहता। चतुर्थ ध्यान अनिंजित (स्पन्दन-हीन) है। इससे उसमें सवर्त्तनी नही है। द्वितीय ध्यान अग्नि-सवर्त्तनी की सीमा है। इसके नीचे जो कुछ है, वह सब दग्ध हो जाता है। तृतीय ध्यान जल-सवर्त्तनी की सीमा है। इसके जो अध है, वह सब विलीन हो जाता है। चतुर्थ ध्यान वायु-सवर्त्तनी की सीमा है। इसके जो अध है, वह सब विकीर्ण हो जाता है।

मनुष्य-जन्म मे जो कर्म-बल से आक्षिप्त होता है, सदा अकुशल कर्मों का विपाक होता रहता है, जो दु खावेदना आदि के जनक हैं। यह अकुशल कर्म मूल मे दो प्रकार के होते है—१ यह गुरु हैं, जिन्होने पूर्व अपाय-जन्म—नारक, तिर्यक्, प्रेत—का उत्पादन किया है, और जो अब अवशिष्ट बल का क्षय मनुष्य-जन्म का परिपूरक हो करते है। २ यह लघु है, जो जन्म के आक्षेपक नही हो सकते, और जिनका सारा बल परिपूरक है। यदि कोई पुद्गल निर्धन है, तो इसका यह कारण है कि उसने कोई शुभ कर्म किया है, जिसके सामर्थ्य से वह मनुष्य-जन्म ग्रहण करता है, किन्तु उसने अदत्तादान का अवद्य किया है, जिसका विपाक पूर्व नरक में हुआ और अब उसका दण्ड दारिद्रय के रूप में मिला है। अथवा इसका कारण यह है कि मनुष्य-जन्म में जो अन्यथा शुभ है, उसने दान नही दिया है।

विपाक-फल

कर्म नियत या अनियत है। जिसका प्रतिसवेदन आवश्यक नही है, वह अनियत है। नियत कर्म तीन प्रकार का है—

१. **दृष्टधर्म-वेदनीय**—अर्थात्, इसी जन्म में वेदनीय।

२. **उपपद्य-वेदनीय**—अर्थात्, उपपन्न होकर वेदनीय, जिसका प्रतिसवेदन समनन्तर जन्म में होगा।

३. **अपरपर्याय-वेदनीय**—अर्थात्, देर से वेदनीय।

अनियत कर्म को सगृहीत कर विपाक की अवस्था की दृष्टि से चार प्रकार होते है। एक मत के अनुसार कर्म पाँच प्रकार का है। ये अनियत कर्मो को दो प्रकारो में विभक्त करते हैं—

क नियत विपाक—वह, जिसका विपाक-काल अनियत है, किन्तु जिसका विपाक नियत है।

ख अनियत विपाक—वह, जिसका विपाक अनियत है, जो विपच्यमान नही हो सकता।

दृष्टधर्म-वेदनीय कर्म—वह कर्म है, जो उसी जन्म में विपच्यमान होता है, या विपाक-फल देता है, जहाँ यह सम्पन्न हुआ है। यह दुर्बल कर्म है। यह जन्म का आक्षेप नही करता। यह परिपूरक है। यह स्पष्ट है कि जो पाप दृष्टधर्म-वेदनीय है, वह उस पाप की अपेक्षा लघु है, जिसका विपाक नरक में होना है।

सौत्रान्तिको का कहना है कि यह स्वीकार नही किया जा सकता कि एक बलिष्ठ कर्म का विपाक दुर्बल हो। इसलिए, दृष्टधर्म-वेदनीय कर्म के विपाक का अनुवन्ध अन्य जन्मो मे हो सकता है, किन्तु क्योकि इस विपाक का आरम्भ इस दृष्ट जन्म मे होता है, इसलिए इस कर्म का 'दृष्टधर्म-वेदनीय' यह नाम व्यवस्थित करते है।

वैभाषिक इस दृष्टि को नही स्वीकार करते। वह कहते हैं कि एक कर्म वे है, जिनका सन्निकृष्ट फल होता है। दूसरे वे है, जिनका विप्रकृष्ट फल होता है। नियत-विपाक कर्म के विपाक का स्वभाव बदल सकता है। सन्निकृष्ट जन्म मे नरक मे वेदनीय अमुक कर्म दृष्टधर्म मे विपाक देगा।

किन लक्षणो के कारण एक कर्म दृष्टधर्म-वेदनीय होता है?

क्षेत्र-विशेष और आशय-विशेष के कारण कर्म दृष्टधर्म मे फल देता है। क्षेत्र के उत्कर्ष से यद्यपि आशय दुर्बल हो, यथा वह भिक्षु, जिसका पुरुप-व्यजन अन्तर्हित होता है, और स्त्री-व्यजन प्रादुर्भूत होता है, क्योकि उसने सघ का अनादर यह कहकर किया कि—'तुम स्त्री हो।' आशय-विशेष से, यथा वह पण्ढ, जिसने वृषभो को अपुंस्त्व के भय से प्रतिमोक्षित किया और अपना पुरुषेन्द्रिय फिर प्राप्त किया।

यदि किसी भूमि से किसी का अत्यन्त वैराग्य होता है, तो यह उस भूमि मे पुन उत्पन्न नही हो सकता। इसलिए इस भूमि में, किन्तु दूसरे जन्म मे, विपच्यमान कर्म अपने स्वभाव को बदलता है, और दृष्टधर्म मे विपच्यमान होता है, चाहे वह कुशल हो या अकुशल।

जो कर्म विपाक मे नियत है, किन्तु जो विपाक की अवस्था (काल) मे अनियत है, वह कर्म दृष्टधर्म-वेदनीय होता है। जो कर्म विपाक की अवस्था मे नियत है, उसका उसी

अवस्थान्तर मे विपाक होता है। अवस्थान्तर की जिस भूमि में उसके कर्म का नियत विपाक है, उस भूमि से उस पुद्गल का अत्यन्त वैराग्य असम्भव है। जो कर्म अनियत-विपाक है, वह विपाक नही देगा, यदि पुद्गल का उस भूमि से वैराग्य है, जहाँ वह विपच्यमान होगा।

निरोध, मैत्री, अरणा, समाधि, सत्यदर्शन, अर्हत्फल से व्युत्थित पुद्गल के प्रति किया गया उपकार और अपकार सहसा फल देता है।

उपपद्य-वेदनीय कर्म—वह कर्म है, जिसका प्रतिसवेदन समनन्तर जन्म में होगा। यह आनन्तर्य-कर्म है। कोई कर्म, कोई अनुताप, इनके समनन्तर विपाक में आवरण नही है। गुरुता के क्रम से यह इस प्रकार है—मातृवध, अर्हत्-वध, सघभेद, दुष्टचित्त से तथागत का लोहितोत्पाद।

आनन्तर्य सभाग (उपानन्तर्य) सावद्य से भी पुद्गल नरक में अवश्यमेव उत्पन्न होता है। माता का दूषण, अर्हन्ती का दूषण, नियतिस्थ बोधिसत्त्व का मारण, शैक्ष का मारण, सघ के आयद्वार का हरण, स्तूपभेदन, यह पाँच आनन्तर्य सभाग सावद्य है।

अपरपर्याय-वेदनीय कर्म—वह कर्म है, जो तृतीय जन्म के ऊर्ध्व अपर जन्म मे विपच्यमान होता है।

अनियत-विपाक कर्म—कुछ कर्मों के विपाक का उल्लघन हो सकता है।

कुछ आचार्यों के अनुसार कर्म अष्टविध है—१ दृष्टधर्म-वेदनीय और नियत विपाक-कर्म, २ दृष्टधर्म-वेदनीय और अनियत विपाक-कर्म, ३ उपपद्य-वेदनीय और नियत विपाक-कर्म, ४ उपपद्य-वेदनीय और अनियत विपाक-कर्म, ५ अपरपर्याय-वेदनीय और नियत विपाक-कर्म, ६ अपरपर्याय-वेदनीय और अनियत विपाक-कर्म, ७ अनियत या अनियत वेदनीय, किन्तु नियत विपाक-कर्म, ८ अनियत वेदनीय और अनियत विपाक-कर्म।

किस कर्म का विपाक प्रथम होता है?

उपपद्य-वेदनीय कर्म का विपाक-काल नियत है। किन्तु, सब लोक आनन्तर्य कर्म नही करते। अपरपर्याय-वेदनीय प्रकार के बहुकर्मो का समुदाचार हो सकता है। प्रश्न है कि वह कौन कर्म है, जो मृत व्यक्ति के समनन्तर जन्म का अवधारण करता है।

समनन्तर जन्म का निश्चय म्रियमाण के चैतसिक धर्मों के अनुसार होता है। मरण-चित्त उपपत्ति-चित्त का आसन्न हेतु है। मज्झिम (३।९९) मे है कि मरणकाल मे पुद्गल जिस लोक की उपपत्ति में चित्त को अधिष्ठित करता है, जिसकी भावना करता है, उसके वह सस्कार इस प्रकार भावित हो उस लोक मे उपपत्ति देते है। किन्तु, म्रियमाण अपने अन्त्य चित्त का स्वामी नही होता। यह चित्त उस कर्म से अभिसस्कृत होता है, जिसका विपाक समनन्तर जन्म में होता है। यदि किसी पापकर्म का विपाक अपाय-गति में होता है, तो उसका मरण-चित्त नारक होगा।

विविध कर्मो के विपाक का यह क्रम है—१० गुरु, २० आसन्न, ३० अभ्यस्त। जब मरण-चित्त स-उपादान होता है, तब उसमे नवीन भाव के उत्पादन का सामर्थ्य

होता है। इस चित्त के पूर्ववर्ती सब प्रकार के अनेक कर्म होते हैं, तथापि वह गुरु कर्म से आहित सामर्थ्य है, जो अन्तिम चित्त को विशिष्ट करता है। गुरु कर्म के अभाव में आसन्न कर्म से आहित सामर्थ्य, उसके अभाव मे अभ्यस्त कर्म से आहित सामर्थ्य, उसके अभाव में पूर्वजन्म-कृत कर्म से आहित सामर्थ्य, अन्तिम चित्त को विशिष्ट करता है। राहुल का एक श्लोक यहाँ उदाहृत करते है—गुरु, आसन्न, अभ्यस्त, पूर्वकृत—यह चार इस सन्तान में विपच्यमान होते हैं। इसीलिए, बौद्धो मे मरण-काल मे विविध अनुष्ठान करते है, और उपदेश आदि देते हैं। वस्तुत, जैसा बुद्ध ने कहा है—कर्म-विपाक दुर्ज्ञेय है।

निष्यन्द-फल

हेतु-सदृश धर्म निष्यन्द-फल है। कोई धर्म शाश्वत नही है। वर्ण केवल वर्ण-क्षण का सन्तान है, विज्ञान केवल चित्तसन्तति है। प्रत्येक धर्म के अस्तित्व का प्रत्येक क्षण जो पूर्व-क्षण के सदृश या कुछ तुल्य है, इस क्षण का निष्यन्द है। इस प्रकार, स्मृति का व्याख्यान करते हैं—चित्त-सन्तति मे आहित एक भाव अपना पुनरुत्पादन करता है। प्राय एक कुशल-चित्त एक दूसरे कुशल-चित्त का निष्यन्द-फल होता है। यह साथ-ही-साथ कुशल मानसिक कर्म का पुरुषकार-फल भी है।

सूत्र में उक्त है—अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि, भावित, सेवित, बहुलीकृत होने से नारक, तिर्यक्, प्रेत-उपपत्ति का उत्पाद करते है। (यह अभिध्या-कर्म व्यापाद-कर्म और उस मानस-कर्म के, जिससे तीर्थिक मिथ्यादृष्टि मे अभिनिविष्ट होता है, विपाक-फल है)। यदि लोभी, हिंसक और मिथ्यादृष्टि-चरित पुद्गल पूर्व-शुभकर्म के विपाक के लिए अपर पर्याय मे मनुष्य जन्म प्राप्त करता है, तो वह सतृष्ण, दुष्ट और मूढ होगा। लोभ°, द्वेष°, मोहचरित पुद्गल लोभ, द्वेष, मिथ्यादृष्टि का निष्यन्द-फल है।

वस्तुत, यह कहना दुष्कर है कि कर्म का निष्यन्द-फल होता है। कर्म कर्म का उत्पाद नही करता। कोई कर्म ऐसे फल का उत्पाद नही करता, जो उसके सर्वथा सदृश हो। अभिध्या एक अवद्य है, चित्त का एक अकुशल कर्म है, जो स्वीकृत होता है। यह कर्म नही है, तथापि मनोदुश्चरित है। दार्ष्टान्तिक (एक प्रकार के सौत्रान्तिक) इसे मनस्कर्म मानते है, किन्तु वैभाषिक कहते हैं कि इस पक्ष में क्लेश और कर्म का ऐक्य होगा। दुश्चरित होने से परस्व के स्वीकरण की विषम स्पृहा नारकादि विपाक प्रदान करती है। अभिध्या, व्यापाद और मिथ्या-दृष्टि सामान्यत काय-वाक्-कर्म के समुत्थापक हैं। अभिध्या के स्वीकृत होने से वह अपने बल की वृद्धि करती है, और चित्त-सन्तान मे दृढ स्थान का लाभ करती है। इससे जब यह वाक्-काय-कर्म मे व्यक्त होती है, तब चित्त-सन्तान को वासित करती है। अत, अभिध्या का निष्यन्द-फल अभिध्या है, अभिध्याचरितत्व है।

इसी प्रकार, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि को समझना चाहिए।

सर्वक्लेश—राग-द्वेष और मिथ्यादृष्टि—के दो आकार होते हैं। कदाचित् यह सुप्ता-वस्था मे होता है। तब इसका प्रचार सूक्ष्म और दुर्विज्ञेय है। यह क्लेश के समुदाचार के पूर्व

की अवस्था है। तव इसकी 'अनुशय' आख्या होती है। अनुशय अणु होते ह, यह छिद्रान्वेषी शत्रु के सदृश प्रतिष्ठा-लाभ करते हैं। राग, प्रतिघ आदि अनुशय हैं। कदाचित् क्लेश पर्यवस्थित होता है अर्थात् सत्त्व क्लेश से परेत होता है। यह क्लेश का दूसरा आकार है। यह क्लेश की तीव्रावस्था है। क्लेशानुशय पर्यवस्थितक्लेश का निष्यन्द-फल है; पर्यवस्थान की अवस्था में जो क्लेशानुशय तथा वाह्य विषय इष्ट विषय-राग के पर्यवस्थान का समुत्थान करता है, और अयोनिशोमनसिकार की अपेक्षा करता है। विपाक-फल विपाक के वल को क्षीण करता है, किन्तु निष्यन्द-फल का स्वभाव ऐसा है कि इसका स्वत अन्त नही होता। अकुशल चित्तो के निष्यन्द-फल का समुच्छेद आर्य-मार्ग की भावना और स्रोतापत्ति-फल के प्रतिलाभ से होता है। कुशल चित्तो के निष्यन्द-फल का निरोध केवल निर्वाण में होता है।

प्रत्येक सत्त्व, जो यत्किंचित् गति में उत्पन्न होता है (प्रतिसन्धि, उपपत्ति), जन्म-क्षण में स्वभूमि के अनुकूल सर्वक्लेश से—राग, द्वेप, मोह से—क्लिष्ट होता है, इसका कारण यह है कि अपने पूर्वजन्म के अन्तकाल मे उसका चित्त इन क्लेशो से क्लिष्ट था।

जो कामधातु मे उत्पन्न होता है, उसका चित्त द्वेप, गन्ध-रस के लोभ और मैथुन-राग से समन्वागत होता है। इसी कारण इस चित्त का निश्चय वह सेन्द्रिय शरीर होता है, जो इन विविध तृष्णाओ और द्वेप-समुत्थित दु ख का वहन कर सकता है। किन्तु, कुशलमूल से सम-न्वागत होने के कारण वह स्वभूमिक क्लेश का नाश कर सकता है। मान लीजिए कि एक भिक्षु है, जो मरण-काल मे द्वेप और सर्व प्रकार के औदारिक राग से मुक्त है। ऐसा भिक्षु केवल ऐसे ही धातु में उत्पन्न हो सकता है, जहाँ घ्राणेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय का अभाव है। यदि इस भिक्षु का राग प्रथम ध्यान के सुख में है, तो मरण-काल में उसका चित्त इन सुखो से क्लिष्ट होगा और वह प्रथम ध्यान-लोक में उपपन्न होगा।

महामालुक्य-सुत्त (मज्झिमनिकाय, १।४३२) में है कि—हे मालुक्यपुत्त! दहर-कुमार के सत्काय भी नही होता, तो फिर उसके सत्काय-दृष्टि कैसे उत्पन्न होती है, उसके धर्म भी नही होते, तो फिर धर्म में उसकी विचिकित्सा कैसे होती है, उसके शील भी नहीं होते, तो फिर शीलो में शीलव्रत-परामर्श कैसे होता है, उसके काम भी नही होते, तो फिर कामच्छन्द कैसे होता है? भगवान् कहते है कि इसका कारण यह है कि उसमें क्लेशानुशय है।

हम उन विपाक-फलो का विचार करते है, जिनका कि मनुष्य परिभोग करते हैं। नारक दु खी होते है, देव केवल सुख का भोग करते है। मनुष्य वर्ण, सम्पत्ति, सौन्दर्य, आयुष्य, सुख-दु ख मे विविध होते हैं। वह सुख से सर्वथा विरहित नही होते, किन्तु रोग और जरा के अधीन है।

देव शुक्ल-कर्म के फल का भोग करते है, नारक कृष्ण-कर्म के फल का भोग करते हैं, और मनुष्य शुक्ल-कृष्ण-कर्म का भोग करते है। मनुष्य-जन्म का आक्षेपक शुक्लकर्म होता है,

किन्तु प्रत्येक मनुष्य-जन्म के परिपूरक विविध शुक्ल-कृष्ण कर्म होते है। उसी प्रकार मनुष्य का स्वभाव कुशल-अकुशल दोनो है।

प्रत्येक मनुष्य काम, क्रोध, क्लेश तथा मोह से समन्वागत होता है। इसमे दो अपवाद है– १ शैक्ष मनुष्य-जन्म लेते हैं, क्योकि वह राग-द्वेप से विनिर्मुक्त नही हैं, किन्तु मोह से विनिर्मुक्त है, २ चरम-भविक बोधिसत्त्व क्लेश से विनिर्मुक्त है, किन्तु बोधि की रात्रि को ही वह मोह से मुक्त होते है।

क्योकि, सर्व मनुष्य-जन्म शुभ कर्म से आक्षिप्त होता है, अतः सब मनुष्य तीन कुशल-मूल से समन्वागत होते हैं। वह अद्वेप, अलोभ, सम्यक् दृष्टि के भव्य हैं। अवस्थावश कुशल-मूल का समुदाचार होता है। सदुपदेश और सत्सगवश ऐसा होना है।

एक पुद्गल प्रकृति से तीव्र राग-द्वेष-मोहजातिक होता है। वह रागज, द्वेपज, मोहज दु ख-दौर्मनस्य का अभीक्ष्ण प्रतिसवेदन करता है। वह दु ख-दौर्मनस्य के साथ रुदन करता हुआ परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का आचरण करता है। वह मरणानन्तर स्वर्ग मे उत्पन्न होता है। धर्म-समादान से उसका आयति में सुख-विपाक होता है। एक पुद्गल प्रकृति से तीव्र राग-द्वेप-मोहजातिक नही होता। वह रागज, द्वेषज, मोहज दु ख-दौर्मनस्य का अभीक्ष्ण प्रतिसवेदन नही करता। वह ध्यान मे सुगमता से समापन्न होता है, और स्वर्ग मे उपपन्न होता है। वह वर्त्तमान मे भी सुखी है, और भविष्य मे भी उसका सुख-विपाक है।

ससार मे पर्याप्त दु ख है, जिससे मनुष्य सरलता से 'सर्व दु खम्' इस सत्य को तथा वैराग्य और निर्वाण को समझते है। देव अत्यन्त सुखी होते हैं। दूसरी ओर नारको के समान मनुष्य का अविच्छिन्न दु ख नही है। किन्तु, मनुष्यो मे भेद है। कुछ अनेक जन्मो मे मनुष्यत्व मे नियत हैं। उन्होने कुशलमूल का आरोपण किया है। कोई स्रोत-आपन्न हैं और उनके सात भव और है, किन्तु कभी अकस्मात् मनुष्यत्व का लाभ होता है। कर्म-विपाक दुर्विज्ञेय है। नारक और तिर्यग् योनि से मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है। इसका कारण कोई पूर्वजन्म-कृत दुर्वल शुभ कर्म होता है। मनुष्य-जन्म आश्चर्यकर घटना है।

नरक मे दो प्रकार के भिन्न-प्रलाप, पारुष्य, व्यापाद होते हैं। **भिन्न-पलाप**—क्योकि, नारकीय सत्त्व परिदेव, विलाप करते है। **पारुष्य**—क्योकि, नारकीय सत्त्व अन्योन्य निग्रह करते हैं। **व्यापाद**—क्योकि, चित्त-सन्तान के पारुष्य से वह एक दूसरे मे द्वेप करते है। नारकीय सत्त्वो मे अभिध्या और मिथ्यादृष्टि होती है, किन्तु नरक मे यह सम्मुखीभावन नही होती, क्योकि वहाँ सर्वरजनीय वस्तु का अभाव होता है, और कर्मफल प्रत्यक्ष होता है। नरक मे प्राणा-तिपात का अभाव होता है, क्योकि नारकीय सत्त्व कर्मक्षय से च्युत होते है। वहाँ अदत्तादान और काम-मिथ्याचार का भी अभाव होता है, क्योकि नारकीय सत्त्वो में द्रव्य और स्त्री-परिग्रह का अभाव होता है। प्रयोजन के अभाव से मृषावाद और पैशुन्य नही होता।

तिर्यक् का चित्त दुर्वल होता है, किन्तु उसका दुष्ट स्वभाव प्रकट होना है। वह आनन्तर्य से स्पृष्ट नही होते। किन्तु, जिन पशुओ की बुद्धि पटु होती है, यथा आजानेय अश्व, वह सदा

आनन्तर्य से स्पृष्ट होते हैं । अतः, जो सत्त्व पूर्वकृत शुभकर्मवश नरक और तिर्यक् योनि के अनन्तर मनुष्य-जन्म लेते हैं, वह मनुष्य-जन्म मे अपने पूर्वक्लेश से समन्वागत होते हैं और यह क्लेश नरकवास या तिर्यग्योनि में वास के कारण बहुलीकृत होते है ।

कल्प के निर्याण-काल मे पुद्गल अधर्मरागरक्त, विषयलोभाभिभूत और मिथ्याधर्मपरीत हो जाते हैं । शस्त्र, रोग और दुर्भिक्ष से कल्प का निर्गम होता हैं । उस समय कषाय अभ्यधिक होते हैं । इसलिए, मनुष्यो में बहुत ऐसे होते है, जिनमें अभीक्ष्ण क्लेश होता है। यह निर्वाण में आवरण है। क्लेशावरण सर्वपापिष्ठ है । मिथ्यादृष्टि से समन्वागत मनुष्यो की सख्या और भी अधिक है ।

विसंयोग-फल

हमने अबतक सास्रव कर्मों के फल की परीक्षा की है। यह कर्म कुशल या अकुशल है, और राग (सुख की इच्छा या ध्यान-लोक की इच्छा) तथा मोह (आत्मदृष्टि) से क्लिष्ट है। तृष्णा से अभिष्यन्दित यह कर्म विपाक-फल देते है, किन्तु अनास्रव कर्म का विपाक नही होता, क्योकि यह अन्य तीन कर्मों का क्षय करता है। यह अशुक्ल है। यह धातुपतित नही है। यह प्रवृत्ति का निरोध करता है। अनास्रव कर्म के फल को विसयोग-फल कहते हैं । ये कर्म मोह और क्लेश के मूल का समुच्छेद करते है, अर्थात् क्लेश-प्राप्ति का समुच्छेद करते है । जो आर्य इन अनास्रव कर्मों को सम्पादित करता है, उसका क्लेश समुदाचार नही करता। वह क्लेशो के निष्यन्द-फल का समुच्छेद करता है।

कुछ सास्रव कर्म, वैराग्य के लौकिक मार्ग मे सगृहीत है, अपने प्रतिपक्षी क्लेशो से विसयोग-फल अनैकान्तिक रूप से प्रदान करते हैं। जो योगी वीत-कामराग है, वह काम-भूमिक क्लेशो की प्राप्ति का छेद करता है। पुन वह पूर्वकृत कर्म और काम की प्राप्ति का छेद करता है । वह इन कर्मो के विपाक का उल्लघन करता है।

पुरुषकार-फल

पुरुषकार (पौरुष)-फल सहभू-हेतु और सम्प्रयुक्तक-हेतु का फल है। पुरुषकार पुरुषभाव से व्यतिरिक्त नही है, क्योकि कर्म कर्मवान् से अन्य नही है । जिस धर्म का जो कारित्र है, वह उसका पुरुषकार कहलाता है, क्योकि वह पुरुषकार के सदृश है । एक मत के अनुसार विपाक-हेतु को छोडकर अन्य हेतुओ का भी यही फल होता है। वस्तुत, यह फल सहोत्पन्न है, या समनन्तरोत्पन्न है, किन्तु विपाक-फल ऐसा नही है। अन्य आचार्यों के अनुसार विपाक-हेतु का विप्रकृष्ट पुरुषकार-फल भी होता हैं।

कर्म-विपाक

कर्म बीज के सदृश स्वकीय सामर्थ्य से अपने फल का उत्पाद करता हैं। अत, कर्मो की धर्मता नियत है। किन्तु, बौद्धधर्म यह स्वीकार करता है कि कर्म-फल का उल्लघन सम्भव है और वह पुण्य-परिणामना भी मानता है ।

आर्य ऋषि आदि का महान् सामर्थ्य होता है। उनके मन प्रदोप से दण्डकादि निर्जन हो गये। सत्य-क्रिया (सच्चकिरिया) मे विश्वास बडा प्राचीन है। विशुद्ध पुरुप अपनी विशुद्धि का प्रख्यापन कर धर्मता से ऊपर ऊठ जाता है। अशोक का पुत्र कुणाल ज्ञापित करता है कि अपनी माता के प्रति उसका कभी दुष्टचित्त नही हुआ। इस सत्यक्रिया से वह अपनी आँखो से देखने लगता है।

पुण्य-अपुण्य आशय पर आश्रित है, किन्तु क्षेत्र के अनुसार पुण्य-अपुण्य अल्प या महान् होता है ।

कर्म-विपाक दुर्विज्ञेय है। कर्म वीज के समान है, जो अपना फल प्रदान करता है। यह सुखा० या दु खावेदना है। कर्म का विप्रणाश नही है। जब समय आता है, और प्रत्यय-सामग्री उपस्थित होती है, तब कर्मों का विपाक होता है।

यमराज के निरयपाल सत्त्व को ले जाते है, और यम से दण्ड-प्रणयन के लिए प्रार्थना करते है। यमराज उससे पूछते है कि तुमने देवदूत को नही देखा ? वह कहता है कि देव ! मैंने नही देखा है। यम—तुमने क्या जरा-जीर्ण, रोगी, अवद्यकारी को नही देखा है ? तुमने यह क्यो नही जाना कि तुम भी जाति, जरा, मत्यु के अधीन हो ? तुमने यह क्यो नही सोचा कि मै कल्याण-कर्म करूँ ? यह पापकर्म न तुम्हारी माता ने किया है, न तुम्हारे पिता ने, न तुम्हारे भाई-बहन ने, न तुम्हारे मित्र-अमात्य ने, न ज्ञातृ-सम्बन्धियो ने, न श्रमण-ब्राह्मण ने न देवताओ ने। तुमने ही यह पापकर्म किया है। इसके विपाक का प्रतिसवेदन तुम्ही करोगे।

यह कथा लोक-विश्वास पर आश्रित है। यम केवल नारको के दण्ड का प्रणयन करता है। पुन यम से निरयपाल नारको को दण्ड नही देते है। उनकी यातना उनके स्वकीय कर्मों के कारण है। यथार्थ मे कर्म वीज के तुल्य हैं। यह अपनी जाति के अनुसार, जल्दी या देर से, अल्प या महान् फल देते है।

किन्तु, ईश्वरवादी कहते है कि यद्यपि समग्र बीज का वपन उर्वरा भूमि मे हो तथापि वर्षा के अभाव मे बीज में अकुर नही निकलते। अत, उनका कहना है कि यह ईश्वर की शक्ति है, जो कर्मो को विपाक-प्रदान का सामर्थ्य देती है। बौद्ध कहते है कि तृष्णा से अभिष्यन्दित हो कर्म विपाक देते हैं। आर्य तृष्णारहित हो कर्म करता है, इसलिए वह कर्म से लिप्त नही होता।

कर्म-विपाक के सम्बन्ध में विभिन्न मत

सर्वास्तिवादी (वैभाषिक)—के मत मे विपाक-फल समनन्तर नहीं होता। कर्म का विपाक सुखा० दु खावेदना है। यह विपाक-कर्म के सम्पादन के बहुत काल पश्चात् होता है। कहते है कि कर्म अपने विपाक-फल को क्रिया-काल मे आक्षिप्त करता है, और कर्म के अतीत होने पर विपाक का दान करता है। एक कठिनाई है। सर्वास्तिवादी का मत है कि अतीत और अनागत का अस्तित्व है। हेतु-प्रत्यय अनागत को प्रत्युत्पन्न मे उपनीत करते है। अनित्यता प्रत्युत्पन्न को अतीत मे ले जाती है।

प्रश्न—मान लीजिए कि मेरे अतीत कर्म का अस्तित्व है। यह भी मान लीजिए कि इसमें फल-प्रदान का सामर्थ्य है। क्योंकि, मैं उन क्षणिक धर्मों की सन्तति हूँ, जो नित्य उत्पद्यमान होते रहते हैं। इसलिए, वह क्या है, जो इस कर्म को मुझसे सम्बद्ध करता है ?

उत्तर—स्व-सन्तान-पतित अरूपी संस्कृत धर्म होते हैं (किन्तु, यह चित्त-विप्रयुक्त हैं), जिन्हें 'प्राप्ति' कहते हैं। सर्व कर्म कर्त्ता में इस कर्म की 'प्राप्ति' का उत्पाद करते हैं। इसी प्रकार सर्व चित्त, सर्व राग उस चित्त, उस राग की 'प्राप्ति' का उत्पाद करते हैं। इस 'प्राप्ति' का निरोध होता है, किन्तु यह स्वसदृश एक 'प्राप्ति' का उत्पाद करती है। जबतक हम इन कर्मों की 'प्राप्ति' का 'छेद' नहीं करते, तबतक हम अपने कर्मों की 'प्राप्ति' से समन्वागत होते हैं। जब हम इस 'प्राप्ति' के निरन्तर उत्पाद का निरोध करते है, तब इस 'प्राप्ति' का छेद होता है। इस प्रकार, कर्म कर्त्ता को फल-प्रदान करते हैं।

मध्यमकवृत्ति (१७।१३) और मध्यमकावतार (६।३९) में चन्द्रकीर्त्ति ने इस वाद का निराकरण किया है—कर्म क्रिया-काल में निरुद्ध होता है, किन्तु यह कर्त्ता के चित्त-सन्तान में एक 'अविप्रणाश' नामक द्रव्य का उत्पाद करता है। यह अरूपी धर्म है, किन्तु चित्त से विप्रयुक्त है। यह 'अविप्रणाश' न कुशल है, न अकुशल। निरुद्ध कर्म 'अविप्रणाश' द्रव्य में अंकित हो जाता है। यह फल को कर्त्ता से सम्बद्ध करता है।

सौत्रान्तिक—सौत्रान्तिक अतीत और 'प्राप्ति' नामक धर्मों के अस्तित्व को नहीं मानते।

यदि अतीत, अनागत द्रव्यसत् है, तो वह प्रत्युत्पन्न है। यदि अतीत कर्म फल-प्रदान करता है, तो उसका प्राप्त कारित्र है, अतः वह प्रत्युत्पन्न है। यदि बुद्ध अतीत कर्म के अस्तित्व का उल्लेख करते हैं, तो उनका अभिप्राय केवल इतना है कि अतीत कर्म का विपाक होगा। बुद्ध प्राप्तियों का उल्लेख नहीं करते।

सौत्रान्तिकों के अनुसार कर्म चित्त-सन्तान को (चित्त-चैत्त, सेन्द्रियकाय), जिसे तीर्थिक 'आत्मा' कहते हैं, विपरिणत करता है। कर्म सन्तान के परिणाम-विशेष को निश्चित करता है। इसका प्रकर्ष वह अवस्था है, जो कर्म का विपाक है। दुःखवेदना का उत्पाद होता है, यदि अकुशल चित्त से सन्तान का परिणाम-विशेष होता है। चित्त-सन्तान का कर्म-बल से एक सूक्ष्म परिणाम होता है, और कर्म के अनुसार चित्त-सन्तति का निश्रय, दुःख-सुख होता है। सौत्रान्तिक बाह्यभाव और सेन्द्रियकाय का प्रतिषेध नहीं करते, किन्तु कर्म और विपाक को वह केवल चित्त में आहित करते प्रतीत होते हैं।

विज्ञानवादी—एक ओर वह रूप के अस्तित्व का प्रतिषेध करता है।

हम इसके बीज वैभाषिक-सिद्धान्त में पाते हैं। 'आत्मा' को चित्त और वेदना का सन्तान अवधारित करना, जो पूर्ववर्त्ती चित्त-वेदना से निगृहीत होता है, यह कहना कि चित्त

रूप का उत्पाद करता है, वेदना और सेन्द्रियकाय के 'विपाक-फल' मानना और बाह्य भाव को अधिपति-फल अवधारित करना विज्ञानवाद की ओर झुकना है ।

दूसरी ओर वह सौत्रान्तिको का 'सन्तान' और 'सूक्ष्म परिणाम' नही मानता। 'आत्मा' प्रवृत्ति-विज्ञान के सन्तान से अन्य होगा । हम यह कैसे मान सकते है कि ऐसा सन्तान अनागत चित्त के बीजभूत पूर्वचित्त के चिह्न धारण करता है, और इसका 'सूक्ष्म परिणाम' होता है ? वस्तुत , प्रवृत्ति-विज्ञान का आश्रय एक आलय-विज्ञान होता है, जो बीजो का सग्रह करता है ।

कर्मफल का अतिक्रमण

यद्यपि कर्म का विप्रणाश नही है, तथापि फल का समतिक्रम हो सकता है, यदि अनुताप-पूर्वक पाप-विरति हो । मैत्री-भावना द्वारा यदि अवद्यकारी अपने चित्त को विमुक्त करता है, तो जो कर्म उसने किया है, उसका महत्त्व कम हो जाता है । प्रवारणा (वर्षावास के अन्त में भिक्षुओ का एक अनुष्ठान)के समय सघ के सम्मुख पाप स्वीकार करने से कर्म से शुद्धि होती है । एक प्रश्न है कि क्या परिसमाप्त पापकर्म को पाप-स्वीकरण, पाप-विरति क्षीण कर सकते है ? नही । किन्तु, यदि मौल कर्म की परिसमाप्ति के समनन्तर अनुताप होता है, तो पृष्ठ के अभाव मे कर्म की परिसमाप्ति नही होती, यथा जब प्रयोग का अभाव होता है या वह दुर्वल होता है, तब अवद्य पूरा नही होता । उसी प्रकार जब पापी अपने अवद्य को अवद्य मानता है, और पाप-विरति का समादान करता है, तब अवद्य पूरा नही है । यह उसका प्रतिपक्ष है ।

नियत-अनियत विपाक

यह कर्म नियतविपाक (नियतवेदनीय) है, जो केवल कृत नही है, किन्तु उपचित भी है। उपचित कर्म वह है, जिसकी परिसमाप्ति हुई है, और जिसका विपाक-दान नियत है ।

कोई एक दुश्चरितवश दुर्गति को प्राप्त होता है, कोई दो के कारण, कोई तीन के कारण (काय°, वाक्°, मनोदुश्चरित) । कोई एक कर्मपथ के कारण, कोई दो के कारण, कोई दस के कारण दुर्गति को प्राप्त होता है। जो जिस प्रमाण के कर्म से दुर्गति को प्राप्त होता है, यदि उस कर्म का प्रमाण असमाप्त रहे, तो कर्म 'कृत' है, 'उपचित' नही । प्रमाण के समाप्त होने से कर्म 'उपचित' होता है । अगुत्तरनिकाय (१।२५०) मे है कि थोडे जल को थोडे लवण से नमकीन कर सकते है, किन्तु यदि बहुमात्रा में भी लवण हो, तो वह गगा के जल को नमकीन नही कर सकता ।

तीव्र क्लेश, तीव्र प्रसाद (श्रद्धा) से किया हुआ कर्म और निरन्तर कृत कर्म नियत है । वस्तुत , तीव्र श्रद्धा और तीव्र राग सन्तान को अत्यन्त वासित करते है। निरन्तर कृत कर्म चित्त-स्वभाव को बनाता है। यह लक्षण पूर्वलक्षण के विरुद्ध नही है। केवल उसी को तीव्र प्रसाद या तीव्र राग हो सकता है, जिसने बहुकुशल या अकुशल कर्म किये है ।

गुणक्षेत्र में किया हुआ कर्म भी नियत-विपाक है; यथा पितृवध नियत विपाक है। जो कर्म बुद्ध, सघ, आर्य, माता-पिता के प्रति किया जाता है, वह नियत विपाक है।

तीन प्रकार के कर्म हैं —

१ जिसका विपाक नियत है, और जिसका विपाक-काल नियत है, जिसने आनन्तर्य-कर्म किया है, वह उमका फल अगले जन्म में अवश्य भोगेगा। उसका नरक में विनिपात होगा।

२. वह कर्म, जिसका विपाक नियत है, किन्तु काल नियत नही है। एक मनुष्य ने एक कर्म उपचित किया है, जिसका विपाक नियत है और स्वभाव ऐसा है कि वह केवल काम-धातु में ही विपच्यमान हो सकता है, या ऐसा है, जो स्वर्ग या नरक में फल दे सकता है, किन्तु वह ऐसा नही है कि समनन्तर जन्म में ही इसकी उपपत्ति हो। यह कर्म दूसरे कर्म से निहित हो सकता है। यदि यह पुद्गल आर्य-मार्ग मे प्रवेश करता है; काम से वीतराग होता है, अनागामी होता है, तो वह इसी जन्म में उस कर्म के फल का प्रतिसवेदना करेगा। यह अपरपर्याय-वेदनीय कर्म था, यह दृष्टधर्म-वेदनीय हो जाता। यहाँ अगुलिमाल का दृष्टान्त (मज्झिमनिकाय, २।९७) द्रष्टव्य है--

अगुलिमाल एक डाकू था। उमने गाँवो को, निगमो को, जनपदो को नष्ट कर दिया। वह मनुष्यो को मारकर उनकी अगुलियो की माला बनाकर पहनता था। एक समय भगवान् श्रावस्ती मे चारिका करते थे। वह उस स्थान की ओर चले, जहाँ अगुलिमाल रहता था। अगुलिमाल ने दूर से भगवान् को देखकर विचारा —आश्चर्य है कि इस मार्ग से कोई नही आता, यह श्रमण एकाकी आ रहा है। वह भगवान् के पीछे हो लिया। भगवान् ने ऐसा ऋद्धिमस्कार किया कि डाकू उनको न पा सका। डाकू को बडा आश्चर्य हुआ, क्योकि वह दौडते हाथी को भी मारकर गिरा देता था। उमने भगवान् से रुकने को कहा—भगवान् ने कहा—मै ठहरा हूँ। तुम रुको। डाकू ने इसका अर्थ पूछा। भगवान् ने कहा— मै सब जीवो में दण्ड से विरत हूँ। तुम असयत हो। इसलिए, तुम अस्थित हो, मै स्थित हूँ। यह सुनकर अगुलिमाल को वैराग्य उत्पन्न हो गया। उमने प्रव्रज्या ली और भिक्षु हो गया। अगुलिमाल प्रात काल पात्र-चीवर लेकर श्रावस्ती मे भिक्षा के लिए प्रविष्ट हुआ। किसी ने उसपर ढेला फेका, किसी ने दण्ड का प्रहार किया। उसका मिर फट गया, पाँव टूट गया और सघाटी फट गई। भगवान् ने उससे कहा--हे अगुलिमाल! जिस कर्म के विपाक से तुमको निरय मे सहस्रो वर्ष निवास करना पडता, उस कर्म के विपाक-सवेदन तुम इसी जन्म में कर रहे हो।

३. वह कर्म, जिसका विपाक अनियत है। स्रोत-आपन्न की सन्तति का, अपायगामिक पूर्वोपचित कर्म के विपाक-दान मे वैगुण्य है। क्योकि, प्रयोगशुद्धि और त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म और सघ) के प्रति आशय-शुद्धि के कारण उसकी सन्तति बलवान् कुशल मूलो से अधिवासित है। अबुध अल्प पाप भी करके अधोगति को प्राप्त होता है, बुध महापाप भी करके अपाय का त्याग करता है। थोडा भी लोहा पिण्ड के रूप में जल में डूब जाता है, और यही लोहा प्रभूत भी क्यो न हो, पात्र के रूप में तैरता रहता है।'

पुण्य-परिणामना

सामान्य नियम यह है कि कर्म स्वकीय है। जो कर्म करता है, वही उसका फल भोगता है, किन्तु पालिनिकाय में भी पुण्य-परिणामना (पत्तिदान=प्राप्तिदान) है। वह यह भी मानता है कि मृत की सहायता हो सकती है। स्थविरवादी प्रेत और देवो को दक्षिणा देते है, अर्थात् भिक्षु को दिये हुए दान से जो पुण्य (दक्षिणा) सचित होता है, उसको देते है। हम अपने पुण्य में दूसरे को सम्मिलित कर सकते है, पाप मे नही।

निष्कर्ष यह है कि क्लिष्ट धर्म सावद्य, क्लेशाच्छन्न और हीन है। शुभ और अशुभ धर्म ही प्रणीत है। जो धर्म न हीन है, न प्रणीत, वह मध्य है। अत, सस्कृत शुभधर्म ही सेव्य है। इन्ही का अध्यारोपण सन्तान मे होना चाहिए। वस्तुत, असस्कृत धर्म अनुत्पाद्य है। उनका अभ्यास नही हो सकता। असस्कृत का कोई फल नही है, और फल की दृष्टि से ही भावना होती है।

चतुर्दश अध्याय

निर्वाण

वुद्ध की शिक्षा का एकमात्र रस निर्माण है। सब बौद्ध-दर्शनो का लक्ष्य निर्वाण है, किन्तु निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध मे अवश्य मतभेद है। इस अध्याय में हम इस विषय के विविध आकारो पर विस्तार से विचार करेंगे।

निर्वाण का स्वरूप चाहे जो हो, सब बौद्धो को यह समान रूप से इष्ट है कि निर्वाण ससार-दु ख का अत्यन्त निरोध है, ससार से नि सरण है, और अतएव उपादेय है। विद्वानो का कहना है कि आत्म-प्रतिषेध ईश्वर-प्रतिषेध, सहेतुक और क्षणिक सत्ता के सिद्धान्तो के होते हुए निर्वाण निरोधमात्र, अभावमात्र ही हो सकता है।

पाश्चात्य विद्वानों के मत

वर्थेलेमी, सेण्ट हिलेरी, चाइल्डर्स, रोज डेविड्स और पिशल का कहना है कि वुद्ध तथा उनके अनुयायियो ने अपने सिद्धान्तो के इस अनिवार्य निष्कर्ष को विचार-कोटि में लिया है, और वह निर्वाण का स्वरूप अभावमात्र ठहराते हैं। किन्तु रीज डेविड्स साथ-साथ यह भी कहते हैं कि वुद्ध-वचन के अनुसार निर्वाण 'श्रामण्य' भी है। वर्थ और ओल्डनवर्ग का मत है कि यद्यपि बौद्ध जानते है कि उनके सिद्धान्तो का झुकाव किस ओर है, तथापि उनको स्पष्ट शब्दो में इस विनिश्चय के कहने में विचिकित्सा होती है। इनके अनुसार उन्होंने निर्वाण के स्वरूप का वर्णन या तो कवि की आलकारिक भाषा में किया है, और उसे 'द्वीप', 'शरण' और 'अमृत' की आख्याएँ प्रदान की हैं, या उन्होने यह स्वीकार किया है कि निर्वाण के स्वरूप का व्याकरण वुद्ध ने नही किया है। पूछे जाने पर वुद्ध ने इसे 'स्थापनीय' प्रश्न कहकर इसका व्याकरण नही किया है। वुद्धने अपने श्रावको को चेतावनी दी है कि, यह प्रश्न कि निर्वाण के अनन्तर तथागत कहाँ जाते है, अर्थोपसहित नही है, और इसका विसर्जन विराग, दु ख-निरोध और निर्वाण के अधिगम में सहायक नही है। अत., इन प्रश्नो की उलझन में पडना निरर्थक और निष्प्रयोजनीय है। किन्तु, यह सब विद्वान् समान रूप से मानते है कि बौद्ध उपासको की दृष्टि में निर्वाण एक प्रकार का स्वर्ग है।

पालि-अभिधम्म मे चित्त और रूप दोनो के नैरात्म्य की प्रतिज्ञा है। वह आत्मा का सर्वथा प्रतिषेध करते है, और निर्वाण का लक्षण 'दु ख का नाश' और 'विराग' तथा 'रागक्षय' वताते है। इस विचार-सरणी के अनुसार हम निर्वाण को ऐहिक सुख मान सकते हैं, किन्तु यह परम लक्ष्य नही हो सकता। सूत्रान्त इसे स्थापनीय प्रश्न वताते हैं, और कुछ सूत्रान्त

ऐसे हैं, जो निर्वाण को अजात, अमृत, अनन्त कहते है। इससे कठिनाई उपस्थित होती है। यूरोपीय विद्वान्, बर्नूफ के समय से, बार-बार यही मत प्रकट करते आये हैं, कि निर्वाण अभावमात्र ही हो सकता है। पूसें का मत है कि बौद्ध योगी थे और अवाच्य की अभिज्ञता रखते थे, जो न भाव है, और न अभाव। यह प्रपचातीत है। वह कहते है कि यह समझना कठिन है कि बौद्ध निर्वाण को अमृत, योग-क्षेम और अच्युत क्यो कहते हैं। यह अभाव के समानार्थक शब्द नही है। रीज डेविड्स 'अमृत' का यह निरूपण करते है कि यह आर्यो का आहार है, और 'निर्वाण' का अर्थ वीतराग पुरुष की सम्यक् प्रज्ञा करते हैं। जब बौद्ध कहते है कि बुद्ध ने मार (मृत्यु) पर विजय प्राप्त की है, और अमृत् का द्वार उद्‌घाटित किया है, तब कर्न इसका यह अर्थ करते है कि बुद्ध पर मृत्यु का कोई अधिकार नही है, और उन्होने उस अमृत-पद का आविष्कार किया है, जिसके द्वारा उस परम सत्य का अधिगम होता है, जो मनुष्य को मृत्यु पर आधिपत्य प्रदान करता है, उसको निर्भय बनाता है।

रीज डेविड्स कहते है कि बुद्ध का आदर्श आध्यात्मिक था, और उनके निर्वाण का अर्थ इस लोक मे प्रज्ञा और सम्यक् शान्ति द्वारा मोक्ष प्राप्त करना था। किन्तु, श्रावक शास्ता के विचारो को सम्यक् रीति से समझने मे असमर्थ थे, और उन्होनें इस आदर्श को अमृत, अनन्त, द्वीपादि की आख्याएँ दी। इससे शास्ता के सिद्धान्त को क्षति पहुँची।

पूसे क अनुसार इन विद्वानो की भूल इसमे है कि वह बौद्धधर्म को एक वैज्ञानिक मतवाद समझते हैं। वे यह भूल गये कि बौद्धधर्म एक वैराग्य-प्रधान धार्मिक सस्था है। सेनार्त्त ने इस विचार का विरोध किया है कि बौद्धधर्म एक वैज्ञानिक मतवाद है। सेनार्त्त के अनुसार निर्वाण का अर्थ भारतवर्ष मे सदा से परम क्षेम और मोक्ष रहा है, जो अभाव की सज्ञा से सर्वथा परे है। सेनार्त्त ने बौद्धधर्म के प्रभाव की परीक्षा की है। उनका कहना है कि बौद्धधर्म का उद्‌गम-स्थान योग है। योग भारत की पुरातन शिक्षा है। इसमे यम, नियम, ध्यान, धारणा, समाधि और ऋद्धि-सिद्धि का समावेश है। योगी लोकोत्तर शक्ति की प्राप्ति तथा मोक्षलाभ के लिए समान रूप से यत्नवान् होता है।

यह साधारण विश्वास है कि बुद्ध की शिक्षा का आधार वेदान्त (उपनिषद्) अथवा साख्य है। उन्होने केवल वेदान्त के परमात्मा और साख्य के पुरुष का प्रतिषेध किया है। यह भी सामान्य विचार है कि बुद्ध शीलव्रत, पौरोहित्य और वर्ण-धर्म के विरोधी थे तथा आरम्भ से ही बौद्धधर्म निरोधवादी था। किन्तु, सेनार्त्त के मत मे यह विचार अयथार्थ है। उनका कहना है कि बौद्धधर्म का उद्‌गम एक प्रकार के योग से हुआ है, जिसका स्वरूप अभी पूर्णरूप मे स्थिर नही हुआ था, और जो नि सन्देह निरोधवादी न था। वे यह भी कहते हैं कि बुद्ध के पश्चात् कई शताब्दियो मे इस धर्म में परिवर्त्तन हुए, और यह ठीक नही है कि आरम्भ से ही उसका स्वरूप निश्चित था।

पूसे कहते है कि मैं निश्चित रूप से यह नही कह सकना कि प्रस्तुत वाक्य बुद्ध-वचन है—"मै वेदना का अस्तित्व मानता हूँ, किन्तु मै यह नही कहता कि कोई वेदक है।" किन्तु, यह वाक्य बुद्ध का हो सकता है—"जाति, जरा, रोग, मरण से अभिभूत मैंने अजात, अरुग्ण, अजीर्ण

अमृत का अन्वेषण किया है . । एक अजात, अजीर्ण, अमृत, अकृत है। यदि अजात न होता, तो जात के लिए शरण न होता .. . ।"

वर्थ ने (फोर्टी ईयर्स ऑव इण्डियनिज्म, भा० १, पृ० ३०३) लिखा है कि यदि हम यह चाहते है कि निर्वाण अभाव नही है, तो हमको उस धर्म की सज्ञा बतानी चाहिए, जिसका लक्षण बौद्धो के अनुसार शाश्वतत्व है। किन्तु, प्रश्न है कि क्या यह शाश्वत-धर्म निर्वाण नही है, जिसे पालि में 'अमता धातु' कहा है ।

पूसे कहते है कि आरम्भ मे बौद्धो का लक्ष्य ससार के नि सरण (पार), नै श्रेयस्-सुख, अनिर्वाच्य अवस्था की प्राप्ति था। कई वचनो से स्पष्ट है कि निर्वाण से उनका अर्थ एक परमार्थ-सत् से था। अभाव एक निकाय-विशेष का ही मत रहा है। कई वचनो से हम यह सिद्ध कर सकते है । इसके समर्थन मे कई हेतु भी दिये जा सकते है। पूसें का मत है कि आरम्भ की अवस्था में बौद्धधर्म निर्वाण को एक अनिर्वचनीय वस्तु-सत् मानता था । वह इस परिणाम पर पहुँचते है कि कई प्रसिद्ध निकाय 'अजात' को वस्तु-सत् मानते हैं ।

पूसें का मत

पूसे ने 'निर्वाण' नाम की पुस्तक मे इस विषय की आलोचना की है। हम उनके मत का विस्तारपूर्वक वर्णन करेगे और अन्त मे अपना वक्तव्य भी देगे ।

पूसे कहते हैं कि बौद्धधर्म के दो रूप है, इनमे भेद करना चाहिए। एक उपासको का धर्म है, दूसरा भिक्षुओ का । उपासक स्वर्ग की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते है, और भिक्षु निर्वाण-मार्ग का पथिक है। उपासक स्तूप-चैत्य की पूजा करते है, और बौद्ध तीर्थों की यात्रा करते है। वह पचशील का समादान करते है, पाप से विरत रहते है, उपवास-व्रत रखते है, भिक्षुओ को दान देते है. और धर्म-श्रवण करते है। शील की रक्षा और दान-पूजा से वह पुण्य-सचय करते है, और अभ्युदय आसादित करते है । उनके धर्म में निर्वाण का कोई बडा स्थान नही है। यह ठीक है कि प्रत्येक बौद्ध एक दिन निर्वाण के अधिगम की आशा करता है (अभि-धर्मकोश, ४।४६), किन्तु सामान्यन निर्वाण-मार्ग में प्रवेश करने के लिए भिक्षु-भाव का होना आवश्यक समझा जाता है। अभिधर्मकोश का विचार है कि उपासक अर्हत् हो सकता है। जिस क्षण मे वह अर्हत् होता है, उसी क्षण मे वह भिक्षु होता है, उसी दिन वह सघ मे प्रवेश करता है। मिलिन्दप्रश्न का भी यही मत है। कुछ के अनुसार वह अनागामिफल का लाभ कर सकता है, किन्तु किसी अवस्था मे भी वह अर्हत् नही होता। केवल भिक्षु ही अर्हत् होता है। भिक्षु के लिए ही निर्वाण का मार्ग है।

आर्य-मार्ग की चर्या निर्वाण की चर्या है। सघभद्र कहते है कि निर्वाण के विचार-विमर्श मे विचिकित्सा का उत्पाद नही करना चाहिए। क्योकि, निर्वाण के अधिगम के लिए ही श्रमण ससार का परित्याग करते है, और सघ मे प्रवेश करते है। निर्वाण स्वर्ग का विपर्यय-सा हे। जीव के दीर्घकालीन ससरण मे स्वर्ग एक स्थान है, किन्तु निर्वाण ससार का अन्त है। स्वर्ग पुण्य का विपाक है, किन्तु निर्वाण पाप-पुण्य दोनो से परे है। इसका एकमात्र

लक्ष्य क्लेश-राग का विनाश है। निर्वाण का अधिगम प्रत्येक को स्वय करना पडता है। उपाध्याय द्वारा मार्ग के भावित होने से शिष्य के क्लेशो का प्रहाण नही होता। प्रत्येक को स्वय इसका साक्षात्कार करना होता है। बुद्ध की विशेषता केवल इसमे है कि उन्होने सर्वप्रथम मोक्ष-मार्ग का आविष्कार किया और दूसरो का मार्ग-सदर्शन किया। इसी अर्थ मे वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। वह दूसरो का त्राण वर-प्रदान कर या अपनी ऋद्धि के वल से अथवा प्रभाव से नही करते, किन्तु सद्धर्म की देशना से करते है। इस प्रकार, हम देखते है कि उपासक और भिक्षु के उद्देश्य, चर्या और मार्ग में भेद है, और एक दृष्टि से इनका परस्पर विरोध भी है।

निर्वाण क्या है ? इसमे सन्देह नही कि यह परम क्षेम है, दु ख और ससार का अन्त है, मृत्यु पर विजय है। निर्वाण के यह लक्षण क्या इसलिए है कि यह अभावमात्र है ? अथवा यह अमृत है ? भिक्षु के लिए मार्ग मे उत्तरोत्तर उन्नति करना प्रधान वात है। कई कहेगे कि निर्वाण का अनुसन्धान करना अनावश्यक है। दूसरे कहते है कि यह अमृत-पद है, यह सर्वराग, दुःख, पुनर्जन्म का निरोधमात्र है। यह अभिधर्म का प्रश्न है। इसलिए, हम यह नही कह सकते कि एक दूसरे की अपेक्षा अधिक अच्छा है। जिस काल मे पिटक का सग्रह हुआ, उस काल मे अनेक निर्वाण मे प्रविष्ट हो चुके थे। थेर (स्थविर) और थेरियो के 'उदानो' का सग्रह है, और इनमे निर्वाणाधिगम के सुख का वर्णन पाया जाता है।

कई वचन ऐसे है, जिनसे यह व्यवस्थापित होता है कि भिक्षु और उपासक मे वडा भेद रखा गया है। जब आनन्द बुद्ध से पूछते है कि सुगत के धातुगर्भ के प्रति भिक्षुओ का क्या भाव होना चाहिए, तव बुद्ध उनसे कहते है कि—"हे आनन्द ! मेरे धातुओ की पूजा की फिक्र न करो। सुश्रुत और श्रद्धालु क्षत्रिय, ब्राह्मण और नैगम मेरे धातुओ की पूजा करेगे। तुम भिक्षुओ को मोक्ष की साधना मे सलग्न होना चाहिए" (दीघनिकाय, २।१४१)। कभी-कभी ऐसी प्रतीति होती है कि भिक्षु-सवर से भक्ति, पूजा और लोकोत्तर बुद्धवाद से कोई सम्बन्ध नही है। किन्तु, यह युक्तियुक्त नही है। इसमे सन्देह नही कि बौद्ध कौतुक-मगल, तिथि-नक्षत्रादि के विरुद्ध थे। उनमे तर्कवादी भी थे। किन्तु, यह एक ही दिक् है। दूसरी ओर हम देखते है कि आनन्द को इस वात से वडा सन्तोष था कि बुद्ध अपने सामर्थ्य से त्रिसाहस्र लोकधातु को अवभासित कर सकते थे, और अपनी अनुशासनी की वहाँ प्रतिष्ठा कर सकते थे। उदायी आनन्द से कहते है कि—"हे आनन्द ! आप यह कैसे कहते है कि शास्ता का यह सामर्थ्य है ? इसमे सन्देह नही कि बुद्ध के ऋद्धि-वल का उनकी दृष्टि मे विशेष महत्त्व नही है, तथापि बुद्ध उदायी से कहते है कि तुमको ऐसा नही करना चाहिए। इसका प्रमाण है कि बुद्ध ने भिक्षुओ को तीर्थाटन का आदेश दिया था और भिक्षु स्तूप-पूजा करते थे। सघ मे ध्यायियो की सख्या वहुत न थी। (कथावत्थु १७।१)-से पता चलता है कि अर्हत् स्तूपो को माल्य-गन्ध-विलेपन चढाते थे। हम निर्वाण की चर्या को धर्म से पृथक् नही कर सकते। मार्ग मे प्रवेश वही कर सकता है, जिसने पूर्वजन्म मे कुशल मूल का आरोपण किया है (अभिधर्मकोश, ४।१२५ ६।२८, ७।३०, ३४)।

हीनयान का पुराना आम्नाय जो पिटक में उपनिबद्ध है, स्पष्ट नही है। उसके वादो में परस्पर विरोध पाया जाता है। पुन' हम सब निकायो के विचारो से भली भाँति परिचित भी नही है। इस कारण प्राचीन मत के जानने में कठिनाई है, तथापि पूसें इसके जानने का प्रयत्न करते है।

योग और बौद्धधर्म

पूसें का कहना है कि एक बात जो बडे महत्त्व की है, असन्दिग्ध है। वह यह है कि बौद्धधर्म योग की एक शाखा है। योग मे ब्रह्मचर्य, यम-नियम, ध्यान-धारणा-समाधि, नासाग्र-भ्रू-मध्यादि का दर्शन, काय-स्थैर्य, मन्त्र-जप, प्राणायाम तालु मे जिह्वा का धारण, महाभूतो का ध्यान, भूत-जय, अणिमादि अष्ट ऐश्वर्यो की प्राप्ति और लोकोत्तर ज्ञान सगृहीत है। योग की इस प्रक्रिया का धार्मिक जीवन और शील से कोई सम्बन्ध नही है। किन्तु, इसका उनसे योग हो सकता है।

बौद्धधर्म का केन्द्र भिक्षु-सघ है। बुद्ध के पहले भारत मे श्रमणो के अनेक सघ थे। बुद्ध का भिक्षु-सघ भी इसी प्रकार का एक सघ था। अन्य सघो के समान इसके भी शील-समाधि के नियम थे। इसकी मौलिकता इसमे है कि इसको बुद्ध ऐसा शास्ता मिला, जिसकी शिक्षा से प्रभावित होकर योग की चर्या और उसके सिद्धान्तो ने एक विशेष रूप धारण किया।

आरम्भ में बौद्धधर्म अस्थिर अवस्था में था। वह युग स्थिर और निश्चित मतवाद का न था, और न धर्म-विनय मे अभी स्थिरता आई थी। प्राय सब योगी समान मार्गों से एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उद्योग करते थे, किन्तु वह शास्ता और सघ को समय-समय पर बदला करते थे, और कभी वे 'थेरवाद' (स्थविरवाद) से और कभी ज्ञानवाद (ञाणवाद) को स्वीकार करते थे (मज्झिम, १।१६४)। उस युग मे वाद-विवाद बहुत होता था। श्रमण कहते सुनाई पडते थे कि जो मै कहता हू, वह सत्य है, अन्य सब मिथ्या है। मै जानता हू, मै बुद्ध हू। उनका विश्वास था कि आलोक का ध्यान करने से ज्ञान-दर्शन होता है (दीघ, ३।२२३)। वह कहते थे कि ध्यान में प्रवेश कर मैने देखा है कि लोक शाश्वत है। बौद्धधर्म मे ज्ञान का विशेष महत्त्व है, यद्यपि वह तर्क का आश्रय लेता है। वस्तुओ का यथाभूत दर्शन समाधि मे होता है (मज्झिम, १।७१)। इन प्रश्नो पर उस समय विवाद होता था—लोक का आदि है, या नही? दु ख का समुदय क्या है। क्या आत्मा और काय एक है? क्या मरणानन्तर सत्त्व का सर्वथा विनाश होता है? किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वह उक्त प्रश्नो से इन प्रश्नो मे अधिक रस लेते थे—क्या निर्वाण के अनन्तर आर्य की उत्पत्ति हो सकती है? कौन से तपो की अनुज्ञा है? दिव्यचक्षु, दिव्यश्रोत्र और परिचित ज्ञान कैसे होता है?

ऐसी परिस्थिति में बौद्धसघ का जन्म हुआ था। विनय के ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि विविध सम्प्रदायो में आचार की विविधता थी। उनमें दो प्रकार के श्रमणो की तुलना की गई है—आरण्यक और विहार मे निवास करनेवाले भिक्षु। कई बातो से ऐसा सूचित

होता है कि सब प्रकार के भिक्षु बुद्ध को शास्ता मानते थे, और कर्मफल को स्वीकार करते थे, तथा ब्रह्मचर्य के नियमो का पालन करते थे। वह सघ मे प्रवेश कर सकते थे, यद्यपि उनके अपने वाद और आचार थे। केवल एक शर्त्त थी कि वह अचेलक नही रह सकते थे। वहुत काल तक स्थिर रूप न हो सका। विनय के नियमो के साथ-साथ 'मार्ग' का भी वडा महत्त्व था। आगम से मालूम होता है कि आजीव प्रातिमोक्ष और अभिधर्म के सम्वन्ध में सघ में विवाद होता था। किन्तु, चार स्मृत्युस्थान, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, श्रद्धादि पचेन्द्रिय, पाँच वल, सात बोध्यग और आर्य अष्टागिक मार्ग के विषय मे मतभेद न था। भगवान् आनन्द से कहते हैं कि जो विवाद आजीव और प्रातिमोक्ष के विषय मे होता है, वह अल्पमात्र है, किन्तु यदि मार्ग के विषय मे विवाद उत्पन्न हो, तो वह वहुजन का अहित और अनर्थ करेगा (मज्झिम, २।२४५)। किन्तु शीतीभूत, विरक्त, वीतराग, आर्य बौद्धधर्म की देन नही है। यह योग की देन है। यह ठीक है कि बौद्धधर्म ने आर्यत्व का विशोध किया और आर्य को पूजार्ह वना दिया। वुद्ध को देव की पदवी देने मे वौद्धधर्म को सकोच होता था, किन्तु यह समाधि का मार्ग था, जिसका लक्ष्य निर्वाण-लाभ था। यह स्पष्ट है कि बौद्धधर्म का आधार योग की क्रियाएँ थी, किन्तु बौद्धधर्म ने इनका उपयोग शील और प्रज्ञा के लिए किया था और आर्यत्व को प्रथम स्थान दिया था। वौद्धधर्म के अनुसार क्लेश-क्षय और 'अभिसमय' श्रामण्यफल हैं। किन्तु, यह पाँच अभिज्ञाओं में सगृहीत है। वौद्धो का विश्वास है कि आर्य अभिज्ञाओ से समन्वागत होता है, किन्तु वह यह भी मानते हैं कि आर्येतर भी इनसे समन्वागत होते हैं। उनका यह मत नहीं है कि ध्यान-लाभ मोक्ष है, किन्तु समाधि मे ही योगी सत्यो की यथार्थ शावना करता है। वह आत्महत्या का प्रतिपेध करते है, और जो योगी तालु में जिह्वा-धारण इत्यादि करता है, उसकी किसी सूत्रान्त मे प्रशसा है और किमी में निन्दा है (मज्झिम, १।४५५, ३।२८, अगुत्तर, ४।४२६, अभिधर्मकोश, ६।४३)।

सघ में विविध सिद्धान्तो का व्यवस्थापन आरम्भ मे इतना न था। उसके अन्तर्गत जो निकाय थे, उनका प्रवचन एक ही था। किन्तु, इसका यह अर्थ नही है कि सवको समान रूप से एक ही वचन मान्य है। हम जानते हैं कि पुद्गलवादी कुछ वचनो की प्रामाणिकता नही मानते, अन्तराभाव के अपवादक कुछ अन्य वचनो को प्रामाणिक नही मानते। यह साधारण रूप से माना जाता है कि मूल सगीति का भ्रश हुआ है, किन्तु सामान्यत विविध निकाय एक ही वचन का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से करते है। इस मम्वन्ध मे हम मघभद्र के न्यायानुसार दो वाक्य उद्धृत करते है।

१ सघभद्र एक सूत्र उदाहृत करते है, जिसमे 'म्प्रष्टव्य' का लक्षण दिया गया है, और कहते है —हमारे प्रतिपक्षी 'स्थविर' इस मूत्र का अस्तित्व नही म्वीकार करते। उनका कहना यथार्थ नही है, क्योकि यह सूत्र सगीति मे मगृहीत है, क्योकि इनका अन्य मूत्रो से विरोध नही है, और यह युक्तिसम्मत भी है। अत, यह प्रामाणिक है। हमारे प्रतिपक्षी उत्तर देते है कि यह सगीति में संगृहीत नही है, क्योकि यह मामान्य रूप से पठित नही है, क्योंकि यह कल्पित है, किन्तु इस प्रकार वादी किसी भी सूत्र का प्रत्याख्यान कर मकता है।

२ यह लोग व्यर्थ ही कहते हैं कि अभिधर्म-शास्त्र बुद्ध-वचन नही है; क्योकि विविध निकायो के अलग-अलग अभिधर्म है । विविध निकायो के सूत्र भी व्यजन और अर्थ मे भिन्न है।

प्रवचन में परस्पर विरोधी वाद है । अनेक निकायो के सहयोग से यह सग्रह प्रस्तुत हुआ है। "बुद्ध ने जो कुछ कहा है, वह सब सुभाषित है ।" इसका परिपूरक यह वाक्य है कि "यत्किंचित् सुभाषित है, वह बुद्ध-वचन है ।" ऐतिहासिक काल में निकाय और सिद्धान्तो का विरोध बौद्धो की एकता को नष्ट नही करता। इस विरोध के होते हुए भी एक सामान्य विश्वास पाया जाता है । यह विश्वास योग से भिन्न नही है। इस योग के तीन या चार प्रधान विचार हैं—पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक की कल्पना, पुण्य-अपुण्य, मोक्ष, परम और आत्यन्तिक क्षेम तथा मार्ग। दूसरो के समान बौद्धो ने भी इन विचारो को योग से लिया, और इनके मूल अर्थ को सुरक्षित रखते हुए उनको एक नवीन आकार प्रदान किया।

विश्वास और सिद्धान्त में विशेष करना अच्छा है। बौद्धो का विश्वास है कि सत्त्व अनेक जन्मो में ससरण कर अपने कर्मों के फल का भोग करता है, और वह अभिसमय द्वारा मुक्त होता है । बौद्ध विश्वास की यह मूल भित्ति है । इसमें दार्शनिक विश्वास जोडे गये है। इनमें से कुछ इस विश्वास को विनष्ट करनेवाले है, किन्तु विश्वास अडिग होता है।

पुनर्जन्म : विश्वास और वाद

योग से बौद्धधर्म ने पुनर्जन्म और कर्मफल के वाद को लिया है। बौद्धधर्म में कुशल-अकुशल-स्वभाव और बुद्धिपूर्वक किये हुए कर्म की गुरुता पर जोर दिया गया है तथा मौन, व्रत, स्नानादि को निरर्थक समझा गया है ।

कर्म गतियो का आक्षेपक है। प्रत्येक जीव अपने मन कर्म, चेतना और काय-वाक् का परिणाम है। प्राणियो का सामुदायिक कर्म सवर्त्त-कल्पो के अनन्तर लोक का विवर्त्तन करता है । कर्म ही 'गृहकारक' है । कर्म और उसके फल का निषेध करना मिथ्यादृष्टि है। परलोक का अपवाद करना और औपपादुक सत्त्वो के अस्तित्व का प्रतिषेध करना मिथ्या-दृष्टि है । प्रत्येक सत्त्व अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है, ससरण के सम्बन्ध में बौद्धो का यह सिद्धान्त है ।

इस विश्वास में सिद्धान्त जोड दिये गये है। बौद्धधर्म ने विवेचनात्मक मनोविज्ञान का आश्रय लिया। उसके अनुसार आत्मा सेन्द्रिय शरीर-वेदना-सज्ञा-सस्कार विज्ञानात्मक है। यह नित्य धर्म नही है। आत्मबुद्धि और विपरिणाम-बुद्धि मे वह विरोध देखता है। वह आत्मा के धर्मों का नैरात्म्य और उनकी शून्यता मानता है । 'मन' 'आत्मा' नही है, 'मन' आत्मा' का नही है, ऐसा मानने का यह आवश्यक अर्थ नही है कि आत्मा का अस्तित्व नही है। यह केवल इस बात की प्रतिज्ञा है कि आत्मा मन के परे है। हे भिक्षुओ! जो तुम्हारा नही है, उसका प्रहाण करो । तुम्हारा क्या नही है? चक्षु, अर्थ, चक्षुर्विज्ञान . मनो-धर्म (मनोविज्ञान के विषय), मनोविज्ञान (सयुक्त, ३।३३, ४।८२)। उपनिषद् के अनुसार

आत्मा नित्य और लोकोत्तर है। बौद्धधर्म आत्मा का प्रतिषेध करता है। यह अपवादिका बुद्धि कर्म, कर्मफल और प्रतिसन्धि की बुद्धि का विनाश करती है। इस समस्या के दो समाधान हैं—

१ पहला पुद्गलवादियो का समाधान है। दुर्भाग्यवश उनके शास्त्र नष्ट हो गये है, और यह 'तीर्थिक' समझे जाते है। प्राय पाँच या सात निकाय इस वाद के मानने-वाले थे।

'पुद्गल' का निर्वचन स्पष्ट नही है। जैनागम मे 'पुद्गलास्तिकाय' नाम की सज्ञा है। इसका अर्थ 'अजीव' है। बौद्धो में आत्मा के लिए पुरुप, जीव, सत्त्व, पोष, जन्तु, यक्ष और पुद्गल (सुत्तनिपात, ८७४) यह आख्याएँ मिलती है। पुद्गल का चीनी-अनुवाद 'पुरुष' है। तिब्बती निर्वचन इस प्रकार है—पूयते, गलति चेति पुद्गल। 'अष्ट पुद्गल' आठ आर्य हैं। इतिवुत्तक, २४ मे कहा है कि यदि किसी एक पुद्गल के विविध भवो की सब अस्थियाँ एकत्र की जायँ, तो उनका एक पर्वत हो जायगा।

भारहारसूत्र मे इस शब्द का पारिभाषिक अर्थ इस प्रकार है—पाँच स्कन्ध भार हैं. पुद्गल भारहारक है, यथा असुक गोत्र का, अमुक नाम का यह आयुष्मान् भिक्षु। भार का आदान तृष्णा है, जो पुनर्भव का उत्पाद करती है, उसका निक्षेप इस तृष्णा का सर्वथा क्षय है, (सयुत्त, ३।२५, सयुक्त, २२।२२, उद्योतकर-कृत न्यायवार्त्तिक, ३४२)।

जिस काल में पुद्गलवादियो ने अपने वाद को सुपल्लवित किया, उस समय नैरात्म्यवाद सब निकायो को मान्य था। अत, पुद्गलवादियो ने यह निश्चय किया कि कम-से-कम पुद्गल के स्वभाव का लक्षण नही बताया जा सकता। "पुद्गल न स्कन्धो से भिन्न है, न अभिन्न। इस दृष्टि का समर्थन भगवान् के इस वचन से होता था—जीवितेन्द्रिय शरीर से अभिन्न नही है, जीवितेन्द्रिय शरीर से भिन्न नही है।" इस प्रकार, वह भी दूसरो के समक्ष आत्मा का प्रतिषेध करते है। इनको वोधिचर्यावतार मे 'सौगतम्मन्य', 'अन्तश्चर तीर्थिक' कहा हैं। पुद्गल की उपलब्धि पचविज्ञान-काय और मनोविज्ञान से होती हैं, किन्तु स्कन्ध-व्यतिरिक्त, अर्थात् शरीर-वेदना-विज्ञान के अतिरिक्त उसकी उपलब्धि नही होती। अत, यह स्कन्धो से अन्य नही है, यथा अग्नि ईन्धन से अन्य नही है। विपक्ष मे पुद्गल स्कन्ध-स्वभाव नही है, क्योकि उस विकल्प मे वह जनन-मरण-शील होगा। पुनः पुद्गल कर्म का सम्पादन करता है, ससरण करता है, अपने कर्मों के फल को भोगता है, और निर्वाण का लाभी होता है। बुद्ध कहते है कि इतने कल्प व्यतीत हुए कि मैं सुनेत्र नामक ऋषि था। अत., पुद्गल एक वस्तु-सत् है, एक द्रव्य है, किन्तु इसका स्कन्धो से सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। इसी प्रकार यह न नित्य है, न अनित्य।

२ दूसरा समाधान यह है कि जिसे लोक मे आत्मा आदि कहते हैं, वह एक सन्तान (सन्तति) है, जिसके अगो का हेतु-फल-सम्बन्ध है। यह आत्मा का अपवाद हैं, किन्तु आत्मा जीवित है, यद्यपि वह एक नित्य द्रव्य नही है। आत्मा का यह समाधान प्राय मान्य है, किन्तु सन्तति का निर्देश भिन्न प्रकार से किया जाता है। वह बौद्धधर्म की विचित्रता है कि

आगम कर्म और कर्मफल को स्वीकार करता है, किन्तु कारक का प्रतिषेध करता है। कोई सत्त्व नही है, जिसका सचार (=सक्रान्ति) हो। किन्तु, यह सन्तति जीवित है। मृत्यु से इसका उपच्छेद नही होता। मृत्यु केवल उस क्षण को सूचित करती है, जब नई परिस्थितियो में नवीन कर्म-समूह का विपाक प्रारम्भ होता है।

यह कहना अयथार्थ न होगा कि सन्तति स्वतन्त्र है। अपने कर्म और अपनी इच्छाओ के वश इसकी प्रवृत्ति होती है। यह सेन्द्रियकाय और स्व-वेदना के विषयो का उत्पाद अन्य सन्तानो के सहयोग से करती है।

सत्य तो यह है कि कोई स्कन्ध एक भव से दूसरे भव में सक्रान्त नही होते। वस्तुत, सत्त्व का विनाश प्रतिक्षण होता है। वृद्ध शिशु नही है, किन्तु उससे भिन्न भी नही है। नारक मनुष्य नही है, किन्तु अन्य भी नही है। यह नैरात्म्य है। यह स्पष्ट है कि यह अपवादिका दृष्टि एक विशेष प्रकार की है। यह अवयवो को देखती है, अवयवी को नही। यह केवल धर्मों की सत्ता स्वीकार करती है, धर्मी की नही। कोई नित्य आत्मा नही है। शरीर को 'आत्मा' अवधारित करना मूढता नही है, क्योकि उसका दीर्घकालीन अवस्था न होता है, किन्तु जो प्रतिक्षण विसदृश होता रहता है, कैसे आत्मा हो सकता है?

नैरात्म्यवाद से पुनर्जन्म और कर्म के प्रति उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को क्षति नही पहुँचती। आत्मा की प्रतिज्ञा करना भूल है, सन्तति का उल्लेख करना चाहिए। सक्रान्ति का उल्लेख करना भूल है, कहना चाहिए कि मरण-चित्त प्रतिसन्धि-चित्त का उत्पाद करता है। "विज्ञान का अस्तित्व है, किन्तु विज्ञान नही जानता।"

इसमें वाक्-चातुरी है, किन्तु यह एक पहेली है। एक सूत्रान्त में कहा है कि बुद्ध सर्वज्ञ है, क्योकि जिस सन्तति की सज्ञा 'बुद्ध' है, उसका यह सामर्थ्य है कि चित्त के आभोगमात्र से इस सन्तति मे प्रत्येक विषय की यथाभूत प्रज्ञा उपस्थित होती है। जिस सन्तति की कल्पना बौद्ध करते है, उसमें आत्मा के सब सामर्थ्य पाये जाते है।

निर्वाण की कल्पना

निर्वाण का वाद भी योग से लिया गया है। सामान्य जन, चाहे गृही हो अथवा श्रमण, स्वर्ग की कामना से सन्तुष्ट होते है। कोई स्वर्ग में अप्सराओ के साथ सम्भोग करने की कामना से ब्रह्मचर्य का पालन करते है, कोई अलौकिक सिद्धियो के लाभ के लिए ध्यान में समापन्न होते हैं। बुद्ध अभिज्ञाओ के विना आर्यत्व को सम्भव नही मानते, किन्तु यथार्थ भिक्षु अध्रुव मे ध्रुव का अन्वेषण करता है। मोक्ष की एक अतिप्राचीन और लाक्षणिक सज्ञा 'अमृत' है।

मोक्ष-सज्ञा निश्चित थी। यह चेतोविमुक्ति है। मृत्यु पर विजय प्राप्त करके ही बुद्ध 'बुद्ध' हुए हैं। बुद्धत्व प्राप्त करने के अनन्तर शाक्यमुनि का जो पहला उद्गार था, वह यह था कि उन्होने 'अमृत' का लाभ किया है (मज्झिमनिकाय, १।१७२, महावग्ग, १।६, १२)। हमको सजय के अनुयायी शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के सघ में प्रविष्ट होने की कथा विदित

है। इन्होने आपस में यह समय किया था कि हममें से जो प्रथम अमृत का आविष्कार करेगा, वह उसे अपने सब ब्रह्मचारी को वता देगा (महावग्ग, १।२३)। उपनिषदो मे अमृत का निर्देश है, और वह उसे 'ब्रह्म' के नाम से सकीर्तित करते है। बौद्धधर्म मे ब्रह्म की उपेक्षा की गई है, किन्तु उसकी प्रतिज्ञा है कि 'अमृत' है। इस अमृत को निर्वाण, निरोध, परम क्षेम, विराग कहते है।

बौद्धधर्म मे श्रामण्य की आख्या ब्रह्मचर्य है, और आर्य-समापत्ति को 'ब्रह्मविहार' कहते है। भिक्षु के लिए सबसे वडा दण्ड 'ब्रह्मदण्ड' है। 'श्रामण्य' 'ब्राह्मण्य' है। आर्य की सज्ञाएँ ब्राह्मण, वेदगू, श्रोत्रिय और स्नातक है। किन्तु, वौद्ध उपनिषदो के 'आत्मा' और ब्रह्म' की उपेक्षा करते है। वह वेदान्तवर्णित योग का उल्लेख नही करते, जो ईश्वर मे जीवात्मा के लीन होने प्रक्रिया है।

इसका कोई प्रमाण नही है कि बौद्धो के निर्वाण की कल्पना ब्राह्मणो की किसी कल्पना का प्रतिपक्ष थी। निर्वाण एक अदृश्य स्थान है, जहाँ आर्य तिरोहित हो जाते है। उनका उदान (८।१०) मे (उदानवर्ग, ३०।३६ मे 'अचल पद' कहा है, अभिधर्मकोश, ४।२२६) बुद्ध कहते है कि जैसे हम यह नही जानते कि निर्वापित अग्नि कहाँ जाती है, उसी प्रकार हम नही कह सकते कि वह विमुक्त आर्य कहाँ जाते है, जिन्होने तृष्णारूपी ओघ का समतिक्रम किया है, और जिन्होने अकोप्य क्षेम का लाभ किया है। निर्वापित होने पर अग्नि अदृश्य हो जाती है, अर्थात् अग्नि नही रहती। इसी प्रकार, परिनिर्वृत आर्य, जीव, पुद्गल, चित्त नही रह जाता। भव के जितने परिचित आकार है, या जिनकी कल्पना हो सकती है, उनका अतिक्रमण करना ही मोक्ष है। यह अभाव नही है।

अर्हत् का यह पुराना वाक्य विचारणीय है--"मेरे लिए जाति (=जन्म) नही है। मैने अपना कर्त्तव्य सम्पन्न किया है, अब मेरे लिए और करणीय नही है। यहाँ मेरे पुन आगमन का कोई कारण नही है। निर्वाण सर्वश्रेष्ठ सुख है।"

किन्तु, उदायी पूछता है कि निर्वाण मे सुख कैसे है ? क्योकि वहाँ वेदना का अभाव है। शारिपुत्र उत्तर देते है कि निर्वाण सुखवेदना का अभाव ही है (अगुत्तर, ४।४१४)। इससे कोई-कोई यह अनुमान करते है कि निर्वाण अचेतन अवस्था है जहाँ वेदना का अभाव है, और विमुक्त पाषाण के तुल्य सुखी होता है। किन्तु, भारतीयो की दृष्टि मे पुद्गल और सुख क्या है, यह समझना कठिन है। अवाच्य का लक्षण नही वताया जा सकता। कहा जाता है कि सज्ञावेदित निरोध निर्वाण-सदृश है। यह समापत्ति अचेतन अवस्थामात्र नही है।

अब हमको यह देखना है कि निर्वाण का पीछे क्या स्वरूप हो गया। जो निकाय 'आत्मा' या 'प्रभास्वर चित्त' स्वीकार करते है, वह उसे चैतसिक धर्मो का आश्रय मानते है, और अमृत तथा विनश्वर की सज्ञाओ को परस्पर सम्बद्ध करते है।

पुद्गलवादी मानते है कि आत्मा एक भव से भवान्तर मे सक्रमण करता है, और निर्वाण प्राप्त कर धर्मो के रूप मे विद्यमान रह सकता है।

'कथावत्थु' की अर्थकथा के अनुसार यह कहना कि पुद्गल का निर्वाण में अस्तित्व है, नित्यता की प्रतिज्ञा करना है, और इसका प्रत्याख्यान करना पुद्गल के निरोध को स्वीकार करना है। भव्य के अनुसार वात्सीपुत्रीय कहते हैं कि हम न यही कह सकते हैं कि निर्वाण धर्म है, और न यही कह सकते हैं कि यह उससे अन्य है। विज्ञानवाद ग्राह्य-ग्राहक की कल्पना से क्लिष्ट विशिष्ट चित्तों से भिन्न एक विशुद्ध 'प्रभास्वर चित्त' मानता है। हीनयान में इस मत का पूर्वरूप है (अंगुत्तर, १।१०, अभिधर्मकोश, ६।७७, दीघनिकाय, १।७६, बुद्धघोष अत्थसालिनी, पृ० १४०)। अत, पाँच या आठ पुद्गलवादी निकाय, चार महासांघिक निकाय, (महासांघिक, एकव्यवहारिक, लोकोत्तरवादी, कुक्कुटिक) और विभज्यवादी निर्वाण की इस कल्पना को मानते हैं। किन्तु, जिन निकायों को हम सबसे अधिक जानते हैं, वह नैरात्म्यवादी हैं। नैरात्म्य को मानते हुए भी सन्तति के नैरन्तर्य में विश्वास किया जा सकता है। आर्य दग्ध बीज के सदृश अक्लिष्ट और वन्ध्य-चित्त का उत्पाद करके सन्तति का उच्छेद करता है। यथा प्रशस्तपादभाष्य में कहा है—**अत्यन्तमुच्छिद्यते सन्ततित्वाद् दीपसन्ततिवत्**। वह कहते हैं कि यदि आत्मा सन्ततिमात्र है, तो निर्वाण अभावमात्र है। मज्झिमनिकाय में कहा है—**न कत्थचि उप्पज्जति न कुहिंचि उप्पज्जति** (मज्झिम, ३।१०३)।

किन्तु, बौद्धों की दृष्टि में निर्वाण और आत्मा के प्रश्न एक दूसरे से सम्बद्ध नहीं हैं। सौत्रान्तिक निर्वाण को अभाव मानते हैं। किन्तु, वैभाषिक उसे द्रव्य-सत् मानते हैं। सौत्रान्तिकों का मत है कि निर्वाण हेतु-फल-परम्परा का उच्छेद है। वैभाषिकों के मत में इस उच्छेद का हेतु निर्वाण का प्रतिलाभ है। वैभाषिकों के अनुसार निर्वाण में प्रतिसन्धि और मृत्यु का सर्वथा निरोध है, निर्वाण अजात और अविपरिणामी है, यह क्लेश दु ख और भव का निरोध करनेवाला सेतु है। यहाँतक समझने में कोई कठिनाई नहीं है। किन्तु, प्रश्न है कि मरणानन्तर आर्य का निर्वाण से क्या सम्बन्ध होगा। हम जानना चाहते हैं कि यह निकाय निर्वाण-प्रवेश का क्या अर्थ करता है, उस निर्वाण का, जिसका अवस्थान आर्य के चरम चित्त के अनन्तर होता है (बुद्धघोष)।

हमको इन प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता। चित्त-निरोध और स्कन्धों का अत्यय होने से ही निर्वाण में प्रवेश होता है। यही मोक्ष है। किन्तु, जो स्वीकार करता है कि मोक्ष है, वह यह भी मानता है कि मोक्ष नित्य और शान्त है। अन्यथा मोक्ष में किसी को भी रुचि न होगी (संघभद्र अभिधर्मकोश, ५।८)। आभिधार्मिक कहता है कि यह वस्तु-सत् है, और उसका एक आकार दु ख-विमोक्ष है, किन्तु उसके सम्बन्ध में न यह कह सकते हैं कि इसका अस्तित्व है, और न यह कह सकते हैं कि नहीं है।

दृष्टधर्म-निर्वाण

इस जन्म में अमृत का सुख होता है, यह भाव भी योग से लिया गया है। अंगुत्तर, २।२०६, मज्झिम, १।३४१, अभिधर्मकोश ३।१२ इत्यादि में कहा है कि वह विमुक्त है, निर्वृत है, विगततृष्ण है। योगी समापत्ति में प्रवेश करता है। जिस क्षण में

प्रज्ञा का उत्पाद होता है, उस क्षण में वह निर्माण का साक्षात्कार करता है। (मज्झिम, १।५१०, अगुत्तर, १।१४९, 'निब्बान पच्चत्त वेदितब्ब विञ्जूहि')।

आभिधार्मिक कहते है कि आज्ञातावीन्द्रिय से समन्वागत आर्य ही निर्वाण का दर्शन करता है, यह इन्द्रिय 'अरियचक्खु' (=आर्यचक्षु) कहलाती है। यह मन का वेदना-विशेष और श्रद्धादि पचेन्द्रिय से सम्प्रयोग है। इस इन्द्रिय के द्वारा निर्वाण का 'उपभोग' होता है, क्योकि आर्य सौमनस्य और सुख का अनुभव करता है, जो निर्वाण को स्पृष्ट करके ही होता है। (अभिधर्मकोश, १।१०१, २।११०, ११२, ११६)।

ध्यान और आरूप्यो के अभ्यास से निर्वाण मे सहायता मिलती है, किन्तु बुद्ध को यह समापत्तियाँ अपर्याप्त प्रतीत हुई। उन्होने इस कमी को पूरा किया। उनकी शिक्षा है कि निर्वाण 'सदिट्ठिक' (दिट्ठधम्म-निब्बान) है। बुद्ध कहते है कि राग के प्रहाण से अमृतत्व का साक्षात्कार होता है (सयुत्त, ५।१८१)। अन्यत्र दृष्टधर्म-निर्वाण को क्षय-ज्ञान से सज्ञावेदित-निरोध कहा गया है (अगुत्तर, ४।४५४)। यह दो परस्पर विरोधी सज्ञाएँ है। उदायी आनन्द से पूछते है—दृष्टधर्म-निर्वाण क्या है? आनन्द उत्तर देते है—कामसुख से वीतराग भिक्षु ध्यान और आरूप्यो मे समापन्न होता है। इन अवस्थाओ मे से प्रत्येक के लिए भगवान् ने पर्याय से कहा है कि यह दृष्टधर्म-निर्वाण है। किन्तु, जब भिक्षु चतुर्थ आरूप्य का समतिक्रमण कर सज्ञावेदित निरोध का साक्षात्कार करता है, और वहाँ अवस्थान करता है, और ज्ञान द्वारा उसके क्लेश क्षीण होते है, तब भगवान् इस अवस्था को निष्पर्यायेण दृष्टधर्म-निर्वाण कहते है (अगुत्तर, ४।४५४)।

एक दूसरा वाक्य है—'दृष्टधर्म-सुख-विहार'। आभिधार्मिक इस वाक्य का व्यवहार केवल अर्हत् के लिए करते मालूम होते है। निर्वाण की प्राप्ति एक बात है, निर्वाण का सुख दूसरी बात है। आर्य निर्वाण की प्राप्ति करता है। उनके क्लेश क्षीण होते है, क्योकि उसके और निर्वाण के बीच एक सम्बन्ध-विशेष होता है। आर्यत्व निर्वाण नही है, किन्तु निर्वाण की प्राप्ति है।

आभिधार्मिक विशेष करते है—१ आत्यन्तिक निर्वाण और क्लेशक्षय, २ निर्वाण की प्राप्ति जो सर्वक्लेश और अपूर्व भव को अनुत्पत्तिधर्मा बनाती है। यह सोपधिशेष निर्वाण है। ३ निर्वाण-प्राप्ति का ज्ञान। इस ज्ञान का लाभ ध्यान मे होता है। यह सुख है। यह इस लोक का अग्र-निर्वाण है। ४ सज्ञावेदित निरोध की प्राप्ति। इसका सवेदन काय मे होता है। ५ चरम चित्त मे निर्वाण-प्रवेश। यह निरुपधिशेष निर्वाण है। ६ अमुक-अमुक क्लेश के प्रति निर्वाण की प्राप्ति। यह आशिक आर्यत्व है।

निर्वाण का स्वरूप परम्परा के अनुसार

कुछ प्रश्न स्थापनीय है, जिनका विसर्जन भगवान् ने नही किया है। त्रिपिटक मे यह स्थापनीय प्रश्न पाये जाते है। बुद्ध इस प्रश्न का उत्तर नही देते कि तथागत है, या नही। वह इस प्रश्न का भी उत्तर नही देते कि जीवितेन्द्रिय शरीर से भिन्न है या अभिन्न। परमार्थ-

दृष्टि से सत्त्व की सत्ता नही है। सत्त्व संवृति-सत् है, वह प्रज्ञप्तिमात्र है। वसुबन्धु (अभिधर्म-कोश, ९) इस सम्बन्ध में नागसेन की एक कथा का उल्लेख करते है। वसुबन्धु कहते हैं कि भगवान् प्रश्नकर्त्ता के आशय को ध्यान में रखकर उत्तर देते है। जीवितेन्द्रिय-सम्बन्धी स्थापनीय प्रश्न का अर्थ पुद्‌गलवादी अन्य प्रकार से करते है। यदि बुद्ध तत्त्व या अन्यत्व का प्रतिषेध करते है, तो इसका कारण यह है कि पुद्‌गल यथार्थ में स्कन्धो से अभिन्न नही है और न उनसे भिन्न है। स्कन्धो के प्रति पुद्‌गल अवाच्य है। "स्कन्धो से पृथक् पुद्‌गल की उपलब्धि नही होती, अत यह उनसे भिन्न नही है। यह तत्स्वभाव नही है, क्योंकि उस अवस्था मे यह जन्म-मरण के अधीन होगा। पुद्‌गल द्रव्य है, यह कर्म का कारक और फल का भोक्ता है।"

निर्वाण का प्रश्न स्थापनीय नही है, किन्तु निर्वृत आर्य का प्रश्न स्थापनीय है। निर्वाण है, किन्तु यह क्या है ? इसका उत्तर नही है।

सौत्रान्तिक आकाश के तुल्य निर्वाण का प्रतिषेध करते है। वह कहते है कि यह अभावमात्र है। सर्वास्तिवादियो का मत है कि निर्वाण परमार्थ-सत्, द्रव्य, 'अत्थिधम्म' (बुद्धघोष) है। बुद्ध ने निर्वाण का व्याकरण किया है, क्योकि यह तृतीय आर्यसत्य है। यह 'लक्षण-धर्म' (लक्खण-धम्म) है। दु:ख का निरोध है, और दु:ख-निरोध का अर्थ, विषय, (वत्थुसच्च = वस्तुसत्य) भी है, अर्थात् उसका विषय असन्मात्र, विरोधमात्र नही है, किन्तु द्रव्य-सत् है (कथावत्थु)।

प्रारम्भिक काल के बौद्धो के लिए एक दूसरा प्रश्न है। निर्वाण है, किन्तु उसका स्वरूप हम क्या समझते है ? क्या हम यह कह सकते है कि मुक्तावस्था का अस्तित्व कहाँ है ? क्या यह कहना अधिक ठीक होगा कि इसका अस्तित्व नही है, अथवा क्या हम यह कह सकते है कि यह है भी, और नही भी है, या इनमे से हम कुछ भी नही कह सकते ? इन प्रश्नो का उत्तर बुद्ध ने नही दिया है। निर्वाण है, किन्तु वह अनाख्यात है।

इसका प्रमाण है कि निकायो ने इन दो प्रश्नो में विशेष किया है। वैभाषिक निर्वाण के प्रश्न को स्थापनीय नही समझते। निर्वाण है, किन्तु तथागत का मरणानन्तर अस्तित्व रहता है या नही, यह प्रश्न स्थापनीय है, क्योकि तथागत प्रज्ञप्तिमात्र है।

स्थविरो के लिए निर्वाण का प्रश्न स्थापनीय है, क्योकि निर्वाण प्रज्ञप्तिमात्र है। उनका यह मत उस सूत्र के आधार पर नही है, जिसमें तथागत के अस्तित्व के प्रश्न का उल्लेख है, किन्तु यह शारिपुत्र के एक दूसरे सूत्र पर आश्रित है, जिसमे वह निर्वाण के प्रश्न का व्याकरण नही करते (अगुत्तर, २।१६१)। परिनिर्वृत चक्षुरादि से जाना नही जाता, यह कई स्थलो मे निर्दिष्ट है—

"जब आर्य का तिरोभाव होता है, तब क्या यह कहना चाहिए कि वह नही है (नत्थि), वह सदा के लिए अरोग (सस्सतिया अरोगो) है ? जिसका तिरोभाव हुआ है, उसका कोई प्रमाण नही है। उसके सम्बन्ध मे सर्वबुद्धि की, सर्ववचन की हानि होती है" (सुत्त-निपात, १०७४)।

"तथागत के सम्बन्ध मे यह प्रज्ञप्ति नही हो सकती कि वह रूपादि है। इन प्रज्ञप्तियो से वह विनिर्मुक्त है। वह मदोदधि के सदृश गम्भीर और अप्रमेय है। उसके लिए हम नही कह सकते कि वह है वह नही है इत्यादि।" (सयुत्त, ४।३७४)

"वह गम्भीर, अप्रमेय, असख्य है। उसे 'निर्वृत' कहते हैं, क्योकि उसके राग, द्वेष और मोह क्षीण हो चुके हैं।" (नेत्तिप्पकरण)

इन वचनो की सहायता से हम समझते है कि बुद्ध ने भव और विभव की तृष्णा की क्यो निन्दा की है (अभिधर्मकोश, ५।१९)। इनमें से एक भी निर्वाण नही है। इसी कारण से बुद्ध दो अन्तो का अपवाद किया करते हैं। यह कहना कि जो भिक्षु क्लेशक्षय करके मृत्यु को प्राप्त होता है, वह निरुद्ध हो जाता है, उसका अस्तित्व और नही होता (न होति), पापिका दृष्टि है (सयुक्त, ३।१०९)। दूसरी ओर यह कहना कि आर्य दुःख से विनिर्मुक्त हो नित्य आरोग्यावस्था में अवस्थान करता है, उचित नही है। (किन्तु, निर्वाण का लक्षण 'आरोग्य' कहा गया है।)

पूसें का विचार है कि इनमें से कई निरूपण कृत्रिम हैं। उनका विश्वास है कि एक समय था, जब बौद्धधर्म इन वादो से विनिर्मुक्त था और निर्वाण-लाभ के लिए सर्वज्ञेय के सर्वथा ज्ञान को आवश्यक नही समझा जाता था। निर्वाण अभावमात्र है, इस विचार से भी वह परिचित नही था। वह अभी किसी पद्धति में गठित नही हुआ था, किन्तु वह बुद्ध मे प्रतिसन्धि में, निर्वाण में, और परम क्षेम मे विश्वास करता था। हमको ऐसी गाथाएँ मिलती हैं, जहाँ 'सन्तान' शब्द प्रयुक्त हुआ है। निर्वाण के सम्बन्ध मे वह गाथाएँ अपने को स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त करती हैं। यह सन्तान ऐसा है, जहाँ कोई लज्जा नही है। स्कन्धो का इस प्रकार सम्प्रधारण कर वीर्यवान् भिक्षु राग का प्रहाण करता है, शरण का अन्वेषण करता है, यह समझकर कि उसका शिर अग्नि से प्रज्वलित हो रहा है, वह अचल, ध्रुव को लक्ष्य मानकर अग्रसर होता है (सयुक्त, ३।१४३)। किन्तु, वह परिनिर्वृत आर्य की अवस्था के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की कल्पना करने का प्रतिषेध करता है। क्योकि, वह वाणी और मन से अतीत हो गया है। जिस प्रकार वह कामसुख और कष्टतप दोनो अन्तो का परिहार करता है, उसी प्रकार वह शाश्वतत्व, विभव, लोकप्रभव आदि की निन्दा करता है। वह दृष्टियो को विपर्यास और मोह का कारण समझता है। जो कहते हैं कि तर्क मेरी ओर है, आपका वाद मिथ्या है, जो मैं कहता हूँ, वह सत्य है, अन्य सब मूर्खता है, उसका प्रलाप शान्ति, वैराग्य और मोक्ष के अनुकूल नही है।

पूसे के अनुसार हीनयान एक विद्या नही है। योग की अन्य शाखाएँ हैं, जिनमें मोक्ष किसी विद्या पर आश्रित है। इनमें आत्मा और ईश्वर के तादात्म्य-ज्ञान पर, अथवा प्रकृति और पुरुष के विवेचनात्मक ज्ञान पर मोक्ष निर्भर करता है। किन्तु, यह ज्ञान आध्यात्मिक नही है। यह मानना कि शरीर अमेध्य है, जीवन क्षणिक है, वेदना दुःखात्मक है, वस्तु सारहीन है, 'ज्ञान' नही है। यह एक दृढ विश्वास है, जो राग का क्षय करता है।

आभिधार्मिक कहते हैं कि अपने श्रोताओ के चरित के अनुसार वुद्ध विविध पर्यायो से देशना करते थे, और इसलिए कुछ सूत्रान्त 'नीतार्थ' हैं और कुछ 'नेयार्थ'। आगम के अनुसार, वुद्ध एक चिकित्सक है। आभिधार्मिको के अनुसार वह किसी को पुद्गल की देशना देते है, और किसी को नैरात्म्य की।

जो दृष्टि से क्षत होता है, वह आत्मा के अस्तित्व मे प्रतिपन्न है। जो सवृति-सत् (प्राज्ञप्तिक) पुद्गल को नही मानता, वह कुशल कर्म का भ्रश करता है। इसलिए, वुद्ध यह नही कहते कि जीव अनन्य है या अन्य, और इस भय से कि कही ऐसा कहने से लोग यह न समझने लगे कि प्राज्ञप्तिक जीव भी नही है। वह यह भी नही कहते कि जीव का वास्तव मे अस्तित्व नही है। अत, उनकी देशना उसी प्रकार होती है, जैसे व्याघ्री अपने वच्चे को दांत से पकडकर ले जाती है।

सेनार्त्त अपनी पुस्तक में कहते हैं कि वौद्धो का नास्तिवाद योग के शील-सम्वन्धी विचारो से प्रभावित हुआ है। इन्द्रिय-विषय के महत्त्व को न मानने से, और इसपर जोर देने से कि विषयो को इस प्रकार अवधारित करना चाहिए, मानो उनका अस्तित्व ही नही है; हम विना किसी कठिनाई के इस निर्णय पर पहुँच सकते हैं कि इन्द्रियार्थ का अस्तित्व ही नही है।

'धम्मपद' की एक गाथा और 'सयुक्त' के एक सूत्रान्त (२।१४२) की परस्पर तुलना करने से इसकी सत्यता स्पष्ट हो जाती है। "जो सत्त्व लोक को जल-वुद्वुद, मरीचिका आदि अवधारित करता है, वह मृत्युराज के अधीन नही होता।" जिस सूत्रान्त में प्रज्ञापारमिताओ का दर्शन वीजरूप मे पाया जाता है, वह पुद्गल के स्कन्धो को द्रव्य-सत् नही मानता, उसको असद्भूत मानता है। वुद्ध ने कहा है कि शरीर फेनोपम है। वेदना जल-वुद्वुद के समान है, सज्ञा मरीचिका के तुल्य है, सस्कार कदली-स्तम्भवत् नि सार है, विज्ञान मायावत् प्रतिभास है। आर्यमार्ग के सिद्धान्त और उसके अभ्यास का झुकाव पुद्गल-नैरात्म्य की ओर था, पश्चात् वह धर्म-नैरात्म्य की ओर हो गया।

राग का प्रतिपक्ष यथार्थ ज्ञान है। एक निमित्त का निवारण प्रतिपक्ष नियम से होता है (मज्झिम, १।११९)। जव इष्ट सज्ञा का एकान्तत प्रहाण होता है, तव राग का निरोध होता है। अत जरा, रोग और मरण का चिन्तन करना आवश्यक है, और यह जानना आवश्यक है कि महान् कष्ट उठाकर जो कामसुख लब्ध होता है, वह क्षणिक है, और उसके लिए नरक का दु ख सहन करना होता है। यह तत्त्व-मनस्कार है, किन्तु यह अपर्याप्त है। राग-रोग अधिमुक्ति-मनस्कार (अभिधर्मकोश, २।३२५) का उत्पाद करता है। इसलिए, अशुचि और अशुभ की भावना करने से स्त्री-सज्ञा की व्यावृत्ति होती है। इस रीति से योगी यह अवधारित करने लगता है कि सव दु ख है 'सर्वं दु खम्' यह एक दृष्टि-विशेष से ही सत्य है। वौद्धो का यह विश्वास नही है कि ससार केवल दु ख-ही-दु ख है। इसके प्रतिकूल वह मानते है कि इष्ट वस्तु मनोज्ञ है, और इसी-लिए आर्य उनको अमनोज्ञ के आकार में देखने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। यह ठीक है कि सौत्रान्तिक और महासाघिक मानते है कि सर्ववेदना दु ख-स्वभाव हैं (अभिधर्मकोश, ६।३)।

किन्तु इन्ही बौद्धो का यह भी कहना है, कि जो बुद्ध को एक पुष्प दान मे देता है, वह इस दान के कारण कल्प-भर स्वर्ग-सुख का भोग करता है, किन्तु वह कहते है कि यह सुखावेदना आर्यों को प्रतिकूल प्रतीत होती है। वह कहेगे कि सासारिक सुख यथार्थ सुख नही है, क्योकि यह अनित्य है। इसी प्रकार, वह कहेगे कि 'आत्मा' मायोपम है। क्योकि, वह अहकार और ममकार का प्रहाण करना चाहते है।

अहकार और ममत्व के विनष्ट होने पर योगी शान्त होता है। उसकी रुचि निर्वाण मे भी नही होती। "मै विमुक्त और वीतराग हूँ। मै विशुद्ध हूँ, किन्तु इस विशुद्धि मे, इस विमुक्ति में, चाहे वह निर्वाण ही क्यो न हो, मेरा अधिमोक्ष न होना चाहिए।

वैभाषिक और सौत्रान्तिक मत

पूसें के अनुसार आरम्भ में बौद्धधर्म आत्मा, पुनर्जन्म और निर्वाण में विश्वास करता था। वह दर्शन न था। पीछे से धर्म-नैरात्म्य की भावना और मद-निर्मर्दन के लिए नैरात्म्य-वाद का प्रारम्भ हुआ। इसके दो रूप हुए—पुद्गलवाद और सन्ततिवाद। किन्तु, पुनर्जन्म मे जो विश्वास था, वह नष्ट न हो सका। जो सन्ततिवाद के माननेवाले है, उनमे कोई निर्वाण को वस्तु-सत् मानते है, कोई निर्वाण को क्लेश और पुनर्भव का अभावमात्र मानते है। यह दूसरे सौत्रान्तिक और 'पुब्बसेलिय' है। इनमें हम स्थविरो को भी सम्मिलित कर सकते है। पहली कोटि में विभज्यवादी, सर्वास्तिवादी और वैभाषिक है, अर्थात् आभिधार्मिक प्राय पहले मत के है। 'पुब्बसेलिय' निर्वाण को वस्तु-सत् नही मानते (बुद्धघोष के अनुसार)। स्थविरो का भी मत है कि निर्वाण का अस्तित्व नही है।

सौत्रान्तिको का कहना है कि जो कुछ है, वह हेतु-प्रत्यय-जनित है, अर्थात् वह सस्कृत, प्रतीत्यसमुत्पन्न, हेतुप्रभव है। सस्कृत सस्कार भी है। यह अन्य सस्कृतो का उत्पाद करता है। हेतुफल-परम्परा के बाहर कुछ भी नही है। यह परम्परा प्रवृत्ति, ससार है। निर्वाण केवल क्लेशजन्म का अभाव है, क्लेशकर्म-जन्मरूपी प्रवृत्ति की निवृत्तिमात्र है। एक शब्द मे केवल सस्कृत का अस्तित्व है। वे असस्कृत का प्रत्याख्यान नही करते, किन्तु वह कहते है कि यह कोई लोकोत्तर वस्तु-सत् नही है, यह असद्भूत है, यथा लोक मे कहते है कि उत्पत्ति के पूर्व या निष्पत्ति के पश्चात् शब्द का अस्तित्व नही होता। वे एक सूत्र उद्धृत करते है, जिसे उनके प्रतिपक्षी प्रामाणिक नही मानते—अतीत और अनागत वस्तु, आकाश, पुद्गल और निर्वाण प्रज्ञप्तिमात्र है (अभिधर्मकोश, ४।२)। निर्वाण अभावमात्र, अप्रवृत्तिमात्र (अप्पवट्ट) है। सूत्र में निर्दिष्ट लक्षण इस प्रकार है—सर्वथा प्रहाण, वैराग्य, विशुद्धि, क्षय, निरोध, दुःख का अत्यन्त अत्यय, अनुत्पाद, अनुपादान और अप्रादुर्भाव। यह शान्त, प्रणीत है, अर्थात् सर्वोपधि का प्रत्याख्यान, तृष्णा-क्षय, निर्वाण है (सयुत्त, १३।५, अभिधर्मकोश, २, पृ० २८४)।

आगम के अनुसार निर्वाण तृतीय सत्य है। यह दुःख का निरोध, अर्थात् तृष्णा का क्षय, तृष्णा से वैराग्य, तृष्णा का प्रत्याख्यान, तृष्णा से विमुक्ति है। इसको अक्षरश नही लेना चाहिए, क्योकि ऐसे अनेक वचन है, जिनमे कहा है कि दुःख का निरोध जन्म, भव, स्कन्धो का निरोध है, क्योकि दुःख का लक्षण तृष्णा नही है, क्योकि तृष्णा दुःख का समुदय

है। निर्वाण का लक्षण कुछ भी क्यो न हो, यह 'अनुत्पाद' है। स्थविर निर्वाण को परमार्थ-सत् नही मानते (अभिधर्मकोश, ६।४)। स्थविर के अनुसार निर्वाण का प्रश्न १४ स्थापनीय प्रश्नो मे से है। (अगुत्तर, २।१६४, सघभद्र की आलोचना के लिए कोश ६।४ देखिए)।

सौत्रान्तिक यह निष्कर्ष निकालते है कि सूत्र का यह दृष्टान्त प्रणीत है। यथा अग्नि का निर्वाण है, तथा चेतोविमुक्ति है। अग्नि का निर्वाण, अग्नि का अत्ययमात्र है। यह द्रव्य नही है (कोश, २।५५)। पर, सन्दर्भ से मालूम होता है कि अग्नि का निर्वाण अग्नि का अभाव नही है (उदान, ८।१०, मज्झिम, १।४८७; थेरीगाथा, ११५; सुत्तनिपात, १०७४)। सघभद्र का निरूपण है कि अग्नि की उपमा से हमको यह कहने का अधिकार नही है कि निर्वाण 'अभाव' है। यह निर्वाण का दृष्टान्त नही है, किन्तु यह निरुपधिशेष निर्वाण-प्रवेश के क्षण में जिसका अत्यय होता है, उसी की उपमा है (कोश, ६।६६)। राग और चित्त के निरोध होने पर ही प्रवेश हो सकता है।

असंस्कृत के सम्बन्ध में वचन

ऐसे भी वचन है, जो असंस्कृत को अभाव बताते है, किन्तु अनेक वचन ऐसे भी हैं, जो असस्कृत का लक्षण अमृत, अकोप्य अवाच्य और द्रव्य बताते हैं। प्राचीन साहित्य में अनेक वाक्य है, जो इसका समर्थन करते हैं कि यह 'भाव' है। अमृत और असंस्कृत यह दो सज्ञाएँ एक ही समय की नही है। निर्वाण अमृत है, यह पुरातन विचार है। निर्वाण अकृत, असस्कृत है, यह आख्याएँ उतनी पुरानी नही है, और ये पारिभाषिक शब्द हैं। जब लोकधातु की कल्पना हुई, तब निर्वाण को प्रतीत्यसमुत्पाद की तन्त्री से बहिर्गत किया और असस्कृत की सज्ञा दी।

१ धम्मपद में इसे 'अमत पद' कहा है। थेरीगाथा (५११–५१३) में कहा है—

अजरं हि विज्जमाने किन्तव कामेहि ये सुजरा।
मरणब्याधिगहिता सब्बा सब्बत्थ जातियो॥
इदमजरमिदममरं इदमजरामरणपदमसोकं।
असपत्तमसंबाधं अखलितमभयं निरुपतापं॥
अधिगतमिदं बहूहि अमतं अज्जापि च लभनीयमिदं।
यो योनिसो पयुञ्जति न च सक्का अघटमानेन॥

मज्झिम (१।१६७) में निर्वाण को अनुत्तर-योगक्खेम, 'अनुप्पन्न' कहा है।

२ असस्कृत को उदान (८।३) में तथा इतिवुक्तक (४३) में अनुप्पन्न (=अनुत्पन्न), अकत (=अकृत) कहा है। अगुत्तर (२।३४), सयुत्त (३१।१२) मे कहा है कि सब सस्कृत और असस्कृत वस्तुओ में वर्त्मच्छेद, तृष्णाक्षय, विराग, निर्वाण अग्र है। निर्वाण अग्रधर्म, द्वितीय रत्न, अग्रप्रसाद, शरण है। संयुत्त के असखतवग्ग (४।३५७) में अनेक पर्यायवाची शब्द हैं। यह राग, द्वेष और मोह का क्षय है। मैं तुमको अन्त, अनास्रव, सत्य, पार, निपुण, सुदुर्दर्श,

अजर, ध्रुव, अनिदर्शन, निष्प्रपच, सत्, अमृत, प्रणीत, शिव, क्षेम, आश्चर्य अद्भुत, निर्वाण, विराग, शुद्धि, मुक्ति, अनालय, द्वीप, लेण, त्राण, परायण का निर्देश करूँगा।

३ निर्वाण, असस्कृत, अमृत, निरोध—इन शब्दो के आगे धातु शब्द जोडते हैं। सर्वास्तिवादी के लिए विराग-धातु, प्रहाण-धातु, निरोध-धातु, निर्वाण को प्रज्ञप्त करता हैं। यह आख्याएँ आर्य की अवस्था को प्रज्ञप्त नही करती। जब हम कहते हैं कि यह अभिसमय तथा निर्वाण-प्रवण नही है, तब निर्वाण का अर्थ चित्त की शान्ति होता है। 'निर्वाण-धातु' केवल शाश्वत निर्वाण है। बौद्धो के अनुसार केवल तीन धातु हैं—कामधातु, रूप°, आरूप्य°। किन्तु, इतिवुत्तक (५१) में भगवान् की शिक्षा है कि तीन धातु रूप°, अरूप° और निरोध-धातु हैं। निर्वाण को प्राय पद, शरण, पुर अवधारित करते हैं। आर्य निर्वाण मे प्रवेश करता है (प्रविशति)। निर्वाण-धातु जहाँ आर्य का ह्रास या वृद्धि नही होती (अगुत्तर, ४।२०२), निर्वाण नामक भाजन है। अभिसमयालकारालोक के अनुसार निर्वाण को धातु कहते है, क्योकि यह आर्य-चित्त का आलम्बन है। आर्य विनश्वर अर्थों से अपने चित्त को व्यावृत्त करता है, और अमृता धातु की भावना करता है (अगुत्तर, ४।४२३)।

निर्वाण का मुख्य आकार

निर्वाण का सबसे मुख्य आकार 'क्षय' का है। वस्तुत., निर्वाण निरोध है। निर्वाण अप्रादुर्भाव है। यह तृष्णाक्षय और दु खनिरोध है। सर्वास्तिवादी उसे प्रतिसख्या-निरोध कहते हैं। आर्य समाधि मे इसका दर्शन करते हैं, किन्तु यदि तत्त्व का साक्षात्कार केवल समाधि की अवस्था मे होता है, तो वह वाणी का विषय नही हो सकता। शास्ता ने इसे मुख्यत 'निरोध' व्याकृत किया है। यह द्रव्य है, कुशल है, नित्य है। इसे निरोध, विसयोग कहते हैं।

निरोध वस्तु-सत् है। इसी प्रकार मण्डनमिश्र का कहना है कि अविद्या-निवृत्ति जो 'अभाव' है, विमुक्त आर्य मे नित्य अवस्थान करती है। न्याय-वैशेषिक इन विचारो मे परिचित हैं। निरोध केवल एक आकार है। निर्वाण मे अन्य आकार शान्त, प्रणीत, नि सरण हैं। निरोध द्रव्य है, अभाव नहीं है। इसमे नीचे दिये हुए हेतु बताये जाते हैं—

१ यदि यह अभावमात्र होता तो यह आर्य-सत्य कैसे होता? जिनकी सत्ता नहीं है, वह मन का विषय नही हो सकता।

२ अभाव को तृतीय सत्य कैसे अवधारित करते?

३ अभाव सस्कृत-असस्कृत मे अग्र कैसे होता?

४ यदि तृतीय आर्यसत्य का विषय द्रव्य-सत् नही है, तो उसके उपदेश मे क्या लाभ है?

५ यदि निरोध निवृत्तिमात्र है, तो उच्छेद-दृष्टि सम्यक् दृष्टि होगी।

यद्यपि रोग का अभावमात्र है, तथापि यह सद्भूत है, और इसे आरोग्य कहते हैं। दु ख का अभाव सुख कहलाता है।

सस्कृत के लक्षणो से विनिर्मुक्त पदार्थ 'असस्कृत' है, किन्तु आर्यत्व राग का अभाव है, और मार्गजनित है। यह 'सस्कृत' है, अत दो में विशेष करना चाहिए—

१ निर्वाण राग-क्षय है, उस क्लेश से भिन्न एक धर्म है, जिसका यह क्षय करता है, उस मार्ग से अन्य है, जो निर्वाण का प्रतिपादन करता है।

२ अर्हत्व निर्वाण नही है, किन्तु निर्वाण का लाभ है।

निर्वाण का त्रिविध आकार है—विराग-धातु, प्रहाण-धातु, निरोध-धातु, (कोश, ६।७६,७८)। आर्य निर्वाण का उत्पाद नही करता (उत्पादयति), वह उसका साक्षाकार करता है (साक्षीकरोति), वह उसका प्रतिलाभ करता है (प्राप्नोति)। मार्ग निर्वाण का उत्पाद नही करता, यह उसकी प्राप्ति का उत्पाद करता है।

निर्वाण के अन्य प्रकार

निर्वाण सुख है, शान्त है, प्रणीत है। जो उसे दु खवत् देखता है, उसके लिए मोक्ष सम्भव नही है (अगुत्तर, ४।४४२)। अभिधर्मकोश (७।१३) मे इन आकारो का वर्णन है। मिलिन्दप्रश्न में है कि निर्वाण-धातु 'अत्थिधम्म' (=अस्तिधर्म), एकान्तसुख, अप्रतिभाग है। मिलिन्द पुन कहते है कि उसका लक्षण 'स्वरूपत' नही बताया जा सकता, किन्तु 'गुणत' दृष्टान्त के रूप मे कुछ कहा जा सकता है, यथा जल पिपासा को शान्त (निव्वापन) करता है, उसी प्रकार निर्वाण त्रिविध तृष्णा का निरोध करता है।

तदग-निर्वाण

निर्वाण एक, नित्य, अविपरिणामी है, किन्तु कोई एक क्लेश के क्षय का लाभ करते हैं, अर्थात् उस क्लेश के प्रति निर्वाण का अधिगम करते है। यह 'तदग-निव्वान' है। अगुत्तर (४।४१०) से इसका व्याख्यान है। सर्वास्तिवादी निर्वाण का लक्षण निरोध, विसयोग बताते हैं। यह एक द्रव्य है, जिसकी प्राप्ति योगी को होती है। जितने क्लेश है, उतने विसयोग हैं। विसयोग की प्राप्ति केवल आर्यों के लिए नही है। जो एक क्लेश से विरक्त है, वह इस क्लेश के प्रति निर्वाण का लाभ करता है।

दो निर्वाण-धातु

दो निर्वाणो मे विशेष करते हैं। यह इस प्रकार है—स-उपादिसेस, अनुपादिसेस या सोपधिसेस, निरुपधिसेस। उपादि (=उपादान) प्राय उपादान-स्कन्ध के अर्थ में प्रयुक्त होता है। पहला स्कन्ध-सहगत निर्वाण है, दूसरा स्कन्ध-विनिर्मुक्त है। पहले मे राग क्षीण हो चुका है, किन्तु स्कन्ध हैं। इसे 'स-उपादि' कहते हैं। जब अर्हत् का मरण होता है, तब वह द्वितीय निर्वाण मे प्रवेश करता है। यह निश्चित नहीं है कि यह निरूपण सबसे प्राचीन है।

शरवात्स्की का मत

पूसे के मत का हमने विस्तार से वर्णन किया है। शरवात्स्की ने 'कन्सेप्शन ऑव बुद्धिष्ट निर्वाण' में इस मत का खण्डन किया है। पूसे ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि

आरम्भ मे निर्वाण आत्मा के अमृतत्व मे विश्वासमात्र था। उन्होने मान लिया है कि बौद्धधर्म का एक पूर्वरूप था, जो त्रिपिटक के विचारो से सर्वथा भिन्न, कदाचित् उसके प्रतिकूल था। नास्तित्व, आत्म-प्रतिषेध, स्कन्धमात्र, निरोध, निराशावादिता आदि कदाचित् उसके लक्षण न थे। ऋद्धि-अभिज्ञा के अभ्यास से यह विश्वास उत्पन्न होता था कि आत्मा अमर है

किन्तु, यदि सबसे प्राचीन साहित्य पीछे का है और कल्पित है, तो वह क्या है, जिसका उपदेश बुद्ध ने किया था, और जिसका स्थान पश्चात् एक दूसरे बौद्धधर्म ने लिया? इसका उत्तर पूसें यह देते हैं कि बुद्ध ने योग की शिक्षा दी थी, और वह योग इन्द्रजाल और लौकिक ऋद्धि-प्रातिहार्य था। इस योग में ध्यान की क्रिया भी सम्मिलित थी। इसका यह अर्थ हुआ कि बुद्ध पातजल योग के सदृश किसी दार्शनिक पद्धति के अनुयायी न थे। वे केवल एक सामान्य चिकित्सक थे। पूसे कहते हैं कि जिस योग से बौद्धधर्म की उत्पत्ति हुई, उसमे आध्यात्मिक प्रश्नो के विषय में विचार-विमर्श न था। वह एक प्रतिक्रियामात्र था, और उससे किसी नैतिक, धार्मिक या दार्शनिक दृष्टि से सरोकार न था।

शरबात्स्की कहते हैं कि यह अयथार्थ है कि बौद्धयोग ऋद्धि-प्रातिहार्य और इन्द्रजाल की विद्या है। इसके प्रतिकूल वह निश्चित ही एक दार्शनिक पद्धति है। योग समाधि या चित्त की एकाग्रता और पुन-पुन निषेवण है। ध्यान और समापत्ति का भी यही अर्थ है। इन सब व्याख्याओ का प्रयोग कर्म-साधन, करण-साधन, अधिकरण-साधन है। इस प्रकार, योग और समाधि चित्त-विशेष की अवस्था के अर्थ मे एकाग्र चित्त है, या उस प्रकार के अर्थ मे एकाग्र चित्त है, जिससे यह अवस्था उत्पन्न हुई है, या उस स्थान के अर्थ मे एकाग्र चित्त है, जहाँ इस अवस्था का उत्पाद हुआ है। इस अन्तिम अर्थ मे 'समापत्ति' शब्द का प्रयोग ध्यान-लोको के लिए होता है, जहाँ के सत्त्व नित्य ध्यानावस्थित होते हैं। यह शब्द आठो भूमियो के लिए प्रयुक्त होता है। इस अर्थ मे समापत्ति का विपक्ष कामधातु है, जहाँ के सत्त्वो के चित्त असमाहित, विक्षिप्त होते है। समापत्ति का यह सामान्य अर्थ है। एक विशेष अर्थ मे 'समापत्ति' अरूप-धातु की चार भूमियो के लिए प्रयुक्त होता है। उस अवस्था मे यह चार ऊर्ध्वभूमि हैं। चार अधरभूमि चार ध्यान कहलाती है। 'समाधि' शब्द का भी सामान्य और विशेष अर्थ है। यह एक चैतसिक धर्म है, जिसके बल से चित्त समाहित होता है, या इसका अर्थ भावित, विपुलीकृत एकाग्रता है। इस अवस्था मे इसमे एक सामर्थ्य-विशेष उत्पन्न होता है, जो ध्यायी को ऊर्ध्वभूमियो में ले जाता है, और उसमें इन्द्रिय-सचार करता है। 'योग' सामान्यत इसी अर्थ मे प्रयुक्त होता है। अलौकिक और अद्भुत शक्तियो को ऋद्धि कहते हैं, किन्तु जब योग मे ऋद्धियो का उत्पाद इष्ट होता है, तब उपचार से योग शब्द का प्रयोग ऋद्धियो के लिए करते है। बौद्धयोग का मौलिक विचार यह है कि समाधि से शमावस्था का उत्पाद होता है।

ध्यायी पुद्गल क्रियाशील पुद्गल का विपक्ष है। जीवन का सस्कारो मे विभजन इस दृष्टि से करते है, जिसमें उनका एक-एक करके उपशम और निरोध हो।

पुद्गल वस्तुत सस्कार-समूह और सन्तान है। आत्मा नाम का कोई पदार्थ नही है। यह अनात्मा है। इसका यह अर्थ है कि जिस प्रकार शरीर परमाणु-सचित रूप है, उसी प्रकार पुद्गल का अरूपी अश धर्ममय है। ये धर्म एक दूसरे से पृथक् है। तथापि, हेतु-प्रत्यय-वश ये धर्म अन्योन्य सम्बद्ध हैं। इनमें से कुछ सदा सहोत्पन्न (सहभू) है, या ये उत्तरोत्तर क्षण में एक दूसरे के अनुगत हैं। तब ये निष्यन्द-फल हैं, क्षण-सन्तान हैं। हेतु-प्रत्यय का नियम प्रतीत्य-समुत्पाद कहलाता है। किसी पुद्गल-सन्तान के शरीर-क्षण मे अरूपी धर्मों की सख्या क्षण-क्षण पर वदलती रहती है। इनकी वहुसंख्या हो सकती है, क्योकि प्रसुप्त धर्मों को भी वर्त्तमान अवधारित करते हैं। सौत्रान्तिक उपहास करते है, और कहते है कि एक क्षण में इतने पृथक् धर्मों का सहभाव कैसे हो सकता है? किन्तु, इनमें से कुछ प्रतिक्षण रहते है, और कुछ अवस्था-विशेष में ही प्रादुर्भूत होते है। दस प्रकार के धर्म सदा रहते है। इन्हे चित्त-महाभूमिक कहते हैं। इनमें से समाधि या योग भी है। इनके अतिरिक्त, कुछ कुशल-धर्म या अकुशल-धर्म भी होते है। एक क्षण के धर्मों की सख्या ही भिन्न नही होती, इनका उत्कर्प-भेद भी होता है। किसी पुद्गल में क्षण-विशेष में एक धर्म का उत्कर्ष होता है और किसी में किसी दूसरे धर्म का।

इन दस महाभूमिको में दो का विशेष माहात्म्य है। जव इनका प्रकर्ष होता है, तब यह उत्कृष्ट होते है। यह प्रज्ञा या समाधि है। ऐसा भी है कि इन धर्मों का विकास और उत्कर्ष न हो। तव 'प्रज्ञा' को 'मति' कहते है, किन्तु धर्म वही है। जव इसका पूर्ण विकास होता है, तव यह अमला प्रज्ञा होती है। पृथग्जन अविद्या से प्रभावित होता है। अविद्या प्रज्ञा का विपर्यय है, अभावमात्र नही है। यह एक पृथग्धर्म है, किन्तु इसका नित्य अवस्थान नही है। यह प्रहीण हो सकता है, और चित्त-सन्तान से अपगत हो सकता है।

सन्तान में कुशल और अकुशल धर्मों के वीच जो सघर्प होता है, वह नैतिक उन्नति है। धर्म पृथग्भूत और क्षणिक है, इसलिए वे एक दूसरे को प्रभावित नही कर सकते। तथापि अविद्यादि धर्मों के विद्यमान होने से सकल सन्तान दूपित होता है। उस अवस्था में सर्वधर्म सास्रव होते है; विज्ञान भी क्लिष्ट हो जाता है। इसको समझाने के लिए एक सर्वत्रग हेतु की कल्पना की जाती है।

वौद्धो का कहना है कि अन्त मे कुशल धर्मो की विजय होगी। क्लेश दो प्रकार के है—दर्शनहेय और भावनाहेय। यदि समाधि की विपुल भावना हो, तो इसका विशेष सामर्थ्य होता है। तव समाधि का सस्कार-समूह में प्राधान्य होता है। तव यह जीवन की गति को रोक सकता है। आर्यमार्ग में यह अन्तिम कदम है। यह पुद्गल की ऊर्ध्वोपपत्ति भी कर सकता है। वह तव अच्छे, भास्वर लोक मे, रूप-धातु में अथवा अरूप-धातु मे उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से भव त्रैधातुक है। एक दूसरी दृष्टि से दो भेद है—समापत्ति और कामधातु। कामधातु में नरक, पृथ्वी-लोक और अवर देवलोक सगृहीत हैं। कामधातु के देवो में १८ धातु हैं। इनमें से एक भी योग द्वारा निरुद्ध नही हुआ है। यह कामभुक् है। इनमें सबसे ऊर्ध्व पर-निर्मित-वशवर्त्ती हैं।

समापत्ति-लोक के दो विभाग करते हैं—१ रूप-लोक, जहाँ के सत्वो के शरीर अच्छे होते हैं, २ अरूप-लोक, जहाँ रूप का अभाव होता है। यहाँ समाधीन्द्रिय का प्राधान्य होता है, अन्य धर्म अनुचर होते हैं। इन लोको की कल्पना समापत्ति के अनुसार होती हैं। अरूप-धातु चार हैं। इनके सत्व किसी एक भावविशेष मे समापन्न होते हैं, यथा अनन्त आकाश, अनन्त विज्ञान, आकिंचन्य, नैवसज्ञानासज्ञा। इस अवस्था में विज्ञान का सर्वथा निरोध होता है। ध्यानलोक भी चार हैं। यह चार ध्यानो के अनुरूप हैं।

ध्यान-लोक मे चार धातु—गन्ध, रस, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान नही होते। इन सत्वो को 'कवडीकार' आहार की आवश्यकता नहीं है। किन्तु, घ्राणेन्द्रिय और जिह्वेन्द्रिय का अभाव नही होता, क्योकि उनके अभाव से शरीर की कुरूपता होती है। सब सकलेन्द्रिय, अविहीनेन्द्रिय होते हैं। वह दिव्य चक्षु और दिव्य श्रोत्र से समन्वागत होते हैं। उनकी काय-प्रश्रब्धि होती है। उनको वस्त्र की आवश्यकता नही है, किन्तु वह सवस्त्र उपपन्न होते हैं। उनके लिए विमान बने-बनाये होते हैं। वे पुरुषेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय से समन्वागत नही होते। सब देव औपपादुक हैं। मातृकुक्षि से इनका जन्म नही होता। इनमे प्रतिघ नही होता। क्लेश का अभाव होने से चेतना का अभाव होता है।

प्रश्न है कि क्या इन अलौकिक शक्तियो से वही योगी सम्पन्न हो सकता है, जो इन ऊर्ध्वलोको मे उपपन्न होता है, अथवा भूलोक मे भी इनकी प्राप्ति हो सकती है।

योग की यह प्रक्रिया हीनयान के अनुसार है। एकाग्रचित्त करने के लिए जो साधन बताये गये हैं, वह सब दर्शनो मे सामान्य हैं। पातजल दर्शन मे साख्य के सिद्धान्तो के अनुसार इनका निरूपण किया गया है। हीनयान मे बहुधर्मवाद के अनुसार निरूपण किया गया है। निर्वाण के लाभ के लिए इन विविध धर्मो का प्रविचय होता है। निर्वाण सबसे परे है। यह जीवन का पर्यन्त है, जहाँ विज्ञान का सर्वथा निरोध है।

आर्यमार्ग के अन्तर्गत दृष्टिमार्ग है। यह चतु सत्य-दर्शन है। चार सत्यो का विनिश्चय पहले प्रमाण से करके पश्चात् उनका साक्षात्कार करते हैं। यह योगी-प्रत्यक्ष है। हीनयान के अनुसार सोलह क्षण में यह सत्याभिसमय होता है। अभिसमय का क्रम द्विविध है।—पहले धर्म-क्षान्ति (रुचि) होती है, पीछे धर्मो का प्रत्यक्ष-ज्ञान (धर्मज्ञान) होता है। वह ज्ञान काम-धातु के धर्मों के सम्बन्ध में होता है। पश्चात् यह ऊर्ध्व ध्यानलोको के सम्बन्ध में होता है। यह अन्वयज्ञान कहलाता है।

अत, यह स्पष्ट है कि बौद्धयोग इन्द्रजाल की विद्या नही है। वस्तुत, बुद्ध ने इन्द्रजाल तथा योग के उन अभ्यासो का, जो निर्वाण-प्रवण नही है, प्रतिषेध किया है।

योग बौद्धधर्म की कोई विशेषता नही है। लोकायत और मीमासको को छोड़कर अन्य सब योग की शिक्षा देते हैं। जैन और नैयायिक भी योगाभ्यास की नितान्त आवश्यकता मानते हैं।

पूसें अन्य कारणो से भी यह निष्कर्ष निकालते हैं कि पूर्वकालीन बौद्धधर्म दार्शनिक न था। पालि-साहित्य में निर्वाण के लिए 'अमृत' की आख्या का व्यवहार किया गया है। इसके आधार पर पूसे अपना मत पुष्ट करते हैं। किन्तु, यह अमृतत्व क्या है? यह अमिताभ का स्वर्ग नहीं है। यह वैदिको का अमृतत्व नही है, जिसका अर्थ है पितृलोक का निवास। यह निरोध है। बौद्धधर्म में देवलोको की कमी नहीं है। किन्तु, निर्वाण उन सब लोको के परे है, जिनकी हम कल्पना कर सकते हैं। 'अमृत' का केवल इतना ही अर्थ है कि यह अजर, अचैतन्य, अमृत्यु अवस्था है। क्योकि यह वह स्थान है, जहाँ जन्म (पुनर्भव)-मरण (पुनर्मरण)-प्रबन्ध का उच्छेद होता है। न्यायभाष्य मे भी 'अमृत' शब्द का व्यवहार पाया जाता है, और न्याय का निर्वाण भी अचैतन्य है।

पूसें का दूसरा तर्क यह है कि जब बुद्ध से निर्वाण के विषय में प्रश्न किया गया, तब उन्होने कुछ उत्तर नही दिया। इस सम्बन्ध में वह दो सूत्रो के वाक्य उद्धृत करते हैं। यह स्थापनीय प्रश्न है। पूसें यह समझते हैं कि बुद्ध के तूष्णीभाव का कारण यह है कि वे दर्शन-शास्त्र मे व्युत्पन्न न थे। वे नही जानते थे कि इन प्रश्नो का क्या उत्तर होना चाहिए, और इसलिए वे चुप थे। वस्तुत, वे इसलिए चुप थे कि वे बताना चाहते थे कि निर्वाण अवाच्य है। वसुबन्धु (अभिधर्मकोश, ५।२२) कहते हैं कि जो प्रश्न ठीक तरह से पूछा नही गया है, वह स्थापनीय है। यदि कोई प्रश्न करे कि क्या स्कन्धो से सत्त्व अन्य है या अनन्य, तो इसका स्थापनीय व्याकरण करना चाहिए। क्योकि, सत्त्व नाम का कोई द्रव्य नही है। इसी प्रकार, यह प्रश्न भी स्थापनीय है कि वन्ध्यापुत्र श्याम है या गौर?

हीनयान के परवर्त्ती निकाय

पूसे का विचार है कि निर्वाण के सम्बन्ध में पीछे के निकायो का मत, यथा वैभाषिको का मत आगम से बहुत कुछ भिन्न है। शरबात्स्की का कहना है कि वैभाषिक केवल सर्वास्तिवाद के मत का समर्थन करते हैं। वे वैभाषिक इसलिए कहलाते हैं, क्योकि वे विभाषा-शास्त्र को प्रामाणिक मानते हैं। विभाषा आगम की व्याख्या है। वैभाषिक मत सर्वास्तिवाद का साधारणत अनुसरण करता है। सौत्रान्तिको का निकाय अवश्य भिन्न है। बौद्धशासन में जो भेद हुआ, और जिसके कारण महायान की उत्पत्ति हुई, उसका यह निकाय सूचक है। हम यह कह सकते हैं कि सौत्रान्तिक पूर्व-हीनयान और महायान के बीच का है।

शरबात्स्की स्वीकार करते है कि बौद्धधर्म की आरम्भिक अवस्था में ही आभिधार्मिक साहित्य की वृद्धि हुई है। किन्तु, यह ठीक नही है कि यह पूर्वरूप से व्यावृत्त हुआ है। बौद्ध-धर्म का आरम्भ ही बहुधर्मवाद से हुआ है। उसने आत्मा का प्रतिषेध किया है, और धर्मों की प्रतिष्ठा की है। इनमे से कुछ धर्म केवल प्रज्ञप्ति-सत् हैं। सौत्रान्तिको ने इनको धर्मों की सूची से बहिष्कृत किया, अत धर्मों की तालिका में केवल वही रह गये, जो इन्द्रिय तथा मन के विषय हैं। सौत्रान्तिक बुद्ध-वचन को ही प्रमाण मानते हैं, वे अभिधर्म की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं

करते। पीछे चलकर सौत्रान्तिक महायानवादियो से मिल गये, और उन्होंने योगाचार-सौत्रान्तिक निकाय की प्रतिष्ठा की। सौत्रान्तिको ने निर्वाण (निरोध) को प्रज्ञप्ति-सत् माना।

वैभाषिको और सौत्रान्तिको में निर्वाण के स्वभाव के सम्बन्ध में पहुत पहले से वाद-विवाद होता था। वैभाषिक निर्वाण को वस्तु मानते थे, किन्तु सौत्रान्तिको का कहना था कि निर्वाण अभावमात्र है। जहाँ वैभाषिको का साहित्य उपलब्ध है, और इसलिए हम वस्तु के पक्ष मे उनकी युक्तियाँ जानते है, वहाँ सौत्रान्तिको के आचार्य कुमारलाभ, श्रीलाभ, महाभदन्त, वसुमित्र आदि के ग्रन्थ अप्राप्य है।

जब वैभाषिक कहते है कि निर्वाण वस्तु-सत् है, तब उनका यह अर्थ कदापि नही है कि निर्वाण एक प्रकार का स्वर्ग है। 'वस्तु' कहने से उनका आशय इतना ही है कि यह अचैतन्य की सदवस्था है। दूसरी ओर सौत्रान्तिक निर्वाण को एक पृथक् धर्म अवधारित नही करते, वे इमका प्रतिषेध करने है कि निर्वाण वस्तु-सत् है। सौत्रान्तिक महायानवादियो की तरह बुद्ध का धर्मकाय मानते है।

दर्शन दो प्रकार के है--वहुधर्मवादी (प्ल्यूरलिस्टिक) और विज्ञानवादी (आइडियलिस्टक)। यह दो प्रकार सब दर्शनो मे पाये जाते है। मर्वास्तिवादी, वैभाषिक तथा न्याय-वैशेषिक निर्वाण या मोक्ष को अचेतन वस्तु-सत् मानते है (यस्मिन् मति चेतसो विमोक्ष)। यह जडावस्था है। वैभाषिक अनात्मवादी है, और उनकी दृष्टि मे बुद्ध मनुष्य-लोक के थे। सौत्रान्तिक और महायानवादी इस अचेतन वस्तु को नही मानते। सौत्रान्तिक मतवाद और महायान में बुद्ध का धर्मकाय माना गया है, और वह लोकोत्तर है।

वैभाषिक तथा पूर्वनिकाय ससार और निर्वाण दोनो को वस्तु-सत् मानते है। माध्यमिको के अनुसार ससार और निर्वाण पृथक्-पृथक् अवस्तु हैं। सौत्रान्तिको के अनुसार ससार वस्तु-सत् और निर्वाण एक पृथक् धर्म नही है। योगाचार या विज्ञानवाद के अनुमार समार अवस्तु है, और निर्वाण वस्तु-सत् है।

वैभाषिक—वैभाषिक दो प्रकार के धर्म मानते है—सस्कृत और असस्कृत। रूप, मन और सस्कार सस्कृत है। आकाश और निर्वाण असस्कृत है। सस्कृत-धर्म अतीत, वर्त्तमान और भविष्य, अर्थात् त्रैयध्विक है। ये सब वस्तु-सत् है। अतीत और भविष्य उसी प्रकार वस्तु-मत् है, जैसे वर्त्तमान। इस प्रकार, धर्म दो प्रकार के है—धर्म-स्वभाव और धर्म-लक्षण। जब सस्कार शान्त हो जाते है, जब मर्व प्रादुर्भाव निरुद्ध हो जाते है, तब अचेतन वस्तु रह जाती है। यह एक पृथक् धर्म, एक वस्तु है। यह अचेतन है। यह साख्यो के अव्यक्त, प्रधान के तुल्य है। यह अवाच्य है--नि सतासत्तं नि.सदसद् निरसद् अव्यक्तमलिङ्ग प्रधानम् (योगसूत्र, २।१९ पर व्यामभाष्य)। चन्द्रकीर्त्ति वैभाषिक मत के सम्बन्ध में कहते है कि—"यदि निर्वाण भाव है, तो यह निरोधमात्र नही हो मकता। वस्तुत, यह कहा गया है कि निर्वाण में चेतम् का विमोक्ष है, यथा ईन्धन के न होने पर अग्नि का निर्वापन होता है। किन्तु, हमारे मन मे चित्त-विमोक्ष या निरोधभाव नही है।" वैभाषिक उत्तर देते है—निर्वाण मे क्लेश-जन्म का निरोध, निवृत्ति न समझना चाहिए, किन्तु यो कहना चाहिए कि निर्वाण नाम का धर्म एक वस्तु है,

जिसमें क्लेश-जन्म का निरोध होता है। अग्नि का निरोध दृष्टान्तमात्र है, और इसकी व्याख्या यह होनी चाहिए कि यह उस अचेतन वस्तु को निर्दिष्ट करता है, जो अवशिष्ट रह जाता है, जब कि चित्त का विक्षोभ होता है।

सौत्रान्तिक—सौत्रान्तिक अतीत और अनागत को भाव नहीं मानते। वे दो प्रकार के धर्म नहीं मानते। वे केवल धर्म-लक्षण मानते हैं। निर्वाण क्लेश-जन्म का क्षय है। कोई अचेतन धर्म अवशिष्ट नहीं रहता। सौत्रान्तिक आलय-विज्ञान के सिद्धान्त को नहीं मानते, और न शून्यवाद मानते हैं। सौत्रान्तिक बाह्य जगत् को मायावत नहीं मानते। वे बुद्ध का धर्मकाय मानते हैं, और यह नहीं मानते कि भगवान् के परिनिर्वाण का अर्थ अचेतन निर्वाण में सर्वथा निरोध है।

योगाचार—अश्वघोष, आर्यासंग और दिङ्नाग इस वाद के आचार्य हैं। ये सब महायानवादी हैं, और बुद्ध के धर्मकाय में विश्वास रखते हैं। ये चित्त-विज्ञान के अतिरिक्त एक आलय-विज्ञान मानते हैं, और बाह्य जगत् को आभासमात्र मानते हैं, उसे वस्तु-सत् नहीं मानते। हीनयान के विविध धर्मों के स्थान में यह विज्ञानमात्र मानते हैं। अश्वघोष एक आलय-विज्ञान मानते हैं। योगाचार के दो निकाय हैं—१ आर्यासंग का, २. दिङ्नाग का। आलय-विज्ञान बीजों का संग्रह करता है। यह बीजों से उपचित होता है। ये बीज विविध धर्मों को, अर्थात् सात विज्ञानों को अंकित करते हैं। आलय-विज्ञान ज्ञेय का आश्रय है। शुभ और अशुभ कर्मों का विपाक-फल जो संसार का क्षेप करता है, आलय-विज्ञान से संगृहीत होता है। आलय-विज्ञान को मूलविज्ञान, भवांग-विज्ञान भी कहते हैं। आलय-विज्ञान का स्वभाव सूक्ष्म है, और वह केवल अपने समुदाचार, अपने परिणाम से जाना जाता है। जितने प्रवृत्ति-विज्ञान हैं, वे आलय के 'परिणाम' हैं, क्योंकि आलय-विज्ञान सब धर्मों का समाश्रय है। यह अनादिकालिक है। इस विज्ञान के होने पर सब गतियों का, और निर्वाण का अधिगम होता है। प्रत्ययों से क्षुब्ध होकर यह तरंगों के समान प्रवृत्ति-विज्ञान उत्पन्न करता है, किन्तु नदी के समान स्वयं सदा अविच्छिन्न रहता है। सांख्यों का प्रधान जो महत् आदि में परिणत होता है, आलय-विज्ञान के सदृश प्रतीत होता है। विज्ञानवादी इसको स्वीकार नहीं करते। शरबात्स्की कहते हैं कि यह प्रच्छन्न रूप से चित्त-प्रवाह के वाद के स्थान में आत्मवाद को प्रतिष्ठित करना है। चित्त-प्रवाह में पूर्वचित्त-क्षण परचित्त-क्षण का समनन्तर प्रत्यय है। इस सम्बन्ध का स्थान आलय और उसके परिणाम लेते हैं।

सांख्य की प्रक्रिया में प्रधान और उसके परिणाम वस्तु-सत् हैं। योगाचार दोनों को अवस्तु समझता है। अपने पूर्ववर्ती माध्यमिकों से उन्होंने सर्वधर्म की शून्यता, निःस्वभावता ली। पृथक्-पृथक् धर्म शून्य थे, क्योंकि वे परिकल्पित थे। यह उनकी लक्षण-निःस्वभावता कहलाती थी, क्योंकि वे प्रतीत्यसमुत्पाद के अधीन थे, इसलिए वे परतन्त्र थे और इस अर्थ में वह वस्तु-सत् थे। यह उनकी उत्पत्ति-निःस्वभावता कहलाती थी। जहाँतक वे तथता-धर्मता (एब्सोल्यूट) में परिनिष्पन्न थे, वहाँतक उनकी परमार्थ-निःस्वभावता थी। इस प्रकार,

तथता त्रैधातुक से न अन्य है, न अनन्य। पृथक्-पृथक् धर्मों के समुदाय के रूप मे यह अन्य है, किन्तु सर्व की इकाई के रूप मे यह अनन्य है। यह ग्राह्य-ग्राहकरहित चित्तधर्मता है। यह धर्मधातु है, और इसलिए यह बुद्ध के धर्मकाय मे अभिन्न है। योगी को समाधि मे इस अद्वय-लक्षण के विज्ञप्ति-मात्र का प्रत्यक्ष होता है। असग का मत था कि सर्व विज्ञप्ति-मात्रक है। 'सर्व' से अभिप्राय त्रैधातुक और असस्कृत दोनो से है (त्रिशिका, १७ पर स्थिर-मति)। इस दृष्टि के कारण निर्वाण का वाद बिलकुल बदल गया। हीनयान मे, जहाँ ससार और निर्वाण दोनो वस्तु-सत् है, योग द्वारा भव की प्रवृत्ति का निरोध, और निर्वाण मे प्रवेश होता है। महायान की दृष्टि मे तथता मे ससार परिनिष्पन्न है, अत सस्कृत धर्मों को असस्कृत धर्मो मे परिवर्त्तित नही करना पडता। योगी को समाधि में तथता का प्रत्यक्ष करना पडता है। योगी के लिए ससार का आकार ही बदल जाता है। प्रत्येक धर्म पृथक्-पृथक् असत्-कल्प है, किन्तु तथता मे वस्तु-सत् है। उसके लिए सर्वधर्म नित्य शान्त हैं। उनको नित्य बनना नही है। हीनयान के अनुसार यह धर्म निर्वाण मे ही शान्त और निरुद्ध होते हैं। योगाचार का कहना है कि यदि ये धर्म वस्तु-सत् है, तो वे सर्वथा निरुद्ध नही हो सकते। अत, वे आदि-शान्त हैं। नागार्जुन कहते है कि जो प्रत्ययवश होता है, वह स्वभाव से ही शान्त है।

माध्यमिक--हीनयान बहुधर्मवादी है। कोई आत्मा नही है, पचस्कन्धमात्र है। धर्म वस्तु-सत् है। किन्तु सत्त्व, जीव, पुद्गल, प्रज्ञप्ति-सत् है। आत्मा के स्थान मे विज्ञान-क्षणो का अविच्छिन्न प्रवाह है। वेदना, सज्ञा और सस्कार के क्षण इसके सहगत हैं। इसी प्रकार रूप भी है। द्रव्य, गुण और क्रिया को यह पदार्थ नही मानते। इनके धर्म प्रतीत्यसमुत्पाद के नय के अनुसार प्रादुर्भूत और तिरोहित होते है। एक से दूसरे की उत्पत्ति नही होती। इसके होने पर वह होता है। इन क्षणिक सस्कृत धर्मों के अतिरिक्त हीनयान मे आकाश और निर्वाण असस्कृत धर्म भी है। जो सस्कार मे प्रवृत्त थे, वह निर्वाण मे निरुद्ध होते है, अत ससार और निर्वाण दोनो वस्तु-सत् हैं। दोनो मिलकर 'सर्व' है, किन्तु 'सर्व' प्रज्ञप्ति-सत् है। माध्यमिक-नय में वस्तु-सत् की भिन्न कल्पना है। जो अकृतक (=असस्कृत) है, जो परत्र निरपेक्ष है, जिसका अपना स्वभाव है, वह वस्तु-सत् है।

हीनयान में सस्कृत धर्म वस्तु-सत् है। महायान मे धर्म सस्कृत होने के कारण, परापेक्ष होने के कारण, शून्य, स्वभाव-शून्य है। हीनयान मे राशि, अवयवी, प्रज्ञप्ति-सत् है, और केवल धर्म वस्तु है। महायान मे धर्म शून्य है, और केवल धर्मता (=धर्मकाय) वस्तु-सत् है। यह धर्मता राशियो का सर्व है।

'तत्त्व' का व्याख्यान इस प्रकार है--यह शान्त, अद्वय, अवाच्य, विकल्पातीत, निष्प्रपच है। जो परतन्त्र है, वह वस्तु नही है। हीनयान मे पुद्गल, आत्मा-स्कन्ध-आयतन-धातुमात्र है। पुद्गल-नैरात्म्य है। केवल सस्कार-समूह है। महायान मे इसके विपरीत, धर्मो का नैरात्म्य है, और धर्मकाय है। हीनयान मे बहुधर्मवाद है। महायान अद्वयवाद है।

महायान में प्रतीत्यसमुत्पाद का एक नया अर्थ है। जो निरपेक्ष है, वही वस्तु है, जो परापेक्ष है, वह वस्तु नही है। हीनयान मे धर्मों को सस्कृत-असस्कृत में विभक्त किया है और दोनो वस्तु-सत् हैं। किन्तु, महायान मे इनमें कोई भी वस्तु-सत् नही है, और दोनो शून्यता के अधीन हैं। हीनयान का मुख्य विचार बहुधर्मवाद है, महायान का मुख्य विचार धर्मों की शून्यता है। 'शून्यता' का अर्थ स्वभाव-शून्य है। जब एक धर्म का दूसरे से सम्बन्ध बताया जाता है, तभी वह जाना जाता है, अन्यथा वह निरर्थक हो जाता है। इसलिए, 'शून्यता' प्रतीत्य-समुत्पाद का समानार्थवाची है। केवल सर्व वस्तु-सत् है, किन्तु यह सर्व निष्प्रपच है। 'शून्यता' अभावमात्र नही है। जो ऐसा समझते है, वह शून्यता के प्रयोजन को नही जानते। माध्यमिक प्रतीत्यसमुत्पादवादी है, नास्तिक नही है। जो प्रत्यय के अधीन है, वह 'शून्य' कहलाता है। 'अशून्य' अप्रतीत्य-समुत्पन्न है। निरवशेष प्रपच के उपशम के लिए 'शून्यता' का उपदेश है।

नागार्जुन हीनयान के परिनिर्वृत तथागत का प्रतिषेध करते है, जो नित्य अचेतन वस्तु है। स्वभावत तथागत नही है। तथागत अपने या स्कन्धो के अस्तित्व को प्रज्ञप्त नही करते। किन्तु, इस प्रतिषेध का यह अर्थ नही है कि मोक्ष की कोई आशा नही है। क्योकि, निष्प्रपच तथागत का प्रतिषेध नही है। बुद्ध के लिए कोई आरोपित व्यवहार नही है। यदि अविपरीतार्थ कहना हो, तो हम कुछ नही कह सकते। शून्य भी व्यवहार के लिए कहते हैं। बुद्ध का साक्षात्कार योगी को प्रातिभ ज्ञान द्वारा होता है। बुद्ध को धर्मत देखना चाहिए। धर्मता उनका काय है। धर्मता का स्वभाव अवाच्य है। धर्मता से व्यतिरिक्त ससार नही है, सब धर्म प्रज्ञापारमिता से परिशुद्ध हो प्रभास्वर होते हैं। बुद्धकाय भूतकोटि मे आविर्भूत होता है।

निर्वाण का नया स्वरूप

सर्वास्तिवाद और वैभाषिक-नय मे आकाश और निर्वाण धर्म थे, क्योकि वह वस्तु, भाव थे, उनका स्वलक्षण था। सौत्रान्तिक उनको धर्म नही मानते थे, क्योकि उनके मत का इनका कोई पृथक् स्वभाव नही था। माध्यमिक भी इनको धर्म नही मानते थे, क्योकि उनके मत में जो दूसरे की अपेक्षा नही करता, वही स्वभाव है ('अनपेक्ष स्वभाव')। शून्यता के अन्तर्गत वैभाषिको के सब सस्कृत और असस्कृत धर्म है। उस नवीन सिद्धान्त को स्वीकार करने से बौद्धधर्म मे मौलिक परिवर्त्तन हुआ, और उसका आधार ही बदल गया। हीनयान-वादियो के निर्वाण की कल्पना, उनका बुद्ध, उनकी नैतिकता, वस्तु-सत् और प्रतीत्यसमुत्पाद-सम्बन्धी उनके विचार, रूप, चित्त-चैत्त तथा सस्कार के वस्तुत्व का सिद्धान्त सब असिद्ध हो जाते हैं।

नागार्जुन बहुधर्म को असिद्ध ठहराते है, और शून्यता की प्रशसा करते है। इस प्रकार, वह अनिर्वचनीय, अद्वय, 'धर्माणा धर्मता' की प्रतिष्ठा करते हैं। इसे इदन्ता, इदम्प्रत्ययता, तथता, भूत-तथता, तथागत-गर्भ और धर्मकाय कहते है। तथागत और निर्वाण एक ही हैं। यदि ससार वस्तु-सत् नही है, यदि सर्वशून्य है, किसी का उदय-व्यय नही होता, तो किसका निर्वाण इष्ट है? यह समझना कि निर्वाण के पूर्व ससार विद्यमान था, और उसके परिक्षय से निर्वाण पश्चात्

होगा, मूढग्राह है। निर्वाण के पूर्व जो स्वभाव से विद्यमान थे, उनका अभाव करना शक्य नही है। अत, इस कल्पना का परित्याग करना चाहिए। चाहे हम वैभाषिक-मत लें (जिसके अनुसार निर्वाण-धर्म मे सदा के लिए विज्ञान का निरोध होता है), अथवा सौत्रान्तिक-मत ले (जिसके अनुसार निर्वाण क्लेश-जन्म का अभावमात्र है), दोनो अवस्थाओ मे यह कल्पना है कि निर्वाण के पूर्व कोई वस्तु-सत् विद्यमान है, जो पश्चात् निरुद्ध होता है। इससे निर्वाण केवल शून्य ही नही है, किन्तु सस्कृत है। माध्यमिको के अनुसार निर्वाण और ससार मे सूक्ष्ममात्र अन्तर नही है। हेतु-प्रत्यय-सामग्री का आश्रय लेकर जो जन्म-मरण-प्रबन्ध व्यवस्थापित होता है, वही, जब हेतु-प्रत्यय की उपेक्षा होती है, निर्वाण व्यवस्थापित होता है।

अन्त मे शून्यता के सम्बन्ध मे नागार्जुन कहते है कि यदि कोई अशून्य हो, तभी कोई शून्य हो सकता है। किन्तु, कोई अशून्य नही है, तब शून्य कैसे होगा? इसका यह अर्थ नही है कि शून्यता का प्रतिषेध होना चाहिए। सर्वदृष्टियो की शून्यता से ही उनका नि सरण होता है, सकल कल्पना की व्यावृत्ति होती है। किन्तु, यदि शून्यता मे भावाभिनिवेश हो, तो किस प्रकार इस अभिनिवेश का निषेध हो? तथागत कहते है कि जिसकी दृष्टि शून्यता की है, वह अचिकित्स्य है।

न्याय-वैशेषिक-मत—केवल हीनयान मे ही निर्वाण को अचैतन्य नही माना है, न्याय-वैशेषिक-मत मे भी मोक्ष(अपवर्ग, नि श्रेयस्)अचैतन्य, सर्वसुखोच्छेद है (१।१।२ पर वात्स्यायन-भाष्य)। वात्स्यायन प्रश्न करते हैं कि कौन बुद्धिमान् इस अपवर्ग को पसन्द करेगा, जिसमें सर्वसुख का उच्छेद है, जो अचैतन्य है, जिसमे सबसे विप्रयोग है, और सर्वकार्य का उपरम है। वह स्वय उत्तर देते है—यह अपवर्ग शान्त है, यहाँ सर्वदु ख का उच्छेद है, सर्वदु ख की असविति है। कौन ऐसा बुद्धिमान् है, जो इसके लिए रुचि न उत्पन्न करे? जिस प्रकार विष-सपृक्त अन्न अनादेय है, उसी प्रकार दु खानुषक्त सुख अनादेय है। जयन्त 'न्यायमजरी' में प्रश्न करते है—क्या यह सम्भव है कि बुद्धिमान् पाषाण-निर्विशेष की अवस्था के अधिगम के लिए पुरुषार्थ करे? और, वे भी वही उत्तर देते है, जो वात्स्यायन का है। वैशेषिक में भी मोक्ष सर्वोपरम है। 'न्यायकन्दली' मे प्रश्नकर्त्ता कहता है कि यदि यह अवस्था शिला-शकल के तुल्य है, जड है, तो मोक्ष (निर्वाण) के लिए कोई बुद्धिमान् पुरुष यत्नशील न होगा। ग्रन्थकार उत्तर देता है कि बुद्धिमान् केवल सुख के लिए यत्नवान् नहीं होता। अनुभव बताता है कि वह दु ख-निवृत्ति के लिए भी पुरुषार्थ करता है। न्याय-वैशेषिक मे ससार को दु ख कहा है। वात्स्यायन कहते है कि दु ख जन्म है। यह केवल मुख्य दु ख नही है, किन्तु उसका साधन भी दु ख है। यही पच उपादान-स्कन्ध है। यही सास्रव-धर्म है। इनके प्रतिपक्ष प्रज्ञा और समाधि है। वात्स्यायन-भाष्य मे प्रज्ञा को 'धर्म-प्रविवेक' (= धर्म-प्रविचय) कहा है। मोक्ष को न्याय मे 'अमृत्यु-पद' कहा है। वैशेषिक के अनुसार स्वरूपावस्था मे न चैतन्य है, न वेदना।

शरबात्स्की का निष्कर्ष—इस विस्तृत विवेचन के अनन्तर शरबात्स्की यह निष्कर्ष निकालते है—

१. छठी शताब्दी (ईसा से पूर्व) मे दार्शनिक विचार-विमर्श की प्रचुरता थी, और क्लेश-कर्म-जन्म के निरोध के मार्ग उत्सुकता से ढूँढे जाते थे। इनमे से अनेक मोक्ष (निर्वाण) की अचैतन्यावस्था मानते थे और उसको अमृत्यु-पद कहते थे। वुद्ध ने नित्य आत्मा का प्रतिषेध किया था, और 'सर्व' को सस्कृत-असस्कृत धर्मों में विभक्त किया था। इन सस्कृत-धर्मों का निर्वाण में नियत-विरोध होता था।

२ कई निकाय इस मत के थे। किन्तु, धीरे-धीरे वुद्ध को लोकोत्तर वना दिया, और इस कारण शासन मे भेद हुआ।

३ पहली शताब्दी में अद्वयवाद की प्रतिष्ठा हुई और वुद्ध की पूजा धर्मकाय के रूप मे होने लगी।

४ महासाधिक, वात्सीपुत्रीय तथा कतिपय अन्य निकायो में यह मतवाद प्रचलित था कि निर्वाण की अवस्था में एक प्रकार का चैतन्य रह जाता है।

५ इनके अनन्तर सौत्रान्तिक आये, जिन्होने धर्मों की सख्या को घटाया, कई धर्मों को प्रज्ञप्तिमात्र ठहराया। यहाँतक कि निर्वाण को भी अभावमात्र माना, और उसको एक पृथक् धर्म नही अवधारित किया। सौत्रान्तिक वुद्ध का धर्मकाय मानते थे।

६ नया दर्शन अद्वयवादी हो गया। इसने वहुधर्मवाद का प्रतिषेध किया।

७ तव इसके दो रूप हो गये। एक ने आलय-विज्ञान नामक आठवें विज्ञान की कल्पना की, जिसके अन्य विज्ञान परिणाम है। ये वाह्य जगत् को मिथ्या और केवल विज्ञान को वस्तु-सत् मानते थे। इनको चित्तमात्रवादी कहते थे। दूसरे वहुधर्म की सत्ता नही मानते थे। वह केवल 'सर्व' को वस्तु-सत् मानते थे, जिसका साक्षात्कार योगी को ही होता था। इनके अनुसार तत्त्व का साक्षात्कार तर्क और युक्ति से नही होता।

८ पाँचवी शताब्दी मे सौत्रान्तिक योगाचार मे मिल गये। इनके अनुसार निर्वाण मे ग्राह्य-ग्राहकभाव नही है।

शरवात्स्की का ग्रन्थ सन् १९२७ ई० में प्रकाशित हुआ था। इधर कई विद्वानो ने इस विषय पर विचार किया है, और इनमे से कुछ पूर्से के इस विचार से सहमत है कि वौद्धधर्म का एक पूर्वरूप था, जो निर्वाण को सर्वास्तिवाद की तरह अचेतन अवस्था नहीं मानता था, किन्तु उसके अनुसार यह अमृत-पद चैतन्य की शाश्वत अवस्था थी।

हम शरवात्स्की के मत से सहमत है क्योकि हमारी समझ म नही आता कि जव वौद्धधर्म अपने इतने लम्वे इतिहास मे निरन्तर पुद्गल-नैरात्म्य और अनात्मवाद की शिक्षा देता रहा, तो यह कैसे माना जा सकता है कि भगवान् वुद्ध ने निर्वाण की अवस्था को चैतन्य की शाश्वत अवस्था वताया था। हम ऊपर देख चुके है कि सौत्रान्तिक, जो सूत्रान्तो को ही प्रमाण मानते है, निर्वाण को वस्तु-सत् नही मानते, किन्तु उसे अभावमात्र ठहराते है। यह सत्य है कि सूत्रान्तो में कुछ ऐसे वाक्य आये है, जिनमें निर्वाण के लिए अजर, अमृत आदि आख्याओ का प्रयोग किया गया है, मुख्यत इन्ही वाक्यो के आधार पर ये विद्वान् ऐसी कल्पना करते है। किन्तु, जैसा कि शरवात्स्की ने न्याय-वैशेषिक शास्त्रो से उद्धरण देकर

सिद्ध किया है, ये आख्याएँ अपवर्ग, नि श्रेयस् के लिए इन शास्त्रो मे भी प्रयुक्त हुई है, किन्तु इन आख्याओ का व्याख्यान चैतन्यावस्था न करके अचेतनावस्था ही किया गया है। जव न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थ इस अवस्था को जडावस्था मानते है, और उसे पाषाण-निर्विशेष वनाते है, तव अमृत आदि व्याख्याओ का सूत्रान्तो में एक भिन्न अर्थ लगाना उचित नही प्रतीत होता। निर्वाण वौद्धधर्म का लक्ष्य है। भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार समुद्र का रस एकमात्र लवणरस है, उसी प्रकार मेरी शिक्षा का एकमात्र रस निर्वाण है। भगवान् की समस्त शिक्षा निर्वाण-प्रापक है। अत, निर्वाण के सम्वन्ध में किसी प्रकार का भ्रम श्रावको में नही रहा होगा। इस विषय मे हम क्रमागत आम्नाय को अधिक प्रामाणिक मानते है।

निर्वाण के भेद

हीनयान दो प्रकार का निर्वाण मानता है—सोपधिशेष निर्वाण और निरुपधिशेष निर्वाण। पहली जीवन्मुक्त की अवस्था है। इस अवस्था में अर्हत् को शारीरिक दु ख भी होता है। दूसरा निर्वाण वह है, जिसमे मृत्यु के पश्चात् अर्हत् का अवसान होता है। किन्तु महायान मे एक अवस्था अधिक है, यह अप्रतिष्ठित निर्वाण की अवस्था है, क्योकि यद्यपि वुद्ध परिनिर्वृत हो चुके है, और विशुद्ध तथा परम शान्ति को प्राप्त है, तथा वह शून्यता में विलीन होने के स्थान् मे ससरण करनेवाले जीवो की रक्षा के निमित्त ससार के तट पर स्थित रहना चाहते है, किन्तु इससे उनको इसका भय नही रहता कि उनका विशुद्ध ज्ञान समल हो जायगा। इस अप्रतिष्ठित निर्वाण की कल्पना इस कारण हुई कि वोधिसत्त्व महाकरुणा से प्रेरित है, क्योकि उसने अपने ऊपर सत्त्वो का भार लिया है, क्योकि वह अपने से पराये को श्रेष्ठतर मानता है। इसीलिए, अपने को सन्तप्त करके भी वह परार्थ को साधित करता है। इसलिए, वह शून्यता में प्रवेश नही करता, और जीवो की अर्थचर्या और नि श्रेयस् के लिए सतत उद्योग करता है। इस अप्रतिष्ठित निर्वाण का उल्लेख असग के महायानसूत्रालकार में मिलता है।

महायान के अनुसार श्रावक-यान और प्रत्येक-वुद्धयान का लक्ष्य चरम निर्वाण नही है। इनके द्वारा महाश्रावक सोपधि-निरुपधि-सज्ञक वोधिरूप का लाभ करता है, और भय से उत्त्रस्त हो आयु के क्षीण होने पर निर्वाण प्राप्त करता है। किन्तु, वस्तुत इनका निर्वाण प्रदीप-निर्वाण के तुल्य है। अभिसमयालकारालोक (पृ० ११९-२०) मे कहा है कि श्रावक और प्रत्येकवुद्ध के लिए केवल त्रैधातुक जन्म का उपरम होता है, किन्तु वह अनास्रव धातु मे, अर्थात् परिशुद्ध वुद्ध-क्षेत्रो में कमलपत्रो में उत्पन्न होते है, और समाधि की अवस्था मे वहीं अवस्थान करते है। तदनन्तर, अमिताभ आदि वुद्ध अक्लिष्ट ज्ञान की हानि के लिए उनका प्रबोध करते है, और वह वोधिचित्त का ग्रहण कर लोकनायक वनते है। लकावतार मे कहा है कि श्रावकयान से विमोक्ष नही होता, अन्त मे उनका उद्योग महायान में पर्यवसित होता है। नागार्जुन एकयानवादी है, क्योकि उनके मत मे सव यानो का समवसरण एक महायान मे होता है।

इनका कारण यह है कि इनके विचार से मार्ग का आधार सब जीवो में पाया जाता है। यह आधार वुद्धधातु है। इसे तथागत-गर्भ, वुद्धवीज या वुद्धगोत्र भी कहते हैं। इस वीज का धर्मधातु से तादात्म्य है। अभिसमयालकार के अनुमार धर्मधातु में कोई भेद नही है, अत गोत्रभेद भी युक्त नही है। इसके अनुसार हीनयान केवल सवृतित है; वस्तुत अन्त में सवका पर्यवसान महायान में होता है। मव जीवो के लिए वुद्धत्व सम्भव है। क्योकि, सव वुद्धगोत्र से व्याप्त हैं। इम साधना में योगी धर्मधातु का प्रत्यात्म मे सवेदन करता है। यह विचार वेदान्त से मिलता है, जिसके अनुमार जीवात्मा परमात्मा का अश है, और मोक्ष की अवस्था मे वह परमात्मा मे लीन हो जाता है। अन्य है, जो एकयानवाद को नही स्वीकार करते। उनके अनुसार गोत्र के तीन भेद वस्तुत है। श्रावक क्लेशावरण का अपगम करता है, अर्थात् वह वाह्यार्थ के वस्तुत्व का प्रतिषेध करता है, किन्तु वोधिसत्त्व ग्राह्य-ग्राहक लक्षण से भी विमुक्त होता है, क्योकि उसने धर्मधातु का प्रत्यक्ष किया है, उसने धर्मो के अद्वय-तत्त्व को देखा है। इनका कहना है कि प्रत्येक का गोत्र नियत है, और वुद्ध भी चाहें, तो गोत्र नही वदल सकते।

इस प्रकार, हमने निर्वाण के स्वरूप के सम्वन्ध मे विविध विद्वानो के विचारो का वर्णन किया और यह दिखाने की चेष्टा की है कि वौद्धधर्म के अन्तर्गत विविध दर्शनो ने निर्वाण का क्या स्वरूप माना है।

चतुर्थ खण्ड

[बौद्धदर्शन के चार प्रस्थान : विषय-परिचय और तुलना]

पंचदश अध्याय

सर्वास्तिवाद (वैभाषिक-नय)

अब हम एक-एक करके प्रत्येक दर्शन का सक्षिप्त वर्णन करेंगे। हम प्रत्येक दर्शन के एक-दो प्रामाणिक ग्रन्थो के आधार पर मुख्य-मुख्य सिद्धान्तो को सक्षेप में देगे। हमको यह प्रकार समीचीन मालूम होता है कि मूलग्रन्थो के द्वारा ही किसी दर्शन का ज्ञान कराया जाय। सबसे पहले हम सर्वास्तिवाद का विचार करेंगे। इस वाद का बहुत कुछ साहित्य नष्ट हो गया है। सर्वास्तिवाद का अपना आगम था था और यह सस्कृत में था। इनके भी विनयधर और आभिधार्मिक थे। अभिधर्मकोश की व्याख्या में आभिधार्मिको को 'षट्पादाभिधर्ममात्रपाठिन' कहा है। ये सर्वास्तिवादी है, किन्तु यह विभाषा को प्रमाण नही मानते। इनको केवल ज्ञानप्रस्थान और अन्य छ ग्रन्थ, जो ज्ञानप्रस्थान के छ पाद कहलाते है, मान्य है। ये ग्रन्थ इस प्रकार है—प्रकरण, विज्ञानकाय, धर्मस्कन्ध, प्रज्ञप्तिशास्त्र, धातुकाय और सगीतिपर्याय। ज्ञानप्रस्थान के रचयिता आर्य कात्यायनीपुत्र है। ज्ञानप्रस्थान पर एक प्रसिद्ध व्याख्यान है, इसे 'विभाषा' कहते है। इसको जो प्रमाण मानते है, वे वैभाषिक कहलाते है। सब सर्वास्तिवादी विभाषा को प्रमाण नही मानते। वैभाषिको का मुख्य केन्द्र काश्मीर था। इनको 'काश्मीर-वैभाषिक' कहते है, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि काश्मीर के सब सर्वास्तिवादी वैभाषिक थे। सर्वास्तिवादी और वैभाषिक दोनो मानते है कि अभिधर्म बुद्ध-वचन है। काश्मीर के बाहर जो सर्वास्तिवादी थे, उन्हे 'बहिर्देशक', 'पाश्चात्य' (काश्मीर से पश्चिम के निवासी) और 'अपरान्तक' कहा है। विभाषा के कुछ आचार्यों के नाम ये है—वसुमित्र, घोषक, बुद्धदेव, धर्मत्रात और भदन्त।

सर्वास्तिवाद का प्रसिद्ध ग्रन्थ वसुबन्धु-रचित अभिधर्मकोश है, इसका विशेष परिचय हम आठवें अध्याय में दे चुके है। इस ग्रन्थ में काश्मीर के वैभाषिको के नय में अभिधर्म का व्याख्यान है। इसका यह अर्थ नही है कि वसुबन्धु वैभाषिक है। वे सर्वास्तिवादी भी नही है। उनका झुकाव सौत्रान्तिकवाद की ओर है, जो अभिधर्म के स्थान में सूत्र को प्रमाण मानता है। यह ग्रन्थ लगभग ६०० कारिकाओ का है। वसुबन्धु ने इन कारिकाओं पर अपना भाष्य लिखा है। इस भाष्य मे वसुबन्धु ने जगह-जगह विभिन्न आचार्यों का मत भी दिया है। यह ग्रन्थ बडे महत्त्व का है और बौद्ध ससार पर इसका बडा प्रभाव पडा है। इसकी अनेक व्याख्याएँ है तथा इसका अनुवाद तिब्बती और चीनी-भाषा में भी हुआ है।

वसुवन्धु वाद मे महायानवादी हो गये थे, और उन्होने विज्ञानवाद पर भी ग्रन्थ लिखे है। वसुवन्धु से हीनयान का उज्ज्वल काल आरम्भ होता है। वौद्ध-ससार में इनके सब ग्रन्थो का वडा आदर है। युआन-च्वाग ने इनके ग्रन्थो का चीनी-भाषा मे अनुवाद[1] किया, और अपनी भाषा में वह सामर्थ्य उत्पन्न किया, जिसके कारण विना मूल ग्रन्थो की सहायता के ही भारतीय दर्शन के जटिल और दुरूह भाव चीनी-भाषा के ज्ञाताओ की समझ में आ सकें। युआन-च्वाग से दो प्रधान शिष्य थे—'कुइ-ची' (जापानी 'किकी') और 'फुकुआग' (जापानी 'फुको')। इन्होने युवान-च्वाग के अनुवाद-ग्रन्थो पर व्याख्याएँ की है। 'किकी' वसुवन्धु के महायान-दर्शन और न्याय के प्रचारक हुए, और फुकुआग ने हीनयान का प्रचार किया।

सघभद्र ने न्यायानुसार वैभाषिक-मत का समर्थन किया है और सौत्रान्तिको के आक्षेपो का उत्तर दिया है। किन्तु, यह ग्रन्थ उपलब्ध नही है। अत, हम वसुवन्धु के ग्रन्थो के आधार पर सर्वास्तिवाद का वर्णन देगे।

सर्वास्तिवाद की आख्या पर विचार

इस प्रश्न पर वौद्धो मे विवाद होता था कि अतीत और अनागत धर्म द्रव्य-सत् है या नही। सर्वास्तिवादियो का मत है कि अतीत और अनागत धर्म द्रव्य-सत् है, क्योकि ये त्रैयध्विक धर्मो के अस्तित्व को मानते है। इसलिए, इन्हें सर्वास्तिवादी कहते है ('तदस्तिवादात् सर्वास्तिवादी मत')। परमार्थ कहते है कि यदि कोई कहता है कि अतीत, अनागत, प्रत्युत्पन्न, आकाश, प्रतिसख्या-निरोध, अप्रतिसख्या-निरोध इन सबका अस्तित्व है, तो उसे सर्वास्तिवादी निकाय का कहते हैं। इसके विपरीत जो वादी अध्व-त्रय के अस्तित्व को तो मानते है, किन्तु यह विभाग करते है कि प्रत्युत्पन्न धर्मों का, और अतीत कर्मों का अस्तित्व है, यदि उन्होने अभी फल-प्रदान नही किया है। जव वे विपाक-दान कर चुके होते है, तव उनका और अनागत धर्मों का—जो अतीत या वर्तमान कर्म के फल नही हैं—अस्तित्व नही होता। इन्हें विभज्यवादी कहते है। अभिधर्मकोश (५।२५–२७) में इन दोनो वादो के भेद पर विचार किया गया है। वसुवन्धु कहते है कि जो प्रत्युत्पन्न और अतीत के एक प्रदेश के, अर्थात् उस कर्म के, जिसने विपाक-दान नही किया है, अस्तित्व की प्रतिज्ञा करता है, और अनागत तथा अतीत के उस प्रदेश के अस्तित्व को नही मानता, जो दत्त-विपाक कर्मात्मक है, वह विभज्यवादी माना जाता है। पुन जिसका यह वाद है कि अतीत, प्रत्युत्पन्न, अनागत सवका अस्तित्व है, वह सर्वास्तिवादी माना जाता है। सर्वास्तवादी आगम और युक्ति से अतीत और अनागत

---

१ युआन-च्वाग के इस चीनी-अनुवाद के आधार पर फ्रेंच-विद्वान् पूसें ने अपनी महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों के साथ अभिधर्मकोश का फ्रेंच-अनुवाद प्रकाशित किया था। प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने इस सस्करण का अँगरेजी तथा हिन्दी में अनुवाद किया है। हिन्दी-अनुवाद 'हिन्दुस्तानी एकेडमी', प्रयाग से प्रकाशित है।

के अस्तित्व को सिद्ध करता है। सयुक्तागम (३।१४) मे है—**रूपमनित्यमतीतमनागतम्**।
सर्वास्तिवादी आगम-वचन को उद्धृत कर युक्ति देता है। आलम्बन के होने पर विज्ञान की उत्पत्ति होती है। यदि आलम्बन नही है, विज्ञान उत्पन्न नही होता। यदि अतीत और अनागत वस्तु न होती, तो आलम्बन के विना विज्ञान होता। अत, आलम्बन के अभाव मे विज्ञान न होगा। यदि अतीत नही है, तो शुभकर्म और अशुभकर्म आगत मे फल कैसे देता है? वास्तव मे विपक्ति-काल मे विपाक-हेतु अतीत होता है।

सर्वास्तिवादी निकाय के भेद

सर्वास्तिवादी निकाय मे चार नय हैं—भावान्यथिक, लक्षणान्यथिक, अवस्थान्यथिक और अन्यथान्यथिक।

१ भदन्त धर्मत्रात का पक्ष भावान्यथात्व है, अर्थात् उनकी प्रतिज्ञा है कि तीन अध्व का अन्यथात्व भाव के अन्यत्ववश होता है। जब एक धर्म अध्व से दूसरे अध्व मे गमन करता है, तब उसके द्रव्य का अन्यथात्व नही होता, किन्तु भाव का अन्यथात्व होता है। यहाँ एक दृष्टान्त देते है, जो आकृति के अन्यथात्व को प्रदर्शित करता है—सुवर्ण के भाण्ड को तोडकर उसका रूपान्तर करते है। सस्थान का अन्यथात्व होता है, वर्ण का नही। गुण के अन्यथात्व का दृष्टान्त—क्षीर से दधि होता है; रस, ओज और पाक-क्रिया प्रहीण होते है, किन्तु वर्ण नही प्रहीण होता। इसी प्रकार, जब अनागत धर्म अनागत से वर्तमान अध्व मे प्रतिपद्यमान होता है, तब वह अनागत भाव का परित्याग करता है, और वर्तमान भाव का प्रतिलाभ करता है, किन्तु द्रव्य का अनन्यत्व रहता है। जब यह वर्तमान से अतीत मे प्रतिपद्यमान हो, तो वर्तमान भाव का त्याग और अतीत भाव का प्रतिलाभ होता है, किन्तु द्रव्य अनन्य रहता है।

२ भदन्त घोषक का पक्ष लक्षणान्यथात्व है। धर्म अध्वो में प्रवर्त्तन करता है। जब यह अतीत होता है, तब यह अतीत के लक्षण से युक्त होता है, किन्तु यह अनागत और प्रत्युत्पन्न लक्षणो से अवियुक्त रहता है। यदि यह अनागत होता है, तो यह अनागत के लक्षण से युक्त होता है, किन्तु अतीत और प्रत्युत्पन्न लक्षणो से अवियुक्त रहता है, यथा एक स्त्री मे रक्त पुरुष शेष में अविरक्त रहता है।

३ भदन्त वसुमित्र का पक्ष अवस्थान्यथात्व है। अवस्था के अन्यथात्व से अध्वो का अन्यथात्व होता है। धर्म अध्वो मे प्रवर्त्तमान होकर, अवस्था-अवस्था को प्राप्त होकर (प्राप्य), अवस्थान्तर से, द्रव्यान्तर से नही, अन्य-अन्य निर्दिष्ट होता है, यथा एकाक मे निक्षिप्त एक गुलिका एक कहलाती है, दशाक मे निक्षिप्त दम,.. इत्यादि कहलाती है।

४ भदन्त बुद्धदेव का पक्ष अन्यथान्यथात्व है। अध्व अपेक्षावश व्यवस्थित होते है। धर्म अध्व मे प्रवर्त्तमान हो, अपेक्षावश सज्ञान्तर ग्रहण करता है, अर्थात् यह पूर्व और अपर की अपेक्षावश अतीत, अनागत, वर्त्तमान कहलाता है, यथा एक ही स्त्री दुहिता भी है, माता भी है।

इस प्रकार, यह चारो वादी सर्वास्तिवाद का निरूपण करते हैं। वसुवन्धु कहते हैं कि प्रथम को, जो परिणाम का वाद है, साख्य-पक्ष में निक्षिप्त करना चाहिए। जो साख्य-पक्ष में प्रतिषेध है, वही इस पक्ष का प्रतिषेध है। द्वितीय पक्ष मे अध्व-सकर होता है, क्योकि तीन लक्षणो का योग होता है। पुन यहाँ साम्य क्या है ? क्योकि इस पुरुष मे एक स्त्री के प्रति राग-समुदाचार होता है, और शेष स्त्रियो के लिए केवल राग-प्राप्ति होती है। चतुर्थ पक्ष मे तीन अध्व एक ही अध्व मे प्राप्त होते हैं। एक ही अतीत अध्व मे पूर्वापर क्षण की व्यवस्था है, यथा पूर्व क्षण अतीत है, पश्चिम अनागत है, मध्यम प्रतिपन्न है। अत, इन सवमे तृतीय मत वसुमित्र का शोभन है, जिसके अनुसार कारित्रवश अध्व और अवस्था व्यवस्थापित होते है। जब धर्म अपने कारित्र को नही करता, तब वह अनागत है। जब वह अपना कारित्र करता है, वह प्रत्युत्पन्न है। जब कारित्र से उपरत हो जाता है, तब वह अतीत है।

धर्म-प्रविचय

प्रविचय का प्रयोजन—'धर्म' वह है, जो स्वलक्षण करता है। धर्म पुष्पो के समान व्यवकीर्ण है। उन्हें चुनते है (प्रविचीयन्ते), और उनका विभाग करते हैं कि ये अनास्रव है, ये सास्रव हैं इत्यादि। इस प्रक्रिया को धर्म-प्रविचय कहते हैं। धर्म-प्रविचय-काल में प्रज्ञा नामक एक चैत्त धर्मविशेष का प्राधान्य होता है। अत, प्रज्ञा का लक्षण धर्म-प्रविचय है, यथा वैशेषिकशास्त्र मे पदार्थों के तत्त्वज्ञान से नि श्रेयस् की सिद्धि होती है, उसी प्रकार सब धर्मों मे अग्रनिर्वाण की प्राप्ति धर्म-प्रविचय से होती है। यही परम ज्ञान का अर्थ है। वैशेषिकशास्त्र के अनुसार यह तत्त्वज्ञान द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य से उत्पन्न होता है। तदनन्तर, निदिध्यासन से आत्मसाक्षात्कार होता है। तदनन्तर, मिथ्याज्ञानादि के नाश से मोक्ष होता है। यहाँ 'साधर्म्य' समानधर्म और 'वैधर्म्य' विरुद्धधर्म है। ये पदार्थों के सामान्य और विशेष लक्षण हैं। यथा अनुगत-धर्म और व्यावृत्त-धर्म के ज्ञान मे तत्त्वज्ञान होता है, उसी प्रकार अभिधर्म धर्मों के स्वलक्षण और सामान्यलक्षण के अभिमुख है। धर्मप्रविचय-काल मे प्रज्ञा इस कृत्य को सम्पादित करती है। धर्म सास्रव और अनास्रव हैं। आर्यमार्ग को वर्जित कर अन्य सस्कृत-धर्म साश्रव है। यह सास्रव हैं, क्योकि आस्रव वहाँ प्रतिष्ठा-लाभ करते हैं, अथवा पुष्टि-लाभ करते हैं। आस्रव 'मल' को कहते हैं। अनुशय आस्रव हैं, क्योकि यह छ आयतन-व्रण से क्षरित होते हैं (आस्रव, ५।४०)। सास्रव धर्मों में पुष्टि और प्रतिष्ठा का लाभ कर अनुशय की वहुलता होती है।

धर्मों का एक दूसरा विभाग भी है। धर्म सस्कृत और असस्कृत हैं। रूपादि-स्कन्ध-पचक सस्कृत-धर्म हैं। 'सस्कृत' की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—जिसे प्रत्ययो ने अन्योन्य-समागम से, एक दूसरे की अपेक्षा कर (समेत्य = सम्भूय) किया है (कृतम्)। कोई भी एक ऐसा धर्म नही है, जो एक प्रत्ययजनित हो (२।६४)। सस्कृत को अध्व, कथावस्तु, सनि सार और सवस्तुक भी कहते हैं। 'सस्कृत' अध्व, अर्थात् अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत काल है; क्योकि उनका गत-गच्छत्-गमिष्यत् भाव है। 'सस्कृत' कथा के विषय हैं, अत कथावस्तु हैं। यह सनि सार है,

क्योकि सस्कृत से नि सरण, सर्वसस्कृत का निर्वाण आवश्यक है। सस्कृत सवस्तुक है; क्योकि यह सहेतुक है। सास्रव सस्कृत 'उपादान-स्कन्ध' कहलाते है। उपादान क्लेश है। उपादान स्कन्ध-संज्ञा इसलिए है, क्योकि यह क्लेशो से सम्भूत है। अथवा, यह क्लेश विधेय है। इन्हे 'सरण' भी कहते है, क्योकि क्लेश वहाँ प्रतिष्ठा-लाभ करते है। यह 'दु ख', 'समुदय', 'लोक', 'दृष्टि-स्थान', 'भव' भी है। आर्यों के प्रतिकूल होने के कारण यह दु ख हैं। 'दु ख' शब्द लोक में अनुभूत दुःख-वेदनामात्र नही है। दु ख उपादान-स्कन्ध है। न्यायभाष्य में दु ख का अर्थ 'जन्म' है, (**तेन दुःखेन जन्मना अत्यन्तं विमुक्तिरपवर्गः**—वात्स्यायनभाष्य, १।१।२२)। वाचस्पतिमिश्र टीका मे कहते है—**दु.खशब्देन सर्वे शरीरादय उच्यन्ते**, अर्थात् 'दु ख' शब्द से सर्वशरीरादि उक्त है। वे पुन कहते है कि यह भ्रम नही होना चाहिए कि यह मुख्य दु ख है (**मुख्यमेव दुःखमिति भ्रमो मा भूत्**)। उसी प्रकार जयन्त कहते है—**न च मुख्यमेव दुःखं बाधनस्वभावमवमृश्यते,किन्तु तत्साधन तदनुसक्तं च सर्वमेव** (जयन्त की न्यायमजरी, पृ० ५०७)। इसी प्रकार, अभिधर्मकोश (६।३) मे कहा है कि पच उपादान-स्कन्ध दु ख कहलाते है। वेदना एक देश ही दु ख-स्वभाव नही है। त्रिदु खता के कारण सब सास्रव सस्कृत-धर्म अविशेषत दु ख है। 'सास्रव-सस्कृत' को समुदय भी कहते है; क्योकि दु ख के यह हेतुभूत है। ये लोक है, क्योकि विनाश-प्रवृत्त है। ये 'दृष्टिस्थान' है, क्योकि दृष्टियाँ यहाँ अवस्थान और प्रतिष्ठा-लाभ करती हैं[१]।

संस्कृत-धर्म

स्कन्ध—हमने कहा है कि सस्कृत-धर्म रूपादि स्कन्ध-पचक है। 'स्कन्ध' का अर्थ 'राशि' है। स्कन्धो में असस्कृत सगृहीत नही हैं। स्कन्ध ये है—रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान। रूप-स्कन्ध में पाँच इन्द्रियाँ, पाँच अर्थ या विषय और अविज्ञप्ति सगृहीत है। पाँच इन्द्रियाँ ये है—चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय। पाँच अर्थ जो इन्द्रिय के विषय है, इस प्रकार है—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य। चक्षुरादि इन्द्रिय इन अर्थो के विज्ञान के आश्रय है। ये रूप-प्रसाद और अतीन्द्रिय है।

अब हम रूपायतन से आरम्भ कर पाँच अर्थो का विचार करते है। रूप एक प्रकार से द्विविध है, दूसरे प्रकार से वीस प्रकार के है। रूप वर्ण और सस्थान है। वर्ण चतुर्विध है—नील, लोहित, पीत, अवदात। अन्य वर्ण, वर्ण-चतुष्टय के भेद है। सस्थान अष्टविध है—दीर्घ, ह्रस्व, वृत्त, परिमण्डल, उन्नत, अवनत, शात (सम) और विशात (विषम)। इस प्रकार रूप के वीस प्रकार है—मूल जाति के चार वर्ण, आठ सस्थान, आठ अन्य वर्ण—अभ्र, धूम, रज, महिका, छाया, आतप, आलोक और अन्धकार। तम-सस्थान के विना वर्ण रूप हो सकता है, यथा नीलादि। वर्ण के विना सस्थान रूप हो सकता है, यथा दीर्घ-ह्रस्वादि का वह प्रदेश, जो काय-विज्ञप्ति-स्वभाव है। वर्ण-सस्थान उभयात्मक रूप है।

अन्य आचार्यो का मत है कि केवल आतप और आलोक वर्णमात्र है; क्योकि नीलादि का परिच्छेद दीर्घ-ह्रस्वादि के आकार में देखाई देता है। सौत्रान्तिक कहते है कि एक द्रव्य

उभयथा कैसे विद्यमान हो सकता है ? कैसे वर्ण सस्थानात्मक हो सकता है ? वैभाषिक कहते है कि वर्ण और सस्थान, उभय का एक द्रव्य मे वेदन-ग्रहण होता है। यहाँ 'विद्' धातु ज्ञानार्थक है, सत्तार्थक नही। किन्तु, सौत्रान्तिक उत्तर देते है कि तब काय-विज्ञप्ति के भी वर्ण-सस्थानात्मक होने का प्रसग होगा। सौत्रान्तिक का मत है कि संस्थान एक पृथक् वस्तु, एक अन्य द्रव्य नही है। यह प्रज्ञप्तिमात्र है। जब एक दिशा में वर्ण-रूप का बहुतर सहात उत्पन्न होता है, इस सहात को 'दीर्घ' की सज्ञा देते है। जब अपेक्षाकृत वर्ण-रूप सहात अल्प होता है, तब उसे ह्रस्व कहते है। दीर्घत्व रूप नही है, तथासनिविष्ट वर्ण-रूप या स्प्रष्टव्य (श्लक्ष्णादि) को दीर्घ की प्रज्ञप्ति दी जाती है। वैभाषिक सस्थान और वर्ण को द्रव्यान्तर मानते है।

शब्द अष्टविध है। प्रथम यह चतुर्विध है। उपात्त-महाभूत-हेतुक, अनुपात्त-महाभूत-हेतुक, सत्त्वाख्य, असत्त्वाख्य। यह चतुर्विध शब्द मनोज्ञ-अमनोज्ञ भेद से पुन अष्टविध होता है। 'उपात्त' उसे कहते है, जिसे चित्त-चैत्त अधिष्ठानभाव से उपगृहीत और स्वीकृत करते है। इस प्रकार, पच ज्ञानेन्द्रिय भूत रूप, यह रूप, जो इन्द्रियाविनिर्भागी है, चित से उपात्त है, स्वीकृत है। अनुग्रह उपघात की अवस्था में चित्त और इस रूप के बीच जो अन्योन्य अनुविधान होता है, उसका यह फल है। जिस रूप को अभिधर्म में 'उपात्त' कहा है, उसे लोक में सचेतन, सजीव कहते है।

हस्त शब्द, वाक् शब्द, प्रथम प्रकार का है। वायु, वनस्पति, नदी शब्द दूसरे प्रकार का है। वाग्विज्ञप्ति-शब्द तीसरे प्रकार का है, क्योकि यह सत्त्व को सूचित करता है ('सत्त्वमाचष्टे')। अन्य शब्द चतुर्थ प्रकार का है।

रस छ प्रकार का है—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय तिक्त। गन्ध चतुर्विध है; क्योकि सुगन्ध और दुर्गन्ध अनुत्कृष्ट और उत्कृष्ट है। प्रकरणशास्त्र में गन्ध त्रिविध है—सुगन्ध दुर्गन्ध और समगन्ध।

स्प्रष्टव्य ग्यारह प्रकार का है। ग्यारह स्प्रष्टव्य द्रव्य है। महाभूतक-चतुष्क, श्लक्ष्णत्व, कर्कशत्व, गुरुत्व, लघुत्व, शीतता, जिघत्सा और पिपासा। भूत, चार महाभूत—पृथ्वी-धातु, अब्धातु, तेजोधातु और वायु है। ये चार धातु-चतुष्टय है। ये धातु इसलिए कहलाते है; क्योकि ये अपने स्वलक्षण और उपादाय-रूप या भौतिक रूप धारण करते है। धृत्यादि कर्म से इनकी सिद्धि होती है। ये खर, स्नेह, उष्णता, ईरण है। इनकी सिद्धि यथाक्रम धृति-कर्म, सग्रह-कर्म, पक्ति-कर्म, व्यूहन-कर्म से होती है। व्यूहन से वृद्धि और प्रसर्पण समझना चाहिए। यह इनके कर्म है।

पृथिवी-धातु और पृथिवी मे विशेष है। लोक-व्यवहार में जिसे पृथिवी शब्द से प्रज्ञप्त करते हैं, वह वर्ण और सस्थान है। इसी प्रकार जल और तेज है।

श्लक्ष्णत्व स्निग्धता है, कर्कशत्व कठोरता है। गुरुत्व वह है, जिसके योग से काय तोलनार्ह होते है; लघुत्व इसका विपर्यय है। शीत वह धर्म है, जो ऊष्म की अभिलाषा पैदा करता है। जिघत्सा वह धर्म है, जो आहार की इच्छा उत्पन्न करता है। पिपासा वह धर्म है, जो पान की इच्छा उत्पन्न करता है। वास्तव मे जिघत्सा और पिपासा शब्द से वह स्प्रष्टव्य प्रज्ञप्त होता है, जो जिघत्सा और पिपासा का उत्पाद करता है।

अब हम अविज्ञप्ति का निर्देश करते हैं।

जिसका चित्त विक्षिप्त है, अथवा जो अचित्तक है, उसका महाभूतहेतुक कुशल और अकुशल-प्रवाह अविज्ञप्ति कहलाता है।

असज्ञि-समापत्ति और निरोध-समापत्ति में समापन्न पुद्गल अचित्तक है। अविज्ञप्ति पुद्गल में, और सचित्तक पुद्गल मे भी, जिसका चित्त दो समापत्तियो में निरुद्ध नही हुआ है, अविज्ञप्ति होती है। समासत, विज्ञप्ति और समाधि से सम्भूत कुशल-अकुशल-रूप अविज्ञप्ति है। यद्यपि यह अनुबन्ध कायविज्ञप्ति और वाग्विज्ञप्ति के सदृश रूप-स्वभाव और क्रिया-स्वभाव है, तथापि यह विज्ञप्ति के सदृश दूसरे को कुछ विज्ञापित नही करता। अत, इसे अविज्ञप्ति कहते हैं। यह रूप-स्कन्ध मे गिनाया गया है।

'रूप-उपादान-स्कन्ध' उसे कहते है, जो निरन्तर भिन्न, विभक्त होता है (रूप्यते)। क्षुद्रकागम मे पठित अर्थवर्गीय सूत्रो के एक श्लोक मे सिद्ध होता है कि 'रूप्यते' का अर्थ 'बाध्यते' है। किन्तु, रूप कैसे बाधित होता है? विपरिणाम के उत्पादन से, विक्रिया से। अन्य आचार्यो के अनुसार रूपमात्र विपरिणाम नही है, किन्तु सम्प्रतिघत्व या प्रतिघात है, यह स्वदेश मे पररूप की उत्पत्ति में प्रतिबन्ध है। हम अविज्ञप्ति के रूप को युक्त, सिद्ध कह सकते है। कायिक या वाचिक विज्ञप्ति, जिससे अविज्ञप्ति समुत्थापित होती है, रूप है। इसलिए अविज्ञप्ति रूप है। यथा जब वृक्ष प्रचलित होता है, तब छाया प्रचलित होती है। दूसरा निरूपण यह है कि अविज्ञप्ति रूप है, क्योकि महाभूत जो उसके आश्रयभूत है, रूप हैं। सौत्रान्तिक कहते है कि अविज्ञप्ति द्रव्यतः नही है, क्योकि किसी कर्म से विरति का अभ्युपाय करके उस कर्म का न करना-मात्र ही अविज्ञप्ति है। उसके अनुसार यह रूप नही है, क्योकि उसमे रूप का लक्षण (रूप्यते) नही है। वैभाषिक उत्तर में कहते हैं कि रूप सग्रह-सूत्र मे उक्त है कि एक रूप अविज्ञप्ति, अप्रतिघ है। यह रूप केवल अविज्ञप्ति हो सकता है। एक दूसरे सूत्र का वचन है कि एक अनास्रव रूप है। यह अनास्रव रूप अविज्ञप्ति है। वैभाषिक कहते हैं कि यदि अविज्ञप्ति नही हैं, तो स्वय कर्म नही करता, किन्तु दूसरे को आज्ञा देता है। वह कर्मपथ से समन्वागत नही होगा। वे यह भी कहते हे कि यदि अविज्ञप्ति नही है, तो मार्ग अष्टांगिक नही है। क्योकि, तीन अग—सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यगाजीव का समाधि से योग नही है। यदि समाधि की अवस्था मे योगी इन तीन अगो से समन्वागत होता है, तो उसका कारण यह है कि ये तीन अग स्वभाववश अविज्ञप्ति हैं। सौत्रान्तिक अविज्ञप्ति न मानकर 'सन्तति-परिणाम-विशेष' मानते हैं। उनके अनुसार जब वध के लिए

नियुक्त पुरुष वध करता है, तब यह न्याय है कि प्रयोक्ता की चित्त-सन्तति में एक सूक्ष्म परिणाम-विशेष होता है, जिसके प्रभाव से यह सन्तति आयति में फल की अभिनिष्पत्ति करेगी। इस परिणाम-विशेष को कायिक कहते हैं, यदि वह काय-क्रिया का फल होता है; और वाचिक कहते हैं, यदि वह वाक्-क्रिया का फल होता है। वे यह भी कहते है कि ध्यानो में समाधि-बल से एक रूप उत्पन्न होता है, जो समाधि का विषय है, अर्थात जिसका ग्रहण समाहित आश्रय करता हैं। यथा : अशुभ भावना में अस्थि-सकल। यह रूप चक्षुरिन्द्रिय से देखा नही जाता। इसलिए यह अनिदर्शन है। यह देश को आवृत नही करता, इसलिए यह अप्रतिघ है। यह रूप अनास्रव है, यदि समाधि अनास्रव है। किन्तु, सर्वास्तिवादी प्रश्न करता है कि यह द्वेष क्यो है कि आप अविज्ञप्ति के भाव का तो प्रतिषेध करते हैं, किन्तु सन्तति-परिणाम-विशेष को स्वीकार करते है। आचार्य वसुवन्धु कहते है कि दोनो 'वाद' दु खवोध है। इसलिए, प्रथम मत से मुझे कोई द्वेष नही है, किन्तु इससे परितोष नही होता। रूप-निर्देश समाप्त होता है। यही इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ आयतन की व्यवस्था मे दस आयतन (चित्त-चैत्त का आयद्वार) और धातु (आकार) की व्यवस्था मे दस धातु हैं।

अब अन्य स्कन्धो का निरूपण करना है। वेदना दु खादि अनुभव है। वेदना-स्कन्ध त्रिविध अनुभूति है—सुख, दु ख, अदु खासुख। वेदना के छ प्रकार हैं, जो चक्षुरादि पाँच रूपी इन्द्रियो के स्वविषय के साथ सस्पर्श होने से उत्पन्न होता है, जो मन इन्द्रिय के साथ सस्पर्श होने से उत्पन्न होता है। सज्ञा निमित्त का उद्ग्रहण है। नीलत्व, पीतत्व, दीर्घत्व, ह्रस्वत्व, पुरुषत्व, स्त्रीत्व आदि विविध स्वभावो का उद्ग्रहण सज्ञा-स्कन्ध है। वेदना के तुल्य सज्ञा-काय के भी इन्द्रिय के अनुसार छ प्रकार है। अन्य चार स्कन्धो से भिन्न जो सस्कार हैं, वे सस्कार-स्कन्ध हैं। सर्व-सस्कृत सस्कार हैं, किन्तु सस्कार-स्कन्ध उन्ही सस्कृतो के लिए प्रयुक्त होता है, जो अन्य चार स्कन्धो में सगृहीत नही है। यह सत्य है कि सूत्र में कहा है कि सस्कार-स्कन्ध छ चेतनाकाय है, और इस लक्षण के अनुसार सस्कार-स्कन्ध में सब विप्रयुक्त सस्कार और चेतनावर्जित सप्रयुक्त सस्कार का असग्रह है, किन्तु अभिसस्करण में चेतना का प्राधान्य होने से सूत्र का ऐसा निर्देश है। चेतना कर्मस्वभाव है। लक्षणत, यह वह हेतु है, जो उपपत्ति का अभिसस्करण करता है। अन्यथा सूत्रनिर्देश का अक्षरार्थ लेने से यह परिणाम होगा कि चेतना-व्यतिरिक्त शेष चैतसिक (सम्प्रयुक्त) धर्म और सब विप्रयुक्त धर्म किसी स्कन्ध में सगृहीत न होगे, इसलिए इनका दु ख-समुदयत्व सत्य न होगा, न परिज्ञा होगी, न प्रहाण, किन्तु भगवान् का वचन है कि यदि एक धर्म भी अनभिज्ञात हो, तो मैं कहता हूँ कि दु ख का अन्त नही किया जा सकता। अत, चैत्त और विप्रयुक्त का कलाप सस्कार-स्कन्ध में सगृहीत है।

वेदना-स्कन्ध, सज्ञा⁰, सस्कार⁰, अविज्ञप्ति और तीन असस्कृत—यह सात द्रव्य धर्मायतन, धर्मधातु कहलाते हैं। विज्ञान प्रत्येक विषय की उपलब्धि है। विज्ञान-स्कन्ध छ विज्ञान-काय है—चक्षुर्विज्ञान . . मनोविज्ञान। आयतन-देशना में यह मन-आयतन है, और धातु-देशना में यह सप्त चित्तधातु, अर्थात् छ विज्ञान और मन है।

आयतन, धातु—स्कन्ध-देशना के अतिरिक्त, आयतन और धातु व्यवस्था है। आयतन बारह है, धातु अट्ठारह है। रूप-स्कन्ध दस आयतन, चक्षुरादि पाँच, रूपादि पाँच, दस धातु तथा अविज्ञप्ति है।

वेदना॰, सज्ञा॰, सस्कार॰ तथा अविज्ञप्ति और तीन असस्कृत—यह सात वस्तु धर्मधातु है, विज्ञान॰ मन-आयतन है। यह सप्त धातु, अर्थात् छ विज्ञान-काय (विज्ञान-धातु) और मनो-धातु या मन है। धातुओ मे २२ इन्द्रिय परिगणित है, इनका वर्णन हम आगे करेगे।

प्रश्न है कि छ विज्ञान-काय, अर्थात् पाँच इन्द्रिय-विज्ञान और मनोविज्ञान से भिन्न मन या मनोधातु क्या हो सकता है? उत्तर है कि विज्ञान से भिन्न मन नही है। इन छ विज्ञानो मे से, जो विज्ञान अन्तरातीत है, वह मन है। जो-जो विज्ञान समनन्तर निरुद्ध होता है, वह-वह मनोधातुओ की आख्या प्राप्त करता है, यथा वही पुत्र दूसरे के पिता की आख्या का लाभ करता है। षष्ठ विज्ञान-धातु का आश्रय प्रसिद्ध करने के लिए भी अट्ठारह धातु गिनाते है प्रथम पाँच विज्ञान-धातुओ के चक्षुरादि पाँच रूपीन्द्रिय आश्रय है। षष्ठ विज्ञान, मनोविज्ञान धातु का ऐसा कोई आश्रय नही है। अतएव, इस विज्ञान-धातु का आश्रय प्रसिद्ध करने के लिए मनोधातु व्यवस्थापित करते है, जो इसका आश्रय होता है, अर्थात् छ विज्ञान-धातुओ मे से अन्यतम वह मन या मनोधातु अथवा मन-आयतन, मन-इन्द्रिय कहलाता है। इस प्रकार, छः आश्रय या इन्द्रिय, आश्रय-षट्क पर आश्रित छ विज्ञान और छ आलम्बन विषय के व्यव-स्थान से अट्ठारह धातु होते।

सर्व सस्कृत-धर्म स्कन्ध-सग्रह में सगृहीत है। सर्व सास्रव-धर्म उपादान-स्कन्ध के सग्रह मे सगृहीत है। सर्वधर्म आयतन और धातु-सग्रह मे सगृहीत है। चक्षु, श्रोत्र और घ्राणेन्द्रियो का यद्यपि द्वित्व है, तथापि यह एक-एक धातु माने जाते है, क्योकि जाति, गोचर और विज्ञान मे ये सामान्य है। शोभा के निमित्त इनका द्वित्वभाव है।

स्कन्ध, धातु, आयतन का अर्थ—स्कन्ध, धातु और आयतन इन आख्याओ का क्या अर्थ है? 'स्कन्ध' राशि को कहते है। आयतन का अर्थ आय-द्वार, उत्पत्ति-द्वार है। धातु से आशय गोत्र का है। वसुवन्धु के अनुसार स्कन्ध द्रव्य नही है, यह प्रज्ञप्ति-सत् है, क्योकि सचित द्रव्य-सत् नही है। यथा धान्यराशि, पुद्‌गल। वैभाषिक इससे सहमत नही है, क्योकि उनके अनुसार परमाणु भी स्कन्ध है। वैभाषिक सघभद्र कहते है कि स्कन्ध का अर्थ राशि नही है, किन्तु "वह, जो 'राशिकृत', 'सचित' हो सकता है।" वसुवन्धु उत्तर देते है कि इस विकल्प मे जव कि परमाणु का राशित्व नही है, यह न कहिए कि स्कन्ध का अर्थ राशि है। 'आयतन' उन्हे कहते है, जो चित्त-चैत्त के आय को फैलाते है। 'धातु' का अर्थ गोत्र है। यथा वह स्थान, जहाँ लौह, ताम्र, रजत, सुवर्ण धातुओ के वहुगोत्र पाये जाते है, 'वहुधातुक' कहलाते है। उसी प्रकार एक आश्रय या सन्तान मे अट्ठारह प्रकार के गोत्र पाये जाते है, जो अट्ठारह धातु कहलाते है। धातु स्वजाति के आकर है। पूर्वोत्पन्न चक्षु चक्षु के पश्चिम क्षणो का सभाग-हेतु है, इसलिए यह चक्षु का आकर—धातु है।

वैभाषिक स्कन्ध, आयतन और धातु इन तीनो को द्रव्य-सत् मानते है। सौत्रान्तिक धातुओ को द्रव्य-सत् और स्कन्ध तथा आयतनो को प्रज्ञप्ति-सत् मानते हैं। वसुबन्धु स्कन्धो को प्रज्ञप्ति-सत् और आयतन तथा धातुओ को द्रव्य-सत् मानते हैं। स्कन्धादित्रय की देशना इसलिए है, क्योकि श्रावको के मोह, इन्द्रिय और रुचि के तीन प्रकार हैं।

मोह त्रिविध है--एक चित्तो का पिण्डत ग्रहण कर उन्ही को आत्मत ग्रहण करते है, और इस प्रकार समूढ होते हैं। एक रूप-पिण्ड को ही आत्मत गृहीत कर समूढ होते हैं। एक रूप और चित्त का पिण्डात्मत ग्रहण कर समूढ होते हैं।

श्रद्धादि इन्द्रिय त्रिविध है--तीक्ष्ण, मध्य, मृदु।

रुचि भी त्रिविध है-- एक की सक्षिप्त रुचि होती है, एक की मध्य, एक की विस्तीर्ण।

स्कन्ध-देशना पहले प्रकार के श्रावको के लिए है, जो चैत्तो के विषय मे समूढ होते है, जिनकी इन्द्रियाँ तीक्ष्ण हैं और जिनकी रुचि सक्षिप्त देशना मे होती हैं। आयतन-देशना दूसरे प्रकार के लिए है और धातु-देशना तीसरे प्रकार के लिए है।

वेदना, सज्ञा की विवादमूलता--प्रश्न है कि इसका क्या कारण है कि वेदना और सज्ञा पृथक्-पृथक है और अन्य सब चैत्त-धर्म सस्कार मे सगृहीत हैं ? क्योकि, यह विवादमूल हेतु है। ससार कारण है, इसलिए और स्कन्धो के क्रम के कारण यह दो चैत्त--वेदना और सज्ञा-पृथक् स्कन्ध व्यवस्थित होते हैं। कामाध्यवसाय और दृष्टि-अभिष्वग विवादमूल हैं। वेदना और सज्ञा इन दो मूलो के प्रधान हैं। वेदनास्वादवश कामाभिष्वग होता है और विपरीतसज्ञावश दृष्टियो मे अभिष्वग होता है। जो वेदना-गृध्र है और जिसकी सज्ञा विपर्यस्त है, वह ससार मे जन्म-परम्परा करता है।

स्कन्ध-देशना का क्रम--जो कारण स्कन्धो के अनुक्रम को युक्त सिद्ध करते हैं, उनका निर्देश करते है।

औदारिक-भाव, सक्लेश-भाव, भाजनत्वादि से तथा अर्थधातुओ की दृष्टि से भी स्कन्धो का क्रम युक्त है। सप्रतिघ होने से रूप स्कन्धो मे सबसे औदारिक है। अन्तिम दो स्कन्धो से सज्ञा औदारिक है। विज्ञान सर्वसूक्ष्म है। अत:, स्कन्धो का अनुक्रम क्षीयमाण औदारिकता के क्रम के अनुसार है।

अनादि ससार मे स्त्री-पुरुष अन्योन्य रूपाभिराम होते है, क्योकि यह वेदनास्वाद मे आसक्त है। यह आसक्ति सज्ञा-विपर्यास से प्रवृत्त होती है। सज्ञा-विपर्यास सस्कारभूत क्लेशो के कारण होता है। और यह, चित्त है, जो क्लेशो से सक्लिष्ट होता है। अत, सक्लेश की प्रवृत्ति के अनुसार क्लेशो का क्रम है।

रूप भाजन है, वेदना भोजन है, सज्ञा व्यजन है और सस्कार पक्ता है, विज्ञान या चित्त भोक्ता है।

धातुत, विचार करने पर हम देखते है कि कामधातु रूप से, अर्थात् पच कामगुणो से प्रभावित, प्रकर्पित है। रूपधातु, अर्थात् चार ध्यान, वेदना से प्रभावित है। प्रथम तीन आरूप्य-

सज्ञा से तथा चतुर्थ आरूप्य, अर्थात् भवाग्र -संस्कारमात्र (चेतना) से प्रभावित होते हैं। स्कन्धो का अनुक्रम क्षेत्रबीज सदर्शनार्थ है। पहले चार स्कन्ध-क्षेत्र है। पाँचवाँ बीज है।

असस्कृत-धर्म

हम सास्रव सस्कृत धर्मों का निर्देश कर चुके है। मार्ग-सत्य और तीन असस्कृत अनास्रव है। आकाश, प्रतिसज्ञा-निरोध और अप्रतिसख्या-निरोध असस्कृत है।

आकाश—आकाश वह है, जो आवृत नही करता, और यह रूप से आवृत भी नही होता। यहाँ रूप की अबाध गति है। आकाश को सौत्रान्तिक वस्तु-सत् नही मानते। उनके अनुसार रूपाभाव-मात्र के लिए, सप्रतिघ द्रव्य के अभाव के लिए आकाश का व्यवहार होता है। आकाश आकाश-धातु से भिन्न है। छिद्र को आकाश-धातु की आख्या देते है। द्वार, गवाक्षादि का छिद्र वाह्य आकाश-धातु है। मुख, नासिकादि का छिद्र आध्यात्मिक आकाश-धातु है। वैभाषिक के अनुसार छिद्र या आकाश-धातु आलोक और तम है, अर्थात् वर्ण का, रूप का, एक प्रकार है। छिद्र की उपलब्धि आलोक और तम से पृथक् नही है।

प्रतिसख्या-निरोध—सास्रव धर्मो से विसयोग, प्रतिसख्या या निर्वाण है। प्रतिसख्या या प्रतिसख्यान से एक प्रज्ञा-विशेष का, अनास्रव प्रज्ञा का, दु खादि आर्यसत्यो के अभिममय का ग्रहण होता है। इस प्रज्ञा-विशेप से जिस निरोध की प्राप्ति होती है, वह प्रतिमख्या-निरोध कहलाता है। सव सास्रव धर्मों के लिए एक प्रतिमख्या नही होती। प्रत्येक विसयोग पृथक्-पृथक् प्रतिसख्या है। जितने सयोग-द्रव्य होते है, उतने ही विसयोग-द्रव्य होते है। यदि अन्यथा होता, तो जिस पुद्गल ने दु ख-सत्य-दर्शन से प्रहातव्य क्लेशो के निरोध का लाभ किया है, उसके लिए क्लेशो के प्रतिपक्षभूत मार्ग की भावना व्यर्थ होगी।

अप्रतिसख्या-निरोध—एक अन्य निरोध है, जो उत्पाद मे अत्यन्त विघ्नभूत है, अप्रतिसख्या कहलाता है। इस निरोध की प्राप्ति सत्याभिसमय से नही होती, किन्तु प्रत्यय-वैकल्य से होती है। प्रत्यय-वैकल्य, यथा जव चक्षुरिन्द्रिय और मन-इन्द्रिय एक रूप में आसक्त होते है, तव रूपान्तर, शब्द, गन्ध, रम और स्प्रष्टव्य प्रत्युत्पन्न अध्व का अतिक्रमण कर अतीत अध्व में प्रतिपन्न होते है।

ये तीन अमस्कृत अध्व-विनिर्मुक्त है।

निरोध पर सौत्रान्तिक-मत—सौत्रान्तिक कहते है कि दो निरोध भी अभाव है। सर्वास्तिवादी कहते है कि यदि निर्वाण अभाव है, तो यह तृतीय सत्य कैसे है? और उस विज्ञान का आलम्वन, जिसका आलम्वन आकाश और दो निरोध है, अवस्तु होगा। पुन यदि निर्वाण अभाव है, तो अभाव की प्राप्ति कैसे होती हे? सौत्रान्तिक सूत्रो का प्रमाण देकर सिद्ध करना चाहते है कि निर्वाण अभावमात्र है। सूत्रवचन है—"इस दु.ख का अशेप प्रहाण, शान्तिभाव, क्षय, विराग, निरोध, उपमम, अस्तगम, अन्य दु ख की अप्रतिमन्धि अनुपादान, अप्रादुर्भाव; यह शान्त प्रणीत है, अर्थात् मर्वोपधि का प्रतिनि सर्ग, तृष्णा-क्षय, विराग, निरोध, निर्वाण है।" अत, निर्वाण 'अवस्तुक' है, अर्थात् अद्रव्य, नि स्वभाव है। वैभापिक इस अर्थ को

स्वीकार नही करते। वे कहते है कि इस सन्दर्भ में 'वस्तु' 'हेतु' के अर्थ में है। यद्यपि असस्कृत द्रव्य है, तथापि वह नित्य निष्क्रिय है। अत, कोई हेतु नही है, जो उनका उत्पाद करता है; और कोई फल नही है, जिसका यह उत्पाद करते है।

आत्मा और ईश्वर का प्रतिषेध

धर्मों के इस विभाग में आत्मा, पुरुष और प्रकृति को स्थान नही है। आत्मा प्रज्ञप्तिमात्र है। जिस प्रकार 'रथ' नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है, वह शब्दमात्र है, परमार्थ में अग-सम्भार है, उसी प्रकार आत्मा, सत्त्व, जीव, पुद्गल, नामरूप-मात्र (स्कन्धपचक) है। यह कोई अविपरिणामी शाश्वत पदार्थ नही है। रूप भी केवल विज्ञान का विषय है। वैशेषिकों के परमाणु के तुल्य द्रव्य नही है।

वैभाषिक सस्वभाववादी है, बहुधर्मवादी है, किन्तु कोई शाश्वत पदार्थ नही मानते। उनके द्रव्य सत् है, किन्तु क्षणिक है। वे चैत्त और रूपी धर्म है। वे किसी मूल कारण की व्यवस्था नही करते। वे नही मानते कि ईश्वर, महादेव या वासुदेव, पुरुष, प्रधानादिक एक कारण से सर्व जगत् की प्रवृत्ति होती है। यदि भावो की उत्पत्ति एक कारण से होती, तो सर्व जगत् की उत्पत्ति युगपत् होती, किन्तु हम देखते है कि भावो का क्रम सम्भव है। ईश्वरवादी कहता है कि यह क्रम-भेद ईश्वर की इच्छावश है—"यह इम समय उत्पन्न हो, यह इस समय निरुद्ध हो, यह पश्चात् उत्पन्न और निरुद्ध हो।" वैभाषिक उत्तर देता है कि यदि ऐसा है, तो भावो की उत्पत्ति एक कारण से नही होती, क्योकि छन्द-भेद है।

ईश्वरवादी पुन कहता है कि ईश्वर स्वप्रीति के लिए जगत् की उत्पत्ति करता है।

यदि ईश्वर नरकादि में प्रजा की सृष्टि कर बहु ईतियो से उपद्रुत होते देखकर प्रसन्न होता है, तो उसको नमस्कार है। सत्य ही यह लौकिक श्लोक सुगीत है—"उसे रुद्र कहते है, क्योकि वह दहन करता है, वह उग्र, तीक्ष्ण, प्रतापवान् है। वह मास, शोणित, मज्जा, खानेवाला है।"

कदाचित् प्रत्यक्ष हेतुओ के निषेध के परिहार के लिए, और ईश्वर की अप्रत्यक्ष वर्त्तमान क्रिया की प्रतिज्ञा के परिहार के लिए ईश्वरवादी कहेगा कि आदिसर्ग ईश्वर-हेतुक है, किन्तु आदिसर्ग का केवल ईश्वर एक कारण है, वह अन्य कारणो की अपेक्षा नही करता। अत, ईश्वरवत् उनके भी अनादित्व का प्रसग होगा। ईश्वरवादी इसका प्रतिषेध करता है, अत कोई धर्म एक कारण से उत्पन्न नही होता। आत्मा का प्रतिषेध, अभिधर्मकोश के नवें कोशस्थान में किया गया है। उसका साराश हम १२वे अध्याय में दे चुके है। यहाँ परमाणुवाद का विचार करना आवश्यक है।

परमाणुवाद

स्थविरवाद—स्थविरवाद में परमाणु का उल्लेख नही है। ज्ञात होता है कि सर्वास्तिवादियो ने सबसे पहले परमाणुवाद का उल्लेख किया है। बुद्धघोष के 'विसुद्धिमग्गो' और 'अत्थ-

सालिनी' मे तथा अनिरुद्धाचार्य के 'अभिधम्मत्थसगहो' मे रूप-कलाप-योजना का वर्णन है। यह योजना सर्वास्तिवादियो के सघात-परमाणु से मिलती-जुलती है । पश्चात्, यह कलाप-योजना स्थविरवाद के दर्शन का एक अविभाज्य अग बन गई ।

सर्वास्तिवाद—सर्वास्तिवादियो के अनुसार परमाणु चौदह प्रकार के है—पाँच विज्ञानेन्द्रिय, पॉच विषय तथा चार महाभूत । ये सघात-रूप मे भाजन-लोक मे पाये जाते है । इन्हे सघात-परमाणु कहते है । इन्ही को स्थविरवादी 'कलाप' कहते है, जिसमें केवल आठ अविनिर्भाग-रूप होते है, वह 'शुद्धाष्टक' है । आकाश-धातु कलापो का परिच्छेद-मात्र है । 'उपचय, सन्तति, जरता और अनित्यता, ये चार लक्षण रूप-कलापो के लक्षणमात्र है। ये कलापो के अग नही है ।

वसुबन्धु—वसुबन्धु परमाणु का विचार रूपी धर्मो के सहोत्पाद-नियम के सम्बन्ध में करते है । वे स्पष्ट करते है कि यहाँ परमाण से द्रव्य-परमाणु इष्ट नही है, किन्तु सघात-परमाणु, अर्थात् सर्व सूक्ष्म रूप-सघात इष्ट है, क्योकि रूप-सघातो मे इससे सूक्ष्मतर नही है । वसुबन्धु द्रव्य-परमाणु मानते है, जो रूपण से मुक्त है, किन्तु वे कहते है कि एक परमाणु-रूप पृथग्भूत नही होता, और सघातस्थ (सचित) होने के कारण सघात की अवस्था मे इसका बाधन-रूपण और प्रतिघात-रूपण हो सकता है । सप्रतिघ रूपो का सर्वसूक्ष्म भाग, जिसका पुनः विभाग नही हो सकता, परमाणु कहलाता है । इसे सर्वसूक्ष्म रूप कहते है, यथा सर्वसूक्ष्म काल को क्षण कहते है । यह अर्ध क्षणो मे विभक्त नही हो सकता । कम-से-कम आठ द्रव्यो का सहोत्पाद होता है, और इनका अशब्द, अनिन्द्रिय सघाताणु होता है । ये आठ द्रव्य इस प्रकार है—चार महाभूत, चार भौतिक—रूप, रस, गन्ध और स्प्रष्टव्य । जब परमाणु मे शब्द उत्पन्न नही होता, किन्तु कायेन्द्रिय (कायायतन) होता है, तब इसमे एक नवाँ द्रव्य कायेन्द्रिय होता है । जब परमाणु मे शब्द उत्पन्न नही होता, किन्तु कायेन्द्रिय को वर्जित कर अन्य इन्द्रिय (चक्षुरादि) होता है, तब इसमे एक दसवाँ द्रव्य अपरेन्द्रिय (चक्षुरादि) होता है, क्योकि चक्षु, श्रोत्रादि इन्द्रिय, कायेन्द्रिय-प्रतिबद्ध है, और पृथग्वर्त्ती आयतन है । जब पूर्वोक्त सघात-परमाणु सशब्द होते है, तब यथाक्रम नव-दश-एकादश द्रव्य उत्पन्न होते है । वास्तव मे, जो शब्दायतन उपात्त महाभूतो से उत्पादित होता है, वह इन्द्रियाविनिर्भागी होता है ।

यदि पृथिवी-धातु आदि चार महाभतो का अविनिर्भाग है, यदि वे सघात-परमाणु में सहवर्त्तमान होते है, तो यह कैसे है कि एक सघात मे कठिन, द्रव, उष्ण या समुदीरणा का ग्रहण होता है, और उसमे इन चार द्रव्यो या स्वभावो का युगपत् ग्रहण नही होता ?

हम एक सघात मे द्रव्यो मे से उस द्रव्य की उपलब्धि करते है, जो वहाँ पटुतम (स्फुटतम) होता है, जो प्रसवत उद्भूत होता है, अन्य द्रव्यो की नही, यथा जब हम सूची-तूली-कलाप का स्पर्श करते है, तब हम सूची की उपलब्धि करते है और जब हम लवणयुक्त सक्तु-चूर्ण खाते है, तब लवण रस की उपलब्धि करते है ।

प्रश्न है कि आप यह कैसे जानते है कि एक सघात मे महाभूत होते है, जिनके सद्भाव की उपलब्धि नही होती। सब महाभूतो का अस्तित्व उनके कार्यविशेष से गमित होता है। तेजोधातु का अस्तित्व जल मे है, क्योकि जल मे शैत्य का अतिशय है। यह तेज के अन्यतर-तमोत्पत्ति से ज्ञात होता है। यह मत भदन्त श्रीलाभ का है।

सौत्रान्तिक—सौत्रान्तिको के अनुसार सघात में जिन महाभूतो की उपलब्धि नही होती, वे बीजत (शक्तित , सामर्थ्यत) वहाँ होते है, कार्यत , स्वरूपत नही होते। सौत्रान्तिक एक दूसरा आक्षेप करते हैं—वायु मे वर्ण के सद्भाव को कैसे व्यवस्थित करते है ? वैभाषिक उत्तर देते है कि यह अर्थ श्रद्धनीय है, अनुमानसाध्य नही है। अथवा वायु वर्णवान् है; क्योकि वायु का गन्धवान् द्रव्य से ससर्ग होने से गन्ध का ग्रहण होता है, किन्तु यह गन्ध वर्ण के साथ व्यभिचार नही करता। सौत्रान्तिको के अनुसार परमाणु चतुर्द्रव्यक है--रूप, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य।

वैशेषिक—वैशेषिको का परमाणु नित्य है, अर्थात् सत् और अकारणवत् है (४।२।२)। यह भावरूप, अजन्य, विनाशाप्रतियोगी वस्तु है। यह अवयवियो का मूलकारण है। ये परमाण्वादि क्रम से जगत् का आरम्भ मानते हैं। ये उस मत का निराकरण करते हैं, जो अभाव से भावोत्पत्ति मानता है।

कार्य इसका अनुमापक है। त्रसरेणु आदि कार्य द्रव्य इसका लिंग है। परमाणु की सत्ता यदि न मानी जाय, तो अवयव-अवयवी-धारा अनन्त, निरवधि होगी और उस अवस्था में मेरु-सर्षप का परिमाणभेद नही होगा, उनके साम्य का प्रसग होगा, क्योकि दोनो का आरम्भ अनन्त अवयवो से होगा। इसलिए, कही-न-कही विश्राम करना चाहिए। त्रसरेणु पर विश्राम नही कर सकते, क्योकि त्रसरेणु सावयव है, वह चाक्षुष द्रव्य है, क्योकि वह महान् और अनेक-द्रव्यवान् है। महत्त्व उसके चाक्षुप प्रत्यक्षत्व मे कारण है और महत्त्व अनेक द्रव्यसत्त्व का कारण होता है। त्रसरेणु के अवयव भी परमाणु नही है, क्योकि वे भी महत् द्रव्य के आरम्भक होने से तन्तु के समान सावयव है। अत , जो कार्यद्रव्य है, वह सावयव है, जो सावयव है, वह कार्यद्रव्य है। जिस अवयव से कार्यत्व की निवृत्ति होती है, उससे सावयवत्व की भी निवृत्ति होती है। इस प्रकार, निरवयव परमाणु की सिद्धि होती है। परमाणु का रूपादि होता है, क्योकि कार्य मे उसका सद्भाव, कारण मे सद्भाव से होता है। कार्य-गुण, कारण-गुणपूर्वक होते है (कारणभावात् कार्यभाव , ४।१।३)।

यह आक्षेप होता है कि परमाणु अनित्य है; क्योकि वे मूर्त्त है, क्योकि उनका रूप-रसवत्त्व है; क्योकि छ परमाणुओ के साथ युगपत् योग होने से परमाणु की षडशता है। पुन. यदि परमाणु के मध्य मे आकाश है, तो सच्छिद्र होने से उसका सावयवत्व होगा। यदि आकाश नही है, तो आकाश के अनर्वगत होने का प्रसग होगा। पुन , चूंकि जो सत् है, वह क्षणिक है, इसलिए इस क्षणिकत्व-साधक अनुमान से परमाणु की अनित्यता सिद्ध होती है। इस आक्षेप के उत्तर मे वैशेषिक कहते है कि यह भ्रम है कि परमाणु का अस्तित्व कारणावस्था में नही हो सकता; क्योकि परमाणु कार्यरूप में ही पाये

जाते है। प्रश्न है कि यदि परमाणु का अस्तित्व है, तो उसका ग्रहण इन्द्रियो से क्यो नही होता? आपने ही उपपादित किया है कि रूपवत्त्व, स्पर्शवत्त्व आदि ऐन्द्रियकत्व के प्रयोजक हैं। इसका उत्तर यह है कि उद्भूत रूप महत् की ही उपलब्धि होती है। उसका ही चाक्षुष, स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है, क्योकि वह अनेक द्रव्यवान् है। परमाणु मे महत्त्व (परिमाण) का अभाव है, अत उसका प्रत्यक्ष नही होता। सूक्ष्म की उपलब्धि नही होती। वायु का महत् परिमाण है, किन्तु उसमे रूप-सस्कार का अभाव है। इसलिए उसका प्रत्यक्ष नही है। उसमे रूप का उद्भव नही है। एक परमाणु मे सस्कृत रूप नही होता, अत उसकी उपलब्धि नही होती।

परमाणुरूप मूल कारण-द्रव्य की परीक्षा कर वैशेषिक कार्य-द्रव्य की परीक्षा करता है। उसके अनुसार शरीर पचात्मक, चातुर्भौतिक या त्र्यात्मक नही है। एक-एक द्रव्य का आरम्भ एक-एक से होता है, अत शरीर पार्थिव है, क्योकि पृथ्वी का विशेष गुण (गन्ध) मानुष शरीर मे विनाश-पर्यन्त देखा जाता है। पाकादि की उपलब्धि शुष्क शरीर मे नही होती, अत गन्ध स्वाभाविक है, अन्य औपाधिक है।

किन्तु, इसका यह अर्थ नही है कि पाँच भतो का मिथ सयोग नही होता। यह एक दूसरे के उपष्टम्भक होते है, किन्तु दो विजातीय अणुओ का ऐसा सयोग इष्ट नही है, जो द्रव्य के प्रति असमवायिकारण हो। उपष्टम्भवश शरीर मे पाकादि की उपलब्धि होती है।

परमाणु के परिमाण की वैशेपिक सज्ञा 'परिमण्डल' है। प्राचीन यूनान में भी पारिमाण्डल्यवादी परमाणुवादी थे, किन्तु उनके परमाणु गुणविरहित और विविध आकार के थे। उनका सयोग यादृच्छिक था। वैशेषिक अदृष्ट नामक एक धर्म-विशेष मानते है। जिसके कारित्र से अणुओ का आद्यकर्म, परमाणु-सयोग होता है। कोई टीकाकार ईश्वर के छन्दो-विशेष या कालक्रिया के कारण अणुओ का आद्यकर्म मानते है।

तुलना—वैभाषिक का परमाणु अविनाशी नही है। धातुसवर्त्तनी के समय रूपादि के विनाश से परमाणु का विनाश सिद्ध है। वैशेपिक इसके विपरीत मानते है कि प्रलयकाल मे भी परमाणु-द्रव्य का विनाश नही होता। वे कहते है कि लोकधातु का नाश होने पर भी परमाणुओ के नित्य होने से ये अवशिष्ट रहते है। अवयव का विभाग विनाश है, इसी से द्रव्य का नाश होता है। यह निरवयव का नाश नही है।

वैभाषिक के अनुसार परमाणु रूप का पर्यन्त है, इसकी उपलब्धि नही होती, यह अनिदर्शन है। सात परमाणुओ का एक अणु होता है। सात अणुओ का एक लोहरज, सात लोहरज का एक अब्रज, सात अब्रज का एक शशरज, सात शशरज का एक अविरज, सात अविरज का एक गोरज, सात गोरज का एक छिद्ररज (वैशेपिको का त्रसरेणु) होता है। वैशेपिको का परमाणु त्रसरेणु का पष्ठाश है। दो अणुओ का एक द्व्यणुक तीन द्व्यणुको का एक त्र्यणुक होता है इत्यादि।

वसुबन्धु एक प्रश्न उत्थापित करते हैं—परमाणु स्पर्श करते हैं या नही ?

काश्मीर-वैभाषिक कहते हैं कि परमाणु स्पर्श नही करते। यदि परमाणु साकल्येन स्पर्श करते, तो, द्रव्य अर्थात् विभिन्न परमाणु मिश्रीभूत होते, अर्थात् एकदेशीय होते। यदि परमाणु एक देश मे स्पर्श करते, तो उनके अवयव होते, किन्तु परमाणु के अवयव नही होते। किन्तु, यदि परमाणु मे स्पर्श नही होता, तो शब्द की अभिनिष्पत्ति कैसे होती ?

इसी कारण शब्द सम्भव है, क्योकि स्पर्श नही होता। यदि परमाणुओ का स्पर्श होता, तो हाथ से अभ्याहत होने पर हाथ उसमे सक्त हो जाता, पत्थर से अभ्याहत होने पर पत्थर उसमे मिल जाता, यथा लाक्षा लाक्षा मे घुल-मिल जाती है और शब्द की अभिनिष्पत्ति न होती। किन्तु, यदि परमाणु स्पर्श नही करते, तो सचित या परमाणुओ का सघात प्रत्याहत होने पर विशीर्ण क्यो नही होता ? क्योकि वायु-धातु सघात को सचित करता है, या उसका सन्धारण करता है।

चक्षुरादि विज्ञान के विषय और आश्रय

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है—चक्षु रूप देखता है या चक्षुर्विज्ञान देखता है।

वैभाषिक तथा विज्ञानवादी—वैभाषिक-मत के अनुसार चक्षु देखता है। विज्ञानवादी का मत है कि चक्षु नही देखता। उसका कहना है कि यदि चक्षु देखता है, तो श्रोत्र या काय-विज्ञान में आसक्त पुद्गल का चक्षु भी देखेगा। वैभाषिक उत्तर देते है कि हमारा यह कहना नही है कि सब चक्षु देखते है। चक्षु देखता है, जब यह सभाग है, अर्थात् जब यह चक्षु-विज्ञान-समगी है, चक्षुर्विज्ञान को सम्मुख करता है।

किन्तु, उस अवस्था मे जो देखता है, वह चक्षुराश्रित विज्ञान है ? नही, क्योकि कुड्य या अन्य किसी व्यवधान से आवृत रूप दिखाई नही पडता। किन्तु, विज्ञान अमूर्त है, अप्रतिष्ठ है; अत यदि चक्षुर्विज्ञान देखता होता, तो वह व्यवधान से आवृत रूप भी देखता।

विज्ञानवादी उत्तर देता है—आवृत रूप के प्रति चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न नही होता, उनके प्रति उत्पन्न न होने से यह उनको नही देखता। किन्तु, इन रूपो के प्रति यह उत्पन्न क्यो नही होता ? हम वैभाषिको के लिए जिनका पक्ष है कि चक्षु देखता है, और जो मानते है कि चक्षु के सप्रतिघ होने से व्यवहित रूप मे चक्षु की वृत्ति का अभाव है, यह बताना सुगम है कि चक्षुर्विज्ञान की अन्तरित रूप के प्रति उत्पत्ति क्यो नही होती। वास्तव मे, विज्ञान की प्रवृत्ति उसी एक विषय मे होती है, जिसमे उसके आश्रय की होती है।

किन्तु, यदि आपका मत है कि विज्ञान देखता है, तो आप इसका कैसे व्याख्यान करते है कि व्यवहित रूप में विज्ञान की उत्पत्ति नही होती।

वसुबन्धु—यहाँ आचार्य वसुबन्धु विज्ञानवादियो के पक्ष मे है। वैभाषिको से उनका कहना है कि यदि आपका मत है कि चक्षुरिन्द्रिय प्राप्त विषय को देखता है, जैसे कायेन्द्रिय, तब मै मानूँगा कि चक्षुरिन्द्रिय के सप्रतिघ होने के कारण वह व्यवहित रूप का ग्रहण नही करता, किन्तु आपका तो मत है कि चक्षुरिन्द्रिय दूर से देखता है। अत, आपको यह कहने का अधिकार नही है कि सप्रतिघ होने के कारण यह व्यवहित रूप नही देखता।

काश्मीर वैभाषिक—काश्मीर-वैभाषिको के अनुसार चक्षु देखता है, श्रोत्र सुनता है, घ्राण सूँघता है, जिह्वा रस लेती है, काय स्पर्श करता है, मन जानता है।

सौत्रान्तिक—सौत्रान्तिक मत है कि चक्षु और रूप के कारण चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है, न कोई इन्द्रिय है, जो देखती है, और न कोई रूप है, जो देखा जाता है, न कोई दर्शन क्रिया है, न कोई कर्त्ता है, जो देखता है, हेतु फल-मात्र है। अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार के लिए उपचार करते हैं—चक्षु देखता है, विज्ञान जानता है। किन्तु, इन उपचारो में अभिनिविष्ट नही होना चाहिए।

इन्द्रियो का प्राप्तविषयत्व-अप्राप्तविषयत्व—क्या ये इन्द्रियाँ अपने विषय-देश को प्राप्त होती है? चक्षु, श्रोत्र, मन अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करते है। अन्य तीन इन्द्रियो के लिए अन्यथा है।

तीन इन्द्रियो के लिए कहा जाता है कि यह प्राप्त विषय है, क्योंकि विषय का इनके साथ निरन्तरत्व रहता है। निरन्तरत्व क्या है? निरन्तरत्व इसमे है कि इसके मध्य में कुछ नही है। यही 'प्राप्त' का भी अर्थ है। पुन, क्योंकि सघात के अवयव होते है, इसलिए इसमें कोई दोप नही है कि सघात स्पर्श करते है।

पहले पाँच विज्ञानो के विषय उनके सहभू है। षष्ठ विज्ञान का विषय उसके पूर्व का, सहोत्पन्न, या अपर है। दूसरे शब्दो में यह अतीत, प्रत्युत्पन्न या अनागत है। षष्ठ विज्ञान का एकमात्र आश्रय अतीत विज्ञान है। प्रथम पाँच का आश्रय सहज भी है, अर्थात् यह विज्ञान के पूर्व का और सहज दोनो हैं। वास्तव में, पाँच विज्ञानकायो का आश्रय द्विविध है—१. चक्षुरादि इन्द्रिय, जो विज्ञान का सहभू है; २ मन-इन्द्रिय, जो विज्ञानोत्पत्ति के क्षण मे अतीत होता है।

जब चक्षुर्विज्ञान, चक्षु और रूप पर आश्रित है, तब विषय को वर्जित कर इन्द्रिय को भी विज्ञान का आश्रय अवधारित करते है। विज्ञान का आश्रय इन्द्रिय है; क्योंकि इन्द्रिय के विकार से विज्ञान में विकार होता है। जब चक्षु का अनुग्रह होता है (अजनादि प्रयोग), जब चक्षु का रेणु आदि से उपघात होता है, जब वह पटु होता है, जब वह मन्द होता है, तब विज्ञान मे उस विकार का अनुविधान होता है। वह सुख-दु खोत्पाद से सहगत होता है। वह यथाक्रम पटु या मन्द होता है। इसके विपरीत विज्ञान की अवस्था पर विषय का कोई प्रभाव नही पडता। अत, इन्द्रिय, न कि विषय, विज्ञान का आश्रय है।

सिद्धान्त में स्थिर हुआ है कि चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय, प्रत्येक अपने-अपने विषय का ग्रहण करते है, और मन जानता है। यहाँ प्रश्न होता है कि क्या ये इन्द्रियाँ अपने विषय को प्राप्त होती हैं।

चक्षु, श्रोत्र, मन अप्राप्त अर्थ का ग्रहण करते हैं। घ्राण, जिह्वा, काय प्राप्त विषय का ग्रहण करते है। यदि चक्षु और श्रोत्र का प्राप्त-विषयत्व हो, तो मनुष्यो में ध्यायियों के दिव्य-चक्षु और श्रोत्र न हो, जैसे उनके दिव्य घ्राण नही होता। घ्राण के लिए प्राप्त-विषयत्व इसलिए आवश्यक है; क्योंकि गन्ध-ग्रहण के लिए उच्छ्वास आवश्यक है।

विषय परिमाण—प्रश्न है कि क्या यह मानना चाहिए कि इन्द्रिय आत्म-परिमाणतुल्य विषय का ही ग्रहण करते हैं, अथवा ये इन्द्रिय निरपेक्ष भाव से आत्म-परिमाणतुल्य एवं अतुल्य अर्थ का ग्रहण करते हैं ?

घ्राणादि तीन इन्द्रिय तुल्य परिमाण के विषय का ग्रहण करते हैं। घ्राण, जिह्वा और काय-इन्द्रिय नियतसंख्यक परमाणु-विषय के समानसंख्यक परमाणुओं को प्राप्त कर विज्ञान का उत्पाद करते हैं। किन्तु, चक्षु-श्रोत्र के लिए कोई नियम नहीं है। कभी विषय इन्द्रिय से स्वल्प होता है, जब वालाग्र को देखते हैं, कभी-कभी इन्द्रियतुल्य होता है, जब द्राक्षाफल का दर्शन करते हैं, कभी इन्द्रिय से बड़ा होता है, जब उन्मिषित-मात्र चक्षु से पर्वत को देखते हैं। शब्द के लिए भी यही नियम है।

षष्ठ विज्ञान का आश्रय अतीत होता है, और प्रथम पाँच का आश्रय सहज भी है। मनोविज्ञान का एकमात्र आश्रय मनोधातु है, अर्थात् अतीत विज्ञान है। पाँच विज्ञान-कायों का आश्रय सहज भी है, अर्थात् यह विज्ञान के पूर्व का और सहज दोनों है। वास्तव में, पाँच विज्ञान-कायों का आश्रय द्विविध है—१. चक्षुरादि इन्द्रिय, जो विज्ञान का सहभू है, २ मन-इन्द्रिय, जो विज्ञानोत्पत्ति के क्षण में अतीत होता है।

चक्षुर्विज्ञान चक्षु और रूप पर आश्रित है। विज्ञान का आश्रय इन्द्रिय है, क्योंकि इन्द्रिय के विकार से विज्ञान में विकार होता है। इसलिए भी कि इन्द्रिय 'असाधारण' है। एक पुद्गल का चक्षु केवल उस पुद्गल के चक्षुर्विज्ञानमात्र का आश्रय है। इसके विपरीत रूप साधारण है, क्योंकि रूप का ग्रहण चक्षुर्विज्ञान और मनोविज्ञान से होता है, एक पुद्गल और अन्य पुद्गल से होता है। श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, कायेन्द्रिय तथा शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य इन विषयों के लिए भी यही योजना होनी चाहिए।

हम निष्कर्ष निकालते हैं कि विज्ञान का नाम इन्द्रिय से निर्दिष्ट होता है, क्योंकि उसका आश्रय इन्द्रिय है, क्योंकि इन्द्रिय असाधारण है। विषय के लिए ऐसा नहीं है। लोक में भेरी-शब्द, दण्ड-शब्द नहीं कहते, 'यवांकुर' कहते हैं, 'क्षेत्रांकुर' नहीं कहते।

इन्द्रिय

२२ इन्द्रियाँ—सूत्र में २२ इन्द्रियाँ उक्त हैं—१. चक्षुरिन्द्रिय, २. श्रोत्रेन्द्रिय, ३ घ्राणेन्द्रिय, ४ जिह्वेन्द्रिय, ५ कायेन्द्रिय, ६ मन-इन्द्रिय, ७ पुरुषेन्द्रिय ८ स्त्री-इन्द्रिय, ९ जीवितेन्द्रिय, १० सुखेन्द्रिय, ११ दुःखेन्द्रिय, १२ सौमनस्येन्द्रिय, १३ दौर्मनस्येन्द्रिय, १४ उपेक्षेन्द्रिय, १५ श्रद्धेन्द्रिय, १६ वीर्येन्द्रिय, १७ स्मृतीन्द्रिय, १८ समाधीन्द्रिय, १९ प्रज्ञेन्द्रिय, २० अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, २१ आज्ञेन्द्रिय, और २२ अनाज्ञातावीन्द्रिय।

लक्षण और उपपत्ति—इस सूची में षडिन्द्रिय के अतिरिक्त अन्य भी संगृहीत हैं। जिसकी परमैश्वर्य की प्रवृत्ति होती है, वह इन्द्रिय कहलाता है। अतः, सामान्यतः इन्द्रिय का अर्थ 'अधिपति' है। प्रत्येक इन्द्रिय के आधिपत्य का विषय है।

पाँच विज्ञानेन्द्रिय—चक्षुरिन्द्रियादि पाँच इन्द्रियो मे से प्रत्येक का आधिपत्य—१ आत्म-भाव-शोभा, २ आत्मभाव-परिरक्षण, ३ विज्ञान और तद्विज्ञान-सम्प्रयुक्त चैतसिको का उत्पाद और ४ असाधारणकारणत्व, इन विषयो मे है।

पुरुषेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय और मन-इन्द्रिय—इनमे से प्रत्येक का आधिपत्य सत्त्व-भेद और सत्त्व-विकल्प-भेद मे है। इन दो इन्द्रियो के कारण सत्त्वो मे स्त्री-पुरुष-भेद और स्त्री-पुरुषो मे सस्थान, स्वर और आचार का अन्यथात्व होता है। जीवितेन्द्रिय का आधिपत्य निकाय-सभाग की उत्पत्ति और उसके सन्धारण मे है। मन-इन्द्रिय का आधिपत्य पुनर्भव-सम्बन्ध मे है। इसका आधिपत्य वशीभावानुवर्त्तन मे भी है। यथा गाथा मे उक्त है—चित्त से लोक उपनीत होता है। चित्त से परिक्लिष्ट होता है। सब धर्म इस एक धर्मचित्त के वशानुवर्त्ती है।

वेदनेन्द्रिय—वेदनेन्द्रिय पाँच है—सुख, दु ख, सौमनस्य, दौर्मनस्य, उपेक्षा। इनका सक्लेश मे आधिपत्यहै, क्योकि रागादि अनुशय वेदनाओ मे व्यासक्त होते है। श्रद्धादि पचेन्द्रिय और अन्तिम तीन इन्द्रिय—अनाज्ञात°, आज्ञा°, आज्ञातावी°—व्यवधान मे अधिपति है, क्योकि इनके कारण विशुद्धि का लाभ होता है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के बल से क्लेश का विष्कम्भन और आर्यमार्ग का आवाहन होता है। अन्तिम तीन इन्द्रिय अनास्रव है। निर्वाणादि के उत्तरोत्तर प्रतिलम्भ मे इनका आधिपत्य है।

कर्मेन्द्रिय का खण्डन—प्रश्न है कि केवल २२ इन्द्रियाँ क्यो परिगणित है। अविद्या और प्रतीत्यसमुत्पाद के अन्य अग इन्द्रिय क्यो नही है? हेतु का आधिपत्य कार्य पर होता है। अविद्यादि का सस्कारादि पर आधिपत्य है। इसी प्रकार वाक्, पाणि, पाद, पायु उपस्थ का भी, जिन्हे साख्य और वेदान्तवादी कर्मेन्द्रिय कहते है, इन्द्रियत्व होगा, क्योकि वचन, आदान, विहरणादि पर इनका आधिपत्य है। वैभाषिक उत्तर देता है कि जिस अर्थ से भगवान् ने २२ इन्द्रियाँ कही है, उस अर्थ से इस सूची मे अविद्यादि का अयोग है। इन्द्रियो की सख्या नियत करने मे भगवान् ने इन बातो का विचार किया है—

१ चित्त का आश्रय, अर्थात् छ विज्ञानेन्द्रिय। ये छ आध्यात्मिक आयतन है, जो मौल सत्त्व-द्रव्य है।

२ चित्त के आश्रय का विकल्प—यह षड्विध आश्रय पुरुषेन्द्रिय, स्त्रीन्द्रिय के कारण विशिष्ट होता है।

३ स्थिति—पाँच जीवितेन्द्रियवश यह एक काल के लिए अवस्थान करता है।

४ उपभोग—वेदनाओ से यह सक्लिष्ट होता है।

५ श्रद्धादिपचक से इसका व्यवदान-सम्भरण होता है।

सत्त्व और द्रव्य-सत्त्व के विकल्पादि के विषय मे जिन धर्मो का अधिपति-भाव होता है, वे इन्द्रिय माने जाते है। वाक् आदि अन्य धर्मो मे उस लक्षण का अभाव होता है, अत वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ का इन्द्रियत्व नही है। वचन पर वाक् का आधिपत्य नही है क्योकि वचन शिक्षाविशेष की अपेक्षा करता है। पाणि-पद का आदान और विहरण मे आधिपत्य

नही है; क्योकि जिमे आदान और विहरण कहते है, वह पाणि-पाद से अन्य नही है। इसके अतिरिक्त उरग प्रभृति का आदान-विहरण विना पाणि-पाद के होता है। पुरीपोत्सर्ग में पायु का आधिपत्य नही है, क्योकि गुरु-द्रव्य का सर्वत्र आकाश-छिद्र में पतन होता है। पुन, वायु-धातु इस अशुचि द्रव्य का प्रेरण करता है, और उसका उत्सर्ग करता है। उपस्थ का भी आनन्द में आधिपत्य नही है, क्योकि आनन्द स्त्री-पुरुपेन्द्रिय-कृत है। पुन यदि आप पाणि-पादादि को इन्द्रिय मानते है, तो आपको कण्ठ, दन्त, अक्षिवर्त्म, अगुलिपर्व का भी अभ्यवहरण, चर्वण, उन्मेप-निमेष और सकोच-विकास-क्रिया के प्रति इन्द्रियत्व मानना पडेगा।

न्याय-वैशेपिक भी पाँच कर्मेन्द्रियो के लिए 'इन्द्रिय' पद का प्रयोग नही करते। साख्य, वेदान्त और मनुस्मृति (२।८९–९२) मे अवश्य इनको इन्द्रिय माना है, और कहा है कि यह प्राचीन मत है। वाचस्पतिमिश्र कहते है—"शास्त्र में इन्द्रिय शब्द का यह गौण प्रयोग है। गौतम इन्द्रिय के पचत्व-सिद्धान्त का समर्थन करते है। गौतम के अनुसार जो प्रत्यक्ष का साधन है, वही इन्द्रिय है। वाक्-पाणि प्रभृति प्रत्यक्ष के साधन नही है। इनमे इन्द्रिय का लक्षण नही है। यदि यह कहकर कि यह असाधारण कार्यविशेष का साधन है, इसलिए हम इनका इन्द्रियत्व स्थापित करे तो कण्ठ, हृदय आमाशय प्रभृति को भी कर्मेन्द्रिय कहना होगा, किन्तु ऐसा कोई नही कहता।" (तात्पर्यटीका)

पाँच श्रद्धादि इन्द्रिय—श्रद्धादिपचक का उल्लेख केवल योगसूत्र (समाधिपाद, सू० २०) में है, किन्तु इनको वहाँ इन्द्रिय नही कहा है। जीवितेन्द्रिय का निर्देश चित्तविप्रयुक्तो के साथ होगा। श्रद्धादिपचक चैत्त है, अत चैत्तो मे उनका निर्देश होगा। वेदनेन्द्रिय और अनास्रवेन्द्रिय का निर्देश हम यहाँ करते है।

कायिकी उपघातिका वेदना, जो चक्षुर्विज्ञानादि से सम्प्रयुक्त है, दुःखेन्द्रिय है। अनुग्राहिका कायिकी वेदना सुखेन्द्रिय है। तृतीय ध्यान में चैतसी अनुग्राहिका वेदना भी सुखेन्द्रिय है। चैतसी वेदना मनोविज्ञान-सम्प्रयुक्त वेदना है। तृतीय ध्यान से ऊर्ध्व चैतसी अनुग्राहिका वेदना का अभाव है। चैतसी उपघातिका वेदना दौर्मनस्य है।

कायिकी और चैतसी की मध्या वेदना उपेक्षा है, किन्तु यह एक ही इन्द्रिय है, क्योकि यहाँ कोई विकल्पन नही है। प्रायेण उपघातिका और अनुग्राहिका चैतसिकी वेदना प्रिय-अप्रियादि विकल्प से उत्पन्न होती है। इसके विपरीत कायिकी वेदना की उत्पत्ति, चित्त की अवस्था से स्वतन्त्र विपयवश होती है। अर्हत् राग-द्वेप से विनिर्मुक्त हैं, उन्होने प्रिय-अप्रिय विकल्प का प्रहाण किया है, तथापि उनमें कायिक सुख-दुःख का उत्पाद होता है, किन्तु उपेक्षा वेदना कायिकी हो या चैतसिकी, कायिकी वेदना के तुल्य स्वरसेन उत्पन्न होती है। अत, कायिकी, चैतसिकी इन दो उपेक्षा-वेदनाओ के लिए एक ही इन्द्रिय मानते है।

तीन अनास्रवेन्द्रिय—अब हम तीन अनास्रव इन्द्रियो का विचार करते हैं। मन, सुख, सौमनस्य, उपेक्षा, श्रद्धादिपचक ये नव द्रव्य दर्शनमार्गस्थ आर्य में अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय, भावनामार्गस्थ आर्य मे आज्ञेन्द्रिय और अशैक्ष (=अर्हत्)-मार्गस्थ आर्य मे आज्ञातावीन्द्रिय व्यवस्थापित होते है।

दर्शनमार्गस्थ आर्य अनाज्ञात, अर्थात् सत्य-चतुष्टय के जानने में प्रवृत्त होता है ('अनाज्ञातमाज्ञातु प्रवृत्त')। 'मैं जानूँगा' ऐसा वह विचार करता है, अत उसकी इन्द्रिय 'अनाज्ञात॰' कहलाती है।

भावनामार्गस्थ आर्य के लिए कोई अपूर्व नही है, जिसे उसे जानना हो। वह आज्ञ है। किन्तु, शेष अनुशयो के प्रहाण के लिए वह अज्ञात सत्यो को पौन पुन्येन जानता है। उसकी इन्द्रिय आज्ञेन्द्रिय कहलाती है। अशैक्षमार्गस्थ योगी को यह अवगम होता है कि वह जानता है। इसको इसका अवगम (= आव) होता है कि सत्य आज्ञात है। जिसको आज्ञाताव है, वह आज्ञातावी है।

इन्द्रिय-स्वभाव—हमने इन्द्रियो के विशेष लक्षणो का निर्देश किया है। अब हम उनके भिन्न स्वभाव को बताते हैं। अन्तिम तीन इन्द्रिय एकान्त अमल है। सात रूपी इन्द्रिय (चक्षुरादि पाँच इन्द्रिय और स्त्री-पुरुषेन्द्रिय), जीवितेन्द्रिय, दुखेन्द्रिय और दौर्मनस्येन्द्रिय एकान्त सास्रव हैं। मन, सुखेन्द्रिय, सौमनस्येन्द्रिय, उपेक्षेन्द्रिय तथा श्रद्धादिपचक सास्रव अनास्रव दोनो हो सकते हैं। कुछ आचार्य श्रद्धादिपचक को एकान्त अनास्रव मानते है।

विपाक-अविपाक—इन्द्रियो मे कितने विपाक है? कितने विपाक नही है? जीवितेन्द्रिय सदा विपाक है। श्रद्धादिपचक,तीन अनास्रव इन्द्रिय और दौर्मनस्य॰ अविपाक है। शेष बारह कभी विपाक है, और कभी अविपाक हैं। यह सात रूपी इन्द्रिय और दौर्मनस्य॰ मे अन्यत्र चार वेदनेन्द्रिय हैं। सात रूपी इन्द्रिय विपाक नही हैं, क्योकि वे औपचारिक हैं। अन्य अविपाक है। मन-इन्द्रिय और चार वेदनेन्द्रिय अविपाक है, यदि वे कुशलविर्लष्ट होते है, क्योकि विपाक अव्याकृत है, यदि वे यथायोग्य ऐर्यापथिकादि होते है, शेष विपाक है।

कुशल-अकुशल—बाईस इन्द्रियो मे कितने कुशल, कितने अकुशल, कितने अव्याकृत है?

आठ कुशल है। ये श्रद्धादिपचक और तीन अनास्रव है। दौर्मनस्य॰ कुशल-अकुशल है। जब कुशल न करके सन्ताप होता है, जब अकुशल करके सन्ताप होता है, तब यह कुशल है। मन-इन्द्रिय और चार वेदना कुशल, अकुशल, अव्याकृत है। चक्षुरादि पाँच इन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय, पुरुषेन्द्रिय-स्त्रीन्द्रिय अव्याकृत है।

इन्द्रियो का धातु-विभाग—बाईस इन्द्रियो मे से कौन-कौन किस धातु के है?

काम-धातु मे अमल इन्द्रियो का अभाव है। रूप-धातु मे इनके अतिरिक्त स्त्री-पुरुषेन्द्रिय और दो दुखावेदना (दुख-दौर्मनस्य) का भी अभाव है। आरूप्य-धातु में इनके अतिरिक्त रूपी-इन्द्रिय और दो सुखावेदना (सुख-सौमनस्य) का भी अभाव है। तीन अनास्रव इन्द्रियो को वर्जित कर शेष सब इन्द्रिय कामाप्त है। यह तीन अधातु-पतित है।

हेय-अहेय-विभाग—बाईस इन्द्रियो मे कितने दर्शन-हेय है? कितने भावना-हेय है? कितने अहेय है?

मन-इन्द्रिय, सुख, सौमनस्य और उपेक्षा त्रिविध हैं। दौर्मनस्य दर्शन-हेय और भावना-हेय है। पाँच विज्ञानेन्द्रिय, स्त्री-पुरुषेन्द्रिय, जीवितेन्द्रिय और दुःखेन्द्रिय केवल भावना-हेय है।

श्रद्धादिपंचक अनास्रव हो सकते हैं, अतः अहेय हो सकते हैं। अन्य तीन अहेय हैं, क्योंकि आदीनव से विमुक्त धर्म प्रहातव्य नहीं है।

श्रामण्योपयोगी इन्द्रियाँ—श्रामण्य-फल के लाभ में कितनी इन्द्रियाँ आवश्यक हैं ?

दो अन्त्य फलो की प्राप्ति नौ इन्द्रियो से होती है। मध्य के दो फलो की प्राप्ति सात, आठ या नौ से होती है। अन्त्य फल स्रोतापत्ति और अर्हत्फल हैं, क्योकि यह दो फल प्रथम और अन्तिम हैं। मध्य में सकृदागामी और अनागामी फल होते हैं; क्योकि यह दो फल प्रथम और अन्तिम के मध्य में होते हैं। मन-इन्द्रिय, श्रद्धादिपंचक, प्रथम दो अनास्रव इन्द्रिय—अनज्ञात°, आज्ञा° से प्रथम फल की प्राप्ति होती है। अनाज्ञात° आनन्तर्य-मार्ग है। आज्ञा° विमुक्ति-मार्ग है। इन दो से भी स्रोतापत्ति फल की प्राप्ति होती है, क्योकि प्रथम क्लेश-विसयोग की प्राप्ति का आवाहक है, और द्वितीय इस प्राप्ति का सनिश्रय, आधार है।

अर्हत्फल का लाभ मन-इन्द्रिय, सौमनस्य या सुख या उपेक्षा, श्रद्धादि आज्ञेन्द्रिय और आज्ञातावीन्द्रिय से होता है। सकृदागामी फल की प्राप्ति या तो आनुपूर्वक सात इन्द्रियो से (मन, उपेक्षा, श्रद्धादि पांच) करता है, या तो भूयो वीतराग आठ इन्द्रियो से (पूर्वोक्त सात, आज्ञ°) प्राप्त करता है। आनुपूर्वक अनागामी फल की प्राप्ति सात या आठ इन्द्रियो से करता है, और वीतराग नौ इन्द्रियो से करता है।

इन्द्रियों का सह-समन्वागम—किस-किस इन्द्रिय से समन्वागत पुद्गल कितने अन्य इन्द्रियो से समन्वागत होता है ?

जो मन-इन्द्रिय या जीवितेन्द्रिय या उपेक्षेन्द्रिय से युक्त होता है, वह अवश्य अन्य दो से युक्त होता है। जब इनमें से एक का अभाव होता है, तब अन्य दो का भी अभाव होता है। इनका, एक दूसरे के बिना, समन्वागम नहीं होता। अन्य इन्द्रियो का समन्वागम नियत नहीं है। जो इन तीन इन्द्रियो से अन्वित होता है, अन्य से युक्त या अयुक्त हो सकता है।

जो सुखेन्द्रिय या कायेन्द्रिय से समन्वागत है, वह जीवित°, मन°, उपेक्षा° से भी समन्वागत होता है। जो चक्षुरादि इन्द्रियो में से किसी एक से समन्वागत होता है, वह अवश्यमेव जीवित°, मन°, उपेक्षा°, काय° से समन्वागत होता है।

जो सौमनस्येन्द्रिय से समन्वागत होता है, वह जीवितेन्द्रिय, मन या सुख° से भी समन्वागत होता है। जो दुःखेन्द्रिय से समन्वागत है, वह अवश्य सात इन्द्रियो से समन्वागत होता है—जीवित°, मन°, काय° और वेदनेन्द्रिय। जो स्त्रीन्द्रियादि, अर्थात् स्त्री°, पुरुष°, दौर्मनस्य°, श्रद्धादि में से किसी एक से समन्वागत होता है, वह अवश्य आठ इन्द्रियो से समन्वागत होता है।

जो श्रद्धादिपचक में से किसी एक से समन्वागत होता है, वह त्रैधातुक सत्त्व है। इसका अविनाभाव है, अत श्रद्धादि पचेन्द्रिय से समन्वागत होता है, वह जीवित०, मन०, उपेक्षा० से भी समन्वागत होता है। जो आज्ञेन्द्रिय या आज्ञातावीन्द्रिय से समन्वागत होता है, वह ग्यारह इन्द्रियो से, अर्थात् जीवितेन्द्रिय, मन-इन्द्रिय, सुख,० सौमनस्य०, उपेक्षा०, श्रद्धादि पचेन्द्रिय और ग्यारहवी आज्ञेन्द्रिय या आज्ञातावीन्द्रिय से अन्वित होता है। जो आज्ञाता वीन्द्रिय से समन्वागत होता है, वह अवश्य तेरह इन्द्रियो से युक्त होता है।

वस्तुतः कामधातु में ही दर्शन-मार्ग का आसेवन होता है। अत, इस इन्द्रिय से समन्वागत सत्त्व कामावचर सत्त्व है। वह अवश्य जीवित०, मन०, काय०, चार वेदनेन्द्रिय, श्रद्धादि पचेन्द्रिय और आज्ञास्यामीन्द्रिय से युक्त होता है। यह आवश्यक नही है कि वह दौर्मनस्य, चक्षुरादि से समन्वागत हो। वह वीतराग हो सकता है। उस अवस्था में दौर्मनस्य का उसमें अभाव होता है। वह अन्धादि हो सकता है।

चित्त

चित्त, मन और विज्ञान—शास्त्र मे चित्त और चैत्त के भिन्न नाम है। चित्त (माइण्ड), मन (रीजन), विज्ञान (कान्शसनेस) ये नाम एक अर्थ के वाचक है। न्याय-वैशेषिक में केवल 'मन' शब्द का प्रयोग है। जो सचय करता है, वह चित्त है (चिनोति)। इसका अर्थ यह है कि यह कुशल-अकुशल का सचय करता है। यही मन है, क्योकि यह मनन करता है (मनुते)। यही विज्ञान है, क्योकि यह अपने आलम्बन को जानता है। कुछ का कहना है कि 'चित्त' नाम इसलिए है, क्योकि यह शुभ-अशुभ धातुओ से चित्रित है। यह 'मन' है, क्योकि यह अपर-चित्त का आश्रयभूत है। यह विज्ञान है, क्योकि यह इन्द्रिय और आलम्बन पर आश्रित है। अत, इन तीन नामो के निर्वचन मे भेद है, किन्तु ये एक ही अर्थ को प्रज्ञप्त करते है।

इन तीन आख्याओ में विज्ञान सबसे प्राचीन है। सूत्रान्तो मे जहाँ प्रतिसन्धि का वर्णन आता है, वहाँ 'विज्ञान' शब्द ही प्रयुक्त होता है। पश्चात् यह आख्या प्राय एकान्तत विजानन के विविध आकारो के लिए ही प्रयुक्त होने लगी। विज्ञान प्रतिविषय की उपलब्धि है। यह मन-आयतन है। धातु की देशना में ये सात धातु है, अर्थात् छ विज्ञान और मन। विज्ञान-स्कन्ध छ विज्ञान-काय है। यह पाँच प्रसाद-रूप और मन को प्रत्यय बना उत्पन्न होते है। विज्ञान की उत्पत्ति प्रत्यक्षत विषय और प्रसाद-रूप के सघट्टन से होती है।

स्थविरवाद—स्थविरवादी षड्विज्ञान के अतिरिक्त भी एक दूसरा विभाग ८९ विज्ञान का करते है। यह सग्रह अन्य निकायो मे नही पाया जाता। स्थविरवादियो के चित्त-सग्रह-विभाग मे चित्त की जितनी भूमियाँ (अवस्थाएँ) सम्भव है, वे सब सगृहीत है। जातिभेद मे यह तीन प्रकार के है—कुशल, अकुशल और अव्याकृत। अवचरभेद से यह चार प्रकार के है—कामावचर, रूपावचर अरूपावचर और लोकोत्तर। साधारणत, चित्त (विज्ञान) के छ विभाग आश्रय के अनुसार किये जाते है।

चैत्त या चैतसिक धर्म

चैत्त षड्विज्ञान के तुल्य चित्त के विभाग नही है। ये पृथक्-पृथक् धर्म हैं, यद्यपि चित्त और चैत्त एक दूसरे के विना उत्पन्न नही होते। सर्वास्तिवाद के अनुसार चैत्त महा-भूमिकादि भेद से पचविध है —

१. जो चित्त सर्वचित्त-सहगत है, वह **महाभूमिक** है।

२. जो सर्वकुशल-चित्त-सहगत है, वह **कुशल-महाभूमिक** है।

३. जो सर्वक्लिष्ट-चित्त-सहगत है, वह **क्लेश-महाभूमिक** है।

४. जो सर्व-अकुशल-चित्त-सहगत है, वह **अकुशल-महाभूमिक** है।

५ जिनकी भूमि परीत्त-क्लेश है, वे **परीत्तक्लेश-भूमिक** है।

'भूमि' का अर्थ उत्पत्ति-विषय है। किसी धर्म का उत्पत्ति-स्थान उस धर्म की भूमि है।

दशमहाभूमिक

महाभूमिक दस है —वेदना, चेतना, सज्ञा, छन्द, स्पर्श, मति, स्मृति, मनस्कार, अधिमोक्ष और समाधि। ये सर्वचित्त मे सह-वर्त्तमान होते है। वैभाषिक सिद्धान्तो के अनुसार ये दम धर्म सर्व-चित्त-क्षण में होते है। 'महाभूमि' नाम इसलिए है कि यह महान् धर्मो की भूमि है, उत्पत्ति-विषय है।

स्थविरवाद-विज्ञानवाद—स्थविरवाद के अनुसार सर्व-साधारण चित्त सात है—स्पर्श वेदना, सज्ञा, चेनना, एकाग्रता, जीवितेन्द्रिय और मनसिकार।

जीवितेन्द्रिय को वर्जित कर शेष छ दशमहाभूमिक में सगृहीत है। जीवितेन्द्रिय को सर्वास्तिवादी-विज्ञानवादी चित्त-विप्रयुक्त धर्म मानते है। यह जीवितेन्द्रिय रूप-जीवित से भिन्न है, किन्तु इसके लक्षण उसके समान है। रूप-जीवित रूप-धर्मों का जीवित है। वह सहजात रूप-धर्मो का अनुपालन करता है। यह जीवित सहजात अरूप-धर्मो का अनुपालन करता है। इतना ही दोनो में भेद है। इनके अतिरिक्त ये छ प्रकीर्णक है। वितर्क, विचार, अधिमोक्ष, वीर्य, प्रीति, छन्द (अभिधम्मत्थसगहो, २।३) ये तेरह चैतसिक धर्म अन्यसमान कहलाते हैं, क्योकि यह कुशल-अकुशल-अव्याकृत चित्तो से समानभाव से सम्प्रयुक्त होते है। छ प्रकीर्णक में से अधिमोक्ष और छन्द दशमहाभूमिक मे परिगणित हैं। सर्वास्तिवादियो और विज्ञान-वादियो के अनुसार वितर्क, विचार, अव्याकृत चैतमिक हैं।

'प्रीति' सौमनस्य का प्रकार है, और इसलिए वेदना का एक आकार है। 'मति' प्रज्ञा है। स्थविरवादी प्रज्ञा को शोभन-चैतसिक मे परिगणित करते है। 'वीर्य' के स्थान में मर्वास्तिवादी की गणना मे 'स्मृति' है। सर्वास्तिवादी वीर्य को कुशल-महाभूमिक मानते है। स्थविरवादी 'स्मृति' को शोभन-चैतसिक मानते है। विशुद्धिमग्गो के विभाग भिन्न है। इसमें सर्वसाधारण, प्रकीर्णक अन्यसमान और शोभन चैतसिको के विभाग का अन्य क्रम है। इस क्रम में सर्वसाधारण और कुशल चैतसिको में विशेष नही किया गया है। वीस नियत स्वरूप से आगत है, पांच अनियत है, और चार येवापनक है।

विज्ञानवादी दस महाभूमिको को दो भागो मे विभक्त करते है। मनस्कार, स्पर्श, वेदना, सज्ञा, चेतना सर्वग है, क्योकि जब चित्त उत्पन्न होता है, तब मनस्कारादि पाँच धर्मो का होना आवश्यक है। अत, यह सर्वग है। शेप पाँच विनियत है। इनका साधारण विपय है। इनका आलम्बन, विषयवस्तु नियत है।

१. **वेदना**—त्रिविध अनुभव है—सुखा°, दु खा°, अदु खासुखा°।

२ **चेतना**—वह है, जो चित का अभिसस्कार करती है।

३ **सज्ञा**—विषय के निमित्त (पुरुष, स्त्री आदि) का ग्रहण करती है।

४. **छन्द**—कार्य की इच्छा है (कर्त्तुकाम्यता)। अभिप्रेत वस्तु के प्रति अभिलाप, कार्यारम्भ का सन्निश्रय इसका कर्म है।

५ **स्पर्श**—इन्द्रिय-विपय-विज्ञान के सन्निपात से सजात स्पृष्टि है। अन्य शब्दो मे यह वह धर्म है, जिसके योग से मानो इन्द्रिय, विपय और विज्ञान अन्योन्य का स्पर्श करते है।

६ **मति** (प्रज्ञा)—धर्मो का प्रविचय है।

७ **स्मृति**—आलम्बन का असम्प्रमोष है। यह वह धर्म है, जिसके योग से मन आलम्बन को विस्मृत नही करता।

८ **मनस्कार**—चित्त का आभोग है। यह आलम्बन मे चित्त का आवर्जन, अव-धारण है।

९. **अधिमोक्ष**—आलम्बन मे गुणो का अवधारण है।

विज्ञानवादी—यथानिश्चय धारणा।

स्थविरवादी—आलम्बन मे निश्चल भाव से स्थिति।

१०. **समाधि**—चित्त की एकाग्रता है।

विज्ञानवादियो के अनुसार अन्तिम पाँच सर्वग नही है। छन्द सर्वग नही है, क्योकि यदि हेतु या आलम्बन की दुर्बलता से जिज्ञासा का अभाव हो, तो छन्द के विना ही सज्ञा सहज रूप से होती है।

किन्तु, सघभद्र उत्तर मे कहते है कि चित्त-चैत्त अभिलाप के वल से आलम्बन का ग्रहण करते है; क्योकि सूत्र कहता है कि सब धर्मो का मूल छन्द है। विज्ञानवादी कहता है कि यह मत असमीचीन है, क्योकि मनस्कार के वल से चित्त आलम्बन का ग्रहण करता है। आगम कहता है कि मनस्कार के सम्मुख होने से विज्ञान उत्पन्न होता है। वही यह नही कहा है कि केवल छन्द में यह सामर्थ्य होता है। सूत्र यह भी कहता है कि सब धर्म तृष्णा से उत्पन्न होते है। क्या सर्वास्तिवादी यह मानते है कि चित्त-चैत्त की उत्पत्ति तृष्णा के वल से होती है ?

विज्ञानवादी कहते है कि यदि किसी निश्चित वस्तु के विपय मे चित्त व्यवसित नही है, तो अधिमोक्ष नही है। इसलिए, अधिमोक्ष सर्वग नही है। सघभद्र उत्तर देते है कि जब चित्त-चैत्त अपने आलम्बन को ग्रहण करते है, तो अविघ्नभाव के कारण सव अधिमोक्ष से सहगत होते है। विज्ञानवादी उत्तर देता है कि यदि आप अधिमोक्ष उसे कहते है, जो चित्त-चैत्तो के लिए विघ्न उपस्थित नही करता, तो हम कहेगे कि चित्त-चैत्तो को छोडकर सब धर्म विघ्नकारी

नही है। यदि प्रश्न उनका है, जिनके लिए विघ्न उपस्थित नही किया जाता, तो चित्त-चैत्त स्वय ही अधिमोक्ष होगे।

विज्ञानवादी कहते हैं कि जो वस्तु अनुभूत नही है, उसकी स्मृति नही हो सकती। अनुभूत वस्तु की भी स्मृति नही होती, यदि अभिलपन न हो। इसलिए, स्मृति सर्वग नहीं है।

किन्तु, सर्वास्तिवादियो के अनुसार चित्त का प्रत्येक उत्पाद स्मृति-सहगत है। यह स्मृति अनागत-काल मे स्मरण में हेतु है।

समाधि भी सर्वग नही है, क्योकि विक्षेप की अवस्था होती है। सघभद्र कहते हैं कि विक्षेप की अवस्था मे भी समाधि उत्पन्न होती है। किन्तु, तव यह सूक्ष्म और प्रच्छन्न होती है। विज्ञानवादी का उत्तर है कि यदि समाधि से आशय उससे है, जो चित्त-चैत्तो को एक साथ केवल एक आलम्बन की ओर प्रवृत्त करता है, तो यह अयथार्थ है, क्योकि यह स्पर्श की क्रिया है। यदि वह यह सोचते हो कि समाधिवश चित्त आलम्बन को ग्रहण करता है, और इसलिए वह सर्वग है, तो हमारा उत्तर निषेधात्मक होगा, क्योकि मनस्कारवश चित्त आलम्बन ग्रहण करता है। प्रज्ञा भी सर्वग नही है; क्योकि जव उपपरीक्ष्य विषय का अभाव होता है, जव चित्त मूढ और मन्द होता है, तव प्रविचय नही होता। सघभद्र का मत है कि उस समय भी प्रज्ञा होती है, किन्तु यह सूक्ष्म और प्रच्छन्न होती है।

विज्ञानवादी कहते हैं कि सर्वत्रग दस हैं—सूत्र-सम्मत सिद्धान्त नही है। केवल स्पर्शादि पाँच सर्वत्रग है। दस महाभूमिक चैत्त भिन्न-भिन्न लक्षण के है। चित्त-चैत्त का विशेष निश्चय ही सूक्ष्म है। चित्त-चैत्तो का यह विशेष उनके प्रवन्धो में भी दुर्लक्ष्य है। फिर, क्षणो का क्या कहना, जिनमे उन सवका अस्तित्व होता है।

दस कुशल-महाभूमिक

जो चैत्त कुशल-महाभूमि मे उत्पन्न होते है, वे कुशल-महाभूमिक कहलाते हैं। ये वे धर्म है, जो सर्वकुशल-चित्त में पाये जाते हैं। ये इस प्रकार है—श्रद्धा, अप्रमाद, प्रश्रब्धि, उपेक्षा, ह्री, अपत्रपा, मूलद्वय, अविहिंसा और वीर्य।

१. **श्रद्धा**—चित्त-प्रसाद है। एक मत के अनुसार यह कर्मफल, त्रिरत्न और चतु-सत्य में अभिसम्प्रत्यय है।

२. **अप्रमाद**—कुशल-धर्मो का प्रतिलम्भ और निषेवण भावना है। वस्तुत, यह भावना-हेतु है। एक दूसरे निकाय के अनुसार अप्रमाद चित्त की आरक्षा है।

३. **प्रश्रब्धि**—वह धर्म है, जिसके योग से चित्त की कर्मण्यता, चित्त का लाघव होता है। वसुवन्धु और सौत्रान्तिको के अनुसार प्रश्रब्धि काय और चित्त की कर्मण्यता है। यह दौष्ठुल्य का प्रतिपक्ष है।

४. **उपेक्षा**—चित्त-समता है। यह वह धर्म है, जिसके योग से चित्त समभाग में अनाभोग मे वर्तमान होता है। यह संस्कारोपेक्षा है (तत्र मज्झत्तता)।

५-६ **ह्री-अपत्रपा**—इनका लक्षण सगौरवता और सप्रतीशता, सभयवशवर्तिता और भयदर्शिता है। यह एक कल्प है। दूसरे कल्प के अनुसार इनका लक्षण आत्मापेक्षा लज्जा,

परापेक्षया लज्जा है। आत्मगौरव को देखकर जो लज्जा होती है, वह ह्री है। पर-गर्हा के भय से जो लज्जा होती है, वह अपत्राप्य है।

७-८ अलोभ और अद्वेष—विज्ञानवाद के अनुसार भवत्रय और भवोपकरण के लिए अनासक्ति (विराग) अलोभ का स्वभाव है। दु खत्रय और दु खोपकरण के लिए अनाघात अद्वेष का स्वभाव है। वसुबन्धु के अनुसार अलोभ लोभ का प्रतिपक्ष है। यह उद्वेग (=निर्वेद) और अनासक्ति है, अद्वेष मैत्री है।

९ अविहिंसा—अविहेठना है।

वसुबन्धु पच-स्कन्ध मे कहते है कि अविहिंसा 'करुणा' है।

१० वीर्य—चित्त का अभ्युत्साह है। यह कुशल मे चित्त का उत्साह है, क्लिष्ट मे नही। क्लिष्ट मे उत्साह कौसीद्य है, क्योंकि विज्ञानवादी कुशल-महाभूमिको मे अमोह को भी गिनाते है। उनके अनुसार सत्य और वस्तु का अववोध इसका स्वभाव है। सर्वास्तिवादी कहते है कि अमोह प्रज्ञात्मक है, अत यह महाभूमिको मे 'मति' की आख्या से पूर्व ही निर्दिष्ट हो चुका है, यह कुशल-महाभूमिक नही कहलाता।

विज्ञानवादी कहते हैं कि यद्यपि अमोह का स्वभाव प्रज्ञा हो, तथापि यह दिखलाने के लिए कि कुशल-पक्ष मे प्रज्ञा का अधिक सामर्थ्य है, हम उसे पुन कुशलधर्म कहते है। इसी प्रकार दृष्टि, जो प्रज्ञा-स्वभाव है, क्लिष्ट धर्म कहलाती है। धर्मपाल के अनुसार अमोह प्रज्ञा नही है। वे कहते है कि अमोह का अपना स्वतन्त्र स्वभाव है, यदि अमोह का स्वभाव प्रज्ञा होता, तो महाकरुणा 'आज्ञास्यामि' आदि प्रज्ञेन्द्रियो मे परिगणित होती, और अद्वेष-अमोह के अन्तर्गत न होती।

शोभन चैतसिक—स्थविरवाद के अनुसार शोभन चैतसिक २५ है। इनके चार विभाग है—१ प्रज्ञेन्द्रिय, २ शोभन-साधारण, ३ अप्रमाण और ४ विरति।

अप्रमाण के दो भेद है—करुणा और मुदिता। विरति तीन प्रकार की है—सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव। ये पाँच अनियत है। ये कदाचित् उत्पन्न होते है। उत्पन्न होने पर भी ये एक साथ नही उत्पन्न होते है।

शोभन-साधारण १९ है—श्रद्धा, स्मृति, ह्री, अपत्राप्य, अलोभ, अद्वेष, तत्रमध्यस्थता (उपेक्षा), काय-प्रश्रब्धि ('दरथ' का व्युपशम), चित्त-प्रश्रब्धि, कायलघुता (अगुरु-भाव), चित्त-लघुता, काय-मृदुता, चित्त-मृदुता, काय-कर्मण्यता, चित-कर्मण्यता, काय-प्रागुण्यता, (=अग्लानि), चित्त-प्रागुण्यता, काय-ऋजुकता (अकुटिलता), चित्त-ऋजुकता।

काय-प्रश्रब्धि आदि मे 'काय' शब्द समूहवाची है। वेदनादि स्कन्ध-त्रय से अभिप्राय है। काय-चित्तप्रश्रब्धि काय-चित्त को अशान्त करनेवाले औद्धत्यादि क्लेश के प्रतिपक्ष है। काय-चित्त-लघुता स्त्यान-मिद्धादि के प्रतिपक्ष है। स्त्यान-मिद्धादि काय-चित्त का गुरुभाव उत्पन्न करते है। काय-चित्त-मृदुता दृष्टि-मानादि क्लेशो के प्रतिपक्ष है, जो काय-चित्त को स्तब्ध

करते है। काय-चित्त कर्मण्यता अवशेप नीवरणादि के प्रतिपक्ष है, जो काय-चित्त को अकर्मण्य बनाते है। काय-चित्त-प्रगुणता काय-चित्त की अग्लानि है। यह आश्रद्धयादि की प्रतिपक्ष है। काय-चित्त-ऋजुकता, माया-शाठ्यादि की प्रतिपक्ष है।

इन दो-तीन सूचियो की तुलना करने से पता चलता है कि स्थविरवादियो की सूची में करुणा-मुदिता अविहिंसा का स्थान लेते है। काय-चित्त की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता, प्रगुणता, ऋजुकता सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद की सूचियो में नही है। पुन स्थविरवाद की सूची में अप्रमाद नही है। अभिधम्मत्थसगहो की सूची मे प्रज्ञेन्द्रिय है। विसुद्धिमग्गो मे अमोह है। दोनो एक है।

छ क्लेश-महाभूमिक

स्थविरवादियो के अनुसार चौदह अकुशल चैतसिक है--मोह, आह्रीक्य, अनपत्राप्य, औद्धत्य (चित्त का उद्धतभाव), लोभ, दृष्टि (या मिथ्यादृष्टि, विसुद्धिमग्गो का पाठ), मान (=अहकार-ममकार), द्वेष (प्रतिघ), ईर्ष्या (असूया), मात्सर्य (अपनी सम्पत्ति का निगूहन), कौकृत्य (कृताकृतानुशोचन), स्त्यान (=अनुत्साह), मिद्ध (=अकर्मण्यता) और विचिकित्सा।

विसुद्धिमग्गो के अनुसार नियत तेरह है। येवापनक चार है। तेरह नियत-चैतसिको मे स्पर्श, चेतना, वितर्क, विचार, प्रीति, वीर्य, जीवित, समाधि भी है। ये कुशल-चैतसिक में भी है। विसुद्धिमग्गो में वेदना और सज्ञा, पृथक् स्कन्ध गिनाये जाने के कारण, सस्कार-स्कन्ध में पुन सगृहीत नही हैं।

अकुशल के चार येवापनक ये है---छन्द, अधिमोक्ष, औद्धत्य, मनसिकार। इस सूची में कुशल येवापनक के तत्रमध्यस्थता के स्थान में औद्धत्य है। तदनन्तर, स्त्यान-मिद्ध आदि भी है।

सर्वास्तिवाद के अनुसार महाक्लेश-भूमिक चैत्त, जो सर्व क्लिष्ट-चित्त मे पाये जाते है, छ है---मोह, प्रमाद, कौसीद्य, आश्रद्धय, स्त्यान और औद्धत्य। ये एकान्तत क्लिष्ट-चित्त में होते है।

मोह, अविद्या अज्ञान है। प्रमाद कुशल धर्मो का अप्रतिलम्भ और अनिषेवण है। कौसीद्य वीर्य का विपक्ष है। आश्रद्धय श्रद्धा का विपक्ष है। स्त्यान कर्मण्यता का विपक्ष है। औद्धत्य चित्त का अव्युपशम है।

मूल अभिधर्म में है कि क्लेश-महाभूमिक दस है। किन्तु, उनमें स्त्यान पठित नही है। यह दस इस प्रकार है---आश्रद्धय, कौसीद्य, मुषितस्मृतिता, विक्षेप, अविद्या, असम्प्रजन्य, अयोनिसोमनसिकार, मिथ्याधिमोक्ष, अर्थात् क्लिष्ट-अधिमोक्ष, औद्धत्य और प्रमाद।

वस्तुत, क्लिष्ट स्मृति ही मुषितस्मृतिता है। क्लिष्ट समाधि ही विक्षेप है। क्लिष्ट प्रज्ञा ही असम्प्रजन्य है। क्लिष्ट मनसिकार ही अयोनिसोमनसिकार है। क्लिष्ट अधिमोक्ष ही मिथ्याधिमोक्ष है। ये पाँच महाभूमिको की सूची मे पूर्व निर्दिष्ट हो चुके है। उनको पुन क्लेश-महाभूमिको

की सूची मे परिगणित करने का स्थान नही है। यथा कुशल-मूल अमोह यद्यपि कुशल-महाभूमिक है, तथापि प्रज्ञा-स्वभाव होने से यह महाभूमिक व्यवस्थापित होता है। कुशल-महाभूमिक के रूप मे उसका अवधारण नही होता।

यहाँ प्रश्न है कि क्या महाभूमिक क्लेश-महाभूमिक भी हैं ? चार कोटि है—

१ वेदना, सज्ञा, चेतना, स्पर्श और छन्द केवल महाभूमिक है।

२ आश्रद्धय, कौसीद्य, अविद्या, औद्धत्य और प्रमाद केवल क्लेश-महाभूमिक हैं।

३. स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, मनसिकार और अधिमोक्ष महाभूमिक और क्लेश-महाभूमिक दोनो है।

४ इन आकारो को स्थापित कर अन्य धर्म (कुशल-महाभूमिकादि) न महाभूमिक है, न क्लेश-महाभूमिक है।

आभिधार्मिक कहते है कि स्थान का उल्लेख होना चाहिए था, किन्तु यह इसलिए पठित नही है, क्योकि यह समाधि के अनुगुण है। वस्तुत, उनका कहना है कि स्त्यान-चरित पुद्गल औद्धत्य-चरित पुद्गल की अपेक्षा समाधि का सम्मुखीभाव क्षिप्रतर करता है। आचार्य वसुबन्धु का कहना है कि स्त्यान और औद्धत्य जो क्लिष्ट धर्म है, समाधि नामक शुक्ल धर्म के परिपन्थी हैं।

दो अकुशल महाभूमिक

आह्रीक्य और अनपत्राप्य सदा एकान्तत अकुशल चित्त मे पाये जाते है।

परीत्त-क्लेश-भूमिक

क्रोध, उपनाह, शाठ्य, ईर्ष्या, प्रदास, म्रक्ष, मत्सर, माया, मद, विहिंसा आदि परीत्त हैं। परीत्त (= अल्पक) क्लेश रागादि से असम्प्रयुक्त अविद्यामात्र हैं। ये भावनाहेय मनोभूमिक अविद्यामात्र से ही सम्प्रयुक्त होते हैं। अनुशय-कोशस्थान मे इनका निर्देश उपक्लेशो में किया गया है। ये उपक्लेश भावनाहेय है, दर्शनहेय नही है। ये मनोभूमिक है। पच विज्ञानकाय से इनका सम्प्रयोग नही होता। ये सब अविद्या से सम्प्रयुक्त होते हैं। इनकी पृथक्-पृथक् उत्पत्ति हो सकती है।

विज्ञानवाद से तुलना—विज्ञानवाद के अनुसार चैत्तो के अवस्था-प्रकार-विशेष मूल क्लेश और उपक्लेशो की सूची भिन्न है।

मूल क्लेश ये है —राग, द्वेष, मोह, मान, विचिकित्सा, कुदृष्टि। यह सूची सर्वास्तिवाद की सूची से सर्वथा भिन्न है। दोनो मे केवल 'मोह' सामान्य है। शेष पाँच सर्वास्तिवादी 'क्लेश' विज्ञानवाद के उपक्लेश की सूची मे सगृहीत है।

उपक्लेश ये है —क्रोध, उपनाह, म्रक्ष, प्रदास, ईर्ष्या, मात्सर्य, माया, शाठ्य, मद, विहिसा, अह्री, अत्रपा, स्त्यान, औद्धत्य, आश्रय, कौसीद्य, पमाद, मुषिता-स्मृति, विक्षेप और असम्प्रजन्य।

उपक्लेश क्लेशो के अवस्थाविशेष है, या क्लेश-निष्यन्द है। १–१०, १८, २०, १७ अवस्था-विशेष है, शेष क्लेश-निष्यन्द है। क्लेश उपक्लेश के समीपवर्त्ती हैं। इन वीस को तीन प्रकार में विभक्त कर सकते हैं—

१ परीत्तोपक्लेश—क्रोधादि १-१०। २ मध्योपक्लेश—आह्रीक्य और अनपत्राप्य। ये सर्व अकुशल चित्त में पाये जाते है। ३ महोपक्लेश—शेष आठ जो सर्वविलष्ट चित्त मे पाये जाते हैं। सर्वास्तिवाद के दस परीत्त-क्लेशभूमिक भी यही हैं।

दो अकुशल यहाँ मध्योपक्लेश हैं। छ क्लेश-महाभूमिको मे से स्त्यान, औद्धत्य, आश्रद्ध्य, कौसीद्य, प्रमाद, महोपक्लेश हैं, और मोह मूल क्लेश है। विज्ञानवाद की महोपक्लेशो की सूची मे मुषिता-स्मृति, विक्षेप और असम्प्रजन्य विशेष हैं। ये तीन मूल अभिधर्म की क्लेश-महाभूमिक सूची में पठित है।

इन सूचियो की तुलना से प्रकट होता है कि सर्वास्तिवादियो के विभाग में 'मूल' क्लेश नही हैं, और जिसे वह क्लेश कहते हैं, वे मोह को वर्जित कर विज्ञानवाद के महोपक्लेश हैं।

१ **क्रोध**—व्यापाद-विहिंसा से अन्य सत्त्व-असत्त्व का आघात है। यथा : कण्टकादि में प्रकोप, शिक्षाकाम भिक्षु का चित्त-प्रकोप (कोश, ५, पृ० ९०)।

२ **उपनाह**—वैरानुवन्ध है।

३ **म्रक्ष**—लाभ-सत्कार के खोने के भय से अपने कृत्य को छिपाना, चोदक से पूछे जाने पर पापकर्म को आविष्कृत न करना।

४. **प्रदास**—चण्ड-पारुष्य है, जो मर्म का घात करता है।

५ **इर्ष्या**—पर-सम्पत्ति का असहन है।

६ **मात्सर्य**—धर्म-दान आमिप-दान का विरोधी है।

७ **शाठ्य**—चित्त की कुटिलता है, जो स्वदोप का प्रच्छादन करती है। शाठ्य म्रक्ष से भिन्न है। शाठ्य में प्रच्छादन परिस्फुट नही होता।

८ **माया**—कुटिलता है।

९ **विहिंसा**—विहेठना है।

१० **मद**—राग-निष्यन्द है। वह अपने रूपादि में रक्त का दर्प है।

११ **स्त्यान**—चित्त की अकर्मण्यता है। इसके योग से चित्त जडीभूत होता है।

१२ **कौसीद्य**—आलस्य है।

१३ **मुषितस्मृतिता**—विलष्ट स्मृति है।

१४ **असम्प्रजन्य**—उपपरीक्ष्य वस्तु में विपरीत बुद्धि है। यह क्लेश-सप्रयुक्त प्रज्ञा है।

अनियत चैतसिक

चैत्तो के पाँच प्रकार हमने वर्णित किये हैं। अन्य भी चैत्त है, जो अनियत हैं, जो कभी कुशल, कभी अकुशल या अव्याकृत चित्त में होते है। ये कौकृत्य, मिद्ध, वितर्क, विचार आदि हैं। यशोमित्र की व्याख्या मे कहा है कि रागादि क्लेश भी अनियत है, क्योंकि

ये पाँच प्रकारें में से किसी में भी नियत नहीं हैं। ये महाभूमिक नहीं हैं, क्योंकि ये सर्व चित्त में नहीं पाये जाते। ये कुशल-महाभूमिक नहीं हैं, क्योंकि इनका कुशलत्व से अयोग है। यह क्लेश-महाभूमिक नहीं है, क्योंकि सर्वग क्लिष्टों में इनका अभाव है, क्योंकि सप्रतिघ चित्त में राग नहीं होता। आचार्य वसुमित्र का एक संग्रह-श्लोक है--

स्मृत है कि आठ अनियत हैं. वितर्क, विचार, कौकृत्य, मिद्ध, प्रतिघ, राग, मान, विचिकित्सा। विज्ञानवाद में पहले चार ही अनियत बतलाये गये हैं। शेष चार को वह मूल क्लेशों में संगृहीत करते हैं। स्थविरवादी वितर्क और विचार को प्रकीर्णकों में या नियत-चैतसिकों में गिनाते हैं। शेष अकुशल चैतसिक हैं।

कौकृत्य का शब्दार्थ कुकृतभाव है। किन्तु, यहाँ कौकृत्य से एक चैतसिक धर्म का बोध होता है, जिसका आलम्बन कौकृत्य, अर्थात् कुकृत-सम्बन्धी चित्त का विप्रतिसार है। कौकृत्य विप्रतिसार का स्थानभूत है। विप्रतिसार के लिए कौकृत्य का निर्देश युक्त है। जिस विप्रतिसार का आलम्बन अकृत कर्म है, उसको भी कौकृत्य कहते हैं। कौकृत्य कुशल भी होता है--जब कुशल न करके सन्ताप होता है, जब अकुशल करके सन्ताप होता है। यह अकुशल है--जब अकुशल न करके सन्ताप होता है, जब कुशल में सन्ताप होता है। इस उभय कौकृत्य का उभय अधिष्ठान होता है।

मिद्ध --चित्त का अभिसंक्षेप है। इससे काय सन्धारण में असमर्थ होता है। यह कुशल, अकुशल या अव्याकृत है। केवल क्लिष्ट-मिद्ध 'पर्यवस्थान' है।

वितर्क-विचार--चित्त का स्थूलभाव वितर्क है। चित्त का सूक्ष्मभाव विचार है।

सौत्रान्तिकों के अनुसार वितर्क, और विचार वाक्-संस्कार हैं। जो औदारिक वाक्-संस्कार होते हैं, उन्हें वितर्क, और जो सूक्ष्म होते हैं, उन्हें विचार कहते हैं। इस व्याख्या के अनुसार वितर्क और विचार दो पृथग्भूत धर्म नहीं हैं, किन्तु समुदायरूप हैं, चित्त-चैत्त के कलाप हैं, जो वाक्-समुत्थापक हैं, और जो पर्याय से औदारिक तथा सूक्ष्म होते हैं। वसुबन्धु के अनुसार वितर्क और विचार चित्त में एकत्र नहीं होते। ये पर्यायवर्त्ती हैं। वैभाषिक उन्हें दो पृथग्भूत धर्म मानते हैं।

चित्त-चैत्त का सामान्य विचार

चित्त से आलम्बन की सामान्यरूपेण उपलब्धि होती है। चैत्त विशेषरूपेण इसकी उपलब्धि करते हैं। चित्त और चैत्त साश्रय, सालम्बन, साकार और सम्प्रयुक्त हैं। साश्रयादि चार भिन्न नाम एक ही अर्थ को प्रज्ञप्त करते हैं। चित्त और चैत्त 'साश्रय' कहलाते हैं, क्योंकि वे इन्द्रिय पर आश्रित हैं। वे सालम्बन हैं, क्योंकि वे स्वविषय का ग्रहण करते हैं। वे 'साकार' हैं, क्योंकि वे आलम्बन के प्रकार में आकार ग्रहण करते हैं। वे सम्प्रयुक्त हैं, क्योंकि वे अन्योन्य सम और अविप्रयुक्त हैं। वे पाँच प्रकार में सम्प्रयुक्त हैं। चित्त और चैत्त आश्रय, आलम्बन, आकार, काल, द्रव्य इन पाँच समताओं से सम्प्रयुक्त हैं, अर्थात् वेदनादि चैत्त और चित्त सम्प्रयुक्त हैं, क्योंकि उनके आश्रय, आलम्बन और आकार एक ही हैं, क्योंकि वे सहभू हैं,

क्योंकि इस सम्प्रयोग में प्रत्येक जाति का एक ही द्रव्य होता है, यथा एक काल मे एक ही चित्त-द्रव्य उत्पन्न होता है, तथा इस एक चित्त-द्रव्य के साथ एक वेदना-द्रव्य एक सज्ञा-द्रव्य, और प्रत्येक जाति का एक-एक चैत्त सम्प्रयुक्त होता है।

चित्त से चैत्तो का सहावश्यम्भाव—प्रत्येक प्रकार के चित्त के साथ कितने चैत्त अवश्य उत्पन्न होते हैं ? कामावचर चित्त पचविध हैं—१ कुशल चित्त एक है। २-३. अकुशल द्विविध है—यह आवेणिक है, अर्थात् अविद्यामात्र से सम्प्रयुक्त है, और रागादि अन्य क्लेश-सम्प्रयुक्त है। ४-५ अव्याकृत चित्त भी द्विविध है—निवृताव्याकृत, अर्थात् सत्काय-दृष्टि और अन्तग्राह-दृष्टि से सम्प्रयुक्त और अनिवृताव्याकृत, अर्थात् विपाकजादि।

१. कामावचर चित्त सदा सवितर्क सविचार होता है। इस चित्त में जब यह कुशल होता है, २२ चैत्त होते हैं—दस महाभूमिक, दस कुशल और दो अनियत, अर्थात् वितर्क और विचार। जब कुशल चित्त मे कौकृत्य होता है, तब पूर्ण सख्या २३ होती है।

२ आवेणिक और दृष्टियुक्त अकुशल चित्त में २० चैत्त होते हैं। आवेणिक चित्त अविद्यामात्र से सम्प्रयुक्त और रागादि से पृथग्भूत चित्त है। दृष्टियुक्त अकुशल-चित्त मिथ्या-दृष्टि, दृष्टिपरामर्श, शीलव्रतपरामर्श से सम्प्रयुक्त चित्त है।

दृष्टि और अन्तग्राहदृष्टि से सम्प्रयुक्त चित्त अकुशल नही है, किन्तु निवृता-व्याकृत है।

इन दो अवस्थाओ में अकुशल चित्त में दस महाभूमिक, छ. क्लेश, दो अकुशल और दो अनियत, अर्थात् वितर्क और विचार होते हैं। वसुबन्धु कहते हैं कि दृष्टि की कोई पृथक् सख्या नही है, क्योंकि दृष्टि प्रज्ञा-विशेष है, प्रज्ञा महाभूमिक है।

जब यह क्रोधादि चार क्लेशो में से किसी एक से या कौकृत्य से सम्प्रयुक्त होता है, तब २१ होते हैं।

द्वितीय प्रकार का अकुशल चित्त जो रागादि से सम्प्रयुक्त है।

३. राग, प्रतिघ, मान, विचिकित्सा से सम्प्रयुक्त अकुशल चित्त में २१ चैत्त होते हैं। पूर्वोक्त २० और राग या प्रतिघ, या मान या विचिकित्सा।

क्रोधादि पूर्ववर्णित उपक्लेशो में से किसी एक से सम्प्रयुक्त।

४. निवृताव्याकृत चित्त में १८ चैतसिक होते है। कामधातु का अव्याकृत चित्त निवृत, अर्थात् क्लेशाच्छादित होता है, जब वह सत्काय-दृष्टि या अन्तग्राह-दृष्टि से सम्प्रयुक्त होता है। इस चित्त में दस महाभूमिक, छ. क्लेश और वितर्क-विचार होते हैं।

५ अनिवृताव्याकृत चित्त मे बारह चैत्त होते है, दस महाभूमिक, वितर्क, विचार।

'बहिर्देशको' को यह इष्ट है कि कौकृत्य भी अव्याकृत है, यथा स्वप्न में। अव्याकृत कौकृत्य से सम्प्रयुक्त अनिवृताव्याकृत चित्त में तेरह चैत्त होगें।

मिद्ध सर्व अविरुद्ध है। जहाँ यह होता है, वहाँ सख्या अधिक हो जाती है। मिद्ध कुशल, अकुशल, अव्याकृत है। जिस चित्त से यह सम्प्रयुक्त होता है, उसमें २२ के स्थान में

२३ चैत्त होते है, जब यह कुशल और कौकृत्य विमुक्त होता है। २३ के स्थान में २४ चित्त होते हैं, जब यह कुशल और कौकृत्य-सहगत होता है . इत्यादि।

रूपधातु——प्रथम ध्यान मे १ प्रतिघ, २ शाठ्य, माया, मद को वर्जित कर क्रोधादि, ३ आह्रीक्य और अनपत्राप्य यह दो अकुशल महाभूमिक, ४ कौकृत्य, क्योकि, दौर्मनस्य का वहाँ अभाव होता है, तथा ५ मिद्ध, क्योकि कवडीकार आहार का वहाँ अभाव होता है, नही होते। कामधातु के अन्य सर्व चैत्त प्रथम ध्यान मे होते हैं।

ध्यानान्तर मे वितर्क भी नही होता। द्वितीय ध्यान मे और उससे ऊर्ध्व, यावत् आरूप्यधातु मे विचार, शाठ्य और माया भी नही होते। मद त्रैधातुक है। सूत्र के अनुसार शाठ्य और माया ब्रह्मलोकपर्यन्त होते हैं, और उन लोको से ऊर्ध्व नही होते, जहाँ के सत्वो का पर्षत्-सम्बन्ध होता है।

विज्ञानवाद——चित्त का आश्रय लेकर चैत्त उत्पन्न होते है। ये चित्त से सम्प्रयुक्त होते है, चित्त से प्रतिवद्ध होते हैं। यथा जो आत्मा पर आश्रित होता है, उसे आत्मीय कहते है। चित्त आलम्बन के केवल सामान्य लक्षणो का ग्रहण करता है। चैत्त आलम्बन के विशेष लक्षणो को भी ग्रहण करते है। चित्त अर्थमात्रग्राही है, और चैत्त विशेषावस्था का ग्रहण करते हैं।

चैत्त चित्त के सहकारी होते है। विज्ञान सकल आलम्बन को एक साथ ग्रहण करता है। प्रत्येक चैत्त उसको ग्रहण करता है, जिसे विज्ञान ग्रहण करता है, और साथ-साथ एक विशेष लक्षण भी ग्रहण करता है, जिसकी उपलब्धि उसका विशेष है। यथा विज्ञान वस्तु का सामान्य लक्षण जानता है (विजानाति), मनस्कार इस लक्षण को जानता है, और उस लक्षण को जानता है, जो विज्ञान से (या चित्त-अधिपति से) विज्ञात नही है।

स्पर्श——आलम्बन के मनोज्ञादि लक्षणो को जानता है। वेदना, आह्लादकादि लक्षणो को जानती है।

सज्ञा——उन लक्षणो को जानती है, जो प्रज्ञप्ति-हेतु है।

चेतना——सम्यग्-हेतु, मिथ्या-हेतु, उभयविरुद्ध (जो कर्म-हेतु है) लक्षणो को जानती है। इसीलिए, मनस्कार-स्पर्शादि चैत्त धर्म कहलाते है। मध्यान्तविभाग मे कहा है——छन्द अभिप्रेत वस्तु का भी लक्षण जानता है, अधिमोक्ष निश्चित वस्तु का, स्मृति अनुभूत वस्तु का। समाधि और प्रज्ञा गुण-दोष जानते है।

छः प्रकार के चैत्त छ अवस्था-प्रकार-विशेष हैं। इन प्रकार-विशेषो का भेद 'सर्व' चतुष्टयवश बताते हैं। कुछ सर्वचित्त स्वभाव के साथ पाये जाते है, कुछ सर्वभूमियो मे, कुछ सर्व सब समय पाये जाते है, कुछ सर्व एक साथ होते हैं।

सर्वत्रग चैत्तो मे चारो 'सर्व' पाये जाते है। वे कुशल, अकुशल, अव्याकृत चित्त मे सम्प्रयुक्त होते है। वे प्रत्येक भूमि मे पाये जाते है। वे सदा रहते है। जब एक होता है, तब दूसरे होते है। प्रतिनियत विषय मे पहले दो सर्व होते है। कुशल मे एक सर्व होता है। (वे सकल भूमि मे पाये जाते है), क्लिष्ट मे कोई सर्व नही होता है। यह लक्षण बाहुल्किक है। अनियत मे एक (पहला) सर्व होता है। कुशलादि चित्तो मे पाये जाते हैं।

मूल क्लेशो के विभाग नही है । उपक्लेशो को दो में विभक्त करते है—१ द्रव्य-सत्, २ प्रज्ञप्ति-सत् । २० उपक्लेशो मे दश परीत्त और तीन महोपक्लेश, अर्थात् मुषितास्मृतिता, प्रमाद और असम्प्रजन्य प्रज्ञप्ति-सत् है । शेष सात द्रव्य-सत् है । ये आह्रीक्य, अनपत्राप्य, आश्रद्धय, कौषीद्य, औद्धत्य, स्त्यान और विक्षेप है ।

एक दूसरा विभाग ऊपर वर्णित हो चुका है—परीत्तोपक्लेश मध्योपक्लेश और महोपक्लेश ।

चैतसिको का एक और विभाग आठ विज्ञानो के अनुसार है ।

आठवाँ विज्ञान आलय-विज्ञान केवल पाँच सर्वत्रगो से सम्प्रयुक्त होता है । यद्यपि आलय-विज्ञान अन्य चित्त-चैत्तो के बीच का आलय है, तथापि इसका सम्प्रयोग प्रत्यक्षत किसी अन्य चैतसिक से नही होता ।

सातवाँ विज्ञान (मन) पाँच सर्वत्रगो के अतिरिक्त मोह, लोभ, मान और दृष्टि इन चार क्लिष्ट चैतसिको से भी सम्प्रयुक्त होता है । ये चैतसिक आत्ममोह, आत्मदृष्टि, आत्ममान और आत्मस्नेह है । इसका कारण यह है कि मन मननात्मक है । अपरावृत्तावस्था मे यह कल्पित आत्मा की मन्यना करता है । मन केवल इन नौ चैतसिको से सम्प्रयुक्त है । यह एक मत है । एक दूसरे मत के अनुसार मन का सम्प्रयोग कुछ उपक्लेशो से भी होता है ।

षड्विज्ञान—इनका सम्प्रयोग सब चैतसिको से होता है ।

स्थविरवाद—हम पूर्व कह चुके है कि इस वाद मे चित्त के ८९ विभाग है । यह इस वाद का विशेष है । ये ५२ चैतसिक भी मानते है । ये दिखाते है कि कौन चैतसिक धर्म कितने चित्तो से सम्प्रयुक्त होता है ।

चित्तविप्रयुक्त धर्म

अब हम चित्त-विप्रयुक्त धर्मो का विचार करेगे । चित्त-विप्रयुक्त ये है—प्राप्ति, अप्राप्ति, सभागता, आसज्ञिक, दो समापत्तियाँ, जीवितेन्द्रिय, लक्षण, नाम-कायादि तथा एव-जातीयक धर्म । ये धर्म चित्त से सम्प्रयुक्त नही होते । ये रूप-स्वभाव नही हैं । ये सस्कार-स्कन्ध मे सगृहीत है, इन्हे चित्त-विप्रयुक्त संस्कार कहते है, क्योकि ये चित्त से विप्रयुक्त है, और अरूपी होने के कारण चित्त के समानजातीय है । स्थविरवाद मे इस विभाग का उल्लेख नही है । उनके उपादाय-रूपो की सूची मे चार लक्षण और जीवितेन्द्रिय पाये जाते है ।

सर्वास्तिवादी इन्हें चित्त-विप्रयुक्त सस्कार मानते है । जात्यादि लक्षण इन्द्रियों के विकार है । ये भौतिको मे क्यो सगृहीत है, यह स्पष्ट नही है । सौत्रान्तिक चित्त-विप्रयुक्त संस्कार के अस्तित्व को स्वीकार नही करते । 'प्राप्ति' शब्द न्यायभाष्य (४।२।१२) में 'सम्बन्ध' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—एकस्यानेकत्राश्रितसम्बन्धलक्षणा प्राप्ति ।

अवयव-अवयवी के विचार मे यह वाक्य आया है । अवयव-समूह आश्रय है, अवयवी आश्रित है । इनका सयोग-सम्बन्ध नही है, क्योकि इनका कभी एक दूसरे से विभाग सम्भव नही है ।

उभय का तादात्म्य या अभेद सम्बन्ध भी नही है, क्योकि दोनो अभिन्न नही है। यह समवाय सम्बन्ध है। गुण, कर्म और जाति-विषयक जो विशिष्ट ज्ञान होता है, उसका विषय समवाय नामक सम्बन्ध है। वैभाषिको के अनुसार प्राप्ति वह हेतु है, जो सत्त्वो का भाव व्यवस्थापित करता है। अवयवो मे अवयवी की वर्त्तमानता आश्रयाश्रितभाव है। यह समवायाख्य सम्बन्ध है। यह इस प्रकार है—प्राप्ति, अप्राप्ति, सभागता आसज्ञिक, दो समापत्ति (निरोध-समापत्ति, असज्ञि-समापत्ति), जीवितेन्द्रिय, लक्षण, नाम-कायादि और एवजातीयक धर्म। सर्वास्तिवादी इनको द्रव्य-सत् मानते है।

प्राप्ति-अप्राप्ति

१ प्राप्ति द्विविध है—अप्राप्त और विहीन का लाभ (प्रतिलम्भ) प्रतिलब्ध और अविहीन का समन्वागम (समन्वय)।

२ अप्राप्ति—इसका विपर्यय है।

स्वसन्तान-पतित सस्कृत धर्मो की प्राप्ति और अप्राप्ति होती है, पर-सत्त्व-सन्तति-पतित धर्मो की नही होती, क्योकि कोई परकीय धर्मों से समन्वागत नही होता। असन्तति-पतित धर्मों की भी प्राप्ति-अप्राप्ति नही होती, क्योकि कोई असत्त्व सख्यात धर्मों से समन्वागत नही होता।

असस्कृत धर्मों मे प्रतिसख्या-निरोध और अप्रतिसख्या-निरोध की प्राप्ति होती है। सब सत्त्व उन धर्मो के अप्रति॰ से समन्वागत होते है, जिनकी उत्पत्ति प्रत्यय-वैकल्य से नही होगी। सकल बन्धनादिक्षणस्थ आर्य और सकल-बन्धन-बद्ध पृथग्जन को छोडकर अन्य आर्य और पृथग्जन प्रतिसख्या॰ से समन्वागत होते है। आकाश से कोई समन्वागत नही होता, अत आकाश की प्राप्ति नही होती। वैभाषिको के अनुसार, प्राप्ति और अप्राप्ति एक दूसरे के विपक्ष है। जिसकी प्राप्ति होती है, उसकी अप्राप्ति भी होती है।

सौत्रान्तिक का मतभेद—सौत्रान्तिक प्राप्ति नामक धर्म के अस्तित्व को नही मानते। वे कहते है कि प्राप्ति की प्रत्यक्ष उपलब्धि नही होती, यथा रूप-शब्दादि की होती है, यथा रागद्वेषादि की होती है। उसके कृत्य से प्राप्ति का अस्तित्व अनुमित नही होता, यथा चक्षुरादि इन्द्रिय अनुमान-ग्राह्य है। सर्वास्तिवादी कहता है कि प्राप्ति का कृत्य है। यह धर्मो का उत्पत्ति-हेतु है। लोभ-चित्त के उत्पादक हेतु इस अनागत लोभ चित की 'प्राप्ति' है। सौत्रान्तिक कहता है कि आप जानते है कि दो निरोधो की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु ये असस्कृत है और असस्कृत अनुत्पाद्य है। केवल 'सस्कृत' हेतु होते है। सस्कृत धर्मों के सम्बन्ध मे हमे यह कहना है कि अप्राप्त धर्मो की प्राप्ति नही होती और उन धर्मों की भी प्राप्ति नही होती, जो भूमि-सस्कार या वैराग्य के कारण त्यक्त हो चुके है। प्रथम की प्राप्ति अनुत्पन्न है। द्वितीय की प्राप्ति निरुद्ध हुई है। अत, इन धर्मो की कैसे उत्पत्ति हो सकती है, यदि इनकी उत्पत्ति का हेतु प्राप्ति है?

सर्वास्तिवादी—इन धर्मो की उत्पत्ति मे सहज-प्राप्ति हेतु है।

सौत्रान्तिक—यदि धर्मो की उत्पत्ति प्राप्ति के योग मे होती है, तो जाति और जाति-जाति क्या करते है। असत्त्वाख्य धर्मो की उत्पत्ति न होगी। सकल बन्धन पुद्गलो मे मृदु-मध्य-अधिमात्र क्लेशो का प्रकार-भेद कैसे युक्त होगा, क्योकि प्राप्ति का अभेद है। रागावतर क्लेश

की उन्ही प्राप्तियो से सब समन्वागत है। क्या आप कहते है कि यह भेद प्राप्ति के भिन्न हेतुओ के कारण होता है। हमारा उत्तर है कि यह हेतु ही मृदु-मध्य-अधिमात्र क्लेश की उत्पत्ति मे एकमात्र हेतु है। जिस कारण से यह भेद होता है, उसी कारण से उनकी उत्पत्ति भी हो सकती है। इसलिए, प्राप्ति उत्पत्ति-हेतु नही है।

सर्वास्तिवादी--कौन कहता है कि प्राप्ति धर्मों की उत्पत्ति का हेतु है? हम उसका यह कारित्र नही बताते। हमारे अनुसार प्राप्ति वह हेतु है, जो सत्त्वो के भाव की व्यवस्था करता है। हम इसका व्याख्यान करते है--मान लीजिए कि प्राप्ति का अस्तित्व नही है, तो लौकिक-मानस आर्य और पृथग्जन का क्या व्यवस्थान होता? भेद केवल इसमे है कि आर्य मे कतिपय अनास्रव धर्मों की प्राप्ति तब भी होती है, जब उनका लौकिक-मानस होता है।

सौत्रान्तिक--हमारे मत से यह व्यवस्थान हो सकता है कि पहला प्रहीण क्लेश है, और दूसरा अप्रहीण क्लेश है।

सर्वास्तिवादी--नि सन्देह, किन्तु प्राप्ति के अस्वित्व को न मानकर यह कैसे कह सकते है कि इनका क्लेश प्रहीण है, इनका अप्रहीण है। प्राप्ति के होने पर यह व्यवस्थान सिद्ध होता है। क्लेश प्रहीण तभी होते है, जब क्लेश-प्राप्ति का विगम होता है। जबतक उसकी प्राप्ति रहती है, तबतक क्लेश प्रहीण नही होता।

वैभाषिक कहते है कि 'प्राप्ति' और 'अप्राप्ति' द्रव्य-सत् है। वैभाषिक नय से त्रैयध्विक धर्मों की प्राप्ति त्रिविध है। अतीत धर्मो की प्राप्ति अतीत, प्रत्युत्पन्न, अनागत होती है। इसी प्रकार प्रत्युत्पन्न और अनागत धर्मों को समझना चाहिए। प्रत्येक धर्म की यह त्रिविध प्राप्ति नही होती, यथा विपाकज धर्मो की प्राप्ति केवल इन धर्मो की सहज होती है। इनके उत्पन्न होने के पूर्व और निरुद्ध होने के पश्चात् इन धर्मो की प्राप्ति नही होती।

कुशल, अकुशल, अव्याकृत धर्मो की प्राप्ति यथाक्रम कुशल, अकुशल, अव्याकृत होती है। धात्वाप्त धर्मो की प्राप्ति स्वधातुक होती है। अधातु-पतित अनास्रव धर्मो की प्राप्ति चतुर्विध है। यह त्रैधातुक है। यह अनास्रव है।

१. अप्रतिसख्या-निरोध की प्राप्ति उस धातु की होती है, जिसमे वह पुद्गल उत्पन्न होता है, जो उसकी प्राप्ति करता है।

२ प्रतिसख्या-निरोध की प्राप्ति रूपावचरी, अरूपावचरी और अनास्रव होती है।

३ मार्ग-सत्य की प्राप्ति अनास्रव ही होती है।

४. शैक्ष धर्मो की प्राप्ति शैक्षी है, अशैक्ष धर्मो की प्राप्ति अशैक्षी है। नशैक्षाशैक्ष धर्मो की प्राप्ति त्रिविध है। ये धर्म सास्रव और असस्कृत है। इनकी सज्ञा इसलिए है, क्योंकि यह शैक्ष और अशैक्ष धर्मो से भिन्न है।

१ सास्रव धर्मो की प्राप्ति नैवशैक्षीनाशैक्षी है।

२ इसी प्रकार अनार्य से प्राप्त अप्रति° की प्राप्ति और प्रति° की प्राप्ति।

३ प्रति° की प्राप्ति शैक्षी है, यदि निरोध शैक्षमार्ग से प्राप्त होता है। अशैक्षी है, यदि वह निरोध अशैक्ष मार्ग से प्राप्त होता है।

अहेय धर्मों का प्राप्ति-भेद है। अहेय धर्मों की प्राप्ति द्विविध है। अप्रति° की प्राप्ति भावनाहेय है। इसी प्रकार, अनार्य से प्राप्त प्रति° की प्राप्ति अनास्रव, अहेय है। इसी प्रकार, मार्ग-सत्य की प्राप्ति को जानना चाहिए। अव्याकृत की प्राप्ति सहज है।

अप्राप्ति अनिवृताव्याकृत है। क्लेशो की अप्राप्ति क्लिष्ट नही है, क्योकि इस विकल्प मे क्लेश-विनिर्मुक्त पुद्गल में इसका अभाव होता है। यह कुशल नही है, क्योकि कुशलमूल-समुच्छिन्न पुद्गल में इसका अभाव होगा। अप्राप्ति की विहानि प्राप्ति और भूमि-सचार से होती है। यथा आर्य-मार्ग के लाभ से और भूमि-सचार से पृथग्जनत्व विहीन होता है।

अनुप्राप्ति, अनु-अप्राप्ति–प्राप्ति और अप्राप्ति की भी प्राप्ति और अप्राप्ति होती है। इन्हें अनुप्राप्ति, अनु-अप्राप्ति कहते हैं। अत दो प्राप्ति है—मूल प्राप्ति और अनुप्राप्ति या प्राप्ति-प्राप्ति ।

क्या इस वाद मे प्राप्तियो का अनवस्था-प्रसग नही होगा ?

नही, क्योकि परस्पर समन्वागम होता है। प्राप्ति-प्राप्ति के योग से प्राप्ति से समन्वागम होता है और प्राप्ति के योग से प्राप्ति-प्राप्ति से समन्वागम होता है। जब एक सन्तति मे एक धर्मविशेष का उत्पाद होता है, तब तीन धर्मों का सहोत्पाद होता है। अर्थात्, १ यही धर्म, जिसे मूल धर्म कहते है, २ मूल धर्म की प्राप्ति, ३ इस प्राप्ति की प्राप्ति। प्राप्ति-उत्पादवश वह सत्त्व मूल धर्म से और प्राप्ति-प्राप्ति से समन्वागत होता है। अत, अनवस्था-प्रसग नही होता। जब कुशल या क्लिष्ट धर्मो की उत्पत्ति होती है, तब उसी क्षण मे तीन धर्मो का सहोत्पाद होता है। इनमे यह कुशल या क्लिष्ट धर्म सगृहीत है। तीन धर्म ये है—मूल धर्म, उसकी प्राप्ति, इस प्राप्ति की प्राप्ति। द्वितीय क्षण मे छ धर्मो का सहोत्पाद होता है, अर्थात् मूल धर्म की प्राप्ति, प्रथम क्षण की प्राप्ति, प्राप्ति की प्राप्ति, तथा तीन अनुप्राप्ति, जिनके योग से पूर्वोक्त तीन प्राप्तियो से वह समन्वागत होता है। तृतीय क्षण मे अट्ठारह धर्मो का सहोत्पाद होता है। इस प्रकार, प्राप्तियो का उत्तरोत्तर वृद्धि-प्रसग होता है। अनादि अनन्त ससार मे यह अनन्त सख्या मे उत्पन्न होती है।

वसुबन्धु कहते है कि यह प्राप्तियो का अति उत्सव है, कि ये अरूपिणी है, अत ये अवकाश का लाभ करती है। यदि ये प्रतिघातिनी होती, तो एक प्राणी की प्राप्तियो को नीलाकाश मे स्थान न मिलता।

निकाय-सभाग (सभागता)

यह एक द्रव्य है, एक धर्म है, जिसके योग से सत्त्व तथा सत्त्व-सख्यात धर्मों का परस्पर सादृश्य (=सभाग) होता है। शास्त्र मे इस द्रव्य की निकाय-सभाग सज्ञा है। यह सत्त्वो की स्वभाव-समता है। सभागता दो प्रकार की है। अभिन्न और भिन्न। प्रथम सभागता सर्व-सत्त्ववर्त्तिनी है। उसके योग से प्रत्येक सत्त्व का सब सत्त्वो के साथ सादृश्य होता है। उसे सत्त्व-सभागता कहते है। द्वितीय मे अनेक अवान्तर भेद है। सत्त्व, धातु, भूमि, गति, योनि, जाति, व्यजनादि के अनुसार भिन्न होते है। उतनी ही सभागता होती है। इनके योग से एक विशेष प्रकार का प्रत्येक सत्त्व उस प्रकार के सत्त्वो के सदृश होता है।

पुन सत्त्व-सख्यात धर्मों के लिए एक सभागता है—धर्म-सभागता। यह स्कन्ध-आयतन-धातुक है।

सत्त्व-सभागता नामक अविशिष्ट द्रव्य के अभाव मे अन्योन्य विशेष भिन्न सत्त्वो के लिए सत्त्वादि अभेद बुद्धि और प्रज्ञप्तियाँ कैसे होगी? इसी प्रकार, धर्म-सभागता के योग से ही स्कन्ध-धातु आदि बुद्धि और प्रज्ञप्ति युक्त है।

विभिन्न वादियों की आलोचना—सौत्रान्तिक सभागता नामक धर्म को स्वीकार नही करते, और इस वाद मे अनेक दोष दिखलाते है। वे कहते है कि लोक सभागता को प्रत्यक्ष नही देखता, वह प्रज्ञा से सभागता का परिच्छेद नही करता, क्योंकि सभागता का कोई व्यापार नही है, जिससे उसका ज्ञान हो। यद्यपि लोक सत्त्व-सभागता को नही जानता, तथापि उसमें सत्त्वो के जात्यभेद की प्रतिपत्ति होती है। अत, सभागता के होने पर भी उसका क्या व्यापार होगा? पुन निकाय को शालि-यवादि की असत्त्व-सभागता भी क्यों नही इष्ट है? इनके लिए सामान्य प्रज्ञप्ति का उपयोग होता है।

पुन जिन विविध सभागताओ की प्रतिपत्ति निकाय को इष्ट है, वे अन्योन्य भिन्न है। किन्तु, सबके लिए सामान्य बुद्धि और प्रज्ञप्ति होती है—सब सभागता है।

सौत्रान्तिक कहते हैं कि यह वैशेषिको का 'सामान्य' पदार्थ है, किन्तु ये 'विशेष' नामक एक दूसरा द्रव्य भी मानते है, जिससे जाति के लिए विशेष बुद्धि और प्रज्ञप्ति होती है।

वैभाषिक कहते है कि उनका वाद वैशेषिको के वाद से भिन्न है। वैशेषिक मानते है कि सामान्य एक पदार्थ है, जो एक होते हुए भी अनेक मे वर्त्तमान है। वैशेषिक सामान्य और विशेष को षट् पदार्थों में सगृहीत करते हैं। उनका सामान्य नित्य और व्यापक है, बुद्ध्यपेक्ष है (वैशेषिक सूत्र, १।२।३)। समानो का भाव सामान्य है। यह तुल्यार्थता है। इसका विपर्यय विशेष है। भिन्नो मे जो अभिन्न बुद्धि होती है, उसका सामान्य व्यपदेश होता है। वस्तुभूत निमित्त के बिना अभिन्न बुद्धि नही होती। यह निमित्त सामान्य है। सामान्य द्विविध है—पर, अपर। पर-सामान्य सत्ता है। अपर-सामान्य सत्ताव्यापी द्रव्यत्वादि है। सामान्य की अनुवृत्त-बुद्धि होती है। विशेष की व्यावृत्त-बुद्धि होती है। यह द्रव्य है, यह द्रव्य है, इस प्रकार का अनुवृत्त प्रत्यय होने पर भी यह गुण नही है, यह कर्म नही है, ऐसा विशेष प्रत्यय होता है।

नैयायिक सामान्य का अस्तित्व मानते है। जाति-जतिमान् में समवाय-सम्बन्ध है। यथा अवयव-अवयवी गुण गुणी, क्रिया-क्रियावान् का सम्बन्ध समवाय है। सामान्य एक और नित्य है। सामान्य की सत्ता व्यक्ति मे पृथक् है। व्यक्तियो का उत्पाद और विनाश होता है, किन्तु सामान्य (जाति) नित्य है।

वैभाषिक कहते हैं कि प्रत्येक सत्त्व में सत्त्व-सभागता अन्य-अन्य होते हुए भी अभिन्न कहलाती है, क्योंकि सादृश्य है। यह एक द्रव्य है, किन्तु इसको एक और नित्य मानना वैशेषिको की भूल है।

सौत्रान्तिक सभागता का अस्तित्व स्वीकार नही करते। दिङनाग, धर्मकीर्त्ति का मत है—"प्रत्यक्ष अपने-अपने विषय के स्वलक्षण का ग्रहण है। निर्विकल्पक है, अत जाति, सामान्य का प्रत्यक्ष नही होता। यदि यह सविकल्पक प्रत्यक्ष है, अर्थात् बुद्ध्यपेक्ष है, तो यह अलीक है।" इनके लिए निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही वस्तु-सत् है, क्योकि यह कल्पनापोढ है, नाम-जात्यादि से असयुत है।

पार्थसारथि-कृत 'शास्त्रदीपिका' (पृ० ३८१-३८२) मे कहा है : **विकल्पाकारमात्रं सामान्यम्, अलीकं वा**। स्वलक्षण ही वस्तु-सत् है। सामान्य विकल्पाकारमात्र है, अत अलीक है। सामान्य अनुमान-सिद्ध भी नही है, क्योकि अनुमान का आलम्बन विकल्प होता है।

आसंज्ञिक, दो समापत्तियाँ

आसंज्ञिक और असज्ञि-समापत्ति—जो सत्त्व, असज्ञि या असज्ञि-देवो में उपपन्न होते है, उनमें एक धर्म होता है, जो चित्त-चैत्तो का निरोध करता है, और जिसे 'आसज्ञिक' कहते है। इस धर्म से अनागत अध्व के चित्त-चैत्त कालान्तर के लिए सन्निरुद्ध होते है, और उत्पत्ति का लाभ नही करते। यह धर्म उस धर्म के सदृश है, जो नदी-तोय का निरोध करता है, अर्थात् सेतु के सदृश है। यह धर्म एकान्तत असज्ञि-समापत्ति का विपाक है।

इस समापत्ति के अभ्यास के लिए योगी को चतुर्थ ध्यान मे समापन्न होना चाहिए। मोक्ष की इच्छा से वह इसका अभ्यास करता है। योगी की यह मिथ्या कल्पना होती है कि आसज्ञिक यथार्थ मोक्ष है। जो योगी इस समापत्ति का लाभी होता है, वह वैभाषिको के अनुसार उसका पुनः उत्पादन कर असज्ञि-सत्त्वो मे उत्पन्न होता। केवल पृथग्जन इस समापत्ति का अभ्यास करते है, आर्य नही।

असज्ञि-देव उपपत्ति-काल और च्युति-काल मे सज्ञी होते है। असज्ञि-सत्त्वो के लोक से च्युत हो वह अवश्य कामधातु में पुन उपपन्न होते है, अन्यत्र नही। वस्तुत, जिसके योग से ये सत्त्व असज्ञियो में उपपन्न होते है, उस असज्ञि-समापत्ति के सस्कार का परिक्षय होता है। उनकी च्युति होती है, यथा क्षीणवेग बाण पृथ्वी पर पतित होते है।

निरोध-समापत्ति—यह समापत्ति असज्ञि-समापत्ति के सदृश है। यह एक धर्म है, जो चित्त-चैत्तो का निरोध करता है। केवल आर्य इस समापत्ति की भावना करते है, क्योकि वह शान्त-विहार-सज्ञापूर्वक मनसिकार से उसका ग्रहण करते है। असज्ञि-समापत्ति की भावना मोक्ष-सज्ञा-पूर्वक मनसिकार से असज्ञा का ग्रहण करने से सिद्ध होती है, यह भवाग्रज है। असज्ञि-समापत्ति चतुर्थ ध्यानभूमिक है। उसका उत्पाद दो धातुओ मे से किसी में होता है।

निरोध० शुभ है। इसके दो प्रकार के विपाक है—उपपद्य-वेदनीय या अपर-पर्याय-वेदनीय। यह 'अनियत' भी है, क्योकि जिस योगी ने इस समापत्ति का उत्पाद किया है, वह दृष्टधर्म मे निर्वाण का लाभ कर सकता है। यह समापत्ति भवाग्र के चार स्कन्ध का उत्पाद करती है। इसका लाभ वैराग्यमात्र से नही होता, यह प्रयोग-लभ्य है।

केवल मनुष्यो मे इसका उत्पाद होता है। इसको सज्ञावेदित भी कहते हैं। इसका प्रयोग सज्ञा और वेदना के प्रतिकूल है।

विभाषा कहती है कि जो निरोध मे समापन्न होता है, उसे अग्नि दग्ध नही कर सकती, उसे जल क्लिन्न नही कर सकता, क्षुर उसे छिन्न नही कर सकता, कोई उसका घात नही कर सकता।

स्थविर वसुमित्र के अनुसार ये दो समापत्तियाँ और आसज्ञिक अपरिस्फुट मनोविज्ञान-वश सचित्तक हैं।

सौत्रान्तिक इनको द्रव्यत अवधारण नही करते। उनका कहना है कि यह समापत्ति-चित्त है—वह चित्त जो समापत्ति-अवस्था के पूर्व का है, जो चित्तोत्पत्ति में प्रतिबन्ध है। यह चित्त चित्तान्तर के विरुद्ध है। इसके कारण कालान्तर के लिए अन्य चित्तो का उत्पाद नही होता। समापत्ति-चित्त के कारण चित्त-निरुद्ध आश्रय या सन्तान का आपादन होता है। जिसे समापत्ति कहते है, वह कालान्तर के लिए चित्त की अप्रवृत्ति-मात्र है। यह दो समापत्ति और आसज्ञिक चित्तोत्पत्ति मे प्रतिबन्ध नही है। यह द्रव्य-धर्म नही है, किन्तु एक प्रज्ञप्ति-धर्म है। जीवितेन्द्रिय के पूर्व सस्कृत धर्म के लक्षण को बताते है।

सस्कृत धर्म के लक्षण

चार मूल लक्षण—जाति, जरा, स्थिति, अनित्यता। ये चार धर्म के लक्षण हैं। जिस धर्म में ये लक्षण पाये जाते है, वे सस्कृत है। जिसमे यह नही पाये जाते वे असस्कृत हैं। जाति सस्कृतो का उत्पादन करती है, स्थिति उनकी स्थपना करती है। जरा उनका ह्रास करती है, अनित्यता उनका विनाश करती है। किन्तु, सूत्र मे उक्त है कि सस्कृत के तीन सस्कृत लक्षण है। सस्कृत का उत्पाद प्रज्ञात होता है। व्यय भी प्रज्ञात होता है। उसका स्थित्यन्यथात्व भी प्रज्ञप्त होता है। जो लक्षण सूत्र में उक्त नही है, वह 'स्थिति' है। स्थित्यन्यथात्व समासान्त पद मे 'स्थिति' शब्द है, किन्तु यह पद जरा का पर्याय है। यदि सूत्र केवल तीन ही लक्षणो का निर्देश करता है, तो इसका कारण यह है कि विनेयो में उद्वेग उत्पन्न करने के लिए यह उन्ही धर्मों को सस्कृत का लक्षण निर्दिष्ट करता है, जिनके कारण सस्कृत का त्रैयध्विक सचार होता है। इसके विपरीत 'स्थिति' सस्कृत की स्थापना करती है, और उसके अवस्थान में हेतु है। इसीलिए सूत्र लक्षणो मे उसकी गणना नही करता। पुन असस्कृत का भी स्वलक्षण मे स्थितिभाव होता है। स्थितिलक्षण असस्कृत की इस स्थिति के सदृश है। असस्कृत का भी सस्कृतत्व-प्रसग न हो इसलिए सूत्र 'स्थिति' को सस्कृत का लक्षण नही निर्दिष्ट करता।

सौत्रान्तिको की यह कल्पना है कि सूत्र मे स्थिति का निर्देश है। स्थिति और जरा को यह एक साथ निर्दिष्ट करता है। स्थित्यन्यथात्व = स्थिति और अन्यथात्व। इनसे लक्षणो को एक लक्षण के रूप में कहने का प्रयोजन है—यह स्थिति सगास्पद है। स्थिति मे असग न हो, इसलिए सूत्र उसको जरा के साथ निर्दिष्ट करता है। अत, सस्कृत लक्षण चार ही है।

किसी धर्म की जाति, स्थिति आदि भी संस्कृत हैं। अत, इनका उत्पाद, स्थिति, अन्यथात्व व्यय होता है। अतः, पर्याय से इनके चार लक्षण जाति-जाति, स्थिति-स्थिति आदि होते हैं, जो मूल धर्म के अनुलक्षण हैं। ये अनुलक्षण भी संस्कृत हैं। अत, इनमें से एक-एक करके चार-चार लक्षण होंगे।

यहाँ अपर्यवसान दोष नहीं है। जब एक मूल धर्म की उत्पत्ति होती है, तब नौ धर्मों का सहोत्पाद होता है—मूलधर्म, चार मूललक्षण, चार अनुलक्षण। पूर्वोक्त चार मूललक्षण तथा चार अनुलक्षण—जाति-जाति, स्थिति-स्थिति जरा-जरा, अनित्यता-अनित्यता। मूल जाति से आठ धर्म जनित होते हैं, किन्तु जाति-जाति से केवल एक धर्म, अर्थात् मूल जाति जनित होती है। इसी प्रकार, अन्य मूललक्षण और अनुलक्षणो की यथायोग्य योजना करनी चाहिए।

चार अनुलक्षण—लक्षणो के स्वय लक्षण होते हैं, जिन्हे अनुलक्षण कहते हैं। उनकी सख्या चार होती है, सोलह नहीं, और अनिष्ठा दोष नहीं है।

सौत्रान्तिक का मतभेद—सौत्रान्तिक लक्षणो को पृथक्-पृथक् द्रव्य नहीं मानते। वे कहते हैं कि भगवान् प्रदर्शित करना चाहते हैं कि प्रवाह संस्कृत है। वे प्रवाह-क्षण के तीन लक्षण नहीं बताते, क्योंकि वे कहते हैं कि यह तीन लक्षण प्रज्ञप्त होते हैं। वस्तुत अप्रज्ञायमान है। क्षण का उत्पाद या जाति का अर्थ है—प्रवाह का आरम्भ। व्यय या अनित्यता प्रवाह की निवृत्ति, उपरति है। स्थिति आदि से निवृत्ति तक अनुवर्त्तमान प्रवाह है। स्थित्यन्यथात्व या जरा अनुवर्त्तमान का पूर्वापरविशेष है। पुन उत्पाद अभूत्वा-भाव है स्थिति प्रबन्ध है, अनित्यता प्रबन्ध का उच्छेद है, जरा उसकी पूर्वापर विशिष्टता है। सक्षेप मे, संस्कृत धर्म का अभूत्वा-भाव होता है, भूत्वा-अभाव होता है। इन धर्मों का प्रवाह इनकी स्थिति है, प्रवाह का विसदृशत्व उनका स्थित्यन्यथात्व है। उत्पादादि द्रव्य नहीं है।

सर्वास्तिवादी कहते है कि जन्य धर्म की जनक जाति है, किन्तु हेतु-प्रत्यय के विना नहीं, अर्थात् हेतु-प्रत्यय के सामग्र्य के विना केवल जाति जन्य धर्म के उत्पाद का सामर्थ्य नहीं रखती। सौत्रान्तिक कहते है कि यदि ऐसा है, तो हेतु उत्पाद करते हैं जाति नहीं। सर्वास्तिवादी कहते है कि रूप मे रूप-बुद्धि स्वलक्षणापेक्षा होती है। किन्तु, 'रूप जात है', यह जात-बुद्धि रूपापेक्षा नहीं होती, क्योंकि 'वेदना जात है' इस वेदना का जब प्रश्न होता है, तब भी मेरी यही जात-बुद्धि होती है। अत, जाति-बुद्धि रूप-वेदना मे अर्थान्तरभूत जाति-द्रव्य की अपेक्षा करती है।

सौत्रान्तिक का उत्तर है कि यह वाद आपको बहुत दूर ले जायगा। शून्यता, अनात्मत्व को युक्त सिद्ध करने के लिए आप 'शून्यम्', 'अनात्मम्' का द्रव्यत अस्तित्व मानेंगे। पुन एक-दो महत्, अणु, पृथक्, सयुक्त, विभक्त, पर, अपर, सद्रूपादि बुद्धि की सिद्धि के लिए आप वैशेपिको के तुल्य एक द्रव्य-परम्परा मानेंगे—सख्या, परिमाण पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, सत्ता आदि। आपको घट-बुद्धि सिद्ध करने के लिए एक 'घटत्व' परिकल्पित करना होगा।

जीवितेन्द्रिय

जीवित त्रैधातुक आयु है। यह एक पृथक् धर्म है। यह ऊष्म और विज्ञान का आधार है। यह सन्तान की स्थिति का हेतु है।

सौत्रान्तिक आयु को द्रव्य नही मानते। उनका कहना है कि यह एक आवेध सामर्थ्य-विशेष है, जिसे पूर्वजन्म का कर्म प्रतिसन्धि-क्षण में सत्त्व मे आहित करता है। इस सामर्थ्य-वश एक नियत काल के लिए निकाय-सभाग के स्कन्ध-प्रवन्ध का अवस्थान होता है।

नाम, पद, व्यजन-काय

'नाम' (नाम या शब्द) मे 'सज्ञाकरण' समझना चाहिए। यथा रूप, शब्द, गन्धादि शब्द।

'पद' से वाक्य का अर्थ लेते है, जितने से अर्थ की परिसमाप्ति होती है, यथा यह वाक्य—सस्कार अनित्य है, एवमादि। अथवा पद वह है, जिससे क्रिया, गुण, काल के सम्बन्ध-विशेप भासित होते है, यथा वह पकाता है, वह पढता है, वह जाता है वह कृष्ण है, गौर है, रक्त है, वह पकाता है वह पकावेगा, उसने पकाया।

'व्यजन' का अर्थ अक्षर, वर्ण, स्वर-व्यजन है। यथा अ आ इ ई आदि।

'काय' का अर्थ समुदाय है।

सौत्रान्तिक का मतभेद—सौत्रान्तिक दोप दिखाते है कि यह वाक्स्वभाव हैं, और इसलिए 'शब्द' है। अत, यह रूप-स्कन्ध मे सगृहीत हैं। चित्त-विप्रयुक्त सस्कार नही।

सर्वास्तिवादी के मत मे यह वाक्स्वभाव नही है। वाक् घोप है। और, घोपमात्र से, यथा क्रन्दन मे अर्थ अवगत नही होता। किन्तु, वाक् नाम मे प्रवृत्त होता है। यह नाम अर्थ को द्योतित करता है, प्रतीति उत्पन्न करता है।

सौत्रान्तिक—जिसे मैं वाक् कहता हूँ, वह घोपमात्र नही है। किन्तु, यह वह घोप है, जिसके सम्बन्ध में वक्ताओ मे सकेत है कि यह अमुक अर्थ की प्रतीति करेगा।

जो सिद्धान्त यह मानता है कि नाम पदार्थ का द्योतक है, उसे यह मानना पडेगा कि 'गो' शब्द के ये भिन्न अर्थ सवृति से है। अत, यदि अमुक नाम से श्रोता को अमुक अर्थ द्योतित होता है, तो यह घोपमात्र है, जो उसकी प्रतीति कराता है। 'नाम' द्रव्य की कल्पना का कोई प्रयोजन नही है।

सौत्रान्तिक व्यवस्थित करते है कि 'नाम' एक शब्द है, जिसके सम्बन्ध मे मनुष्यो मे सकेत है कि यह एक अर्थ-विशेप की प्रतीति कराता है।

वैभाषिक इन्हे द्रव्य के रूप में स्वीकार करते है। वे कहते है कि सब धर्म तर्कगम्य नही है।

न्याय-वैशेषिक से तुलना

वैशेषिकशास्त्र मे 'गुण' एक पदार्थ है। यह कई प्रकार का है। यह द्रव्याश्रयी है स्वय गुणविशिष्ट नही है और दूसरे की अपेक्षा के विना सयोग और विभाग के उत्पादन मे असमर्थ है। सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, सस्कारादि गुण है।

परिमाण—मान-व्यवहार का असाधारण कारण है। यह चार प्रकार है—महत्, अणु, दीर्घत्व और ह्रस्वत्व।

नित्य पदार्थ का परिमाण नित्य है, और अनित्य पदार्थ का अनित्य है।

संख्या—द्वित्वादि सख्या अपेक्षा-बुद्धि से प्रसूत है। यह गणना-व्यवहार का निष्पादक गुण है।

पृथक्त्व द्वारा एक वस्तु से अपर के पार्थक्य की प्रतीति होती है।

संस्कार नामक एक गुण है। वह तीन प्रकार का है—स्थितिस्थापक, भावना और वेग। यदि हम एक वृक्ष की शाखा का आकर्षण कर छोड दे, तो यह स्थितिस्थापक-सस्कार गुण के योग से यथास्थान होती है। किसी विषय का आभास होने से वह मन मे अवस्थान करता है, यह भावनाख्य सस्कार का फल है। एक वाण का निक्षेप करने से वह बहुत दूर जाता है, यह वेगाख्य सस्कार है।

स्थविरवादियो की २४ उपादाय-रूपो की सूची मे रूप लघुता, मृदुता, कर्मण्यता है। 'स्थितिस्थापक' चित्त-विप्रयुक्त सस्कार भी इन गुणो के तुल्य विशेष धर्म है, यद्यपि बौद्ध गुण-गुणी के वाद को नही मानते, इनमे एक प्रकार का सादृश्य है, यथा वैशेषिको का सामान्य और निकाय-सभागता प्राय एक है। अन्तर इतना ही है कि वैशेषिको का सामान्य एक और नित्य है, किन्तु वैभाषिको का निकाय-सभाग एक और नित्य नही है।

न्याय-वैशेषिक जहाँ किसी का कारण नही वना सकते, वहाँ अदृष्ट की कल्पना करते है। सर्ग के आदि मे जो परमाणु मे कर्म होता है, वह अदृष्ट के कारण होता है। अग्नि का ऊर्ध्व-ज्वलन, वायु का तिर्यग्-गमन, सूची का अयस्कान्त के अभिमुख होना, यह सर्व अदृष्ट-विशेष के अधीन है (वैशेषिकसूत्र, ५।१।१५, ५।२।१३)। देह से मन का उत्क्रमण (अपसर्पण), देहान्तर में मन का प्रवेश (उपसर्पण), अमित-पीत का सयोग (उपचय), इन्द्रिय और प्राण का देह से सयोग अदृष्टकारिता है (वैशेषिकसूत्र, ५।२।१७)। इस सूत्र पर चन्द्रकान्त-कृत भाष्य कहता है कि एक दूसरा भी अदृष्ट है, जिससे पुरुष का जीवन, उत्पत्ति और मरण होता है। शरीरादि का इस प्रकार का निर्माण ही है कि उस अवस्था मे ऐसा होता है। यह अदृष्ट इसलिए कहलाता है कि कारण दृष्ट नही है (**न तत्र दृष्टं कारणमस्तीति**), वस्तु-शक्ति ही इस प्रकार की है (**वस्तुशक्तिरेवैतादृशी**)। यह पूर्वकृत कर्म का फल है। यह अदृष्ट उसका है, जिसका इस गमन से हित या अहित होता है। न्यायसूत्र (३।२।६८) के अनुसार भी अदृष्ट कर्मफल है। इस कर्मफल का योग, अर्थात् अदृष्ट-जन्य सुख-दुःख का मानस प्रत्यक्ष ही दर्शन है। दर्शनार्थ शरीर की सृष्टि होती है। जब हम किसी का कारण नही जानते है, तब हम उसे स्वाभाविक कहते है (न्यायमजरी मे जयन्त)। इसी प्रकार, सर्वास्तिवादी इसे 'धर्मता' कहते है, अर्थात् वस्तुओ का ऐसा ही धर्म है, स्वभाव है, शक्ति है। वे कहते है कि धर्मो की शक्ति अचिन्त्य है। यह नियत भी है।

न्यायभाष्य (३।२।६८) मे किसी दर्शनकार के मत से 'अदृष्ट' परमाणुओ का गुणविशेष है। यह अदृष्ट परमाणु-क्रिया का हेतु है। इस अदृष्ट से प्रेरित परमाणु-समूह परस्पर सयुक्त हो शरीर का उत्पादन करता है। इसी अदृष्ट से मन की क्रिया उत्पन्न होती है। मन अपने अदृष्ट से प्रेरित हो उस शरीर मे प्रवेश करता है। तब समनस्क शरीर में द्रष्टा सुख-दु ख की उपलब्धि करता है।

हेतु-फल-प्रत्ययता का वाद

सर्व धर्म जो उत्पन्न होते है, पाँच हेतुओ और चार प्रत्ययो से उत्पन्न होते हैं। ईश्वर, पुरुष, प्रधानादिक एक कारण से जगत् की प्रवृत्ति नही होती। जन्य धर्मों को जनित करने के लिए जाति, हेतु और प्रत्ययो के सामग्र्य की अपेक्षा रहती है।

यह हेतु-प्रत्यय क्या है ? प्रत्यय चार हैं —हेतु-प्रत्यय, समनन्तर-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय, अधिपति-प्रत्यय। हेतु षड्विध है—कारण-हेतु, सहभू-हेतु, सभाग-हेतु, सम्प्रयुक्तक-हेतु, सर्वत्रग-हेतु, विपाक-हेतु।

पहले हम प्रत्ययता का विचार करेगे।

प्रत्यय

स्थविरवाद मे छ हेतु, पाँच फल का उल्लेख नही है। विभाषा (१६।८) में उक्त है कि यह सत्य है कि ये छ हेतु सूत्र में उक्त नही हैं। सूत्र मे केवल इतना उक्त है कि चार प्रत्ययता (प्रत्यय-प्रकार) हैं। जो धर्म जिस धर्म की उत्पत्ति या स्थिति मे उपकारक होता है, वह उसका प्रत्यय कहलाता है। प्रत्यय, हेतु, कारण, निदान, सम्भव, प्रभव आदि का एक ही अर्थ है।

१. हेतु-प्रत्यय—मूल का अधिवचन है। जो हेतुभाव से उपकारक धर्म है, वह हेतु-प्रत्यय है, जब एक धर्म दूसरे का प्रत्यक्ष-हेतु होता है, तब वह हेतु-प्रत्यय होता है। कारण-हेतु को वर्जित कर शेष पाँच हेतु हेतु-प्रत्यय हैं। यथा शालि-बीज शालि का हेतु-प्रत्यय है, कुशलादि भाव साधक कुशलादि का। हेतु और प्रत्यय के परस्पर के सम्बन्ध में विभाषा के प्रथम आचार्य कहते है—१ हेतु-प्रत्यय में कारण-हेतु को वर्जित कर पाँच हेतु सगृहीत हैं। २. कारण-हेतु मे अन्य तीन प्रत्यय सगृहीत हैं। द्वितीय आचार्य कहते हैं—१ हेतु-प्रत्यय मे पाँच हेतु संगृहीत हैं। २ कारण-हेतु केवल अधिपति-प्रत्यय के अनुरूप है। इस सिद्धान्त को वसुबन्धु स्वीकार करते हैं। महायान के आचार्यों के लिए सभाग-हेतु हेतु-प्रत्यय और अधिपति° दोनो हैं, अन्य पाँच हेतु अधिपति-प्रत्यय हैं।

२ समनन्तर-प्रत्यय—अर्हन् के निर्वाणकाल के चरम चित्त और चैत्त को वर्जित कर अन्य सब उत्पन्न चित्त-चैत्त समनन्तर-प्रत्यय है। यह प्रत्यय समनन्तर कहलाता है, क्योंकि यह सम और अनन्तर धर्मो का उत्पाद करता है। केवल चित्त-चैत्त समनन्तर° हैं, क्योंकि अन्य धर्मों के लिए, यथा रूपी धर्मों के लिए, हेतु और फल मे समता नहीं है। चित्त-नियम पूर्व-पूर्व चित्त के कारण समृद्ध होता है, अन्यथा नही। इसलिए, एक दूसरे के अनन्तर अनुरूप चित्तो-

त्पादि के उत्पादन में समर्थ धर्म समनन्तर-प्रत्यय है। प्रत्येक चैतसिक कलाप की स्थिति एक क्षण की होती है। जब यह कलाप निरुद्ध होता है, तब अन्य उसके स्थान में उत्पन्न होता है। पूर्व कलाप उत्तर कलाप के चारित्र को अभिसंस्कृत करता है अर्थात् उसके आकार को निश्चित करता है। किन्तु, यह उसका हेतु-प्रत्यय नहीं है, क्योंकि उत्तर कलाप का समुत्थान क्लेश-कर्मवश होता है। अत. नये कलाप का हेतु-प्रत्यय कर्म या अनुशय है, और पूर्ववर्ती कलाप उसका समनन्तर-प्रत्यय है। चित्त-प्रवाह के उत्तरोत्तर चित्तों में अधिक समानता और आनन्तर्य होता है, रूपी धर्मों में नही। अत. रूपी धर्म समनन्तर-प्रत्यय नही होते। वस्तुतः कामावचर-रूप के अनन्तर कदाचित् दो रूप कामावचर-रूप और रूपावचर-रूप उत्पन्न होते हैं। कदाचित् कामावचर और अनास्रव ये दो रूप उत्पन्न होते हैं, किन्तु कामावचर-चित्त के अनन्तर कामावचर और रूपावचर चित्त कभी युगपत् नहीं उत्पन्न होते। रूपो का सम्मुखीभाव आकुल है, किन्तु समनन्तर-प्रत्यय आकुल-फल नही प्रदान करता। अत. रूपी धर्म समनन्तर-प्रत्यय नही है।

सामान्यत, पूर्व चैत्त केवल स्वजाति के चैत्तो के नही, किन्तु अपर चैत्तो के भी समनन्तर-प्रत्यय है; किन्तु स्वजाति मे अल्प से बहुतर की, और विपर्यय मे बहुतर से अल्प की उत्पत्ति नही होती। यह 'समनन्तर' सम और अनन्तर इस शब्द को युक्त सिद्ध करता है।

रूपी धर्मों के समान चित्त-विप्रयुक्त संस्कारो का व्याकुल सम्मुखीभाव है, अत. वह समनन्तर-प्रत्यय नही है। वस्तुत. कामावचर प्राप्ति के अनन्तर त्रैधातुक और अप्रतिसंयुक्त (अनास्रवादि) धर्मों की प्राप्तियो का युगपत् सम्मुखीभाव होता है। अनागत धर्मों के समनन्तर-प्रत्ययत्व का प्रतिषेध करते हैं। अनागत धर्म व्याकुल है। अनागत अध्व में पूर्वोत्तर का अभाव है. अत. भगवान् कैसे जानते है कि अमुक अनागत धर्म की पूर्वोत्पत्ति होगी, अमुक की पश्चात् होगी ?

यत्किंचित् अपरान्त उत्पन्न होता है उन सबकी उत्पत्ति के क्रम को वह जानते हैं। बुद्ध-गुण और बुद्ध-गोचर अज्ञेय है। सौत्रान्तिकों के अनुसार भगवान् सर्व वस्तु को अपनी इच्छा के अनुसार प्रत्यक्षता — न कि अनुमानत, या निमित्तत —जानते हैं। दूसरे कहते हैं कि अतीत और साम्प्रत के अनुमान से उनका ज्ञान होता है। अन्य आचार्यो के अनुसार सत्त्वो के सन्तान में अनागत में उत्पन्न होनेवाले फलों का एक चिह्नभूत (लिंग) धर्म होता है, वह चित्त-विप्रयुक्त संस्कार-विशेष है। भगवान् उसका ध्यान करते हैं। अनागत-फल को जानते हैं।

३. आलम्बन-प्रत्यय—आलम्बन भाव से उपकारक धर्म आलम्बन-प्रत्यय है। सब धर्म, संस्कृत और असंस्कृत चित्त-चैत्त के आलम्बन प्रत्यय हैं, किन्तु अनियत रूप से नहीं। यथा सब रूप चक्षुर्विज्ञान और तत्सम्प्रयुक्त वेदनादि चैत्त के आलम्बन हैं। शब्द श्रोत्र-विज्ञान का आलम्बन है। सब धर्म मनोविज्ञान और तत्सम्प्रयुक्त चैत्त के आलम्बन हैं।

जब एक धर्म एक चित्त का आलम्बन होता है तब ऐसा नहीं होता कि यह धर्म किसी क्षण मे इस चित्त का आलम्बन न हो। अर्थात्, यद्यपि चक्षुर्विज्ञान रूप को आलम्बन रूप में

ग्रहण नही करता, तथापि यह आलम्बन है, क्योकि चाहे इसका ग्रहण आलम्बन-रूप में हो या न हो, इसका स्वभाव वही रहता है, यथा ईन्धन ईन्धन है, यद्यपि वह प्रदीप्त न हो।

४. **अधिपति-प्रत्यय**—प्रत्येक धर्म अप्रत्यक्ष रूप से दूसरे धर्म को प्रभावित करता है। कारण-हेतु अधिपति-प्रत्यय कहलाता है। दो दृष्टियो से 'अधिपति-प्रत्यय' सज्ञायुक्त है। अधिपति-प्रत्यय वह प्रत्यय है, जो वहुधर्मों का है, और जो वहुधर्मों का पति है ('अधिकोऽय प्रत्यय, अधिकस्य वा प्रत्यय')। सर्व धर्म मनोविज्ञान के आलम्बन-प्रत्यय हैं। किसी चित्त के सहभू-धर्म उस चित्त के सदा आलम्बन नही होते, वह उसके कारणहेतु होते हैं। अत, कारण-हेतु होने से, न कि आलम्बन-प्रत्यय होने से, सब धर्म अधिपति-प्रत्यय हैं। स्वभाव को वर्जित कर सब मस्कृत धर्म के कारण-हेतु है। कोई भी धर्म किसी भी नाम से स्वभाव का प्रत्यय नही होता। स्थविरवाद के अनुसार अधिपति 'ज्येष्ठ' के अर्थ में है। जिस-जिस धर्म के गुरुभाव से जिन-जिन अरूप धर्मो की प्रवृत्ति होती है, वह-वह धर्म उन-उन धर्मों के अधिपति-प्रत्यय है। जब छन्द को आगे करके चित्त प्रवृत्त होता है, तब छन्द अधिपति होता है, अन्य चैतसिक नही। छन्द, वीर्य, चित्त, मीमासा, मख्यात चार धर्म, अधिपति-प्रत्यय हैं। इस प्रकार, हम देखेंगे कि इन दो अर्थो में वडा अन्तर है।

प्रत्ययो का अध्वगत एव धर्मगत कारित्र

अध्वगत—प्रत्युत्पन्न, अतीत, अनागत इनमे से किस अवस्था में वे धर्म अवस्थान करते हैं, जिनके प्रति विविध प्रत्यय अपना कारित्र करते हैं?

हम पहले हेतु-प्रत्यय की समीक्षा करते है। प्रत्युत्पन्न धर्म मे दो हेतु कारित्र करते हैं। यह सहभू-हेतु और सम्प्रयुक्त-हेतु है। ये सहोत्पन्न धर्म मे अपना कारित्र करते है। अनागत धर्म में तीन हेतु—सभाग°, सर्वत्रग°, विपाक° कारित्र करते है।

समनन्तर° अनागत धर्म मे अपना कारित्र करता है, यथा अनागत धर्म में तीन हेतु अपना कारित्र करते हैं। एक क्षण के चित्त-चैत्त उत्पन्न चित्त-चैत्तो को अवकाश देते है।

आलम्बन-प्रत्यय प्रत्युत्पन्न धर्म में अपना कारित्र करता है, यथा प्रत्युत्पन्न धर्म में दो हेतु कारित्र करते है। ये प्रत्युत्पन्न धर्म चित्त-चैत्त है। ये आलम्वक है, जो वर्त्तमान हो वर्त्तमान आलम्वन ग्रहण का करते है। अधिपति-प्रत्यय का कारित्र केवल इतना है कि यह अनावरण-भाव से अवस्थान करता है। यह वर्त्तमान, अतीत, अनागत धर्म मे आवरण नही करता।

धर्मगत—विविध प्रकार के धर्म कितने प्रत्ययो के कारण उत्पन्न होते है?

चित्त और चैत्त चार प्रत्ययो से उत्पन्न होते हैं। इसमें एक अपवाद है। असज्ञि-समापत्ति और निरोध-समापत्ति में आलम्वन का ज्ञान नही होता। अत, इन-इन समापत्तियो में आलम्वन-प्रत्यय को वर्जित करना चाहिए। इन दो समापत्तियो की उत्पत्ति चित्ताभिसस्कार से होती है, अतः इनका समनन्तर-प्रत्यय है। यह समापत्ति चित्तोत्पत्ति में प्रतिवन्ध है। अत, ये व्युत्थान-चित्त के समनन्तर-प्रत्यय नही है, यद्यपि ये उसके निरन्तर है।

अन्य चित्त-विप्रयुक्त सस्कार और रूपी धर्म हेतु-प्रत्यय और अधिपति° के कारण उत्पन्न होते हैं।

रूपी धर्मों के सम्बन्ध में इतना विशेष कहना है कि महाभूत और भौतिक कैसे परस्पर हेतु-प्रत्यय होते हैं। पृथ्वी-धातु आदि चार भूत, भूत-चतुष्क के सभाग-हेतु और सहभू-हतु हैं। भूत-चतुष्टय रूप, रसादि भौतिको के पाँच प्रकार से हेतु है—जनन-हेतु, निश्रय-हेतु, उपस्तम्भ-हेतु, उपवृ हण-हेतु। भौतिक भूतो से उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर भूत का अनुविधान करते हैं। भूतो का आधार लेते हैं। पुन भूत भौतिको के अनुच्छेद और वृद्धि में हेतु हैं। अत, भूत भौतिको के जन्म-हेतु, विकार-हेतु, आधार-हेतु और वृद्धिहेतु हैं।

भौतिक भौतिको के तीन प्रकार से हेतु हैं—सहभू°, सभाग° और विपाक-हेतु। हम कारण-हेतु का उल्लेख नही करते, क्योकि सव धर्म मव धर्मों के कारण-हेतु हैं।

१. चित्तानुपरिवर्त्ति काय-वाक्-कर्म जो भौतिक हैं, और संवर प्रकार के हैं (ध्यान-सवर और अनास्रव°) सहभू-हेतु हैं।

२. सब उत्पन्न भौतिक सभाग-भौतिको के सभाग-हेतु हैं।

३. काय-वाक्-कर्म विपाक-हेतु हैं। चक्षु-कर्म विपाकादि से उत्पादित होता है।

भौतिक एक प्रकार से भूतो के हेतु हैं। काय-वाक्-कर्म भूतो का विपाक-फल के रूप में उत्पाद करते हैं।

स्थविरवाद के अनुसार प्रत्यय

स्थविरवाद के अनुसार २४ प्रत्यय हैं।

१. **हेतु-प्रत्यय**—वह धर्म है, जो मूलभाव से उपकारक है। यह धर्मों को सुप्रतिष्ठित करता है, यथा शालि का शालि-बीज।

२ **आलम्बन°**—वह धर्म है, जो आलम्बनभाव से उपकारक है, यथा रूपायतन चक्षु-विज्ञान-धातु का आलम्बन° है।

३. **अधिपति°**—वह धर्म है, जो गुरुभाव से उपकारक है। जव छन्द, अग्र और ज्येष्ठ होकर चित्त प्रवृत्त होता है, तव छन्द अधिपति° होता है। दूसरा चैतसिक नही।

४. **अनन्तर°**—वह धर्म है, जो अनन्तर भाव से उपकारक है।

५. **समनन्तर°**—वह धर्म है, जो समनन्तरभाव से उपकारक है। ये दोनो एक हैं, नाम का भेद है, अर्थ मे भेद नही है। यथा चक्षुर्विज्ञान-धातु मनोधातु का अनन्तर° है। चक्षु-विज्ञान-धातु के अनन्तर मनोधातु, मनोधातु के अनन्तर मनोविज्ञान-धातु, यह चित्त-नियम है। यह नियम पूर्व-पूर्व चित्त के कारण समृद्ध होता है, अन्यथा नही। अत, अपने-अपने अनन्तर अनुरूप चित्तोत्पाद के उत्पादन मे समर्थ धर्म अनन्तर° है।

६. **सहजात°**—वह धर्म है, जो सहोत्पादभाव से उपकारक है। यथा प्रकाश का प्रदीप सहजात° है। चार अरूपी स्कन्ध एक दूसरे के सहजात-प्रत्यय हैं, इसी प्रकार चार

महाभूत है। चित्त-चैतसिक धर्म चित्त-समुत्थान रूप के सहजात-प्रत्यय है, महाभूत उपादाय-रूप के है। रूपी धर्म अरूपी धर्मों के कभी सहजात⁰ होते है, कभी नही।

७. अन्योन्य⁰—वह धर्म है, जो उत्पाद उपष्टम्भभाव से उपकारक है, यथा त्रिदण्ड, जो एक दूसरे का उपष्टम्भक है। चार अरूपी स्कन्ध अन्योन्य-प्रत्यय है। चार महाभूत अन्योन्य-प्रत्यय है।

८ निश्रय⁰—वह धर्म है, जो अधि ठान के आकार में उपकारक है, यथा वृक्ष का निश्रय-प्रत्यय पृथ्वी है, चित्र का पट है, चक्षुरायतन चक्षुर्विज्ञान-धातु का निश्रय-प्रत्यय है।

९ उपनिश्रय⁰—वह धर्म है, जो वलवत्कारणभाव से उपकारक है। 'उप' का अर्थ 'भृशम्' है। यह तीन प्रकार का है—आलम्वनोपनिश्रय, अनन्तरूपनिश्रय, प्रकृत्युपनिश्रय।

१. जिस आलम्वन को गुरु कर चित्त-चैतसिक की उत्पत्ति होती है, वह आलम्वन वलवत् होता है। यथा दान देकर, शील का समादान कर, उपोसथ कर्म कर, उसको गुरु समझता है। यह आलम्वनोपनिश्रय है।

२ पश्चिम चित्त के उत्पादन में पूर्व चित्त की अनन्तरूपनिश्रयता है। पूर्व-पूर्व कुशल-स्कन्ध पश्चिम-पश्चिम कुशल स्कन्धो के अनन्तरूपनिश्रय हैं। यह वलवत् प्रत्यय है।

३ प्रकृत्युपनिश्रय वह धर्म है, जो प्रकृतिभाव से उपनिश्रय है। अपनी सन्तान में निष्पादित श्रद्धा-शीलादि या उपसेवित ऋतु-भोजनादि प्रकृति है, यथा श्रद्धा के निश्रय लेकर दान देना, शील का समादान करना .इत्यादि।

१० पूर्वजात⁰—वह धर्म है, जो प्रथमतर उत्पन्न होकर वर्त्तमानभाव से उपकारक है, यथा चक्षुरायतन चक्षुर्विज्ञान⁰ का पुरोजात प्रत्यय है।

११ पश्चात्-जात⁰—वह अरूप धर्म है, जो पूर्वजात रूप-धर्मों का उपस्तम्भकभाव से उपकारक है। पश्चाज्जात चित्त-चैतसिक धर्म पूर्वजात काय के पश्चाज्जात प्रत्यय हैं।

१२ आसेवन⁰—वह धर्म है, जो अनन्तरो का प्रगुणभाव से उपकारक धर्म है।

१३. कर्म⁰—चित्त-प्रयोग सख्यात क्रियाभाव से उपकारक धर्म है। चेतना-सम्प्रयुक्त धर्मों का और तत्समुत्पन्न रूपो का कर्म-प्रत्यय है।

१४ विपाक⁰—निरुत्साह शान्तभाव का उपकारक धर्म है। चार विपाक-स्कन्ध अरूपी के विपाक-प्रत्यय हैं।

१५ आहार⁰—इस काय का कवडीकार आहार आहार-प्रत्यय है। अरूपी आहार सम्प्रयुक्त धर्मो के आहार-प्रत्यय हैं।

१६. इन्द्रिय⁰—स्त्री-पुरुषेन्द्रिय को वर्जित कर शेष २० इन्द्रिय अधिपति रूप से उपकारक है।

१७ ध्यान⁰—यह ध्यानवश उपकारक धर्म है।

१८ मार्ग॰—मार्गांग निर्याण के लिए उपकारक है।

१९. **सम्प्रयुक्त**°—सप्रयुक्त भाव से उपकारक धर्म।

२० **विप्रयुक्त**°—विप्रयुक्त भाव से उपकारक धर्म।

२१ **अस्ति**°—प्रत्युत्पन्न लक्षणवश अस्तिभाव से तादृश धर्म का उपष्टम्भन करता है।

२२ **नास्ति**°—यह समनन्तर निरुद्ध अरूप धर्म है, जो अनन्तर उत्पद्यमान अरूप धर्मों को प्रवृत्ति का अवकाश देता है।

२३. **विगत**°—यह विगतभाव से उपकारक है। समनन्तर विगत चित्त-चैतसिक प्रत्युत्पन्न चित्त-चैतसिको के विगत-प्रत्यय है।

२४ **अविगत**°—अस्तिप्रत्यय धर्म ही अविगतभाव से उपकारक है।

इन चौवीस प्रत्ययो को छ प्रकार से सगृहीत करते है—

१ नाम (अरूपी धर्म) का नाम से सम्बन्ध।

२ नाम का नाम-रूप से सम्बन्ध।

३ नाम का रूप से सम्बन्ध।

४ रूप का नाम से सम्बन्ध।

५. प्रज्ञप्ति का नाम से सम्बन्ध।

६ नाम-रूप का नाम से सम्बन्ध।

अन्तिम दो केवल अभिधम्मत्थसगहो मे है।

१. अनन्तर-निरुद्ध चित्त-चैतसिक धर्म प्रत्युत्पन्न चित्त-चैतसिक धर्मो के अनन्तर° समनन्तर°, नास्ति°, विगत° प्रत्ययवश प्रत्यय है। पूर्व चित्त-चैतसिक धर्म पश्चिम चित्त-चैतसिक के आसेवनवश प्रत्यय है। सहजातधर्म सप्रयुक्तवश अन्योन्य-प्रत्यय है।

२ तीन अकुशल-हेतु और तीन कुशलहेतु मे से कोई सहजात चित्त-चैतसिक और रूप के प्रत्यय होते है। इसी प्रकार सात ध्यान के अग, बारह मार्गा ग नाम-रूप के प्रत्यय होते है। सहजात चेतना सहजात नामरूप का प्रत्यय होती है। नानाक्षणिका चेतना कर्मवश कम मे अभि-निर्वृत नाम-रूप का प्रत्यय होती है। विपाक-स्कन्ध विपाकवश सहजात रूप के अन्योन्य-प्रत्यय है।

३ पूर्वजात काय का पश्चाज्जात चित्त-चैतसिक धर्म पश्चाज्जात प्रत्यय है।

४ पूर्वजात° वश रूप-नाम का प्रत्यय होता है। यथा चक्षुर्वस्तु चक्षुर्विज्ञान-धातु का।

५ आलम्बन° और उपनिश्रय° वश प्रज्ञप्ति-नामरूप नाम के प्रत्यय होते है।

६ अधिपति°, सहजात°, अन्योन्य°, निश्रय°, आहार°, इन्द्रिय°, विप्रयुक्त°, अस्ति°, अवगत° वश नाम-रूप नाम के प्रत्यय होते है।

हेतु

१ **कारण-हेतु**—कोई धर्म अपना कारण-हेतु नही है। सब धर्म स्वत मे अन्य सब सस्कृत धर्मो के कारण-हेतु है, क्योकि उत्पत्तिमान् धर्मो के उत्पाद के प्रति प्रत्येक धर्म का अविघ्नभाव से अवस्थान होता है। यह नही है कि उन सबका कारकभाव है। इस लक्षण से

यह परिणाम निकलता है कि सहभू-हेतु आदि धर्म भी कारण-हेतु है। अन्य हेतु कारण-हेतु के अन्तर्गत है। जिस हेतु का कोई विशेष नाम नही है, जो विना किसी विशेषण के कारणमात्र है, वह कारण-हेतु है। एक विशेष नाम के योग से यह वह नाम पाता है, जो सब हेतुओ के उपयुक्त है।

कारण-हेतु का निर्देश हमने किया है। वह सामान्य निर्देश है, और उसमे प्रधान कारण-हेतु तथा अप्रधान कारण-हेतु दोनो सगृहीत है। प्रधान कारण-हेतु जनक है। इस अर्थ में चक्षु और रूप चक्षुर्विज्ञान के कारण-हेतु है, यथा आहार शरीर का कारण-हेतु है, बीजादि अकुरादि के कारण-हेतु है।

निर्वाण भी कारण-हेतु हो सकता है। एक मनोविज्ञान उत्पन्न होता है, निर्वाण उसका आलम्बन है, पश्चात् इस मनोविज्ञान से एक चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है, अत चक्षुर्विज्ञान के प्रति निर्वाण का परम्परया सामर्थ्य है।

२ सहभू-हेतु—जो धर्म परस्पर पुरुषकार-फल (२।५८) है, वे समभू-हेतु कहलाते है। यह नही कहते कि सब सहभू-धर्म सहभू-हेतु है। यथा : नीलादि भौतिक रूप महाभूतो का सहभू है, किन्तु यह उनका सहभू-हेतु नहीं है।

यथा महाभूत अन्योन्य के सहभू-हेतु है, यथा चित्त और चित्तानुवर्त्ती, यथा जाति आदि लक्षण और वह धर्म, जो उनका लक्ष्य है।

सब सस्कृत धर्म यथायोग सहभू-हेतु है। जिन धर्मो का अन्योन्यफलत्व है, उन्ही का सहभू-हेतुत्व है। सब सस्कृत धर्म और उसके लक्षण एक दूसरे के सहभू-हेतु है, किन्तु एक धर्म अन्य धर्म के लक्षणो का सहभू-हेतु नही है।

पूर्व लक्षण सावशेष है। एक धर्म अपने अनुलक्षणो का सहभू-हेतु है, किन्तु इसका उनके साथ अन्योन्य-फल-सम्बन्ध नही है, क्योकि अनुलक्षण अपने धर्म के सहभू-हेतु नही है।

चित्तानुपरिवर्त्ती कौन है ? सब चित्त-सम्प्रयुक्त धर्म, ध्यान-सवर और अनास्रव-सवर, इन सबके और चित्त के जात्यादिलक्षण चित्तानुपरिवर्त्ती है।

अनुवर्त्ती चित्त से कालत सम्प्रयुक्त है, चित्त के साथ इनका एकोत्पाद, एक स्थिति, एक निरोध है, यह और चित्त एक अध्व मे पतित है। अनुवर्त्ती के उत्पाद, स्थिति और निरोध का काल वही है, जो चित्त का है। किन्तु, उनकी उत्पत्ति पृथक् है।

अनुवर्त्ती चित्त से फलादित सम्प्रयुक्त है। यहाँ फल पुरुषकार-फल और विसयोग-फल है। 'आदि' से विपाक-फल और निष्यन्द-फल का ग्रहण होता है। एक फल, एक विपाक, एक निष्यन्द से वह चित्त का अनुपरिवर्त्तन करते हैं।

अनुवर्त्ती चित्त से शुभादित सम्प्रयुक्त है। जिस चित्त का वह अनुपरिवर्त्तन करते है, उसी के सदृश कुशल, अकुशल, अव्याकृत होते है।

सर्वाल्पचित्त ५८ धर्मो का सहभू-हेतु है, अर्थात् १ दस महाभूमिक और प्रत्येक के चार-चार लक्षण, २. चार स्वलक्षण और चार अनुलक्षण।

यदि इन ५८ धर्मों में से चित्त के चार अनुलक्षणो को वर्जित कर दे, जिनका इस चित्त में कोई व्यापार नही है, तो ५४ धर्म शेष रहते हैं, जो उक्त चित्त के सहभू-हेतु होते हैं।

प्रत्येक धर्म, जो सहभू-हेतु से हेतु है, सहभू है। किन्तु, ऐसे सहभू हैं, जो सहभू-हेतु नही है।

१ मूल धर्म के अनुलक्षण इस धर्म के सहभू-हेतु नहीं है।

२ यह अनुलक्षण अन्योन्य के सहभू-हेतु नही है।

३ चित्तानुपरिवर्त्ती के अनुलक्षण चित्त के सहभू-हेतु नही हैं।

४. यह अन्योन्य के सहभू-हेतु नही हैं।

५ नीलादि भौतिक रूप जो सप्रतिघ और सहज है, अन्योन्य के सहभू-हेतु नही हैं।

६. अप्रतिघ और सहज उपादाय-रूप का एक भाग परस्पर सहभू-हेतु नही है। दो संवरो को वर्जित करना चाहिए।

७ सर्व उपादाय-रूप यद्यपि भूतो के साथ उत्पन्न हुआ हो, भूतो का सहभू-हेतु नही हैं।

८ प्राप्तिमान् धर्म के साथ सहोत्पाद होने पर भी सहज प्राप्ति उसका सहभू-हेतु नही होती।

यह आठ प्रकार के धर्म सहभू हैं, किन्तु सहभू-हेतु नही हैं।

सहभू-हेतुत्व पर सौत्रान्तिक मतभेद—सौत्रान्तिक सहभू-हेतुत्व की आलोचना करते हैं। वह कहते हैं कि लोक में कुछ का हेतु-फल-भाव सदा सुव्यवस्थापित है, हेतु फल का पूर्ववर्त्ती है, इसलिए बीज अंकुर का हेतु है, अंकुर काण्ड का हेतु है,. इत्यादि। किन्तु सहोत्पन्न अर्थो मे यह न्याय नही देखा जाता। अत, आपको सिद्ध करना होगा कि सहभू धर्मों का हेतु-फल-भाव होता है। सर्वास्तिवादी अपने मत के समर्थन मे दो दृष्टान्त देते हैं। प्रदीप सप्रभ उत्पन्न होता है, आतप मे उत्पद्यमान अंकुर सच्छाय उत्पन्न होता है। किन्तु, प्रदीप सहोत्पन्न प्रभा का हेतु है, अंकुर छाया का हेतु है। अत, हेतु-फल सहोत्पन्न हैं।

सौत्रान्तिक कहते हैं कि यह दृष्टान्त असिद्ध हैं। इसका सम्प्रधारण होना चाहिए कि प्रदीप सहोत्पन्न प्रभा का हेतु है, अथवा जैसा कि हमारा मत है, वर्त्तिस्नेहादिक पूर्वोत्पन्न हेतु-प्रत्यय-सामग्री सप्रभ प्रदीप की उत्पत्ति मे हेतु है, यथा पूर्वोत्पन्न हेतु-सामग्री (बीज, आतपादि,) अंकुर और छाया की उत्पत्ति में, सच्छाय अंकुर की उत्पत्ति मे हेतु है।

सर्वास्तिवादी—हेतु-फल-भाव इस प्रकार व्यवस्थापित होता है। हेतु का भाव होने पर फल का भाव होता है। हेतु का अभाव होने पर फल का अभाव होता है। हेतुविद् का लक्षण सुष्ठु है। जब 'क' के भाव-अभाव से 'ख' का भाव-अभाव नियमत होता है, तब 'क' हेतु है, 'ख' हेतुमान् है। इस प्रकार, यदि हम सहभू-धर्म और सहसहेतु-धर्म का सम्प्रधारण

करते है, तव हम देखते है कि एक का भाव होने पर सवका भाव होता है, और एक का अभाव होने पर सवका अभाव होता है। अत, उनका परस्पर हेतु-फल-भाव युक्त है ।

सौत्रान्तिक—हम मानते है कि सहोत्पन्न धर्मो मे एक धर्म दूसरे धर्म का हेतु हो सकता है। चक्षुरिन्द्रिय चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति मे हेतु है, किन्तु सहोत्पन्न धर्म परस्पर हेतु और फल कैसे होगे ?

सर्वास्तिवादी—हमने जो हेतु-फल-भाव का निर्देश किया है, उससे अन्योन्य हेतु-फल-भाव व्यवस्थापित होता है। जव चित्त का भाव होता है, तव चैत्तो का भाव होता है और अन्योन्य ।

सौत्रान्तिक–किन्तु, उस अवस्था मे सर्वास्तिवादी को अपने सिद्धान्त को वदलना होगा। वास्तव में, उन्होने उपादाय-रूप के अन्योन्य हेतु-फल-भाव का निषेध किया है, यद्यपि रूप का रस के विना अस्तित्व नही होता। उन्होने उपादाय-रूप और महाभूतो के अनुलक्षण और चित्त के अन्योन्य हेतु-फल-भाव का प्रतिषेध किया है ।

सर्वास्तिवादी—यथा त्रिदण्ड का अन्योन्य-वल से अवस्थान होता है, उसी प्रकार सहभू चित्त-चैत्तादि का हेतु-फल-भाव सिद्ध है ।

सौत्रान्तिक—इस नये दृष्टान्त की मीमामा होनी चाहिए। प्रश्न है कि क्या त्रिदण्ड का अवस्थान सहोत्पन्न तीन दण्डो के वल से होता है अथवा क्या जिस प्रकार पूर्व सामग्रीवश उनका सहभाव होता है, उसी प्रकार पश्चात् अन्योन्याश्रित का उत्पाद नही होता ? पुनः अन्योन्य-वल के अतिरिक्त अन्य किंचित् भी यहाँ होता है–सूत्रक, शकुक, धारिका पृथिवी ।

किन्तु, सर्वास्तिवादी का कहना है कि सहभू के हेतु से अन्य हेतु भी होते है, अर्थात् सभाग-हेतु, सर्वत्रग-हेतु, विपाक-हेतु जो सूत्रकादि स्थानीय है । अत, सहभू-हेतु सिद्ध है ।

३. सभाग-हेतु—सदृश धर्म सभाग-हेतु है। सभाग सभाग के सभाग-हेतु है । पाँच कुशल-स्कन्ध पाँच कुशल-स्कन्ध के सभाग-हेतु हैं ।

एक निकाय-सभाग मे प्रथम गर्भावस्था दस अवस्थाओ का सभाग-हेतु है। प्रत्येक अवस्था का पूर्व क्षण इस अवस्था के अपर क्षणो का सभाग-हेतु है। समानजातीय अनन्तर निकाय-सभाग मे पूर्वजन्म की प्रत्येक दस अवस्थाओ का सभाग-हेतु है । यव, व्रीहि आदि वाह्य अर्थो का भी ऐसा ही है। सभाग-हेतुत्व स्वसन्तान में ही होता है। यव का सभाग-हेतु है, शालि का नही ।

सव सभाग-धर्म सभाग-धर्मो के सभाग-हेतु नही है । वे सभाग-धर्म सभाग-हेतु है, जो स्वनिकाय और स्वभूमि के है । स्वभूमि का नियम केवल सास्रव धर्मो के लिए है, अनास्रव धर्मो के लिए नही है । धर्म पाँच निकायो मे विभक्त है, यथा वह चार सत्यो में से एक-एक के दर्शन से हेय है, या भावना-हेय है । धर्मो की नौ भूमियाँ है वे, कामधातु के है। चार ध्यानो में से किसी एक के है, या चार आरूप्यो में से किसी एक के है । दुःख-दर्शन-

हेय-धर्म दु ख° धर्म का सभाग-हेतु है। अन्य चार निकायो के धर्मों का नही है। दु ख° धर्मों में जो कामधातु का है, वह कामधातु के धर्म का सभाग-हेतु है..एवमादि।

वस्तुतः, केवल वह धर्म सभाग-हेतु है, जो अग्रज है। पूर्वोत्पन्न (अग्रज) अतीत पश्चात् उत्पन्न अतीत सभाग-धर्म का सभाग-हेतु है। पूर्वोत्पन्न, प्रत्युत्पन्न, पश्चात् उत्पन्न, सभाग-धर्म सभाग-हेतु है। अग्रज अतीत-प्रत्युत्पन्न, पश्चात्-उत्पन्न अनागत सभाग-धर्मों का सभाग-हेतु है। किन्तु, अनागत-धर्म सभाग-हेतु नही है। इस विषय में ऐकमत्य नही है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि स्वभूमि का नियम अनास्रव धर्मो के लिए नही है। नव-भूमिक मार्ग अन्योन्य का सभाग-हेतु है। मार्ग इस अर्थ मे नवभूमिक है कि योगी समापत्ति की इन नौ अवस्थाओ मे—अनागम्य, ध्यानान्तर, चार मूल ध्यान, प्रथम तीन अधर आरूप्य में विहार कर मार्ग की भावना कर सकता है। तुल्य-भूमि-भेद मे मार्ग-धर्म मार्ग-धर्म में सभाग-हेतु है। वस्तुत, इन भूमियो मे मार्ग आगन्तुक-सा है, यह भूमियो के धातुओ मे पतित नही है।

कामावचर, रूपावचर, आरूप्यावचर तृष्णा मार्ग को स्वीकृत नही करती। चाहे जिस भूमि का सन्निश्रय लेकर योगी मार्ग की भावना करता हो, मार्ग समानजातीय रहता है, अत. मार्ग मार्ग का सभाग-हेतु है।

सर्व मार्ग सर्व मार्ग का सभाग-हेतु नही होता। जिस भूमि मे इसकी भावना होती है, उसका सम्प्रधारण नही करना है, किन्तु मार्ग के स्वलक्षणो का विचार करना है। मार्ग सम या विशिष्ट मार्ग का सभाग-हेतु है, न्यून मार्ग का नही, क्योकि मार्ग सदा प्रयोगज है।

जब अतीत या प्रत्युत्पन्न दु खे धर्म° उसी (प्रथम क्षण) प्रकार की अनागत क्षान्ति का सभाग-हेतु होता है, तब कार्यमार्ग कारणमार्ग के सम होता है। यह क्षान्ति द्वितीय क्षण का सभाग-हेतु होती है, तब कार्यमार्ग कारणमार्ग से विशिष्ट होता है, एवमादि यावत् अनुत्पाद-ज्ञान, जो अपना विशिष्ट न होने से केवल सम मार्ग का सभाग-हेतु हो सकता है। प्रयोगज लौकिक धर्म सम या विशिष्ट धर्मों के सभाग-हेतु है, हीन धर्मो के नही। प्रायोगिक धर्म श्रुतमय, चिन्तामय, भावनामय है। ये उपपत्ति-प्रतिलम्भिक धर्मों के प्रतिपक्ष है। प्रायोगिक होने से ये हीन के सभाग-हेतु नही होते। कामावचर श्रुतमय धर्म कामावचर श्रुतमय और चिन्तामय धर्मो के सभाग-हेतु है, भावनामय धर्मो के नही, क्योकि कामधातु में भावनामय का अभाव होता है, क्योकि कोई भी धर्म स्वधातु के धर्मो का ही सभाग-हेतु होता है। रूपावचर श्रुतमय धर्म रूपावचर श्रुतमय और भावनामय धर्मो के सभाग-हेतु है, चिन्तामय धर्मों के नही, क्योकि इस धातु मे जब चिन्तन आरम्भ करते है, तब समाधि उपस्थित होती है। रूपावचर भावनामय धर्म रूपावचर भावनामय धर्मो के सभाग-हेतु है, रूपावचर श्रुतमय धर्मों के नही, क्योकि यह हीन है, एवमादि।

४. **सम्प्रयुक्तक-हेतु**—केवल चित्त और चैत्त जिनका अभिन्न आश्रय है, सम्प्रयुक्तक-हेतु है। भिन्न कालज, भिन्न सन्तानज चित्त-चैत्त सम्प्रयुक्तक-हेतु नही है। यथा चक्षुरिन्द्रिय का एक

क्षण एक चक्षुर्विज्ञान तथा विज्ञान-सम्प्रयुक्त वेदना और अन्य चैत्तों का आश्रय है। जो सम्प्रयुक्तक-हेतु है, वह सहभू-हेतु भी है। इन दो हेतुओ मे क्या भेद है? धर्म सहभू-हेतु कहलाते है, क्योकि वे अन्योन्य-फल है। यथा सहसार्थिको का मार्ग-प्रयाण परस्पर बल से होता है, इसी प्रकार चित्त चैत्त का फल है, चैत्त चित्त का फल है। धर्म सम्प्रयुक्तक-हेतु कहलाते है, क्योकि उनकी सम-प्रवृत्ति होती है, अर्थात् उनमे पूर्वनिर्दिष्ट पाँच समता—आश्रय, आलम्बन, आकार, काल, द्रव्य-समता—होती है। सहसार्थिको की यात्रा अन्योन्य बल से होती है, पुन: उनकी सम-अन्नपानादिपरिभोग-क्रिया होती है। इसी प्रकार, चित्त और चैत्त के अभिन्न आश्रय, अभिन्न आकारादि होते है। यदि पाँच समताओ में से किसी एक का भी अभाव हो, तो उनकी समप्रवृत्ति नही होती और वह सम्प्रयुक्त नही होते।

५. **सर्वत्रग-हेतु**—*ग्यारह अनुशय 'सर्वत्रग' कहे गये है,* क्योकि ये अपने धातु को साकल्यत आलम्बन बनाते है। इसका यह अर्थ नही है कि सर्वत्रग युगपत् सकल स्वधातु को आलम्बन बनाते है, किन्तु पचप्रकार (निकाय) का धातु इनका आलम्बन होता है। ये ग्यारह अनुशय इस प्रकार है—दु खदर्शन-प्रहेय पाँच दृष्टियाँ, समुदयदर्शन-प्रहेय मिथ्या° दृष्टि°, दु ख-समुदयप्रहेय अविद्या-द्वय।

पूर्व सर्वत्रग स्वभूमिक पश्चिम क्लिष्ट धर्मो के सर्वत्रग-हेतु है। सर्वग क्लिष्ट धर्म के ही सामान्य कारण है। ये निकायान्तरीय क्लिष्ट धर्मो के भी हेतु है। इनके प्रभाव से अन्य निकायो में उत्पन्न क्लेश सपरिवार उत्पन्न होते है। अत., सभाग-हेतु से पृथक् इनकी व्यवस्था होती है। सर्वत्रग सर्वक्लेश निकायो को प्राप्त होते है, सर्वभाक् होते है, सबको आलम्बन बनाते है।

यह हेतु सभाग-हेतु से अधिक व्यापक है, क्योकि यह स्वनिकाय में सीमित नही है।

६. **विपाक-हेतु**—अकुशल-धर्म और कुशलसास्रव-धर्म विपाक-हेतु है। ये केवल विपाक-हेतु है, क्योकि इनकी विपक्ति की प्रकृति है। अव्याकृत धर्मों मे स्वपक्ति का अभाव होता है। वे दुर्बल है, अत वे विपाक-हेतु नही है। अनास्रव धर्मों में सहकारिकारण नही होता। वह तृष्णा से अभिष्यन्दित नही है, अत वह विपाक-हेतु नही है, यथा सारबीज जल से अभिष्यन्दित न होने पर अकुर की अभिनिर्वृ ति नही करते। पुन अनास्रव धर्म किसी धातु में प्रतिसयुक्त नही है। जो धर्म अव्याकृत और अनास्रव नही है, वे उभय प्रकार से, अर्थात् स्वबल, अर्थात् तृष्णाभिष्यन्द से अन्वित होते है, और विपाक को निर्वृ त करते है, यथा अभिष्यन्दित सारबीज।

'विपाक' का अर्थ है 'विसदृश पाक'। केवल विपाक-हेतु एक विसदृश पाक ही प्रदान करता है। सहभू, सम्प्रयुक्तक, सभाग, सर्वत्रग हेतु के पाक सदृश ही होते है। कारण-हेतु का फल सदृश या विसदृश होता है। केवल विपाक-हेतु नित्य विसदृश फल देता है, क्योकि विपाक-हेतु कभी अव्याकृत नही होता, और उसका फल सदा अव्याकृत होता है।

वस्तुत , कर्म दो प्रकार के होते है—एक जिनका फल विच्छिन्न है, दूसरे जिनका फल अविच्छिन्न है, वाह्य बीजवत् ।

एकाध्विक कर्म का विपाक त्रैयध्विक होता है, किन्तु विपर्यय नही होता, क्योकि फल हेतु से अति न्यून नही होता । एकक्षणिक कर्म का विपाक वहुक्षणिक हो सकता है, किन्तु उसी कारण से विपर्यय ठीक नही है । कर्म के साथ विपाक विपच्यमान नही होता, क्योकि जिस क्षण में कर्म का अनुष्ठान होता है, उस क्षण मे विपाक-फल का आस्वादन नही होता । कर्म के अनन्तर भी विपाक नही होता, क्योकि समनन्तर क्षण समनन्तर-प्रत्यय से आकृष्ट होता है । वस्तुतः, विपाक-हेतु अपने फल के लिए प्रवाहापेक्ष हे ।

सर्वत्रग-हेतु और सभाग-हेतु दो अध्व के होते हैं । शेप तीन हेतु त्र्यध्वक है । अतीत प्रत्युत्पन्न धर्म सर्वत्रग सभाग-हेतु हो सकते है । अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत धर्म सम्प्रयुक्तक, सहभू और विपाक-हेतु हो सकते हे । सर्वाध्वग सस्कृत-धर्म कारणहेतु है । असस्कृत धर्म अध्व-विनिर्मुक्त है ।

फल

वह कौन फल है, जिनके ये पूर्वोक्त हेतु है ? किन फलो के कारण ये हेतु अवधारित होते हैं ?

सस्कृत और विसयोग फल है । विसयोग-फल निर्वाण है । यह एक असस्कृत है । यह अहेतुक है । इसका फल नही है, किन्तु यह कारण-हेतु है, और फल है । सर्वास्तिवादी कहते है कि केवल सस्कृत के हेतु-फल होते है, असस्कृत के हेतु और फल नही होते, क्योकि पड्विध हेतु और पचविध फल असस्कृत के लिए असम्भव है। यदि ऐसा है, तो विसयोग फल कैसे है ? यह किसका फल है ? यह मार्ग का फल है, क्योकि इसकी प्राप्ति मार्ग-वल से होती है। दूसरे शब्दो में योगी मार्ग से विसयोग की प्राप्ति का प्रतिलाभ करते है, अत विसयोग का प्रतिलाभ, उसकी प्राप्ति-मार्ग का फल है। विसयोग स्वय फल नही है, क्योकि मार्ग का सामर्थ्य विसयोग की प्राप्ति के प्रति है । विसयोग के प्रति उसका असामर्थ्य है ।

हेतु के आधार पर फल-निर्वृति की व्यवस्था—अव हम वताते है कि किस प्रकार के हेतु से किस प्रकार का फल निर्वृत होता है ।

विपाक⁰ विपाक-हेतु का फल है। विपाक कुशल या अकुशल सास्रव धर्मो से उत्पादित होता है । हेतु कुशल या अकुशल है, किन्तु फल सदा अव्याकृत है, क्योकि यह फल स्वहेतु से भिन्न है, और 'पाक' है, इसलिए इसे 'विपाक' कहते है ।

भाजन-लोक सत्त्व-समुदाय के कुशल-अकुशल कर्मो से जनित है । यह अव्याकृत है, किन्तु यह विपाक नही है, क्योकि विपाक एक सत्त्व-सख्यात धर्म है । अत , यह कारणहेतुभूत कर्मो का **अधिपति-फल** है । कारण-हेतु से अधिपति-फल निर्वृत होता है ।

किन्तु, यह कहा जायगा कि अनावरण-भावमात्रावस्थान ही कारण-हेतु है । इसको 'अधिपति' कैसे मान सकते है ? कारण-हेतु या तो 'उपेक्षक' है, उस अवस्था मे इसे अधि-पति अवधारण करते है, क्योकि इसका अनावरणभाव है। अथवा यह 'कारक' है और

इसे अधिपति मानते है, क्योकि इसका प्रधानभाव, जनकभाव और अगीभाव है, यथा दस आयतन (रूपादि और चक्षुरादि) पच विज्ञानकाय की उत्पत्ति मे अधिपति है, और सत्त्वो के समुदित कर्म का भाजन-लोक के प्रति अगीभाव है। श्रोत्र का चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में पारम्पर्येण आधिपत्य है, क्योकि सुनकर द्रष्टुकामता की उत्पत्ति होती है, . एवमादि।

निष्यन्द० सभाग और सर्वत्रग-हेतु का फल है, क्योकि इन दो हेतुओ का फल स्वहेतु के सदृश है। अत , इन दो हेतुओ से निष्यन्द-फल निर्वृत होता है।

पुरुषकार० (पौरुष-फल) सहभू-हेतु और सम्प्रयुक्तक-हेतु का फल है। पुरुपकार पुरुषभाव से व्यतिरिक्त नही है, क्योकि कर्म कर्मवान् से अन्य नही है।

जिस धर्म का जो कारित्र है, वह उसका पुरुषकार कहलाता है, क्योकि वह पुरुषकार के सदृश हे। एक मत के अनुसार विपाक-हेतु को छोड़कर अन्य हेतुओ का भी यही फल होता है। वस्तुत , यह फल सहोत्पन्न है या समनन्तरोत्पन्न है, किन्तु विपाक-फल ऐसा नही है। अन्य आचार्यो के अनुसार विपाक-हेतु का एक विप्रकृष्ट पुरुषकार-फल भी होता है।

अब भिन्न फलो के लक्षण का विचार करते हैं।

विपाक एक अव्याकृत धर्म हैं। यह सत्त्वाख्य है। यह उत्तरकाल मे व्याकृत से उत्पन्न होता है। अकुशल और कुशल सास्रव कर्म से उत्तरकाल मे युगपत् या अनन्तर नही। जो होता है वह विपाक-फल है। विपाक-फल स्वकीय है, जिस कर्म की निष्पत्ति मैंने की है, उसके विपाक-फल का भोग दूसरा नही करता है।

हेतुसदृश-फल निष्यन्द कहलाता है। सभाग-हेतु और सर्वत्रग-हेतु यह हेतु-द्वय निष्यन्द-फल प्रदान करते है। सर्वत्रग-हेतु का फल १. भूमित सदा हेतु 'सदृश' है, २. क्लिष्टतया हेतु-सदृश है, किन्तु प्रकारत उसका हेतु से सादृश्य नही है। प्रकार (निकाय) से अभिप्राय प्रहाण-प्रकार से है—दु खादिसत्यदर्शन प्रहातव्य। किन्तु जिसका प्रकारत भी सादृश्य होता है, वह सर्वत्रग-हेतु सभाग-हेतु भी अभ्युपगत होता है। अतएव, चार कोटि हैं—

१. असर्वत्रग सभाग-हेतु—यथा रागादिक स्वनैकायिक क्लेश का सभाग-हेतु है। सर्वत्रग-हेतु नही है।

२. अन्य नैकायिक सर्वत्रग-हेतु—सर्वत्रग क्लेश अन्य नैकायिक क्लेश का सर्वत्रग-हेतु है; सभाग-हेतु नही है।

३ एक नैकायिक सर्वत्रग-हेतु—सर्वत्रग क्लेश एक नैकायिक क्लेश का सभाग-हेतु और सर्वत्रग-हेतु है।

४. इन आकारो को वर्जित कर अन्य धर्म न सभाग-हेतु हैं और न सर्वत्रग-हेतु।

विसयोग० या विसयोग-फल क्षय (निरोध) है, जो प्रज्ञा से प्रतिलब्ध होता है। अत , विसयोग प्रतिसख्या-निरोध है।

जिस धर्म के वल से जो उत्पन्न होता है, वह धर्म उसका पुरुषकार-फल है। यह धर्म सस्कृत है। दृष्टान्त ; ऊपरिभूमिक समाधि अधरभूमिक तत्प्रयोग चित का पुरुपकार-फल है।

प्रतिसख्या को पुरुषकार-फल अवधारित करते है, किन्तु इम फल के लक्षण निरोध मे नही घटते, क्योकि नित्य होने से वह उत्पन्न नही होता। अत, हम कहते है कि यह उस धर्म का पुरुषकार-फल है, जिसके बल से प्रतिसख्या⁰ प्राप्त होती है।

पूर्वोत्पन्न से अन्य सर्व सस्कृत धर्म सस्कृत धर्मो का अधिपति-फल है।

कर्त्ता का पुरुषकार-फल है। अधिपति-फल कर्त्ता और अकर्त्ता दोनो का है। यह दोनो मे विशेष है। यथा : शिल्पकारक शिल्पी का पुरुषकार⁰ और अधिपति⁰ है। अशिल्पी का यह केवल अधिपति-फल है।

पॉच हेतु वर्त्तमान अवस्था मे फल-ग्रहण करते है। दो वर्त्तमान अवस्था मे फल-प्रदान करते है। दो वर्त्तमान और अतीत प्रदान करते है। एक अतीत प्रदान करता है। एक धर्म फल का प्रतिग्रहण करता है, जब यह बीजभाव को उपगत होता है। एक धर्म फल का दान उस काल मे करता है, जब वह इस फल को उत्पन्न होने का सामर्थ्य प्रदान करता है, अर्थात् जिस क्षण मे उत्पादाभिमुख अनागत फल को यह धर्म वह बल देता है, जिससे वह वर्त्तमानवस्था मे प्रवेश करता है।

पाँच हेतु वर्त्तमान होकर अपने फल का प्रतिग्रहण करते है। कारण-हेतु का उल्लेख नही है, क्योकि यह हेतु अवश्यमेव सफल नही है। दो हेतु वर्त्तमान होकर अपना फल प्रदान करते है। वर्त्तमान सहभू-हेतु और सम्प्रयुक्तक⁰ ही फल प्रदान करते है। वस्तुत, यह दो हेतु एक काल मे फल का प्रतिग्रहण और दान करते है।

दो हेतु--सभाग और सर्वत्रग--वर्त्तमान और अतीत अवस्था मे फल-प्रदान करते है। वर्त्तमानावास्था मे वह कैसे निष्यन्द-फल प्रदान करते है? हम ऊपर कह चुके है कि यह हेतु अपने फल से पूर्व होते है। ऐसा इसलिए कहते है, क्योकि वह फल का समनन्तर निर्वर्त्तन करते है। जब उनके फल की निर्वृति होती है, तब वह अभ्यतीत होते है। वह पूर्व ही फल-प्रदान कर चुके है। वह पुन उसी फल को नही देते। हम पाच फलो का विचार कर चुके है।

पाश्चात्य आचार्यो के अन्य चार फल--पाश्चात्य आचार्य कहते है कि पूर्वोक्त पॉच फलो से भिन्न चार फल है।

१. **प्रतिष्ठा-फल**--जलमण्डल वायुमण्डल का प्रतिष्ठा-फल है और एवमादि यावत् ओषधि प्रभृति महापृथिवी का प्रतिष्ठा-फल है।

२ **प्रयोग-फल**--अनुत्पादज्ञानादि अशुभादि का प्रयोग-फल है।

३. **सामग्री-फल**--चक्षुर्विज्ञान चक्षु, रूप, आलोक और मनस्कार का सामग्री-फल है।

४ **भावना-फल**--निर्माण चित्त ध्यान का भावना-फल है। सर्वास्तिवादी के अनुसार इन चारो फलो मे से प्रथम अधिपति-फल मे अन्तर्भूत है। अन्य तीन पुरुषकार-फल मे सगृहीत है।

लोकधातु

लोकधातु तीन है—कामधातु, रूपधातु और आरूप्यधातु।

कामधातु का अर्थ काम-सम्प्रयुक्त धातु है। कामधातु के अन्तर्गत चार गति साकल्येन है, देवगति का एक प्रदेश है, और भाजनलोक है। भाजनलोक मे सत्त्व निवास करते है।

चार गति ये है—नरक, प्रेत, तिर्यक् और मनुष्य। बुद्धघोष के अनुसार असुर-काय भी एक गति है। नरक (निरय), प्रेत और तिर्यक् अपाय-भूमि है। कामधातु में छ देवनिकाय है। मनुष्य और छ देवनिकाय काम-सुगति-भूमि है।

छ देवनिकाय इस प्रकार है—चातुर्महाराजिक, त्रयस्त्रिंश, याम, तुषित, निर्माणरति, और परनिर्मितवशवर्त्ती नरक-द्वीप भेद से कामधातु मे बीस स्थान है—आठ नरक, चार द्वीप, छ देवनिकाय, प्रेत और तिर्यक्।

आठ नरक ये है—सजीव, कालसूत्र, सघात, रौरव, महारौरव, तपन, प्रतापन और अवीचि।

चार द्वीप ये है—जम्बू, पूर्व-विदेह, अवरगोदानीय और उत्तरकुरु। अत, अवीचि से परनिर्मितवशवर्त्ती तक बीस स्थान होते है। बुद्धघोष की सूची मे नरक-भेद परिगणित न कर केवल ग्यारह प्रदेश है।

कामधातु से ऊर्ध्व रूपधातु के सोलह स्थान है। इस धातु मे चार ध्यान है। स्थविर-वादियो के अनुसार चार या पाँच ध्यान होते है। चतुर्थ से अन्यत्र प्रत्येक ध्यानलोक त्रिभूमिक है। चतुर्थ ध्यान अष्टभूमिक है। रूपधातु मे रूप है, किन्तु धातुकाय से वियुक्त है। आरूप्यधातु मे स्थान नही है। वस्तुत, अरूपी धर्म अदेशस्थ है, किन्तु उपपत्तिवश यह चतुर्विध है—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिंचन्यायतन, नैवसज्ञानासज्ञायतन (भवाग्र)। उपपत्ति से कर्म-निर्वृत्त जन्मान्तर की स्कन्ध-प्रवृत्ति समझना चाहिए। एक ही क्रम से इन विविध आयतनो का लाभ नही होता। यह आयतन एक दूसरे मे ऊर्ध्व है, किन्तु इनमे देशकृत उत्तर और अधर-भाव नही है। जिस स्थान में समापत्ति से समन्वागत आश्रय का मरण होता है, उस स्थान मे उक्त उपपत्ति की प्रवृत्ति होती है।

अभिधर्मकोश में इस विविध भूमियो का सविस्तर वर्णन है। हम यह वर्णन न देंगे, किन्तु हमको यह ध्यान मे रखना चाहिए कि प्रतीत्यसमुत्पाद का सब लोको पर प्रभाव है। सब गतियाँ कर्मवश होती है। जिस प्रकार बीज से अकुर और पत्र होते है, उसी प्रकार क्लेशवश कर्म और वस्तु होते है। भवचक्र अनादि है। लोको का विवर्त्तन-सवर्त्तन होता रहता है। जब सत्त्वो के सामुदायिक कर्म क्षीण होते है, तब भाजनलोक का क्षय होता है। पुन, जब आक्षेपक कर्मवश अनागत भाजनलोक के प्रथम निमित्त प्रादुर्भूत होते है, तब वायु की वृद्धि होती है, और पीछे सर्व भाजन की उत्पत्ति होती है।

प्रत्येक कल्प में बुद्ध का प्रादुर्भाव होता है। उनका उत्पाद सत्त्वों का निर्वाण में प्रवेश कराने के लिए होता है। एक ही समय मे दो बुद्ध नही उत्पन्न होते। सूत्रवचन है कि यह स्थान है कि लोक में दो तथागत युगपत् हो। एक भगवत् सर्वत्र प्रयुक्त होते है। जहाँ तक

भगवत् सत्त्वो को विनीत करने मे प्रयुक्त नही है, वहाँ अन्य भगवत् नही होते। कुछ निकायो के अनुसार बुद्ध युगपत् होते हैं, किन्तु एकत्र नही होते, भिन्न लोकधातुओ में होते हैं। लोकधातु अनन्त हैं। सर्व लोकधातु मे विचरना कठिन है। अत, अपना कार्य करने के लिए भिन्न लोकधातुओ मे कई तथागत एक साथ हो सकते हैं।

यहाँ प्रश्न यह है कि सवर्त्त और विवर्त्त के बीच के काल मे क्या होता है? सवर्त्तनी का यह प्रभाव होता है कि विनष्ट भाजन का एक भी परमाणु अवशिष्ट नही रहता। किन्तु, वैशेषिक कहते है कि परमाणु नित्य हैं, और इसलिए जब लोकधातु का नाश होता है, तब यह अवशिष्ट रहते हैं। वास्तव मे, इनका कहना है कि यदि अन्यथा होता, तो स्थूल शरीर की उत्पत्ति अहेतुक होती। वसुबन्धु का उत्तर है कि अपूर्व लोकधातु का बीज वायु है। यह वायु आधिपत्य विशेष से युक्त होता है। इन विशेषो का प्रभव सत्त्वो के कर्म से होता है, और इस वायु का निमित्त अविनष्ट रूपावचर वायु है। वैशेषिक कहते है कि बीज केवल निमित्तकारण है, समवायिकारण नही। उनके अनुसार अकुर के जनन मे इसके अन्यत्र कि यह अकुर के परमाणुओ का उपसर्पण करता है, बीज का कुछ भी सामर्थ्य नही है। इसके प्रतिकूल बौद्ध मानते है कि बीज मे ऐसी शक्ति है, जो अकुर-काण्डादि के स्थूल भावो को उत्पन्न करती है।

अनुशय

कर्म अनुशयवश उपचित होते है। अनुशयो के विना कर्म पुनर्भव के अभिनिवर्त्तन मे समर्थ नही होते। भव का मूल, अर्थात् पुनर्भव या कर्मभव का मूल अनुशय है। अनुशय अणु हैं। यह अनुसक्त होते हैं। क्लेशो के समुदाचार के पूर्व इनका प्रचार दुर्विज्ञेय है। अत, यह अणु है। यह आलम्बनत और सम्प्रयोगत अनुशयन करते हैं, अर्थात् प्रतिष्ठा-लाभ करते है, या पुष्टि-लाभ करते है। इनका निरन्तर अनुबन्ध होता है, क्योकि विना प्रयोग के और प्रतिनिवारित होने पर भी इनका पुन समुखीभाव होता है। अनुशय हरण करते है, अत इन्हे ओघ कहते हैं। अनुशय आश्लिष्ट करते हैं, अत इन्हे योग कहते हैं। अनुशय उपग्रहण करते है, अत इन्हे उपादान कहते है। अनुशयो से चित्त-सन्तति विषयो में क्षरित होती है, अत अनुशय आस्रव हैं। ये वन्धन है, सयोजन है। अनुशय छ है —राग, प्रतिघ, मान, अविद्या, दृष्टि और विमति। यह छ राग-भेद से सात होते है। राग दो प्रकार के हैं— कामराग और भवराग। पाँच रूपी इन्द्रियो के रूपशब्दादि आलम्बनो मे राग 'कामराग' है। रूपधातु और आरूप्यधातु के प्रति जो राग होता है, वह भवराग कहलाता है, क्योकि इनकी अन्तर्मुखी वृत्ति है। और, इस सज्ञा की व्यावृत्ति के लिए भी कि यह दो धातुमोक्ष है, इसे भवराग कहते हैं। इन अनुशयो मे से कुछ दर्शन-हेय है और कुछ भावना-हेय।

क्षान्ति, ज्ञान तथा दर्शन-दृष्टि

'क्षान्ति' का अर्थ क्षमण, रुचि है। यह 'क्षान्ति' क्षान्ति-पारामता से भिन्न है। यह सत्य-दर्शन-मार्ग मे सगृहीत अनास्रव क्षान्तियो से सम्बन्ध रखती है, किन्तु यह सास्रव, लौकिक है।

'क्षान्ति' सज्ञा इसलिए है, क्योकि इस अवस्था में अधिमात्र सत्य रुचते हैं। क्षान्तियो का वर्द्धन धर्मस्मृत्युपस्थान से ही होता है, अनय स्मृत्युपस्थानो से नही होता। अधिमात्रक्षान्ति का श्लेष अग्रधर्मो से होता है, अत इसका विषय केवल कामाप्त दु ख है। लौकिक अग्रधर्मो से एक अनास्रव धर्म क्षान्ति की उत्पत्ति होती है। यथार्थ में एक धर्म-ज्ञान-क्षान्ति लौकिकाग्रधर्मों के अनन्तर होती है। इसका आलम्वन काम-दु ख है। अत उसे 'दु खे धर्मज्ञानक्षान्ति' कहते हैं। यह वह क्षान्ति है, जो धर्मज्ञान का उत्पाद करती है, जिसका उद्देश्य और फल धर्मज्ञान है, यह क्षान्ति नियाम मे अवक्रमण है, क्योकि यह सम्यक्त्व, अर्थात् निर्वाण के नियम मे अवक्रमण है। 'नियाम' का अर्थ एकान्तीभाव है। इसका लाभ 'अवक्रमण' कहलाता है। इस प्राप्ति के एक बार उत्पन्न होने पर योगी आर्य-पुद्गल होता है। उत्पद्यमान अवस्था मे यह क्षान्ति पृथग्जनत्व का व्यावर्त्तन करती है। 'दु खे धर्मज्ञानक्षान्ति' के अनन्तर ही एक धर्मज्ञान की उत्पत्ति होती है, जिसका आलम्वन कामाप्त दु ख है। उसे 'दु खे धर्मज्ञान' कहते हैं। यह ज्ञान अनास्रव है। यथा कामधातु के दु ख के लिए एक धर्म-ज्ञान-क्षान्ति और एक धर्मज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार शेष दु ख के लिए अन्वय-क्षान्ति और एक अन्वय-ज्ञान की उत्पत्ति होती है। धर्मज्ञान नाम का व्यवहार इसलिए है कि प्रथमत दु खादि धर्मतत्त्व का ज्ञान योगी को होता है। अन्वय-ज्ञान का व्यवहार इसलिए है कि धर्मज्ञान इसका हेतु है (तदन्वय-तद्हेतुक)। ज्ञान दस हैं। किन्तु, सक्षेप में ज्ञान दो प्रकार का है—सास्रव और अनास्रव। सव ज्ञान ज्ञान के इन दो प्रकायो के अन्तर्गत हैं। इन दो ज्ञानो में से पहला 'सवृत' कहलाता है। सास्रव ज्ञान 'लोक-सवृति-ज्ञान' कहलाता है, क्योकि प्रायेण यह ज्ञान सवृति-सद्-वस्तु का आलम्वन ग्रहण करता है। अनास्रव ज्ञान दो प्रकार का है—धर्मज्ञान और अन्वय-ज्ञान। इन दो ज्ञानो को और पूर्वोक्त ज्ञान को सगृहीत कर तीन ज्ञान होते हैं—लोक-सवृति-ज्ञान, धर्मज्ञान और अन्वय-ज्ञान। इनमें सावृत का गोचर सव धर्म है, अर्थात् सव सस्कृत एव असस्कृत धर्म सवृति-ज्ञान के विपय हैं। जो ज्ञान 'धर्म' कहलाता है, उसके विपय कामधातु के दु खादि हैं। धर्मज्ञान का गोचर कामधातु का दु ख, दु:ख-समुदय, दु ख-निरोध, दु ख-निरोध-गामिनी प्रतिपत्ति है। अन्वय-ज्ञान का गोचर ऊर्ध्व भूमियो का दु खादि है, अर्थात् रूपधातु और अरूपधातु के दु खादि अन्वय-ज्ञान के विपय हैं। यह दो ज्ञान सत्यभेद से चतुर्विध हैं, अर्थात् दु ख-ज्ञान, समुदय-ज्ञान, निरोध-ज्ञान और मार्ग-ज्ञान। यह दो ज्ञान जो चतुर्विध हैं, क्षयज्ञान और अनुत्पाद-ज्ञान कहलाते हैं। जव योगी अपने से कहता है कि मैंने दु ख को भली भाँति परिज्ञात किया है, समुदय का प्रहाण किया है, निरोध का सम्मुखीभाव किया है, मार्ग की भावना की है, तव इससे जो ज्ञान, जो दर्शन, जो विद्या, जो वोधि, जो आलोक, जो विपश्यना उत्पन्न होती है, वह क्षयज्ञान कहलाता है। जव योगी अपने से कहता है कि मैंने दु:ख को भली भाँति परिज्ञात किया है, और अव फिर परिज्ञेय नही है इत्यादि, तो जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अनुत्पाद-ज्ञान कहलाता है (मूलशास्त्र)। इन ज्ञानो के अतिरिक्त परचित्त-ज्ञान भी है। इस प्रकार दस ज्ञान ये हैं—लोक-सवृति-ज्ञान, धर्मज्ञान, अन्वय-ज्ञान, परचित्त-ज्ञान, दु खज्ञान, समुदय-ज्ञान, निरोध-ज्ञान, मार्गज्ञान,

क्षयज्ञान और अनुत्पाद-ज्ञान। स्वभावत, सवृति-ज्ञान है, क्योकि यह परमार्थ-ज्ञान नही है। प्रतिपक्षत, धर्म और अन्वय-ज्ञान है। पहला कामधातु का प्रतिपक्ष है, दूमरा ऊर्ध्व धातुओ का प्रतिपक्ष है। आकारत, दु खज्ञान और समुदाय-ज्ञान है। इस दो ज्ञानो का आलम्बन एक ही (पचोपादान-स्कन्ध) है, किन्तु आकार भिन्न है। आकार गोचरतः निरोध-ज्ञान और मार्गज्ञान है। यह दो ज्ञान आकार और आलम्बनवश व्यवस्थित होते है। इनके आकार और आलम्बन दोनो भिन्न है। प्रयोगतः परचित्त-ज्ञान है। कृतकृत्यतः क्षय-ज्ञान है। कृतकृत्य के सन्तान मे यह ज्ञान पहले उत्पन्न होता है, हेतु विस्तरतः अनुत्पाद-ज्ञान है, क्योकि सब अनास्रवज्ञान जो क्षय-ज्ञान में सगृहीत है, इसके हेतु है।

ज्ञानमय गुणो मे पहले वुद्ध के आवणिक धर्मों का निर्देश है। ये वुद्ध के विशेप धर्म है। दूसरे अर्हत् होकर भी उनकी प्राप्ति नही करते। ये अट्ठारह है—दस वल, चार वैशारद्य, तीन स्मृत्युपस्थान और महाकरुणा। वुद्ध के अन्य धर्म शैक्ष या पृथग्जन के लिए सामान्य है। ये अरणा, प्रणिधि-ज्ञान, प्रतिसवित्, अभिज्ञा आदि है।

षोडश अध्याय

सौत्रान्तिक नय

सौत्रान्तिक आख्या पर विचार

सौत्रान्तिक वे है, जो केवल बुद्धवचन को, अर्थात् सूत्रान्तो को प्रमाण मानते है। ये कात्यायनीपुत्रादि शास्त्रकारो द्वारा रचित अभिधर्म के ग्रन्थो की प्रामाणिकता को स्वीकार नही करते। ये अभिधर्मशास्त्र को बुद्धोक्त नही मानते। अभिधर्मकोश की व्याख्या में (पृ० ११, पंक्ति ३०) कहा है—**ये सूत्रप्रामाणिका न तु शास्त्रप्रामाणिका**, अर्थात् सौत्रान्तिक सूत्र को प्रमाण मानते है, शास्त्र को नही। आभिधार्मिक कहते है कि शास्ता बुद्ध ने धर्म-प्रविचय के लिए अभिधर्म का उपदेश किया है। वे प्रश्न करते है कि यदि शास्त्र प्रमाण नही है, तो त्रिपिटक की व्यवस्था कैसे होगी। सूत्र में त्रिपिटक का पाठ है। अभिधर्म का व्याख्यान भगवन् द्वारा प्रकीर्ण है—(**स तु प्रकीर्ण उक्तो भगवता**)। और, जिस प्रकार स्थविर धर्मत्रात ने भिन्न-भिन्न सूत्रो में उक्त उदानो का वर्गीकरण उदानवर्ग में किया है, उसी प्रकार स्थविर कात्यायनीपुत्रादि ने, ज्ञान-प्रस्थानादि शास्त्रो में भगवान् द्वारा उपदिष्ट अभिधर्म को एकस्थ किया है।

सौत्रान्तिको को सूत्रनिकायाचार्य भी कहते है (अभिधर्मकोश, २।२२६)। इस वाद के प्रतिष्ठापक तक्षशिला के कुमारलात कहे जाते है। तथा इसके अन्य प्रसिद्ध आचार्य भदन्त, राम, श्रीलता, वसुवर्मा आदि है। भदन्त का उल्लेख विभाषा में है। यह भदन्त कौन हैं, इस सम्बन्ध में मतभेद पाया जाता है। भगवद्विशेष का कहना है कि यह स्थविर धर्मत्रात हैं किन्तु अभिधर्मकोश की व्याख्या मे इस मत का खण्डन किया गया है। व्याख्याकार यशोमित्र कहते है कि भदन्त एक स्थविर का नाम है, जो सौत्रान्तिक है। व्याख्याकार का कहना है कि विभाषा के अनुसार भदन्त सौत्रान्तिक-दर्शनावलम्बी है, जब कि धर्मत्रात अतीत-अनागत के अस्तित्व को मानते है, और सर्वास्तिवाद के चार मतो में से 'भावान्यथात्व' के वाद को स्वीकार करते है। पुनः विभाषा में भदन्त धर्मत्रात अपने नाम से उल्लिखित हैं (व्याख्या, पृ० ४४, पंक्ति १५—२२)। व्याख्या (पृ० २३२, पंक्ति २८४, पृ० ६७३, पंक्ति १०, पृ० ६६४, पंक्ति ६) में वार-वार भदन्त को सौत्रान्तिक वताया गया है। विभाषा में कुमारलात और श्रीलात का कोई उल्लेख नही है। ताकाकूसू का कहना है कि विभाषा मे सौत्रान्तिको का उल्लेख केवल एक वार आया है। विभाषा 'दार्ष्टान्तिको' से अवश्य परिचित है। विभाषा के अनुसार इनके प्रायः वही सिद्धान्त हैं, जो अभिधर्मकोश के अनुसार सौत्रान्तिको के है। अभि-

धर्मकोश की व्याख्या के अनुसार दार्ष्टान्तिक सौत्रान्तिक है, या सौत्रान्तिक-विशेष है (व्याख्या, पृ० ३६२, पंक्ति २१—दार्ष्टान्तिकाः सौत्रान्तिका , पृ० ४०० पंक्ति १७—दार्ष्टान्तिकाः सौत्रान्तिकविशेषा.) । तिब्बती पण्डितो के अनुसार दोनो एक है। इस वाद का नाम दार्ष्टान्तिक क्यो पड़ा, यह ठीक तरह से नही कहा जा सकता। कुछ लोग इनका सम्बन्ध कुमारलात के ग्रन्थ 'दृष्टान्तपंक्ति' से जोडते है। कुछ का कहना है कि दृष्टान्तो का प्रयोग करना इसकी विशेषता है, इस कारण इसका नाम 'दार्ष्टान्तिक' पडा। प्रजुलुस्की का विचार है कि दृष्टान्त विनयसूत्र और अभिधर्म के विरुद्ध भी हो सकते है। विभाषा इनके सम्बन्ध में कहती है कि यह सत्य भी हो सकते है, नही भी हो सकते ।

सौत्रान्तिक मतवाद का साहित्य नष्ट हो गया है। अत , इसके सम्बन्ध मे हमारी जानकारी बहुत थोडी है, तथापि जो सूचनाएँ अभिधर्मकोश तथा उसकी व्याख्या मे मिलती है, उनके आधार पर हम सौत्रान्तिक-मत का व्याख्यान पिछले अध्याय मे वैभाषिक से तुलना के प्रसग मे कर चुके है, अवशिष्ट मुख्य-मुख्य सिद्धान्तो को यहाँ देते है ।

विज्ञानवाद स्वीकार करने के पूर्व वसुबन्धु का झुकाव सौत्रान्तिक मतवाद की ओर था । अत , यद्यपि अभिधर्मकोश वैभाषिक-मत का प्रतिपादन करता है, तथापि वह जहा सौत्रान्तिक-मत के विरुद्ध है वहाँ वसुबन्धु सौत्रान्तिक दृष्टि से उनकी आलोचना करते है।

वैभाषिको के समान सौत्रान्तिक भी स्वभाववादी है। इनकी गणना हीनयान में की जाती है, यद्यपि ये महायान के धर्मकाय को स्वीकार करते है, और एक प्रकार से महायान के आरम्भक कहे जा सकते है। ये वैभाषिको के सब धर्मो के अस्तित्व को नही स्वीकार करते। ये वैभाषिको के तुल्य बाह्य जगत् के अस्तित्व को मानते है, किन्तु, इनके अनुसार इनका ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा न होकर अनुमान द्वारा होता है ।

वैभाषिक से सौत्रान्तिक का भेद

रूप—वैभाषिको के अनुसार रूप द्विविध है, अर्थात् वर्ण-सस्थान-भेद से दो प्रकार का है । किन्तु, सौत्रान्तिक का कहना है कि सस्थान का ग्रहण चाक्षुष नही है, यह परिकल्प मानस है। सस्थान वर्ण-सन्निवेश-विशेष ही है। सस्थान नाम का कोई द्रव्य नही है। यदि वर्ण का ग्रहण न हो, तो सस्थान के ग्रहण का अभाव हो। उनका प्रश्न है कि एक द्रव्य उभयथा कैसे विद्यमान हो सकता है (अभिधर्मकोश, १।१०, व्याख्या, पृ० २३, पंक्ति १५) ।

वैभाषिको के अनुसार बुद्धवचन वाक्-स्वभाव और नाम-स्वभाव दोनो है, किन्तु सौत्रान्तिको के अनुसार वह वाग्-विज्ञप्ति-स्वभावमात्र है (अभिधर्मकोश, १।२५, व्याख्या, पृ० ५२, पंक्ति १०) ।

असंस्कृत—सौत्रान्तिक तीन असस्कृतो को—आकाश, अप्रतिसख्या-निरोध और प्रतिसख्या-निरोध को द्रव्य-सत् नही मानते । उनका कथन है कि यह रूप-वेदनादि के समान द्रव्यान्तर, भावान्तर नही है। जिसे 'आकाश' कहते है, वह स्प्रष्टव्य का अभावमात्र, अर्थात् सप्रतिघ द्रव्य का अभावमात्र है। विघ्न को न पाकर (अविन्दन्त) अज्ञानवश लोग कहते है

कि यह आकाश है, जिसे प्रतिसख्या-निरोध या निर्वाण कहते है, वह प्रतिसख्या(=प्रज्ञा) के वल से अन्य अनुशय, अन्य जन्म का अनुत्पाद है, जब उत्पन्न अनुशय और उत्पन्न जन्म का निरोध होता है। निर्वाण वस्तु-सत् नही है, यह अभावमात्र है। सर्वास्तिवाद के अनुसार निर्वाण विसयोग-फल है, यह अहेतुक है । इसका फल नही है, किन्तु यह कारण-हेतु है।

सौत्रान्तिक आक्षेप करते है कि यदि असस्कृत फल है, तो इसका एक हेतु होना चाहिए, जिस हेतु के लिए कह सकें कि इस हेतु का यह फल है । पुनः जब सर्वास्तिवादी इसे कारण-हेतु मानते है, तब इसका फल होना चाहिए, जिस फल के लिए कह सके कि इस फल का यह हेतु है ।

सर्वास्तिवादी उत्तर देता है कि केवल सस्कृत के हेतु-फल होते है, असस्कृत के हेतु-फल नही होते, क्योकि षड्विध हेतु और पचविध फल असस्कृत के लिए असम्भव है।

यह विवाद अतिविस्तृत है। सघभद्र ने 'न्यायानुसार' में 'असस्कृत' के प्रतिषेध का खण्डन किया है। इस विस्तृत व्याख्यान के लिए यहाँ स्थान नही है । सर्वास्तिवादी अन्त में कहता है कि निर्वाण धर्म-स्वभाव-वश द्रव्य है । यह अवाच्य है। केवल आर्य इसका साक्षात्कार करते है। इसका प्रत्यात्म-सवेदन होता है । इसके सामान्य लक्षणो का यह कहकर निर्देशमात्र हो सकता है कि यह दूसरो से भिन्न एक कुशल, नित्य द्रव्य है, जिसकी सज्ञा निर्वाण है।

अप्रतिसख्या-निरोध भी अभावमात्र है, वस्तु-सत् नही है । जब प्रतिसख्या-बल के विना प्रत्यय-वैकल्य-मात्र से धर्मों का अनुत्पाद होता है, तब इसे अप्रतिसख्या-निरोध कहते है ।

चित्त-विप्रयुक्त-धर्म—सौत्रान्तिक चित्त-विप्रयुक्त धर्मों का अस्तित्व नही मानते। उनके अनुसार यह प्रज्ञप्तिमात्र है, वस्तु-सत् नही है। अभिधर्मकोश के द्वितीय कोशस्थान में सौत्रान्तिक का व्याख्यान विस्तारपूर्वक दिया गया है, जिसमे वह इन धर्मों के द्रव्यत अस्तित्व का प्रतिषेध करते है । ये चित्त-विप्रयुक्त धर्म सस्कार-स्कन्ध मे सगृहीत हैं। प्राप्ति, अप्राप्ति सभागता, आसज्ञिक, दो समापत्ति, जीवितेन्द्रिय, लक्षण नामकायादि और एवजातीयक धर्म चित्त-विप्रयुक्त है। यहाँ उदाहरणमात्र के लिए हम दो-तीन चित्त-विप्रयुक्त सस्कारो के सम्बन्ध में सौत्रान्तिक विचार उद्धृत करते है।

प्राप्ति—नामक धर्म के अस्तित्व को वे नही मानते। वे कहते हैं कि प्राप्ति की उपलब्धि नही होती, यथा रूप-शब्दादि की होती है, यथा राग-द्वेषादि की होती है । उसके कृत्य से प्राप्ति का अस्तित्व अनुमित नही होता, यथा चक्षुरादि इन्द्रिय अनुमान से ग्राह्य है।

सभागता—(निकाय-सभाग) को सौत्रान्तिक द्रव्य-सत् नही मानते। सर्वास्तिवाद के अनुसार यह एक द्रव्य है, एक धर्म है, जिसके योग मे सत्त्व-सख्यात धर्मों का परस्पर सादृश्य (=सभाग) होता है । शास्त्र में इस द्रव्य की निकाय-सभाग सज्ञा है। यह सत्त्वो की

स्वभाव-समता है । सौत्रान्तिक इस वाद मे अनेक दोष दिखाते है कि लोक सभागता को प्रत्यक्ष नही देखता । यह प्रज्ञा से सभागता का परिच्छेद नही करता, क्योकि सभागता का कोई व्यापार नही है, जिससे उसका ज्ञान हो । यद्यपि लोक सत्त्व-सभागता को नही जानता, तथापि उसमें सत्त्वो के जात्यभेद की प्रतिपत्ति होती है । अत , सभागता के होने पर भी उसका क्या व्यापार होगा ? पुन निकाय को शालि-यवादि की असत्त्व-सभागता भी क्यो नही इष्ट है ? इनके लिए सामान्य प्रज्ञप्ति का उपयोग होता है ।

आयु—इसी प्रकार सौत्रान्तिक आयु को द्रव्य नही मानते । उनका कहना है कि यह एक आवेध, सामर्थ्यविशेष है, जिसे पूर्वजन्म का कर्म प्रतिसन्धि-क्षण मे सत्त्व में आहित करता है । इस सामर्थ्य के कारण एक नियत काल के लिए निकाय-सभाग के स्कन्ध-प्रबन्ध का अवस्थान होता है ।

सस्कृत धर्म के लक्षण—सौत्रान्तिक सस्कृत धर्म के लक्षणो को भी पृथक्-पृथक् द्रव्य नही मानते । सस्कृत धर्म के लक्षण जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता है । 'स्थिति' उनकी स्थापना करती है, 'जरा' उनका ह्रास करती है, अनित्यता उनका विनाश करती है । यह सर्वास्तिवादी का मत है । किन्तु, सौत्रान्तिक कहते है कि भगवान् प्रदर्शित करना चाहते है कि प्रवाह सस्कृत है । ये प्रवाह-क्षण के तीन लक्षण नही बताते, क्योकि वे कहते है कि यह तीन लक्षण प्रज्ञात होते है । वस्तुत क्षण का उत्पाद, जरा और व्यय अप्रज्ञायमान है । जो अप्रज्ञा-यमान है, वह लक्षण होने की योग्यता नही रखता । सौत्रान्तिको के अनुसार उत्पाद या जाति का यह अर्थ है कि प्रवाह का आरम्भ है, व्यय या अनित्यता प्रवाह की निवृत्ति, उपरति है । स्थिति आदि से निवृत्ति तक अनुवर्त्तमान प्रवाह है । स्थित्यन्यथात्व या जरा अनुवर्त्तमान का पूर्वापरविशेष है । पुन उत्पाद अभूत्वा-भाव है, स्थिति प्रबन्ध है, अनित्यता प्रबन्ध का उच्छेद है, जरा उसकी पूर्वापर विशिष्टता है । सक्षेप मे, सस्कृत-धर्म का अभूत्वा-भाव होता है, भूत्वा-अभाव होता है, इन धर्मो का प्रवाह इनकी स्थिति है । प्रवाह का विसदृशत्व उनका स्थित्यन्य-थात्व है । उत्पादादि द्रव्य नही है ।

अतीतानागतप्रत्युत्पन्न का अवस्तुत्व—सौत्रान्तिक अतीत, अनागत को वस्तु-सत् नही मानते । यदि अतीत और अनागत द्रव्य-सत् है, तो वह प्रत्युत्पन्न है । उनको अतीत और अनागत क्यो विशेषित करते है ?

सर्वास्तिवादी उत्तर देता है कि यह अप्राप्त-कारित्र, प्राप्तानुपरत-कारित्र तथा उपरत-कारित्र है, जो धर्म का अध्व विनिश्चत करता है ।

सौत्रान्तिक पूछता है कि धर्म के कारित्र में क्या विघ्न है ? धर्म नित्य होते हुए अपना कारित्र सदा क्यो नही करता ? क्या विघ्न उपस्थित होता है, जो कभी यह अपना कारित्र करता है, और कभी नही करता ? आपकी यह कल्पना भी युक्त नही है कि उनके कारित्र का अभाव प्रत्ययो के असामग्र्य से होता है, क्योकि आपके लिए इन प्रत्ययो का भी नित्य अस्तित्व है । पुन कारित्र अतीतादि कैसे है ? क्या कारित्र का भी दूसरा कारित्र होना है ? इससे अनवस्था-दोष होगा । किन्तु, यदि कारित्र का स्वरूप सत्तापेक्षया अतीतादित्व है, तो भावो का भी

अतीतादित्व होगा। फिर, इस कल्पना से क्या लाभ कि अध्व अतीतादि कारित्र पर आश्रित है ? क्या आप यह कहेंगे कि कारित्र न अतीत है, न अनागत, न प्रत्युत्पन्न ? उस अवस्था मे असस्कृत होने से यह नित्य हे। अत , यह न कहिए कि जब धर्म कारित्र नही करता, तब यह अनागत है, और जब इसका कारित्र उपरत हो जाता है, तब यह अतीत है।

सर्वास्तिवादी उत्तर देता है कि यदि कारित्र धर्म से अन्य होता, तो यह दोष होता।

सौत्रान्तिक--किन्तु, यदि यह धर्म से अन्य नही है, तो अध्वयुक्त नही है। यदि कारित्र धर्म का स्वभाव ही है, तो धर्म के नित्य होने से कारित्र भी नित्य होगा। क्यो और कैसे कभी कहते है कि अनागत है ? अध्व-भेद युक्त नही है।

सर्वास्तिवादी उत्तर देता है--किसमे इसकी अयुक्तता है ? वास्तव में, अनुत्पन्न सस्कृत धर्म अनागत कहलाता है, जो उत्पद्यमान हो निरुद्ध नही हुआ, वह प्रत्युत्पन्न कहलाता है, जो निरुद्ध होता है, वह अतीत कहलाता है।

सौत्रान्तिक—प्रत्युत्पन्न का जो स्वभाव है, यदि उसी स्वभाव के साथ (तेनैवात्मना) अतीत और अनागत धर्म का सद्‌भाव होता है, तो वैसे ही होते हुए यह कैसे अनुत्पन्न या नष्ट होता है ? जब इस धर्म का स्वभाव वैसा ही रहता है, तो यह धर्म अनुत्पन्न या नष्ट कैसे होगा ? पूर्व इसके क्या न था, जिसके अभाव मे इसे अनुत्पन्न कहेंगे ? पश्चात् इसके क्या नही है, जिसके अभाव में इसे निरुद्ध कहेंगे ? अतः, यदि 'अभूत्वा भाव' इष्ट नही है, यदि 'भूत्वा-अभाव' भी इष्ट नही है, तो अध्वत्रय सिद्ध नही होता।

इसके बाद सौत्रान्तिक सर्वास्तिवादी की युक्तियो की परीक्षा करते है।

यह युक्ति कि सस्कृत लक्षण के योग से सस्कृतो का शाश्वतत्व-प्रसग नही होता, यद्यपि उनका अतीत और अनागत दोनो मे सद्‌भाव है—वाङ्‌मात्र है; क्योकि धर्म का सर्वकालास्तित्व होने से धर्म के उत्पाद और विनाश का योग नही है। "धर्म नित्य है और धर्म नित्य नही है।" यह वचन पूर्वापरविरुद्ध है।

इस युक्ति के सम्बन्ध मे कि भगवान् ने अतीत और अनागत के अस्तित्व का उपदेश दिया है, क्योकि भगवान् का वचन है कि—"अतीत कर्म है, अनागत विपाक है।" हमारा कहना है कि हम भी मानते है कि अतीत है, अनागत है (अस्तीति)। जो भूतपूर्व है (यद् भूतपूर्वम्) वह अतीत है, जो हेतु होने पर होगा (यद् भविष्यति), वह अनागत है। इस अर्थ मे हम कहते है कि अतीत है, अनागत है। किन्तु, प्रत्युत्पन्न के समान वह द्रव्यत नही है।

सर्वास्तिवादी विरोध करता है—कौन कहता है कि प्रत्युत्पन्न के सदृश उनका सद्‌भाव है ?

सौत्रान्तिक--यदि उनका सद्‌भाव प्रत्युत्पन्न के सदृश नही है, तो उनका सदभाव कैसे है ?

सर्वास्तिवादी—वह अतीत और अनागत के स्वभाव के साथ होते है।

सौत्रान्तिक---किन्तु यदि उनका अस्तित्व है, तो उनका स्वभाव अतीत और अनागत का कैसे बताते है ? वस्तुत, सर्वास्तिवादी द्वारा उद्धृत वचन मे भगवान् का अभिप्राय हेतु-फलापवाद-दृष्टि का प्रतिषेध करना है। 'अतीत था' के अर्थ मे वह 'अतीत है' कहते है। 'अनागत होगा' के अर्थ मे वह 'अनागत है' कहते है। 'अस्ति' शब्द निपात है। यथा लोक मे कहते है कि 'दीप का प्राक् अभाव है' (अस्ति), 'दीप का पश्चात् अभाव है, यह प्रदीप निरुद्ध है (अस्ति), किन्तु यह प्रदीप मुझसे निरोधित नही है।' इसी अर्थ मे सूत्र मे उक्त है---'अतीत है, अनागत है।' अन्यथा, यदि उसी लक्षण के साथ विद्यमान हो, तो अतीत-अनागत की सिद्धि न हो।

सर्वास्तिवादी---हम देखते है कि भगवान् लगुड-शिखीपक परिव्राजको को उद्दिष्ट कर ऐसा कहते है कि---"अतीत कर्म निरुद्ध विनष्ट, अस्तगत कर्म है।" प्रस्तावित निर्देश के अनुसार इसका अर्थ होगा कि 'यह कर्म था'। किन्तु, क्या परिव्राजको को उस अतीत कर्म का भूतपूर्वत्व इष्ट नही है ?

सौत्रान्तिक---यदि भगवान् कहते है कि अतीत कर्म है, तो उनकी अभिसन्धि फलदान-सामर्थ्य से है, जिसे भूतपूर्व कर्म ने कारक की सन्तति मे आहित की है। अन्यथा, यदि अतीत-कर्म स्वभाव से विद्यमान है ('स्वेन भावेन विद्यमानम्'), तो विद्यमान अतीत की सिद्धि कैसे होगी ? पुन आगम की उक्ति स्पष्ट है। भगवान् ने परमार्थ-शून्यता-सूत्र मे कहा है कि "हे भिक्षुओ ! चक्षु उत्पद्यमान होकर कही से आता नही है, निरुध्यमान होकर कही सचित नही होता। इस प्रकार, हे भिक्षुओ ! चक्षु का अभूत्वा-भाव होता है और भूत्वा-अभाव होता है। यदि अनागत चक्षु होता, तो भगवान् नही कहते कि चक्षु का अभूत्वा-भाव है।

सर्वास्तिवादी कदाचित् कहेगा --'अभूत्वा-भाव' का अर्थ है---वर्त्तमान अर्थ मे न होकर होता है ('वर्त्तमानेऽध्वनि अभूत्वा'), अर्थात् वर्त्तमान-भाव मे न होकर होता है ('वर्त्तमानभावे न अभूत्वा')। यह अयुक्त है, क्योकि अध्व चक्षुसज्ञक भाव मे अर्थान्तर नही है। क्या इसका यह अर्थ आप करेगे--'स्वक्षणत न होकर' ? इससे यह सिद्ध होता है कि अनागत चक्षु नही है।

अतीत और अनागत है, क्योकि विज्ञान की उत्पत्ति दो वस्तुओ के कारण होती है। मनोविज्ञान की उत्पत्ति मन-इन्द्रिय तथा अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न धर्मो के कारण होती है। इस युक्ति के सम्बन्ध मे क्या यह समझना चाहिए कि ये धर्म मन-इन्द्रिय की तरह मनोविज्ञान के जनक-प्रत्यय है ? अथवा ये आलम्बनमात्र है ? यह व्यक्त है कि अनागत धर्म, जो सहस्रो वर्ष मे होगे या जो कभी न होगे, प्रत्युत्पन्न मनोविज्ञान के जनक-प्रत्यय नही है। यह व्यक्त है कि निर्वाण, जो सर्वोत्पत्ति के विरुद्ध है, जनक-प्रत्यय नही हो सकता। अब यह शेष रह जाता है कि धर्म विज्ञान के आलम्बन-प्रत्यय हो। हमको यह इष्ट है कि अनागत और अतीत धर्म आलम्बन-प्रत्यय है।

सर्वास्तिवादी का प्रश्न है कि यदि अतीत और अनागत धर्म का अस्तित्व नही है तो वह विज्ञान का आलम्बन कैसे है।

सौत्रान्तिक—उनका अस्तित्व उसी प्रकार है, जिस प्रकार वे आलम्बन के रूप में गृहीत होते हैं। वे अतीत और अनागत के चिह्न के साथ भूतपूर्व-भविष्यत् की तरह आलम्बन के रूप मे गृहीत होते हैं। वास्तव में, कोई अतीत रूप या वेदना का स्मरण कर यह नही देखता कि 'यह है', किन्तु वह स्मरण करता है कि 'यह था'। जो पुरुष अनागत का प्राग् अदर्शन करता है, वह सत् अनागत को नही देखता। किन्तु, एक दूसरी भविष्यत् वस्तु अनागत को देखता है। स्मृति यथादृष्ट रूप का ग्रहण करती है, यथानुभूत वेदना का ग्रहण करती है, अर्थात् वर्त्तमान रूप और वेदना के समान ग्रहण करती है। यदि धर्म, जिसका पुद्गल को स्मरण है, ऐसा है कि उसका ग्रहण पुद्गल स्मृति से करता है, तो यह प्रत्यक्ष ही वर्त्तमान है। यदि यह ऐसा नही है, यदि इसका ग्रहण स्मृति से नही है, तो असत् भी स्मृति-विज्ञान का अवश्य आलम्बन होता है। क्या आप यह कहेंगे कि अतीत और अनागत रूप का अस्तित्व विना वर्त्तमान हुए है, क्योकि अतीत और अनागत रूप विप्रकीर्ण परमाणु से अन्य वस्तु नही है। किन्तु, हम कहेंगे कि जब विज्ञान स्मृति या प्रागदर्शन से अतीत और अनागत रूप को आलम्बन के रूप में ग्रहण करता है, तब यह विप्रकीर्णावस्था मे उसको आलम्बनवत् ग्रहण नही करता; किन्तु इसके विपर्यय सचितावस्था मे करता है। यदि अतीत और अनागत रूप वर्त्तमान रूप ही है; किन्तु परमाणुश विभक्त है, तो परमाणु नित्य होगे। न कोई उत्पाद है, और न कोई निरोध। परमाणुसचय और विभागमात्र है। ऐसे वाद के ग्रहण से आजीविकवाद का परिग्रह होता है, और बुद्ध का यह सूत्र अपास्त होता है कि चक्षु उत्पद्यमान होकर कही से आता नही। वेदनादि अमूर्त्त धर्मों में यह युक्ति नही लगती। परमाणु सचित न होने से इनका अतीत और अनागत अवस्था मे पुन विप्रकीर्णत्व कैसे है?

सर्वास्तिवादी कर्मफल से भी तर्क आहृत करते हैं। सौत्रान्तिक यह नही स्वीकार करते कि अतीत कर्म से फल की प्रत्यक्ष उत्पत्ति होती है। उनके अनुसार कर्मपूर्वक चित्तसन्तान-विशेष से फल की उत्पत्ति होती है।

किन्तु, जो वादी अतीत और अनागत को द्रव्यत मानते है, उनको फल की नित्यता इष्ट होनी चाहिए। अतएव, उन सर्वास्तिवादियो का सर्वास्तिवाद, जो अतीत और अनागत की द्रव्य-सत्ता को मानते हे, साधु नही है। इस अर्थ मे सर्वास्तिवाद को नही लेना चाहिए। साधु सर्वास्तिवाद वह है, जिसकी सर्वास्तित्व की प्रतिज्ञा में 'सर्व' का वही अर्थ है, जो आगम में उक्त है। सूत्र की यह प्रतिज्ञा कैसे है कि सर्व का अस्तित्व है? "हे ब्राह्मण! जब कोई कहता है कि 'सर्वमस्ति', तब उसका अभिप्राय बारह आयतनो से होता है। यह समानवाची है। अथवा सर्व जिसका अस्तित्व है, अध्वत्रय है।" और, इनका अस्तित्व कैसे होता है, यह भी बताया है—"जो भूतपूर्व है, वह अतीत है. किन्तु यदि अतीत अनागत का अस्तित्व नही है, तो अतीत अनागत क्लेश से अतीत अनागत वस्तु मे कोई सयुक्त कैसे होता है? सन्तान में अतीत क्लेश-जात अनुशय के सद्भाववश अतीत क्लेश से पुद्गल सयुक्त होता है। अतीत और अनागत वस्तु से सयोग तदालम्बन-क्लेश के अनुशय से सद्भाववश होता है।

वैभाषिक कहता है कि 'अतीत' और 'अनागत' का वर्त्तमान के सदृश अस्तित्व है। वस्तुत, धर्मो का निश्चय ही गम्भीर है।

काय-विज्ञप्ति—सौत्रान्तिक के मत मे कर्म चेतना है। 'कायकर्म' से अभिप्राय 'काय द्वारा विज्ञापन' से नही है, किन्तु एक काय-सचेतना से है। यह सचेतना काय से सम्बन्ध रखती है, और काय को इ जित करती है।

सर्वास्तिवादी प्रश्न करता है कि वह क्या वस्तु है, जिसे आपके अनुसार 'काय-विज्ञप्ति' संज्ञा से ज्ञापित किया जाता है? सौत्रान्तिक उत्तर देते है कि काय-विज्ञप्ति संस्थान है; किन्तु सस्थान द्रव्य नही है। कायकर्म वह चेतना है, जो विविधि प्रकार से काय की प्रणेत्री है। यह कायद्वार को आलम्बन बना प्रवृत्त होती है, और इसलिए कायकर्म कहलाती है। दो प्रकार की चेतना है। पहले प्रयोग की अवस्था है। इसमें एक चेतना का उत्पाद होता है, जो शुद्ध चेतना है—"यह आवश्यक है कि मैं इस-इस कर्म को करूँ।" इसे सूत्र चेतना-कर्म की सज्ञा देता है। यहाँ चेतना ही कर्म है। पीछे शुद्ध चेतना की इस अवस्था के अनन्तर पूर्वकृत संकल्प के अनुसार कर्म करने की चेतना का उत्पाद होता है। काय के संचालन या वाग्ध्वनि के नि सरण के लिए यह चेतना होती है। इसे सूत्र 'चेतयित्वा कर्म' कहता है (अभिधर्मकोश, ४, पृ० १२-१३)।

अविज्ञप्ति—सौत्रान्तिक 'अविज्ञप्ति' का भी अभाव मानते है। वैभाषिक कई युक्तियाँ देकर 'अविज्ञप्ति' का अस्तित्व व्यवस्थापित करता है। सौत्रान्तिक इनका खण्डन करता है। अभिधर्मकोश (४, पृ० १४–२५) में यह विस्तृत व्याख्यान पाया जाता है।

क्षणिकवाद—सौत्रान्तिक सन्ततिवादी और क्षणिकवादी है। सर्व सस्कृत क्षणिक है। 'क्षण' शब्द का अभिधान आत्मलाभ के अनन्तर विनष्ट होना है। क्षणिक वह धर्म है, जिसका क्षण है। जैसे दण्डिक वह है, जो दण्ड का वहन करता है। आत्मलाभ के अनन्तर सस्कृत का अस्तित्व नही होता। यह उस प्रदेश में विनष्ट होता है; जहाँ इसकी उत्पत्ति होती है। यह उस प्रदेश से दूसरे प्रदेश में नही जा सकता। यह विनाश अकस्मात् होता है। यह अहेतुक है। जो 'सहेतुक' है, वह कार्य है। विनाश अभाव है। अभाव कैसे कार्य होगा? इसलिए, विनाश अहेतुक है। इसलिए, सस्कृत उत्पत्ति के अनन्तर ही विनष्ट होता है। यदि यह उत्पन्नमात्र न हो, तो यह पीछे विनष्ट न होगा, क्योंकि यह अपरिवर्त्तित अवस्था में रहता है (अभिधर्मकोश, पृ० ४)।

असग महायानसूत्रालकार (१८वाँ अध्याय, बोधिपक्षाधिकार, पृ० १४६–१५४) में क्षणिकवाद की परीक्षा करते है। यह कहते है कि सर्व सस्कृत क्षणिक है। इसकी सिद्धि कैसे होती है? असग कहते है कि क्षणिकत्व के विना सस्कारो की प्रवृत्ति का योग नहीं है। 'प्रवृत्ति' प्रबन्धवश 'वृत्ति' को कहते है। प्रतिक्षण उत्पाद और निरोध के विना यह प्रवृत्ति अयुक्त है। यदि कालान्तर-स्थित रहकर पूर्व के निरोध और उत्तर के उत्पाद से प्रबन्धेन वृत्ति इष्ट है, तो प्रबन्ध के अभाव में उसके अनन्तर प्रवृत्ति न होगी। पुन प्रबन्ध के विना इत्त्वन्त

का कालान्तर-भाव युक्त नही है। क्यो ? क्योकि उत्पत्ति हेतुत होती है। हेतुवश ही सब सस्कृत उत्पन्न होते है। यदि होकर (भूत्वा) उत्तर काल मे पुन भाव होता है, तो यह अवश्य हेतुवश ही होगा। हेतु के विना आदि से ही अभाव होगा, और वह उसी हेतु से नही हो सकता; क्योकि उसने उस हेतु का उपभोग कर लिया है। अन्य हेतु की उपलब्धि भी नही है, अत प्रतिक्षण पूर्व-हेतुक अन्य अवश्य होता है। इस प्रकार, विना प्रवन्ध के उत्पन्न का कालान्तर-भाव युक्त नहीं है।

अथवा यदि कोई कहे कि हमको यह इष्ट नही है कि उत्पन्न का पुन उत्पाद होता है, तो उसके लिए हेतु का होना आवश्यक है। उत्पन्न कालान्तर मे पश्चात् निरुद्ध होता है, उत्पन्नमात्र ही निरुद्ध नही होता। तव किस कारण से पश्चात् निरोध होता है ? यदि यह कहा जाय कि उत्पाद-हेतु ने यह निरुद्ध होना है, तो वह अयुक्त होगा; क्योकि उत्पाद और निरोध का विरोध है। दो विरोधो का तुल्य-हेतु उपलब्ध नही होता, यथा छाया-आतप, या शीत-उष्ण का।

पुन कालान्तर-निरोध का ही आगम से विरोध है। भगवद्वचन है—"हे भिक्षुओ ! सस्कार मायोपम है। यह आपायिक और तावत्कालिक है। यह क्षणमात्र भी अवस्थान नही करता।" योगियो के मनस्कार से भी विरोध है। वस्तुतः, जव योगी सस्कारो के उदय-व्यय का चिन्तन करते है, तब वे उनका निरोध प्रतिक्षण देखते है। अन्यथा, उनको भी वह विराम उत्पन्न न हो, जो दूसरो को मरण-काल मे निरोध देखकर होता है।

यदि उत्पन्न सस्कार का कालान्तर के लिए अवस्थान हो, तो वह या तो स्वयमेव अवस्थान करेगा, अर्थात् अवस्थान में स्वय समर्थ होगा, अथवा किसी स्थिति-कारण से अवस्थान करेगा। किन्तु, उसका स्वय तावत् काल के लिए अवस्थान अयुक्त है, क्योकि उसका अभाव है। वह किंचिन्मात्र भी उपलव्ध नही होता। कदाचित् यह कहा जायगा कि स्थिति-कारक के विना भी विनाश-कारण के अभाव से अवस्थान होता है। किन्तु, यदि विनाश-कारण लाभ होता है, तो उसका पीछे विनाश होता है, जैसे श्यामता का अग्नि से। यह अयुक्त है, क्योकि उसका अभाव है। वस्तुतः, पीछे भी कोई विनाश-कारण नही है। अग्नि से श्यामता का नाश होता है, यह सुप्रसिद्ध है। किन्तु, विसदृश की उत्पत्ति में उसका सामर्थ्य प्रसिद्ध है। वस्तुत., अग्नि के सम्वन्ध मे श्यामता की सन्तति विसदृशी गृहीत होती है, किन्तु सर्वथा अप्रवृत्ति नहीं होती। जल का भी क्वाथ होने से अग्नि के सम्वन्ध से उसकी उत्पत्ति अल्पतर-अल्पतम होती है, और अन्त में अतिमान्द्य के कारण पुनरुत्पत्ति का ग्रहण नहीं होता। किन्तु, अग्नि के सम्वन्ध से सकृत् ही उसका अभाव नही होता। पुन, यह युक्त नही है कि उत्पन्न का अवस्थान हो, क्योकि लक्षण ऐकान्तिक है। भगवान् ने कहा है कि सस्कृत की अनित्यता सस्कृत का ऐकान्तिक लक्षण है। यदि यह उत्पन्न-मात्र होकर विनष्ट न हो, तो कुछ काल के लिए इसकी अनित्यता न होगी। कदाचित् यह कहा जायगा कि यदि प्रतिक्षण अपूर्व उत्पत्ति होती, तो यह प्रत्यभिज्ञान न होता कि यह वही है। यह प्रत्यभिज्ञान अर्चि के समान सादृश्य की अनुवृत्ति से होता है। सादृश्य से ऐसी वुद्धि होती है, उसके भाव से नही। इसका ज्ञान

कैसे होता है ? निरोध से । यदि उसका वैसे ही अवस्थान होता, तो अन्त में निरोध न होता, क्योंकि आदि क्षण से विशेष नही होता । इसलिए, यह अवधारित नही होता कि यह वही है। परिणाम की उपलब्धि से भी परिणाम का अन्यथात्व है। यदि वह आदि से ही आरब्ध न होता, तो आध्यात्मिक और वाह्य भावो के अन्त में परिणाम की उपलब्धि नही होती । अत, आदि से ही अन्यथात्व का आरम्भ हो जाता है, और यह क्रम मे वृद्धि को प्राप्त हो अन्त मे व्यक्त होता है। जैसे, क्षीर दधि की अवस्था में व्यय होता है, किन्तु क्योंकि सूक्ष्म होने से इस अन्यथात्व का परिच्छेद नही होता । इसलिए, सादृश्य की अनुवृत्ति से ऐसा ज्ञान होता है कि यह वही है, और क्योंकि प्रतिक्षण अन्यथात्व होता है, इसलिए क्षणिकत्व सिद्ध है । यह कैसे ? हेतुत्व और फलत्व से, अर्थात् क्योंकि हेतु क्षणिक है, और फल क्षणिक है। यह सिद्ध है कि चित्त क्षणिक है। अन्य संस्कार, चक्षु-रूपादि उसके हेतु है । अत, वह भी क्षणिक सिद्ध हुए। अक्षणिक से क्षणिक नही हो सकता, जैसे नित्य से अनित्य नही होता। दूसरी ओर सब संस्कार चित्त के फल भी है । वस्तुत, चित्त का आधिपत्य संस्कारो पर है। भगवान् ने कहा है—"चित्त से यह लोक नीत होता है, चित्त से परिकृष्ट होता है ।" यह भी कहा है कि नामरूप विज्ञान-प्रत्यय है। अत, वह चित्त का फल है । अत, संस्कार चित्त के समान क्षणिक है।

यह सिद्ध करके कि सब संस्कार क्षणिक है, असग सिद्ध करते है कि आध्यात्मिक संस्कार क्षणिक है। जितने बौद्धनिकाय है, वे सब मन को अविच्छिन्न हेतु-फल-परम्परा मानते है, और यह भी मानते है कि हेतु-फल का उत्पाद-निरोध प्रतिक्षण होता है । इसके साधन में असग वही हेतु देते है; जिन्हें पूर्व आचार्यों ने दिया है । इसी प्रकार, वह वाह्य संस्कारो के, अर्थात् चार महाभूतो के और षड्विध अर्थादि के क्षणिकत्व को सिद्ध करते है। असग दार्शनिक युक्तियो के अतिरिक्त एक और युक्ति देते हैं। वस्तुत: बुद्ध ने संस्कार की अनित्यता देशित की है। असग कहते हैं कि अक्षणिकवादी से पूछना चाहिए कि आपको अनित्यत्व तो इष्ट है, फिर क्षणिकत्व क्यो नही इष्ट है ? यदि वे यह कहे कि अन्यत्व का ग्रहण प्रतिक्षण नही होता, तो उनसे यह कहना चाहिए कि प्रदीपादि का क्षणिकभाव आपको क्यो इष्ट है, जब निश्चलावस्था मे अन्यत्व का ग्रहण नही होता । यदि उनका यह उत्तर हो कि पूर्ववत् पश्चात् का अग्रहण है तो उनसे कहना चाहिए कि संस्कारो का भी ऐसा ही क्यो नही मानते । यदि वे यह कहें कि प्रदीपादि के लक्षण अन्य है और संस्कार के उनसे अन्य है, तो यह उत्तर होना चाहिए कि वैलक्षण्य दो प्रकार का है—स्वभाव-वैलक्षण्य और वृत्ति-वैलक्षण्य । यदि जो वैलक्षण्य आपको अभिप्रेत है, वह स्वभाव है, तो दृष्टान्त युक्त है क्योंकि किसी का स्वभाव उसका दृष्टान्त नही होता । यथा प्रदीप प्रदीप का दृष्टान्त नही होता। और, यदि वृत्ति-वैलक्षण्य है, तो प्रदीप का दृष्टान्त युक्त है, क्योंकि लोक में प्रसिद्ध है कि यह क्षणिकत्व की अनुवृत्ति करता है। पुन, उनसे पूछना चाहिए कि क्या आप मानते है कि यान के खड़े रहने पर जो यानारूढ है, वह जाता है ? यदि वे कहें कि 'नही', तो उनसे कहना चाहिए कि चक्षुरादि से

अवस्थान करने पर तदाश्रित विज्ञान प्रवन्धेन गमन करता है, यह कहना अयुक्त है। यदि उनका यह उत्तर हो कि क्या हम नही देखते कि वर्त्ति का अवस्थान होता है, और वर्त्ति-सन्निश्रित प्रदीप का प्रवन्धेन गमन होता है, तो उनसे कहना चाहिए कि 'नही', प्रवन्धेन गमन नही देखा जाता, क्योकि वर्त्ति में प्रतिक्षण विकार उत्पन्न होता है। यदि वे यह उत्तर दें कि यदि सस्कार क्षणिक है, तो जिस प्रकार प्रदीप का क्षणिकत्व सिद्ध है, उसी प्रकार सस्कारो का क्षणिकत्व क्यो नही सिद्ध है ? हमारा उनको यह उत्तर होगा कि सस्कारों का विपर्यास-वस्तुत्व है, क्योकि इनकी वृत्ति सदृश सन्तति-प्रवन्ध में होती है, इसलिए इनका क्षणिकत्व जाना नही जाता। क्योकि, उनका अपरापरत्व है, इसलिए यह विपर्यास होता है कि यह वही है। अन्यथा, अनित्य में नित्य का विपर्यास नही होता। इस विपर्यास के अभाव मे सक्लेश न होगा, फिर व्यवदान कहाँ से होगा ? इस विचार-विमर्श से सिद्ध होता है कि सव सस्कारो का क्षणिकत्व है।

तृतीय ध्यान (सुख)—वैभाषिको के अनुसार तृतीय ध्यान का 'सुख' प्रथम और द्वितीय ध्यान के 'सुख' से द्रव्यान्तर है, और इमलिए एक नया अग है। सौत्रान्तिक प्रश्न करते है कि ऐसा क्यो है ? वैभाषिक का उत्तर है कि प्रथम दो ध्यानो में 'सुख' से 'प्रश्रब्धि' अभिप्रेत है। यह सुख प्रश्रब्धिमय है ('प्रश्रब्धि' कर्मण्यता है)। तृतीय में सुखावेदना है। वास्तव मे, पहले दो ध्यानो में सुखेन्द्रिय की सम्भावना नही है, क्योकि इन ध्यानो का सुख कायिक सुख नही हो सकता। उस सत्त्व में जो ध्यान-समापन्न होता है, पच इन्द्रिय-विज्ञानो का अभाव होता है। इन ध्यानो का सुख चैतसिक सुख नही हो सकता, क्योकि इन ध्यानो में 'प्रीति' होती है। किन्तु, 'प्रीति' सौमनस्य है, और यह माना नही जा सकता कि प्रीति और सुख का महभाव है। पुन, वे कहते है कि हम यह भी नही मान मकते कि एक के अनन्तर दूमरा होता है, क्योकि प्रथम ध्यान के पाँच अग है, दूसरे के चार। शास्त्र में केवल सुखावेदना को ही मुख का अधिवचन नही दिया गया है, अन्य धर्म भी इस नाम से जाने जाते है। सूत्रो मे 'सुख' शव्द सव प्रकार के धर्मों के लिए व्यवहृत होता है। दार्ष्टान्तिक सौत्रान्तिक के अनुसार पहले तीन ध्यानो में चैतसिक सुखेन्द्रिय नही होती, किन्तु केवल कायिक सुखेन्द्रिय होती है। यही इन ध्यानो का मुख नामक अग व्यवस्थापित है, अत इनके अनुसार तृतीय ध्यान का सुख द्रव्यान्तर नही है। पुन, वैभापिको के अनुसार द्वितीय ध्यान का सम्प्रसाद (अध्यात्म-सम्प्रसाद) एक द्रव्य-सत् है। यह श्रद्धा है। योगी द्वितीय ध्यान का लाभ कर गम्भीर श्रद्धा उत्पन्न करता है। उमकी इसमें प्रतिपत्तिहोती है कि समापत्ति की भूमियो का भी प्रहाण हो मकता है। इम श्रद्धा को अध्यात्म-सम्प्रसाद कहते है। प्रसाद-लक्षणा श्रद्धा प्रसाद कहलाती है। वाह्य का प्रहाण कर यह ममरूप से प्रवाहित होती है। इसलिए, यह वह प्रसाद है, जो अध्यात्म और मम है। इसलिए, यह अध्यात्म-सम्प्रसाद है।

सौत्रान्तिको के अनुसार वितर्क, विचार, समाधि और अध्यात्म-सम्प्रसाद एक दूसरे से भिन्न द्रव्य नही है।

यदि यह द्रव्यान्तर नही है, तो आप यह कैसे कहते हैं कि ये चैतसिक धर्म हैं। चित्त के अवस्था-विशेष चैतसिक कहलाते हैं, क्योंकि वे चित्त मे होते हैं। सौत्रान्तिक कहते है कि जब वितर्क और विचार का विक्षेप समाप्त हो जाता है, तब चित्त-सन्तति प्रशान्त, प्रसन्न नही होती (अभिधर्मकोश, ८, पृ० १५१–१५६) । दार्ष्टान्तिको के अनुसार सामन्तक केवल शुभ होते है, किन्तु वैभाषिको के अनुसार वे शुभ, क्लिष्ट और अव्याकृत होते हैं (अभिधर्म-कोश, ८, पृ० १८०) ।

वैभाषिक नय से पर्यवस्थान ही अनुशय है, वात्सीपुत्रीय नय से 'प्राप्ति' अनुशय है, सौत्रान्तिक नय से बीज अनुशय है (व्याख्या, पृ० ४४२, पक्ति २८-२९)।

विज्ञान का आश्रय और विषय—वैभाषिक का मत है कि चक्षु रूप देखता है, जब वह सभाग है। यह तदाश्रित विज्ञान नही है, जो देखता है (अभिधर्मकोश, १, पृ० २२) । विज्ञानवादी के अनुसार चक्षु नही देखता, चक्षुर्विज्ञान देखता है। सौत्रान्तिक का मत है कि न कोई इन्द्रिय है, जो देखती है; न कोई रूप है, जो देखा जाता है, न कोई दर्शन-क्रिया है, न कोई कर्त्ता है, जो देखता है, हेतु-फल-मात्र है (अभिधर्मकोश, १, पृ० ८६) ।

महायान के उदय की ओर—सौत्रान्तिको का यह विचार महायान-दर्शन के विचार से मिलता-जुलता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि सर्वास्तिवाद के कई धर्म सौत्रान्तिक के लिए वस्तु-सत् नही है, वे प्रज्ञप्तिमात्र हैं। यहाँतक कि निर्वाण भी वस्तु-सत् नही है। पुन सौत्रान्तिक का क्षणिकवाद सर्वास्तिवाद के क्षणिकवाद से भिन्न है। सौत्रान्तिक के लिए आत्मा सस्कार-प्रवन्ध अथवा विज्ञान-सन्तान है। यह सन्तान सन्तानी के विना है। यह सन्तान पिपीलिका-पक्ति के तुल्य है। यह हेतु-फल-परम्परा है। धर्मों के उत्पाद और निरोध को हम एक दूसरे से पृथक् नही कर सकते, कोई स्थिति नही है। सर्वास्तिवाद के अनुसार धर्मों का उत्पाद, स्थिति, अनित्यता और निरोध है। सर्वास्तिवादी भी क्षणिकवादी है, किन्तु उसका क्षणकाल का अल्पतम विभाग है। किन्तु, सौत्रान्तिक के अनुसार धर्मों का विनाश, उत्पाद के समनन्तर ही होता है, धर्मों की कोई स्थिति नही है। पुन, सौत्रान्तिक के अनुसार बाह्य अर्थ-जात का प्रत्यक्ष नही है, वह केवल अनुमित होता है। सौत्रान्तिक धर्मकाय को भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि किस प्रकार हीनयान के गर्भ से महायान-धर्म और दर्शन के विचारो का उदय होता है।

हमने इस अध्याय मे सौत्रान्तिक और सर्वास्तिवाद के मुख्य-मुख्य भेदो का वर्णन किया है। आगे महायान के अन्तर्गत दर्शनो का विचार आरम्भ करेंगे।

लक्षण नही है, क्योकि सर्व धर्म नि स्वभाव है, यह उसका उपदेश है, अत यह बुद्धवचन नही है ।

यह आक्षेप अयथार्थ है । लक्षणो का कोई विरोध नही है । स्वकीय महायानसूत्र में महायान का अवतरण है । महायान में बोधिसत्त्वो का जो क्लेश उक्त है, उसके विनय मे महायान का सदर्शन होता है । वस्तुत , विकल्प ही बोधिसत्त्वो का क्लेश है । श्रावकयान के विनय मे भिक्षुओ के नियमो का उल्लेख है । महायान का विनय बोधिचर्या और शील का उपदेश देता है । पुन महायान धर्मता के विरुद्ध नही है, क्योकि यह उदार और गम्भीर है । धर्मता से ही महाबोधि की प्राप्ति होती है । फिर, महायान धर्मता के विरुद्ध क्यो हो ?

महायान से त्रस्त होने का कोई कारण नही है । इसमे केवल शून्यता का ही आख्यान नही है । इसमें सम्भारमार्ग का भी आख्यान है । इस आख्यान का यथारुत अर्थ नही है, और बुद्धो का भाव अतिगहन है । इस कारण महायान से त्रास करने का कोई स्थान नही है । मुझे बोध न होगा, बुद्ध भी गम्भीर पदार्थ का बोध नही रखते, फिर वह क्या इसका उपदेश देंगे ? गम्भीर अतर्कगम्य क्यो है ? गम्भीर पदार्थ के अर्थवेत्ताओ का ही मोक्ष क्यो है, तार्किको का क्यो नहीं है ? इत्यादि त्रास के हेतु अयुक्त है ।

महायान उत्कृष्ट है । उसकी देशना उदार और गम्भीर है । इसलिए, उसमे अधिमुक्ति (=श्रद्धा) होनी चाहिए ।

इस प्रकार, महायान की सत्यता को सिद्ध कर असग शरणगमन को बोधिसत्त्व की अधिमुक्ति का मूल आधार बताते हैं ।

शरण-गमन—यह यथार्थ है कि शरण (= त्रिरत्न)-गमन शासन के आदि से ही सब बौद्धो को समान रूप से मान्य है । किन्तु, असग का कहना है कि महायान मे जो त्रिरत्न की शरण मे जाता है, वही शरणागतो मे सर्वश्रेष्ठ है । इसमे चार हेतु है—सर्वत्रगार्थ, अभ्युपगमार्थ, अधिगमार्थ, अभिभवार्थ । यह अग्रयान है, क्योकि इससे जो सिद्धि प्राप्त है, वह सत्त्वहित का साधन करता है । इसका प्रणिधान और इसकी प्रतिपत्ति विशिष्ट है, अत इस यान का शरण भी अग्र है ।

इस यान मे शरणप्रगत सर्वत्रग है । उसने सब सत्त्वो के समुद्धरण का भार अपने ऊपर लिया है । वह सब यानो मे (श्रावक, प्रत्येकबुद्ध, बोधिसत्त्व) कुशल है । वह सर्वगत ज्ञान मे कुशल है, अर्थात् पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य का ज्ञान रखता है । उसम निर्वाण का सर्वत्रगार्थ है, क्योकि वह निर्वाण और ससार में एकरस है, और उसके लिए निर्वाण और ससार में गुण अथवा दोष की दृष्टि से विशेष नही है (**यो निर्वाणे ससरणेऽप्येकरसोऽसौ ज्ञेयो धीमानेष हि सर्वत्रग एवम्, २।३**) ।

इस विचार मे नागार्जुन की शिक्षा की प्रतिध्वनि है । आरम्भ मे ही हमको माध्यमिक विचार-सरणी के चिह्न मिलते हैं ।

शरण-गमन के अन्य लक्षण जैसा कि महायान मे उपदिष्ट हैं, बोधिसत्त्व की पारमिताओ का अभ्युपगम और अधिगम है । पारमिताओ के अभ्युपगम से वह बुद्धपुत्र हो जाता है ।

उसका प्रणिधान और प्रयोग विशिष्ट है। वह सत्त्वो के समुद्धरण के आशय से बोधिचित्त का समादान करता है, और अत्यन्त उत्साह के साथ बोधि के लिए प्रयोग करता है।

इस बुद्धपुत्र का बीज बोधिचित्त का उत्पाद है। प्रज्ञापारमिता इसकी माता है, और प्रज्ञापारमिता से सम्प्रयुक्त पुण्य-ज्ञान-सम्भार गर्भ है, और करुणा अप्रतिम धात्री है।

उसका अधिगम भी विशिष्ट है। उसको महापुण्य-स्कन्ध का लाभ होता है, उसके सर्व दुःख का उपशम होता है, सम्यक् सम्बोधि के क्षण मे उसको बुद्ध के धर्मकाय की प्राप्ति होती है, उसको बलवैशारद्यादि कुशल-सम्भार की प्राप्ति होती है, और वह भव तथा निरोध दोनो से विमुक्त होता है।

इसी प्रकार, बोधिसत्त्व अपने विपुल, उदग्र और अक्षय कुशल-मूल से श्रावको को अभिभूत करता है। निर्वाण मे यह उसका विशिष्ट अभिभवार्थ है। उसके कुशल-मूल क्षीण नही होते। उसके गुणो की अप्रमेय वृद्धि होती है, और वह अपने कृपाशय से इस जगत् का प्रतिवेध करता है और महायान धर्म को प्रसिद्ध करता है।

बोधिसत्त्व के गोत्र

शरण-गमन से बोधिसत्त्व के गोत्र[1] मे प्रवेश होता है। गोत्र का अस्तित्व धातुभेद, अधिमुक्ति-भेद, प्रतिपत्ति-भेद और फलभेद, से निरूपित होता है। सत्त्वो के अपरिमाण धातु-भेद है। इसीलिए, तीन यानो मे गोत्र-भेद है। सत्त्वो मे अधिमुक्ति-भेद (=श्रद्धाभेद) भी पाया जाता है। किसी की किसी यान मे पहले से ही अधिमुक्ति होती है। यह गोत्र-भेद के बिना नही हो सकता। प्रत्ययवश अधिमुक्ति के उत्पादित होने पर भी प्रतिपत्ति-भेद होता है। कोई निर्वोढा होता है, कोई नही। यह गोत्र-प्रभेद के बिना सम्भव नही है। फल-भेद भी देखा जाता है, जैसे किसी की बोधि हीन, किसी की मध्य और किसी की विशिष्ट होती है। क्योंकि, बीज के अनुरूप फल होता है। इसलिए, यह प्रभेद भी गोत्र-भेद के बिना नही हो सकता।

निमित्त—चार निमित्तो से बोधिसत्त्वो के गोत्र का अग्रत्व प्रदर्शित होता है। श्रावको के इस प्रकार के उदग्र कुशल-मूल नही होते। उनमे सब कुशल-मूल भी नही होते, क्योकि उनमे बलवैशारद्यादि का अभाव है। श्रावको मे परार्थ भी नही होता और उनके कुशल-मूल अक्षय भी नही है, क्योकि निरुपधिशेष-निर्वाण मे उनका अवसान होता है।

1 अंगुत्तर ४।३७३ और ५।२३ में 'गोत्रभू' शब्द आता है। नौ या दस आर्य पुद्गलों की सूची मे इसका निम्नतम स्थान है। एक में स्रोतापत्ति-फल प्रतिपन्नक के पश्चात्, दूसरी सूची मे श्रद्धानुसारी के पश्चात्। 'पुग्गलपञ्ञत्ति' मे 'पुथुज्जन' (=पृथग्जन) से इसका ऊँचा स्थान है। इसके अनुसार 'गोत्रभू' वह पुद्गल है, जो आर्यधर्म में प्रवेश करने के लिए आवश्यक धर्म से युक्त है। महाव्युत्पत्ति (६४) में पांच गोत्र गिनाये गये हैं, श्रावकयानाभिसमय प्रत्येकबुद्ध°, तथागत° अनियत° और अगोत्रक°।

बोधिसत्त्व-गोत्र में चार लिंग होते हैं—१. सत्त्वों के प्रति कारुण्य २ महायान धर्म में अधिमुक्ति ३ क्षान्ति, अर्थात् दुष्कर चर्या की सहिष्णुता, ४. पारमितामय कुशल का समाचार (निष्पत्ति)। संक्षेप में गोत्रों के चार भेद हैं —१ नियत, २. अनियत, ३ प्रत्ययवश अहार्य, और ४ प्रत्ययवश हार्य।

असंग बोधिसत्त्व-गोत्र की उपमा महासुवर्णगोत्र से देते हैं, और इसके माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह अप्रमेय कुशल-मूल और ज्ञान का आश्रय है, तथा इससे बहु-सत्त्व का परिपाक होता है। यह बोधिवृक्ष का प्रशस्त मूल है। इससे सुख-दुःख का उपशम होता है, और अपने तथा पराये हित-सुख के फल का अधिगम होता है (अधिकार ३)।

बोधिचित्तोत्पाद

बोधिसत्त्वचर्या का आरम्भ बोधिचित्त के उत्पाद से होता है। इस चेतना के दो आलम्बन हैं—महाबोधि और सत्त्वार्थ-क्रिया। इसके तीन गुण हैं —इसमें पुरुषकार-गुण है, क्योंकि इसमें महान् उत्साह और दुष्कर प्रयोग होते हैं। इसमें अर्थक्रिया-गुण और फलपरिग्रह-गुण हैं, क्योंकि यह आत्म-पर-हित का साधन करता है, और इससे बोधि का समुदागम होता है।

इस चित्तोत्पाद का मूल करुणा है। सदा सत्त्वों का हित सम्पादित करना इसका आशय है, महायानधर्म अधिमोक्ष है, इसका ज्ञान इस चेतना का आलम्बन है, इसका यान उत्तरोत्तर छन्द है, इसकी प्रतिष्ठा बोधिसत्त्व के शीलसंवर में है, इसका आदीनव अन्य यान में चित्त की उत्थापना या अधिवासना है, इसका अनुशंस पुण्यज्ञानमय कुशलधर्म की वृद्धि है, इसका निर्याण पारमिताओं का सतत अभ्यास है, इसका भूमि-पर्यवसान उस भूमि में प्रयोग से होता है, जिस भूमि में जिस चेतना का प्रयोग होता है, उसका उस भूमि में पर्यवसान होता है।

एक समादान सांकेतिक चित्तोत्पाद होता है, और एक पारमार्थिक। समादान परविज्ञापन से होता है, यथा कल्याणमित्र के अनुरोध से गोत्र-सामर्थ्य से, कुशलमूल के बल से, श्रुतबल से अथवा शुभाभ्यास से। पारमार्थिक चित्तोत्पाद उपदेश-विशेष, प्रतिपत्ति-विशेष और अधिगम-विशेष से होता है। प्रमुदिता भूमि में इस चित्त का उत्पाद होता है। उसकी धर्मों में समचित्तता होती है, क्योंकि, वह धर्म-नैरात्म्य का ज्ञान रखता है। उसकी सत्त्वों में सम-चित्तता होती है, क्योंकि वह आत्म-पर-समता से उपगत है। उसकी सत्त्वकृत्यों में समचित्तता होती है, क्योंकि अपनी ही तरह वह सत्त्वों के दुःखक्षय की आकांक्षा करता है। उसकी बुद्धत्व में समचित्तता होती है, क्योंकि वह अपने में धर्मधातु का अभेद जानता है।

जो सत्त्व इस चित्तोत्पाद से वर्जित होते हैं, वे उन चार सुखों को नहीं प्राप्त कर सकते, जिनका लाभ बोधिसत्त्वों को होता है। जो सुख परार्थ-चिन्तन से, परार्थ के उपायलाभ से, महायान के गम्भीर सूत्रों के आभिप्रायिक अर्थ के जानने से और परम सत्त्व के सन्दर्शन से

बोधिसत्त्व को होता है, उससे वह विरहित होता है। वह इस सुख को त्याग कर शम का लाभ करता है।[1]

जो सत्त्व बोधिचित्त का उत्पाद करता है, उसका चित्त अनन्त दुष्कृतो से सुसवृत होता है, और इसलिए उसको दुर्गति से भय नही होता। वह शुभ कर्म और कृपा की वृद्धि करता है। वह सदा सुख-दु ख मे प्रसन्न रहता है।

उसको आत्मा की अपेक्षा पर प्रियतर है। वह पराये के लिए अपने शरीर और जीवन की उपेक्षा करता है। वह कैसे अपने लिए दूसरे का उपघात कर दुष्कृत मे प्रवृत्त होगा ?

सम्पदावस्था तथा विपदावस्था मे वह क्लेश और दु ख से भयभीत नही होता। वह पराये के लिए उद्योग करता है। अवीचि भी उसके लिए रम्य है। फिर, वह कैसे दूसरे के कल्याण के निमित्त दुःखोत्पाद से त्रस्त होगा ?

वह सत्त्वो की उपेक्षा कभी नही कर सकता। उसके चित्त में महाकारुणिक भगवान् नित्य निवास करते हैं। उसका चित्त दूसरे के दु ख से दु खी होता है। पर-कल्याण के लिए कुछ करने का अवसर प्राप्त होने पर यदि उसके कल्याण-मित्र समादापना करे, तो उसको अति लज्जा होती है। बोधिसत्त्व ने अपने ऊपर सत्त्वो का महान् भार लिया है। वह सत्त्वो में अग्र है, अत शिथिल गति उसको शोभा नही देती। उसको श्रावको की अपेक्षा सौगुना वीर्य करना चाहिए। (शिरसि विनिहितोच्चसत्त्वभारः शिथिलगतिर्नहि शोभतेऽग्रसत्त्व., ४।२८)

बोधिसत्त्व का सम्भार

असग बताते हैं (५वाँ अधिकार) कि यह सुगतात्मज है। जिसने बोधिचित्त का ग्रहण किया है, कैसे महाकरुणा से प्रेरित हो महाबोध के लिए प्रस्थान कर सम्भार में प्रवृत्त होता है। वह अपने और पराये में विशेष नही करता। उसको समानचित्तता प्राप्त है। वह अपने से पराये को श्रेष्ठतर भी मानता है। उसका कौन स्वार्थ है, कौन परार्थ ? उसके लिए दोनो एक समान हैं। इसीलिए, अपने को सन्तप्त करके भी वह परार्थ को साधित करता है। ससार मे शत्रु के प्रति भी लोग इतने निर्दय न होगे, जितना कि अपने प्रति बोधिसत्त्व निर्दय होता है, जब वह दूसरो के लिए अत्यन्त दु ख का अनुभव करता है। विमूढ जन अपने सुख के लिए सचेष्ट होता है, और उसके न प्राप्त होने पर दु खी होता है। किन्तु, जो परार्थ के लिए उद्यत है, वह स्वार्थ और परार्थ का सम्पादन कर निर्वृति-सुख को प्राप्त होता है। अनेक प्रकार से बोधिसत्त्व हीन, मध्य, विशिष्ट गोत्रस्थो का हित सम्पादित करता है। वह उनको देशना देता है, ऋद्धि-प्रातिहार्य से उनका आवर्जन करता है, उनको शासन मे अवतीर्ण करता है, अनेक सशयो का निराकरण करता है, कुशल मे उनका परिपाक करता है, अववाद-चिन-

---

१ परार्थचित्तात्तदुपायलाभतो महाभिसन्ध्यर्थसुतत्त्वदर्शनात्।
महार्हचित्तोदयवर्जिता जना शम गमिष्यन्ति विहाय तत्सुखम्॥ (४।२१)

स्थिति प्रज्ञाविमुक्ति में सहायक होती है, उनको अभिज्ञादि विशेष गुणो से विभूषित करता है, तथागत-कुल मे जन्म, आठवी भूमि मे व्याकरण, दसवी भूमि मे अभिषेक और साथ-ही-साथ तथागत-ज्ञान का लाभ उनको कराता है ।

प्रजुलुस्की के शब्दो मे महायान बार-बार इस वाक्य को दुहराता है कि "स्वर्ग जाना छोटी-सी बात है। मेरी तो प्रतिज्ञा है कि मै तुमको भी वहाँ ले चलूँगा ।"

असंग के दार्शनिक विचार

अद्वयवाद—इसके पश्चात् असग दार्शनिक प्रश्नो को लेते है । छठे अधिकार के आरम्भ के विचार माध्यमिक है। "परमार्थ न सत् है, न असत्, न तथा है, न अन्यथा, न इसका उदय होता है, न व्यय, न इसकी हानि होती है, न वृद्धि, यह विशुद्ध नही होता है, पुन विशुद्ध होता है। यह परमार्थ का लक्षण है।"

परमार्थ अद्वयार्थ है। परिकल्पित और परतन्त्र लक्षणवश यह सत् नही है, और परिनिष्पन्न लक्षणवश यह असत् नही है । परिनिष्पन्न का परिकल्पित और परतन्त्र से एकत्व का अभाव है। इसलिए, यह 'तथा' नही है। यह अन्यथा भी नही है, क्योकि परिनिष्पन्न का उनमे अन्यत्व भी नही है। परमार्थ का उदय-व्यय नही होता, क्योकि धर्मधातु अनभिसस्कृत है। इसकी हानि-वृद्धि नही होती, क्योकि सक्लेश-पक्ष के निरोध और व्यवदान-पक्ष के उत्पाद पर यह तदवस्थ रहता है। यह विशुद्ध नही होता, क्योकि प्रकृति से यह असक्लिष्ट है, और विशुद्ध भी होता है, क्योकि आगन्तुक उपक्लेश का विगम होता है।

अनात्मदृष्टि—सब बौद्धवादो के समान असग भी आत्मदृष्टि-विपर्यास का प्रतिषेध करते है। आत्मदृष्टि का लक्षण आत्मा नही है, दु सस्थितता भी आत्मलक्षणा नही है, आत्म-दृष्टि परिकल्पित आत्मलक्षण से विलक्षण है, क्योकि पचस्कन्ध दु खमय है, और दु सस्थितता पुन पचोपादान-स्कन्ध है। इन दो मे, अर्थात् आत्मदृष्टि और पचोपादान-स्कन्ध से अन्य किसी आत्मलक्षण की उपपत्ति नही होती, अत आत्मा का अस्तित्व नही है । यह आत्मदृष्टि भ्रममात्र है, अत आत्मा का अभाव है । मोक्ष भी भ्रममात्र का सक्षय ही है । कोई मुक्त नही है।

असग पूछते है कि यह क्यो है कि लोग विभ्रममात्र आत्मदर्शन पर आश्रित हो यह नही समझते कि दु ख की प्रकृति सस्कारो मे सतत अनुबद्ध है । जो दु ख का सवेदन नहीं करता, वह उस दु ख-स्वभाव के ज्ञान से दु.खी होता है। जो वेदक है, वह दु ख के अनुभव मे दु खी है। यदि वह दु खी है, तो इसलिए कि दु ख अप्रहीण है । यदि वह दु खी नही है, तो इसलिए कि दु खयुक्त आत्मा का अभाव है। जब लोग भावो का प्रतीत्यसमुत्पाद प्रत्यक्ष देखते है, जब वे देखते है कि उस-उस प्रत्ययवश वह-वह भाव उत्पन्न होता है, तो उनकी यह दृष्टि क्यो होती है कि दर्शनादिक अन्यकारित है, प्रतीत्यसमुत्पन्न नही है ? यह कौन-सा अज्ञान-प्रकार है, जिसके कारण लोग विद्यमान प्रतीत्यसमुत्पाद को नही देखते, और अविद्यमान आत्मा

को देखते हैं ? यह हो सकता है कि तम के कारण विद्यमान न देखा जा सके, किन्तु अविद्यमान का देखा जाना शक्य नही है। (६।२–४)

असग एक आक्षेप का उत्तर देते हुए कहते है कि आत्मा के विना भी (पुद्गल का) शम और जन्म का योग है। परमार्थ दृष्टि से ससार और निर्वाण में किञ्चिन्मात्र अन्तर नही है, क्योकि दोनो का समान नैरात्म्य है। तथापि यह विधान है कि जो शुभ कर्म के करने वाले है, जो मोक्षमार्ग की भावना करते है, उनको जन्मक्षय से मोक्ष की प्राप्ति होती है।[1] नागार्जुन की भी यही शिक्षा है। विज्ञानवाद और माध्यमिक दोनो का परमार्थ-सत्य एक ही है।

परमार्थ-ज्ञान--आत्मदृष्टि-विपर्यास को निरस्त कर असग कहते हैं कि इस विपर्यास का प्रतिपक्ष पारमार्थिक ज्ञान है। इस ज्ञान मे प्रवेश पुण्यज्ञानसम्भार और चिन्ता द्वारा धर्मों के विनिश्चय से होता है। उस समय बोधिसत्त्व अर्थ की गति को जान जाता है। उसको यह अवगत हो जाता है कि अर्थ जल्पमात्र है, और वह अर्थाभास चित्तमात्र में अवस्थान करता है। यह बोधिसत्त्व की निर्वेधभागीय अवस्था है। पुन उसको धर्मधातु का प्रत्यक्ष होता है और इससे वह ग्राह्यग्राहकलक्षण से विमुक्त होता है। यह दर्शनमार्ग की अवस्था है (६।७)। बुद्धि द्वारा यह अवगत कर कि चित्त से अन्य आलम्बन (ग्राह्य) नही है, उसको यह भी अवगत होता है कि चित्तमात्र भी नही है, क्योकि जब ग्राह्य का अभाव है, तब ग्राहक का भी अभाव है।

द्वय मे इसके नास्तित्व को जानकर वह धर्मधातु मे अवस्थान करता है। भावनामार्ग की अवस्था मे आश्रय-परिवर्त्तन से पारमार्थिक ज्ञान मे प्रवेश होता है। समतानुगत अविकल्पक ज्ञान के वल से वह दोप-सचय का निरसन करता है, और बुद्धत्व को प्राप्त होता है।

बोधिचर्या

बोधिचर्या मे प्रथम चरण विज्ञप्तिमात्रता है, अर्थात् यह ज्ञान कि ग्राह्य और ग्राहक चित्तमात्र हैं। दूसरे चरण मे यह विज्ञानवाद अद्वयवाद मे परिवर्तित हो जाता है-- "धर्मधातु का प्रत्यक्ष होने से वह द्वयलक्षण से विमुक्त हो जाता है।' तृतीय चरण—नागार्जुन का यह मत है कि जब बुद्धि से यह अवगत हो गया कि चित्त के अतिरिक्त कोई दूसरा आलम्बन नही है, तब यह जाना जाता है कि चित्तमात्र का भी अस्तित्व नही है, क्योकि जहाँ ग्राह्य नही हे, वहाँ ग्राहक भी नहीं है। वह किसी नास्तित्व मे पतित नही होता, क्योंकि जब बोधिसत्त्व द्वय मे चित्त के नास्तित्व को जान जाता है, तब ग्राह्य-ग्राहक-लक्षण से रहित हो वह धर्मधातु मे अवस्थान करता है। यह मूल चित्त है, जो सम्पिण्डित धर्म को आलम्बन बनाता है। चतुर्थ चरण मे इस परमार्थ-ज्ञान का प्रयोग बोधिचर्या के लिए होता है (६।८-१०)।

---

[1] न चान्तरं किञ्चन विद्यतेऽनयो सदर्थवृत्त्या शमजन्मनोरिह।
तथापि जन्मक्षयतो विधीयते शमस्य लाभ शुभकर्मकारिणाम्॥ (६।५)

छ अभिज्ञाएँ—छ अभिज्ञा ही बोधिसत्त्वों के प्रभाव हैं। असग दिखाते है कि किस निश्चय, किस ज्ञान, किस मनसिकार से इस प्रभाव का समुदागम होता है। इस प्रभाव का त्रिविध फल है। वह आर्य और दिव्य ब्राह्म-विहारों में नित्य विहार करता है तथा जिस लोकधातु में वह जाता है, वहाँ बुद्धों का पूजन और सत्त्वों का विशोधन करता है।

वस्तुतः, जब सविकल्पक ज्ञान का स्थान प्रज्ञापारमिता लेती है, अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान का परिग्रह होता है, तब यह ज्ञान धर्म-समूह पर अपना कारित्र कर प्रभाव-सिद्धि निष्पन्न करता है। तब कोई भी कार्य चित्त को व्याघात नहीं पहुँचाता, और योगी अर्थवशित्व प्राप्त करता है। असग इन अभिज्ञाओं का सविस्तर वर्णन करते हैं, और इस प्रकार विज्ञानवाद का दूसरा नाम योगाचार सार्थक होता है।

यह मत माध्यमिक और एक प्रकार के अद्वय-विज्ञानवाद के बीच की वस्तु है। यह मत आत्मप्रतिषेध को वर्जित कर उपनिषदों का स्मरण दिलाता है। इस प्रकार, महायानसूत्रालकार दो दृष्टियों का सन्तुलन करने की चेष्टा करता है, किन्तु दोनों एक बिन्दु पर मिलते हैं। लोक भ्रान्तिमात्र है, यह समान बिन्दु है। यह बिन्दु नागार्जुन और विज्ञानवादी अद्वयवाद दोनों में पाया जाता है (रेने ग्रूसे)। निर्विकल्पक ज्ञान का परिग्रह कर चतुर्थ ध्यान में समापन्न हो योगी सब लोकधातुओं को उनके तत्त्वों के सहित तथा उनके विवर्त्त-सवर्त्त के सहित माया के सदृश देखता है, और वह विचित्र प्रकारों से उनका यथेष्ट सन्दर्शन कराता है, क्योंकि उसको वशिता का लाभ है।

ज्ञानवशित्व से वह शुद्धि को प्राप्त होता है, और अपनी इच्छा के अनुसार बुद्धक्षेत्र को विनेय जनों को दिखाता है और वह सत्त्वों का परिशोधन भी करता है। जो सत्त्व ऐसे लोक-धातुओं में उपपन्न हैं, जो बुद्धनाम से विरहित हैं, उनको वह बुद्धनाम सुनाकर बुद्ध में प्रतिपन्न करता है, और वह बुद्धनाम से अविरहित लोकधातुओं में उत्पन्न होता है। उसमें सत्त्वों के परिपाचन की शक्ति होती है। वह क्लेशपरवश जगत् को अपने वश में स्थापित करता है। वह सदा परहित-क्रिया में सुख का अनुभव करता है, और भव का भय नहीं करता।

आत्मपरिपाक एव पारमिताओं के प्रयोग—उक्त प्रभाव के कारण बोधिसत्त्व आत्म-परिपाक करता है, तदनन्तर सत्त्वों के परिपाक की योग्यता को प्राप्त होता है, और सत्त्वों का प्रतिशरण होने के कारण जगत् का अग्रबन्धु होता है।

महायान देशना में रुचि, देशिक में प्रसाद (=श्रद्धा), क्लेशों का प्रशम, सत्त्वों पर अनुकम्पा, दुष्कर चर्या में सहिष्णुता, ग्रहण-धारण-प्रतिवेध की मेधा, अधिगम की प्रबलता, मारादि से अहार्यता और प्राहाणिक (=प्रधान) अगों से समन्वागम आत्मपरिपाक के लक्षण हैं।

अपना परिपाचन कर बोधिसत्त्व दूसरों का परिपाक करता है। वह सत्त्वों का प्रतिशरण होता है। वह सतत धर्मकाय की वृद्धि करता है।

जिस आशय से बोधिसत्त्व सत्त्वो का परिपाक करता है, वह माता-पिता-बान्धवादि के आशय से विशिष्ट है, और आत्मवात्सल्य से भी विशिष्ट है। आत्मवत्सल पुरुष अपना हित-सुख सम्पादित करता है, किन्तु यह कृपात्मा पर-सत्त्व-वत्सल है, क्योकि यह उनको हित-सुख से समन्वित करता है (८।१४-१५) ।

जिस प्रयोग से बोधिसत्त्व सत्त्वो का परिपाक करता है, वह पारमिताओ का प्रयोग है। वह त्रिविध दान से उनका परिपाक करता है। उसके लिए कुछ भी अदेय नही है। वह अपना सर्वस्व शरीर, भोगादि दान मे देता है। उसका दान विषम नही होता, और उससे उसकी कभी तृप्ति नही होती। वह सत्त्वो पर दो प्रकार का अनुग्रह करता है—दृष्टधर्म में वह उनकी इच्छाओ को पूर्ण करता है, और उनको कुशल में प्रतिष्ठा करता है।

वह स्वभाव से स्वय शीलवान् है, और वह दूसरो को शील मे सन्निविष्ट करता है। वह क्षान्ति द्वारा सत्त्वो का परिपाक करता है। यदि कोई उसका अपकार करता है, तो भी वह प्रत्युप-कार की ही बुद्धि रखता है। वह उग्र व्यतिक्रम को भी सह लेता है। वह उपायज्ञ है, और वह ऐसे सत्त्वो का भी आर्वजन करता है, और उनको कुशल मे सन्निविष्ट करता है। वह अनन्त सत्त्वो के परिपाक के लिए कुशल कर्म करते हुए भी नही थकता। इसी प्रकार, ध्यान और प्रज्ञा से वह परिपाचन-क्रिया करता है। वह विविध प्रकार से सत्त्वो का परिपाचन करता है। किसी का विनयन सुगति गति के लिए, किसी का यानत्रय के लिए होता है।

बुद्धत्व (बोधि) का लक्षण

इस प्रकार, आत्मपरिपाक कर बोधिसत्त्व बोधि का लाभ करता है। नवें अधिकार मे बोधि का सविस्तर वर्णन है। सर्वगत ज्ञान होने के कारण बोधि लोकधातु से अनन्य है, क्योकि सर्वज्ञान अपने अर्थ से अभिन्न है, अत सर्व धर्म बुद्धत्व है। बुद्धत्व तथता से अभिन्न है और तथता की विशुद्धि से प्रभावित है। बुद्धत्व स्वय कोई धर्म नही है, क्योकि धर्मस्वभाव परिकल्पित है। बुद्धत्व शुक्ल धर्ममय है, क्योकि पारमितादि कुशल की प्रवृत्ति उसके अस्तित्व से होती है। शुक्ल धर्मो से यह निरूपित नही होता, क्योकि पारमितादि पारमितादिभाव से परिनिष्पन्न नही है। यह अद्वय लक्षण है।

यद्यपि यह तथता है, तथापि यह अधर तथताओ का समुदाय नही है। इसमे वह है, किन्तु यह उनके अन्तर्गत नही है। आश्रय-परावृत्ति से ही चित्त इस अवस्था को प्राप्त होता है। यह परावृत्ति चित्त का विपरिणाम करती है, और उसको उत्कृष्ट बनाती है, यहाँतक कि चित्त आकाश सज्ञा को प्राप्त होता है, जो अत्यन्त विशुद्ध और अत्यन्त सर्वगत है, और जिससे सब विकल्प अपगत हो गये हैं। अनास्रव धातु (वह धातु, जो धर्मों के प्रवाह से रहित है) में बोधि का एक प्रकार का द्रव्य होता है। यहाँ बोधिसत्त्व निवास करते हैं, और यह धर्मतथता से अन्य नही है। किन्तु, जब एक बार बोधि विविध भूमियो मे होकर अपने स्थान को पहुँचती है, तब इसका क्या कारण है कि यह विपरीतभाव मे धर्मो की ओर पुन प्रवृत्त होती है ?

महायान मानता है कि वुद्धो का उपकारक कारित्र नित्य होता है, और इसी से यह कठिनता उत्पन्न होती है, किन्तु उसने त्रिकायवाद से इस कठिनता को दूर किया है। धर्मकाय स्वाभाविक काय है। सम्भोगकाय वह काय है, जिससे पर्षन्मण्डल में वह धर्मसम्भोग करते है। निर्माणकाय वह काय है, जिसको निर्मित कर वुद्ध सत्त्वो का उपकार करते है। किन्तु, इन विशेषो के मूल में केवल भ्रान्ति की लीला है, जिससे सविकल्प परिकल्पित चित्त की मौलिक शान्ति को क्षुब्ध करता है। वुद्ध न एक है, न अनेक, केवल वोधिमात्र है, जिसकी वृत्ति एक समान और सतत है (सिलवाँ लेवी की भूमिका, पृ० २४)।

लक्षण—वोधि पर जो अध्याय है, वह वस्तुत विज्ञानवाद का एक प्रधान ग्रन्थ है। ६।१-२ में वुद्धत्व का लक्षण यही दिया है कि यह सर्वावरण से निर्मल सर्वाकारज्ञता है। ६।४-५ में कहा है कि वुद्धत्व का लक्षण अद्वय है। वुद्धत्व का अर्थों के साथ अतिसूक्ष्म सम्बन्ध है। सव धर्म (अर्थात्, सव अर्थ) वुद्धत्व है, किन्तु यह स्वय धर्म नही है।

यह शुक्लधर्ममय है, किन्तु यह शुक्लधर्मों से निरूपित नही होता। ६।५ में कहा है कि सव धर्म वुद्धत्व हैं, क्योकि यह तथता से अभिन्न है, और तथता की विशुद्धि से प्रभावित है। किन्तु वुद्धत्व कोई धर्म नही है, क्योकि धर्मों का स्वभाव परिकल्पित होता है, और वुद्धत्व परमार्थ है। पुन वुद्धत्व सव धर्मों का समुदाय है, अथवा सव धर्मों से व्यपेत है (६।६)।

वुद्धानुभाव—यह वुद्धत्व सर्वक्लेश से सदा परित्राण करता है, जन्म, मरण तथा दुश्चरित से भी परित्राण करता है। वुद्धानुभाव से सव उपद्रव शान्त होते है। अन्धे आँख पाते है, वधिर श्रोत्र; विक्षिप्त-चित्त स्वस्थ होते है; ईतियाँ शान्त होती है। वुद्ध की प्रभा अपाय से परित्राण करती है। वुद्धत्व तीर्थिक-दृष्टि और सत्काय-दृष्टि से परित्राण करता है। यह अनुपम शरण है। जवतक लोक का अवस्थान है, तवतक वुद्धत्व सव सत्त्वो का सवसे वडा शरण है (६।११)।

आश्रय-परिवृत्ति—क्लेशावरण और ज्ञेयावरण के वीज जो अनादिकाल से सतत अनुगत हैं, वुद्धत्व में अस्त होते है। वुद्धत्व ही आश्रय-परिवृत्ति है। वुद्धत्व से ही विपक्ष वीज का वियोग और प्रतिपक्ष-सम्पत्ति का योग होता है, और वुद्धत्व की प्राप्ति निर्विकल्प ज्ञानमार्ग से होती है। इस प्रकार, सुविशुद्ध लोकोत्तर ज्ञान का लाभ कर तथागत नीचे लोक को देखते हैं, जैसे कोई महान् पर्वत के शिखर पर से देखता हो। उनमे श्रावक-प्रत्येकवुद्ध के लिए भी जो शमाभिराम है, और अपना ही निर्वाण चाहते है, करुणा उत्पन्न होती है। फिर, दूसरो की क्या कथा, जिनकी रुचि भव में है (अघाभिराम) ? (६।१३)

सर्वगतत्व—तथागतो की परिवृत्ति परार्थ-वृत्ति है। यह अद्वय है, और सर्वगत वृत्ति है। यह सस्कृत और असस्कृत है, क्योकि यह न ससार और न निर्वाण मे प्रतिष्ठित है (६।१४)।

असग नागार्जुन के दिये एक दृष्टान्त को देखकर वुद्धत्व के सर्वगतत्व को दिखाते है; जैसे आकाश सदा सर्वगत है, उसी प्रकार वुद्धत्व का स्वभाव सर्वगतत्व है। जैसे विविध रूपो में आकाश सर्वग है, उसी प्रकार सत्त्वों में वुद्धत्व का सर्वगतत्व है। वुद्धत्व सव सत्त्वो में असन्दिग्ध

रूप से व्यवस्थापित है, क्योकि यह सव सत्त्वो को परिनिष्पत्तित अपने से अंगीकृत करता है (६।१५)।

फिर, ऐसा क्यो हे कि वुद्धत्व का यह सर्वगतत्व नाम-रूप के जगत् में नही प्रकट होता ? असग उत्तर देते है यथा भिन्न (भग्न) जलपात्र मे चन्द्रविम्व नही दिखाई देता, उसी प्रकार दुष्ट सत्त्वो मे जो अपात्र है, वुद्धविम्व का दर्शन नही होता (६।१६), यथा अग्नि अन्यत्र जलती है, अन्यत्र शान्त होती है, उसी प्रकार जहाँ बुद्ध-विनय होते हैं, वहाँ वुद्ध का दर्शन होता है, और जव विनीत हो जाते है, तव उनका अदर्शन होता है। शाकर वेदान्त मे हम इन्ही दृष्टान्तो को पाते है। वहाँ पूर्ण ब्रह्म को सर्व-विशुद्ध और सर्व-परिपूर्ण माना है और उसके आगन्तुक आवरण और उपाधियाँ इस स्वाभाविक परिपूर्णता को, कम-से-कम देखने मे, अवि-च्छिन्न रूप से आच्छादित करती है।

अर्थचर्या का अभिप्राय—पुन, हम किस प्रकार इसका समन्वय करते है कि वोधिसत्त्व सत्त्वो की अर्थचर्या करते है, और उनका वुद्धकार्य अनाभोग से ही सिद्ध होता है, और साथ-ही-साथ अनास्रव धातु निश्चल और निष्क्रिय है ? असग इसके उत्तर मे कहते है—आभोग के विना वुद्ध में देशना का समुद्भव उसी प्रकार होता है, जैसे अघटित तूरियो मे शव्द की उत्पत्ति होती है। पुनः, जैसे विना यत्न के मणि अपने प्रभाव का निदर्शन करती है, उसी प्रकार आभोग के विना वुद्धो में भी कृत्य का निदर्शन होता है (६।१८-१६)। जैसे आकाश मे लोकक्रिया अविच्छिन्न देखी जाती है, उसी प्रकार अनास्रव धातु मे वुद्ध की क्रिया अविच्छिन्न होती है, और जैसे आकाश में लोकक्रियाओ का अविच्छेद होने पर भी अन्यान्य क्रिया का उदय-व्यय होता है, उसी प्रकार अनास्रव धातु मे वुद्धकाय का उदय-व्यय होता है (६।२०-२१)।

वुद्धत्व का परमात्मभाव

वुद्धत्व और लोक का क्या सम्वन्ध है ? असग कहते है—यद्यपि तथता पौर्वापर्य से विशिष्ट है, और इसलिए शुद्ध नही है, तथापि जव वह सर्व आवरण से निर्मल हो जाती है, तव वह मलापगम के कारण शुद्ध हो जाती है, और वुद्धत्व से अभिन्न हो जाती है (६।२२)।

वुद्ध, जिन्होने नैरात्म्य द्वारा मार्ग का लाभ किया है, विशुद्धि-शून्यता मे आत्मा की शुद्धता का लाभ करते है, और आत्ममहात्मता को प्राप्त होते है (६।२३)।[1]

यह अनास्रव धातु मे वुद्धो के परम आत्मा का निर्देश है। यह 'परमात्मा' शव्द आश्चर्यजनक है। असग यह भी कहते है कि इसका कारण यह है कि वुद्धो का परमात्मा अग्र-नैरात्म्यात्मक है। अग्र नैरात्म्य विशुद्ध तथता हे। यही वुद्धो की आत्मा हे, अर्थात् स्वभाव है। इसके विशुद्ध होने पर अग्र नैरात्म्य की प्राप्ति होती है और यह शुद्ध आत्मा है। अत, शुद्धात्मा के लाभी होने से वुद्ध आत्ममाहात्म्य को प्राप्त होते है, और इसी अभिसन्धि मे वुद्धो की परम आत्मा अनास्रव धातु मे व्यवस्थापित होती हे (६।२३)।

---

१ शून्यतायां विशुद्धायां नैरात्म्यान्मार्गलाभत।
वुद्धा शुद्धात्मलाभित्वाद् गता आत्ममहात्मताम्॥ (६।२३)

शकर के आत्मवाद से तुलना— यहाँ हम यह कह सकते है कि यह विचार कतिपय उपनिषदो के वाक्यो का स्मरण दिलाते है। जो आत्मा नैरात्म्यस्वभाव है, अथवा यो कहिए कि जो आत्मा अपने मूल में, नैरात्म्य में, विलीन है, वह वृहदारण्यक के निर्गुण आत्मा के समीप है। इस प्रकार, नागार्जुन की दृष्टि से प्रस्थान कर एक अनजान मोड हमको शकर के अद्वैतवाद की चौखट पर ले आया है। इसमे सन्देह नही कि शकर का अद्वैतवाद आत्मवाद कहलायगा, जब कि असग का अद्वैतवाद विज्ञानवाद है, किन्तु यह विज्ञानवाद ऐसा है कि स्पर्श से ही विलुप्त होने लगता है। आत्मसज्ञा का (जिसका स्वभाव नैरात्म्य का है) व्यवहार कर असग के वाद की भाषा वेदान्त की भाषा के अत्यन्त समीप आ जाती है और इसी प्रकार यदि हम उपनिषद् और शकर के निर्गुण, निर्विशेष आत्मा को लें, जो शून्यता से इतना मिलता-जुलता है, तो हमको ज्ञात होगा कि शकर के आत्मा और असग के आत्मनैरात्म्य के बीच कितना कम अन्तर है (रेने ग्रूसे)।

किन्तु, इसके आगे के श्लोक में (९।२४) असग कहते है—इसी कारण कहा गया है कि बुद्धत्व न भाव है, न अभाव है। बुद्ध के भावाभाव के प्रश्न मे (मरणानन्तर तथागत होते है या नही इत्यादि) हमारा अव्याकृत नय है। हम नही कह सकते कि बुद्धत्व भाव है, क्योकि पुद्गल और धर्म का अभाव इसका लक्षण है, और यह तदात्मक है। पुन, हम यह भी नही कह सकते कि यह अभाव है, क्योकि तथता इसका लक्षण है, और इसलिए यह भाव है (९।२४)।

असग अपने बुद्धत्व को भाव और अभाव के बीच रखने के लिए कुछ और भी हेतु देते है। लोहे की दाह-शान्ति और दर्शन की तिमिर-शान्ति भाव नही है, क्योकि दाह और तिमिर का अभाव इसका लक्षण है। यह अभाव भी नही है, क्योकि इसका लक्षण शान्ति-भाव है। इसी प्रकार बुद्धो के चित्त-ज्ञान में राग और अविद्या की शान्ति को भाव नही कहा गया है, क्योकि राग और अविद्या के अभाव से इसका उत्पाद होता है, तथा इसे अभाव भी नही कहा गया है, क्योकि उस-उस विमुक्ति-लक्षण के कारण यह भाव है (९।२५)।

असंग का अद्वैतवाद

यह एक प्रकार के अद्वैतवाद के समीप है। बुद्धो के अनास्रव धातु में न एकता है, न बहुता। एकता नही है, क्योकि बुद्धो के पूर्व देह थे, और बहुता नही है; क्योकि आकाश के तुल्य बुद्ध का देह नही है (९।२६)। पुन, जैसे सूर्य के मण्डल में अप्रमेय रश्मियाँ व्यामिश्र है, जो सदा एक ही कार्य मे सलग्न रहती है और लोक में प्रकाश करती है, उसी प्रकार अनास्रव धातु में अप्रमेय बुद्ध होते है, जो एक ही मिश्र कार्य मे सलग्न होते है, और ज्ञान ' ा आलोक करते है। जैसे एक सूर्यरश्मि के नि सरण मे सब रश्मियो की विनि सृति होती है, ुसी प्रकार बुद्धो की ज्ञान-प्रवृत्ति एक काल मे होती है। जैसे सूर्य-रश्मियो की वृत्ति में ममत्व का अभाव है, उसी प्रकार बुद्ध के ज्ञान की वृत्ति में ममत्व नही है। जैसे सूर्य की रश्मियो से जगत् सकृत् अवभासित होता है, उसी प्रकार बुद्धज्ञान से सर्व सकृत्

प्रभासित होता है। जिस प्रकार सूर्य की किरणे मेघादि से आवृत होती है, उसी प्रकार सत्त्वो की दुष्टता बुद्धज्ञान का आवरण है। यथा पाशुवश वस्त्र कही रगो मे विचित्रित और कही अविचित्रित होता है, तथैव आवेधवश, अर्थात् पूर्व प्रणिधानचर्या के बलाधान से बुद्धो की विमुक्ति मे ज्ञान की विचित्रता होती है, किन्तु श्रावक-प्रत्येकबुद्ध की विमुक्ति मे अविचित्रता होती है (९।२९–३५)।

ये उपमाएँ हमको अद्वैतवाद के दरवाजे पर ले जाती हैं। द्रव्य और स्वभाव के स्थान मे असग तथता और बुद्धत्व का प्रयोग करते है। सबकी तथता निर्विशिष्ट है, किन्तु यही तथता जब विशुद्धिस्वभाव की हो जाती है, तब तथागतत्व हो जाती है। इसीलिए, सब सत्त्व तथागत-गर्भ है (९।३७)।

पुन लौकिक से बुद्धत्व मे परिणत होने मे सब धर्मो की जो परावृत्ति होती है, उसका वर्णन असग करते है। बुद्धो का विभुत्व अप्रमेय और अचिन्त्य होता है। विभुत्व के साथ-साथ निर्विकल्पक सुविशुद्ध ज्ञान होता है। उनके अर्थविज्ञान और विकल्प की परावृत्ति होती है। इससे वह यथाकाम भोग-सदर्शन करते है, और उनके सब ज्ञान और कर्मो को भी व्याघात नही पहुँचता। प्रतिष्ठा की परावृत्ति से बुद्धो के अनास्रव धातु मे (अचलपद या अमलपद) अप्रतिष्ठित निर्वाण होता है (९।४५)।[1] तथागत न सस्कृत धातु मे प्रतिष्ठित है, और न असंस्कृत धातु मे, और न वहाँ से व्युत्थित है।

निर्वाण

हीनयान दो प्रकार के निर्वाण से अभिज्ञ है—सोपधिशेष और निरुपधिशेष। पहली जीवन्मुक्त की अवस्था है। इस अवस्था मे अर्हत् को शारीरिक दुख भी होता है। दूसरा निर्वाण वह है, जिससे अर्हत् का, मृत्यु के पश्चात्, अवस्थान होता है।

अप्रतिष्ठित निर्वाण—महायान मे एक अवस्था अधिक है। यह अप्रतिष्ठित निर्वाण की अवस्था है; क्योकि बुद्ध यद्यपि परिनिर्वृत हो चुके है और विशुद्ध तथा परम शान्ति को प्राप्त है, तथापि वह शून्यता मे विलीन होने के स्थान मे ससार के तट पर ससरण करनेवाले जीवो की रक्षा के निमित्त स्थित रहना चाहते है, किन्तु इससे उनको भय नही रहता कि उनका विशुद्ध ज्ञान समल हो जायगा (सिलवाँ लेवी की भूमिका, पृ० २७, टिप्पणी ४)।

बोधिसत्त्व का परिपाक—विज्ञानवाद की दृष्टि में सकल लोकधातु शुभ में वृद्धि को प्राप्त होता है, अर्थात् कुशलमूल का उपचय करता है, और विशुद्ध विमुक्ति मे परमता को प्राप्त होता है। इस प्रकार, यह परिपाक नित्य होता है, क्योकि लोक अनन्त है (९।४९)। असग कहते है कि बोधिसत्त्वो के परिपाक का यह लक्षण आश्चर्यमय है, क्योकि यह और सदा सब समय नित्य और ध्रुव महाबोधि का लाभ करते है, जो अशरणो का शरण है। उसमें आश्चर्य भी नही है, क्योकि वह तदनुरूप मार्ग की चर्या करते है (९।५०)।

---

1 प्रतिष्ठायाः परावृत्तौ विमुत्व लभ्यते परम्।
अप्रतिष्ठितनिर्वाण बुद्धानामचले पदे ॥ (९।४५)

जैसा पहले निर्दिष्ट किया गया है, बुद्ध का कार्य विना आभोग के निरन्तर होता है और वह हितसुखात्मक निश्चलता का कभी त्याग नही करते। वह अनेक उपायो का प्रयोग करते है। कभी अनेक प्रकार से धर्मचक्र का दर्शन कराते है, कभी जातक-भेद से विचित्र जन्मचर्या, कभी कृत्स्न वोधि, और कभी निर्वाण का दर्शन कराते है। किन्तु, वह अपने स्थान से ही सत्त्वो का विनयन करते है। वह अनास्रव धातु से विचलित नही होते, किन्तु यह सब वही करते है। बुद्ध नही कहते कि इसका मेरे लिए परिपाक हो गया है, इसका मुझको परिपाक करना है, या इसका परिपाक अव होनेवाला है। विना किसी सस्कार के जनता का परिपाक शुभ धर्मो से सव दिशाओ में नित्य होता है। जिस प्रकार सूर्य विना किसी यत्न के अपनी प्रतत शुभ्र किरणो से सर्वत्र सस्य का पाक करता है, उसी प्रकार धर्म का सूर्य अपनी शान्त धर्म-किरणो को समन्तात् विस्तीर्ण कर सत्त्वो का पाक करता है (६।५२-५३)।

रेने ग्रूसे की आलोचना—असग की यह चेष्टा निरन्तर रहती है कि वह नागार्जुन के मतवाद के विरुद्ध न जायँ, किन्तु हमे कभी-कभी वह उनसे वहुत दूर जाते प्रतीत होते है। इस वाक्य को लीजिए (६।५५)—यथा जल से महासागर की कभी तृप्ति नही होती और न प्रतत जल के प्रवेश से उसकी वृद्धि ही होती है, तथैव विमुक्ति मे परिपक्वो के प्रवेश से न धर्मधातु की तृप्ति होती है, और न उसकी वृद्धि होती है, क्योकि उससे कोई अधिक नही है। क्या, असग, जान में हो या अनजान मे, वुद्धत्व का निदर्शन इस प्रकार नही कर रहे हैं कि मानो वह एक प्रकार का आध्यात्मिक आकाश है, जहाँ सर्वधर्म की तथता विलीन होकर सुविशुद्ध और अद्वय हो जाती है ?

सर्व परतन्त्र और सर्व विशेप की 'विशुद्धि' का भाव, उपशम द्वारा एकता और विशुद्धि प्राप्त करने का भाव असग में निरन्तर विद्यमान है। वह दुहराते हैं कि वुद्धत्व का लक्षण सर्व धर्म की तथता की क्लेशावरण और ज्ञेयावरण से विशुद्धि है (६।५६)। इसका अर्थ यह है कि 'वुद्धत्व में तथता सर्व धर्मों से विशुद्ध हो जाती है'।

त्रिकायवाद

असग वुद्धत्व की भिन्न वृत्तियो का आरम्भ कर त्रिकायवाद का निरूपण करते है। त्रिकाय की कल्पना से वह विज्ञानवाद की कठिनाइयो को दूर करते है। वुद्धकाय के तीन विभाग है—स्वाभाविक, साम्भोगिक, नैर्माणिक। स्वाभाविक काय धर्मकाय है। आश्रय-परावृत्ति इसका लक्षण है। साम्भोगिक काय वह काय है, जिससे पर्पन्मण्डल मे वुद्ध धर्म-सम्भोग करते है। नैर्माणिक काय वह काय है, जिसका निर्माण कर वह सत्त्वार्थ करते है।

धर्मकाय—धर्मकाय सव वुद्धो में समान और निर्विशिष्ट है। यह सूक्ष्म है, क्योकि यह दुर्ज्ञेय है। यह साम्भोगिक काय से सम्वद्ध है, और सम्भोग के विभुत्व में हेतु है (६।६२)। साम्भोगिक काय धातुत्रय के ऊपर अवस्थित है। यह वुद्धो का अचिन्त्य आविर्भाव है। कम-से-कम हमारे लिए यह अगोचर है। वोधिसत्त्व ही अपनी प्रज्ञा से इनका चिन्तन कर सकते है। यह काय नित्य है, किन्तु यह एक आविर्भाव है। पर्पन्मण्डल, वुद्धक्षेत्र, नाम, शरीर

और धर्मसम्भोग-क्रिया की दृष्टि से भिन्न-भिन्न लोकधातु का यह काय भिन्न है। नैर्माणिक काय अप्रमेय है। इसका लक्षण परार्थ-सम्पत्ति है, जब कि साम्भोगिक काय का लक्षण स्वार्थ-सम्पत्ति है। इसी काय का दर्शन विनेय जन करते है। विनेय जनो के विमोचन का यह महान् उपाय है।

अन्य ग्रन्थो मे धर्मकाय के सम्बन्ध मे अन्य विचार मिलेगे। धर्मकाय को प्रपचातीत, एकता-अनेकता से विगत, भावाभावरहित, नित्य, अलक्षण, अर्थात् निर्विकल्पक और निर्विशेष और परमार्थ से अभिन्न मानते है। बोधिचर्यावतारपजिका में प्रज्ञाकरमति इसी अर्थ मे कहते हैं कि बुद्धत्व को, जो प्रपचातीत, आकाशसम है, धर्मकाय कहते हैं। यही परमार्थ सत्य है, और इसी अर्थ में महायानसूत्रालंकार का यह वाक्य है "आकाश विभु है (सर्वगत है); विभुत्व भी बुद्धस्वभाव है" (बोधिचर्यावतारपजिका, ९।१५)।

आल्टरमरी का निष्कर्ष—कदाचित् इस धर्मकाय को एक प्रकार का गुणात्मक और नैतिक आकाश कह सकते हैं। इन विविध उद्धरणो को एकत्र कर आल्टरमरी धर्मकाय पर लिखते हैं कि यह विभु है, और इसलिए सब सत्त्व इसमे समवेत हैं। किन्तु, केवल बुद्ध मे यह विशुद्ध है। अन्य सत्त्वो में यह बीजरूप से विद्यमान हैं। किन्तु, उनके लिए यह आवश्यक है कि वह उस मल को अपगत करे, जिससे वह ससार मे उपलिप्त होते हैं।

यह कहकर अपनी व्याख्या को समाप्त करते हैं जब धर्मकाय धर्मधातु का समानार्थक हो गया, तब इस शब्द का प्रयोग बुद्ध के लिए करना उचित न था। कदाचित् इसीलिए त्रिकाय के वाक्य मे इसके स्थान में स्वाभाविक काय का प्राय प्रयोग होता है।

धर्मधातु और धर्मकाय समान रूप से भाव के मूलाश्रय को प्रज्ञप्त करते हैं, और स्वाभाविकादि काय केवल इस सर्वगत आश्रय की वृत्तियाँ हैं।

कदाचित् यहाँ यह दुहराना अनुचित न होगा कि नागार्जुन के वाद से प्रस्थान कर असग का वाद अद्वयवाद और विश्वदेवैक्यवाद की सीमा पर है।

असग इस अद्वयवाद और इस विश्वदेवैक्यवाद का समर्थन करते है, और बहुदेववाद से इनको सुरक्षित रखते हैं। वह कहते है कि सब बुद्धो के त्रिकाय मे कोई भेद नही है। सब बुद्धो के तीनो काय यथाक्रम आश्रय, आशय और कर्म की दृष्टि से समान हैं। धर्मकाय आश्रय-वश समान है, क्योकि धर्मधातु अभिन्न है। साम्भोगिक काय आशयवश समान है, क्योकि बुद्ध का कोई पृथक् आशय नही है। निर्माण कर्मवश समान है, क्योकि सबका कर्म साधारण है (९।६६)।

पुनः, इन तीनो कायों मे यथाक्रम त्रिविध नित्यता है। इसीलिए तथागत 'नित्यकाय' कहलाते हैं। स्वाभाविक की नित्यता प्रकृति से है। वह स्वभाव से ही नित्य है। साम्भोगिक की नित्यता धर्मसम्भोग के अविच्छेद से है। नैर्माणिक की नित्यता प्रबन्धवश है, क्योकि नैर्माणिक के अन्तर्हित होने पर पुन -पुन निर्माण का दर्शन होता है।

बुद्ध का चतुर्विध ज्ञान

अन्त मे असग बुद्ध के चतुर्विध ज्ञान का उल्लेख करते है। यदि हमको यह मान्य है कि असग का सिद्धान्त शुद्ध विज्ञानवाद का है, तो यह विषय मुख्य हो

जाता है। आदर्श ज्ञान सर्वोच्च है। यह अचल है, और शेष तीन ज्ञानो का (समता⁰, प्रत्यवेक्षा⁰ और कृत्यानुष्ठान⁰—यह चल है) आश्रय है। आदर्श ज्ञान ममत्व से रहित, देशत अपरिच्छिन्न और कालत सन्तानुग है। यह सर्व ज्ञेय के विषय में असम्मूढ है, क्योकि आवरण विगत हो गये हैं। यह कभी ज्ञेयो के सम्मुख नही होता, क्योकि इसका कोई आकार नही है (६।६८)।

आदर्श ज्ञान समतादि ज्ञान का हेतु है। इसलिए, यह एक प्रकार से सब ज्ञानो का आकर है। इसे आदर्श ज्ञान इसलिए कहते है, क्योकि इसमें सम्भोग, बुद्धत्व और तज्ज्ञान का उदय प्रतिबिम्ब के रूप में होता है (६।६९)। सत्त्वो के प्रति समता-ज्ञान वह है, जो अप्रतिष्ठित निर्वाण में निविष्ट है। यह सब समय महामैत्री और करुणा से अनुगत होता है। यह सत्त्वो को उनकी श्रद्धा (अधिमोक्ष) के अनुसार बुद्ध के बिम्ब का निदर्शक है।

प्रत्यवेक्षा ज्ञान वह है, जो ज्ञेय विषय मे सदा अव्याहत है। परिषन्मण्डल में यह सब विभूतियो का निदर्शक है। यह सब सशय का विच्छेद करता है। यह महाधर्म का प्रवर्षक है।

कृत्यानुष्ठान-ज्ञान सर्व लोकधातु मे निर्माणो द्वारा नाना प्रकार के अप्रमेय और अचिन्त्य कृत्यो का ज्ञान है (६।७४-७५)।

बुद्ध की एकता-अनेकता

इस अधिकार को समाप्त करने के पूर्व असग बुद्ध की एकता-अनेकता के प्रश्न का विचार करते है। यदि कोई कहता है कि केवल एक बुद्ध है, तो यह इष्ट नही है, क्योकि बुद्धगोत्र के अनन्त सत्त्व है। तो क्या इनमें से एक ही अभिसम्बुद्ध होगा, और अन्य न होगे ? ऐसा कैसे हो सकता है ? इस प्रकार, दूसरो के पुण्यज्ञानसम्भार व्यर्थ होगे, क्योकि उनकी अभिसम्बोधि न होगी। किन्तु, यह व्यर्थता अयुक्त है। इस हेतु से भी बुद्ध एक नही है। पुन कोई आदिबुद्ध नही है, क्योकि सम्भार के बिना बुद्ध होना असम्भव है, और बिना दूसरे बुद्ध के सम्भार का योग नही है, अत एक बुद्ध नही है। बुद्ध की अनेकता भी इष्ट नही है, क्योकि अनास्रवधातु मे बुद्धो के धर्मकाय का अभेद है (६।७७)।

जो अविद्यमानता है, वही परम विद्यमानता है, अर्थात् जो परिकल्पित स्वभाववश अविद्यमानता है, वही परिनिष्पन्न स्वभाववश परम विद्यमानता है। भावना का जो अनुपलम्भ है, वही परम भावना है। जो बोधिसत्त्व इन सबको कल्पनामात्र देखते है, उनको बोधि की प्राप्ति होती है।

उपनिषदों के आत्मवाद से तुलना—हम उपनिषदो के अद्वयवाद के इतने समीप है कि असंग भी उपनिषदो का प्रसिद्ध दृष्टान्त देते है - जबतक नदियो के आश्रय अलग-अलग है, उनका जल भिन्न-भिन्न है, उनका कृत्य अलग-अलग होता है, जबतक उनका जल स्वल्प होता है, थोडे ही जलाश्रित प्राणी उनका उपभोग करते है। किन्तु, जब यह सब नदियाँ समुद्र में प्रवेश करती है, और उनका एक आश्रय हो जाता है, उनका एक महाजल हो जाता है। उनके कृत्य भिन्न होकर एक हो जाते है, तब वह बृहत्समूह की उपभोग्य हो जाती है, और

यह क्रम नित्य चलता रहता है। इसी प्रकार बोधिसत्त्वो का आश्रय जबतक पृथक्-पृथक् होता है, उनके मत भिन्न-भिन्न होते हैं, उनके कृत्य पृथक्-पृथक् होने हैं, और उनका अवबोध स्वल्प होता है, तबतक वह सत्त्व का ही उपकार करते हैं। बुद्धत्व में उनका प्रवेश नही हुआ, किन्तु जब वह बुद्धत्व मे प्रविष्ट हो जाते हैं, तब सबका आश्रय एक हो जाता है, उनका एक महान् अवबोध हो जाता है, और उनका कार्य मिश्र होकर एक हो जाता है, तब वह सब सत्त्वो के उपभोग्य हो जाते हैं (९।८२–८५)।

धर्म-पर्येषण—ग्यारहवे अधिकार मे धर्म (आलम्बन) का पर्येषण किया गया है। 'धर्म' शब्द के दो अर्थ है। बुद्ध की शिक्षा, उपदेश, सिद्धान्त धर्म है। दूसरे अर्थ में धर्म अध्यात्म-आलम्बन, बाह्य-आलम्बन और दोनो है। कायादिक आध्यात्मिक और बाह्य दोनो हैं। ग्राहकभूत कायादिक आध्यात्मिक हैं, ग्राह्यभूत बाह्य हैं, द्वय इन्ही दो की तथता है। द्वयार्थ से दो आलम्बनो का लाभ होता है। यदि वह देखता है कि ग्राह्यार्थ से ग्राहकार्थ अभिन्न है और ग्राहकार्थ से ग्राह्यार्थ अभिन्न है, तो समस्त आध्यामिक और बाह्य आलम्बन की तथता का लाभ होता है, क्योकि उन दो के द्वयभाव का अनुपलम्भ है (१२।५)। असग कहते हैं कि यदि मनोजल्पवश अर्थख्यान का प्रधारण (प्रविचय) होता है और यदि चित्त नाम पर स्थित होता है, तो धर्मालम्बन का लाभ होता है। मनोजल्प के अतिरिक्त कुछ नही है और द्वय का अनुपलम्भ है। (११।६-७)

इस विषय पर मिलवाँ लेवी अपनी भूमिका में कहते हैं कि जब चित्त समाहित होता है, तब निश्चित यथोक्त अर्थ का मनोजल्प से प्रधारण होता है। चिन्तामय ज्ञान अर्थ (और उसके आलम्बन) का मनोजल्प से अभेद सिद्ध करता है। अन्त में, भावनामय ज्ञान से चित्त अर्थ-विरहित नाम पर ही स्थित होता है। अष्टादशविध मनस्कार इस कार्य में योग देते हैं। तब धर्मतत्त्व का लाभ होता है।

धर्म के तीन स्वभाव—धर्मतत्त्व में तीन स्वभाव सगृहीत हैं। ये इस प्रकार हैं—
१. परिकल्पित, २. परतन्त्र और ३ परिनिष्पन्न।

परिकल्पित ग्राह्यग्राहक-लक्षणात्मक है, अत द्वयात्मक है, परतन्त्र द्वय का सनिश्रय है। परिनिष्पन्न अनभिलाप्य और अप्रपचात्मक है। किन्तु, धर्म स्वय भ्रान्तिमात्र है, माया है। चित्त में ही द्वयभ्रान्ति है। चित्त स्वय धर्मो का निर्माण करता है, और ग्राह्यग्राहकभाव मे द्विधा विभक्त हो जाता है, तथापि वह धर्मो को सत् मानता है। द्वय को अद्वय करने के लिए इनके बुद्धि-सम्बन्ध का जानना आवश्यक है। चित्त अपना विवेचन कर या तो अपना लक्षण परिकल्पित बताता है, जो जल्प और तदर्थ (या आलम्बन) है; अथवा परतन्त्र बताता है, जो नाम, रूप चित्त, विज्ञानादि है, अथवा परिनिष्पन्न बनाता है, जो तथता है। वस्तुत, इन अप्रत्यक्ष लक्षणो मे यह अवगत होता है कि कोई धर्मो की परिचित विज्ञप्ति है, जिससे ही चित्त और उसके लक्षणो के बीच का सम्बन्ध युक्त हो सकता है। जो मनस्कार इन सम्बन्ध को स्थापित और निरूपित करता है, वह लौकिक नही है, यह मनस्कार योगियो का है। यह पाँच पाद में द्वय से अद्वय को जाता है—यह धर्महेतुत्व का निग्रह करता है, यह योनिशोमनस्कार का लाभ कराता है;

यह समाधि की अवस्था मे चित्त का स्वधातु में अवस्थान कराता है; यह भाव-अभाव का एक अविशिष्ट दर्शन कराता है, यह आश्रय की परावृत्ति करता है। यह परावृत्ति प्रत्यगात्मा से परमात्मा को आकृष्ट करती है। उस समय सवका परिनिर्वाण में मिलन होता है (सिलवाँ लेवी की भूमिका, पृ० २५-२६)।

मनस्कार और उसके विविध आकारो की पर्येष्टि से इस क्रम का आरम्भ होता है। चर्या के वहुत सूक्ष्म नियम है। इस साधना में इन्द्रियार्थ का अनुपलम्भ, उपलम्भ का अनुपलम्भ, धर्मधातुवशित्व, पुद्गलनैरात्म्य और विविध आशयो का प्रतिवेध होता है, जो चित्त की अवस्थाओ को निश्चित करता है।

तत्त्व का लक्षण—इस साधना से धर्मतत्त्व का लाभ होता है। यह धर्मों का स्वभाव है। यहाँ स्वभाव किसी आत्मा को प्रज्ञप्त नही करता, किन्तु यह धर्मों के स्वकीय गुण को सूचित करता है।

असग 'तत्त्व' का यह लक्षण वताते हे—तत्त्व वह है, जो सतत द्वय से रहित है, जो अनभिलाप्य है, जो निष्प्रपचात्मक है और जो विशुद्ध है (११।१३)। पुन असग कहते है कि ग्राह्यग्राहक-लक्षणवश यह तत्त्व जो सतत द्वय से रहित है, परिकल्पित और असत् होगा। किन्तु, भ्रान्ति का सनिश्रय परतन्त्र है, क्योकि उससे उसका परिकल्प होता है। अनभिलाप्य तत्त्व का परिनिष्पन्न-स्वभाव है। यह सव धर्मो की तथता है।

परिनिष्पन्न तत्त्व—यह परिनिष्पन्न स्वभाव, यह तथता, यह तत्त्व अन्तिम वस्तुतत्त्व है। इसकी प्रशसा में असग कहते है—जगत् मे इससे अन्य कुछ भी नही है, और सकल जगत् इस विषय में मोह को प्राप्त है। यह कैसा मोह है, जिसके वश हो लोक जो असत् है, उसमे अभिनिविष्ट है, और जो सत् है, उसका त्याग करता है। वस्तुत, इस धर्मधातु मे अन्य लोक में कुछ भी नही है, क्योकि धर्मता धर्म से अभिन्न है (११।१४)।

आत्मा और लोक की मायोपमता—इस दृष्टि में आत्मा और लोक क्या हैं? असग का उत्तर है कि यह मायोपम है। अभूतपरिकल्प मायासदृश है। यह मन्त्रपरिगृहीत भ्रान्तिनिमित्त काष्ठलोष्ठादि के सदृश है। मायाकृत हस्ति-अश्ववत् द्वयभ्रान्ति ग्राह्यग्राहक के रूप मे प्रतिभासित होती है (११।१५)। असग आगे कहते हे—यथा मायाकृत हस्ति-अश्व-सुवर्णादि आकृतियो में हस्त्यादि का अभाव है, तथैव परमार्थ के लिए है, और जिस प्रकार उस मायाकृत हस्त्यादि की उपलव्धि होती है, उसी प्रकार अभूतपरिकल्प की सवृतिसत्यता है (११।१६)।

जिस प्रकार मायाकृत के अभाव में उसके निमित्त (काष्ठादिक) की व्यक्ति होती है, और भूतार्थ की उपलव्धि होती है, उसी प्रकार आश्रय की परावृत्ति और द्वयभ्रान्ति का अभाव होता है, और अभूतपरिकल्प का भूतार्थ उपलव्ध होता है (११।१७)।

आश्रयपरावृत्ति से भ्रान्ति दूर होती है, और यति स्वतन्त्र हो विचरता है। वह काम-चारी होता है (११।१८)। एक ओर वहाँ आकृति है, दूसरी ओर भाव नहीं है। इसीलिए, मायादि मे अस्तित्व-नास्तित्व का विधान है (११।१९)। यहाँ भाव अभाव नही है, और

न अभाव भाव ही है। मायादि में भावाभाव के अविशेष का विधान है। आकृति-भाव है, वह हस्तित्वादि का अभाव है। जो हस्तित्वादि का अभाव है, वही आकृति-भाव है (११।२०)।

अत., द्वयाभासता है, द्वयभाव नही है। इसीलिए रूपादि में जो अभूत-परिकल्प-स्वभाव है, अस्तित्व-नास्तित्व का विधान है (११।२१)। रूपादि मे भाव अभाव नही है। यह भावाभाव का अविशेष है (११।२२)। भाव अभाव नही है, क्योकि द्वयाभासता है। अभाव भाव नही है, क्योकि द्वयता की नास्तिता है। जो द्वयाभासता का भाव है, वही द्वय का अभाव है।

यहाँ असग फिर नागार्जुन के साथ हो जाते है। नागार्जुन के सदृश वह भाव और अभाव इन दोनो अन्तो का प्रतिषेध करते हैं। एक समारोप का अन्त है; दूसरा अपवाद का अन्त है। अथवा, यो कहिए कि असग दिखाते हैं कि भाव और अभाव का ऐकान्तिकत्व और अविशेष है (११।२३)। किन्तु, असग साथ ही-साथ अपने को अद्वयवादी और विज्ञानवादी वताते है। यहाँ वह नागार्जुन से पृथक् हो जाते है। वह कहते है —द्वय नही है, द्वय की उपलब्धि-मात्र होती है। मायाहस्ती की आकृति के ग्राह मे जो भ्रान्ति होती है, उसके कारण द्वय की प्रतीति होती है। वस्तुत न ग्राहक है, न ग्राह्य। केवल द्वय की उपलब्धि है (११।२६)। सव धर्म, भाव और अभाव मायोपम हैं। वे सत् है, क्योकि अभूतपरिकल्पत्वेन उनका तथाभाव है। वे असत् है, क्योकि ग्राह्य-ग्राहकत्वेन उनका अभाव है। पुन क्योकि भाव-अभाव का अविशेष है, और वह सत् भी है, असत् भी है, इसलिए वह मायोपम है (११।२७)।

स्मृत्युपस्थानादि जिन प्रातिपक्षिक धर्मों का वुद्ध ने उपदेश दिया है, वह भी अलक्षण और माया है। जब बोधि की विजय ससार पर होती है, तव यह एक मायाराज की दूसरे मायाराज से पराजय है (११।२८)। साक्लेशिक धर्मों की व्यावदानिक धर्मों से पराजय एक मायाराज की दूसरे मायाराज पर विजय है।

सव धर्म वस्तुत मायोपम है। माया, स्वप्न, मरीचिका, विम्व, प्रतिभास, प्रतिश्रुति, उदकचन्द्रविम्व और निर्माण के तुल्य सव धर्म और सस्कार है। आत्मा-जीवादि असत् है। तथापि आध्यात्मिक धर्मों का तथाप्रख्यान होता है। वाह्य धर्म भी असत् है। वाह्य आयतन स्वप्नोपम है, क्योकि उनका उपभोग अवस्तुक है। चित्त-चैतसिक भी मरीचिका के तुल्य है, क्योकि वह भ्रान्तिकर है (११।३०)।

इस अद्वयवाद के तल मे हम सदा प्रतीत्यसमुत्पाद की अनादि सन्त्री पायेगे और अनित्यता और शून्यता इसके पृष्ठ मे है। आध्यात्मिक आयतन प्रतिविम्वोपम है, क्योकि यह पूर्वकर्म के प्रतिविम्व है। पुद्गल केवल कर्मकृत है। इसी प्रकार वाह्य आयतन प्रतिभासोपम है। यह आध्यात्मिक आयतनो की छाया है, क्योकि उनकी उत्पत्ति आध्यात्मिक आयतनो के आधिपत्य से होती है। इसी प्रकार समाधि-सन्निश्रित धर्म उदकचन्द्रविम्ववत् है। वोधिसत्त्व के विविध जन्म (जातक) निर्माणोपम है। देशना-धर्म प्रतिश्रुति के

सदृश है (११।३०)। अभूतपरिकल्प न भूत, न अभूत, अकल्प, न कल्प-न अकल्प, यह सब ज्ञेय कहलाते हैं। यहाँ अकल्प तथता लोकोत्तर ज्ञान है (११।३१)।

धर्मों की तथता—अविद्या और क्लेश से विकल्पों का प्रवर्त्तन होता है। इनका द्वयाभास, अर्थात् ग्राह्यग्राहकाभास होता है (११।३२)। इन विकल्पों के अपगम से आलम्बन-विशेष की प्राप्ति होती है, जहाँ द्वयाभास नही है। यही धर्मों की तथता है। इसे हमने पूर्वधर्मालम्बन कहा। नाम पर चित्त का अवस्थान होने से स्वधातु पर (तथता पर) अवस्थान होता है। स्वधातु विकल्पो की तथता है। यह कार्य भावनामार्ग से होता है। उस क्षण में इन्ही विकल्पो का अद्वयाभास होता है। जिस प्रकार खरत्व के अपगम से चर्म मृदु होता है, अग्नि से तपाये जाने पर काण्ड ऋजु होता है, उसी प्रकार भावना से आश्रयपरावृत्ति होती है, और उन्ही विकल्पो का पुन. द्वयाभास नही होता (११।३३)। यहाँ विज्ञप्तिमात्रता प्रतिपादित हो रही है। चित्तमात्र है। इसी का द्वयप्रतिभास, ग्राह्यप्रतिभास, ग्राहकप्रतिभास इष्ट है। इसी का रागादिक्लेशाभास, श्रद्धादिकुशलधर्माभास भी इष्ट है। चित्त से अन्य कोई धर्म नही है। तदाभास से अन्य न कोई क्लिष्ट धर्म है, न कोई कुशल धर्म है (११।३४)। अत॰, यह चित्त ही है, जिसका विविध आकार में आभास होता है। यह आभास भावाभाव है, किन्तु यह धर्मो का नही है। चित्त का ही चित्ताभास होता है। इसका विविध आकार मे प्रवर्त्तन होता है। पर्याय से रागाभास, द्वेषाभास अथवा अन्य धर्म का आभास होता है। इस प्रतिभास के व्यतिरिक्त धर्मों का यह लक्षण नही है (११।३५)।

असग विज्ञानवाद की दृष्टि मे ज्ञान के प्रश्न का विवेचन करते है। चित्त विज्ञान और रूप है (११।३७)। परतन्त्र का लक्षण अभूतपरिकल्प है। इसके विविध आभास हैं—देहाभास, मन (=क्लिष्टमन)—उद्ग्रह (=पचविज्ञानकाय)—विकल्प (=मनोविज्ञान)-आभास (११।४०)। अन्त में, असग धर्मों की तथता का निर्देश करते है। यह धर्मो का परिनिष्पन्न लक्षण है। यह सव परिकल्पित धर्मो की अभावता है, और तदभाववश यह भाव है। यह भावाभाव-समानता है, क्योकि यह भाव और यह अभाव अभिन्न हैं। यह आगन्तुक उपक्लेशो के कारण अशान्त है, और प्रवृत्ति-परिशुद्ध होने के कारण शान्त है। पुन यह अविकल्प है, क्योंकि निष्प्रपच है, और विकल्पो का अगोचर है (११।४१)। तथता का ध्यान करने से योगी आदर्शज्ञान और आलोक का लाभ करता है। आदर्श चित्त का धातु में अवस्थान है। यह समाधि है। आलोक सत्-असत् के आकार में अर्थदर्शन है। यह लोकोत्तर प्रज्ञा है। सत् को सत् और असत् को असत् यथाभूत देखना लोकोत्तर प्रज्ञा है (११।४२)। यह प्रज्ञा सब आर्यगोत्रो को सामान्य है।

भवत्रयगत द्विविध नैरात्म्य को जानकर, और यह जानकर कि यह द्विविध नैरात्म्य सम है, क्योंकि परिकल्पित पुद्गल का अभाव है, और परिकल्पित धर्मों का अभाव है, किन्तु इसलिए नही कि सर्वथा अभाव है, वोधिसत्व तत्त्व मे, अर्थात् विज्ञप्तिमात्रता में प्रवेश करता है। जब तत्त्व-विज्ञप्तिमात्र में मन का अवस्थान होता है, तव तत्त्व का ध्यान

नही होता। यह अख्यान ही विमुक्त है। यह उपलम्भ का परम विगम है, क्योकि इसमे उपलम्भ नही होता (११।४७)।

योगी नाममात्र, अर्थात् अर्थरहित अभिलापमात्र पर मन का आधान करता है। नाम चार अरूपी स्कन्ध कहे गये है। इस प्रकार, वह विज्ञप्तिमात्र का दर्शन करता है। इसको भी वह पुनः नही देखता, क्योकि अर्थाभाव से उसकी विज्ञप्ति का अदर्शन होता है। यह अनुपलम्भ विमुक्ति है (११।४८)।

यह जानकर आश्चर्य होता है कि यह साधना पातजल योग के समीप है।

क्या असग का निम्नाकित वाक्य योगसूत्र मे दिये लक्षण का स्मरण नही दिलाता ? चित्त की अध्यात्म-स्थिति से, अर्थात् चित्त का चित्त मे ही अवस्थान होने से चित्त की निवृत्ति होती है, क्योकि इस अवस्था मे आलम्बन का अनुपलम्भ होता है।

चित्तमेतत् सदौष्ठुल्यमात्मदर्शनपाशितम्।
प्रवर्त्तते निवृत्तिस्तु तदध्यात्मस्थितेर्मता ।। (११।४९)

किन्तु, एक प्रधान भेद योगाचार को योग से पृथक् करता है। पातजल योग मे धर्मो का स्वभाव है, और योगाचार में इसका अभाव है। असग कहते है कि धर्मों की निःस्वभावता है, स्वात्म से उनका अभाव है। वे प्रत्ययाधीन है, और क्षणिक है। केवल मूढ पुरुषो का स्वभावग्राह होता है। वह स्वभाव को नित्यत, सुखत शुचित और आत्मतः देखते है (११।५०)।

धर्मों की निःस्वभावता से यह सिद्ध होता है कि न उत्पाद है, न निरोध। जब धर्मों का स्वभाव नही है, तो उनका उत्पाद नही है, और जो अनुत्पन्न है, उसका निरोध नही है, अत वह आदिशान्त है, और जो आदिशान्त है, वह प्रकृति-परिनिर्वृत है।

नि.स्वभावतया सिद्धा उत्तरोत्तरनिश्रयाः।
अनुत्पादोऽनिरोधश्चादिशान्ति परिनिर्वृति ।। (११।५१)

बारहवे अधिकार मे असग बताते है कि दोषविवर्जित धर्मदेशना क्या है, उसका कार्य क्या है, उसकी सम्पत्ति क्या है और उसका विषय क्या है। ग्रन्थ के तेरहवें अधिकार मे वह दिखाते है कि उक्त सिद्धान्तो के प्रयोग से किस प्रकार बोधिसत्त्व क्रमपूर्वक अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त होता है। यह प्रतिपत्ति-अधिकार है।

लौकिक-अलौकिक समाधि--शून्यता-समाधि, अप्रणिहित-समाधि, अनिमित्त-समाधि, चर्या का आरम्भमात्र है। ये तीन लौकिक समाधि है। किन्तु, यह लोकोत्तर ज्ञान का आवाहन करती है, और इसलिए यह मिथ्या नही है। आदिभूमि मे (प्रमुदिता भूमि मे) ही वह लोकोत्तर ज्ञान का लाभ करता है। वहाँ उस भूमि के सब बोधिसत्त्वो मे समता

तादात्म्य हो जाता है और इस प्रकार वह बोधिसत्त्वो की सामीची[1] में प्रतिपन्न हो जाता है। उसको ज्ञेयावरण और क्लेशावरण को अपगत करना है। ज्ञेयावरण का ज्ञान भावना से होता है, और क्लेशनि सरण क्लेश से होता है। भगवान् कहते है कि मै राग का नि सरण राग से अन्यत्र नही बताता, इसी प्रकार द्वेष का और मोह का नि.सरण द्वेष और मोह से अन्यत्र नही बताता। धर्मधातु से विनिर्मुक्त कोई धर्म नही है, क्योकि धर्मता से व्यतिरिक्त धर्म का अभाव है। अत, रागादिधर्मता रागादि आख्या का लाभ करती है, और वही रागादि का नि सरण है (१३।११)। धर्मधातु मे क्लेश रागस्वभाव का परित्याग कर धर्मता हो जाता है, और उसका आख्यान नही होता। रागादि के परिज्ञात होने पर वही उनके नि सरण है।

इसी अर्थ मे अविद्या और बोधि भी एक है। उपचार मे अविद्या बोधि की धर्मता है (१३।१२)।

धर्म का अभाव और उपलब्धि, नि सक्लेश और विशुद्धि भी मायासदृश है। वस्तुत चित्त तथता ही है, जैसे विधिवत् विचित्रित चित्र मे नत-उन्नत नही है, किन्तु द्वय दिखलाई पड़ता है, उसी तरह अभूतकल्प मे भी द्वय नही है, किन्तु द्वय दिखलाई पड़ता है। जैसे जल क्षुब्ध होकर प्रसादित हो जाता है, उसकी अच्छता अन्यत्र मे नहीं आती, उसी प्रकार यह मल का अपकर्ष-मात्र है। चित्त की विशुद्धि इसी प्रकार होती है। चित्त प्रकृतिप्रभास्वर है, किन्तु आगन्तुक दोष से दूषित होता है। धर्मता-चित्त से अन्यत्र दूसरा चित्त नही है, जो प्रकृतिप्रभास्वर हो (१३।१६—१९)। इस प्रकार, बुद्धत्व या निर्माण चित्त में है। अत., असग का वाद विज्ञानवादी अद्वयवाद है। धर्मधातु की प्रकृति-परिशुद्धि से मूढो को त्रास होता है। असग आकाश और जल का दृष्टान्त देकर इस त्रास का प्रतिषेध करते है। वह कहते है कि चित्त आकाशतोयवत् प्रकृत्या विशुद्ध है। यह तथता से अन्य नही है।

इस उपोद्घात के साथ असग बोधिसत्त्व की सत्त्वो के प्रति मैत्री और करुणा का वर्णन करते है। बोधिसत्त्व का सत्त्वो के प्रति प्रेम मज्जागत होता है। वह सत्त्वो से वैसे ही प्रेम करते है, जैसे कोई अपने एकमात्र पुत्र से करता है। वह सदा सत्त्वो का हित साधित करते है। जैसे कपोती अपने बच्चो को प्यार करती है, और उनका उपगूहन करती है, उसी प्रकार यह कारुणिक सत्त्वो को पुत्रवत् देखता है (१३।२०—२२)।

बोधिचर्या का क्रम एवं स्वरूप

चौदहवे अधिकार में अववाद-अनुशासनी[2] विभाग है। इसमे असग बताते है कि प्रतिपत्ति के पश्चात् बोधिसत्त्व की चर्या क्या है ? सिलवाँ लेवी भूमिका मे इस अधिकार का सक्षेप

---

१ 'सामीचि' अनुच्छविक धर्म' है, यथा पादप्रक्षालन, चीवरदान, चैत्यवन्दना इत्यादि। प्रातिमोक्ष ७३ के अनुसार 'सामीचि' 'अनुधर्मता' है। लोकोत्तर धर्म के अनुरूप अववाद और अनुशासनी सामीचिधर्मता है।

२ अववाद—विधि-निषेध, अनुशासनी=देशना।

यो करते हैं—बोधिसत्त्व पहले सूत्रादिक धर्म के नाम में (यथा दशभूमिक) चित्त को बाँधता है, वह इसके अर्थ और व्यजन का विचार करता है, विचारित अर्थ को मूलचित्त में सक्षिप्त करता है, और ज्ञान के लिए उसका चित्त छन्द-सहगत होता है। वह समाधि मे चित्त का दमन करता है। इससे उसके चित्त की स्वरसवाहिता होती है।

पहले यह साभिसस्कार होती है, पुन अभ्यासवश अभिसस्कारो के विना होती है। तदनन्तर, उसको कायप्रश्रब्धि और चित्तप्रश्रब्धि का लाभ होता है। इसकी वृद्धि कर वह मौली स्थिति का लाभ करता है, और इसका शोध कर वह ध्यानो मे कर्मण्यता को प्राप्त होता है। ध्यानो में उसको अभिज्ञावल की प्राप्ति होती है, जिससे वह अप्रमेय बुद्धो की पूजा करने और उनसे धर्म-श्रवण करने लिए बुद्धो के लोकधातुओ को जाता है। भगवदुपासना से वह चित्त की कर्मण्यता और काय-चित्त की प्रश्रब्धि का लाभ करता है, और कृत्स्न दौष्ठुल्य प्रतिक्षण द्रवित होता है। वह विशुद्धि का भाजन हो जाता है। तव वह निर्वेधभागीय अवस्थाओ मे से होकर क्रमश गमन करता है। इससे उसको द्वयग्राह-विसयुक्त लोकोत्तर निर्विकल्प शुद्ध ज्ञान का लाभ होता है। यह दर्शन-मार्ग की अवस्था है। उसका चित्त सदा सम होता है, वह शून्यज्ञ होता है, अर्थात् वह त्रिविधशून्यता का ज्ञान रखता है—अभावशून्यता, तथाभाव की शून्यता और प्रकृतिशून्यता। यह अनिमित्त पद है, यह अप्रणिहित पद है। वह बोधिपक्षीय धर्मो का लाभ करता है, और 'महात्मदृष्टि' का लाभ करता है। जहाँ सब सत्त्वो में आत्मसमचित्त का लाभ होता है, तव ज्ञान की भावना के लिए परिशिष्ट भूमियो मे प्रयोग और विकल्पाभेद्य वज्रोपम समाधि का लाभ शेष रह जाता है, और वह सर्वज्ञता लाभ करके अनुत्तर पद मे स्थित हो सत्त्वो के हित के लिए अभिसम्बोधि और निर्वाण का सदर्शन करता है (सिलवाँ लेवी की भूमिका, पृ० २६–२७)।

इस अधिकार मे असग बोधिसत्त्व-चर्या की विविध भूमियो का अनुसरण करते हैं। वह बोधिसत्त्व को विज्ञप्तिमात्रता में प्रतिष्ठित देखते हैं। तथाभूत बोधिसत्त्व सव अर्थों को प्रतिभासवत् देखता है। उस समय से उसका ग्राह्यविक्षेप प्रहीण होता है। केवल ग्राहकविक्षेप अवशिष्ट रहता हैं। यह उसकी क्षान्ति-अवस्था है। तव यह शीघ्र ही आनन्तर्य-समाधि का स्पर्श करता है। यह उसकी लौकिकाग्रधर्मावस्था है। यह समाधि 'आनन्तर्य' कहलाती है, क्योकि तदनन्तर ही ग्राहकविक्षेप प्रहीण होता है। यह निर्वेधभागीय है। यहाँ मनोजल्पमात्र रह जाता है (१४।२३—२६)। यह अवस्था द्वयग्राह से विसयुक्त, निर्विकल्प, विरज और अनुत्तर है (१४।२८)।

इस प्रकार नैरात्म्य का लाभ कर वह सव सत्त्वो में आत्मसमचित्तता का प्रतिलाभ करता है। धर्मनैरात्म्य से धर्मसमता का प्रतिवेध कर वह विचार करता है कि मेरे दुःख और पराये के दुःख में कोई विशेष नही है। अत, वह परदुःखप्रहाण की उसी प्रकार कामना करता है, जिस प्रकार अपने दुःख के प्रहाण की और इसके लिए दूसरो से कोई प्रत्युपकार नही चाहता (१४।३१)। उसके आर्यत्व में क्या अन्तराय हो सकता है? अपने अद्वयार्थ से वह सस्कारो को अभूतपरिकल्पित देखता है, जब वह ग्राह्यग्राहकाभाव

के भाव को (धर्मधातु को) दर्शनप्रहातव्य क्लेशों से विमुक्त देखता है, तब यह दर्शनमार्ग कहलाता है (१४।३२-३३)। यहाँ एक विचित्र वाक्य है—जब वह अभावशून्यता, तथाभाव की शून्यता और प्रकृतिशून्यता, इस त्रिविधशून्यता का ज्ञान प्राप्त करता है, तब वह शून्यज्ञ कहलाता है (१४।३४)।

त्रिविध शून्यता—इस श्लोक की टीका में कहा है बोधिसत्त्व को त्रिविध शून्यता का ज्ञान होता है। अभावशून्यता परिकल्पित स्वभाव है, क्योंकि स्वलक्षण का अभाव है। तथाभाव की शून्यता परतन्त्रस्वभाव है, क्योंकि इसका भाव वैसा नहीं है, जैसा कल्पित होता है। प्रकृतिशून्यता परिनिष्पन्न-स्वभाव है, क्योंकि इसका स्वभाव शून्यता का है। हम देखते हैं कि नागार्जुन की शून्यता का विज्ञानवादी अद्वयवाद से क्या सूक्ष्म सम्बन्ध है, और हम यह भी देखते हैं कि किस कुशलता के साथ विज्ञानवादी नागार्जुन से व्यावृत्त होते हैं। क्योंकि, माध्यमिकों की शून्यता से ऐकमत्य प्रकट कर असंग कहते हैं कि यह जानकर कि जगत् संस्कारमात्र और निरात्मक है, और निरर्थिका आत्मदृष्टि का त्याग कर बोधिसत्त्व महात्मदृष्टि का लाभ करते हैं, जिसका महान् अर्थ है, इस महात्मदृष्टि मे सब सत्त्वों के साथ आत्मसमचित्त का लाभ होता है। इस अद्वयवाद से करुणा प्रवृत्त होती है। बोधिसत्त्वों का सत्त्वों के प्रति जो प्रेम होता है, उनकी जो वत्सलता होती है, वह परम आश्चर्य है। अथवा आश्चर्य का विषय नहीं है, क्योंकि उसके लिए सत्त्व आत्मसमान है (१४।४१)।

संस्कारमात्रं जगदेत्य बुद्ध्या निरात्मकं दुःखविरूढिमात्रम्।
विहाय यानर्थमयात्मदृष्टिं महात्मदृष्टिं श्रयते महार्थाम्॥ (१४।३७)

(टीका—महात्मदृष्टिरिति महार्था या सर्वसत्त्वेष्वात्मसमचित्तलाभात्मदृष्टिः। सा हि सर्वसत्त्वार्थक्रियाहेतुत्वान्महार्था। 'विनात्मदृष्ट्या' अनर्थमयी आत्मदृष्टिर्महार्था या विनापि दुःखेन स्वसन्तानजेन सुदुःखिता सर्वसत्त्वसन्तानजेन।)

यह महात्मदृष्टि उपनिषदों की परमात्मदृष्टि के कितने समीप है—तुम्हारी आत्मा जो सब आत्माओं में गूढ है।

असंग कहते हैं कि महात्मदृष्टि आत्मदृष्टि है, क्योंकि इसमें सब सत्त्वों में आत्मसमचित्त का लाभ होता है। वह स्वसन्तानज दुःखों के बिना भी सब सत्त्वों के दुःख से दुःखित होता है। आज से बोधिसत्त्व का धातु आकाशवत् अनन्त है। सब सत्त्व आत्मतुल्य हो जाते हैं। यह सत्त्वों के दुःख का अन्त करने के लिए सचेष्ट होता है। वह उनके हित-सुख की कामना करता है, और इसके लिए प्रयोग करता है। यह वज्रोपम समाधि है। विकल्प इसका भेद नहीं कर सकते। यह सर्वाकारज्ञता और अनुत्तर पद भी है। यह जगत् में सूर्य के सदृश भासित होता है, और अन्धकार का नाश करता है।

पारमिताओं की सिद्धि-प्रतिष्ठा कायवाक्चित्तमय कर्म है। बोधिसत्त्व कर्म को विशुद्ध करता है। उसके कर्म में कर्त्ता, कर्म या क्रिया का विकल्प नहीं है। इस प्रकार, कर्म को शोध कर वह उस को अक्षय कर देता है, और पारमिताओं की सिद्धि करता है।

ग्रन्थ के सोलहवें अधिकार मे असग षट्पारमिता की चर्या का वर्णन करते है। सत्रहवें मे वह बुद्धपूजा, कल्याणमित्रसेवा और चार अप्रमाण (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा) का उल्लेख करते है। अन्त में वह करुणा के अनुशस मे कहते है कि जो मन कृपा से आविष्ट है, वह शम में अवस्थान नही करता। श्रावक-प्रत्येकबुद्धो का मन निर्वाण मे प्रतिष्ठित होता है। वे नि स्नेह होते है, किन्तु बोधिसत्त्वो का मन निर्वाण में भी प्रतिष्ठित नही होता। तब स्वजीवित या लौकिक सुख मे उनको कैसे प्रीति हो सकती है ?

आविष्टाना कृपया न तिष्ठति मन शमे कृपालूनाम् ।
कुत एव लोकसौख्ये स्वजीविते वा भवेत् स्नेहः ॥ [१७।४२]

बोधिसत्त्वो का करुणास्नेह विशिष्ट है। माता-पिता के लिए जो स्नेह होता है, वह तृष्णामय है, अत सावद्य है। जो लौकिक-करुणाविहारी है, उनका स्नेह निरवद्य होते हुए भी लौकिक है, किन्तु बोधिसत्वो का स्नेह करुणामय है। यह निरवद्य है, और लौकिक का अतिक्रमण भी करता है। लोक दु ख और अज्ञान मे निश्रित है। लोक के उद्धरण का उपाय निरवद्य क्यो न होगा ? सत्त्वो के प्रति करुणा करने से बोधिसत्त्वो को जो दु ख होता है वह आदिभूमि मे त्रास का कारण होता है, क्योकि अभी तक उन्होने आत्म-पर-समता से दु ख का यथाभूत स्पर्श नही किया है। किन्तु, एक बार स्पर्श होने से वह दु ख का अभिनन्दन करता है। इससे बढकर क्या आश्चर्य होगा कि बोधिसत्त्वो का करुणादु ख सब लौकिक सुख को भी अभिभूत करता है। असग कहते है कि भोगी की भी उपभोग से वैसी तुष्टि नही होती, जैसी कृपालु बोधिसत्त्व की तुष्टि परित्याग से होती है। उसका चित्त सुखत्रय (दानप्रीति, परानुग्रहप्रीति, बोधिसम्भारसम्भरणप्रीति) से आप्यायित होता है (१७।६१)।

न तथोपभोगतुष्टिं लभते भोगी यथा परित्यागात् ।
तुष्टिमुपैति कृपालु सुखत्रयाप्यायितमनस्क ॥ (१७।६१)

बोधिपाक्षिक धर्म

ग्रन्थ मे अब बोधिपक्षाधिकार प्रारम्भ होता है (१८)। इस अधिकार मे उन गुणो का वर्णन है, जिनसे बोधि की प्राप्ति होती है। बोधिसत्त्व मे दोषो का अभाव होता है, और वह गुणो से युक्त है। उसका आश्रय निर्मल, अच्छ, अलिप्त, निर्विकल्प और शून्य होता है। उसकी तुलना आकाश से ही हो सकती है। वह आकाश के तुल्य लोकधर्मों से लिप्त नही होता (१८।१२०)।

यहाँ बोधिपक्षीय धर्मो का उल्लेख नही करता है, क्योकि इनका दर्शन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है (१८।८०), और उसके आगे के श्लोको मे असग सब सस्कारो की अनित्यता, दुःखता, सब धर्मों की अनात्मता के लिए पुराने वाक्य का उल्लेख करते है। वे कहते है कि बोधिसत्त्वो के लिए अनित्य का अर्थ असत् है। उनके लिए अनित्य परिकल्पित-लक्षण है, दुःख का अर्थ अभूत-विकल्प है, और अनात्म का अर्थ परिकल्पमात्र है। परिकल्पित आत्मा नही है, किन्तु परिकल्पमात्र है। इस प्रकार, अनात्म का अर्थ परिकल्पितलक्षण का अभाव है (१८।८१)।

पुन असंग इस प्रकरण में क्षणिकवाद की परीक्षा करते है। हम सौत्रान्तिकवाद के अध्याय में इसका वर्णन कर चुके हैं।

पुद्गल-नैरात्म्य

अन्तत. पुद्गल का भी नैरात्म्य है। यह द्रव्यत नही है, केवल प्रज्ञप्तित है। इसकी रूपादिवत् द्रव्यत उपलब्धि नही होती। किन्तु, भगवान् ने कहा है कि इस लोक मे आत्मा की उपलब्धि होती है, आत्मा की प्रज्ञप्ति होती है। फिर, कैसे कहते है कि इसकी उपलब्धि नही होती ? किन्तु, इस प्रकार उपलभ्यमान होने पर वह द्रव्यत उपलब्ध नही होता। किस कारण से ? क्योकि यह विपर्यास है। भगवान् ने कहा है कि अनात्म मे आत्म का विपर्यास होता है, इसलिए पुद्गल-ग्राह विपर्यास है। इसकी सिद्धि कैसे होती है ? सक्लेश से। इस सक्लेश का लक्षण सत्कायदृष्टि है, जिसमे अहकार-ममकार होता है। किन्तु, विपर्यास सक्लेश है। कैसे मालूम हो कि यह सक्लेश है ? क्योकि, हेतु क्लिष्ट है। वस्तुत, तद्हेतुक रागादि क्लिष्ट उत्पन्न होते है।

किन्तु, जिस रूपादिसज्ञक वस्तु मे पुद्गल प्रज्ञप्त होता है, वह उस पुद्गल का एकत्व है या अन्यत्व ? वह उत्तर देता है कि एकत्व या अन्यत्व दोनो अवक्तव्य हैं, क्योकि दो दोष हैं। एकत्व में स्कन्धो के आत्मत्व का प्रसग होता है। अन्यत्व मे पुद्गल के द्रव्यत्व का प्रसग होता है। यदि इसका एकत्व है, तो इससे यह परिणाम निकलता है कि स्कन्धो का आत्मत्व है, और पुद्गल द्रव्यसत् है। यदि अन्यत्व है, तो पुद्गल द्रव्यसत् है। इस प्रकार, यह युक्त है कि पुद्गल अवक्तव्य है, क्योकि यह प्रज्ञप्तिसत् है। अत, यह अव्याकृत वस्तुओ में से है। पुन जो शास्ता के शासन का अतिक्रम कर पुद्गल का द्रव्यत अस्तित्व चाहते है, उनसे कहना चाहिए कि यदि वह द्रव्यसत् है, और अवाच्य भी है, तो प्रयोजन कहना चाहिए किस कारण से ? यदि यह नही कहा जा सकता कि इसका एकत्व है या अन्यत्व, तो यह निष्प्रयोजन है। किन्तु, कदाचित कोई केवल दृष्टान्त द्वारा पुद्गल के अवक्तव्यत्व को सिद्ध करना चाहे, तो वह कहेंगे कि पुदगल अग्नितुल्य है, और जिस प्रकार अग्नि ईन्धन से न अन्य है, न अनन्य, उसी प्रकार पुद्गल अवक्तव्य है। उनसे कहना चाहिए कि लक्षण से, लोकदृष्टि से तथा शास्त्र से ईन्धन और अग्नि का अवक्तव्यत्व युक्त नही है, क्योकि द्वयरूप से उपलब्धि होती है। पुनः अग्नि तेजोधातु है, और ईन्धन शेषभूत है। उनके लक्षण भिन्न है। अतएव, अग्नि ईन्धन से अन्य है। लोक में भी अग्नि के विना काष्ठादि ईन्धन देखा जाता है, और ईन्धन के विना अग्नि देखी जाती है। इसलिए, इनका अन्यत्व सिद्ध है, और शास्त्र में भगवान् ने कभी अग्नि-ईन्धन का अवक्तव्यत्व नही बताया है। किन्तु, यह कहा जायगा कि आप कैसे जानते है कि ईन्धन के विना अग्नि होती है ? उपलब्धि से, क्योकि इस प्रकार वायु से विक्षिप्त ज्वलन दूर भी जाता है। किन्तु, यह आपत्ति होगी कि यहाँ वायु ईन्धन है। अतएव, अग्नि-ईन्धन का अन्यत्व सिद्ध होता है। कैसे ? क्योकि द्वयरूप में उपलब्धि है। यहाँ दो उपलब्धियाँ है। अर्चि और वायु ईन्धन के रूप मे। किन्तु पुद्गल है, क्योकि यही द्रष्टा, विज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता, ज्ञाता, मन्ता है। नही, क्योकि इस अवस्था में वह दर्शनादि-

संज्ञक विज्ञानो का प्रत्ययभाव से या स्वाभिभाव से कर्त्ता होगा। किन्तु, यदि दो के प्रत्ययवश विज्ञान सम्भव है, तो यह प्रत्यय नही है। क्यो ? यह निरर्थक होगा, क्योकि उसका कुछ भी सामर्थ्य नही देखा जाता। यदि विज्ञान की प्रवृत्ति में यह स्वामी होता तो अनित्य का प्रवर्त्तन न होता, क्योकि अनित्य उसको अनिष्ट है। अत, यह युक्त नही है कि यह द्रष्टा, विज्ञान, कर्त्ता, भोक्ता है।

पुद्गल-नैरात्म्य के अभाव में दोष—पुन यदि पुद्गल द्रव्यत है, तो उसके कर्म की उपलब्धि होनी चाहिए, जैसे चक्षुरादि के दर्शनादि कर्म की उपलब्धि होती है। किन्तु, पुद्गल के मम्बन्ध मे ऐसा नही है, अतः वह द्रव्यत नही है। यदि उसका द्रव्यत्व इष्ट है, तो भगवान् बुद्ध के सम्बोध को तीन प्रकार से वाधा पहुँचती है। अभिसम्बोध गम्भीर, असाधारण और लोकोत्तर है। किन्तु, पुद्गल के अभिसम्बोध में कुछ गम्भीर नही है, कुछ असाधारण नही है। यह पुद्गल-ग्राह सर्वलोकगम्य है, तीर्थिक इसमें अभिनिविष्ट है; यह लोकोचित है। पुन यदि पुद्गल द्रष्टा आदि होता, तो दर्शनादि कृत्य मे वह सप्रयत्न होता या निष्प्रयत्न होता। यदि वह सप्रयत्न होता, तो उसका प्रयत्न स्वयम्भू होता या आकस्मिक होता या तत्प्रत्ययत्व होता। यह यत्न स्वयम्भू नही है, क्योकि इसमें तीन दोष है। इनका उल्लेख आगे करेगे। यत्नप्रत्ययत्व भी नही है। अथवा यदि वह निष्प्रयत्न होता, तो दार्शनादिक स्वत सिद्ध होते। और, जब पुद्गल का व्यापार नही है, तो पुद्गल द्रष्टादि कैसे होता है ?

तीन दोष यह है—अकर्त्तृत्व, अनित्यत्व, युगपत् और नित्य प्रवृत्ति। यदि दर्शनादिक में प्रयत्न आकस्मिक है, तो दर्शनादिक का पुद्गल कर्त्ता नही है। वह द्रष्टा आदि कैसे होगा ? अथवा यदि प्रयत्न को आकस्मिक मानें, तो निरपेक्ष होने से ऐसा कभी न होगा कि प्रयत्न न हो और यह अनित्य न होगा। यदि प्रयत्न नित्य होता, तो दर्शनादिक की प्रवृत्ति नित्य और युगपत् होती। इन तीन दोषो के कारण प्रयत्न स्वयम्भू नही है।

प्रत्ययत्व भी युक्त नही है। यदि पुद्गल तथास्थित है, तो उसका प्रत्ययत्व युक्त नही है; क्योकि प्राक् अभाव है। यदि तत्प्रत्यय है, तो ऐसा कभी न होगा कि पुद्गल न हो। क्यो ? क्योकि जव उत्पन्न नही है, तो प्राक्-प्रयत्न न होगा। और, यदि पुद्गल विनष्ट होता है, तो भी उमका प्रत्ययत्व युक्त नही है, क्योकि पुद्गल के अनित्यत्व का प्रसंग होगा। कोई तीसरा पक्ष नही है, अतएव तत्प्रत्यय प्रयत्न भी युक्त नही है। इस युक्ति का आश्रय लेकर पुद्गल की उपलब्धि द्रव्यतः नही होती।

पुद्गल की प्रज्ञप्तिसत्ता—यद्यपि पुद्गल द्रव्यत नही है, तथापि यह प्रज्ञप्तिमत् है। भगवान् ने भी कही कहा है कि पुद्गल है, जैसे भारहारसूत्र में। श्रद्धानुसारी आदि पुद्गल की व्यवस्था भी है। इनमे दोष नही है। पुद्गल-प्रज्ञप्ति के विना वृत्तिभेद और सन्तानभेद की देशना शक्य नही है। उदाहरण के लिए, भारहारसूत्र में भार और भारादान को सक्लेश कहा है और भारनिक्षेपण को व्यवदान। यह वताने के लिए कि इनकी वृत्ति और सन्तान मे भेद है, भारहार पुद्गल को प्रज्ञप्त करना पडता है। इमके विना देशना सम्भव

नही है। पुन बोधिपक्षीय धर्मों की अवस्थाएँ विविध है। इनकी वृत्ति का भेद और सन्तान का भेद श्रद्धानुमारी आदि पुद्गलो की प्रज्ञप्ति के विना देशित नही हो सकता। इसीलिए, भगवान् की पुद्गल-देशना है, किन्तु पुद्गल का द्रव्यत अस्तित्व नही है। क्योकि यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मदृष्टि के उत्पादन के लिए यह देशना है। आत्मदृष्टि पहले से है, अत वह अनुत्पाद्य है। उमके अभ्याम के लिए भी नही है, क्योकि इसका अभ्यास अनादि-कालिक है, और यदि इमकी देशना इसलिए होती कि आत्मदर्शन से मोक्ष होता है, तो सबको मोक्ष का लाभ विना यत्न के ही होता, क्योकि जो दृष्ट-सत्य नही है, उनको भी आत्मदर्शन होता है। अथवा मोक्ष नही है और पुद्गल नही है। पहले आत्मा का अनात्मत ग्रहण कर सत्याभिसमय के काल में कोई उसको आत्मत गृहीत नही करता। आत्मा के होने पर अहकार, ममकार, आत्मतृष्णा तथा अन्य क्लेश, जो तन्निदान है, अवश्य होगे। इससे भी मोक्ष न होगा। अथवा कहना चाहिए कि पुद्गल नही है। उमके होने पर यह दोष नियत रूप से होते है (१८।९२–१०३)।

तथता का प्रत्यक्ष—योगी पुद्गल-निमित्त का विनाश करता है, और आलयविज्ञान का क्षय कर शुद्ध तथता का लाभ करता है। तथता-ज्ञान यथाभूत का परिज्ञान है। असग कहते हैं कि तथतालम्बन-ज्ञान द्वयग्राह से विवर्जित है। इमकी भावना अनानाकार होती है, क्योकि यह निमित्त और तथता को पृथक्-पृथक् नही देखता। बोधिसत्त्व तथता को छोड़कर निमित्त नही देखते और निमित्त को ही अनिमित्त देखते है। अत:, उनके ज्ञान की भावना पृथक्-पृथक् नहीं होती। सत्तार्थ-असत्तार्थ में (तथता-निमित्त) ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है। यह निमित्त और तथता दोनो को विना नानात्व के सगृहीत करता है (१९।५२)।

इस तत्त्व का सछादन कर मूढ पुरुषो को सर्वत अतत्त्व का ख्यान होता है। किन्तु, बोधिसत्त्वो को तत्त्व का ही ख्यान होता है, अतत्त्व का नही (१९।५३)। जब असदर्थ (निमित्त) की अख्यानता और सदर्थ (तथता) की ख्यानता होती है, तब यही आश्रय-परावृत्ति है, यही मोक्ष है। तब वह स्वतन्त्र होता है, अपने चित्त का वशवर्त्ती होता है, क्योकि प्रकृति से ही निमित्त का समुदाचार नही होता (१९।५४)।

बोधिसत्त्व की दशभूमियाँ

इसके बाद (२०-२१) असग चर्या की दशभूमियो का उल्लेख करते हैं, और एक बुद्धस्तोत्र के साथ ग्रन्थ को समाप्त करते है।

प्रथम भूमि को अधिमुक्तिचर्या-भूमि कहते है। इस भूमि में पुद्गल-नैरात्म्य और धर्म-नैरात्म्य का अभिसमय होता हैं, अर्थात् योगी धर्मता का प्रतिवेध करता है। इससे दृष्टि विशुद्ध होती है।

दूसरी भूमि मुदिता है। इसमें अधिशील शिक्षा होती है। पुद्गल जानता है कि कर्मों का अविप्रणाश है, और कुशल-अकुशल कर्मपथ का फलवैचित्र्य होता है। वह अपने शील को विशुद्ध करता है। वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म आपत्ति (अपराध) भी नही करता। इस भूमि

को मुदिता कहते है; क्योकि आसन्न बोधि और सत्त्वो के अर्थसाधन को देखकर योगी में तीव्र मोद उत्पन्न होता है।

तृतीय भूमि विमला है। इस भूमि मे योगी समाहित होता है। यह अधिचित्त शिक्षा है। उसको अच्युत ध्यानसमाधि का लाभ होता। इसे विमला कहते हैं; क्योकि योगी दौशील्य, मल और आभोगमल (=अन्ययानमनसिकारमल) का अतिक्रम करता है।

चतुर्थ, पचम और षष्ठ भूमियो में अधिप्रज्ञ शिक्षा होती है।

चतुर्थ भूमि प्रभाकरी है। इसमें बोधिपक्ष सगृहीत प्रज्ञा की भावना होती है। योगी बोधिपक्ष मे विहार करता हुआ भी बोधिपक्षो की परिणामना ससार में करता है। इस भूमि मे समाधि-बल से अप्रमाण धर्मों का पर्येषण होने से महान् धर्मविभास होता है, इसलिए इसे प्रभाकरी कहते हैं।

पाँचवी भूमि अर्चिष्मती है। इसमे बोधिपक्षात्मिका प्रज्ञा का बाहुल्य होता है। इस प्रज्ञा की पाँचवी और छठी भूमियो मे दो गोचर होते हैं धर्मतत्त्व और दु खादि सत्यचतुष्टय। पाँचवी भूमि में योगी चार आर्यसत्यो में विहार करता है, और सत्त्वों के परिपाक के लिए नाना शास्त्र और शिल्प का प्रणयन करता है। पाँचवी भूमि में प्रज्ञाद्वय, अर्थात् क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का दहन करने के लिए प्रत्युपस्थित होती है। अत, इस भूमि में प्रज्ञा अर्चि का काम देती है, इसीलिए यह भूमि अर्चिष्मती है।

छठी भूमि दुर्जया है। इसमें योगी प्रतीत्यसमुत्पाद का चिन्तन करता है और अपने चित्त की रक्षा करता है। सत्त्वो के परिपाक में अभियुक्त होते हुए भी वह सक्लिष्ट नही होता। यह कार्य अतिदुष्कर है, इसलिए इस भूमि को दुर्जया कहते हैं।

इसके अनन्तर भावना के चार फल चार भूमियो में समाश्रित हैं। प्रथम फल अनिमित्त ससस्कारविहार है। यह सातवी भूमि है। इसे अभिमुखी कहते है; क्योकि प्रज्ञा-पारमिता के आश्रय से यह निर्वाण और ससार की अप्रतिष्ठा के कारण ससार और निर्वाण के अभिमुख है।

आठवी भूमि दूरगमा है। द्वितीय फल इसपर आश्रित है। अनिमित्त अनभिसस्कार विहार द्वितीय फल है। यह भूमि प्रयोग-पर्यन्त जाति है, अत दूरगमा है।

नवी भूमि अचला है। इसपर तृतीय फल आश्रित है। इसमें प्रतिसविद्वशित्व का लाभ होता है। इसमे सत्त्वो के परिपाचन का सामर्थ्य होता है। निमित्तसज्ञा और अनिमित्ता भोगसज्ञा से अविचलित होने के कारण यह अचला है।

दसवी भूमि साधुमती है। इसपर चतुर्थ फल आश्रित है। इसमें समाधि और धारणी की विशुद्धता होती है। प्रतिसविन्मति की प्रधानता (साधुता) से यह साधुमती है।

अन्तिम बुद्धभूमि है, जहाँ बोधि की विशुद्धता होती है। यह धर्ममेघा है। यह समाधि और धारणी से व्याप्त है। जैसे आकाश मेघ से व्याप्त होता है, और मेघ का आश्रय होता है।

वैसे ही श्रुतधर्म वह आश्रय होता है, जो समाधि और धारणी मे व्याप्त है। अतः, यह धर्ममेघा कहलाती हैं (अधिकार २०–२१)।

इन विविध भूमियो को विहार भी कहते है, क्योकि बोधिसत्त्वो की इनमें सदा सर्वत्र रति होती है। इसका कारण यह है कि वह विविध कुशल का अभिनिर्हार चाहते हैं। इन्हे भूमि कहते है, क्योकि अप्रमेय सत्त्वो को अभय देने के लिए ऊर्ध्वंगमन का योग होता है।

अन्त में बुद्धस्तोत्र है।

अष्टादश अध्याय

वसुबन्धु का विज्ञानवाद (१)

(विंशतिका के आधार पर)

विंशतिका के रचयिता वसुबन्धु हैं। हमने पहले कहा है कि यह आरम्भ मे सौत्रान्तिक थे। पीछे से अपने ज्येष्ठ भ्राता आर्य असग के प्रभाव से विज्ञानवादी हो गये। परमार्थ के अनुसार अयोध्या के किसी सघाराम मे उन्होंने महायान-धर्म स्वीकार किया था। वसुबन्धु का प्रसिद्ध ग्रन्थ वैभाषिक नय पर है, किन्तु महायान-धर्म स्वीकार करने के पश्चात् उन्होंने विज्ञान-वाद पर कई ग्रन्थ लिखे। हम इस अध्याय में विस्तार से वसुबन्धु के विज्ञानवाद का परिचय करायेंगे। वसुबन्धु के ग्रन्थो मे से एक छोटा ग्रन्थ 'विंशतिका' है। इसपर वसुबन्धु ने स्वय ही भाष्य भी लिखा है। यह ग्रन्थ विज्ञानवाद को सक्षेप मे जानने के लिए बडा ही उपयुक्त है। इसलिए, पहले इसका सक्षेप देते हैं। वाद में 'त्रिंशिका' तथा उसकी टीका 'सिद्धि' के आधार पर वसुबन्धु के विज्ञानवाद का विस्तार देंगे। 'विंशतिका' को सिलवाँ लेवी ने मूल रूप मे सन् १९२५ ई० में वसुबन्धु की वृत्ति साथ के प्रकाशित किया और पूसे ने मुइजेओ मे सन् १९१२ ई० मे (पृ० ५३—९०) इसके तिब्बती-अनुवाद का फ्रेंच-भाषान्तर दिया था। लेवी ने सन् १९३२ ई० में इसका फ्रेंच-अनुवाद स्वय प्रकाशित किया।

बाह्यार्थ का प्रतिषेध

विंशतिका के आरम्भ मे ही कहा है कि महायान मे त्रैधातुक को विज्ञप्तिमात्र व्यवस्था-पित किया है। यह इस सूत्र के अनुसार है—"चित्तमात्र भो जिनपुत्रा यदुत त्रैधातुकम्।" चित्त, मन, विज्ञान और विज्ञप्ति पर्याय हैं। यहाँ 'चित्त' से सम्प्रयुक्त चैत्त सहित चित्त अभिप्रेत है।

इससे बाह्यार्थ का प्रतिषेध होता है। रूपादि अर्थ के विना ही रूपादि-विज्ञप्ति उत्पन्न होती है। यह विज्ञान ही है, जो अर्थ के रूप में अवभासित होता है। वस्तुत, अर्थ असत् है। यह वैसे ही है, जैसे तिमिर का रोगी असत्-कल्प केश-चन्द्रादि का दर्शन करता है। अर्थ की सत्ता नही है।

प्रश्न है कि यदि अर्थ असत् है, तो उसकी विज्ञप्ति का उत्पाद कैसे होता है। यदि रूपादि अर्थ से रूपादि विज्ञप्ति उत्पन्न नही होती और रूपादि अर्थ के विना ही होती है, तो देश-काल का नियम और सन्तान का अनियम युक्त न होगा। उदाहरण के लिए, यदि रूप-

विज्ञप्ति रूपार्थ के विना उत्पन्न होती है, तो ऐसा क्यो है कि वह विज्ञप्ति किसी एक ही देश मे उत्पन्न होती है, सर्वत्र नही, और उस देश में भी कदाचित् उत्पन्न होती है, सर्वदा नही। ऐसा भी क्यो है कि उस देश और काल मे प्रतिष्ठित सर्व की सन्तान में यह विज्ञप्ति उत्पन्न होती है, केवल एक सन्तान मे नही। यदि आप तैमिरिक द्वारा देखे हुए केशादि का दृष्टान्त देते है, तो हम पूछते है कि यह केशादि आभास तैमिरिक के ही सन्तान मे क्यो होता है, दूसरो के सन्तान मे क्यो नही होता? यदि आप स्वप्न में देखते हुए अर्थो का दृष्टान्त दे, तो हमारा प्रश्न होगा कि इन अर्थो की क्रिया क्यो नही होती? हम स्वप्न मे जो अन्न या विप का ग्रहण करते है, उसकी अन्नादि क्रिया क्यो नही होती? गन्धर्वनगर नगर की क्रिया को सम्पन्न नही करता, क्योकि वहाँ सत्त्व निवास नही करते। समासत यदि अर्थ का अभाव है, यदि विज्ञप्तिमात्र ही है, तो देश-काल का नियम, सन्तान का अनियम और कृत्य-क्रिया युक्त नही है।

विज्ञानवाद में देशादि का नियम और सन्तान का अनियम---वसुबन्धु इस शका का निराकरण इस प्रकार करते हैं ---बाह्य अर्थ के विना भी देशादि नियम सिद्ध हैं। स्वप्न में अर्थ के विना ही किसी देश-विशेष मे, सर्वत्र नही, भ्रमर, आराम, स्त्री-पुरुपादिक देखे जाते है, और उस देश-विशेष मे भी कदाचित् देखे जाते है, सर्वदा नही। अत, यह सिद्ध हुआ कि अर्थ के अभाव मे भी देश-काल का नियम होता है। पुन प्रेतवत् सन्तान का अनियम सिद्ध है। सब प्रेतो को पूयपूर्ण अथवा मूत्र-पुरीष-पूर्ण नदी का दर्शन होता है। केवल एक को नही, यदि उस देश मे ऐसा कोई अर्थ नही है। पुन वह दण्ड और खड्ग को धारण करनेवाले पुरुपो से घिरे होते है, यद्यपि यह पुरुप विकल्पमात्र है। पुन यह अयथार्थ है कि स्वप्न मे जो दर्शन होता है, उसकी कृत्य-क्रिया नही होती। हम जानते है कि स्वप्न में द्वयसमापत्ति के विना भी शुक्र का विसर्ग होता है।

पुनः नरक में सब नारको को, केवल एक को नही, देश-काल-नियम से नरकपालादि का दर्शन होता है, और वह उनको पीडा पहुँचाते है, यद्यपि वह असत् कल्प है। नरकपाल सत्त्व नही है, क्योकि ऐसा अयुक्त होगा। यह नारक भी नही है, क्योकि यह नारक दु ख का प्रतिसवेदन नही करता। प्रदीप्त अयोमयी भूमि के दाह-दु ख को स्वय सहन न कर सकते हुए यह कैसे दूसरो को यातना पहुँचा सकते है? और नरक मे अनारको की उत्पत्ति भी कैसे युक्त है? यदि स्वर्ग मे तिर्यक् की उत्पत्ति होती है, तो वह वहाँ के सुख का भी अनुभव करते है, किन्तु नरकपालादि नारक दु.ख का सवेदन नही करते। अत, नरक मे तिर्यक् अथवा प्रेतो की उत्पत्ति युक्त नही है। वस्तुत, नरकपालादि की सज्ञा का प्रतिलाभ करनेवाले भूतविशेष नारको के कर्म से सम्भूत होते है, और इस प्रकार इनका परिणाम होता है कि नारको में भय पैदा करने के लिए यह विविध हस्तविक्षेपादि क्रिया करते देखे जाते है। नरकपालादि की उत्पत्ति मे यह हेतु सर्वास्तिवाद के आगम में दिया गया है' (अभिधर्मकोश, १५३)। इसी प्रकार, भूतो की कल्पना क्यो की जाती है, और यह क्यो नही इष्ट है कि जीवो के कर्मवश

विज्ञान का ही ऐसा परिणाम होता है ? यह कल्पना क्यो है कि कर्म की वासना अन्यत्र है, और कर्मफल अन्यत्र ?

विज्ञप्तिमात्रता

विज्ञानवाद के पक्ष में आगम—बहुधर्मवादी आगम के आधार पर एक दूसरी आपत्ति उपस्थित करते हैं। भगवद्वचन है कि रूपादि आयतन का अस्तित्व है, यदि विज्ञान ही रूपादि-प्रतिभास होता और रूपादिक अर्थ का अभाव होता, तो भगवान् रूपादि आयतन के अस्तित्व की वात कैसे करते ?

वसुबन्धु इस आक्षेप के उत्तर मे कहते हैं कि भगवान् की यह शक्ति विनेय जनो के के प्रति अभिप्रायवश है; यथा भगवान् ने अभिप्रायवश कहा है कि उपपादुक सत्त्व होता है। 'उपपादुक सत्त्व है' इस उक्ति मे अभिप्राय यह है कि आयतन मे चित्त-सन्तति का उच्छेद नही होता। वस्तुत, भगवद्वचन है कि यहाँ सत्त्व अथवा आत्मा का अस्तित्व नही है, केवल यह सहेतुक धर्म है। इसी प्रकार, 'रूपादि आयतन का अस्तित्व है', यह वचन भी आभिप्रायिक है। इस वचन का अभिप्राय यह है कि भगवान् चक्षुरायतन से बीज (परिणाम-विशेष-प्राप्त) को प्रज्ञप्त करते है, जिससे रूप-प्रतिभास-विज्ञप्ति का उत्पाद होता है, और 'रूपायतन' से विज्ञप्ति के इसी रूप-प्रतिभास को प्रज्ञप्त करते हैं। इसी प्रकार, स्प्रष्टव्यायतन आदि को जानना चाहिए।

पुद्गल-नैरात्म्य, धर्मनैरात्म्य—इस देशना का गुण यह है कि इससे पुद्गल-नैरात्म्य मे प्रवेश होता है। इस देशना मे भगवान् का अभिप्राय यह है कि श्रावक पुद्गल-नैरात्म्य में प्रतिपन्न हो, इसीलिए वह कहते हैं कि विज्ञान-षट्क का प्रवर्त्तन दो से होता है, यथा चक्षुरायतन और रूपायतन से। यह जानकर कि कोई एक द्रष्टा .मन्ता नही है, वे लोग, जिनका विनयन पुद्गल-नैरात्म्य की देशना से करना है, पुद्गल-नैरात्म्य मे प्रवेश करते हैं।

वसुबन्धु एक आपत्ति वताते हैं, और कहते हैं कि वस्तुत विज्ञप्तिमात्र रूपादि धर्म के आकार में प्रतिभासित होता है। अतः, यह जानकर कि रूपादि लक्षण का कोई धर्म नही है, धर्म-नैरात्म्य मे प्रवेश होगा, किन्तु इससे अनिष्ट भी होगा, क्योकि इससे विज्ञप्तिमात्र भी न रहेगा। यदि धर्म का सर्वथा अभाव है, तो विज्ञप्तिमात्र की व्यवस्था कैसे होगी ? यह भी न रहेगा कि वह इस आपत्ति का निराकरण करते हैं। वह कहते हैं कि यह अयथार्थ है कि धर्मों का सर्वथा अभाव है। परमार्थ-दृष्टि मे धर्म-नैरात्म्य का विपर्यास है। इसमे सन्देह नही कि धर्म निरात्म हैं, क्योकि मूर्खों ने धर्मो का जो स्वभाव (ग्राह्य-ग्राहकादि) परिकल्पित किया है, उससे धर्म रहित हैं, अर्थात् उस कल्पित आत्मा से उनका नैरात्म्य नही है। किन्तु, अनभिलाप्य आत्मा से, जो बुद्धो का ही विषय है, उनका नैरात्म्य नही है। इस प्रकार, वसुबन्धु नागार्जुन के धर्म-नैरात्म्य से विज्ञानवाद की रक्षा करते हैं। महायान स्वीकार करने के पूर्व वह सौत्रान्तिक थे। कदाचित् महायान धर्म स्वीकार करने पर भी वह अपनी वृत्ति को कुछ अश मे सुरक्षित रखते हैं।

पुन. वह कहते हैं कि विज्ञप्तिमात्र का व्यवस्थान उसी विज्ञप्त्यन्तर से होता है, जिस विज्ञप्त्यन्तर द्वारा परिकल्पित आत्मा से उस विज्ञप्तिमात्र के भी नैरात्म्य में प्रवेश होता है। विज्ञप्तिमात्र के व्यवस्थापन से सब धर्मो के नैरात्म्य में प्रवेश होता है; किन्तु उनके अस्तित्व के अपवाद से नही होता। यदि अन्यथा होता, तो विज्ञप्ति का विज्ञप्त्यन्तर अर्थ होता, और इस प्रकार विज्ञप्तियो के अर्थवती होने से विज्ञप्तिमात्रत्व की सिद्धि न होती। इस प्रकार वसुवन्धु का विज्ञानवाद माध्यमिको के शून्यतावाद और हीनयान के वहुधर्मवाद के वीच प्रवर्त्तित होता है।

परमाणुवाद का खण्डन

विज्ञप्तिमात्रता की व्यवस्था करके वसुवन्धु अर्थप्रतीति का विवेचन करते हैं। वह कहते हैं कि यह कैसे विश्वास किया जाय कि भगवान् का यह वचन कि रूपादि आयतन का अस्तित्व है, अभिप्रायवश उक्त है, और उनका अस्तित्व नही है, जो रूपादि विज्ञप्तियो के विषय हैं। वह कहते हैं कि रूपादिक आयतन या तो एक है, और अवयविरूप है, जैसा कि वैशेपिको की कल्पना है, अथवा परमाणुश अनेक हैं, अथवा यह परमाणुसहत हैं। किन्तु, एक विज्ञप्ति का विपय नही होता, क्योंकि अवयवो से अन्य अवयवी के रूप का कभी ग्रहण नही होता। अनेक भी विपय नही होता, क्योकि परमाणुओ में से प्रत्येक का ग्रहण नही होता। पुनः सहत परमाणु भी विज्ञप्ति के विपय नही होते; क्योकि यह सिद्ध नही है कि परमाणु एक द्रव्य है।

प्रश्न है कि यह कैसे सिद्ध नही है कि परमाणु एक द्रव्य है। इस स्थल पर आचार्य परमाणु का विवेचन करते हैं। क्या परमाणु का दिग्-भाग-भेद है? उस अवस्था में यह विभजनीय है, इसलिए परमाणु नही है। यदि छ दिशाओ में इसका अन्य छ परमाणुओ से युगपत् योग होता है, तो परमाणु की पडशता प्राप्त होती है। यदि परमाणु का दिग्-भाग-भेद नही है, यदि जो देश एक परमाणु का है, वही छ का है, तो मवका समान देश होने से सर्वपिण्ड परमाणुमात्र होगा। यह अयुक्त है। पुन. इस अवस्था मे किसी प्रकार पिण्ड सम्भव नही है।

काश्मीर वैभापिक कहते हैं कि निरवयव होने से परमाणुओं का सयोग नही होता, किन्तु सहत होने पर उनका परस्पर सयोग होता है। वसुवन्धु कहते हैं कि इनसे पूछना चाहिए कि क्या परमाणुओ का सघात उन परमाणुओ से अर्थान्तर है। यदि इन परमाणुओ का सयोग नही होता, तो सघात मे किसका सयोग होता है? पुन सघातो का भी अन्योन्य सयोग नही होता। यह न कहना चाहिए कि परमाणुओ के निरवयवत्व के कारण सयोग सिद्ध नही होता, क्योकि सावयव सघात का भी सयोग नही होता। अत, परमाणु एक द्रव्य नही है, चाहे परमाणु का सयोग इष्ट हो या न हो, जिसका दिग्भागभेद है, उसका एकत्व अयुक्त है। परमाणु का अन्य पूर्व दिग्भाग है, अन्य अधो दिग्भाग है इत्यादि। इस प्रकार, जव दिग्भागभेद है, तव तदात्मक परमाणु का एकत्व कैसे युक्त होगा? और, यदि एक एक परमाणु का यह दिग्भागभेद न स्वीकार किया जाय, तो प्रतिघात कैसे होगा? सघात

कैसे होगा ? सूर्योदय पर कैसे अन्यत्र छाया होती है, और अन्यत्र आतप ? उसका अन्य प्रदेश नही होता, जहाँ आतप नही होता। यदि दिग्भागभेद इष्ट नही है, तो दूसरे परमाणु से एक परमाणु का आवरण कैसे होता है ? परमाणु का कोई पर भाग नही है, जहाँ आगमन से दूसरे का दूसरे से प्रतिघात हो, और यदि प्रतिघात नही है, तो सब परमाणुओ का समान-देशत्व होगा और सर्वसघात परमाणुमात्र हो जायगा।

यही पिण्डो के लिए है। पिण्ड या तो परमाणुओ से अन्य नही है, अथवा अन्य है। यदि पिण्ड परमाणुओ से अन्य इष्ट नही है, तो यह सिद्ध होता है कि वह पिण्ड के नही हैं। यह सन्निवेश परिकल्प है। यदि परमाणु सघात है, तो इस चिन्ता से क्या, यदि रूपादि लक्षण का प्रतिषेध नही होता।

अत रूपादि लक्षण अनेक (वहु) नही हो सकता। जब परमाणु असिद्ध हुआ, तव उसके साथ-साथ द्रव्यो का अनेकत्व भी दूषित हो गया। किन्तु, रूप को हम एक द्रव्य भी सम्प्रधारित नही कर सकते। क्योकि, यदि चक्षु का विषय एक द्रव्य कल्पित हो, तो उसकी अविच्छिन्न उपलब्धि प्रत्यक्ष होगी किन्तु अनुभव ऐसा नही वताता। पुन यह विकल्प केवल युक्ति की परिसमाप्ति के लिए था। जव पृथग्भूत परमाणु असिद्ध है, तव सघात परमाणु भी असिद्ध हो जाता है, और सकृत् रूपादि का चक्षुरादि विषयत्व भी असिद्ध हो जाता है। केवल विज्ञप्तिमात्र सिद्ध होता है।

वैभाषिक आक्षेपो का निराकरण—प्रतिपक्षी एक दूसरा आक्षेप करते हैं। यह कहते है कि प्रमाण द्वारा अस्तित्व-नास्तित्व निर्धारित होता है, और प्रमाणो मे प्रत्यक्ष प्रमाण गरिष्ठ है। वह पूछते है कि यदि अर्थ असत् है, तो प्रत्यक्ष बुद्धि क्यो होती है ? यह प्रतिपक्षी वैभाषिक है। वसुवन्धु पूछते हैं कि आप क्षणिकवादियो को कैसे विषय का प्रत्यक्षत्व इष्ट है, क्योकि जव क्षणिक विज्ञान उसको विषय बताता है, उसी क्षण मे रूपरसादिक निरुद्ध हो गये होते है। 'यह विषय मुझको प्रत्यक्ष है', ऐसी प्रत्यक्षबुद्धि जिस क्षण होती है, उसी क्षण मे वह अर्थ नही देखा जाता, क्योकि उस समय मनोविज्ञान द्वारा परिच्छेद और चक्षुर्विज्ञान निरुद्ध हो चुके होते है।

किन्तु, यह कहा जायगा कि क्योकि अननुभूत का स्मरण मनोविज्ञान द्वारा नही होता, इस-लिए अर्थ का अनुभव अवश्य होना चाहिए। वसुबन्धु उत्तर देते है कि अनुभूत अर्थ का स्मरण असिद्ध है। हम कह चुके है कि किस प्रकार अर्थ के विना ही अर्थाभास विज्ञप्ति का उत्पाद होता है, चक्षुर्विज्ञानादिक विज्ञप्ति ही अर्थ के रूप मे आभासित होती है। इसी विज्ञप्ति से स्मृतिसम्प्रयुक्त रूपादि वैकल्पिक मनोविज्ञप्ति उत्पन्न होती है। अत , स्मृति के उत्पाद मे अर्था-नुभव नही सिद्ध होता।

वहुधर्मवादी कहेंगे कि यदि जैसे स्वप्न में विज्ञप्ति का विषय अभूतार्थ होता है, जाग्रत् अवस्था मे भी वैसा ही हो, तो उसका अभाव लोगो को स्वय ही अवगत होना चाहिए। कि. ऐसा नही होता, इसलिए स्वप्न के तुल्य अर्थोपलब्धि निरर्थक नही है।

वसुबन्धु कहते है कि यह ज्ञापक नही है, क्योंकि स्वप्न में दृग्-विषय का जो अभाव होता है, उसको अप्रबुद्ध नही जानता। सोया हुआ पुरुष स्वप्न में अभूत अर्थ को देखता है, किन्तु जबतक जागता नही, तबतक उसको यह अवगत नही होता कि अर्थ का अभाव था। इसी प्रकार, वितथ-विकल्प के अभ्यासवश वासना-निद्रा में सोया हुआ पुद्गल अभूत अर्थ को देखता हुआ यह नही जानता कि अर्थ का अभाव है। किन्तु, जैसे स्वप्न से जागकर मनुष्य को अवगत होता है कि स्वप्न में मैंने जो कुछ देखा था, वह अभूत, वितथ था, उसी प्रकार लोकोत्तर निर्विकल्प ज्ञान के लाभ से जब पुद्गल प्रबुद्ध होता है, तब वह विषय के अभाव को यथावत् अवगत करता है।

यहाँ एक दूसरी शका उपस्थित की जाती है—यदि स्वसन्तान के परिणाम-विशेष से ही सत्त्वो में अर्थ-प्रतिभास-विज्ञप्ति उत्पन्न होती है, अर्थविशेष से नही, तो यह कथन कि पाप-कल्याणमित्र के सम्पर्क से तथा सत्-असत् धर्म के श्रवण से विज्ञप्ति का नियम है, उस सम्पर्क तथा देशना के अभाव में कैसे सिद्ध होता है? अर्थ के अभाव मे विज्ञप्ति-नियम क्या है?

वसुबन्धु उत्तर मे कहते है कि सब सत्त्वो की अन्योन्य विज्ञप्तियो के आधिपत्य के कारण विज्ञप्ति-नियम परस्परत होता है। यहाँ 'सत्त्व' से 'चित्त-सन्तान' अभिप्रेत है। एक सन्तान के विज्ञप्ति-विशेष से सन्तानान्तर मे विज्ञप्ति-विशेष का उत्पाद होता है, न कि अर्थ-विशेष से।

एक दूसरा प्रश्न यह है कि यदि जैसे स्वप्न में निरर्थिका विज्ञप्ति होती है, वैसे ही जाग्रत् अवस्था में भी हो, तो कुशल-अकुशल का समुदाचार होने पर आयति में तुल्यफल क्यों नही होता?

वसुबन्धु का उत्तर है कि इस असमानफल का कारण अर्थ-सद्भाव नही है, किन्तु इसका कारण यह है कि स्वप्न में चित्त मिद्ध से उपहत होता है। वसुबन्धु इसका पुन व्याख्यान करते है—पूर्वपक्ष का कहना है कि यदि यह सब विज्ञप्तिमात्र नही है, और किसी का काय-वाक् नही है, तो वधिक द्वारा वध होने पर उभ्रादि का मरण कैसे होता है, और यदि उभ्रादि का मरण तत्कृत नही है, तो वधिक का प्राणातिपात के अवद्य से योग कैसे होता है? वसुबन्धु इसका उत्तर यो देते है—मरण पर-विज्ञप्ति-विशेष-वश होता है। जैसे पिशाचादि के मन के वश में होने से स्मृति का लोप होता है, तथा अन्य विकार उत्पन्न होते है, उसी प्रकार पर-विज्ञप्ति-विशेष के आधिपत्य से जीवितेन्द्रिय का निरोध करनेवाली कोई विक्रिया उत्पन्न होती है, जिससे सभागसन्तान का विच्छेद होता है, और जिसे ही मरण की आख्या प्राप्त होती है। अन्यथा ऋषियो के कोप से दण्डकारण्य सत्त्वशून्य कैसे हुआ? यदि यह कल्पना करो कि दण्डकारण्य के निवासी अमानुषो द्वारा उत्पादित हुए, न कि ऋषियो के मन प्रदोष से, तो इस कर्म से भगवान् की यह उक्ति कि मनोदण्ड काय-वाग्दण्ड से महावद्यतम है, कैसे सिद्ध होती है?

अन्तिम प्रश्न—यदि यह सब विज्ञप्तिमात्र ही है, यदि विज्ञप्ति का विषय अर्थान्तर नही है, तो क्या वस्तुत इनको स्वचित्तज्ञान होता है ? वसुबन्धु कहते है कि स्वचित्तज्ञान धर्मो के निरभिलाप्य आत्मा को नही जानता, जो केवल बुद्ध का गोचर है। इस अज्ञान के कारण स्वचित्तज्ञान और परचित्तज्ञान दोनो यथार्थ नही है, क्योंकि ग्राह्य-ग्राहक-विकल्प अप्रहीण है, और इसलिए प्रतिभास वितथ है। अन्त में वह कहते है कि विज्ञप्तिमात्रता के सर्व प्रकार अचिन्त्य है; क्योकि वह तर्क के विषय नही है। केवल बुद्धो के ही यह सर्वथा गोचर है। उनका सर्व ज्ञेय का सर्वाकार ज्ञान अव्याहत होता है।

वसुबन्धु का विज्ञानवाद (२)

(शुआन-च्वांग की 'सिद्धि' के आधार पर)

चीनी यात्री शुआन-च्वाँग ने भारत में ई० सन् ६३० से ६४४ तक यात्रा की थी। वह नालन्दा के सघाराम में कई वार रहे थे। वह शीलभद्र तथा विज्ञानवाद के अन्य आचार्यो के शिष्य थे। ईसवी-सन् ६४५ में वह चीन लौटे और विज्ञानवाद पर उन्होने कई ग्रन्थो की रचना की। इनमे से सवसे मुख्य ग्रन्थ 'सिद्धि' है। इसका फ्रेंच-अनुवाद पूसें ने किया है। इसी ग्रन्थ के आधार पर यहाँ विज्ञानवाद लिखा जाता है।

सिद्धि का प्रतिपाद्य

इस ग्रन्थ का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि यह नालन्दा-सघाराम के आचार्यों के विचारो से परिचय कराता है। असग के महायानसूत्रालकार के विज्ञानवाद का आधार माध्यमिक विचार था और उस ग्रन्थ में इस सिद्धान्त का विरोध नही किया गया। इसके विपरीत सिद्धि के विज्ञानवाद का स्वतन्त्र आधार है। यह माध्यमिक सिद्धान्त से सर्वथा व्यावृत्त हो गया है, और यह अपने को ही महायान का एकमात्र सच्चा प्रतिनिधि मानता है।

जैसा कि ग्रन्थ का नाम सूचित करता है, 'सिद्धि' विज्ञप्तिमात्रता के सिद्धान्त का निरूपण है। जो लोग पुद्गल-नैरात्म्य में अप्रतिपन्न या विप्रतिपन्न है, उनको इनका अविपरीत ज्ञान कराना इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। इन दो नैरात्म्यो के साक्षात्कार से आत्मग्राह और धर्मग्राह का नाश होता है, और इसके फलस्वरूप क्लेशावरण और ज्ञेयावरण (अक्लिष्ट अज्ञान, जो ज्ञेय, अर्थात् भूततथता के दर्शन में प्रतिवन्ध है) का प्रहाण होता है। रागादि क्लेश आत्मदृष्टि से प्रसूत होते हैं। पुद्गल-नैरात्म्य का अववोध सत्काय-दृष्टि का प्रतिपक्ष है। इस अववोध से सर्व क्लेश का प्रहाण होता है। क्लेश-प्रहाण से प्रतिसन्धि नही होती और मोक्ष का लाभ होता है। धर्मनैरात्म्य के ज्ञान से ज्ञेयावरण प्रहीण होता है, इससे महावोधि (सर्वज्ञता) का अधिगम होता है और सर्वाकार ज्ञेय में ज्ञान असक्त और अप्रतिहत प्रवर्त्तित होता है।

विज्ञप्तिमात्रता दो प्रकार के एकान्तवाद का प्रतिषेध करती है। सर्वास्तिवादी मानते हैं कि विज्ञान के तुल्य विज्ञेय (वाह्यार्थ) भी द्रव्यसत् है, और दूसरे (भावविवेक) जो शून्यवादी है, मानते है कि विज्ञेय (वाह्यार्थ) के सदृश विज्ञान का भी परमार्थत अस्तित्व नही है, केवल सवृतित है। यह दोनो मत अयथार्थ है। शुआन-च्वाँग इन दोनो अयथार्थ मतवादो से व्यावृत्त होते है, और अपने विज्ञानवाद को सिद्ध करते हैं। वह वसुबन्धु के इस वचन को उद्धृत करते है—जो विविध आत्मोपचार और धर्मोपचार प्रचलित है, वह मुख्य धर्मों से सम्वन्ध नही रखते। वह मिथ्योपचार है। विज्ञान का जो परिणाम होता है, उसके लिए इन प्रज्ञप्तियो का व्यवहार होता है। दूसरे शब्दो में आत्मा और धर्म द्रव्यसत् स्वभाव नहीं है।

वह केवल विकल्प-मात्र है। परिकल्पित आत्मा और धर्म विज्ञान (विज्ञप्ति, ज्ञान) के परिणाम-मात्र हैं। चित्त-चैत्त एकमात्र वस्तुसत् है।

विज्ञान-परिणाम के विविध मतवाद

धर्मपाल, स्थिरमति, नन्द और बन्धुश्री के मत---शुआन-च्वाँग इस विज्ञान-परिणाम का विवेचन विज्ञानवाद के अन्तर्गत विविध मतवादो के अनुसार करते है। धर्मपाल और स्थिरमति के अनुसार मूलविज्ञान (विज्ञान-स्वभाव, सवित्ति, सवित्तिभाग) दो भागो में सदृश-परिणत होता है। यह आत्मा और धर्म है। इन्हे दर्शनभाग और निमित्तभाग कहते हैं। यही ग्राहक और ग्राह्य के आयतन है। यह दो भाग सवित्तिभाग का आश्रय लेकर वृषम के दो शृ गो के तुल्य सम्भूत होते है। नन्द और बन्धुश्री के अनुसार आध्यात्मिक विज्ञान बाह्यार्थ के सदृश परिणत होता है। धर्मपाल के मत से दो भाग सवित्तिभाग के सदृश प्रतीत्यज, परतन्त्र है, किन्तु मूढ पुरुप इनमे आत्मा और धर्म का, ग्राहक-ग्राह्य का, उपचार करते है। यह दो विकल्प (कल्पना) परिकल्पित है। किन्तु, स्थिरमति के अनुसार यह दो भाग परतन्त्र नही है, क्योकि विज्ञप्तिमात्रता का प्रतिषेध किये विना इनकी वस्तुत विद्यमानता नही होती। अत, यह परिकल्पित है। नन्द और बन्धुश्री केवल दो ही भाग (दर्शन, निमित्त) स्वीकार करते है, और यह दोनो परतन्त्र है। निमित्तभाग परतन्त्र है, किन्तु यह दर्शनभाग का परिणाम है। इस नय मे विज्ञप्तिमात्रता का सिद्धान्त आदृत है। निमित्तभाग विज्ञान से पृथक् नही है, किन्तु मिथ्या रुचि उसे बहिर्वत् गृहीत करती है। यद्यपि यह परतन्त्र है, तथापि परिकल्पित के सदृश है। लोक और शास्त्र बाह्यार्थ सदृश इस निमित्तभाग को आत्मा और धर्म प्रज्ञप्त करते हैं। दर्शनभाग ग्राहक के रूप में निमित्तभाग मे सगृहीत है।

इस प्रकार, स्थिरमति एक ही भाग को परतन्त्र मानते है। उनके दर्शनभाग और निमित्तभाग परिकल्पित है। धर्मपाल, जैसा हम आगे देखेगे, चार भाग मानते है। वह एक स्वसवित्ति-सवित्तिभाग भी मानते है। उनके चारो भाग परतन्त्रहै, नन्द और बन्धुश्री के अनुसार दो भाग है और दोनो परतन्त्र है।

शुआन-च्वाँग का समन्वय---इन विविध मतो के बीच जो भेद है, वह अति स्वल्प है। शुआन-च्वाँग इन मतो का उल्लेख करके उनमें सामजस्य स्थापित करते है। उनका वाक्य यह है---आत्मधर्म के विकल्पो से चित्त मे जिस वासना का परिपोष होता है, उसके बल से विज्ञान उत्पन्न होते ही आत्मधर्माकार में परिणत होता है। आत्मधर्म के यह निर्भास यद्यपि विज्ञान से अभिन्न है, तथापि मिथ्या-विकल्प के बल से यह बाह्यार्थवत् अवभासित होते है। यही कारण है कि अनादिकाल से आत्मोपचार और धर्मोपचार प्रवर्तित है। सत्त्व सदा से आत्मनिर्भास और धर्मनिर्भास को वस्तुसत् आत्मधर्म अवधारित करते है। किन्तु, यह आत्मा और धर्म, जिनमें मूढ पुरुप प्रतिपन्न है, परमार्थत नही है। यह प्रज्ञप्तिमात्र है। मिथ्या-रुचि (मत) से यह प्रवृत्त होते है, अत यह आत्मधर्म सवृतित ही है। पश्चिम की भाषा मे यदि कहे, तो कहना

होगा कि एक पूर्ववर्ती अभ्यासवश, सहज स्वभाव के फलस्वरूप विज्ञान अवधारित करता है कि उसका एक भाग ग्राहक है और दूसरा ग्राह्य (वाह्यजगत्)।

विज्ञान की सत्यता--किन्तु, यदि आत्मा और धर्म (ग्राहक और ग्राह्य) केवल संवृति-सत्य हैं, तो इनका उत्पादक विज्ञान कौन-सा सत्य है? शुआन च्वांग कहते हैं कि विज्ञान आत्मा और धर्म से अन्यथा है, क्योंकि इसका परिणाम आत्मधर्माकार होता है। विज्ञान अस्तित्व है, क्योंकि यह हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होता है। यह परतन्त्र है, किन्तु यह वस्तुत सर्वदा आत्म-धर्म-स्वभाव नही होता। किन्तु, इसका निर्भास आत्मधर्म के आकार मे होता है। अत, इसको भी संवृति-सत्य कहते है। दूसरे शब्दो मे वाह्यार्थ केवल प्रज्ञप्ति है, और इनका प्रवर्त्तन मिथ्या-रुचि से होता है। अत, उनका अस्तित्व विज्ञान-सदृश नही है। जैसे वाह्यार्थ का अभाव है, वैसे विज्ञान का अभाव नही है। विज्ञान ही इन प्रज्ञप्तियो का, इन उपचारो का, उपादान है, क्योंकि उपचार निराधार नही होता। विज्ञान परतन्त्र है, किन्तु द्रव्यत है।

हम देखते है कि प्राचीन माध्यमिक मतवाद में और शुआन-च्वांग के काल के विज्ञान-वाद में कितना अन्तर है। माध्यमिको के मत मे वस्तुत विज्ञान और विज्ञेय दोनो का समान रूप से अभाव है। यह केवल लोकसंवृतिसत् हैं। विज्ञानवाद के मत मे यदि विज्ञेय मृग-मरीचिका है, तो विज्ञान अपने स्वरूप में पूर्णत द्रव्यसत् है। यह ऐसी प्रतिज्ञा है, जिसके करने का साहस असग ने भी स्पष्ट रीति से नही किया। कम-से-कम उन्होने ऐसा संकोच के साथ किया। किन्तु, शुआन-च्वांग स्पष्ट है। वाह्यार्थ केवल विज्ञान की प्रज्ञप्ति है। यह केवल लोक-संवृतिसत् है। इसके विपरीत विज्ञान, जो इन प्रज्ञप्तियो का उपादान है, परमार्थसत् है। (पृ० ११)

आत्मग्राह की परीक्षा

यह कसे ज्ञात होता है कि वाह्यार्थ के विना विज्ञान ही अर्थाकार उत्पन्न होता है? क्योंकि, आत्मा और धर्म परिकल्पित हैं। इसके लिए शुआन-च्वांग क्रम से आत्मग्राह और धर्मग्राह की परीक्षा करते है।

सांख्य-वैशेषिक मत की परीक्षा—पहले वह आत्मग्राह को लेते है। सांख्य और वैशेषिक के मत मे आत्मा नित्य, व्यापक (या सर्वगत) और आकाशवत् अनन्त है। शुआन-च्वांग कहते है कि नित्य, व्यापक और अनन्त आत्मा सेन्द्रियक काय मे, जो वेदना से प्रभावित है, परि-च्छिन्न नही हो सकता। क्या आत्मा, जैसा कि उपनिषद् कहते हैं, सब जीवो मे एक है? अथवा जैसा सांख्य-वैशेषिक कहते है, अनेक है? पहले विकल्प मे जब एक जीव कर्म करता है, कर्म-फल भोगता है मोक्ष का लाभ करता है, तव सव जीव कर्म करते है, कर्म-फल का भोग करते है, मोक्ष का लाभ करते है इत्यादि। दूसरे विकल्प मे (सांख्य) सब सत्त्वो की व्यापक आत्माएँ अन्योन्य-प्रतिवेध करती है, अत आत्मा का स्वभाव मिश्र होगा। इसलिए, यह नही कहा जा सकता कि अमुक कर्म अमुक आत्मा का है, अन्य का नही है। जब एक मोक्ष का लाभ करता है, तव सव उसका लाभ करेंगे; क्योंकि जिन धर्मों की भावना और जिनका साक्षात्कार एक करता है, वह सब आत्माओ से सम्बद्ध होगे।

निर्ग्रन्थ मत की परीक्षा—इसके पश्चात् हमारे ग्रन्थकार निर्ग्रन्थो के मत का खण्डन करते है। निर्ग्रन्थ आत्मा को नित्यस्थ (कूटस्थ) मानते है, किन्तु कहते है कि इसका परिमाण शरीर के अनुसार दीर्घ या ह्रस्व होता है। यह युक्तिक्षम नही है, क्योकि इस कूटस्थ आत्मा का स्वशरीर के अनुसार विकास-सकोच नही हो सकता। यदि वशी की वायु के समान इसका विकास-सकोच हो, तो यह कूटस्थ नही है। पुन शरीरो के बहुत्व से छिन्न होने के कारण इसकी एकता कहाँ है? (पृ० १३)

हीनयानी मतों की परीक्षा—अब हीनयान के अन्तर्गत कतिपय मतवाद रह जाते है, जिनके अनुसार आत्मा पचस्कन्धात्मक है, या स्कन्धो से व्यतिरिक्त है (व्यतिरेकी), या न स्कन्धो से अन्य है और न अनन्य।

पहले पक्ष में एकता और नित्यता के विना यह आत्मा क्या है? पुनः आध्यात्मिक रूप, अर्थात् पचेन्द्रिय आत्मा नही है, क्योकि यह वाह्यरूप के सदृश परिमाणवाला और सावरण है। चित्त-चैत्त भी आत्मा नही है। चित्त-चैत्त जो अविच्छिन्न सन्तान में भी अवस्थित नही होते और जो हेतु-प्रत्ययाधीन है, कैसे आत्मा अवधारित हो सकते है? अन्य सस्कृत, अर्थात् विप्रयुक्त-संस्कार और अविज्ञप्ति-रूप भी आत्मा नही है, क्योकि वह वोधस्वरूप नही है।

पुन आत्मा स्कन्ध-व्यतिरेकी भी नही है, क्योकि स्कन्धो से व्यतिरिक्त आत्मा, आकाश के तुल्य, कारक-वेदक नही हो सकता।

पुन वात्सीपुत्रीयो का मत कि—पुद्गल न स्कन्धो से अन्य है और न अनन्य, युक्तियुक्त नही है। इस कल्पित द्रव्य में—जो स्कन्धो का उपादान लेकर (उपादाय) न पचस्कन्ध से व्यतिरिक्त है और न पंचस्कन्ध है, जिस प्रकार—घट मृत्तिका से न भिन्न है, न अभिन्न; हम आत्मा को नही पाते। आत्मा प्रज्ञप्तिसत् है (पृ० १४)।

अव केवल विज्ञान का प्रश्न रह जाता है। शुआन-च्वाँग वात्सीपुत्रीयो से पूछते है कि क्या यह आत्मा है, जो आत्मप्रत्यय का विषय है, आत्मदृष्टि का आलम्वन है? यदि आत्मा आत्मदृष्टि का विषय नही है, तो आप कैसे जानते है कि आत्मा है? यदि यह इसका विषय है, तो आत्मदृष्टि को विपर्यास न होना चाहिए, जैसे चित्त जो रूपादि वस्तुसत् को आलम्वन बनाता है, विपर्यास में सगृहीत नही है। बौद्ध आत्मा के अस्तित्व को कैसे स्वीकार कर सकता है? आप्तागम आत्मदृष्टि का प्रतिषेध करता है, नैरात्म्य का आशस करता है, और कहता है कि आत्माभिनिवेश ससार का पोषण करता है। क्या यह माना जा सकता है कि मिथ्यादृष्टि निर्वाण का आवाहक हो सकती है, अथवा सम्यग्दृष्टि ससार में हेतु है?

आत्मदृष्टि का आलम्वन निश्चय ही द्रव्यसत् आत्मा नही है, किन्तु स्कन्धमात्र है, जो आध्यात्मिक विज्ञान का परिणाम है।

पुन शुआन-च्वाँग तीर्थिको से पूछते है कि आत्मा सक्रिय है अथवा निष्क्रिय। यदि सक्रिय है, तो यह आत्मा नही है, धर्म (फेनामेनल) है। यदि निष्क्रिय है, तो यह स्पष्ट ही असत् है। पुन. साख्यवादी कहते है कि आत्मा स्वय चैतन्यात्मक है, और वैशेपिक कहते है कि

यह अचेतन है, चेतना-योग से चेतन होता है (बोधिचर्यावतार, ६।६०)। पहले विकल्प में आकाशवत् यह कर्त्ता, भोक्ता नहीं है।

आत्मग्राह की उत्पत्ति

इस आत्मग्राह की उत्पत्ति कैसे होती है? आत्मग्राह सहज या विकल्पित है?

सहज आत्मग्राह—प्रथम आत्मग्राह आभ्यन्तर हेतुवश अनादिकालिक वितथ वासना है, जो काय (या आश्रय) के साथ (सह) सदा होती है। यह सहज आत्मग्राह (सत्कायदृष्टि) मिथ्या देशना या मिथ्या विकल्प पर आश्रित नहीं है। मन स्वरसेन आलय-विज्ञान (अष्टम विज्ञान), अर्थात् मूलविज्ञान को आलम्बन के रूप में ग्रहण करता है (प्रत्येति, आलम्बते)। यह स्वचित्त-निमित्त का उत्पाद करता है, और इस निमित्त को द्रव्यत आत्मा अवधारित करता है। यह निमित्त मन का साक्षात् आलम्बन है। इसका सत्प्रतिभू (बिम्ब, आर्किटाइप) स्वयं आलय है। मन प्रतिबिम्ब का उत्पाद करता है। आलय के इस निमित्त का उपगम कर मन को प्रतीति होती है कि वह अपनी आत्मा को उपगत होता है। अथवा मनोविज्ञान पंच उपादानस्कन्धों को (विज्ञान-परिणाम) आलम्बन के रूप में गृहीत करता है, और स्वचित्त-निमित्त का उत्पाद करता है, जिसको वह आत्मा अवधारित करता है।

दोनों अवस्थाओं में यह चित्त का निमित्तभाग है, जिसे चित्त आत्मा के रूप में गृहीत करता है। यह बिम्ब मायावत् हैं। किन्तु, यह अनादिकालिक माया है; क्योंकि अनादिकाल से इसकी प्रवृत्ति है।

यह दो प्रकार के आत्मग्राह सूक्ष्म हैं, और इसलिए उनका उपच्छेद दुष्कर है। भावना-मार्ग में ही पुद्गलशून्यता की अभीक्ष्ण परम भावना कर बोधिसत्त्व इनका विष्कम्भन, प्रहाण करता है।

विकल्पित आत्मग्राह—दूसरा आत्मग्राह विकल्पित है। यह केवल आभ्यन्तर हेतुवश प्रवृत्त नहीं होता। यह बाह्य प्रत्ययों पर भी निर्भर है। यह मिथ्या देशना और मिथ्या विकल्प से ही उत्पन्न होता है, इसलिए यह विकल्पित है। यह केवल मनोविज्ञान से ही सम्बद्ध है। यह आत्मग्राह भी दो प्रकार का है। एक वह आत्मग्राह है, जिसमें आत्मा को स्कन्धों के रूप में अवधारित करते हैं। यह सत्कायदृष्टि है। मिथ्यादेशनावश स्कन्धों को आलम्बन बना मनोविज्ञान स्वचित्त-निमित्त का उत्पाद करता है, इस निमित्त का वितीरण, निरूपण करता है, और उसे द्रव्यत आत्मा अवधारित करता है। दूसरा वह आत्मग्राह है, जिसमें आत्मा को स्कन्धव्यतिरेकी अवधारित करते हैं। तीर्थिकों से उपदिष्ट विविध लक्षण के आत्मा को आलम्बन बना मनोविज्ञान स्वचित्त-निमित्त का उत्पाद करता है, इस निमित्त का वितीरण, निरूपण करता है, और उसे द्रव्यत आत्मा अवधारित करता है।

यह दो प्रकार के आत्मग्राह स्थूल हैं, अतएव इनका उपच्छेद सुगम है। दर्शनमार्ग में बोधिसत्त्व सर्व धर्म की पुद्गलशून्यता, भूततथता की भावना करता है, और आत्मग्राह का विष्कम्भन और प्रहाण करता है।

आत्मवाद का निराकरण और मूलविज्ञान

पुन शुआन-च्वाँग आत्मवादी के इस आक्षेप का विचार करते हैं कि यदि आत्मा द्रव्यत नही है, तो स्मृति और पुद्गल-प्रबन्ध के अनुपच्छेद का आप क्या विवेचन करते है ? (पृ० २०) शुआन-च्वाँग उत्तर मे कहते है कि यदि आत्मा नित्यस्थ है, तो चित्त की विविधावस्था कैसे होगी ? वह यह स्वीकार करते कि आत्मा का कारित्र विविध है, किन्तु उसका स्वभाव नित्यस्थ है। कारित्र स्वभाव से पृथक् नही किया जा सकता, अत यह नित्यस्थ है। स्वभाव कारित्र से पृथक् नही किया जा सकता, अत यह विविध है।

अनुभवसिद्ध आध्यात्मिक नित्यत्व (स्पिरिचुअल कान्स्टेण्ट) का विवेचन करने के लिए शुआन-च्वाँग आत्मा के स्थान मे मूल विज्ञान का प्रस्ताव करते है, जो सब सत्त्वो में होता है, और जो एक अव्याकृत सभाग-सन्तान है। इसमें सब सास्रव और अनास्रव समुदाचरित धर्मो के बीज होते है। इस मूल विज्ञान की क्रिया के कारण और बिना किसी आत्मा के सम्प्रधारण के सब धर्मों की उत्पत्ति पूर्व बीज, अर्थात् वासना के बल से होती है। यह धर्म-पर्याय से अन्य बीजो को उत्पादित करते है, और इस प्रकार आध्यात्मिक सन्तान अनन्त काल तक प्रवाहित होता है।

किन्तु, यह आक्षेप होगा कि आपका लोकधातु केवल सदाकालीन मनस्-कर्म है, कारक कहाँ है ? एक द्रव्यसत् आत्मा के अभाव में कर्म कौन करता है ? कर्म का फल कौन भोगता है ? शुआन-च्वाँग उत्तर देते है कि जिसे कारक करते है, वह कर्म है, परिवर्त्तन है। किन्तु, तीर्थिको का आत्मा आकाश के तुल्य नित्यस्थ है, अत यह कारक नही हो सकता। चित्त-चैत के हेतुप्रत्ययवश प्रबन्ध का अनुपच्छेद, कर्म-क्रिया और फलभोग होते है।

आत्मवादी पुन॰ कहते है कि आत्मा के बिना, एक अध्यात्मिक नित्य वस्तु के अभाव में आप बौद्ध जो हमारे सदृश ससार मानते है, ससार का निरूपण किस प्रकार करते है। यदि आत्मा द्रव्यत नही है, तो एक गति से दूसरी गति में ससरण कौन करता है, कौन दु ख का भोग करता है, कौन निर्वाण के लिए प्रयत्नशील होता है, और किसका निर्वाण होता है।

शुआन-च्वाँग का उत्तर है कि आप किस प्रकार आत्मा को मानते हुए ससार का निरूपण करते है। जब आत्मा का लक्षण यह है कि यह नित्य और जन्म-मरण से विनिर्मुक्त है, तब इसका ससरण कैसे हो सकता है ? ससार का निरूपण एकमात्र बौद्धो के सन्तान के सिद्धान्त से हो सका है। सत्त्व चित्त-सन्तान है, और यह क्लेश तथा सास्रव कर्मो के बल से गतियो में ससरण करते है। अत , आत्मा द्रव्यसत् स्वभाव नही है। केवल विज्ञान का अस्तित्व है। पर विज्ञान पूर्व विज्ञान के तिरोहित होने पर उत्पन्न होता है और अनादिकाल से इनकी हेतुफल-परम्परा, इनका सन्तान होता है।

धर्मग्राह की परीक्षा

ब्राह्मणो के आत्मवाद का निराकरण करके शुआन-च्वाँग बहुपदार्थवादी सांख्य-वैशेषिक तथा हीनयान का खण्डन करते है। यह मतवाद धर्मों की सत्ता मानते है (धर्मग्राह)। शुआन-च्वाँग कहते है कि युक्तित धर्मों का अस्तित्व नही है। चित्त-व्यतिरेकी धर्मों की द्रव्यत उपलब्धि नही होती।

साख्य परीक्षा—पहले वह साख्य-मतवाद का विचार करते है। साख्य के अनुसार पुरुष से पृथक् २३ तत्त्व (या पदार्थ)—महत् अहकारादि है। पुरुष चैतन्यस्वरूप है। वह इनका उपभोग करता है। यह धर्म त्रिगुणात्मक है,- तथापि यह तत्त्व है, व्यावहारिक (कल्पित) नही है, अत इनका प्रत्यक्ष होता है।

शुआन-च्वाँग उत्तर देते है कि जब धर्म अनेकात्मक (गुणत्रय के समुदाय) है, तब वह द्रव्यसत् नही है, किन्तु सेना और वन के तुल्य प्रज्ञप्ति-मात्र है। ये तत्त्व विकृति है, अत नित्य नही है। पुन इन तीन वस्तुओ के (तीन गुणो के) अनेक कारित्र है। अत, इनके स्वभाव और लक्षण भिन्न है। तब यह समुदाय के रूप मे एक तत्त्व कैसे है?

वैशेषिक-परीक्षा—वैशेपिक-परीक्षा यह विचार करते हुए शुआन-च्वाँग कहते है कि इसके अनुसार द्रव्य, गुण, कर्मादि पदार्थ द्रव्यसत्-स्वभाव है और प्रत्यक्षगम्य है। इस वाद में पदार्थ या तो नित्य और अविपरिणामी है, अथवा अनित्य है। परमाणु-द्रव्य नित्य है और परमाणु-सघात अनित्य है।

शुआन-च्वाँग कहते है कि यह विचित्र है कि एक ओर परमाणु नित्य हैं, और दूसरी ओर उनमे परमाणु-सघात के उत्पादन का सामर्थ्य भी है। यदि परमाणु त्रसरेणु आदि फल का उत्पादन करते है, तो फल के सदृश वह नित्य नही है, क्योकि वह कारित्र से समन्वागत है; और यदि वह फलोत्पादन नही करते, तो विज्ञान से व्यतिरिक्त शशशृगवत् उनका कोई द्रव्यसत् स्वभाव नही है।

यदि अनित्य पदार्थ (परमाणु-सघात) सावरण है, तो वह परिमाणवाले है; अत वह सेना और वन से समान विभजनीय है, अत वह द्रव्यसत्-स्वभाव नही है। यदि वह सावरण नही है, तो चित्त-चैत्त से व्यतिरिक्त उनका कोई द्रव्यसत्-स्वभाव नही है। जो परमाणु के लिए सत्य है, वह समुदाय-सघात के लिए भी सत्य है। अत, वैशेपिको के विविध द्रव्य प्रज्ञप्तिमात्र है। गुणो का विज्ञान से पृथक् स्वभाव नही है। पृथ्वी-जल-तेज-वायु सावरण पदार्थों में सगृहीत नही है, क्योकि वह इनके खक्खटत्व. . .उदीरणत्व गुण के समान कायेन्द्रिय से स्पृष्ट होते है। इसके विपरीत, चार पूर्वोक्त गुण अनावरण पदार्थों में सगृहीत नही है, क्योकि पृथ्वी-जल-तेज-वायु के समान वह कायेन्द्रिय से स्पृष्ट होते है।

अत, यह सिद्ध होता है कि खक्खटत्वादि गुणो मे व्यतिरिक्त पृथ्वी-जल-तेज-वायु का द्रव्यसत्-स्वभाव नही है।

इसी प्रकार, कर्मादि अन्य पदार्थों का भी विज्ञान से पृथक् स्वभाव नही है। वैशेषिक कहते हैं कि पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, जैसा विज्ञान से व्यतिरिक्त द्रव्यसत्-स्वभाव का होना चाहिए, किन्तु यह यथार्थ नही है। यही बात कि द्रव्य ज्ञेय (ज्ञान के विषय) हैं, यह सिद्ध करता है कि यह विज्ञान के अभ्यन्तर में हैं।

अत', सिद्धान्त यह है कि वैशेषिको के पदार्थ प्रज्ञप्तिमात्र है।

महेश्वर-परीक्षा—शुआन-च्वाँग महेश्वर के अस्तित्व का भी प्रतिषेध करते है। उनकी युक्ति यह है कि जो लोक का उत्पाद करता है, वह नित्य नही है, जो नित्य नही है वह विभु नही है, जो विभु नही है, वह द्रव्यत नही है। पुन जो सर्वशक्तिमान् है, वह सब धर्मों की सृष्टि सकृत् करेगा, न कि क्रमश। यदि सृष्टि के कार्य मे वह छन्द के अधीन है, तो वह स्वतन्त्र नही है, और यदि वह हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा करता है, तो वह सृष्टि का एकमात्र कारण नही है।

शुआन-च्वाँग काल, दिक्, आकाशादि पदार्थों की भी सत्ता नही मानते।

लोकायतिक-परीक्षा—तदनन्तर, वह लोकायतिको के मत का खण्डन करते हैं। इनके अनुसार पृथिवी-सलिल-तेज-वायु इन चार महाभूतो के परमाणु, जो वस्तुओ के सूक्ष्म रूप हैं, कारण-रूप हैं, नित्य हैं, और इनकी परमार्थ सत्ता है। इनके पश्चात् स्थूल रूप (कार्यरुप) का उत्पाद होता है। जनित स्थूलरूप का कारण से व्यतिरेक नही होता।

शुआन-च्वाँग इस वाद का इस प्रकार खण्डन करते हैं। यदि सूक्ष्मरूप (परमाणु) का दिग्विभाग है, जैसा पिपीलिका-पक्ति का होता है, तो उनका एकत्व केवल प्रज्ञप्ति है, सज्ञामात्र है। यदि उनका चित्त-चैत्त के सदृश दिग्विभाग नही होता, तो उनसे स्थूल रूप का उत्पाद नही हो सकता। अन्तत, यदि उनसे कार्य जनित होता है, तो वे नित्य और अविपरिणामी नही हैं।

अन्य तीर्थिकों की परीक्षा—तीर्थिको के अनेक प्रकार है। किन्तु, इन सबका समावेश चार आकारो मे हो सकता है। जहाँतक सद् धर्म का सम्बन्ध है, पहला आकार साख्यादि का है। इनके अनुसार सद्धर्मों का तादात्म्य सत्ता या महासत्ता से है। किन्तु, इस विकल्प मे सत्ता होने के कारण इन सबका परस्पर तादात्म्य होगा, यह एक स्वभाव के होगे, और निर्विशेष होगे, जैसे सत्ता निर्विशेष है। साख्य मे आन्तरिक विरोध हैं, क्योंकि वह प्रकृति के अतिरिक्त तीन गुण और आत्मा को द्रव्यत मानता है। यदि सर्व रूप रूपता है, अर्थात् यदि सब वर्ण वर्ण हैं, तो नील और पीत का मिश्रण होता है।

दूसरा आकार वैशेषिकादि का है। इनका मत है कि सद्धर्म सत्ता से भिन्न है। किन्तु, इस विकल्प मे सर्व धर्म की उपलब्धि प्रध्वसाभाव के सदृश नही होती। इससे यह गमित होता है कि वैशेषिक द्रव्यादि पदार्थों का प्रतिषेध करता है। यह लोकविरुद्ध है, क्योंकि लोक प्रत्यक्ष देखता है कि वस्तुओ का अस्तित्व है। यदि वर्ण वर्ण नही है, तो उनका ग्रहण चक्षु से नही होगा जैसे शब्द का ग्रहण चक्षु से नही होता।

तीसरा आकार निर्ग्रन्थ आदि का है, जो मानते है कि सद्धर्म सत्ता से अभिन्न और भिन्न दोनो है। यह मत युक्त नही है। पूर्वोक्त दो आकारो के सब दोष इसमे पाये जाते हैं।

अभेद-भेद सुख-दु ख के समान परस्परविरुद्ध हैं, और एक ही वस्तु में आरोपित नही हो सकते। पुन अभेद और भेद दोनो व्यवस्थापित नही हो सकते।

सब धर्म एक ही स्वभाव के होगे, क्योकि यह व्यवस्था है कि विरुद्ध धर्म एक स्वभाव के है। अथवा आपका धर्म जो सत्ता से अभिन्न और भिन्न दोनो है, प्रज्ञप्ति-सत् होगा, तात्त्विक न होगा।

चतुर्थ आकार आजीविकादि का है, जिनके अनसार सद्धर्म सत्ता से न अभिन्न है, न भिन्न। किन्तु, यह वाद पूर्ववर्णित भेदाभेदवाद से मिला-जुला है। क्या यह वाद प्रतिज्ञात्मक है ? क्या इस वाद का निषेधद्वय युक्त नही है ? क्या यह वाद शुद्ध निषेध है ? उस अवस्था मे वाणी का अभिप्राय विलुप्त हो जाता है। क्या यह प्रतिज्ञात्मक और निषेधात्मक दोनो है ? यह विरुद्ध है। क्या यह इनमे से कोई नही है ? शब्दाडम्बर-मात्र है।

अन्य वादो की कठिनाइयो के परिहार के लिए यह वृथा प्रयास है।

हीनयान के सप्रतिघ रूपो के द्रव्यत्व का निषेध

इसके पश्चात् शुआन-च्वाँग हीनयान के धर्मों की परीक्षा करते है। हीनयान मे चार प्रकार के धर्म है, जो द्रव्य-सत् है—चित्त-चैत्त, रूप, विप्रयुक्त और असस्कृत। शुआन-च्वाँग कहते है कि अन्त के तीन धर्म विज्ञान से व्यतिरिक्त नही है।

रूप—हीनयान मे दो प्रकार के रूप है—सप्रतिघ (पहले १० आयतन) और अप्रतिघ (यह धर्मायतन का एक प्रदेश है। यह परमाणुमय नही है)।

सप्रतिघ—रूप परमाणुमय है। सौत्रान्तिक मत से परमाणु का दिग्विभाग है, किन्तु सर्वास्तिवादी और वैभाषिक परमाणु का सूक्ष्म रूप (विन्दु) मानते है। दोनो मानते है कि आवरण-प्रतिघातवश परमाणु सप्रतिघ है। किन्तु, दिग्भागभेद के सम्बन्ध मे इनका मतैक्य न होने से आवरण-प्रतिघात के अर्थ में भी एक मत नही है। सौत्रान्तिक मानते है कि परमाणु स्पृष्ट होते है, और दिग्देश-भेदवश उनका प्रतिघात होता है। सर्वास्तिवादी नही स्वीकार कर सकते कि उसके परमाणु स्पृष्ट होते है, क्योकि यह सूक्ष्म (विन्दु) है।

शुआन-च्वाँग कहते हैं कि सूक्ष्म परमाणु सावृत है, और उनका सघात नही हो सकता, तथा जिनका दिग्विभाग है, वह विभजनीय है, और इसलिए वह परमाणु नही है। यदि परमाणु अति सूक्ष्म, अविभजनीय और वस्तुत रूपी है, तो वह परस्पर स्थूल, महत रूप जनित नही करते। दोनो अवस्थाओ में परमाणु की सत्ता नही है, और इसलिए परमाणुमय रूप भी विलुप्त हो जाता है। किसी युक्ति से भी परमाणु द्रव्य-सत् नही सिद्ध होता। पुन हीनयानवादी स्वीकार करते है कि पच विज्ञानकाय का आश्रय इन्द्रिय है, और उनका आलम्बन वाह्यार्थ है, तथा इन्द्रिय और अर्थ रूप हैं। शुआन-च्वाँग का मत है कि इन्द्रिय और अर्थ विज्ञान के परिणाम-मात्र है। इन्द्रिय शक्ति है। यह 'उपादाय-रूप' नही है। एक सप्रतिघ रूप, जो विज्ञान से वहिरवस्थित है, युक्तियुक्त नही है। इन्द्रिय विज्ञान का परिणाम-निर्भास है। इसी प्रकार आलम्बन-प्रत्यय भी विज्ञान से वहिर्भूत नही है। यह विज्ञान का परिणाम (निमित्तभाग) है।

शुआन-च्वाँग सौत्रान्तिक और सर्वास्तिवादी वैभाषिक मत का प्रतिषेध करते हैं, जिनके अनुसार विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय वह है, जो स्वाकार (स्वाभास) विज्ञान का निर्वर्त्तन करता है। यह कहते हैं कि बाह्य अर्थ स्वाभास विज्ञान का जनक होता है, इसलिए उनको विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय इष्ट है।

सौत्रान्तिको के अनुसार आलम्बन-प्रत्यय सचित (सहत) परमाणु है। जब चक्षुर्विज्ञान रूप की उपलब्धि करता है, तब यह परमाणुओ को प्राप्त नही होता, किन्तु केवल सचित को ही प्राप्त होता है, क्योकि यह विज्ञान सचिताकार होता है ('तदाकारत्वात्' हम सचित नील देखते है, नील के परमाणु नही देखते), अत पच विज्ञानकाय का आलम्बन सचित है।

शुआन-च्वाँग के लिए सघात द्रव्य-सत् नही है। वह सावृत है। इस कारण वह विज्ञप्ति का अर्थ नही हो सकता, और इसलिए वह आलम्बन-प्रत्यय नही है। बाह्यार्थ के बिना ही संचिताकार विज्ञान उत्पन्न होता है। वैभाषिक मत के अनुसार विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय एक-एक परमाणु है। प्रत्येक परमाणु अन्य-निरपेक्ष्य और अतीन्द्रिय होता है, किन्तु बहुत-से परस्परापेक्ष्य और इन्द्रिय-ग्राह्य होते हैं। जब वह परमाणु एक दूसरे की अपेक्षा करते है, तब स्थूल लक्षण की उत्पत्ति होती है, जो पच विज्ञानकाय का विषय है। यह द्रव्य-सत् है, अत यह आलम्बन-प्रत्यय है।

इसका खण्डन करते हुए स्थिरमति कहते है कि सापेक्ष और निरपेक्ष अवस्था में परमाणु के आत्मातिशय का अभाव है। इसलिए या तो परमाणु अतीन्द्रिय है, या इन्द्रियग्राह्य हैं। यह परमाणु परस्पर अपेक्षा कर विज्ञान के विषय होते है, तो यह जो घटकुड्यादि आकार-भेद होता है, वह विज्ञान में न होगा, क्योकि परमाणु तदाकार नही है। पुन यह भी युक्त नही है कि विज्ञान का अन्य निर्भास हो, और विषय का अन्य आकार हो, क्योकि इसमें अतिप्रसग दोष होगा।

पुन परमाणु स्तम्भादिवत् परमार्थत नही है। उनका अर्वाक्-मध्य-पर भाग होता है। अथवा उसके अनभ्युपगम मे पूर्वदक्षिणादि दिग्भेद परमाणु का न होगा, अत विज्ञानवत् परमाणु का अमूर्त्तत्व और अदेशस्थत्व होगा। इस प्रकार, बाह्यार्थ के अभाव में विज्ञान ही अर्थाकार उत्पन्न होता है (त्रिंशिका, पृ० १६)।

सर्वास्तिवादी के अनुसार एक-एक परमाणु समस्तावस्था मे विज्ञान का आलम्बन-प्रत्यय है। परमाणु अतीन्द्रिय है, किन्तु समस्त का प्रत्यक्षत्व है (अभिधर्मकोश, ३, पृ० २१३)।

इसके उत्तर मे विज्ञानवादी कहते है कि परमाणु का लक्षण या आकार विज्ञान म प्रतिबिम्बित नही होता। सहत का लक्षण परमाणुओ में नही होता, क्योकि असहतावस्था में यह लक्षण उनमें नही पाया जाता। असहतावस्था से सहतावस्था मे परमाणुओ का कोई आत्मातिशय नही होता। दोनो अवस्थाओ मे परमाणु पचविज्ञान के आलम्बन नहीं होते (दिङ्नाग)।

इस प्रकार, विविध वादो का निराकरण करके शुआन-च्वाँग परमाणु पर विज्ञानवाद का सिद्धान्त वर्णित करते है।

परमाणु पर विज्ञानवादी सिद्धान्त--योगाचार शस्त्र से नही, किन्तु चित्त से स्थूल रूप का विभाग पुन-पुन करते है, यहाँतक कि वह अविभजनीय हो जाता है। रूप के इस पर्यन्त को, जो सावृत है, वह परमाणु की सज्ञा देते है। किन्तु, यदि हम रूप का विभजन करते रहें, तो परमाणु आकाशवत् प्रतीत होगा, और रूप न रहेगा, अतः हमारा यह निष्कर्ष है कि रूप विज्ञान का परिणाम है, और परमाणुमय नही है।

अप्रतिघ रूपों के द्रव्यत्व का निषेध

पूर्वोक्त विवेचन सप्रतिघ रूप के सम्बन्ध में है। जब सप्रतिघ रूप का द्रव्यत्व नहीं है, और यह विज्ञान का परिणाम है, तो अप्रतिघ रूप तो और भी अधिक सद्धर्म नही है।

सर्वास्तिवादी के अप्रतिघ रूप काय-विज्ञप्ति-रूप, वाग्-विज्ञप्ति-रूप और अविज्ञप्ति-रूप है। उनका काय-विज्ञप्ति-रूप सस्थान है। किन्तु सस्थान विभजनीय है, और दीर्घादि के परमाणु नही होते (कोश, ४, पृ० ४, ६), अत सस्थान रूप द्रव्यतः नही है। वाग्विज्ञप्ति शब्दस्वभाव नही है। एक शब्द-क्षण विज्ञापित नही करता, और शब्द-क्षणो का सन्तान द्रव्य-सत् नहीं है। वस्तुत, विज्ञान शब्द-सन्तान में परिगत होता है। उपचार से इस सन्तान को वाग्विज्ञप्ति कहते है।

अविज्ञप्ति जब विज्ञप्ति-द्रव्य-सत् नही है, तो अविज्ञप्ति कैसे द्रव्य-सत् होगी?

चेतना (ध्यानभूमि की) या प्रणिधि (प्रातिमोक्षसवर या असवर) को उपचार से अविज्ञप्ति कहते है। दूसरे शब्दो में यह या तो एक चेतना है, जो अकुशल काय-वाग्विज्ञप्ति कर्म का निरोध करती है, या यह उत्कर्षावस्था में एक प्रधान चेतना के बीज हैं, जो काय-वाक्-कर्म के जनक हैं। अत अविज्ञप्ति प्रज्ञप्ति-सत् है।

विप्रयुक्तों के द्रव्यत्व का निषेध--विप्रयुक्त भी द्रव्य-सत् नही है।

प्राप्ति, अप्राप्ति तथा अन्य विप्रयुक्तो की स्वरूपत उपलब्धि नही होती। पुन रूप तथा चित्त-चैत्त से पृथक् इनका कोई कारित्र नही दीख पडता। अत, यह रूप चित्त-चैत्त के अवस्था-विशेष के प्रज्ञप्तिमात्र है।

सभागता भी द्रव्य-सत् नही है। सर्वास्तिवादी कहते है कि सत्त्वो में सामान्य बुद्धि और प्रज्ञप्ति का कारण सभागता नामक द्रव्य है। यह विप्रयुक्त है। यथा कहते है . अमुक मनुष्यो की सभागता का प्रतिलाभ करता है, अमुक देवो की सभागता का प्रतिलाभ करता है। युआन-च्वाग कहते है कि यदि सत्त्वो की सभागता है, तो वृक्षादि की भी सभागता माननी चाहिए। पुन सभागताओं की भी एक सभागता होनी चाहिए। हम यह भी कह सकते हैं कि समान कर्मान्त के मनुष्य और समान छन्द के देव सभागता-वश है। वस्तुत, सभागता नामक किसी द्रव्य-विशेष के कारण सत्त्वो के विविध प्रकारो में सादृश्य नहीं होता। अमुक-अमुक प्रकार के

सत्वों का जो कायिक और चैतसिक धर्म-सामान्य है, उनको आगम सभागता संज्ञा से प्रज्ञप्त करता है।

जीवितेन्द्रिय—के सम्बन्ध मे शुआन्-च्वाँग कहते है कि यह कर्मजनित शक्ति-विशेष है, और यह उन बीजोपर आश्रित है, जो आलय-विज्ञान के हेतु-प्रत्यय है। इस सामर्थ्य-विशेष के कारण भव-विशेष के रूप-चित्त-चैत्त एक काल तक अवस्थान करते है। आलय-विज्ञान एक अविच्छिन्न स्रोत है। एक भव से दूसरे भव मे इसका निरन्तर प्रवर्त्तन होता है। हेतु-प्रत्यय-वश इसका परिपोष होता है। उदाहरण के लिए, हम नील (प्रत्युत्पन्न धर्म) का चिन्तन करते है, नील के सम्बन्ध में हमारी वाग्विज्ञप्ति होती है। यह वाक्, यह चित्त, अर्थात् यह व्यवहार बीजो को उत्पन्न करता है, जो नील के अपूर्व चित्तो का उत्पाद करेंगे। उक्त हेतु-प्रत्यय के अतिरिक्त एक अधिपति-प्रत्यय भी है। यह कर्म है। यह कर्म, जो शुभ या अशुभ है, अव्याकृत फल का जनक होता है, अर्थात् दु ख आलय-विज्ञान का जनक होता है, इसलिए कर्म विपाक-हेतु है। यह विपाक-बीज का उत्पाद करता है। जीवितेन्द्रिय से प्रथम प्रकार के बीज, न कि विपाक-बीज, इष्ट है। यह बीज (नाम-वाक्) जो हेतु-प्रत्यय है, आलय का पोषण करते है, जब कि दूसरे प्रकार के बीज, अर्थात् विपाक-बीज आलय की गति, अवस्था आदि को निर्धारित करते है।

असंज्ञि-समापत्ति, निरोध-समापत्ति; अचित्तक और आसज्ञिक—को शुआन-च्वाँग द्रव्य-सत् नही मानते। वह कहते है कि यदि असज्ञि अवस्था का व्याख्यान करने के लिए इन धर्मों की व्यवस्था आवश्यक है, जिनके विषय मे कहा जाता है कि यह चित्त का प्रतिबन्ध करते है, तो एक आरूप्य-समापत्ति नामक धर्म भी मानना पडेगा, जो रूप का प्रतिबन्धक हो। चित्त का प्रतिबन्ध करने के लिए किसी सद्धर्म की कल्पना की आवश्यकता नही है। जब योगी इन समापत्तियो की भावना करता है, तब वह औदारिक और चल चित्त-चैत्त की विदूषणा से प्रयोग का आरम्भ करता है। इस विदूषणा के योग से वह एक प्रणीत अवधि-प्रणिधान का उत्पाद करता है, वह अपने चित्त-चैत्तो को उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अणु बनाता है। यह प्रयोगावस्था है। जब चित्त सूक्ष्म-सूक्ष्म हो जाता है, तब वह आलय-विज्ञान को भावित करता है और इस विज्ञान मे विदूषणा-चित्त के अधिमात्रतम बीज का उत्पाद करता है। इस बीज के योग से जो चित्त-चैत्त का विष्कम्भन करता है, सब औदारिक और चचल चित्त-चैत्त का काल-विशेष के लिए समुदाचार नही होता। इस अवस्था को उपचार से समापत्ति कहते है। असज्ञिसमापत्ति में यह बीज सास्रव होता है, और निरोध-समापत्ति मे अनास्रव होता है। आसज्ञिक के सम्बन्ध मे इनका यह मत है कि असज्ञिदेवो के प्रवृत्ति-विज्ञानो के असमुदाचार को उपचार से आसज्ञिक कहते है।

जाति, स्थिति, जरा, निरोध—इन सस्कृत धर्मो को भी हीनयानवादी द्रव्य-सत् मानते है। यह सस्कृत के सस्कृत लक्षण है। शुआन-च्वाँग इसके विरोध में नागार्जुन की दी हुई आलोचना देते है। अतीत और अनागत अध्व द्रव्य-सत् नही है। वह अभाव है। अत, यह चार लक्षण प्रज्ञप्ति-सत् है। पूर्वनय के अनुसार अन्य विप्रयुक्तो का भी प्रतिषध होता है।

असंस्कृतों के द्रव्य-सत्त्व का निषेध

संस्कृत धर्मों के अभाव को सिद्धकर शुआन-च्वांग हीनयान के असंस्कृतो का विचार करते हैं—आकाश, प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध। असंस्कृत प्रत्यक्षज्ञेय नहीं है, और न उनके कारित्र तथा व्यापार से उनका अनुमान होता है। पुन यदि वह व्यापारशील है, तो वह नित्य नहीं है, अत विज्ञान से व्यतिरिक्त असंस्कृत कोई द्रव्य-सत् नहीं है।

आकाश एक है या अनेक? यदि स्वभाव में यह एक है, और सब स्थानो में प्रतिवेध करता है, तो रूपादि धर्मों को अवकाश प्रदान करने के कारण यह अनेक हो जाता है, क्योंकि एक वस्तु से आवृत स्थान वस्तुओ के अन्योन्य प्रतिवेध के बिना दूसरी वस्तु से आवृत नहीं होता।

निरोध यदि एक है, तो जब प्रज्ञा से नौ प्रकार में से एक प्रकार का प्रहाण होता है, पाँच संयोजनों में से एक संयोजन का उपच्छेद होता है, तो वह अन्य प्रकार का भी प्रहाण करता है, अन्य संयोजनो का भी उपच्छेद करता है। यदि निरोध अनेक है, तो वह रूप के सदृश असंस्कृत नहीं है, अत निरोध भी सिद्ध नहीं होते। यह विज्ञान के परिणाम-विशेष हैं। हाँ, यदि आप चाहें, तो असंस्कृतो को धर्मता, तथता का प्रज्ञप्ति-सत् मान सकते हैं।

तथता, धर्मता, आकाश—शुआन-च्वांग तथता की एक नवीन व्याख्या करते हैं यह अवाच्य है, यह शून्यता से, नैरात्म्य से अवभासित होती है। यह चित्त और वाक्पथ के ऊपर है, जिनका संचार भाव, अभाव, भावाभाव और न भाव तथा न अभाव में होता है। यह न धर्मों से अनन्य है, न अन्य, न दोनो है, और न अनन्य है तथा न अन्य। क्योंकि, यह धर्मों का तत्त्व है, इसलिए इसे धर्मता कहते हैं। इस धर्मता (वस्तुओ का विशुद्ध स्वभाव) के एक आकार को आकाश कहते हैं, और निर्वाण के आकार में योगी इसी का साक्षात्कार, इसी का प्रतिवेध करता है। किन्तु, यह समझ लेना चाहिए कि तथता स्वत या अपने इन दो आकारो में वस्तु-सत् नहीं है। शुआन-च्वांग निःसंकोच हो प्रतिज्ञा करते हैं कि यह प्रज्ञप्तिमात्र है। इस संज्ञा को व्यावृत्त करने के लिए कि यह असत्त्व है, कहते हैं कि यह है (इस प्रकार शून्यता के विपर्यास और मिथ्यादृष्टि का प्रतिषेध करते हैं)। इस संज्ञा को व्यावृत्त करने के लिए कि यह है, महीशासक कहते हैं कि यह शून्य है। इस संज्ञा को व्यावृत्त करने के लिए कि यह मायावत् है, कहते हैं कि यह वस्तुसत् है। किन्तु, यह न वस्तुसत् है, न अवस्तु। क्योंकि यह न अभूत है (यथा परिकल्पित), न वितथ (यथा परतन्त्र)। इसलिए, इसे भूततथता कहते हैं (पृ० ७७)।

ग्राह्य-ग्राहक विचार

इस प्रसंग में शुआन-च्वांग ग्राह्य-ग्राहक का विचार करते हैं।

जिन धर्मों को तीर्थिक और हीनयानवादी चित्त-चैत्त से भिन्न मानते हैं, वह द्रव्यसत् स्वभाव नहीं है, क्योंकि वह ग्राह्य है, जैसे चित्त-चैत्त है, जिनका ग्रहण पर-चित्तज्ञान से होता है।

बुद्धि जो रूपादि का ग्रहण करती है, उनको आलम्बन नही बनाती, क्योकि यह ग्राहक है। जैसे परचित-ज्ञान है, जो परिचित्त का ग्रहण करता है, और उसको आलम्बन नही बनाता; क्योकि वह इस चित्त के केवल ग्राहक-अनुकृति (सबजेक्टिव इमिटेशन) को आलम्बन बनाता है। चित्त-चैत्त भूत-द्रव्य-सत् नही है, क्योकि उनका उद्भव मायावत् परतन्त्र है (प्रतीत्य-समुत्पन्न)।

शुआन-च्वांग अपने विज्ञानवाद की आत्मवाद-द्रव्यवाद से रक्षा करने में सतर्क है। इस मिथ्यावाद का प्रतिषेध करने के लिए कि चित्त-चैत्त-व्यतिरेकी बाह्य विषय द्रव्य-सत् है, यह कहा जाता है कि विज्ञप्तिमात्र हैं। किन्तु, इस विज्ञान को और विज्ञान-व्यतिरेकी बाह्य विषयो को परमार्थत द्रव्य-सत् स्वभाव मानना धर्मग्राह है।

सहज धर्मग्राह—धर्मग्राह की उत्पत्ति कैसे होती है, इसकी परीक्षा शुआन-च्वांग करते है। वह कहते है कि धर्मग्राह (धर्माभिनिवेश) दो प्रकार का है—सहज और विकल्पित। सहज अभूत (= वितथ) वासना से प्रवृत्तहोता है। अनादि काल से धर्माभिनिवेश का जो अभ्यास होता है, और इस अभ्यासवश जो बीज विज्ञान मे सचित होते है, उसे वासना कहते हैं। यह धर्मग्राह सदा आश्रय-सहगत होता है। इसकी उत्पत्ति या परिणाम स्वरसेन होता है। मिथ्या देशना या मिथ्या उपनिध्यान से यह स्वतन्त्र है, इसलिए इसे सहज कहते है।

विकल्पित धर्मग्राह—बाह्य प्रत्ययवश उत्पन्न होता है। इसकी उत्पत्ति के लिए मिथ्या देशना और मिथ्या उपनिध्यान का होना आवश्यक है, अत यह विकल्पित कहलाता है। यह मनोविज्ञान में अवस्थित है।

सर्व धर्मग्राह का विषय धर्माभास हैं, जो स्वचित्तनिर्भास है। ये धर्माभास हेतुजनित हैं। अत., इनका अस्तित्व है, किन्तु ये मायावत् परतन्त्र है, इसीलिए इन्हें धर्माभास कहते हैं।

भगवान् ने कहा है—हे मैत्रेय! विज्ञान का विषय विज्ञाननिर्भास-मात्र है। यह मायादिवत् परतन्त्रस्वभाव है। (सन्धिनिर्मोचनसूत्र)।

सिद्धान्त यह है कि आत्मधर्म द्रव्य-सत् नही है, अत चित्त-चैत्त का रूपादि बाह्यधर्म आलम्बन-प्रत्यय नही है। कोई बाह्यार्थ नही है। यह मूढो की कल्पना है। वासनाओ से लुठित चित्त का अर्थाभास में प्रवर्तन ोता है। इनमें द्रव्यत्व का उपचार है।

आत्मधर्मोपचार पर आक्षेप

वैशेषिक आक्षेप करते है कि यदि मुख्य आत्मा और मुख्य धर्म नही है, तो विज्ञान-परिणामवाद मे आत्मधर्मोपचार युक्त नही है। तीन के होने पर उपचार होता है। इनमें से किसी एक के अभाव मे नही होता। यह तीन इस प्रकार हैं—१. मुख्य पदार्थ, २. तत्सदृश अन्य विषय और ३. इन दोनो का सादृश्य। यथा मुख्य अग्नि, तत्सदृश माणवक और इन दोनो के साधारण धर्म कपिलत्व या तीक्ष्णत्व होने पर यह उपचार होता है कि अग्नि माणवक है।

किन्तु, यदि आत्मा और धर्म नहीं है, तो कौन द्रव्य-सत् सादृश्य का आश्रय होगा? जब उसका अभाव है, तो उसके नाम का उपचार कैसे हो सकता है? यह कैसे कह सकते हैं कि चित्त बाह्यार्थ के रूप में अवभासित होता है?

उपचार का समाधान

यह आक्षेप दुर्बल है, क्योंकि हमने यह सिद्ध किया है कि चित्त से व्यतिरिक्त आत्म-धर्म नहीं हैं। आइए, हम उपचार की परीक्षा करें। 'अग्नि माणवक है', इसमें जाति या द्रव्य का उपचार होना बताते हैं। माणवक का जाति-अग्नि से सादृश्य दिखाना 'जात्युपचार' है। माणवक का एक द्रव्य से सादृश्य दिखाना 'द्रव्योपचार' है।

दोनों प्रकार से उपचार का अभाव है।

जात्युपचार--कपिलत्व और तीक्ष्णत्व अग्नि के साधारण-जाति गुण नहीं हैं। साधारण धर्मों के अभाव मे माणवक मे जात्युपचार युक्त नहीं है, क्योंकि अतिप्रसग का दोष होता है। तब तो आप यह भी कह सकेंगे कि उपचार से जल अग्नि है।

किन्तु, आप कहेंगे कि यद्यपि जाति का तद्धर्मत्व नहीं है, तथापि तीक्ष्णत्व और कपिलत्व का अग्नित्व से अविनाभाव है, और इसलिए माणवक में जात्युपचार होगा। इसके उत्तर में हमारा यह कथन है कि जाति के अभाव में भी तीक्ष्णत्व और कपिलत्व माणवक में देखा जाता है, और इसलिए अविनाभावित्व अयुक्त है, और अविनाभावित्व में उपचार का अभाव है; क्योंकि अग्नि के सदृश माणवक में भी जाति का सद्भाव है। अत, माणवक में जात्यु-पचार सम्भव नहीं है।

द्रव्योपचार--द्रव्योपचार भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सामान्य धर्म का अभाव है। अग्नि का जो तीक्ष्ण या कपिल गुण है, वही गुण माणवक में नहीं है। विशेष स्वाश्रय में प्रतिबद्ध होता है। अत, अग्नि-गुण के विना अग्नि का माणवक में उपचार युक्त नहीं है। यदि यह कहो कि अग्नि-गुण के सादृश्य से युक्त है, तो इस अवस्था में भी अग्नि-गुण का ही माणवक-गुण में उपचार सादृश्य के कारण युक्त है, किन्तु माणवक मे अग्नि का नहीं। इसलिए द्रव्योपचार भी युक्त नहीं है।

यह यथार्थ नहीं है कि तीन भूतवस्तु पर उपचार आश्रित है। भूतवस्तु (स्वलक्षण) सावृत ज्ञान और अभिधान का विषय नहीं है। यह ज्ञान और अभिधान सामान्यलक्षण को आलम्बन बनाते है।

मुख्य आत्मा, धर्म का अभाव--ज्ञान और अभिधान की प्रधान मे प्रवृत्ति गुणरूप में ही होती है, क्योंकि वह प्रधान, अर्थात् मुख्य पदार्थ के स्वरूप का सस्पर्श नहीं करते। अन्यथा गुण की व्यर्थता का प्रसग होगा। किन्तु, ज्ञान और अभिधान के व्यतिरिक्त पदार्थ-स्वरूप को परिच्छिन्न करने का अन्य उपाय नहीं है। अत, यह मानना होगा कि मुख्य पदार्थ नहीं है। इसी प्रकार सम्बन्ध के अभाव से शब्द में ज्ञान और अभिधान का अभाव है। इसी प्रकार अभिधान और अभिधेय के अभाव से मुख्य पदार्थ नहीं है। अत., सब गौण ही है, मुख्य नहीं है।

गौण उसे कहते हैं, जो वहाँ अविद्यमान रूप से प्रवृत्त होता है। सब शब्द प्रधान में अविद्यमान गुण-रूप मे प्रवृत्त होते है, अत मुख्य नही है। अत, यह अयुक्त है कि मुख्य आत्मा और मुख्य धर्म के न होनेपर उपचार युक्त नही है।

भगवान् उपचारवश आत्मा और धर्म, इन शब्दो का योग करते हैं। इससे यह परिणाम न निकालना चाहिए कि मुख्य आत्मा और मुख्य धर्म है। वह आत्मधर्म में प्रतिपन्न पुद्‌गलो को विनीत करना चाहते है। अत वह उन मिथ्या सज्ञाओ का प्रयोग करते है, जिनसे लोग विज्ञान-परिणाम को प्रज्ञप्त करते हैं।

विज्ञान के त्रिविध परिणाम

विज्ञान-परिणाम तीन प्रकार का है—विपाकाख्य, मननाख्य, और विषय-विज्ञप्त्याख्य।

विपाक अष्टम विज्ञान कहलाता है। शुभाशुभ कर्म की वासना के परिपाक से जो फल की अभिनिर्वृ ति होती है, वह विपाक है।

मन (सप्तम विज्ञान) **मनन।** (यह स्थिरमति का पाठ है, किन्तु पूसे का पाठ 'मन्यना' है) कहलाता है, क्योकि क्लिष्ट मन नित्य मनन (कोजिटेशन) करता है (पालि, मज्जना, व्युत्पत्ति, २४५, ६७७ मे 'मन्यना' है)।

विषय-विज्ञप्ति छ. प्रकार का चक्षुरादिविज्ञान कहलाती है, क्योंकि इनसे विषय का प्रत्यवभास होता है। यह तीन परिणामिविज्ञान कहलाते है।

विज्ञान-परिणाम का हेतु-फलभाव—यह विज्ञान-परिणाम हेतुभाव और फलभाव से होता है। हेतु-परिणाम अष्टम विज्ञान की निष्यन्दवासना और विपाकवासना हैं। कुशल, अकुशल, अव्याकृत सात विज्ञानो से वीजो की जो उत्पत्ति और वृद्धि होती है, वह निष्यन्द-वासना है। सास्रव कुशल और अकुशल छ विज्ञानो से वीजो की जो उत्पत्ति और वृद्धि होती है, वह विपाक-वासना है।

इन दो वासनाओ के वल से विज्ञानो की उत्पत्ति होती है, और उनके त्रिविध लक्षण प्रकट होते है। यह फलपरिणाम है।

जब निष्यन्दवासना हेतु-प्रत्यय होती है, तव आठ विज्ञान अपने विविध स्वभाव और लक्षणों में उत्पन्न होते है। यह निष्यन्द-फल है, क्योकि फल-हेतु के सदृश है। जव विपाक-वासना अधिपति-प्रत्यय होती है, तव अष्टम विज्ञान की उत्पत्ति होती है। इसे विपाक कहते हैं; क्योकि वह आक्षेपक कर्म के अनुसार है, और इसका निरन्तर सन्तान है। प्रथम छ विज्ञान, जो परिपूरक कर्म के अनुरूप है, विपाक से उत्पन्न होते है। इन्हे विपाकज कहते है (विपाक नही); क्योकि इनका उपच्छेद होता है। विपाकज और विपाक विपाकफल कहलाते है, क्योकि यह स्वहेतु से विसदृश हैं। 'विपाक' 'फल-परिणाम-विज्ञान' इष्ट है। यह प्रत्युत्पन्न अष्टम विज्ञान है। यह आत्मप्रेम का आस्पद है। यह सक्लेश के वीजो का धारक है। किन्तु, शुआन-च्वांग यह कहना नही चाहते कि केवल अष्टम विज्ञान विपाक-फल है।

केवल अष्टम विज्ञान 'हेतुपरिणाम' है। यही वीजो का (शक्तियो का) सग्रह करता है, इसलिए इसे 'वीज-विज्ञान', 'आलय-विज्ञान' कहते हैं। यही वीज-वासना कहलाते हैं,

क्योकि वीजो की उत्पत्ति 'भावना', 'वासना' से होती है। अन्य सात प्रवृत्ति-विज्ञान अष्टम विज्ञान को वासित करते है। यह वीजो को उत्पन्न करते है। यह नवीन वीजो का आधान करते है, या वर्त्तमान वीजो की वृद्धि करते है। वीज दो प्रकार के हैं—१ सात प्रवृत्ति-विज्ञान (कुशल, अकुशल, अव्याकृत, सास्रव, अनास्रव) निष्यन्द-वीजो को उत्पन्न करते है, और उनकी वृद्धि करते है। २ सप्तम विज्ञान 'मन' को वर्जित कर शेष छ प्रवृत्ति-विज्ञान (अकुशल, सास्रव, कुशल) वीजो का उत्पाद करते है, और उनकी वृद्धि करते है। इन वीजो को कर्मवीज, विपाकवीज कहते है। कर्म-हेतु वीज द्वारा फल की अभिनिर्वृति करता है। यह फल स्वहेतु से विसदृश होता है, इसलिए इसे विपाक (विसदृश पाक) कहते है। हेतु, यथा प्राणातिपात की चेतना, स्वर्ग-प्राप्ति के लिए दान, व्याकृत है, फल (नरकोपपत्ति या स्वर्गोपपत्ति) अव्याकृत है। फल-परिणाम प्रवृत्ति-विज्ञान और सवित्तिभाग है, जो वीजद्वय का फल है, अर्थात् वीज-विज्ञान का फल है। इसका परिणाम दर्शन और निमित्त में होता है। प्रथम प्रकार के वीज इस फल के हेतु-प्रत्यय है। यह अनेक और विविध है। यह आठ विज्ञान, इन आठ के भागसमुदय और उनके सम्प्रयुक्त चैत्त को उत्पन्न करते है। द्वितीय प्रकार के बीज 'अधिपति-प्रत्यय' है। यह मुख्य विपाक, अर्थात् अष्टम विज्ञान का निर्वर्त्तन करते हैं। अष्टम विज्ञान आक्षेपक कर्म से उत्पादित होता है। इसका अविच्छिन्न स्रोत है। यह सदा अव्याकृत होता है। परिपूरक कर्म के प्रथम षडविज्ञान की प्रवृत्ति होती है। यहाँ विपाक नहीं है किन्तु विपाकज है, क्योकि इनका उपच्छेद होता है, और इनकी उत्पत्ति अष्टम विज्ञान से होती है।

स्थिरमति का मत इस सम्वन्ध में भिन्न है। उसके अनुसार हेतु-परिणाम आलय के परिपुष्ट विपाक-वीज और निष्यन्द-वीज है, तथा फल-परिणाम विपाक-वीजो के वृत्तिलाभ से आक्षेपक कर्म की परिसमाप्ति पर अन्य निकायसभाग में आलय-विज्ञान की अभिनिर्वृति है, निष्यन्द-वीजो के वृत्तिलाभ से प्रवृत्ति-विज्ञान और क्लिष्ट मन की आलय से अभिनिर्वृति है।

यहाँ प्रवृत्ति-विज्ञान (कुशल-अकुशल) आलय-विज्ञान में दोनो प्रकार के वीजो का आधान करता है। अव्याकृत प्रवृत्ति-विज्ञान और क्लिष्ट मन निष्यन्द-वीजो का आधान करता है।

हमने ऊपर त्रिविध परिणाम का उल्लेख किया है। किन्तु, अभी उनका स्वरूप-निर्देश नही किया है। स्वरूप-निर्देश के विना प्रतीति नही होती। अत , जिसका जो स्वरूप है, उसको यथाक्रम दिखाते हैं। पहले आलय-विज्ञान का जो विपाक है, उसका स्वरूप निर्दिष्ट करते है। यह अष्टम विज्ञान है।

आलय-विज्ञान

आलय का स्वरूप—आलय-विज्ञान विज्ञानो का आलय, संग्रह-स्थान है। अथवा यह वह विज्ञान है, जो आलय है। आलय का अर्थ 'स्थान' है। यह सर्व साक्लेशिक वीजो का

संग्रह-स्थान है। अथवा सर्व धर्म इसमे कार्यभाव से आलीन होते हैं (आलीयन्ते), अथवा उपनिबद्ध होते हैं। अथवा यह सब धर्मों मे कारणभाव से आलीन होता है, अत इसे आलय कहते हैं (स्थिरमति)।

इसे मूलविज्ञान भी कहते हैं। शुआन-च्वांग कहते हैं धर्म आलय मे बीजो का उत्पाद करते हैं। यह आलय-विज्ञान को सग्रह-स्थान बनाते है, और उसमें सगृहीत होते हैं। पुन. मन का आलय मे अभिनिवेश आत्मतुल्य होता है। सत्त्वो की कल्पना होती है कि आलय-विज्ञान उनकी आत्मा है। इसका अर्थ यह है कि विज्ञानवाद मे आलय-विज्ञान का वही स्थान है, जो आत्मा और जीवितेन्द्रिय दोनो का मिलकर अन्य वादो मे है।

पुन. आलय-विज्ञान कर्मस्वभाव भी है, अत इसे विपाक-विज्ञान भी कहते हैं। जिन कुशल-अकुशल कर्मों को एक भवधातु-गति-योनि-विशेष मे आक्षिप्त करता है, उनका यह आलय 'विपाकफल' है। इसके बाहर कोई जीवितेन्द्रिय, कोई सभागता नही है, और न कोई ऐसा धर्म है, जो सर्वदा अनुप्रबद्ध हो, और वस्तुत विपाक-फल हो।

आलय-विज्ञान कारणस्वभाव भी है। इस दृष्टि से यह सर्वबीजक है। यह बीजो का आदान करता है, और उनका परिपाक करता है। यह उनका प्रणाश नही होने देता।

शुआन-च्वांग कहते हैं कि इस मूलविज्ञान में शक्तियाँ (सामर्थ्य) होती हैं, जो फल का प्रत्यक्ष उत्पाद करती हैं, अर्थात् प्रवृत्ति-धर्म का उत्पाद करती हैं। दूसरे शब्दो में बीज, जो शक्ति की अवस्था में आलय मे सगृहीत धर्म हैं, पश्चात् फलवत् साक्षात्कृत धर्मों का उत्पाद करते हैं।

आलय की सर्वबीजकता—शुआन-च्वांग बीज के सम्बन्ध मे विविध आचार्यों के मत का उल्लेख कर अन्त में अपना सिद्धान्त व्यवस्थापित करते हैं। चन्द्रपाल सब बीजो को प्रकृतिस्थ मानते हैं, और नन्द सबको भावनामय समझते हैं। धर्मपाल का मत है कि सास्रव और अनास्रव बीज अशत. प्रकृतिस्थ होते हैं, और अशतः कर्मों की वासना से भावित विज्ञान के फल हैं। पहले बीज प्रकृतिस्थ और दूसरे भावनामय कहलाते हैं। प्रकृतिस्थ बीज विपाक-विज्ञान मे धर्मतावश अनादिकाल से पाये जाते हैं। भावनामय बीज अभ्याससिद्ध हैं। भगवद्वचन है कि सत्त्वो का विज्ञान क्लिष्ट और अनास्रव धर्मो से वासित होता है। यह असख्य बीजो का सचय भी है। इस नय मे आलय-विज्ञान और धर्म अन्योन्य का उत्पाद करते हैं, और इनका सदा कार्य-कारणभाव है। हम कह सकते हैं कि आलय-विज्ञान मे धर्मो का निरन्तर स्वरूप-विशेष (स्ट्रैटिफिकेशन) होता है, और आलय-विज्ञान नवीन धर्म आक्षिप्त करता रहता है। यह नित्य व्यापार है। बीज अनादिकाल से प्रकृतिस्थ है, किन्तु क्लिष्ट और अक्लिष्ट कर्मो से पुन -पुन भावित हो उनसे वासित होते हैं, और मानो उत्पन्न होते हैं। दूसरे शब्दो मे द्रव्य-सत् एक शक्ति है, जो निरन्तर जीवन की सृष्टि करती है, और इस सृष्टि से अपना पोषण करती है।

शुआन-च्वांग धर्मपाल के मत को स्वीकार करते हैं।

बीज और गोत्र—बीजो के इस सिद्धान्त के अनुसार शुआन-च्वांग विविध गोत्रो को व्यवस्थापित करते है। प्रत्येक के शुभ-अशुभ बीजो की मात्रा और गुण के अनुसार यह गोत्र व्यवस्थापित होते है। जिनमे अनास्रव बीजो का सर्वथा अभाव होता है, वह अपरिनिर्वाणधर्मक या अगोत्रक कहलाते है। इसके विपरीत जो बोधि के बीज समन्वागत है, वह तथागत-गोत्रक है। इस प्रकार, यह बीज-शक्ति पूर्व से विनियत होती है।

बीज का स्वरूप—बीज क्षणिक है और समुदाचार करनेवाले धर्म या अन्य शक्ति का उत्पाद कर विनष्ट होते है। यह सदा अनुप्रबद्ध है। बीज प्रत्यय-सामग्री की अपेक्षा करते है। बीज और धर्म की अन्योन्य-हेतु-प्रत्ययता है, बीजो का उत्तरोत्तर उत्पाद होता है। बीज आलय-विज्ञान के तल पर धर्मो का उत्पाद करते है और धर्म आलय-विज्ञान के गर्भ मे बीज का सग्रह करते है।

अथवा हम प्रबन्ध का सम्प्रधारण कर सकते है। तीन धर्म है—

१. जनक बीज।

२. विज्ञान, जो समुदाचार करता है, और बीज से जनित है।

३. पूर्वोक्त विज्ञान की भावना से सम्भूत नवीन बीज। यह तीन क्रम से हेतु और फल है, किन्तु यह सहभू है। यह नडकलाप के समान अन्योन्याश्रित है।

आलय का आकार और आलम्बन—शुआन-च्वांग आलय के आकार और आलम्बन का विचार करते है। यदि प्रवृत्ति-विज्ञान से व्यतिरिक्त आलय-विज्ञान है, तो उसका आलम्बन और आकार बताना चाहिए। निरालम्बन या निराकार विज्ञान युक्त नही है। इसलिए, आलय-विज्ञान भी निरालम्बन या निराकार नही हो सकता।

आकार—आलय का आकार, यथा सर्वविज्ञान का आकार, विज्ञप्ति (विज्ञप्ति-क्रिया) है। विज्ञप्ति को दर्शनभाग कहते है।

आलम्बन—आलय का आलम्बन द्विविध है स्थान और उपादि।

स्थान—भाजनलोक है, क्योकि यह सत्त्वो का सन्निश्रय है।

उपादि—(इण्टिरियर आब्जेक्ट) बीज और सेन्द्रियक काय है। इन्हे 'उपादि' कहते है, क्योकि यह आलय से उपात्त है, आलय में परिगृहीत है और इनका एक योगक्षेम है।

बीज से वासनात्रय इष्ट है—निमित्त, नाम और विकल्प। सेन्द्रियक काय, रूपीन्द्रिय और उनका अधिष्ठान है।

आलय से लोक की उत्पत्ति

इस सिद्धान्त के अनुसार लोक की उत्पत्ति इस प्रकार है—आलयविज्ञान या मूलविज्ञान का अध्यात्म-परिणाम बीज और सेन्द्रिय काय के रूप मे (उपादि) होता है, और वहिर्धा-परिणाम भाजनलोक के रूप में (स्थान) होता है। यह विविध धर्म उसके 'निमित्त-भाग' है। यह निमित्त भाग उसका आलम्बन है। आलम्बनवश उसकी विज्ञप्ति-क्रिया है। यह उसका आकार है। यह विज्ञप्ति-क्रिया आलय-विज्ञान का दर्शनभाग है। इस प्रकार, ज्यो ही

सर्व सास्रव विज्ञान (जो प्रसाद से निर्मल नही हुआ है) उत्पन्न होता है, त्यो ही वह आलम्बक और आलम्बन इन दो लक्षणो से उपेत होता है। एक दर्शनभाग है, दूसरा निमित्तभाग है। शुआन-च्वाँग कहते हैं कि दर्शन-भाग के विना निमित्तभाग असम्भव था।

यदि चित्त-चैत्त मे आलम्बन का लक्षण न होता, तो वह स्वविषय को आलम्बन नही बनाते अथवा वह सर्वविषय को स्वविषय तथा अन्य विषय को अस्पष्टतया आलम्बन बनाते। और यदि उनमे सालम्बन (आलम्बक) का लक्षण न होता, तो वह किसी को आलम्बन न बनाते, किसी विषय का ग्रहण न करते। अत, चित्त-चैत्त के दो भाग (मुख) है— दर्शन और निमित्त। किन्तु, वस्तुत "सब वेदक बोधकमात्र है, वेद्य का अस्तित्व नही है। अथवा यो कहिए कि वेदकभाग और वेद्यभाग का प्रवर्त्तन पृथक् स्वय होता है। यह स्वयम्भू है, क्योकि यह स्वहेतु-प्रत्यय-सामग्रीवश उत्पन्न होते है, और चित्त से वहिर्भूत किसी वस्तु पर आश्रित नही है।" (रेने ग्रूसे, पृ० १०० का पाठ इस प्रकार है, अथवा यो कहिए कि वेदकभाग और वेद्यभाग का अस्तित्व स्वत' नही है।)

अत, शुआन-च्वाँग हीनयान के इस वाद का विरोध करते है कि विज्ञान के लिए १. वाह्यार्थ (आलम्बन), २. अध्यात्मनिमित्त (जो हमारा निमित्तभाग है), जो विज्ञान का आकार है, ३. दर्शन, द्रष्टा (हमारा दर्शनभाग), जो स्वय विज्ञान है, चाहिए। शुआन-च्वाँग के मत में इसके विपरीत चित्त-व्यतिरेकी अर्थों का अस्तित्व नही है। उनके अनुसार विज्ञान का आलम्बन निमित्तभाग है और विज्ञान का आकार दर्शनभाग है। वह हीनयान के लक्षणो को नही स्वीकार करते। इन दो भागो का एक आश्रय चाहिए और यह आश्रय विज्ञान का एक आकार है, जिसे स्वसवित्ति-भाग कहते है। तीन भाग इस प्रकार है · १. प्रमेय, अर्थात् निमित्तभाग, २ प्रमाण, अर्थात् विज्ञप्तिक्रिया यह दर्शनभाग है, ३ प्रमाणफल . यह सवित्तिभाग अथवा स्वाभाविक भाग है।

इनको प्रमाणसमुच्चय में ग्राह्यभाग, ग्राहकभाग, स्वसवित्तिभाग कहा है। ये तीन विज्ञान से पृथक् नही है।

शुआन-च्वाँग कहते है कि यदि चित्त-चैत्त धर्मो का सूक्ष्म विभाजन किया जाय, तो चार भाग होते है। पूर्वोक्त तीन भागो के अतिरिक्त एक चौथा भाग है। इसे स्वसवित्ति-संवित्ति भाग कहते है।

नील-प्रतिबिम्ब (निमित्तभाग) दर्शन का (दर्शनभाग का) प्रमेय है। दर्शनभाग प्रमाण है। यह विज्ञप्ति-क्रिया है 'यह नील देखता है।' इस दर्शन का फल 'स्वसवित्ति' कहलाता है। यह जानना कि मै नील देखता हूँ, 'स्वसवित्ति' है। स्वसवित्ति दर्शन का फल है। यह दर्शन को आलम्बन के रूप में गृहीत करता है, क्योकि यह आलम्बन को गृहीत करता है। इसका एक फल होना चाहिए, जिसे 'स्वसवित्ति-सवित्ति' कहते हैं—"यह जानना कि मै जानता हूँ कि मै नील देखता हूँ।" वह स्वसवित्ति को जानता है, जैसे स्वसवित्ति दर्शन को

जानता है। किन्तु, यह चार चित्तमात्र है। यथा लंकावतार (१०।१०१) में कहा है—"क्योंकि चित्त अपने में अभिनिविष्ट है, अत. बाह्यार्थ के सदृश चित्त का प्रवर्त्तन होता है। दृश्य नही है, चित्तमात्र है।"

आलम्बनवाद

शुआन-च्वाँग आलम्बनवाद का वर्णन करते हैं। आलम्बन द्विविध हैं—स्थान और उपादि।

१ **स्थान**—साधारण बीजो के परिपाक के बल से विपाक-विज्ञान भाजन-लोक के आभास में, अर्थात् महाभूत और भौतिक के आभास में परिणत होता है। शुआन-च्वाँग स्वय एक आक्षेप के परिहार की चेष्टा करते हैं। वह कहते हैं कि "प्रत्येक सत्त्व के विज्ञान का परिणाम उसके लिए इस प्रकार होता है, किन्तु इस परिणाम का फल सर्वसाधारण है। इस कारण भाजनलोक सब सत्त्वो को एक-सा दीखता है। यथा दीपसमह में प्रत्येक दीप का प्रकाश पृथक् होता है, किन्तु दीपसमूह का प्रकाश एक ही प्रकाश प्रतीत होता है।" अत, भिन्न सत्त्वो के विज्ञान के बीज साधारण बीच कहलाते हैं, क्योंकि भिन्न सत्त्व उन वस्तुओ के उत्पादन में सहयोग करते हैं, जिनका आभास सब सत्त्वो को होता है। लोकधातु की सृष्टि का हेतु बहुत कुछ वैशेषिक और जैनदर्शन से मिलता है।

दूसरी ओर शुआन-च्वाँग कहते हैं कि यदि साधारण विज्ञान भाजनलोक में परिणत होता है, तो इसका कारण यह है कि भाजनलोक उस सेन्द्रियक काय का आश्रय या भोग होगा, जिसमें यह विज्ञान परिणत होता है। अत, विज्ञान का परिणाम उस भाजनलोक में होता है, जो उस काय के अनुरूप है, जिसमें यह परिणत होता है। यहाँ हमको एक सर्वसाधारण या सार्वभौमिक विज्ञान की झलक मिलती है। यह एक लोकधातु की सृष्टि इसलिए करता है, जिसमें प्रत्येक चित्त-सन्तान काय-विशेष का उत्पाद कर सके।

एक आक्षेप यह है कि जो लोकधातु सत्त्वो का अभी आवास नही है या जो निर्जन हो गया है, उसमें विज्ञानवाद कैसे युक्तियुक्त है? किस विज्ञान का यह लोकधातु परिणाम है? शुआन-च्वाँग इस आक्षेप के उत्तर में कहते हैं कि यह अन्य लोकधातुओ में निवास करनेवाले सत्त्वो का परिणाम है। हमसे कहा गया है कि लोकधातु सत्त्वो का साधारण भोग है। किन्तु, प्रेत, मनुष्य, देव (विंशतिका, ३) एक ही वस्तु का दर्शन नही करते, अर्थात् वस्तुओ को एक ही आकार में नही देखते। शुआन-च्वाँग कहते हैं कि इन्ही सिद्धान्तो के अनुसार इस प्रश्न का भी विवेचन होना चाहिए।

२ **उपादि**—बीज और सेन्द्रियक काय।

बीज—यह सास्रव धर्मों के सर्व बीज हैं, जिनका धारक विपाक-विज्ञान है, जो इस विज्ञान के स्वभाव में ही सगृहीत है और जो इसलिए उसके आलम्बन हैं।

अनास्रव धर्मो के बीज विज्ञान पर सकुचित रूप मे आश्रित हैं, क्योंकि वह उसके स्वभाव में सगृहीत नही है, इसलिए वह उसके आलम्बन नही हैं। यह नही है कि वह विज्ञान

से विप्रयुक्त है, क्योकि भूततथता के तुल्य वह विज्ञान से पृथक् नही है । अत , उनके अस्तित्व की प्रतिज्ञा कर हम विज्ञप्तिमात्रता के सिद्धान्त का विरोध नही करते ।

सेन्द्रियक काय—मेरा विपाक-ज्ञान अपने बीज-विशेष के बल से १. रूपीन्द्रिय मे परिणत होता है, जो हम जानते है, सूक्ष्म और अतीन्द्रिय रूप है, २ काय में परिणत होता है, जो इन्द्रियो का आश्रयायतन है । किन्तु, अन्य सत्त्वो के बीज—वह सत्त्व, जो मेरे काय को देखते है—मेरे काय में उसी समय परिणत होते है, जिस समय मेरे अपने बीज परिणत होते है । यह साधारण बीज (शक्ति) है ।

साधारण बीज के परिपाक के बल से मेरा विपाक-विज्ञान दूसरो के इन्द्रियाश्रयायतन मे परिणत होता है । यदि ऐसा न होता, तो मुझे दूसरो का दर्शन, दूसरो का भोग न होता । स्थिरमति और दूर जाते हैं । उनका मत है कि किसी सत्त्व-विशेष का विपाक-विज्ञान दूसरो की इन्द्रियो में परिणत होता है । उनका कहना है कि यह मत युक्त है, क्योकि मध्यान्तविभाग मे कहा है कि विज्ञान स्व-पर-आश्रय के पचेन्द्रियो के सदृश अवभासित होता है ।

एक आश्रय का विज्ञान दूसरे के इन्द्रियाश्रयायतन मे इसलिए परिणत होता है कि निर्वाण-प्रविष्ट सत्त्व का शव अथवा अन्य भूमि मे सचार करनेवाले सत्त्व का शव दृश्यमान रहता है । निर्वृत के विज्ञान के तिरोहित होने पर उसके शव मे परिणाम नही होगा अत. यह कुछ काल तक अन्य सत्त्वो के विज्ञान-परिणाम के रूप में अवस्थान करता है ।

हमने देखा है कि विज्ञान का परिणाम सेन्द्रियक काय और भाजनलोक (असत्त्व रूप) में होता है । इनका साधारणत सर्वदा सन्तान होता है ।

प्रश्न है कि अष्टम विज्ञान का परिणाम चित्त-चैत्त में, विप्रयुक्त में, असस्कृत मे, अभाव धर्मों मे क्यो नही होता और इन विविध प्रकारो को वह आलम्बन क्यो नही बनाता ।

विज्ञानो का परिणाम दो प्रकार का है ।

सास्रव विज्ञान का सामान्यत: द्विविध परिणाम होता है—१ हेतु-प्रत्यय-वश परिणाम, २. विकल्प या मनस्कार के बल से परिणाम । पहले परिणाम के धर्मों मे क्रिया और वास्तविकता होती है । दूसरे परिणाम के धर्म केवल ज्ञान के विषय है ।

किन्तु, अष्टमविज्ञान का पहला परिणाम ही हो सकता है, दूसरा नही । अत., रूपादि धर्मों में, जो अष्टम विज्ञान से प्रवृत्त होते है, क्रिया होनी चाहिए और उनमे क्रिया होती है ।

यह नही माना जा सकता कि चित्त-चैत्त इसके परिणाम है । इसका कारण यह है कि चित्त-चैत्त, जो अष्टम विज्ञान के केवल निमित्तभाग है, आलम्बन का ग्रहण न करेगे और इसलिए उनमें वास्तविक क्रिया न होगी ।

आक्षेप

आप कहते है कि चित्त-चैत्त की उत्पत्ति अष्टम विज्ञान से होती है, अत. इसका चित्त-चैत में परिणत होना आवश्यक है ।

उत्तर

विज्ञान-सप्तक और उनके सम्प्रयुक्त की वास्तविक क्रिया की उत्पत्ति अष्टम विज्ञान से होती है, क्योकि वह उसके निमित्तभाग का उपभोग करते है, अर्थात् उन अर्थों का उपभोग करते है, जिनमें इसका परिणाम होता है।

अष्टम का परिणाम असस्कृतादि में भी नही होता; क्योकि उनका कोई कारित्र नही है।

हमने जो कुछ पूर्व कहा है, वह सास्रव विज्ञान के लिए है।

जब अष्टम विज्ञान की अनास्रव अवस्था (बुद्धावस्था) होती है, तब यह प्रधान प्रज्ञा से सम्प्रयुक्त होता है। यह अविकल्पक किन्तु प्रसन्न होता है, अत यह असस्कृत तथा चित्तादि के इन सब निमित्तो को अवभासित करता है, चाहे यह धर्म क्रिया-वियुक्त हो। विपक्ष में बुद्ध सर्वज्ञ न होगे।

किन्तु, जबतक अष्टम विज्ञान सास्रव है, तबतक यह कामधातु और रूपधातु मे केवल भाजनलोक, सेन्द्रियक काय और सास्रव बीजो का आलम्बन के रूप में ग्रहण करता है। आरूप्यस्थ विज्ञान केवल सास्रव बीजो का ग्रहण करता है। इस धातु के देव रूप से विरक्त हैं। किन्तु, समाधिज रूप के आलम्बन बनाने में विरोध नही है। अष्टम विज्ञान का आकार (दर्शनभाग, विज्ञप्ति) अतिसूक्ष्म, अणु होता है, अत वह असविदित है। अथवा, अष्टम विज्ञान इसलिए असविदित है, क्योकि उसका अध्यात्म-आलम्वन अतिसूक्ष्म है, और उसका बाह्य आलम्बन (भाजनलोक) अपने सन्निवेश में अपरिच्छिन्न है।

किन्तु, सौत्रान्तिक और सर्वास्तिवादी प्रश्न करते है कि यदि अष्टम विज्ञान का आकार असविदित है, अर्थात् उसका प्रतिसवेदन करना अशक्य है, तो अष्टम 'विज्ञान' कैसे है? हमारा सौत्रान्तिको को, जो स्थविरवादियो के समान एक सूक्ष्म विज्ञान मे प्रतिपन्न है, यह उत्तर है कि आप मानते है कि निरोध-समापत्ति आदि की अवस्था मे एक विज्ञान-विशेष होता है, जिसका आकार असविदित है। अत, आप मानते हैं कि अष्टम विज्ञान सदा असंविदित होता है। सर्वास्तिवादियो से जो निरोध-समापत्ति आदि की अवस्था में विज्ञान के अस्तित्व का प्रतिषेध करते है, हमारा यह कहना है कि उक्त समापत्तियो की अवस्था मे विज्ञान अवश्य होता है, क्योकि जो योगी उसमें समापन्न होता है, उसे सत्त्व मानते है। आपके मत में भी सत्त्व सूचित होता है।

आलय का चैत्तो से सम्प्रयोग

यह आलय-विज्ञान सदा से आश्रय-परावृत्ति-पर्यन्त अपनी सब अवस्थाओ में पाँच सर्वग (सर्वत्रग) चैत्तो से सम्प्रयुक्त होता है। ये पाँच चैत्त इस प्रकार हैं—स्पर्श, मनस्कार, वेदना, सज्ञा और चेतना।

ये पाँच आकार में आलय-विज्ञान से भिन्न हैं, किन्तु यह आलय के सहभू है। इसका वही आश्रय है, जो आलय का है, और इनका आलम्बन (= निमित्तभाग) तथा द्रव्य (सवित्ति-भाग) आलय के आलम्बन और द्रव्य के सदृश है। अत, यह आलय से सम्प्रयुक्त है।

१. स्पर्श—स्पर्श का लक्षण इस प्रकार है : स्पर्श त्रिक-सन्निपात है, जो विकार-परिच्छेद है और जिसके कारण चित्त-चैत्त विषय का स्पर्श करते हैं।

इन्द्रिय, विषय और विज्ञान यह तीन 'त्रिक' हैं। इनका समवस्थान 'त्रिक-सन्निपात' है। यथा : चक्षु, नील, चक्षुर्विज्ञान, यह तीन बीजावस्था में पहले से रहते हैं। स्पर्श भी बीजावस्था म पहले से रहता है। अपनी उत्पत्ति के लिए स्पर्श इन तीन पर आश्रित है। इसकी उत्पत्ति होने पर इन तीन का सन्निपात होता है। अत, स्पर्श को त्रिक-सन्निपात कहते हैं।

सन्निपात के पूर्व त्रिक में चित्त-चैत्त के उत्पाद का सामर्थ्य नही होता। किन्तु, सन्निपात के क्षण में वह इस सामर्थ्य से समन्वागत होते हैं। इस परिवर्त्तन, इस प्राप्त सामर्थ्य को विकार कहते हैं।

स्पर्श इस विकार के सदृश होता है। अर्थात्, चित्त-चैत्तो के उत्पाद के लिए इसमें उस सामर्थ्य के सदृश सामर्थ्य होता है, जिससे त्रिक विकारावस्था में समन्वागत होता है। अत, स्पर्श को विकार-परिच्छेद कहते हैं, क्योकि यह विकार का परिच्छेद[1] (सदृश, पौधा-कलम) है। स्पर्श-क्षण में त्रिक में विकार होता है। किन्तु, स्पर्श के उत्पाद में इन्द्रिय-विकार की प्रधानता है। इसीलिए, स्थिरमति स्पर्श को 'इन्द्रियविकार-परिच्छेद' कहते हैं (पृ० २०)।

स्पर्श का स्वभाव है कि यह चित्त-चैत्त का सन्निपात इस तरह करता है, जिसमें विना विसरण के वह विषय का स्पर्श करते हैं।

स्थिरमति का व्याख्यान भिन्न है। "त्रिक का कार्यकारणभाव से समवस्थान त्रिक-सन्निपात है। जब त्रिक-सन्निपात होता है, तब उसी समय इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होता है। यह विकार सुख-दु खादि वेदना के अनुकल होता है। इस विकार के सदृश विषय का सुखादिवेदनीयाकार परिच्छेद (ज्ञान) होता है। इस परिच्छेद को स्पर्श कहते हैं। यह 'स्पर्श' इन्द्रिय का स्पर्श करता है, क्योकि यह इन्द्रिय-विकार के सदृश है। अथवा, यो कहिए कि यह इन्द्रिय से स्पृष्ट होता है, इसीलिए इसे स्पर्श कहते हैं।

'स्पर्श' का कर्म मनस्कारादि अन्य चार चैत्तो का सन्निश्रयत्व है। सूत्र में कहा है कि वेदना, सज्ञा, सस्कार का प्रत्यय स्पर्श है। इसीलिए सूत्र में उक्त है कि इन्द्रिय-विषय इन दो के सन्निपात से विज्ञान की उत्पत्ति होती है, स्पर्श की उत्पत्ति त्रिक-सन्निपात से होती है और अन्य चैत्तो की उत्पत्ति इन्द्रिय-विषय-विज्ञान-स्पर्श-चतुष्क से होती है।

अभिधर्मसमुच्चय (स्थिरमति इसका अनुसरण करते हैं) की शिक्षा है कि स्पर्श वेदना का सन्निश्रय है। सुखवेदनीय स्पर्श के प्रत्ययवश सुखावेदना उत्पन्न होती है।

२. मनस्कार—मनस्कार चित्त का आभोग (आभुजन) है। इसका कर्म आलम्वन में चित्त का आवर्जन है। सघभद्र के अनुसार मनस्कार चित्त को आलम्वन के अभिमुख करता है।

---

१ यथा पुत्र पिता का परिच्छेद है।

अभिधर्मसमुच्चय के अनुसार (सघभद्र के भी) मनस्कार आलम्बन में चित्त का धारण करता है। शुआन-च्वांग इन व्याख्यानो को नही स्वीकार करते। उनका कहना है कि पहले को स्वीकार करने से मनस्कार सर्वग नही होगा और दूसरा व्याख्यान मनस्कार और समाधि को मिला देता है।

३. वेदना—वेदना का स्वभाव विषय के आह्लादक, परितापक और इन दोनो आकारो से विविध स्वरूप का अनुभव करना है। वेदना का कर्म तृष्णा का उत्पाद करना है, क्योंकि यह सयोग, वियोग तथा न सयोग, न वियोग की इच्छा उत्पन्न करती है। सघभद्र के अनुसार वेदना दो प्रकार की है विषय-वेदना स्वभाव-वेदना। पहली वेदना स्वालम्बन-विषय का अनुभव है, दूसरी वेदना तत्सहगत स्पर्श का अनुभव है। इसीलिए, भगवान् सुखवेदनीय स्पर्श आदि का उल्लेख करते है। केवल द्वितीय वेदना 'वेदना-स्वलक्षण' है; क्योकि प्रथम सामान्य चैत्तो से विशिष्ट नही है। सभी चैत्त विषय-निमित्त के अनुभव है, यह मत अयथार्थ है। १. वेदना सहज स्पर्श को आलम्बन नही बनाती। २ इस आधार पर कि यह स्पर्श सदृश उत्पन्न होता है, हम नही कह सकते कि वेदना स्पर्श का अनुभव करती है, क्योकि उस अवस्था में सर्व निष्यन्द-फल वेदनास्वभाव होगा। ३ यदि वेदना स्वहेतु, अर्थात् स्पर्श का अनुभव करती है, तो इसे 'हेतुवेदना' कहना चाहिए, 'स्वभाववेदना' नही। ४ आप नही कह सकते कि जिस प्रकार राजा अपने राज्य का उपभोग करता है, उसी प्रकार वेदना स्पर्शज वेदना के स्वभाव का अनुभव करती है और इसलिए इसे (वेदना) स्वभाववेदना कहते है। ऐसा करने से आपको अपने इस सिद्धान्त का परित्याग करना पडेगा कि स्वसवेदन नही होता। ५. यदि आप उसे इसलिए स्वभाववेदना की सज्ञा देते है, क्योकि यह कभी अपने स्वभाव का परित्याग नही करती, तो सर्व धर्म को स्वभाववेदना कह सकते है।

वस्तुत, विषय-वेदना अन्य चैत्तो से पृथक् है, क्योकि यदि अन्य चैत्त विषय का अनुभव करते है, तो केवल वेदना विषय का अनुभव आह्लादक, परितापक आकार में करती है।

४ संज्ञा—सज्ञा का स्वभाव विषयनिमित्त का उद्ग्रहण है। विषय आलम्बन का विशेष है, यथा नील-पीतादि। इससे आलम्बन की व्यवस्था होती है। उद्ग्रहण का अर्थ निरूपण है, यथा जब हम यह निरूपित करते है कि यह नीला है, पीत नही है। सज्ञा का कर्म (जब यह मानसी है) नाना अभिधान और प्रज्ञप्ति का उत्पाद है। जब विषय के निमित्त व्यवस्थित होते है, यथा यह नील है, नील से अन्य नही है, तभी इन निमित्तो के अनुरूप अभिधान का उत्पाद हो सकता है।

५ चेतना—चेतना का स्वभाव चित्त का अभिसस्कार करना है। इसका कर्म चित्त का कुशलादि में नियोजन है। अर्थात्, चेतना कुशलादि सम्बन्ध में विषय का ग्रहण करती है, विषय के इस निमित्त का ग्रहण कर वह कर्म करती है। वह चित्त का इस प्रकार नियोजन करती है कि चित्त कुशल, अकुशल, अव्याकृत का उत्पाद करता है।

आलय-विज्ञान की वेदना

यह आलय-विज्ञान स्पष्ट वेदनाओ का न प्रभाव है, न आलम्बन । वसुबन्धु कहते हैं—'उपेक्षा वेदना तत्र', यहाँ की वेदना उपेक्षा है । आलय उपेक्षा-वेदना से सम्प्रयुक्त है । आलय-विज्ञान और अन्य दो वेदनाओ में अनुकूलता नही है । यह विज्ञान का आकार (= दर्शनभाग) अपटुतम है, और इसलिए उपेक्षा-वेदना से इसकी अनुकूलता है । यह विज्ञान विपय के अनुकूल-प्रतिकूल निमित्तो का परिच्छेद नही करता । यह सूक्ष्म है और अन्य वेदनाएँ औदारिक है । यह एकजातीय, अविकारी है और अन्य वेदनाएँ विकारशील हैं । यह अविच्छिन्न सन्तान है और वेदनाओ का विच्छेद होता है ।

आलय विज्ञान से सम्प्रयुक्त वेदना-विपाक है, क्योकि यह प्रत्यय का आश्रय न लेकर केवल आक्षेपक कर्म से अभिनिर्वृत होती है । यह वेदना कुशलाकुशल कर्म के वल से स्वरस-वाहिनी है, अत यह केवल उपेक्षा हो सकती है । अन्य वेदनाएँ विपाक नही है, किन्तु विपाकज है, क्योकि वह प्रत्यय पर, अनुकूल-प्रतिकूल विषय पर, आश्रित है ।

आलय की यह वेदना आत्मप्रत्यय का प्रभव है । यदि सत्त्व अपने आलय को स्वकीय अभ्यन्तर आत्मा अवधारित करते है, तो इसका कारण यह है कि आलय-विज्ञान सदाकालीन और सभाग है । यदि यह सुखा० और दु खावेदनाओ से सम्प्रयुक्त होता, तो यह असभाग होता, और इसमें आत्मसंज्ञा का उदय न होता ।

यदि आलय उपेक्षा से सम्प्रयुक्त है, तो यह अकुशल कर्म का विपाक कैसे हो सकता है ? आप स्वीकार करते है कि शुभ कर्म उपेक्षा-वेदना का उत्पाद करते है (कोश ४, पृ० १०९) । इसी प्रकार, अकुशल कर्म को समझना चाहिए । वस्तुत , यथा अव्याकृत कुशल-अकुशल के विरुद्ध नही है (कुशल-अकुशल कर्म अव्याकृत धर्म का उत्पाद करते है), उसी प्रकार उपेक्षा-वेदना सुख-दु ख के विरुद्ध नही है ।

आलय-विज्ञान विनियत चैत्तो से सम्प्रयुक्त नही है । वस्तुत 'छन्द' अभिप्रेत वस्तु की अभिलापा है । आलय कर्मवल से स्वरसेन प्रवर्त्तित होता है और अभिलाप से अपरिचित है । 'अधिमोक्ष' निश्चित वस्तु का अवधारण है । आलय-विज्ञान अपटु है, और अवधारण से वियुक्त है । 'स्मृति' सस्कृत वस्तु का अभिस्मरण है । आलय दुर्वल है और अभिस्मरण से रहित है । 'समाधि' चित्त का एक अर्थ में आसग है । आलय का स्वरसेन प्रवर्त्तन होता है, और यह प्रतिक्षण नवीन विषय का ग्रहण करता है । 'प्रज्ञा' वस्तु के गुण आदि का प्रविचय है । आलय सूक्ष्म, अस्पष्ट और प्रविचय में असमर्थ है । विपाक होने से आलय कुशल या क्लिष्ट चत्तो से सम्प्रयुक्त नही होता । कौकृत्यादि चार अनियत (या अव्याकृत) धर्म विच्छिन्न है । यह विपाक नही है ।

आलय और उसके चैत्तों का प्रकार

वसुवन्धु कहते हैं कि आलय-विज्ञान अनिवृत-अव्याकृत है ।

धर्म तीन प्रकार के हैं—कुशल, अकुशल अव्याकृत। अव्याकृत दो प्रकार का है—निवृत, अनिवृत। जो मनोभूमिक आगन्तुक उपक्लेशो से आवृत है, वह निवृत है। इसका विपर्यय अनिवृत है। अनिवृत के चार प्रकार है, जिनमें एक विपाक है। (कोश २, पृ० ३१५)

आलय-विज्ञान एकान्तेन अनिवृताव्याकृत है, और इसका प्रकार विपाक है। यदि यह कुशल होता, तो प्रवृत्ति (समुदय-दु ख) असम्भव होती। यदि यह क्लिष्ट, अर्थात् अकुशल या निवृताव्याकृत होता, तो निवृत्ति (निरोध-मार्ग) असम्भव होती। कुशल या क्लिष्ट होने से यह वासित न हो सकता, अत आलय अनिवृताव्याकृत है। इसी प्रकार, आलय से सम्प्रयुक्त स्पर्शादि अनिवृताव्याकृत है। विपाक से सम्प्रयुक्त स्पर्शादि भी विपाक हैं। उनके आकार और आलम्बन भी आलय के समान अपरिच्छिन्न है। अन्य चार और आलय-विज्ञान से यह नित्य अनुगत हैं।

प्रतीत्यसमुत्पाद

क्या यह आलय-विज्ञान एक और अभिन्न आससार रहता है? अथवा, सन्तान में इसका प्रवर्त्तन होता है? क्षणिक होने मे यह एक और अभिन्न नही है। यह आलय-विज्ञान प्रवाहवत् स्रोत मे वर्त्तमान होता है। वसुवन्धु कहते है 'तच्च वर्त्तते स्रोतसौघवत्'। अत, यह न शाश्वत है, न उच्छिन्न। अनादिकाल से यह सन्तान विना उच्छेद के अव्युपरत प्रवाहित होता है। यह सन्तान वीजो को धारण करता है और उनको सुरक्षित रखता है। यह प्रतिक्षण उत्पन्न और निरुद्ध होता हैं। यह पूर्व से अपर में प्रवर्त्तित होता है। इसका हेतु-फलभाव है। यह उत्पाद और निरोध है, अत. यह आत्मवत् एक नही है, प्रधानवत् (साख्य) शाश्वत नही है। 'तच्च वर्त्तते', इससे शाश्वत सज्ञा व्यावृत्त होती है। 'स्रोत' शब्द से उच्छेद सज्ञा व्यावृत्त होती है।

आलय-विज्ञान के सम्वन्ध मे शुआन-च्वाँग जो कुछ यहाँ कहते है, वह प्रतीत्यसमुत्पाद पर भी लागू होता है। प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु-फल-भाव की धर्मता है। यह स्रोत के ओघ के तुल्य शाश्वतत्व और उच्छेद से अपरिचित है। आलय-विज्ञान के लिए भी यही दृष्टान्त है। यथा स्रोत का प्रवाह विना शाश्वतत्व या उच्छेद के सन्तान रूप में सदा प्रवाहित होता है, और अपने साथ तृणकाष्ठ-गोमयादि को ले जाता है, उसी प्रकार आलय-विज्ञान भी सदा उत्पन्न और निरुद्ध सन्तान के रूप में न शाश्वत, न उच्छिन्न हो, क्लेश-कर्म का आवाहन कर सत्त्व को सुगति या दुर्गति में ले जाता है, और उसका ससार से नि सरण नही होने देता। जिस प्रकार एक नदी वायु से विताडित हो तरगो को उत्पन्न करती है, किन्तु उसका प्रवाह उच्छिन्न नही होता; उसी प्रकार आलय-विज्ञान हेतु-प्रत्ययवश प्रत्युत्पन्न विज्ञान का उत्पाद करता है, किन्तु उसके प्रवाह का विच्छेद नही होता। जिस प्रकार जल के तल पर पत्ते और भीतर मछलियाँ होती है, और नदी का प्रवाह प्रवर्त्तित रहता है, उसी प्रकार आलय-विज्ञान आभ्यन्तर वीज और वाह्य चैत्तो के सहित सदा प्रवाहित होता है। यह दृष्टान्त प्रदर्शित करता है कि आलय-विज्ञान हेतु-फल-भाव है, जो अनादि, अशाश्वत, अनुच्छिन्न है। स्रोत का अर्थ यहाँ हेतु-फल की निरन्तर प्रवृत्ति है। इस विज्ञान की सदा से यह धर्मता रही है कि प्रतिक्षण फलो-

त्पत्ति होती है, और हेतु का विनाश होता है। कोई विच्छेद नही है, क्योकि फल की उत्पत्ति होती है। कोई शाश्वतत्व नही है, क्योकि हेतु का विनाश होता है। अशाश्वतत्व, अनुच्छेद प्रतीत्यसमुत्पाद का नय है। इसीलिए, वसुबन्धु कहते है कि आलय-विज्ञान स्रोत के रूप मे अव्युपरत प्रवर्त्तित होता है।

माध्यमिक आदि से तुलना—मध्यमक (१,१) में प्रतीत्यसमुत्पाद का यह लक्षण दिया है **अनिरोध अनुत्पादं अनुच्छेद अशाश्वतम्**। नागार्जुन ने प्रतीत्यसमुत्पाद को शून्यता का समानार्थक माना है, और उनके अनुसार यह प्रकारान्तर मे निर्वाण का दूसरा मुख (आबवर्स) है। शुआन-च्वाँग का लक्षण इस प्रकार होगा **सोत्पादं सनिरोधम् अनुच्छेदम्**। वह प्रतीत्यसमुत्पाद को सस्वभाव मानता है; क्योकि वह आलय-विज्ञान का स्वभाव बताया गया है। आलय समुत्पाद-स्वभाव है, जो अनादिकालिक प्रतीत्यसमुत्पाद, अर्थात् हेतु-फल की निरन्तर प्रवृत्ति है।

जो दृष्टान्त हम नीचे देते है, उससे बढकर कौन दृष्टान्त होगा, जो आलय के विविध आकारो को प्रदर्शित करे? यह दृष्टान्त लकावतार से उद्धृत किया गया है। शुआन-च्वाँग (पृ० १७५) इसका उल्लेख करते है—क्या समुद्र पवन-प्रत्यय से अभ्याहत हो तरग उत्पादित करता है? किन्तु, शक्तियो का (जो तरग को उत्पन्न करती है) प्रवर्त्तन होता रहता है, और विच्छेद नही होता, उसी प्रकार विषय-पवन से ईरित हो आलयौघ नित्य विचित्र तरग-विज्ञान (प्रवृत्ति-विज्ञान) उत्पन्न करता है, और शक्ति (जो विज्ञान का उत्पाद करती है) प्रवर्त्तित रहती है। इस दृष्टान्त मे प्रवृत्ति-विज्ञानो की तुलना तरगो से दी गई है, जो सार्वलौकिक विज्ञान-रूपी नित्य स्रोत के तल पर उदित होते है।

यह विचार करने की बात है कि यदि इस दृष्टि से देखा जाय, तो विज्ञानवाद विज्ञान-वाद न ठहरेगा, किन्तु अद्वयवाद हो जायगा। अन्यत्र (पृ० १६७–१६८) शुआन-च्वाँग कहते है कि उनका आलय-विज्ञान एकजातीय और सर्वगत सदाकालीन सन्तान है। सक्षेप मे, यह एक प्रकार का ब्रह्म है।

आलय की व्यावृत्ति

एक कठिन प्रश्न यह है कि आलय की व्यावृत्ति होती है या नही? निर्वाण के लाभ के लिए, सर्व धर्म का सुखनिरोध करने के लिए, इस अव्युच्छिन्न प्रवाह को व्यावृत्त करना होता है। प्रश्न यह है कि आलय-विज्ञान की व्यावृत्ति अर्हत्त्व में होती है या केवल महाबोधि-सत्त्व में होती है।

वसुबन्धु 'अर्हत्त्व' शब्द का प्रयोग करते है (त्रिंशिका, ५)। स्थिरमति के अनुसार क्षय-ज्ञान और अनुत्पाद-ज्ञान के लाभ से अर्हत्त्व होता है और उस अवस्था मे आलयाश्रित दौष्ठुल्य का निरवशेष प्रहाण होता है। इससे आलय-विज्ञान व्यावृत्त होता है। यही अर्हत् की अवस्था है। प्रथम आचार्यो के अनुसार 'अर्हत्' से तीन यानो के उन आर्यो से आशय है, जिन्होने अशैक्ष फल का लाभ किया है। यह आचार्य प्रमाण मे योगशास्त्र के इस वाक्य को उद्धृत करते है "अर्हत्, प्रत्येकबुद्ध और तथागत आलय-विज्ञान मे समन्वागत नही

होते।" यहाँ शुआन-च्वाँग कहते हैं कि योगशास्त्र में इसी स्थल में यह भी कहा है कि अवैवर्त्तिक बोधिसत्त्व में भी आलय नही होता।

धर्मपाल के अनुसार अचला भूमि मे बोधिसत्त्व की 'अवैवर्त्तिक' सज्ञा हो जाती है। इस भूमि से उनमें आलय-विज्ञान नही होता और वह भी वसुबन्धु के 'अर्हत्' में परिगणित होते हैं। इसमें सन्देह नही कि इन बोधिसत्त्वो ने विपाक-विज्ञान के क्लेश-बीजो का अभी सर्वथा प्रहाण नही किया है। किन्तु, इनका समुदाचरित चित्त-सन्तान सर्वविशुद्ध है, और इसलिए आत्मदृष्टि आदि मनस् के क्लेश इस विपाक-विज्ञान में आत्मवत् आलीन नही होते, अत इन बोधिसत्त्वो की गणना अर्हत् में की गई है।

नन्द के अनुसार प्रथम भूमि मे ही बोधिसत्त्व अवैवर्त्तिक होता है। प्रथम आचार्य और धर्मपाल इससे सहमत नही हैं।

जो कुछ हो, बोधिसत्त्व की ऊर्ध्व भूमियो में सर्व क्लेश-बीज का प्रहाण होता है। विज्ञान-सन्तान के अनास्रव होने से मनस् का इस विज्ञान में आत्मवत् अधिक अभिनिवेश नही होता, अत बोधिसत्त्व का विज्ञान आलय-मूल की सज्ञा को खो देता है।

शुआन-च्वांग कहते हैं कि हम नही मानते कि आलय-विज्ञान की व्यावृत्ति से सर्वप्रकार के अष्टम विज्ञान का प्रहाण होता है।

अष्टम विज्ञान पर शुआन च्वाँग का मत

वस्तुत , सव सत्त्वो में अष्टम विज्ञान होता है। किन्तु, भिन्न दृष्टियो के कारण इस अष्टम विज्ञान के भिन्न नाम होते हैं।

इसे चित्त ('चि' धातु से) कहते है, क्योकि यह विविध धर्मों से भावित, बीजो से आचित होता है।

यह आदान-विज्ञान है, क्योकि यह बीज तथा रूपीन्द्रियो का आदान करता है और उनका नाश नही होने देता।

यह ज्ञेयाश्रय है, क्योकि अष्टम विज्ञान क्लिष्ट और अनास्रव, सब धर्मो को जो ज्ञेय के विषय हैं, आश्रय देता है।

यह बीज-विज्ञान है, क्योकि यह सब लौकिक और लोकोत्तर बीजो का वहन करता है।

यह नाम तथा अन्य नाम (मूल, भवाग ससारकोटिनिष्ठस्कन्ध) अष्टम विज्ञान की सब अवस्थाओ के अनुकूल हैं। किन्तु, इसे आलय, विपाक-विज्ञान, विमल-विज्ञान भी कहते हैं। इसे आलय इसलिए कहते है कि इसमें सर्व साक्लेशिक धर्म सगृहीत हैं, और उनको वह निरुद्ध होने से रोकता है, क्योकि आत्मदृष्टि आदि आत्मवत् इसमें आलीन है। केवल पृथग्जन और शैक्षो के अष्टम विज्ञान के लिए आलय-सज्ञा उपयुक्त है, क्योकि अर्हत् और अवैवर्त्तिक बोधिसत्त्व में साक्लेशिक धर्म नही होते।

अष्टम विज्ञान विपाक-विज्ञान है, क्योकि ससार के आक्षेपक शुभ-अशुभ कर्मो के विपाक का यह फल है।

यह सज्ञा पृथग्जन, यानद्वय के आर्य तथा सब बोधिसत्त्वो के लिए उपयुक्त है, क्योकि इन सब सत्त्वो मे विपाकभूत अव्याकृत धर्म होते है। किन्तु, तथागतभूमि मे इस सज्ञा का प्रयोग नही होता।

अष्टम विज्ञान विमल-विज्ञान है, क्योकि यह अति विशुद्ध और अनास्रव धर्मों का आश्रय है। यह नाम केवल तथागत-भूमि के लिए उपयुक्त है।

वसुबन्धु केवल आलय की व्यावृत्ति का उल्लेख करते है, क्योकि सक्लेशालय के दोष गुरु होते हैं, क्योकि दो सास्रव अवस्थाओ मे से यह पहली अवस्था है, जिनका आर्य प्रहाण करता है। अष्टम विज्ञान की दो अवस्थाओ मे विशेष करना चाहिए। एक सास्रव अवस्था है, दूसरी अनास्रव। सास्रव को आलय या विपाक कहते है। इसका व्याख्यान ऊपर हो चुका है। अनास्रव एकान्तेन कुशल है। यह ५ सर्वग, ५ प्रतिनियत विषय और ११ कुशल चैत्त से सम्प्रयुक्त होता है। यह अकुशल और अनियत चैत्तो से सम्प्रयुक्त नही होता। यह सदा उपेक्षा वेदना से सहगत होता है। सर्व धर्म इसका विषय है, क्योकि आदर्श ज्ञान सर्व धर्म को आलम्बन बनाता है।

आलय-विज्ञान के प्रवर्त्तन को व्यावृत्त कर, अर्थात् हेतु-फल-भाव और धर्मों के नित्य-प्रवाह को व्यावृत्त कर बोधिसत्त्व हेतु-प्रत्यय और धर्मो की क्रूरता से अपने को स्वतन्त्र करते है और यह केवल विमल-विज्ञान से होता है।

अष्टम विज्ञान के पक्ष में आगम के प्रमाण और युक्तियाँ

हीनयान में केवल सात विज्ञान माने गये है। किन्तु, शुआन-च्वाँग दोनो यानो के आगम से तथा युक्ति से अष्टम-विज्ञान को सिद्ध करते है।

महायान—महायान के शास्त्रो मे आलय की बडी महिमा है। महायानाभिधर्मसूत्र मे कहा है कि आलय-विज्ञान सूक्ष्म स्वभाव है और इसकी क्रिया से ही इसकी अभिव्यक्ति होती है। यह अनादिकालिक है और सब धर्मो का समाश्रय है। बीज-विज्ञान होने से यह हेतु (धातु) है। शक्तियो का अविच्छिन्न सन्तान होने से वह धर्मो का उत्पादन करता है। समाश्रय होने से यह आदान-विज्ञान है, क्योकि यह बीजो का आदान करता है, और प्रत्युत्पन्न धर्मों का आश्रय है। इस विज्ञान के होने पर प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो होती है। इस विज्ञान के कारण ही प्रवृत्तिभागीय धर्मो का आदान होता है, और इसी के कारण निर्वाण का अधिगम भी होता है। वस्तुत, यही विज्ञान निवृत्ति के अनुकूल धर्मों का, निर्वाण के बीजों का, आदान करता है।

सन्धिनिर्मोचन मे कहा है कि आदान-विज्ञान गम्भीर और सूक्ष्म है। वह सब बीजो को धारण करता है और ओघ के समान प्रवर्तित होता है। इस भय से कि कही मूढ पुरुष इसमें आत्मा की कल्पना न करे, मैंने मूढ पुरुषो के प्रति इसे प्रकाशित नही किया है। लकावतार में भी आलय को 'ओघ' कहा है, जिसका व्युच्छेद नही है और जो सदा प्रवर्तित होता है।

अन्य निकायो के सूत्रो मे भी छिपे तौर से आलय-विज्ञान को स्वीकार किया है। महासाघिक-निकाय के आगम मे इसे मूल-विज्ञान कहते है। चक्षुर्विज्ञानादि को मूल की सज्ञा नही दी जा सकती। आलय-विज्ञान ही अन्य विज्ञानो का मूल है।

स्थविर और विभज्यवादी इसे 'भवाग-विज्ञान' कहते हैं। 'भव' 'धातुत्रय हैं; 'अग' का अर्थ 'हेतु' है। अत, यह विज्ञान धातुत्रय का हेतु है। एक आलय-विज्ञान ही जो सर्वगत और अव्युच्छिन्न है, यह विज्ञान हो सकता है।

'बुद्धघोष' के अनुसार यह भवाग ही अगुत्तर (१।१०) का 'प्रभास्वर चित्त' है (अत्थसालिनी, १४०)।

महीशासक आलय को 'समारकोटिनिष्ठस्कन्ध' (कोश, ६।१२) कहते है। यह वह स्कन्ध-धर्म है, जो ससार के अपरान्त तक अवस्थान करता है (व्युत्पत्ति में अपरान्तकोटिनिष्ठ है)। वस्तुत, आलय-विज्ञान का अवस्थान वज्रोपम-पर्यन्त है। रूप का उपरम आरूप्य में होता है। आलय-विज्ञान के व्यतिरिक्त अन्य सर्व विज्ञान का उपरम असज्ञिदेवो में तथा अन्यत्र होता है। विप्रयुक्त सस्कार रूप तथा चित्त-चैत्त से पृथक् नही हैं। अत, जि स्कन्ध सका उल्लेख महीशासक करते है, वह आलय-विज्ञान के अतिरिक्त कुछ और नही हो सकता।

सर्वास्तिवादियो के एकोत्तरागम में भी 'आलय' का उल्लेख है। इस सूत्र में कहा है, सत्त्व आलय में रत होते है, उससे उनको समोद होता है (अगुत्तर, २।१३१ 'आलयारामा भिक्खवे पजा आलयरता आलयस [मु] मुदिता')। इस वचन से स्पष्ट है कि आलय राग का आलम्बन है। इसमें सत्त्वो का तवतक आसग होता है, जबतक वज्रोपम समाधि द्वारा आलय का विच्छेद नही होता। इसे वह अपनी आध्यात्मिक आत्मा अवधारित करते है। कामवीतराग योगी और आर्य में भी आत्मस्नेह होता है, यद्यपि वह पचकामगुणो से विरक्त होते हैं। पृथग्जन और शैक्ष दोनो का अभिष्वग आलय-विज्ञान में होता है, चाहे अन्य उपादान-स्कन्धो मे उनकी रति हो या न हो। इसलिए, एकोत्तरागम को आलय शब्द से 'आलय-विज्ञान' इष्ट है।

१ बीजधारक चित्त

आलय को सिद्ध करने में युक्ति यह है कि वह चित्त बीजो का धारक है। यदि यह न हो, तो कोई अन्य चित्त नही है, जो साक्लेशिक और व्यावदानिक धर्मों के बीजो को धारण करे।

सौत्रान्तिक (मूल)-- कहते है कि स्कन्ध वासित होते हैं और बीजो को धारण करते हैं। दार्ष्टान्तिको के अनुसार पूर्व क्षण अपर क्षण को वासित करता है। अन्य सौत्रान्तिक कहते हैं कि विज्ञान-जाति वासित होती है। कुआन-च्वांग कहते है कि यह तीनो मत अयुक्त है। पच-स्कन्ध बीजो को धारण नही करते। प्रवृत्ति-विज्ञानो का विच्छेद निरोध-समापत्ति में तथा अन्य चार आसज्ञिक अवस्थाओ (निद्रा, मूर्च्छा, असज्ञि-समापत्ति, असज्ञिदेव) में होता है। अत, वह निरन्तर बीजो को धारण नही कर सकते। विज्ञानो की उत्पत्ति इन्द्रिय-अर्थ-मनस्कार से होती है और यह कुशल-अकुशल-अव्याकृत इन विजातीय स्वभावो के होते है। अत, वह एक दूसरे को वासित नही कर सकते।

अत, यह स्पष्ट है कि सूत्र का इन प्रवृत्ति-विज्ञानो से आशय नही है, क्योकि यह बीजो का आदान नही करते। यह इस अर्थ में चित्त नही है कि यह धर्मों के बीजो का सचय

करते हैं। इसके अतिरिक्त आलय-विज्ञान, जो सदा अव्युच्छिन्न रहता है, एकजातीय है, और तिलपुष्पवत् है, वासित होता है। एक सर्वबीजक चित्त के अभाव में क्लिष्ट और अनास्रव चित्त, जो प्रवृत्तिधर्म है, बीजो का उत्पादन नही करेंगे, और पूर्व बीजो की वृद्धि न करेंगे, अत उनका कोई सामर्थ्य न होगा। पुन यदि प्रवृत्ति-धर्मों की उत्पत्ति बीजो से नही होती, तो फिर उनकी उत्पत्ति कैसे होगी। क्या आप उनको स्वयम्भू मानते है ? रूप और विप्रयुक्त भी सर्वबीजक नही है। यह चित्तस्वभाव नही है। यह बीजो का आदान कैसे करेंगे ? चैत्त उच्छिन्न होते है। इनकी विकल्पोत्पत्ति है। यह स्वतन्त्र नही है। यह चित्तस्वभाव नही है। अतः, यह बीजो को धारण नही करते। इसलिए, हमको प्रवृत्ति-विज्ञान से भिन्न एक चित्त मानना होगा, जो सर्वबीजक है।

एक सौत्रान्तिक मानते है कि छ प्रवृत्ति-विज्ञानो का सदा उत्तरोत्तर उदय-व्यय होता है, और यह इन्द्रिय-अर्थादि का सन्निश्रय लेते है। प्रवृत्ति-विज्ञान के क्षणो का द्रव्यत्व में अन्यथात्व होता है, किन्तु यह सब क्षण समान रूप से विज्ञप्ति है। विज्ञान-जाति का अन्यथात्व नही होता। यह अवस्थान करती है। यह वासित होती है। यह जाति सर्वबीजक है। अत, इनके मत मे सांक्लेशिक और व्यावदानिक धर्मों के हेतु-फल-भाव का निरूपण करने के लिए अष्टम विज्ञान की कल्पना अनावश्यक है।

इस मत का खण्डन करने के लिए शुआन-च्वांग चार युक्तियां देते है ---

१ यदि आपकी विज्ञान-जाति एक द्रव्य है, तो आप वैशेपिको के समान 'सामान्य-विशेष' को द्रव्य मानते है। यदि यह प्रज्ञप्तिमत् है, तो जाति-बीजो की धारक नही हो सकती, क्योकि प्रज्ञप्तिसत् होने से यह सामर्थ्य-विशेष से रहित है।

२ आपकी विज्ञान-जाति कुशल है या अकुशल ? क्योकि यह अव्याकृत नही है, इसलिए यह वासित नही हो सकती। क्या यह अव्याकृत है ? किन्तु, यदि चित्त कुशल या अकुशल है, तो कोई अव्याकृत चित्त नही है। आपकी विज्ञान-जाति यदि अव्याकृत और स्थिर है, तो यह व्युच्छिन्न होगी। वस्तुत, यदि द्रव्य कुशल-अकुशल है, तो जाति अव्याकृत नही हो सकती। महासत्ता के विपक्ष में विशेष सत्ता का वही स्वभाव होगा, जो द्रव्यो का है।

३. आपकी विज्ञान-जाति सज्ञाहीन अवस्थाओ मे तिरोहित होती है। यह स्थिर नही है। इसका नैरन्तर्य नही है। अत, यह वासित नहीं हो सकती और सबीजक नही है।

४. अन्तत, जब अर्हत् और पृथग्जन के चित्त की एक ही विज्ञान-जाति है, तब क्लिष्ट और अनास्रव धर्म एक दूसरे को वासित करेंगे। क्या आप इस निरर्थक वाद को स्वीकार करते है ? इसी प्रकार, विविध इन्द्रियो की एक ही जाति होने से वह एक दूसरे को वासित करेंगी। किन्तु, इसका आप प्रतिषेध करते है। अत, आप यह नही कह सकते कि विज्ञान-जाति वासित होती है। दार्ष्टान्तिक कहता है कि चाहे हम द्रव्य का विचार करें या जाति का, प्रवृत्ति-विज्ञानो के दो समनन्तर क्षण सहभू नही है। अत, यह वासित नही हो सकते, क्योकि वासित करने-वाले और वासित होनेवाले को सहभू होना होगा।

सौत्रान्तिक मतो की परीक्षा समाप्त होती है। अब हम अन्य निकायो की परीक्षा करेंगे।

महसांघिक—महासांघिक विज्ञान-जाति को विचार-कोटि में नही लेते। यह मानते हैं कि प्रवृत्ति-विज्ञान सहभू हो सकते हैं। किन्तु, यह वासना के वाद को नही मानते। अतः, प्रवृत्ति-विज्ञान सबीजक नही है।

स्थविर—यह बीज-द्रव्य के अस्तित्व को स्वीकार नही करते। इनके अनुसार रूप या चित्त का पूर्व क्षण स्वजाति के अनुसार उत्तर क्षण का बीज होता है। इस प्रकार, हेतु-फल-परम्परा व्यवस्थापित होती है। यह वाद अयुक्त है, क्योंकि—

१ यहाँ वासना का कोई कृत्य नही है। पूर्ण क्षण वासित नही करता, अर्थात् बीज की उत्पत्ति नही करता। यह उत्तर क्षण का बीज कैसे होगा, क्योंकि यह उसका सहभू नही है?

२. एक बार व्युच्छिन्न होने पर रूप या चित्त की पुनरुत्पत्ति न हो सकेगी। (जब ऊर्ध्व धातु में उपपत्ति होती है, तब रूप-सन्तान व्युच्छिन्न होता है।)

३ दो यानो के अशैक्षो का कोई अन्य स्कन्ध न होगा। उनके स्कन्धो का सन्तान निर्वाण में निरुद्ध न होगा, क्योंकि मरणासन्न अशैक्ष के रूप और चित्त अनागत रूप और चित्त के बीज हैं।

४ यदि दूसरे आक्षेप के उत्तर में स्थविर कहते हैं कि रूप और चित्त एक दूसरे के बीज हैं (जिससे ऊर्ध्व धातु के भव के पश्चात् रूप की पुनरुत्पत्ति होती है), तो हम कहेंगे कि न रूप और न प्रवृत्ति-विज्ञान वासित हो सकते हैं।

सर्वास्तिवादिन्—त्रैयध्विक धर्मो का अस्तित्व है। हेतु से फल की उत्पत्ति है, जो पर्याय मे हेतु है। फिर, क्यो सबीजक विज्ञान की कल्पना की जाय? वस्तुत, सूत्र का वचन है कि चित्त बीज है, चित्त क्लिष्ट शुद्ध धर्मो का उत्पाद करता है। सूत्र ऐसा इसलिए करता है, क्योंकि रूप की अपेक्षा चित्त का सामर्थ्य कही अधिक है, किन्तु इसको यह विवक्षित नही है कि चित्त सबीजक है।

यह वाद अयुक्त है, क्योंकि अतीत-अनागत धर्म न नित्य हैं और न प्रत्युत्पन्न। आकाशपुष्प की तरह यह अवस्तु हैं। पुन इनकी कोई क्रिया नही है। अत, यह हेतु नही हो सकते।

अत, अष्टम विज्ञान के अभाव में हेतु-फल-भाव नही होता।

भावविवेक—यह त्रिलक्षणवाद को नही मानता। यह लक्षणो का प्रतिषेध करता है, इसलिए इसे अलक्षण महायान कहते हैं। अनुमानाभास से यह आलय-विज्ञान और अन्य धर्मों का प्रतिषेध करता है। यह नय सूत्र का विरोध करता है। चार आर्यसत्यो की सत्ता का प्रतिषेध करना, हेतु-फल का प्रतिषेध करना मिथ्यादृष्टि है।

किन्तु, भावविवेक कहता है कि हम संवृति-सत्य की दृष्टि से इन सब धर्मों का प्रतिषेध नहीं करते। हम इनके तत्त्व, सत्य होने का ही प्रतिषेध करते हैं।

शुआन-च्वाँग कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि के तीर्थिक भी ऐसा ही कहते है । यदि धर्म वस्तुसत् नही है, तो बोधिसत्त्व ससार का त्याग करने के लिए, बोधिसम्भार के लिए क्यो प्रयत्नशील होगे , कौन बुद्धिमान् पुरुष कल्पित शत्रुओ का (क्लेशो का) उन्मूलन करने के लिए शिलापुत्रक (=कुशल धर्म) को लेने जायगा और उनका उपयोग सेना की भाँति करेगा ?

अत , एक सबीजक चित्त है, जो साक्लेशिक-व्यावदानिक धर्मों का और हेतु-फल का समाश्रय है । यह चित्त आलय है ।

२. विपाकचित्त

आलय-विज्ञान के सिद्ध करने के लिए हम एक युक्ति दे चुके है कि यह बीजो का धारक है । दूसरी युक्ति यह है कि सूत्र के अनुसार एक विपाक-चित्त है, जो कुशल-अकुशल कर्म से अभिनिर्वृत होता है । यदि आलय नही है, तो इस विपाक-चित्त का अभाव होता है ।

१. छ विज्ञान व्युच्छिन्न होते है । यह सदा कर्म-फल नही होते । यह विपाक-चित्त नही है । हम जानते है कि जो धर्म विपाक है, उनका पुन. प्रतिसन्धान एक बार व्युच्छिन्न होने पर नही होता (यथा जीवितेन्द्रिय) । जब विज्ञानषट्क कर्म से अभिनिर्वृत होता है; यथा शब्द, तब उनका निरन्तर सन्तान नही होता । अत:, वह विपाकज है, विपाक नही है ।

२ एक विपाक-चित्त मानना होगा कि जो आक्षेपक कर्म के समकक्ष है, जो धातुत्रय मे पाया जाता है, जो सदाकालीन है, जो भाजन-लोक और सेन्द्रियक काय में परिणत होता है, जो सत्त्व का समाश्रय है ।

वस्तुत , क. चित्त से पृथक् भाजन-लोक और सेन्द्रियक काय नही है । ख विप्रयुक्त (विशेष कर जीवितेन्द्रिय) द्रव्यसत् नही है । ग प्रवृत्ति-विज्ञान सदा नही होते । आलय के अभाव मे कौन भाजनलोक और काय मे परिणत होगा ? अन्तत , जहाँ चित्त है वहाँ सत्त्व है, जहाँ चित्त नही है, वहाँ सत्त्व नही है । यदि आप आलय को नही स्वीकार करते, तो कौन-सा धर्म—पाँच असज्ञि-अवस्थाओ में —सत्त्व का आश्रय होगा ?

३ समापत्ति की अवस्था में, यथा असमाहित अवस्था मे, चाहे समापत्ति मे उपनिध्यान हो या न हो, (निरोध-समापत्ति मे) सदा कायिकी वेदना होती है । इसी कारण समाधि से व्युत्थान कर योगी सुख या शारीरिक थकावट का अनुभव करता है । अत , समापत्ति की सब अवस्थाओ में एक विपाक-चित्त निरन्तर रहता है ।

४ हम उन सत्त्वो का विचार करें, जो बुद्ध नही है । आप यह स्वीकार करते है कि क्षण-विशेष में उनके छ विज्ञान अव्याकृत और विपाक होते है । जिस काल मे इन सत्त्वों के किसी अन्य जाति के विज्ञान (कुशल-अकुशल) होते है या जब इस जाति के विज्ञान

होते हैं, तब उनका एक विपाक-चित्त भी होता है, क्योकि जबतक वह बुद्ध नही है, तबतक वह सत्त्व है।

३. गति और योनि

सूत्र में उपदिष्ट है कि सत्त्व पांच गतियो और चार योनियो में ससरण करते हैं। अष्टम विज्ञान के अभाव मे हम नहीं देखते कि गति और योनि क्या हैं।

१ गति को निरन्तर रखनेवाला, सर्वगत, असकीर्ण द्रव्यसत् होना चाहिए। यदि वह धर्म, जो विपाक नही है, यथा प्रायोगिक कुशल, गति में पर्यापन्न होते, तो गति सकीर्ण होती। क्योकि, जब एक सत्त्व (कामधातु का सत्त्व) रूपधातु के एक कुशल-चित्त का उत्पाद करता, तब वह एक ही समय में मनुष्य और देवगति का होता (कोश ३, पृ० १२)। विपाक-रूप (औपचयिक से अन्यत्र, कोश १, पृ० ६९) और कर्महेतुक पाँच विज्ञान गति में पर्यापन्न नही हैं, क्योकि आरूप्य मे रूप और पचविज्ञान का अभाव है। सब भवो में उपपत्तिलाभिक धर्म और कर्महतुक मनोविज्ञान होते है। इन धर्मों मे नैरन्तर्य नही होता।

विप्रयुक्त द्रव्यसत् नही है, अत उनका क्या विचार करना ?

२. केवल विपाक-चित्त और सम्प्रयुक्त चैत्तो में चारो लक्षण होते हैं, और यह गति तथा योनि है। तथागत के कोई अव्याकृत, कोई विपाक-धर्म नही हैं। अत., वह गति-योनि में सगृहीत नही है। उनमें कोई सास्रव धर्म नही है। अत, वह धातुओ में सगृहीत नही है। भगवान् के प्रपच-बीज निरुद्ध हो चुके हैं।

गति-योनि, विपाक-चित्त और तत्सम्प्रयुक्त चैत्त के ही स्वभाव के हैं। यह वस्तुत विपाक है। यह विपाकज नही है। अत यह अष्टम विज्ञान है।

४. उपादान

सूत्र के अनुसार रूपीन्द्रिय काय उपात्त है। अष्टम विज्ञान के अभाव मे इस काय का उपादाता कौन होगा ?

यदि पाँच रूपीन्द्रिय अपने अधिष्ठान के सहित ('शब्द' को वर्जित कर नौ रूपी आयतन) उपात्त होते हैं, तो यह अवश्य एक चित्त के कारण है, जो उनको स्वीकृत करता है। छ प्रवृत्ति-विज्ञानो के अतिरिक्त यह चित्त केवल विपाक-चित्त हो सकता है। यह पूर्वकृत कर्म से आक्षिप्त होता है। यह कुशल-क्लिष्टादि नही है। यह केवल अव्याकृत है। यह तीनो धातुओ मे पाया जाता है, इसका निरन्तर सन्तान है।

सूत्र का यह कहने का आशय है कि प्रवृत्ति-विज्ञान में उपादान की योग्यता नहीं है, क्योकि वह सभाग नही है, धातुत्रय मे पाये नही जाते और इनका निरन्तर सन्तान नही होता। सूत्र का यह कहने का अभिप्राय नही है कि केवल विपाक-चित्त मे यह सामर्थ्य है, क्योकि इसका यह अर्थ होगा कि बुद्ध का रूपकाय जो कुशल अनास्रव है, बुद्ध के चित्त से उपात्त नही है, क्योकि बुद्ध में कोई विपाक-धर्म नही हैं। यहाँ केवल सास्रव काय की बात है और केवल विपाक-चित्त इस काय को उपात्त करता है।

५. जीवित, उष्म और विज्ञान

सूत्र के अनुसार जीवित, उष्म और विज्ञान अन्योन्य को आश्रय देकर सन्तान मे अवस्थान करते है। हमारा कहना है कि अष्टम विज्ञान ही एक विज्ञान है, जो जीवित और उष्म का समाश्रय हो सकता है।

१. शब्द, वायु आदि के समान प्रवृत्ति-विज्ञान का नैरन्तर्य नही है, और यह विकारी है। यह समाश्रय की निरन्तर क्रिया मे समर्थ नही है। अत, यह वह विज्ञान नही है, जिसका सूत्र मे उल्लेख है। किन्तु, विपाक-विज्ञान जीवित और उष्म के तुल्य व्युच्छिन्न नही होता, और विकारी नही है, अत उसकी यह क्रिया हो सकती है। अत., यही विज्ञान है, जो जीवित और उष्म का समाश्रय है।

२ सूत्र मे उपदिष्ट है कि यह तीन धर्म एक दूसरे को आश्रय देते है, और आप मानते हैं कि जीवित और उष्म एकजातीय और अव्युच्छिन्न है। तो क्या यह मानना युक्त है कि यह विज्ञान प्रवृत्ति-विज्ञान है, जो एकजातीय और अव्युच्छिन्न नही है ?

३. जीवित और उष्म सास्रव धर्म है। अत , जो विज्ञान इनका समाश्रय है, वह अनास्रव नही है। यदि आप अष्टम विज्ञान नही मानते, तो बताइए कि कौन-सा विज्ञान आरूप्य-धातु के सत्त्व के जीवित का आश्रय होगा (आरूप्य में अनास्रव प्रवृत्ति-विज्ञान होता है)।

अत:, एक विपाक-विज्ञान है। यह अष्टम विज्ञान है।

६. प्रतिसन्धि-चित्त और मरण-चित्त

१. सूत्रवचन है कि प्रतिसन्धि और मरण के सभी सत्त्व अचित्तक नही होते। समाहित्त-चित्त नही होते, विक्षिप्त-चित्त होते हैं। प्रतिसन्धि-चित्त और मरण-चित्त केवल अष्टम विज्ञान है। इन दो क्षणो मे चित्त तथा काय अस्वप्निका निद्रा या अतिमूर्च्छा की तरह मन्द होते है। पटु प्रवृत्ति-विज्ञान उत्थित नही हो पाते।

इन दो क्षणो में छः प्रवृत्ति-विज्ञानो की न सविदित विज्ञप्ति-क्रिया होती है, न इसका सविदित आलम्बन होता है। अर्थात्, उस समय इन विज्ञानो का समुदाचार नही होता, जैसे अचित्तक अवस्था मे उनका समुदाचार नही होता। क्योकि, यदि प्रतिसन्धि-चित्त और मरण-चित्त, जैसा कि आपका कहना है, प्रवृत्ति-विज्ञान है, तो उनकी विज्ञप्ति-क्रिया और उनका आलम्बन सविदित होना चाहिए।

इसके विरुद्ध अष्टम विज्ञान अति सूक्ष्म और असविदित होता है। यह आक्षेपक कर्म का फल है, अत यह वस्तुत विपाक है। एक नियतकाल के लिए यह एक अव्युच्छिन्न और एकजातीय सन्तान है। इसी को प्रतिसन्धि-चित्त और मरण-चित्त कहते हैं। इसी के कारण इन दो क्षणो में सत्त्व अचित्तक नही होता और विक्षिप्त चित्त होता है।

२. स्थविरो के अनुसार इन दो क्षणो मे एक सूक्ष्म मनोविज्ञान होता है, जिसकी विज्ञप्ति-क्रिया और आलम्बन असविदित है।

यह सूक्ष्म विज्ञान अष्टम विज्ञान ही हो सकता है; क्योंकि कोई परिचित मनोविज्ञान असविदित नही है।

३. मरण के समीप 'शीत' स्प्रष्टव्य काय मे ईषत्-ईषत् उत्पन्न होता है। यदि कोई अष्टम विज्ञान न हो, जो काय को स्वीकृत करता है, तो शनै -शनै शीत का उत्पाद न हो। यह अष्टम विज्ञान काय के सब भागो को उपात्त करता है। जहाँ से यह अपना उपग्रहण छोडता है, वहाँ शीत उत्पन्न होता है, क्योंकि जीवित, उष्म और विज्ञान असम्प्रयुक्त नही है। जिस भाग में शीतोत्पाद होता है, वह सत्त्वाख्य नही रहता।

पहले पाँच विज्ञानो के विशेष आश्रय हैं। यह समस्त काय को उपगृहीत नही करते। शेष रहा छठा विज्ञान—मनोविज्ञान। यह काय में सदा नही पाया जाता। यह प्राय व्युच्छिन्न होता है, और हम नही देखते कि तब शीतोत्पाद होता है। इसका आलम्बन स्थिर नही है।

अत, अष्टम विज्ञान सिद्ध है।

७. विज्ञान और नामरूप

सूत्र के अनुसार नामरूप-प्रत्ययवश विज्ञान होता है, और विज्ञान-प्रत्ययवश नामरूप होता है। यह दो धर्म नडकलाप के सदृश अन्योन्याश्रित हैं और एक साथ प्रवर्त्तित होते हैं।

प्रश्न है कि यह कौन-सा विज्ञान है?

इसी सूत्र में नामरूप का व्याख्यान है नामन् से चार अरूपी स्कन्ध और रूप से कललादि समझना चाहिए। यह द्विक नामरूप (पचस्कन्ध) और विज्ञान नडकलाप के समान अन्योन्याश्रय से अवस्थित हैं। यह एक दूसरे के प्रत्यय हैं, यह सहभू हैं और एक दूसरे से पृथक् नही होते।

क्या आपका यह कहना है कि इस नामन् से पचविज्ञान-काय इष्ट है, और जो विज्ञान इस नामन् (और रूप) का आश्रय है, वह मनोविज्ञान है? किन्तु आप भूल जाते हैं कि कललादि अवस्था में यह पाँच विज्ञान नही होते, और इसलिए उन्हें नामन् की सज्ञा नही दी जा सकती।

पुन छ प्रवृत्ति-विज्ञान का नैरन्तर्य नही है। वह नामरूप के उपादान का सामर्थ्य नही रखते। यह नही कहा जा सकता कि वह नामरूप के प्रत्यय हैं।

अत, 'विज्ञान' से सूत्र को अष्टम विज्ञान इष्ट है।

८. आहार

सूत्रवचन है कि सब सत्त्व आहार-स्थितिक हैं। सूत्रवचन है कि आहार चार हैं—कवडीकार स्पर्श, मन सचेतन और विज्ञान। मन सचेतन छन्द सहवर्त्तिनी सास्रव चेतना है, जो मनोज्ञ वस्तु की अभिलाषा करती है। यह चेतना विज्ञान-सम्प्रयुक्त है, किन्तु इसे आहार की संज्ञा तभी मिलती है, जब यह मनोविज्ञान से सम्प्रयुक्त होती है।

विज्ञानाहार का लक्षण आदान है । यह सास्रव विज्ञान है। पहले तीन आहारो से उपचित होकर यह इन्द्रियो के महाभूतो का पोषण करता है।

इसमे आठो विज्ञान सगृहीत है, किन्तु यह अष्टम है, जो आहार की सज्ञा प्राप्त करता है। यह एकजातीय है, यह सदा सन्तानात्मक है।

इन चारो को 'आहार' इसलिए कहते हैं कि यह सत्त्वो के काय और जीवित के आधार है। कवडीकार केवल कामधातु में होता है, अन्य दो तीन धातुओ मे होते हैं। यह तीन चौथे पर आश्रित है। चौथे के रहने पर ही इनका अस्तित्व है।

प्रवृत्ति-विज्ञानो के अतिरिक्त एक और विपाक-विज्ञान है। यह एकजातीय (सदा अव्याकृत), निरन्तर, त्रैधातुक है और काय-जीवित का धारक है। भगवान् जब कहते है कि सब सत्त्व आहार-स्थितिक है, तब उनका अभिप्राय इस मूल विज्ञान से है।

६. निरोध-समापत्ति

सूत्र के अनुसार, "जो सज्ञावेदित-निरोध-समापत्ति मे विहार करता है, उसके काय-वाक्-चित्त-सस्कार का निरोध होता है, किन्तु उसकी आयु परिक्षीण नही होती, उष्म व्युपशान्त नही होता, इन्द्रियाँ परिभिन्न नही होती और विज्ञान काय का परित्याग नही करता।" यह विज्ञान अष्टम विज्ञान ही हो सकता है। अन्य विज्ञान के आकार औदारिक और चचल है। सूत्र को एक सूक्ष्म, अचल, एकजातीय, सर्वगत विज्ञान इष्ट है, जो जीवितादि का आदान करता है।

सर्वास्तिवादी के अनुसार यदि सूत्रवचन है कि विज्ञान काय का परित्याग नही करता, तो इसका यह कारण है कि समापत्ति से व्युत्थान होने पर विज्ञान की पुनरुत्पत्ति होती है। वह नही कहते कि चित्त-सस्कारो का इस समापत्ति में निरोध होता है, क्योकि चित्त या विज्ञान का उत्पाद और निरोध उसके सस्कारो के साथ होता है। या तो सस्कार काय का त्याग नही करते या विज्ञान काय का त्याग करता है।

जीवित, उष्म, इन्द्रिय का वही हाल होगा, जो विज्ञान का। अत , जीवितादि के समान विज्ञान काय का त्याग नही करता।

यदि वह काय का त्याग करता है, तो यह सत्त्वाख्य नही है। कोई कैसे कहेगा कि निरोध-समापत्ति में पुद्गल निवास करता है।

यदि यह काय का त्याग करता है, तो कौन इन्द्रिय, जीवित, उष्म का आदान करता है? आदान के अभाव में यह धर्म निरुद्ध होगे।

यदि यह काय का त्याग करता है, तो प्रतिस धान कैसे होगा ? व्युत्थान-चित्त कहाँ से आयगा ?

वस्तुत , जब विपाक-विज्ञान काय का परित्याग करता है, तब इसकी पुनरुत्पत्ति पुनर्भव के लिए ही होती है।

सौत्रान्तिक (दार्ष्टान्तिक) मानते है कि निरोध-ममापत्ति में चित्त नही होता। यह कहते है कि दो धर्म अन्योन्यवीजक है—चित्त और सेन्द्रियक काय। चित्त उस काय का वीज है, जो आरूप्य-भव के पश्चात् प्रतिसन्धि ग्रहण करता है, और काय (रूप) उस चित्त का वीज है, जो अचित्तक समापत्ति के पश्चात् होता है।

यदि समापत्ति की अवस्था में वीजधारक विज्ञान नही है, तो अवीजक व्युत्थान-चित्त की कैसे उत्पत्ति होगी ? हमने यह सिद्ध किया है कि अतीत, अनागत, विप्रयुक्त वस्तुमत् नहीं है और रूप वासित नही होता तथा वीज का धारक नही होता। पुन विज्ञान अचित्तक अवस्थाओ में रहता है, क्योकि इन अवस्थाओ में इन्द्रिय-जीवित-उष्म होते है; क्योकि यह अवस्थाएँ सत्त्वाख्य की अवस्थाएँ है। अत , एक विज्ञान है, जो काय का त्याग करता है।

अन्य सौत्रान्तिको का मत है कि निरोध-ममापत्ति में मनोविज्ञान होता है। किन्तु, इस समापत्ति को अचित्तक कहते है। सौत्रान्तिक उत्तर देते है कि यह इसलिए है कि पचविज्ञान का वहाँ अभाव होता है। हमारा कथन है कि इस दृष्टि से सभी ममापत्तियो को 'अचित्तक' कहना चाहिए। पुन मनोविज्ञान एक प्रवृत्ति-विज्ञान है। इसलिए, इस ममापत्ति में इसका अभाव होता है, जैसे अन्य पाँच का होता है।

यदि इनमें मनोविज्ञान है, तो तत्सम्प्रयुक्त चैत्त भी होना चाहिए। यदि वह है, तो सूत्रवचन क्यो है कि वहाँ चित्त-सस्कार (वेदना और सज्ञा) का निरोध होता है ? इसे सज्ञा-वेदित निरोध-समापत्ति क्यो कहते है ?

जव सौत्रान्तिक यह मानते है कि निरोध-समापत्ति में चेतना और अन्य चैत्त होते है, तव उन्हें यह भी मानना पडेगा कि इसमे वेदना और सज्ञा भी होती है। किन्तु, यह सूत्रवचन के विरुद्ध है। अत , इस समापत्ति मे चैत्त नही होते।

एक सौत्रान्तिक (भदन्त वसुमित्र) कहते है कि समापत्ति में एक सूक्ष्म चित्त होता है, किन्तु चैत्त नहीं होते।

यदि चैत्त नही है, तो चित्त भी नही है। यह नियम है कि धर्म नही होता, जव उसके संस्कारो का अभाव होता है

यह सौत्रान्तिक मानते है कि निरोध-समापत्ति मे चैत्तो से असहगत मनोविज्ञान होता है। इसके विरोध में हम यह सूत्र उद्धृत करते हैं—"मनस् और धर्मो के प्रत्ययवश मनोविज्ञान उत्पन्न होता है। त्रिक का सन्निपात स्पर्श है। स्पर्श के साथ ही वेदना, सज्ञा और चेतना होती है।" यदि मनोविज्ञान है, तो त्रिक-सन्निपातवश स्पर्श भी होगा और वेदनादि जो स्पर्श के साथ उत्पन्न होते है, वह भी होगें। हम कैसे कह सकते है कि निरोध-समापत्ति मे चैत्तो से असहगत मनोविज्ञान होता है। पुन यदि निरोध-ममापत्ति चैत्तो से वियुक्त है, तो उसे चैत्त-निरोध-समापत्ति कहना चाहिए।

हमारा सिद्धान्त यह है कि निरोध-ममापत्ति मे प्रवृत्ति-विज्ञान काय का परित्याग करते है, और जव सूत्र कहता कि विज्ञान काय का त्याग नही करता, तव उसका अभिप्राय अष्टम

विज्ञान से है। जब योगी निरोध-समापत्ति में समापन्न होता है, तब उसका आशय शान्त-शिव आदान-विज्ञान को निरुद्ध करने का नही होता।

यही युक्तियाँ असज्ञिसमापत्ति और असज्ञिदेवो के लिए है।

१०. संक्लेश-व्यवदान

सूत्र में उक्त है कि "चित्त के सक्लेश से सत्त्व सक्लिष्ट होता है; चित्त के व्यवदान से सत्त्व विशुद्ध होता है।"

इस लक्षण का चित्त अष्टम विज्ञान ही हो सकता है।

संक्लेश—साक्लेशिक धर्म तीन प्रकार के है—१. त्रैधातुक क्लेश, जो दर्शन-हेय और भावना-हेय है; २ अकुशल, कुशल सास्रव कर्म, ३. आक्षेपक कर्म का फल, परिपूरक कर्म का फल।

१. क्लेश-बीजो के धारक अष्टम विज्ञान के अभाव मे क्लेशोत्पत्ति असम्भव हो जाती है। जब (क) धातु का भूमि-सचार होता है, जब (ख) अक्लिष्ट चित्त की उत्पत्ति होती है।

२. कर्म और फल के बीजो के धारक अष्टम विज्ञान के अभाव में कर्म और फल की उत्पत्ति अहेतुक होगी, चाहे वह धातु-भूमि-सचार के पश्चात् हो या निरुद्ध स्वभाव के धर्म की उत्पत्ति के पश्चात् हो।

हम जानते है कि रूप और अन्य धर्म बीज-धारक नही है। हम जानते है कि अतीत धर्म हेतु नही है।

किन्तु, यदि कर्म और फल की उत्पत्ति अहेतुक है, तो त्रैधातुक कर्म और फल उस योगी के लिए क्यो न होगे, जो निरुपधिशेष निर्वाण मे प्रवेश कर गया है और क्लेश भी हेतु के विना उत्पन्न होगे।

प्रवृत्ति (प्रतीत्यसमुत्पाद, सस्कार) तभी सम्भव है, जब सस्कार-प्रत्ययवश विज्ञान हो। यदि अष्टम विज्ञान न हो, तो यह हेतु-प्रत्ययता सम्भव नही है। यदि सस्कार से उत्पन्न विज्ञान 'नामरूप' में सगृहीत विज्ञान होता, तो सूत्र मे यह उक्त होता कि सस्कार-प्रत्ययवश नामरूप होता है।

स्थिरमति (पृ० ३७–३८) कहते है कि आलय-विज्ञान के विना ससार-प्रवृत्ति युक्त नही है। आलय-विज्ञान से अन्य सस्कार-प्रत्यय-विज्ञान युक्त नही है। सस्कार-प्रत्यय-विज्ञान के अभाव मे प्रवृत्ति का भी अभाव है। यदि आलय-विज्ञान नही है, तो सस्कार-प्रत्यय-प्रतिसन्धि-विज्ञान की कल्पना या सस्कारभावित षड्विज्ञान-काय की कल्पना हो सकती है। किन्तु, पहले विकल्प मे जो सस्कार-प्रातिसन्धिक विज्ञान के प्रत्यय इष्ट है, वह चिरकाल हुआ, निरुद्ध हो चुके। जो निरुद्ध है, वह असत् है, और जो असत् है, उसका प्रत्ययत्व नही है। अत, यह युक्त नही है कि सस्कार-प्रत्यय प्रतिसन्धिविज्ञान है। पुन प्रतिसन्धि के समय नामरूप भी होता है, केवल विज्ञान नही होता। किन्तु, सूत्र मे है कि सस्कार-प्रत्यय विज्ञान

होता है। सूत्रवचन में 'नामरूप' शब्द नही है। इसलिए, कहना चाहिए कि सस्कार-प्रत्यय नामरूप है, विज्ञान नही। और, विज्ञान-प्रत्यय-नामरूप कहाँ मिलेगा ? क्या आप कहेंगे कि उत्तरकाल का नामरूप इष्ट है ? तो प्रातिसन्धिक नामरूप से इसमें क्या आत्मातिशय है, जो वही विज्ञान-प्रत्यय हो, पूर्व विज्ञान-प्रत्यय न हो, पूर्व सस्कार-प्रत्यय हो, उत्तर न हो ? अत, सस्कार-प्रत्यय नामरूप ही हो। प्रतिसन्धि-विज्ञान की कल्पना से क्या लाभ ? अत. सस्कार-प्रत्यय प्रतिसन्धि-विज्ञान युक्त नही है। सस्कार-परिभावित षड्विज्ञान भी सस्कार-प्रत्यय-विज्ञान नही है। इसका कारण यह है कि यह विज्ञान विपाक-वासना या निष्यन्द-वासना का अपने मे आधान नही कर सकते, क्योकि इनमें कारित्र का निरोध है। यह अनागत में भी नही कर सकते, क्योकि उस समय अनागत उत्पन्न नही है, और जो अनुत्पन्न है, वह असत् है। उत्पन्न पूर्व भी असत् है, क्योकि उस समय वह निरुद्ध हो चुका है। पुन निरोध-समापत्ति आदि अचित्त अवस्थाओ मे सस्कार-परिभावित चित्त की उत्पत्ति सम्भव नही है। विज्ञान-प्रत्यय नामरूप न हो, षडायतन न हो, एव यावत् जातिप्रत्यय जरा-मरण न हो। इससे ससार-प्रवृत्ति ही न हो। इसलिए, अविद्या-प्रत्यय, सस्कार-प्रत्यय, आलय-विज्ञान और विज्ञान-प्रत्यय प्रतिसन्धि में नामरूप होता है। यह नीति निर्दोष है।

तीन व्यवदान—व्यावदानिक धर्म तीन प्रकार के हैं—लौकिक मार्ग, लोकोत्तर मार्ग और क्लेशच्छेद का फल।

इन दो मार्गो के बीजो का धारण करनेवाले अष्टम विज्ञान के अभाव में इन दो मार्गो का पश्चात् उत्पाद असम्भव है। क्या आप कहेंगे कि इनकी उत्पत्ति अहेतुक है ? तो आपको मानना होगा कि निर्वाण मे वही आश्रय पुनरुत्पन्न हो सकता है। यदि अष्टम विज्ञान न हो, जो सर्वदा लोकोत्तर मार्ग के धर्मता-बीज का धारण करता है, तो हम नही समझ सकते कि कैसे दर्शन-मार्ग के प्रथम क्षण की उत्पत्ति सम्भव है। वस्तुत, सास्रव धर्म (लौकिकाग्र धर्म) भिन्न स्वभाव के हैं और इस मार्ग के हेतु नही हो सकते। यह मानना कि प्रथम लोकोत्तर मार्ग अहेतुक है, बौद्धधर्म का प्रत्याख्यान करना है। यदि प्रथम की उत्पत्ति नही होती, तो अन्य भी उत्पन्न नही होंगे। अत, तीन यानो के मार्ग और फल का अभाव होगा।

अष्टम के अभाव में क्लेश-प्रहाण फल असम्भव होगा।

स्थिरमति कहते हैं कि आलय-विज्ञान के न होने पर निवृत्ति भी न होगी। कर्म और क्लेश ससार के कारण हैं। इनमे क्लेश प्रधान हैं। क्लेशो के आधिपत्य से कर्म पुनर्भव के आक्षेप में समर्थ होते हैं, अन्यथा नही। इस प्रकार क्लेश ही प्रवृत्ति के प्रधानत मूल हैं। अत, इनके प्रहीण होने पर ससार का विनिवर्त्तन होता है, अन्यथा नही। किन्तु, आलय के विना यह प्रहाण युक्त नही है। क्यो युक्त नही है ? सम्मुख होने पर क्लेश का प्रहाण हो सकता है या जब उसकी बीजावस्था होती है। यह इष्ट नही है कि सम्मुख होने पर क्लेश का प्रहाण हो। प्रहाण-मार्ग में स्थित सत्त्वो का क्लेश, जो बीजावस्था में ही है, नही प्रहीण होता। क्लेश-बीज अपने प्रतिपक्ष से ही प्रहीण होता है। और प्रतिपक्ष-चित्त भी क्लेश-

बीज से अनुषक्त इष्ट है। किन्तु, क्लेशबीजानुषक्त चित्त क्लेश का प्रतिपक्ष नही हो सकता और क्लेश-बीज के प्रहाण के विना संसार-निवृत्ति सम्भव नही है। अत, यह मानना होगा कि आलय-विज्ञान अवश्य है, जो अन्य विज्ञानो के सहभू क्लेश तथा उपक्लेश से भावित होता है, क्योकि वह अपने बीज से पुष्टि का आदान करता है। जब वासना वृत्ति का लाभ करती है, तब सन्तति के परिणाम-विशेष से चित्त से ही क्लेश-उपक्लेश प्रवर्त्तित होते है। इनका बीज आलय मे व्यवस्थित है। यह तत्सहभू क्लेश-प्रतिपक्ष-मार्ग से अपनीत होता है। इसके अपनीत होने पर इसके आश्रय से क्लेशो की पुनरुत्पत्ति नही होती। इस प्रकार, सोपधिशेष निर्वाण का लाभ होता है तथा पूर्व-कर्म से आक्षिप्त जन्म के निरुद्ध होने पर जब अन्य जन्म का प्रतिसन्धान नही होता, तब निरुपधिशेष निर्बाण होता है। इस प्रकार, आलय-विज्ञान के होने पर ही प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, अन्यथा नही।

तुलना—इन विविध युक्तियो और आगम के वचनो के आधार पर शुआन-च्वाँग सिद्ध करते हैं कि आलय-विज्ञान वस्तुसत् है। बौद्धो के धर्मतावाद (फेनामेनलिज्म) को आत्मा के सदृश किसी वस्तु के आधार की आवश्यकता थी। हम यह भी देखते है कि क्षणिक हेतु-फल-भाव का यह अव्युच्छिन्न ओघ प्राचीन प्रतीत्यसमुत्पाद का समुचित रूप था।

शुआन च्वाँग कहते है कि आलय-विज्ञान के अभाव मे जो धर्मों के बीजो का धारण करता है हेतु-फल-भाव असिद्ध हो जायगा। जैसा हमने ऊपर देखा है, क्षणिक होने के कारण विज्ञान निरन्तर व्युच्छिन्न होते है और इसलिए वह स्वत मिलने का सामर्थ्य नही रखते, जिसमें वह सूत्र बन सके, जो धर्मों के बीजो का धारण करे और इस प्रकार नैरन्तर्य व्यवस्थापित करे। धर्मों को जोडनेवाली यह कडी और यह नैरन्तर्य आलय-विज्ञान से ही हो सकता है।

आलय-विज्ञान के विना कर्म और फल की उत्पत्ति अहेतुक होगी। वस्तुत, आलय के विना धर्म स्वत बीज के वहन में समर्थ नही है, क्योकि अतीत धर्म का अस्तित्व नही है और वह हेतु नही हो सकता। आलय के विना हेतुप्रत्ययता असम्भव है।

यह कहा जायगा कि आलय-विज्ञान का सिद्धान्त बौद्धो के मूल धर्मवाद का प्रत्याख्यान है। नागार्जुन ने सर्वप्रथम इसका प्रत्याख्यान किया था। उन्होने धर्म-नैरात्म्य, धर्मो की नि स्व-भावता का वाद प्रतिष्ठापित किया था। उन्होने धर्मसंज्ञा का विवेचन किया और कालवाद का निराकरण किया। उन्होने सिद्ध किया कि धर्म शून्य है। शुआन-च्वाँग एक दूसरे विचार से आरम्भ करते है, किन्तु वह भी धर्मवाद के कुछ कम विरुद्ध नही है। क्षणिक धर्मो और चैत्तो का निरन्तर उत्पाद एक नित्य अधिष्ठान चाहता है, किन्तु बौद्ध-धर्म के मूल विचार इस कल्पना के विरुद्ध है।

शुआन-च्वाँग आलय-विज्ञान की नितान्त आवश्यकता मानते है, क्योकि इसके विना सत्त्व गति-योनि मे ससरण नही कर सकते। विज्ञानवाद तथा उपनिषद्-वेदान्त-साख्य-वैशेषिक विचारो में भेद इतना ही है कि यह मानते है कि अधिष्ठान (जिसे यह आत्मा या पुरुष कहते है) नित्य और स्थिर द्रव्य है, जब कि विज्ञानवादी मानते है कि यह आश्रय उन्ही धर्मो का समुदाय है, जो

अनादि है और जो अनन्तकाल तक उत्पन्न होते रहेंगे। एक उसको अचल पर्वत की तरह देखता है, दूसरा जलौघ की तरह। विज्ञानवादी ने द्रव्य को अपना पुराना स्थान देना चाहा, किन्तु यह सत्य है कि इस द्रव्य को उन्होने एक जलौघ के सदृश माना। पुन इनके अनुसार यह आश्रय स्वय धर्म है और पूर्व धर्मो की वासनाओ से बना है।

शुआन-च्वांग कहते हैं कि यह आलय-विज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है और विज्ञप्ति-क्रिया तथा आलम्बन में यह असविदित है। यह मरण के उत्तर तथा प्रतिसन्धि के पूर्व रहता है। पुन यह प्रतिसन्धि-चित्त और मरण-चित्त है। यह विज्ञान का आलय जो अनियत और असविदित है, जो प्रतिसन्धि-काल से विद्यमान है, जो अस्वप्निका निद्रा में ही प्रकट होता है। यह आत्मा का रूपान्तर नही है तो क्या है?

यहां आलय-विज्ञान के वही लक्षण है, जो आत्मा के हैं, और इसके सिद्ध करने के लिए शुआन-च्वांग ने जो प्रमाण दिये है, वही प्रमाण कुछ वेदान्ती ब्रह्मन्-आत्मन् को सिद्ध करने के लिए देंगे। कलल में, सुषुप्ति मे, मरणासन्न पुरुष में, नामरूप के अभाव मे जब विज्ञान-विशेष नही होते, केवल यह अस्पष्ट, सर्वगत विज्ञान शेष रहा जाता है। इसके बिना इन क्षणो में स्थिति नही होती। आलय-विज्ञान की सिद्धि इससे भी होती है कि काय-जीवित को धारण करने के लिए विज्ञानाहार की आवश्यकता है। यह आलय एकजातीय, सन्तानात्मक और निरन्तर है। यह काय-जीवित का धारक है। काय के लिए यह जीवितेन्द्रिय के समान है। चित्त का यह आवश्यक धारक है। यह सर्व चित्त और जीवन का आधार है। आलय-विज्ञान और धर्म अन्योन्य हेतु-प्रत्यय है और सहभू हैं।

विपाक-विज्ञान का सविभग विवेचन समाप्त हुआ। अब हम मननाख्य द्वितीय परिणाम का विचार करेंगे।

विज्ञान का द्वितीय परिणाम 'मन'

यह द्वितीय परिणाम है। वसुबन्धु त्रिंशिका में कहते हैं—"आलय-विज्ञान का आश्रय लेकर और उसको आलम्बन बनाकर मनस् का प्रवर्तन होता है। यह मन्यनात्मक है।" यह मनोविज्ञान से भिन्न है। यह मनोविज्ञान का आश्रय है। पूसें कहते हैं कि प्राचीन बौद्ध-धर्म में छ विज्ञान माने गये थे —चक्षुर्विज्ञानादि पचविज्ञानकाय और मनोविज्ञान, जो इन्द्रियार्थ और अतीतादि धर्म का ग्रहण करता है। यह विज्ञान निरन्तर व्युच्छिन्न होते है। विज्ञानवाद में एक सातवां विज्ञान मनस् और एक आठवां आलय अधिक है। मनस् मनोविज्ञान से भिन्न है। मनस् अन्तरिन्द्रिय, अन्त करण है, क्योकि यह केवल आलय को ही आलम्बन बनाता है। यह मनस् आलय के समान सन्तान में उत्पन्न होता है। निद्रादि अचित्तकावस्था में इनका अवस्थान होता है। विज्ञानवादी कहता है कि यह सूक्ष्म है। यह मनस् आर्य में अनास्रव तथा अन्य सत्त्वो में सदा क्लिष्ट होता है। मनस् को प्राय 'क्लिष्ट मनस्' कहते हैं। इसी के कारण पृथग्जन आर्य नही होता, यद्यपि उसका मनोविज्ञान आर्य का क्यो न हो।

शुआन-च्वाँग कहते है कि मनस् का आश्रय आलय-विज्ञान है। सब चित्त-चैत्तो के तीन आश्रय है: १. हेतु-प्रत्यय आश्रय—यह प्रत्यय-बीज है, जिसे पूर्वधर्म छोडते है। २ अधिपति-प्रत्यय आश्रय (इसे सहभू-आश्रय भी कहते हैं)। ३. समनन्तर-प्रत्यय आश्रय—यह पूर्वनिरुद्ध मनस् है। मनस् मे आठ विज्ञान सगृहीत है। इसे क्रान्त-प्रत्यय या इन्द्रिय कहते है।

हीनयान के लिए यह हेतु-प्रत्ययता पर्याप्त है। प्रत्येक पूर्वधर्म अपर धर्म को उत्पन्न कर निरुद्ध होता है। इसके विपरीत शुआन-च्वाँग का मत है कि ऐसी हेतु-प्रत्ययता धर्मों की गति का निरूपण करने के लिए अपर्याप्त है। शुआन-च्वाँग यहाँ धर्मपाल को उद्धृत करते है, जो कहते है कि बीजाश्रय मे पूर्व-चरिम नही है। यह सिद्ध नही है कि बीज के विनाश के पश्चात् अकुर की उत्पत्ति होती है। और, यह ज्ञात है कि अर्चि और दीप अन्योन्य-हेतु और सहभू-हेतु है। हेतु-फल का सहभाव है, इसलिए एक अधिपति-प्रत्यय आश्रय की आवश्यकता है। सब चित्त-चत्त इस आश्रय के कारण होते है और इसके बिना इनका प्रवर्त्तन नही होता। इसे सहभू-आश्रय या सहभू-इन्द्रिय भी कहते है। इसीलिए, मनस् का आश्रय केवल बीज नही हैं, किन्तु आलय-विज्ञान स्वय है।

आलय-विज्ञान के लिए प्रश्न है कि क्या इसको सहभू-आश्रय की आवश्यकता नही है, और क्या यह स्वय अवस्थान करता है? अथवा क्या यह कहना चाहिए कि यह अन्य सबका आश्रय है, और पर्याय से अन्य सब इसके आश्रय है, और यह आश्रय उन बीजो के रूप मे है, जिन्हें दूसरे उसमे सगृहीत करते हैं? शुआन-च्वाँग कहते है कि आलय-विज्ञान, जो सबका मूल आश्रय है, स्वय अपने आश्रित मनस् और तदाश्रित चित्त-चैत्त (प्रवृत्ति-विज्ञान) का आश्रय लेता है। दूसरे शब्दो मे, जहाँ एक ओर आलय-विज्ञान निरन्तर विज्ञप्तियो का प्रवर्त्तन करता है, वहाँ यह सदा विज्ञानो के उच्छेद (बीज) से जो उसमें सगृहीत होते है, पुन निर्मित होता है। यह कहना आवश्यक है, क्योकि इसके बिना शुआन-च्वाँग का आलय-विज्ञान केवल ब्रह्मन्-आत्मन् होता।

समनन्तर प्रत्यय-आश्रय के अभाव में चित्त-चैत्त उत्पन्न नही होते। चैत्त प्रत्यय है, क्रान्त (= क्रम) आश्रय नही है। किन्तु, चित्त आश्रय है, अत चित्त दोनो है।

मनस् के आश्रय

मनस् के आश्रय के सम्बन्ध मे हम यहाँ विविध मतों का उल्लेख करेंगे।

नन्द के अनुसार मनस् का आश्रय सम्भूत अष्टम विज्ञान नही है, किन्तु अष्टम विज्ञान के बीज है। यह मनस् के ही बीज है, जो अष्टम मे पाये जाते हैं, क्योकि मनस् अव्युच्छिन्न है। इस-लिए हम यह नही कह सकते कि इसकी उत्पत्ति एक सम्भूत विज्ञान के सहभू-आश्रय मे होनी है।

धर्मपाल के अनुसार मनस् का आश्रय सम्भूत अष्टम विज्ञान और अष्टम के बीज दोनों है। यद्यपि यह अव्युच्छिन्न है, तथापि यह विकारी है, और इसलिए इसे प्रवृत्ति-विज्ञान कहते है। अत, हमको कहना चाहिए कि सम्भूत अष्टम इसका सहभू-आश्रय है।

हेतु-प्रत्यय-आश्रय—नन्द और जिनपुत्र के अनुसार फलोत्पाद के लिए बीज का अवश्य नाश होता है। किन्तु, धर्मपाल कहते है कि यह सिद्ध नही है कि बीज के विनाश के

पश्चात् अकुर की उत्पत्ति होती है, और हम जानते है कि अर्चि और दीप अन्योन्य-हेतु और सहभू-हेतु है। वह कहते हैं कि वीज और सम्भूय धर्म अन्योन्योत्पाद करते है और सहभू है। इसीलिए, योगशास्त्र (५ । १२) में हेतु-प्रत्यय का लक्षण इस प्रकार दिया है—अनित्य धर्म (वीज और सम्भूय धर्म) अन्योन्य-हेतु है, और पूर्व वीज अपर वीज का हेतु है।

इसी प्रकार महायान-सग्रह में कहा है कि 'आलय-विज्ञान और (सम्भूय) क्लिष्ट धर्म एक दूसरे के हेतु-प्रत्यय हैं।' यथा नडकलाप होते है, और एक साथ अवस्थान करते है। इसी ग्रन्थ मे (३८९ । ३) अन्यत्र कहा है कि वीज और फल सहभू है।

अत, वीजाश्रय में पूर्व-चरिम नही हे। अष्टम विज्ञान और उसके चैत्तो का आश्रय उनके वीज हैं।

सहभू-आश्रय या अधिपति-आश्रय—नन्द के मत में पाँच विज्ञान (चक्षुर्विज्ञानादि) का एकमात्र सहभू-आश्रय मनोविज्ञान है, क्योकि जव पचविज्ञानकाय का समुदाचार होता है, तव मनोविज्ञान भी अवश्य होता है। जिन्हें इन्द्रिय कहते हैं, वह पचविज्ञानो के सहभू-आश्रय नही है, क्योकि पचेन्द्रिय वीजमात्र हैं, जैसा कि विंशतिका (कारिका, ९) मे कहा है। इस कारिका का यह अभिप्राय है कि द्वादशायतन की व्यवस्था के लिए और आत्मा मे प्रतिपन्न तीर्थिको का खण्डन करने के लिए वुद्ध पाँच विज्ञान के वीजो को इन्द्रिय सज्ञा देते है।

सप्तम और अष्टम विज्ञान का कोई सहभू-आश्रय नही है, क्योकि इनका वडा सामर्थ्य है और इस कारण यह सन्तान मे उत्पन्न होते हैं।

मनोविज्ञान की उत्पत्ति उसके सहभू-आश्रय मनस् से है।

स्थिरमति के मत में पाँच विज्ञानो के सदा दो सहभू आश्रय होते है पाँच रूपीन्द्रिय और मनोविज्ञान। मनोविज्ञान का सदा एक सहभू आश्रय होता है और यह मनस् है। जव यह पाँच विज्ञानों का सहभू होता है, तव इसका रूपीन्द्रिय भी आश्रय होता है। मनस् का एक ही सहभू आश्रय है और यह अष्टम विज्ञान है। अष्टम विज्ञान विकारी नही है। यह स्वत धृत होता है, अत इसका सहभू आश्रय नही है।

स्थिरमति नन्द के इस मत को नही मानत कि रूपीन्द्रिय पाँच विज्ञानो के वीजमात्र है। वह कहते है कि यदि यह वीज है, तो यह हेतु-प्रत्यय होगे, अधिपति-प्रत्यय नही। पाँच विज्ञान के वीज कुशल-अकुशल होगे। अत, पाँच इन्द्रिय एकान्तेन अव्याकृत न होगी, जैसा शास्त्र कहते है। पाँच विज्ञान के वीज 'उपात्त' नही है। यदि पचेन्द्रिय वीज है, तो वह उपात्त न होगी। यदि पाँच इन्द्रिय पाँच विज्ञानो के वीज है, तो मनस् को मनोविज्ञान का वीज मानना पडेगा। पुन योगशास्त्र में चक्षुर्विज्ञानादि के तीन आश्रय वताये है। यदि चक्षु चक्षुर्विज्ञान का वीज है, तो इसके केवल दो आश्रय होगे।

धर्मपाल इन आक्षेपो को दूर करते है। वह कहते है कि इन्द्रिय वीज हैं। किन्तु, यह वह वीज नही, जो हेतु-प्रत्यय है, जो प्रत्यक्ष पाँच विज्ञानो को जन्म देते है, किन्तु यह कर्म-बीज है,

जो अधिपति-प्रत्यय हैं, जो पचविज्ञान काय को अभिनिर्वृत करते हैं। किन्तु, स्थिरमति इस निरूपण से सन्तुष्ट नही है। वह इसका उत्तर देते हैं।

शुभचन्द्र प्राय स्थिरमति से सहमत है। किन्तु, वह कहते हैं कि अष्टम विज्ञान का एक सहभू आश्रय होना चाहिए। वह कहते है कि अष्टम विज्ञान भी अन्य विज्ञानो के सदृश एक विज्ञान है। अत, दूसरो की तरह इसका भी एक सहभू आश्रय होना चाहिए। सप्तम और अष्टम विज्ञान की सदा सहप्रवृत्ति होती है। इसके मानने में क्या आपत्ति है कि यह एक दूसरे के आश्रय है ?

शुभचन्द्र का मत है कि अष्टम विज्ञान (सम्भूय विज्ञान) का सहभू आश्रय मनस् है। जब कामधातु और रूपधातु मे इसकी उत्पत्ति है, तब चक्षु आदि रूपीन्द्रिय इसके द्वितीय आश्रय होते है। बीज का आश्रय सम्भूय अष्टम या विपाक-विज्ञान है। जिस क्षण मे वह इसमे वासित होते है, तब उनका आश्रय वह विज्ञान भी होता है, जो वासित करता है।

धर्मपाल के मत मे पाँच विज्ञानो के चार सहभू आश्रय है—पचेन्द्रिय, मनोविज्ञान, सप्तम, अष्टम विज्ञान। इन्द्रिय पच-विज्ञान के समविपय-आश्रय है, क्योकि यह उन्ही विषयो का ग्रहण करती हैं। मनोविज्ञान विकल्पाश्रय है। मनोविज्ञान सविकल्पक है, किन्तु अविकल्पक विज्ञानो का आश्रय है। मनस् सक्लेश-व्यवदान-आश्रय है, क्योकि इसपर इनका सक्लेश अथवा व्यवदान आश्रित है। अष्टम विज्ञान मूलाश्रय है। मनोविज्ञान के दो सहभू आश्रय है—सप्तम और अष्टम विज्ञान। जब पचविज्ञान इसके आश्रय होते हैं, तब यह अधिक पटु होता है, किन्तु मनोविज्ञान के अस्तित्व के लिए पचविज्ञान आवश्यक नही हैं, अत वह उसके आश्रय नही माने जाते। मनस् का केवल एक सहभू आश्रय है। यह अष्टम विज्ञान है, यथा लकावतार (१०।२६९) में कहा है—आलय का आश्रय लेकर मन का प्रवर्त्तन होता है। अन्य प्रवृत्ति-विज्ञानो का प्रवर्त्तन चित्त (आलय) और मनस् का आश्रय लेकर होता है।

अष्टम विज्ञान का सहभू आश्रय सप्तम विज्ञान है। योगशास्त्र (६३। ११) में कहा है कि सदा आलय और मनस् एक साथ प्रवर्त्तित होते हैं। अन्यत्र कहा है कि आलय सदा क्लिष्ट पर आश्रित होता है। 'क्लिष्ट' से 'मनस्' इष्ट है।

यह सत्य है कि शास्त्र में उपदिष्ट है कि तीन अवस्थाओ मे (अर्हत् मे, निरोध-समापत्ति-काल मे, लोकोत्तर मार्ग मे) मनस् का अभाव होता है। किन्तु, इसका यह अर्थ है कि इन तीन अवस्थाओ में निर्वृत मनस् का अभाव होता है, सप्तम विज्ञान का नही। इसी प्रकार चार अवस्थाओ में (श्रावक, प्रत्येकबुद्ध, अवैवर्तिक बोधिसत्त्व, तथागत) आलय की व्यावृत्ति होती है, किन्तु अष्टम विज्ञान की नही होती।

जब अष्टम विज्ञान की उत्पत्ति काम-रूपधातु मे होती है, तब पाँच रूपीन्द्रिय भी आश्रय-रूप मे गृहीत होती हैं। किन्तु, अष्टम विज्ञान के लिए आश्रय का यह प्रकार आवश्यक नही है।

आलय-विज्ञान के बीज (बीज-विज्ञान) विपय का ग्रहण नही करते। अत, बीज आश्रय नही हैं।

सम्प्रयुक्त धर्म (चैत्त) का वह विज्ञान आश्रय है, जिससे वह सम्प्रयुक्त है। इस विज्ञान के आश्रय भी चैत्त के आश्रय हैं।

समनन्तर-प्रत्यय-आश्रय और क्रान्त-आश्रय—नन्द के मत में पचविज्ञान का उत्तरोत्तर क्षण-सन्तान नहीं होता; क्योंकि इसका आवाहन मनोविज्ञान से होता है। अत, मनोविज्ञान उनका एकमात्र क्रान्त-आश्रय है। क्रान्त-आश्रय मार्ग का उद्घाटन करता है और पथ-प्रदर्शक होता है। (पचविज्ञान के समनन्तर मनोविज्ञान होता है। चक्षुर्विज्ञान के क्षण के उत्तर चक्षुर्विज्ञान या श्रोत्र-विज्ञान का क्षण नही होता, किन्तु मनोविज्ञान का क्षण होता है।)

मनोविज्ञान का सन्तान होता है। पुन पचविज्ञान इसका आवाहन कर सकते हैं। अत, छ प्रवृत्ति-विज्ञान इसके क्रान्त-आश्रय हैं।

सप्तम और अष्टम विज्ञान का अपना अपना-सन्तान होता है। अन्य विज्ञान इसका आवाहन नहीं करते। अत, सप्तम और अष्टम क्रम से इनके क्रान्त-आश्रय हैं।

स्थिरमति के मत मे नन्द का मत यथार्थ है, यदि हम अवशित्व की अवस्था में, विषय से विज्ञान का सहसा सन्निपात होने की अवस्था मे, एक ही विषय से सन्निपात की अवस्था में, पचविज्ञान का विचार करे। किन्तु वशित्व की अवस्था का, निष्यन्द-विज्ञान का, उद्भूत वृत्ति के विषय का हमको विचार करना है।

बुद्ध तथा अन्तिम तीन भूमियों के बोधिसत्त्व विषय-वशित्व से समन्वागत होते हैं। इनकी इन्द्रियों की क्रिया स्वरसेन होती है। यह पर्येषणा से वियुक्त होता है। एक इन्द्रिय की क्रिया दूसरी इन्द्रिय से सम्पन्न हो सकती है। क्या आप कहेंगे कि इन अवस्थाओ मे पचविज्ञान का सन्तान नहीं होता?

विषय के सन्निपात मे पचविज्ञान की उत्पत्ति होती है। किन्तु, निष्यन्द-विज्ञान का आवाहन-व्यवसाय मनस्कार के बल से, क्लिष्ट अथवा अनास्रव मनस्कार के बल से होता है। इन पाँच का (मनोविज्ञान के साथ) विषय में समवधान होता है। आप यह कैसे नही स्वीकार करते कि एक विज्ञान (पचविज्ञान) सन्तान है?

उद्भूत वृत्ति के विषय मे सम्मुखीभाव से काय और चित्त ध्वस्त हो जाते हैं। उस समय पचविज्ञानकाय अवश्यमेव सन्तान में उत्पन्न होते हैं।

उष्ण नरक मे (अग्नि के उद्भूतवृत्तित्व से) तथा क्रीडा-प्रदूषिक देवो मे ऐसा होता है। अत, पचविज्ञान का क्रान्त-आश्रय छ विज्ञानो में से कोई भी एक विज्ञान हो सकता है। वस्तुतः, या तो वह अपना ही सन्तान बनाते हैं, या अन्य प्रकार के विज्ञान से उनका आवाहन होता है।

मनोविज्ञान—जब पचविज्ञान की उत्पत्ति होती है, तब मनोविज्ञान का एक क्षण अवश्य वर्त्तमान होता है। यह क्षण मनोविज्ञान के उत्तर क्षण को आकृष्ट करता है, और उसका उत्पाद करता है। इस द्वितीय क्षण के यह पाँच क्रान्त-आश्रय नहीं हैं। अत, पूर्ववर्त्ती

मनोविज्ञान इसका क्रान्त-आश्रय है। अचित्तकावस्था आदि मे मनोविज्ञान व्युच्छिन्न होता है। जब पश्चात् इसकी पुन उत्पत्ति होती है, तब सप्तम और अष्टम विज्ञान इसके क्रान्त-आश्रय होते हैं।

नन्द का विचार है कि अचित्तकावस्था के पश्चात् मनोविज्ञान का क्रान्त-आश्रय सभाग अतीत क्षण (= इस अवस्था से पूर्व का मनोविज्ञान) होता है। इस बात को नन्द उन पाँच विज्ञानो के लिए क्यो नही स्वीकार करते, जिनकी पुनरुत्पत्ति उपच्छेद के पश्चात् होती है? यदि पचविज्ञान के लिए यह वाद युक्त नही है, तो मनोविज्ञान के लिए भी नही है।

सप्तम और अष्टम विज्ञान—जब प्रथम बार समता-ज्ञान से सम्प्रयुक्त मनस् की उत्पत्ति होती है, तब यह प्रत्यक्ष ही मनोविज्ञान के कारण होती है। अत, मनोविज्ञान इसका क्रान्त-आश्रय है। मनस् का क्रान्त-आश्रय मनस् भी है।

इसी प्रकार, आदर्श ज्ञान से सम्प्रयुक्त अष्टम विमल विज्ञान की उत्पत्ति सप्तम और षष्ठ विज्ञान के क्रान्त-आश्रय से होती है। अष्टम विज्ञान का क्रान्त-आश्रय अष्टम भी है।

धर्मपाल का मत—स्थिरमति का सिद्धान्त सुष्ठु नही है।

कौन से धर्म क्रान्त-आश्रय हो सकते हैं? जो धर्म सालम्बन हैं, जो अधिपति हैं, जो समनन्तर-प्रत्यय हैं। जिन धर्मों मे यह लक्षण होते हैं—अधिपति-चित्त के पूर्व क्षण—वह उत्तर चित्त-चैत्त के प्रति क्रान्त-आश्रय होते हैं, क्योकि वह मार्ग का उद्घाटन करते हैं और उनको इस प्रकार आकृष्ट करते हैं कि उनकी उत्पत्ति होती है। यह केवल चित्त हैं, चैत्त या रूपादि नही हैं।

एक ही आश्रय मे आठ विज्ञान एक साथ प्रवर्त्तित हो सकते हैं। एक विसभाग विज्ञान दूसरे विसभाग विज्ञान का क्रान्त-आश्रय कैसे हो सकता है। यदि कोई यह कहे कि यह क्रान्त-आश्रय हो सकता है, तो यह परिणाम निकलता है कि विसभाग विज्ञान एक साथ उत्पन्न नही हो सकते। किन्तु, यह सर्वास्तिवादिन् का मत है।

एक ही आश्रय मे भिन्न विज्ञान—चाहे अल्पसख्या में या बहुसख्या मे—एक साथ उत्पन्न होते हैं। यदि कोई यह मानता है कि यह एक दूसरे के समनन्तर-प्रत्यय हैं, तो रूप भी रूप का समनन्तर-प्रत्यय होगा। किन्तु, शास्त्र कहता है कि केवल चित्त-चैत्त समनन्तर-प्रत्यय हैं।

हमारा सिद्धान्त है कि आठ विज्ञानो मे से प्रत्येक स्वजाति के धर्मों का क्रान्त-आश्रय है। चैत्तो के लिए भी यही नियम है।

मनस् का आलम्बन

अब हम मनस् के आलम्बन का विचार करते हैं। मनस् का आलम्बन वही विज्ञान है, जो उसका आश्रय है, अर्थात् आलय-विज्ञान है। हम यह भी विचार करेंगे कि आलम्बन आलय-विज्ञान का स्वभाव है या यह केवल उसका आकार है, जिन्हें आलय-विज्ञान स्वरसेन धारण करता है (बीज, चैत्त, धर्म)।

नन्द का मत—मनस् का आलम्बन आलय-विज्ञान का स्वभाव और तत्सम्प्रयुक्त चैत्त है। निमित्तभाग और आलय-विज्ञान के बीज मनस् के आलम्बन नही है। वस्तुत, योगशास्त्र

के अनुसार मनस् आत्मग्राह और आत्मीयग्राह से सदा सहगत होता है, यह आलय को आत्मवत् और तत्सम्प्रयुक्त धर्मों को आत्मीय अवधारित करता है। यह धर्म आलय के चैत्त हैं। अत, यह उससे व्यतिरिक्त नहीं है। अत, यह व्याख्यान उन वचनो के विरुद्ध नही है, जिनके अनुसार मनस् का आलम्बन केवल आलय-विज्ञान है।

चित्रभानु का मत—नन्द का मत अयुक्त है। उनके मत के समर्थन मे कोई शास्त्रवचन नहीं है। मनस् का आलम्बन दर्शनभाग और निमित्तभाग है। मनस् इनको क्रम से आत्म, आत्मीय अवधारित करता है। किन्तु, इन दो भागो के स्वभाव आलय में (स्वसंवित्ति-भाग में) ही हैं।

स्थिरमति का मत—चित्रभानु का मत भी अयुक्त है। मनस् स्वय आलय-विज्ञान और उनके बीजो को आलम्बन बनाता है। यह आलय को आत्मन् और बीजो को आत्मीय अवधारित करता है। बीज भूतसद्द्रव्य नहीं हैं, किन्तु प्रवृत्ति-विज्ञान के सामर्थ्यमात्र हैं।

धर्मपाल का मत—स्थिरमति का व्याख्यान अयुक्त है। एक ओर रूप-बीजादि विज्ञान-स्कन्ध नहीं हैं। बीज भूतसत् हैं। यदि यह सावृत असत् हो, तो यह हेतु-प्रत्यय न हो। दूसरी ओर मनस् सदा सहज सत्कायदृष्टि से सहगत होता है। यह एकजातीय निरन्तर सन्तान में स्वरसेन प्रवर्त्तित होता है। क्या मनस् का आत्मा और आत्मीय को अलग-अलग अवधारित करना सम्भव है ? हम नहीं देखते कि कैसे एक चित्त के शाश्वत उच्छेद आदि दो आलम्बन और दो ग्राह हो सकते हैं, और मनस् के, जो सदा से एकरस प्रवर्त्तित होता है, दो उत्तरोत्तर ग्राह नही हो सकते। धर्मपाल का निश्चय है कि मनस् का आलम्बन केवल दर्शनभाग है, न कि अन्य भाग, क्योकि यह भाग सदा एकजातीय निरन्तर सन्तान होता है, और नित्य तथा एक प्रतीत होता है, और क्योंकि यह सब धर्मो का (चैत्तो को वर्जित कर) निरन्तर आश्रय है। इसी भाग को मनस् अध्यात्म आत्मा अवधारित करता है। किन्तु, शास्त्रवचन है कि मनस् में आत्मीयग्राह होता है। यह एक कठिनाई है। हमारा कहना है कि यह भाष्याक्षेप है।

धर्मपाल के मत का यह परिणाम है कि विज्ञानवाद, जो मूल में अद्वयवाद था, आत्मवाद की ओर झुकता है। आलय-विज्ञान में एक दर्शनभाग को मुख्यत विशिष्ट करना और यह कहना कि केवल यही आकार, यही भाग, मनस् का आलम्बन है, कदाचित् यह कहने के बराबर हो जाता कि आलय-विज्ञान अव्यक्त ब्रह्म भी नही, आत्मा के समान है।

जबतक मनस् अपरावृत्त है, तबतक मनस् का आलय-विज्ञान ही एकमात्र आलम्बन होता है। जब आश्रय-परावृत्ति होती है, तब अष्टम विज्ञान के अतिरिक्त भूततथता और अन्य धर्म भी इसके आलम्बन होते है।

मनस् के सम्प्रयोग

कितने चैत्तो से मनस् सम्प्रयुक्त होता है ? मनस् सदा चार क्लेशो से सम्प्रयुक्त होता है। यह चार मूल क्लेश इस प्रकार हैं—१. आत्ममोह　यह अविद्या का दूसरा नाम है। यह आत्मा के विषय में मोह और अनात्मा में विप्रतिपत्ति उत्पन्न करता है। २. आत्मदृष्टि　यह आत्मग्राह है, जिससे पुद्गल अनात्म धर्मो को आत्मवत् ग्रहण करता है। ३. आत्ममान　यह गर्व है,

जो कल्पित आत्मा का आश्रय लेकर चित्त की उन्नति करता है। ४. आत्मस्नेह : यह आत्म-प्रेम है, जो आत्मा में अभिष्वग उत्पन्न करता है।

इन चार क्लेशो के अतिरिक्त अन्य चैत्तो से क्या मनस् का सम्प्रयोग नही होता ?

एक मत के अनुसार मनस् का सम्प्रयोग केवल नौ चैत्तो से होता है—चार मूल क्लेश और स्पर्शादि पाँच सर्वत्रग।

कारिका में उक्त है कि आलय-विज्ञान सर्वत्रग से सहगत है। यह दिखाने के लिए कि मनस् के सर्वत्रग आलय के सर्वत्रगो के सदृश अनिवृताव्याकृत नही है। कारिका कहती है कि यह उनसे अन्य है। चार क्लेश और पाँच सर्वत्रग मनस् से सदा सम्प्रयुक्त होते है। मनस् पाँच विनियत, ग्यारह कुशल, उपक्लेश और चार अनियत से सम्प्रयुक्त नही होता।

दूसरे मत के अनुसार कारिका का अह अर्थ है कि मनस् से सहगत चार क्लेश, अन्य (अर्थात् उपक्लेश) और स्पर्शादि पच होते है।

तीसरे मत के अनुसार यह दस उपक्लेशो से सम्प्रयुक्त होता है।

धर्मपाल के अनुसार सर्वक्लिष्ट चित्त आठ उपक्लेशो से सम्प्रयुक्त होता है। अत , मनस् स्पर्शादि पाँच सर्वत्रग, चार मूल क्लेश, आठ उपक्लेश और एक प्रज्ञा से युक्त होता है।

किन वेदनाओ से क्लिष्ट मनस् सम्प्रयुक्त होता है ? एक मत के अनुसार यह केवल सौमनस्य से सम्प्रयुक्त होता है, क्योकि यह आलय को आत्मवत् अवधारित करता है और उसके लिए सौमनस्य और प्रेम का उत्पाद करता है।

दूसरे मत के अनुसार मनस् चार वेदनाओ से यथायोग सम्प्रयुक्त होता है। दुर्गति मे दौर्मनस्य से, मनुष्यगति, कामधातु के देवो की गति मे, प्रथम-द्वितीय ध्यानभूमि के देवो मे सौमनस्य से, तृतीय ध्यान-भूमि के देवो मे सुखावेदना से, इससे ऊर्ध्व उपेक्षा-वेदना से मनस् सम्प्रयुक्त होता है।

तीसरा मत है, जिसके अनुसार मनस् सदा से स्वरसेन एकजातीय प्रवर्त्तित होता है। यह अविकारी है। अत , यह उन वेदनाओ से सम्प्रयुक्त नही है जो विकारशील है। अत , यह केवल उपेक्षा-वेदना से सम्प्रयुक्त है। यदि इस विषय मे आलय से भेद निर्दिष्ट करना होता, तो कारिका में ऐसा उक्त होता।

मनस् के चैत्त निवृताव्याकृत है। मनस् से सम्प्रयुक्त चार क्लेश क्लिष्ट धर्म है। यह मार्ग मे अन्तराय है, अतः यह निवृत है। यह न कुशल है, न अकुशल, अत अव्याकृत है।

मनस् से सम्प्रयुक्त क्लेशो का आश्रय सूक्ष्म है, उनका प्रवर्त्तन स्वरसेन होता है। अत , यह अव्याकृत है।

मनस् के चैत्तो की कौन-सी भूमि है ?

जब अष्टम विज्ञान की उत्पत्ति कामधातु मे होती है, तब मनस् से सम्प्रयुक्त चैत्त (यथा आत्मदृष्टि) कामाप्त होते हैं, और इसी प्रकार यावत् भवाग्र समझना चाहिए। यह स्वरसेन प्रवर्त्तित होते हैं, और सदा स्वभूमि के आलय-विज्ञान को आलम्बन बनाते है। यह अन्य भूमि के धर्मों को कभी आलम्बन नही बनाते। आलय-विज्ञान मे प्रत्येक भूमि के बीज है, किन्तु जब

यह किसी भूमि के कर्मों का विपाक होता है, तब कहा जाता है कि यह भूमिविशेप से उत्पन्न हुआ है। मनस् आलय में प्रतिवद्ध होता है। अत, इसे आलय-विज्ञानमय कहते हैं। अथवा मनस् उस भूमि के क्लेशो से वद्ध होता है, जहाँ आलय की उत्पत्ति होती है। आश्रय-परावृत्ति होने पर मनस् भूमियो से वियुक्त होता है।

यदि यह क्लिष्ट मनस् कुशल-क्लिष्ट-अव्याकृत अवस्थाओ में अविशेप रूप से प्रवर्त्तित होता है, तब उसकी निवृत्ति नही होती। यदि मनस् की निवृत्ति नही होती, तो मोक्ष कहाँ से होगा ? मोक्ष का अभाव नही है, क्योकि अर्हत् के क्लिष्ट मनस् नही होता। उसने अशेप क्लेश का प्रहाण किया है।

मनस् से सम्प्रयुक्त क्लेश सहज होते हैं। अत, दर्शन-मार्ग से उनका (वीज रूप में) प्रहाण या उपच्छेद नही होता, क्योकि इनका स्वरसेन उत्पाद होता है। क्लिष्ट होने के कारण यह अहेय भी नही है।

इन क्लेशो के वीज जो सूक्ष्म हैं, तभी प्रहीण होते हैं, जब भवाग्रिक क्लेश-वीज सकृत् प्रहीण होते हैं, तब योगी अर्हत् होता है और क्लिष्ट मनस् का प्रहाण होता है। अर्हत् में वह वोधिसत्त्व भी सगृहीत हैं, जो दो यानो के अशैक्ष होने के पश्चात् वोधिसत्त्व के गोत्र में प्रवेश करते हैं।

निरोध-समापत्ति की अवस्था में भी क्लिष्ट मनस् निरुद्ध होता है। यह अवस्था शान्त और निर्वाण-सदृश होती है। अत, क्लिष्ट मनस् उस समय निरुद्ध होता है, किन्तु मनस् के वीजो का विच्छेदक नही होता। जब योगी समापत्ति से व्युत्थित होता है, तब मनस् का पुन प्रवर्त्तन होता है।

लोकोत्तर मार्ग मे भी क्लिष्ट मनस् नही होता। लौकिक मार्ग से क्लिष्ट मनस् का प्रवर्त्तन होता है। किन्तु, लोकोत्तर मार्ग में नैरात्म्य-दर्शन होता है, जो आत्मग्राह का प्रतिपक्षी है। उस अवस्था मे क्लिष्ट मनस् का प्रवर्त्तन नही हो सकता। अत, क्लिष्ट मनस् निरुद्ध होता है। उससे व्युत्थित होने पर क्लिष्ट मनस् का पुन उत्पाद होता है।

अक्लिष्ट मनस्

स्थिरमति के अनुसार मनस् अथवा सप्तम विज्ञान सदा क्लिष्ट होता है। जब क्लेशावरण का अभाव होता है, तब मनस् नही होता। वह अपने समर्थन में इन वचनो को उद्धृत करते हैं—१. मनस् सदा चार क्लेशो से सम्प्रयुक्त होता है (विख्यापन, १), २. मनस् विज्ञान-सक्लेश का आश्रय है (सग्रह, १), ३. मनस् का तीन अवस्थाओ में अभाव होता है।

धर्मपाल कहते हैं कि जब मनस् क्लिष्ट नही रहता, तब वह अपने स्वभाव (सप्तम विज्ञान) में अवस्थान करता है। वह कहते हैं कि स्थिरमति का मत आगम और युक्ति के विरुद्ध है।

१. सूत्रवचन है कि एक लोकोत्तर मनस् है ।

२. अक्लिष्ट और क्लिष्ट मनोविज्ञान का एक सहभू और विशेष आश्रय होना चाहिए ।

३. योगशास्त्र मे कहा है कि आलय-विज्ञान का सदा एक विज्ञान के साथ प्रवर्त्तन होता है । यह विज्ञान मनस् है । यदि निरोध-समापत्ति में मनस् या सप्तम विज्ञान निरुद्ध होता है (स्थिरमति), तो योगशास्त्र का यह वचन अयथार्थ होगा, क्योकि उस अवस्था मे आलय-विज्ञान होगा और उसके साथ दूसरा विज्ञान (मनम्) न होगा ।

४ योगशास्त्र मे कहा है कि क्लिष्ट मनस् अर्हत् की अवस्था मे नही होता । किन्तु, इससे यह परिणाम न निकालिए कि इस अवस्था में सप्तम विज्ञान का अभाव होता है । शास्त्र यह भी कहता है कि अर्हत् की अवस्था मे आलय-विज्ञान का त्याग होता है, किन्तु आप मानते हैं कि अर्हत् मे अष्टम विज्ञान होता है ।

५ अलकार और सग्रह में उक्त है कि सप्तम विज्ञान की परावृत्ति से समता-ज्ञान की प्राप्ति होती है । अन्य ज्ञानो के समान इस ज्ञान का भी एक तत्सम्प्रयुक्त अनास्रव विज्ञान आश्रय होना चाहिए । आश्रय के विना आश्रित चैत्त नही होता । अत , अनास्रव सप्तम विज्ञान के अभाव मे समता-ज्ञान का अभाव होगा । वस्तुत , यह नही माना जा सकता कि यह ज्ञान प्रथम छ विज्ञानो पर आश्रित है, क्योकि यह आदर्श ज्ञान की तरह निरन्तर रहता है ।

६. यदि अशैक्ष की अवस्था मे सप्तम विज्ञान का अभाव है, तो अष्टम विज्ञान का कोई सहभू आश्रय नही होता । किन्तु विज्ञान होने से इसका ऐसा आश्रय होना चाहिए ।

७. आप यह मानते हैं कि जिस सत्त्व ने पुद्गल-नैरात्म्य का साक्षात्कार नही किया है, उसमें आत्मग्राह सदा रहता है । किन्तु, जबतक धर्म-नैरात्म्य का साक्षात्कार नही होता, तबतक धर्मग्राह भी रहता है । यदि सप्तम विज्ञान होता है, तो इस धर्मग्राह का कौन-सा विज्ञान आश्रय होगा ? क्या अष्टम विज्ञान होगा ? यह असम्भव है, क्योकि अष्टम विज्ञान प्रज्ञा से रहित है । हमारा निश्चय है कि यानद्वय के आर्यो में मनस् का सदा प्रवर्त्तन होता है, क्योकि उन्होंने धर्म-नैरात्म्य का साक्षात्कार नही किया है ।

८ योगशास्त्र (५१, सग्रह) एक सप्तम विज्ञान के अस्तित्व की आवश्यकता को व्यवस्थित करता है, जो कि षष्ठ का आश्रय है । यदि लोकोत्तर मार्ग के उत्पाद के समय या अशैक्ष की अवस्था मे सप्तम विज्ञान का अभाव है, तो योगशास्त्र की युक्ति मे द्विविध दोष होगा ।

अत , पूर्वोक्त तीन अवस्थाओ में एक अक्लिष्ट मनस् रहता है । जिन वचनो मे यह कहा गया है कि वहाँ मनस् का अभाव है, वह क्लिष्ट मनस् का ही विचार करते हैं । यथा : आलय-विज्ञान का चार अवस्थाओ मे अभाव होता है, किन्तु अष्टम विज्ञान का वहाँ अभाव नही होता ।

मनस् और सप्तम विज्ञान के तीन विशेष हैं । यह पुद्गल-दृष्टि से या धर्मदृष्टि से या समता-ज्ञान से सम्प्रयुक्त होता है ।

जब पुद्‌गल-दृष्टि होती है, तब धर्मदृष्टि होती है, क्योकि आत्मग्राह धर्मग्राह पर आश्रित है ।

यानद्वय के आर्य आत्मग्राह का विच्छेद करते हैं, किन्तु यह धर्म-नैरात्म्य का साक्षात्कार नही करते । तथागत का मनस् सदा ममता-ज्ञान से सम्प्रयुक्त होता है । बोधिसत्त्व का मनस् भी तब समता-ज्ञान से सम्प्रयुक्त होता है, जब वह दर्शन-मार्ग का अभ्यास करते हैं या जब वह भावना-मार्ग मे धर्म-शून्यता-ज्ञान या उसके फल का अभ्यास करते है ।

मनस् की संज्ञा

मनस् मन्यनात्मक है । लकावतार मे कहा है—**मनसा मन्यते पुन** (१०।४००) । सर्वास्तिवादिन् कहते हैं कि अतीत मनोविज्ञान की सज्ञा मनस् है । षष्ठ आश्रय की प्रसिद्धि के लिए ऐसा है । उनके अनुसार जब वह प्रवृत्त होता है, तब उसे मनोविज्ञान कहते है । किन्तु, यह कैसे माना जा सकता है कि अतीत और क्रियाहीन होनेपर इसे मनस् की सज्ञा दी जा सकती है ?

अत , छ विज्ञानो से अन्य एक सप्तम विज्ञान है, जिसकी सदा मन्यना क्रिया होती है, और जिसे 'मनस्' कहते हैं ।

मनस् के दो कार्य है । यह मन्यना करता है, और आश्रय का काम देता है ।

विज्ञान का तृतीय परिणाम षड्‌विज्ञान

अब हम विज्ञान के तृतीय परिणाम का वर्णन करेंगे । यह षड्‌विध है । यह विषय की उपलब्धि है । विषय छ प्रकार के है—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य और धर्म । इनकी उपलब्धि विज्ञान कहलाती है । यह छ है—चक्षुर्विज्ञानादि । यह षड्‌विज्ञान (विज्ञानकाय) मनस् पर आश्रित है । यह उनका समनन्तर प्रत्यय है । किन्तु, केवल षष्ठ विज्ञान को ही मनोविज्ञान कहते हैं, क्योकि मनस् इसका विशेष आश्रय है । इसी प्रकार अन्य विज्ञानो को उनके विशेष आश्रय के अनुसार चक्षुर्विज्ञानादि कहते हैं ।

यह विज्ञान कुशल, अकुशल, अव्याकृत होते है । अलोभ-अद्वेष-अमोह से सम्प्रयुक्त कुशल विज्ञान हैं । लोभ-द्वेष-मोह से सम्प्रयुक्त अकुशल हैं । जो न कुशल है, न अकुशल, वह अव्याकृत है । इन्हे 'अद्वया , 'अनुभया' भी कहते है ।

षड्‌विज्ञान का चैतसिको से सम्प्रयोग होता है । षड्‌विज्ञान सर्वत्रग, विनियत, कुशल चैत्तो से, क्लेश और उपक्लेश से, अनियतो से, तीन वेदनाओ से सम्प्रयुक्त होते है ।

एक प्रश्न भूततथता का है । यह दिखाता है कि विज्ञानवाद माध्यमिक से कितनी दूर चला गया है । इसका समानार्थक दूसरा शब्द धर्मता (धर्मों का स्वभाव) है । किन्तु, क्योकि वस्तुत धर्मों का स्वभाव शून्य (वस्तु शून्य) है, इसलिए तथता का समानवाची दूसरा शब्द शून्यता है । यह असस्कृत और नित्यस्थ है । नागार्जुन ने इसका व्याख्यान किया है ।

किन्तु, स्थिरमति इसके कहने मे सकोच नही करते कि यह खपुष्प के तुल्य प्रज्ञप्तिसत् है। शुआन-च्वाँग इसका विरोध करते हैं। वह कहते हैं कि इस विकल्प मे कोई भी परमार्थ परमार्थ-सत्य न होगा। तब किसके विपक्ष में कहेंगे कि सवृत्ति-सत्य है ? तब किसी का निर्वाण कैसे होगा ?

इस प्रकार, निभृत-भाव से विज्ञानवाद परमार्थ-सत्य हो गया।

विज्ञप्तिमात्रता

मूल, मनस् और षड्विज्ञान इन तीन विज्ञान-परिणामो की परीक्षा कर शुआन-च्वाँग विज्ञप्तिमात्रता का निरूपण करते है। हम पूर्व कह चुके है कि आत्मा (पुद्गल) और धर्म विज्ञान-परिणाम के प्रज्ञप्तिमात्र हैं। यह परिणाम दर्शनभाग और निमित्तभाग के आकार में होता है। हमारी प्रतिज्ञा है कि चित्त एक है, किन्तु यह ग्राह्य-ग्राहक के रूप मे आभासित होता है। अथवा, दर्शन और निमित्त के रूप में आभासित होता है। दूसरे शब्दो मे "विज्ञान का परिणाम, मन्यना करनेवाला और जिसकी मन्यना होती है, जो विचारता है और जो विचारा जाता है, है। इससे यह अनुगत होता है कि आत्मा और धर्म नही है। अत, जो कुछ है, वह विज्ञप्तिमात्रता है।" (शुआन-च्वाँग)

वसुबन्धु त्रिंशिका में कहते है—

> **विज्ञानपरिणामोऽयं विकल्पो यद् विकल्प्यते।**
> **तेन तन्नास्ति तेनेदं सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्॥** (कारिका १७)

विज्ञप्तिमात्रता की विभिन्न व्याख्याएँ

स्थिरमति (पृ० ५३५–३६) इस कारिका का भिन्न अर्थ करते हैं—"विज्ञान का परिणाम विकल्प है। इस विकल्प से जो विकल्पित होता है, वह नही है। अत, यह सब विज्ञप्तिमात्र है।" स्थिरमति इस कारिका के भाष्य में कहते है कि त्रिविध विज्ञान-परिणाम विकल्प है: त्रैधातुक चित्त-चैत्त (अनास्रव चित्त-चैत के विपक्ष में) जो अध्यारोपित का आकार ग्रहण करते है, 'विकल्प' कहलाते हैं, यथा (मध्यान्तविभाग, १। १०) कहा है—**अभूतपरिकल्पस्तु चित्तचैतास्त्रिधातुकाः।** यह विकल्प त्रिविध है—समम्प्रयोग आलय-विज्ञान, क्लिष्ट मनस् और प्रवृत्ति-विज्ञान। इस त्रिविध विकल्प से जो विकल्पित होता है ('यद्विकल्प्यते') वह नही है। भाजनलोक, आत्मा, स्कन्ध-धातु-आयतन, रूप शब्दादिक विकल्प से विकल्पित होते हैं। यह वस्तु नही है। अत, यह विज्ञान-परिणाम विकल्प कहलाता है; क्योकि इसका आलम्बन असत् है। हम कैसे जानते हैं कि इसका आलम्बन असत् है ? जो जिसका कारण है, वह उसके समग्र और अविरुद्ध होने पर उत्पन्न होता है, अन्यथा नही। किन्तु, माया, गन्धर्व-नगर, स्वप्न, तिमिरादि में विज्ञान विना आलम्बन के ही उत्पन्न होता है। यदि विज्ञान का उत्पाद आलम्बन से प्रतिबद्ध होता, तो अर्थाभाव से मायादि में विज्ञान न उत्पन्न होता। इसलिए, पूर्वनिरुद्ध तज्जातीय विज्ञान से विज्ञान उत्पन्न होता है, बाह्य अर्थ से नही। बाह्यार्थ के न होने पर भी यह होता है। पुन एक ही अर्थ में परस्परविरुद्ध प्रतिपत्ति भी देखी गई है।

और एक का परस्पर विरुद्ध अनेकात्मकत्व युक्त नहीं है। अतः, यह मानना चाहिए कि विकल्प का आलम्बन असत् है। यह समारोपान्त का परिहार है। अब हम अपवादान्त का परिहार करते हैं। कारिका कहती है—तेनद सर्वं विज्ञप्तिमात्रकम्। अर्थात्, क्योंकि विषय के अभाव में परिणामात्मक विकल्प से विकल्पित ('विकल्प्यते') नहीं है, इसलिए सब विज्ञप्तिमात्र है। 'सर्वं' से आशय त्रैधातुक और असंस्कृत से है (पृ० ३६)। विज्ञप्ति से अन्य कर्त्ता या करण नहीं है।

स्थिरमति का यह अर्थ इस आधार पर है कि विकल्प के गोचर का अस्तित्व नहीं है। विकल्प का विषय असत् है। इस प्रकार, विज्ञान की लीला स्वप्न-मायावत् है। हम देखते हैं कि विज्ञानवाद का यह विवेचन अब भी नागार्जुन की शून्यता के लगभग अनुकूल है।

धर्मपाल का विज्ञानवाद इसके विपरीत स्वतन्त्र होने लगता है। अब वाक्य यह हो जाता है कि विज्ञान या विज्ञप्ति में सब कुछ है। धर्मपाल कहते हैं कि दर्शनभाग और निमित्तभाग के आभास में विज्ञान का परिणाम होता है। विज्ञान से तात्पर्य तीन विज्ञानों के अतिरिक्त (आलय–क्लिष्ट–मनस्, षड्विज्ञान) उनके चैत्त से भी है। पहले भाग को 'विकल्प' कहते हैं, और दूसरे भाग को 'यद् विकल्प्यते'। यह दोनों भाग परतन्त्र हैं। अत, विज्ञान में परिणत इन दो भागों के बाहर आत्मा और धर्म नहीं है। वस्तुत, ग्राहक-ग्राह्य, विकल्प-विकल्पित के बाहर कुछ नहीं है। इन दो भागों के बाहर कुछ नहीं है, जो भूतद्रव्य हो। अत, सब धर्म संस्कृत—असंस्कृत, रूपादि वस्तुसत् और प्रज्ञप्तिसत्—विज्ञान के बाहर नहीं है। सामासिक रूप से 'विज्ञप्तिमात्रता' का अर्थ यह है कि हम उस सबका प्रतिषेध करते हैं, जो विज्ञान के बाहर है (परिकल्पित–आत्मा और धर्म)। किन्तु, हम चैत्त, भागद्वय, रूप और तथता का प्रतिषेध नहीं करते, जहाँतक वह विज्ञान के बाहर नहीं है।

नन्द के मत में केवल दो भाग हैं। दर्शनभाग निमित्तभाग में परिणत होता है। यह निमित्तभाग परतन्त्र है, और बहिःस्थित विषय के रूप में अवभासित होता है। नन्द संवित्तिभाग नहीं मानते। उनके लिए परिकल्प (विकल्प) और परिकल्पित, अर्थात् ग्राहक और ग्राह्य निमित्तभाग के सम्बन्ध में दो मिथ्याग्राह हैं। वस्तुत, जब कोई दर्शनभाग को आत्मवत् धर्मवत् अवधारित करता है, तब यह भी निमित्तभाग के सम्बन्ध में एक ग्राह ही है। यह ग्राह बिना आलम्बन के नहीं है।

क्योंकि, विकल्प निमित्तभाग का ग्रहण बहिःस्थित आत्मधर्म के आकार में करता है, इसलिए गृहीत एवं विकल्पित आत्मधर्म का स्वभाव नहीं है।

अत, सब विज्ञप्ति-मात्र हैं। अभूत-परिकल्प का अस्तित्व सब मानते हैं।

पुन मात्र शब्द से विज्ञान के अव्यतिरिक्त धर्मों का प्रतिषेध नहीं होता। अत, तथता, चैत्तादि वस्तुसत् हैं।

शुआन-च्वांग का इस कारिका का अर्थ ऊपर दिया गया है। वह नागार्जुन के शून्यतावाद के समीपवर्ती एक पुराने वाद का उपयोग स्वतन्त्र विज्ञानवाद के लिए करते हैं। यामागुची का भी यही मत है।

शुआन-च्वाँग अपने वाद की पुष्टि में आगम से वचन उद्धृत करते हैं, और युक्तियाँ देते हैं। यहाँ हम आगम के कुछ वाक्य देते हैं। दशभूमकसूत्र में उक्त है—**चित्तमात्रमिदं यदिदं त्रैधातुकम्।** पुन सन्धिनिर्मोचनसूत्र मे भगवान् कहते है —विज्ञान का आलम्बन विज्ञान-प्रतिभास-मात्र है। इस सूत्र मे मैत्रेय भगवान् से पूछते है कि समाधिगोचर बिम्ब चित्त से भिन्न या अभिन्न है।। भगवान् प्रश्न का विसर्जन करते हैं कि यह भिन्न नही है, क्योकि यह बिम्ब विज्ञानमात्र है। भगवान् आगे कहते हैं कि विज्ञान का आलम्बन विज्ञान का प्रतिभास-मात्र है। मैत्रेय पूछते हैं कि यदि समाधिगोचर बिम्ब चित्त से भिन्न नही है, तो चित्त कैसे उसी चित्त का ग्रहण करने के लिए लौटेगा। भगवान् उत्तर देते है कि कोई धर्म अन्य धर्म का ग्रहण नही करता, किन्तु जब विज्ञान उत्पन्न होता है, तब यह उम धर्म के आकार का उत्पन्न होता है और लोग कहते हैं कि यह उस धर्म को ग्रहण करता है।

लङ्कावतार मे है कि धर्म चित्त-व्यतिरिक्त नही है। घनव्यूह में है–चित्त, मनस्, विज्ञान (षड्विज्ञान) का आलम्बन भिन्न-स्वभाव नही है। इसीलिए, मैं कहता हूँ कि सब (सस्कृत और और असस्कृत) विज्ञानमात्र है, विज्ञान-व्यतिरिक्त वस्तु नही है।

आगम और युक्ति सिद्ध करते है कि आत्मा और धर्म असत् हैं। तथता या धर्मों का परिनिष्पन्न स्वभाव (शून्यता) और विज्ञान (परतन्त्रस्वभाव) असत् नही है। आत्म-धर्म सत्त्व से बाह्य है। शून्यता और विज्ञान असत्त्व से बाह्य है। यह मध्यमा प्रतिपत् है। इसीलिए, मैत्रेय मध्यान्तविभाग मे कहते हैं—अभूतपरिकल्प है। इसमें परमार्थत· द्वय (ग्राह्य-ग्राहक) नही है। इस अभूत-परिकल्प में शून्यता है। यह अभूत-परिकल्प शून्यता में है। अत, मैं कहता हूँ कि धर्म न शून्य है, न अशून्य। वस्तुत असत्त्व है, सत्त्व है। यह मध्यमा प्रतिपत् है।

इसमें एकान्तेन शून्यता या अशून्यता में निष्ठा नही है। अभूतपरिकल्पात्मक सस्कृत शून्य नही है। पुन वह ग्राह्यग्राहकभाव की रहितता होने से शून्य है। सर्वास्तित्व और सर्व-नास्तित्व इन दोनो अन्तो का यह मध्य है।

पूसें एक टीका से उत्तर देते हैं—सास्रव चित्त या त्रैधातुक चित्त (अनास्रव ज्ञान का प्रतिपक्ष) जो अभूतपरिकल्प है, है। किन्तु, द्वय—ग्राह्यग्राहक है आत्म-धर्म—जो समारोपित है, नही है। सास्रव चित्त में शून्यता है, अर्थात् इस चित्त में द्वयाभाव है। शून्यता में सास्रव चित्त है। इस प्रकार, जो द्वय-विनिर्मुक्त है, उसमे द्वय का समारोप होता है। अत, धर्म शून्य नही है, क्योकि यह शून्य और अभूतपरिकल्प है। वह अशून्य नही है, क्योकि वहां द्वय (ग्राह्य और ग्राहक, आत्मन् और धर्म) का अभाव है। जब अभूत परिकल्प है, द्वय नही है, अभूत-परिकल्प मे शून्यता है, और शून्यता मे अभूतपरिकल्प है, तब यही भावविवेक की परमार्थत शून्यता और हीनयान के परमार्थत सत्त्व के बीच मध्यमा प्रतिपत् है। भावविवेक के विरुद्ध हम सवृति और परमार्थ इन दो सत्यो को मानते है, और हीनयान के विरुद्ध हम ग्राह्य-ग्राहक का प्रतिषेध करते हैं। हम देखते है कि किस प्रकार सूक्ष्म रूप मे हल्के-हल्के

अद्वय विज्ञानवाद नागार्जुन के शून्यतावाद से पृथक् होता है, किन्तु प्रकाश्य रूप से स्वीकार नही करता।

विज्ञप्तिमात्रता पर कुछ आक्षेप और उसके उत्तर

यदि बाह्यार्थ केवल आध्यात्मिक विज्ञान है, जो बाह्यार्थ के रूप में प्रतिभासित होता है, तो आप १ अर्थ के काल-देश-नियम का क्या व्याख्यान करते है (देश-विशेष में ही पर्वत दिखाई पडता है), २ सन्तान के अनियम और क्रिया के अनियम का क्या व्याख्यान करते है (सब लोग एक ही वस्तु देखते है, सब लोग जल पीते हैं)? शुआन-च्वाँग एक शब्द मे उत्तर देते हैं कि स्वप्न मे जो दृश्य हम देखते है, उनका भी यही है।

विज्ञानवाद और शून्यता के सम्बन्ध के विषय में एक दूसरा प्रश्न है। क्या विज्ञप्ति-मात्रता स्वय शून्य नही है? शुआन-च्वाँग कहते हैं---नही, क्योकि इसका ग्रहण नही होता ('अग्राह्यत्वात्')। इसीलिए, धर्मों का ग्रहण वस्तुसत् के रूप मे होता है (धर्मग्राह का विपर्यास), यद्यपि परमार्थत वह केवल धर्मशून्यता है। हम आरोपित धर्मों के असत्त्व से धर्म-शून्यता मानते है, न कि अवाच्य और परिकल्पित रहित विज्ञप्तिमात्रता के असत्त्व के कारण। विज्ञप्तिमात्रता को धर्मशून्यता कहते है, क्योकि यह परिकल्पित नही है।

विंशतिका (कारिका, १७) की वृत्ति से तुलना कीजिए—कोई धर्म-नैरात्म्य में प्रवेश करता है, जब उसको यह उपलब्धि होती है कि यह विज्ञप्ति ही है, जो रूपादि धर्मों के आधार में प्रतिभासित होती है। किन्तु, आक्षेप करनेवाला कहता है कि यदि सर्वथा धर्म नही है, तो क्या विज्ञप्तिमात्र भी नही है? विज्ञानवादी उत्तर देता है कि हम यह नही कहते कि धर्मों के परमार्थत असत्त्व की प्रतिज्ञा करने से धर्म-नैरात्म्य में प्रवेश होता है, किन्तु उनके परिकल्पित स्वभाव का प्रतिषेध करने से होता है। उनका नैरात्म्य है; क्योकि उनका ग्राह्य-ग्राहकभाव नही है। इस आत्मा से उनका नैरात्म्य है ('तेन आत्मना तेषा नैरात्म्यम्')। केवल मूढ पुरुष उनका ग्राह्य-ग्राहकभाव मानते है। किन्तु, जो अनभिलाप्य आत्मा बुद्धो का विषय है, उसका नैरात्म्य नहीं है (वृत्ति, पृ० ६)।

सवृति-सत्य के विषय में भी माध्यमिक और विज्ञानवाद में अन्तर होने लगता है। माध्यमिको के अनुसार सवृति-सत्य, अर्थात् धर्मो का आभास, जैसा कि इन्द्रियो को उपलब्ध होता है; अनधिष्ठान है। शून्य धर्मों से शून्य धर्म प्रभूत होते है। इसके विपरीत, विज्ञानवादी के लिए सवृति-धर्मो का अस्तित्व धर्मता-तथता-विशेष के कारण है, यद्यपि साथ-ही-साथ वह शून्यता-विशेष-वश शून्य है।

एक दूसरा आक्षेप है। यदि रूपायतन विज्ञान-स्वभाव है, तो विज्ञान रूप के लक्षणो के साथ क्यो प्रतिभासित होता है, और क्यो पर्वतादि कठिन और सभाग-सन्तान का रूप-धारण करते है। इसका उत्तर यह है कि रूप विपर्यस्त सज्ञा का भी स्वभाव है। तथाकथित रूप को द्रव्यसत् के रूप मे गृहीत करने से विज्ञान विपर्यास का उत्पाद करता है, और स्वरसेन भ्रान्ति उत्पन्न करता है और यही उसकी मुख्य वृत्ति है।

चोदक पुन. कहता है कि क्या आप प्रत्यक्ष विषय का प्रतिषेध करते हैं ? उत्तर है कि जिस क्षण में रूप-शब्दार्थ की उपलब्धि होती है, उस क्षण में यह बाह्यवत् गृहीत नहीं होता। पश्चात् मनोविज्ञान (मनोविकल्प) बाह्य-सज्ञा को विपर्यासित उत्पन्न करता है। अत जो प्रत्यक्ष का विषय होता है, वह विज्ञान का निमित्तभाग है। यह निमित्त-भाग विज्ञान का परिणाममात्र है। अत, कहा जाता है कि यह है और विज्ञान (दर्शनभाग) भी है; जो निमित्तभाग की उपलब्धि करता है। किन्तु, यह सब केवल विकल्पधर्म हैं। सक्षेप मे, अर्थ रूप नही है, किन्तु रूपाभास है। यह वहि स्थित नही है, किन्तु बाह्याभास है।

एक और आक्षेप है "आप कहते है कि जो रूप हम जाग्रत् अवस्था में देखने हैं, वह विज्ञान से व्यतिरिक्त नही है, यथा जो रूप स्वप्न में देखा जाता है। किन्तु, स्वप्न से जगकर हम जानते है कि स्वप्न मे देखा रूप केवल विज्ञान है, फिर जागते हुए हम क्यो नही जानते कि जाग्रत् अवस्था मे देखा हुआ रूप विज्ञानमात्र है ? (शकर, २।२।२९)

इसका उत्तर यह है कि जब हम स्वप्न देखते है, हमको ज्ञात नही हो सकता। जगने पर हमको स्मृति होती है कि हमने स्वप्न देखा है और हमको उसका स्वभाव ज्ञात होता है। इसी प्रकार जो रूप जाग्रत् अवस्था मे देखते है, उसका भी यही हाल है। अभी तक हमारी सच्ची जागृति नही हुई है। जब बोधि का अधिगम होगा, तब ससार-विषयात्मक स्वप्न की स्मृति होगी और उनका यथार्थ स्वभाव ज्ञात होगा। इसके पूर्व हमारी स्वप्नावस्था है। इसीलिए, भगवान् ससार की दीर्घरात्रि का उल्लेख करते है (विंशतिका, कारिका, १७ ख-ग)। यह विचार, बर्कले के अति समीप है।

इस मत में (अब्सोलुट एकास्मिज्म) वस्तु-ग्रहण के सदृश विज्ञप्ति का क्रियात्मक आकार नही है। विज्ञप्ति मायावत् है। जब एक विज्ञान की उत्पत्ति होती है, तब यह विज्ञान वस्तुत सक्रिय नही होता। यह बाह्य धर्मो का प्रत्यक्ष ग्रहण नही करता, जिस प्रकार हाथ या चिमटी से कोई वस्तु पकडी जाती है। इसकी अभिव्यक्ति उस प्रकार नही होती, जैसे सूर्य अपने प्रकाश को फैलाता है। किन्तु, यह आदर्श के तुल्य है, और यह बाह्यार्थ के सदृश अवभासित होता है। सक्षेप में, कोई धर्म नही है, जो दूसरे धर्म का (चित्त मे वहि स्थित धर्म का) ग्रहण करता है। किन्तु, जब विज्ञान की उत्पत्ति होती है, तब यह तत्सदृश आभासित होता है (सन्धिनिर्मोचन)।

किन्तु, एक आक्षेप यह है कि विज्ञप्तिमात्रता का पर-चित्त-ज्ञान से कैसे सामजस्य होता है। अथवा इसी को दूसरे प्रकार से यो कह सकते है कि विज्ञप्तिमात्रता मे मेरा चित्त या तथा-कथित मेरी आत्मा का चित्त तथाकथित पर-चित्त को कैसे नही जानता ? इसका जो उत्तर दिया जाता है, वह कठिनाइयो से खाली नही है। किन्तु, इसकी युक्ति कुछ कम अपूर्व नही है।

हम अपने चित्त को पर-चित्त की अपेक्षा अधिक अच्छा नही जानते। क्यो ? क्योकि, यह दो ज्ञान अज्ञान से आच्छादित होने के कारण स्वविषय की अनिर्वचनीयता को

नही जान सकते, यथा बुद्ध उसे जान सकते है। इसका कारण यह है कि मनुष्यो में इस विषय की वितथ-प्रतिभासिता होती है, क्योकि उनमें अभिग्राह्य-ग्राहकभाव का उपच्छेद नही हुआ है।

पुनः शुआन-च्वांग इस स्थान पर इसका प्रयत्न करते हैं कि उनका विज्ञानवाद शुद्ध आत्मवाद मे पतित न हो। वह कहते है कि विज्ञप्तिमात्रतावाद की यह शिक्षा नही है कि केवल एक विज्ञान है, केवल मेरा विज्ञान है। यदि केवल मेरा विज्ञान है, तो दस दिशाओ के विविध पृथग्जन-आर्य, कुशल-अकुशल, हेतु-फल सब तिरोहित हो जाते है। कौन बुद्ध मुझे उपदेश देता है और किसको बुद्ध उपदेश देते है। किस धर्म का वह उपदेश करते हैं और किस फल के अधिगम के लिए ?

किन्तु, विज्ञानवाद की यह शिक्षा कभी नही रही है। विज्ञप्ति से प्रत्येक सत्त्व के आठ विज्ञान समझना चाहिए। यह विज्ञानस्वभाव है। इनके अतिरिक्त विज्ञप्ति से विज्ञान-सम्प्रयुक्त छ प्रकार के चैत्त, दो भाग—दर्शन और निमित्त—जो विज्ञान और चैत्त के परिणाम है, विप्रयुक्त विज्ञान, जो चैत्त और रूप के आकार विशेप है, और तथता, जो शून्यता को प्रकट करती है, और जो पूर्व चार प्रकार का यथार्थ स्वभाव है, समझना चाहिए। इसी अर्थ मे सर्व धर्म विज्ञान से भिन्न नही हैं। इसलिए, यह कहा जाता है कि सर्व धर्म विज्ञप्ति है और मात्र शब्द इसलिए अधिक है, जिसमें विज्ञान से भिन्न रूपादि द्रव्यसत् के अस्तित्व का प्रतिषेध किया जाय।

जो विज्ञप्तिमात्रता की शिक्षा को यथार्थ जानता है, वह विपर्यास से रहित हो पुण्यसम्भार और ज्ञानसम्भार के लिए यत्नशील होता है। धर्मशून्यता मे उसका आशु प्रतिवेध होता है, और वह महाबोधि का साक्षात्कार कर ससार से अर्दित जीवो का परित्राण करता है। किन्तु सर्वथा अपवादक, जो शून्यता की विपर्यास सज्ञा रखता है (भावविवेक), आगम और युक्ति का व्यपकर्ष करता है, और इन लाभो का प्रतिलाभ नही कर सकता। यह अपवादक माध्यमिक है, जो सर्वदा शून्यता का दावा करते है और अद्वय विज्ञानवाद की ओर जो शून्यवाद का झुकाव है, उसका विरोध करते है।

एक मुख्य प्रश्न यह है कि किस प्रकार परमार्थ विज्ञानवाद का सामजस्य बाह्यलोक के व्यावहारिक अस्तित्व से हो सकता है। माना कि विज्ञान के बाहर कुछ नही है। तब बाह्य प्रत्यय के अभाव में हम विकल्प की विविधता का निरूपण कैसे करते है ?

शुआन-च्वांग वसुबन्धु का उत्तर उद्धृत करते है (त्रिंशिका, कारिका १८)—'सर्व बीज विज्ञान का अन्योन्यवश उस-उस प्रकार से परिणाम होता है। इस विज्ञान से वह-वह विकल्प उत्पन्न होते है।' अर्थात्, बिना किसी बाह्य प्रत्यय के आलय-बीज के विविध परिणाम होने के कारण, और सम्भूत अष्ट विज्ञानो की अन्योन्य सहायता से, अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते है।

सर्व बीज विज्ञान से विविध शक्ति और बीज अभिप्रेत है, जो अपने फल, अर्थात् सर्व सस्कृत धर्मों का उत्पाद करते हैं। यह फल मूल विज्ञान में विद्यमान है। इन शक्तियो या बीजो

को 'सर्वबीज' कहते हैं, क्योकि वह चार प्रकार के फल का उत्पादन करते हैं (निष्यन्द, विपाक, पुरुषकार, अधिपति-फल)। केवल विसयोग-फल वर्जित है। यह बीजो से उत्पन्न नही होता। यह असस्कृत है। यह फल बीज-फल नही है। मार्ग की भावना से इस फल की प्राप्ति होती है। बीज ज्ञान का उत्पाद करते हैं, ज्ञान सयोजन का उपच्छेद करते है, और इसीसे विसयोग का सम्मुखीभाव होता है। किन्तु, बीज से सर्व विकल्प का अनन्तर उत्पाद होता है।

हम बीजो को 'विज्ञान' से प्रज्ञप्त कर सकते है, क्योकि उनका स्वभाव विज्ञान मे है। यह मूलविज्ञान से व्यतिरिक्त नही है। कारिका 'बीज' और 'विज्ञान' दोनो शब्दो का एक साथ प्रयोग इस कारण करती है कि कुछ बीज विज्ञान नही हैं, यथा साख्यो का प्रधान और कुछ विज्ञान बीज नही हैं। यथा प्रवृत्ति-विज्ञान।

अष्टम विज्ञान के बीज (जो विकल्पो के हेतु-प्रत्यय हैं) अन्य तीन प्रत्ययो की सहायता से उस-उस परिणाम (अन्यथाभाव) को प्राप्त होते हैं, अर्थात् जन्मावस्था से पाक-काल को प्राप्त होते हैं। यह तीन प्रत्यय प्रवृत्ति-विज्ञान हैं। सब धर्म एक दूसरे के निमित्त होते हैं।

इस प्रकार, आलय-विज्ञान से अनेक प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते हैं।

आगे चलकर शुआन-च्वाँग विज्ञानवाद की पुष्टि आलम्बन-प्रत्ययवाद से करते हैं। लक्षण इस प्रकार है---वह सद्धर्म जिसपर चित्त-चैत्त आश्रित हैं, और जो उन चित्त-चैत्तो से ज्ञात है, जो तत्सदृश उत्पन्न होते हैं।

वस्तुत', सर्व विज्ञान का इस प्रकार का आलम्बन होता है, क्योकि किसी चित्त का उत्पाद विना आश्रय के नही हो सकता, विना उस अर्थ की उपलब्धि के नही हो सकता, जो उसके अभ्यन्तर हैं।

इसी से मिलता-जुलता एक दूसरा प्रश्न यह है कि यद्यपि आभ्यन्तर विज्ञान हैं, तथापि बाह्य प्रत्ययो के अभाव मे भावो की अव्युच्छिन्न परम्परा का क्या विवेचन है? शुआन-च्वाँग उत्तर मे वसुबन्धु की कारिका १९ उद्धृत करते हैं ---

> **कर्मणो वासनाग्राहद्वयवासनया सह।**
> **क्षीणे पूर्वविपाकेऽन्यद् विपाकं जनयन्ति तत्॥**

"पूर्व विपाक के क्षीण होने पर कर्म की वासना ग्राहद्वय की वासना के साथ अन्य विपाक को उत्पन्न करती है।"

अर्थात्, पूर्वजन्मोपचित कर्म के विपाक के क्षीण होने पर कर्मवासना (कर्मबीज) और आत्मग्राह-धर्मग्राह की वासना (बीज) उपभुक्त विपाक से अन्य विपाक का उत्पाद करती हैं। यह विपाक आलय-विज्ञान है। (स्थिरमति का भाष्य, पृ० ३७)।

शुआन-च्वाँग की व्याख्या इस प्रकार है---निश्चय ही सर्व कर्म चेतना-कर्म हैं। और, कर्म उत्पन्न होने के अनन्तर ही विनष्ट होता है। अत, हम नही मान सकते कि यह स्वत फलोत्पादन का सामर्थ्य रखता है। किन्तु, यह मूल विज्ञान मे फलोत्पादक बीज या शक्ति का

आधान करता है। इन शक्तियो की सज्ञा वासना है। वस्तुतः, यह शक्तियाँ कर्मजनित वासना से उत्पन्न होती हैं।

इन शक्तियो का एक अव्युच्छिन्न सन्तान इनके परिपाक-काल-पर्यन्त रहता है। तब अन्तिम शक्ति फल अभिनिर्वृत करती है।

साथ-साथ शुआन-च्वांग यह दिखाते हैं कि किस प्रकार बीजो की वासना का कार्य ग्राहक और ग्राह्य इन दो दिशाओ में होता है। मिथ्या आत्मग्राह इन वासनाओ और विपर्यास के बीजो के लिए सबसे अधिक उत्तरदायी है। इमसे जो बीज उत्पन्न होते हैं, उनके कारण सत्त्वो में अपने-पराये का मिथ्या भेद होता है। चित्त की इस सहज विरूपता के कारण ससार-चक्र अनन्तकाल तक प्रवर्तित रहता है। इसके लिए बाह्य प्रत्ययो की कल्पना करने का कोई कारण नही है। अथवा आध्यात्मिक हेतु-प्रत्यय जन्म-मरण-प्रबन्ध (या धर्म-प्रबन्ध) का पर्याप्त विवेचन है। यह बाह्य प्रत्यय पर आश्रित नही है, अत· यह विज्ञप्तिमात्र है। एक बार धर्मो की अनादिकालिक प्रवृत्ति से विज्ञप्तिमात्रता का सामजस्य स्थापित कर शुआन-क्वांग त्रिस्वभाव के वाद से इसका सामजस्य दिखाते हैं। बौद्धागम में स्थान-स्थान पर स्वभावत्रय की देशना है।

त्रिस्वभाववाद

चीनी ग्रन्थो में विज्ञानवाद के निकाय का एक नाम 'धर्मलक्षण-समय' है। तीन स्वभाव तीन लक्षण कहलाते हैं (व्युत्पत्ति, पृ० ५८७)। बोधिसत्त्व भूमि मे 'धर्मलक्षण' शब्द मिलता है। वहाँ भाव-अभाव से विमुक्त वस्तु को 'धर्मलक्षण' कहा है। दूसरे शब्दो में यह वस्तु 'तथता', धर्मता है।

वसुबन्धु ने 'त्रिस्वभाव-निर्देश' नामक एक ग्रन्थ लिखा है। जी० तुची को नेपाल में मूल सस्कृत-ग्रन्थ मिला था। इसका प्रकाशन 'विश्व भारती' से हुआ है। यहाँ हम धर्मपाल आदि आचार्यों का मत दे रहे हैं।

स्वभाव तीन हैं—परिकल्पित, परतन्त्र और परिनिष्पन्न।

१ परिकल्पित स्वभाव

स्थिरमति के अनुसार जिस-जिस विकल्प से हम जिस-जिम वस्तु का परिकल्प करते हैं, वह-वह वस्तु परिकल्पितस्वभाव है। विकल्प्य वस्तु अनन्त हैं। यह आध्यात्मिक और बाह्य हैं।यहाँतक कि बुद्धधर्म भी विकल्प वस्तु है। जो वस्तु विकल्प का विषय है, उसकी सत्ता का अभाव है, अत यह विद्यमान नही है। अत, यह परिकल्पितस्वभाव है।

नन्द के अनुसार अनन्त अभूत परिकल्प या अभूत विकल्प है, जो परिकल्पना करते हैं। उस-उस विकल्प से विविध विकल्प्य वस्तु परिकल्पित होते हैं। अर्थात्, स्कन्ध-आयतन-धातु आदि आत्मधर्म के रूप मे मिथ्या गृहीत होते है। इन्हें परिकल्पितस्वभाव कहते हैं। यह स्वभाव परमार्थत नही है।

धर्मपाल के अनुसार, 'विकल्प' वह विज्ञान है, जो परिकल्पना करता है। यह षष्ठ और सप्तम विज्ञान है, जो आत्मन् और धर्म में अभिनिविष्ट है। स्थिरमति के अनुसार यह आठो सास्रव

विज्ञान और उनके चैत्त हैं। स्थिरमति कहते हैं कि सब सास्रव विज्ञान परिकल्पना करते हैं; क्योंकि उनका अभूत, परिकल्प-स्वभाव है। इसके विपक्ष में धर्मपाल कहते हैं कि यह अयथार्थ है कि सब सास्रव विज्ञान परिकल्पना करते हैं। यह सत्य है कि त्रैधातुक सर्व विज्ञान 'अभूत परिकल्प' कहलाते हैं। इनकी यह सज्ञा इसलिए है, क्योंकि सास्रव विज्ञान तत्त्व का साक्षात्कार नही करता। सास्रव चित्त ग्राह्य-ग्राहक के रूप में अवभासित होता है। इससे यह परिणाम सदा नही निकलता कि कुशल अथवा अव्याकृत चित्त मे ग्राह होता है, और यह आत्मधर्म की परिकल्पना से समर्थ है। वस्तुत, इस पक्ष मे बोधिसत्त्व तथा यानद्वय के आर्यो को पृष्ठलब्ध ज्ञान (यह एक अनास्रव ज्ञान है) मे ग्राह होगा, क्योंकि यह ज्ञान ग्राह्य-ग्राहक के रूप मे अवभासित होता है। तथागत के उत्तर ज्ञान मे भी ग्राह होगा, क्योंकि बुद्धभूमिसूत्र मे कहा है कि बुद्ध-ज्ञान (आदर्श ज्ञान) काय, भूमि आदि विविध प्रतिबिम्बों को अवभासित करता है।

इसमे सन्देह नही कि यह कहा गया है कि आलय-विज्ञान का आलम्बन परिकल्प के बीज हैं। किन्तु, यह नही कहा गया है कि यह विज्ञान केवल इसका ग्रहण करता है।

सिद्धान्त यह है कि केवल दो विज्ञान—षष्ठ और सप्तम—परिकल्पना करते हैं। कारिका मे जो 'येन येन विकल्पेन' उक्त है, उसका कारण यह है कि विकल्प विविध हैं। यह कौन वस्तु हैं, जिनपर विकल्प का कारित्र होता है? सग्रह के अनुसार यह वस्तु परतन्त्र है। यह निमित्तभाग है, क्योंकि यह भाग विकल्प का आलम्बन-प्रत्यय है। किन्तु, प्रश्न है कि क्या परि-निष्पन्न भी इस चित्त का विषय नही है? हमारा उत्तर है कि तत्त्व अथवा परिनिष्पन्न मिथ्याग्राह का आलम्बन-विषय नही है। हाँ, हम यह कह सकते हैं कि तत्त्व विकल्प्य वस्तु है, किन्तु तत्त्व पर विकल्प का कारित्र प्रत्यक्ष नही होता।

परिकल्पित स्वभाव विकल्प का, मिथ्याग्राह का, विषय है? किन्तु यह आलम्बन-प्रत्यय नही है। इसका कारण यह है कि यह 'वस्तु' सद्धर्म नही है।

परिकल्पित स्वभाव क्या है? इसमें और परतन्त्र में क्या भेद है?

१ स्थिरमति के अनुसार अनादिकालिक अभूत वासनावश सास्रव चित्त-चैत्त द्वयाकार में उत्पन्न होता है, ग्राहक-ग्राह्य रूप में उत्पन्न होता है। यह दर्शनभाग और निमित्तभाग हैं। मध्यान्त का कहना है कि यह दो 'लक्षण' परिकल्पित हैं। यह कूर्म-रोम के समान असद्धर्म है। किन्तु, इनका आश्रय, अर्थात् स्वसवित्तिभाग प्रत्यय-जनित है। यह स्वभाव असद्धर्म नही है। इसे परतन्त्र कहते हैं, क्योंकि यह अभूतपरिकल्प प्रत्यय-जनित है।

यह कैसे प्रतीत हो कि यह दो भाग असद्धर्म हैं? आगम की शिक्षा है कि अभूत-परिकल्प परतन्त्र है, और दो ग्राह परिकल्पित है।

२ धर्मपाल के अनुसार वासना-बल से चित्त-चैत दो भागो मे परिणत होते हैं। यह परिणत भाग हेतु-प्रत्ययवश उत्पन्न होते हैं, और स्वसवित्तिभाग के सदृश परतन्त्र हैं। किन्तु, विकल्प सद्धर्म, अभाव, तादात्म्य, भेद, भाव-अभाव, भेदाभेद, न भाव न अभाव, न अभेद, न

भेद इन मिथ्या सज्ञाओं का ग्रहण करना है। इन विविध आकारों में दो-दो भाग परिकल्पित कहलाते हैं।

वस्तुतः, आगम कहता है कि प्रमाणमात्र, द्वयमात्र (दो भाग) और इन दो भागों की विविधता परतन्त्र है। आगम यह भी कहता है कि तथता को छोडकर शेष चार धर्म परतन्त्र में सगृहीत हैं।

यदि निमित्तभाग परतन्त्र नही है, तो वे दो भाग जो बुद्ध के अनास्रव पृष्ठलब्ध ज्ञान है, परिकल्पित होगे। यदि आप यह मानते है कि यह दो भाग परिकल्पित है, तो उत्तर अनास्रव ज्ञान की उत्पत्ति, विना एक निमित्तभाग को आलम्बन बनाये होती है; क्योंकि यदि एक निमित्तभाग इसका आलम्बन होता, तो यह आर्य-मार्ग मे पर्यापन्न न होता।

यदि दो भाग परिकल्पित है, तो यह आलम्बन प्रत्यय नही, क्योंकि परिकल्पित असद्-धर्म है। दो भाग वासित नही कर सकते, बीजो का उत्पाद नही कर सकते, अत उत्तर बीज के दो भाग न होगे।

बीज निमित्तभाग मे सगृहीत है, अत यह असद्धर्म है। अत, बीज कैसे हेतु-प्रत्यय होगे ?

यदि दो भाग, जो चित्त के अभ्यन्तर है, और बीजो से उत्पन्न होते है, परतन्त्र नही है, तो जिस स्वभाव को आप परतन्त्र मानते है, अर्थात् सवित्तिभाग जो इन दो भागो का आश्रय है, परतन्त्र न होगा, क्योंकि कोई कारण नही है कि यह परतन्त्र हो, जब दो भाग परतन्त्र नही है।

अत जो प्रत्ययजनित है, वह परतन्त्र है।

२ परतन्त्र स्वभाव

'परतन्त्र' प्रत्यय से उद्भूत विकल्प है। यह आख्या 'प्रतीत्यसमुत्पन्न' से मिलती-जुलती है। जो हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न होता है, वह परतन्त्र है। एकमत मे यह लक्षण केवल क्लिष्ट परतन्त्र का है। वास्तव में, अनास्रव परतन्त्र को 'विकल्प' नही कहते। एक दूसरा मत यह है कि सब चित्त-चैत्त, चाहे सास्रव हो या अनास्रव, 'विकल्प' कहे गये है।

३ परिनिष्पन्न स्वभाव

परिनिष्पन्न स्वभाव परतन्त्र की परिकल्पित से सदा रहितता है। यह अविकार-स्वभाव है। यह ग्राह्य-ग्राहक इन दो विकल्पो से विनिर्मुक्त होता है। इस स्वभाव की सदा ग्राह्य-ग्राहक-भाव से अत्यन्त रहितता होती है। यह कल्पित स्वभाव की अत्यन्त शून्यता है। अतएव, यह परतन्त्र से न अन्य है, और न अनन्य, यथा अनित्यता अनित्य धर्मों से न अन्य है, और न अनन्य।

पुन शुआन-च्वांग कहते है कि परिनिष्पन्न धर्मों का वस्तुसत्, अविपरीत, निष्ठागत और परिपूर्ण स्वभाव है। यह तथता से, अर्थात् सत्त्व-असत्त्व से पृथक् शून्यता की अवस्था में वस्तुओं के स्वभाव से मिश्रित हैं। अत परिनिष्पन्न (=तथता) परतन्त्र से न अन्य है, न अनन्य। यदि यह इससे अभिन्न होता, तो तथता धर्मधातु (परतन्त्र) का वस्तुस्वभाव न

होती। यदि यह इससे अभिन्न होता, तो तथता न नित्य होती, और न पूर्ण विशुद्ध। पुन यह कैसे माना जाय कि परिनिष्पन्न स्वभाव और परतन्त्र स्वभाव का न नानात्व है, और न एकत्व ? इसी प्रकार, अनित्य, शून्य, अनात्म धर्म तथा अनित्यता, शून्यता, नैरात्म्य न अन्य हैं, न अनन्य। यदि अनित्यता सस्कारो से अन्य होती, तो सस्कार अनित्य होते, यदि अनन्य होती, तो अनित्यता उनका सामान्य लक्षण न होती। वस्तुत धर्मता या तथता का धर्मो से ऐसा सम्बन्ध है, क्योकि परमार्थ और सवृति अन्योन्याश्रित हैं।

जबतक परिनिष्पन्न का प्रतिवेध, साक्षात्कार नही होता, तबतक यथाभूत परतन्त्र भाव को हम नही जान सकते। अन्य ज्ञान मे परतन्त्र का ग्रहण नही होता।

स्वभावत्रय का चित्त से अभेद

इस विचारो के अनुसार शुआन-च्वाँग चित्त का इतिहास बताते हैं। निःसन्देह सदा से चित्त-चैत्त अपने विविध आकारो (भागो) मे अपने को स्वत जानते है, अर्थात् परतन्त्र जो अपने को जानता है, सदा से स्वविज्ञान का विषय है। किन्तु चित्त-चैत्त सदा पुद्गल-धर्मग्राह से सहगत होते है, अत वह प्रत्यय-जनित चित्त-चैत्तो के मिथ्या स्वभाव को यथार्थ मे नही जानते। माया-मरीचि-स्वप्नविषय-प्रतिबिम्ब-प्रतिभास-प्रतिश्रुत्क-उदकचन्द्र-निर्मितवत् उनका अस्तित्व नही है, और एक प्रकार से है भी। घनव्यूह मे कहा है—"जबतक कोई तथता का दर्शन नही करता, वह नही जानता कि धर्म और सस्कार मायादिवत् वस्तुमत् नहीं है, यद्यपि वह है।"

अत, यह सिद्ध होता है कि स्वभावत्रय (लक्षणत्रय) का चित्त-चैत्त से व्यतिरेक नही है। चित्त-चैत्त और उनके परिणाम (दर्शन और निमित्तभाग) का प्रत्ययो से उद्भव होता है, और इसलिए मायाप्रतिबिम्बवत् वह नही है, और एक प्रकार से मानो वह है। इस प्रकार, वह मूढ पुरुषो की प्रवचना करते है। यह सब परतन्त्र कहलाता है।

मूढ परतन्त्रो को मिथ्या ही आत्मधर्म अवधारित करते है। खपुष्प के समान इस 'स्वभाव' का परमार्थत अस्तित्व नही है। यह परिकल्पित है। किन्तु, वस्तुत यह आत्मधर्म, जिन्हे एक मिथ्या सज्ञा परतन्त्र पर 'आरोपित' करती है, शून्य है। चित्त के परमार्थ स्वभाव को (विज्ञान और दो भाग) जो आत्मधर्म की शून्यता मे प्रकाशित होता है, परिनिष्पन्न की सज्ञा दी जाती है। हम कहेंगे कि धर्मों का सत्-स्वभाव उनका विशुद्ध लक्षण या विज्ञान-शक्ति है, जो प्रत्येक प्रकार के साक्षात्कार से शून्य है। इस स्वभाव का विपरीत भाव सर्वगत धर्म (फेनोमेनिज्म) है, और धर्मो का स्थूल और मिथ्या आकार आत्मधर्म का प्रतिभाग है। यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि इन सबकी समष्टि विशुद्ध विज्ञानायतन रहता है।

असंस्कृत धर्मों की त्रिस्वभावता

इसके अनन्तर, शुआन-च्वाँग इस त्रिस्वभाववाद का प्रयोग आकाशादि असस्कृत धर्म के सम्बन्ध में करते है। वह कहते है कि विज्ञान आकाशादि प्रभास के आकार मे परिणत

होता है। क्योकि आकाश चित्त-निमित्त है, इसलिए यह परतन्त्र में सगृहीत होता है। किन्तु, मूढ इस निमित्त को द्रव्यसत् कल्पित करते है। इस कल्पना मे आकाश परिकल्पित है। अन्तत द्रव्य आकाश को तथता का एक अपर नाम अवधारित करने से आकाश परिनिष्पन्न है। इसी प्रकार, शुआन-च्वांग सिद्ध करते है कि अन्य असस्कृत तथा रूप-वेदना-सज्ञा-संस्कार-विज्ञान यह पाँच सस्कृत धर्म-दृष्टि के अनुसार परिकल्पित, परतन्त्र और तथता में सगृहीत हो सकते है।

त्रिस्वभाव की सत्ता

एक अन्तिम प्रश्न है कि वस्तु द्रव्यसत् है या असत्। परिकल्पित स्वभाव केवल प्रज्ञप्तिसत् है; क्योकि यह मिथ्या रुचि से व्यवस्थित होता है। परतन्त्र प्रज्ञप्ति और वस्तुसत् दोनो है। पिण्ड, समुदाय (सचय, सामग्री), यथा घटादि, प्रज्ञप्ति है। चित्त-चैत्त-रूप प्रत्यय-जनित है, अत वह वस्तुसत् है। परिनिष्पन्न केवल द्रव्यसत् है, क्योकि यह प्रत्यया-धीन नही है।

किन्तु, यह तीन स्वभाव भिन्न नही है, क्योकि परिनिष्पन्न परतन्त्र का द्रव्यसत् स्वभाव है, और परिकल्पित का परतन्त्र मे व्यतिरेक नही है। किन्तु, यद्यपि यह एक दृष्टि से भिन्न नही है, तथापि दूसरी दृष्टि से यह अभिन्न नही है, क्योकि मिथ्याग्रह, प्रत्ययोद्भव और द्रव्यसत-स्वभाव भिन्न है।

नि.स्वभाववाद

यह विचार शकर के वेदान्त-मत के अत्यन्त समीप है। शुआन-च्वांग इस खतरे को समझते है। माध्यमिको के प्रतिवाद करने पर वह इस प्रश्न का विचार करते है कि यदि तीन स्वभाव है, तो भगवान् की यह शिक्षा क्यो है कि सब धर्म नि स्वभाव है। दूसरे शब्दो में यदि धर्म के तीन आकार है, तो भगवान् का यह उपदेश क्यो है कि वह शून्य और नि स्वभाव है। यह प्रश्न बडे महत्त्व का है। यह देखना है कि शुआन-च्वांग कैसे नागार्जुन की शून्यता का त्याग कर वस्तुओ की विज्ञान-सत्ता को व्यवस्थित करते है।

उनका उत्तर यह है कि इन तीन स्वभावो में से प्रत्येक अपने आकार मे नि स्वभाव है। त्रिविध स्वभाव की त्रिविध नि स्वभावता है। इस अभिसन्धि से भगवान् ने सब धर्मों की नि स्व-भावता की देशना की है।

परिकल्पित नि स्वभाव है, क्योकि इसका यही लक्षण है ('लक्षणेन')। परतन्त्र की नि स्वभावता इसलिए है, क्योकि इसका स्वयभाव नही है। परिनिष्पन्न की नि स्वभावता इसलिए है, क्योकि यह परिकल्पित आत्मधर्म से शून्य है। परिनिष्पन्न धर्म परमार्थ है। यह भूततथता है। यह विज्ञप्तिमात्रता है।

यह तीन नि स्वभावता क्रमश लक्षण-नि.स्वभावता, उत्पत्ति-नि स्वभावता और परमार्थ-नि.स्वभावता है।

शून्यता की गम्भीरता से संसार विज्ञानोदधि के तल पर उठता है। यदि बुद्ध ने कहा है कि सर्व धर्म निःस्वभाव है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि उनमें स्वभाव का परमार्थतः अभाव है। यह बुद्धवचन नीतार्थ नहीं है। परतन्त्र और परिनिष्पन्न असत् नहीं है। किन्तु, मूढ पुरुष विपर्यासवश उनमें आत्मधर्म का अध्यारोप करते हैं। वह विपरीत भाव से उनका द्रव्यसत् आत्मधर्म के रूप में ग्रहण करते हैं। यह परिकल्पित स्वभाव है। इन ग्राहों की व्यावृत्ति के लिए भगवान् सामान्यतः कहते हैं कि जो सत् है (दूसरा-तीसरा स्वभाव) और जो असत् है (प्रथम स्वभाव), दोनों निःस्वभाव हैं। यदि परिकल्पित लक्षणतः निःस्वभाव है, तो परतन्त्र ऐसा नहीं है। परतन्त्र उत्पत्ति-निःस्वभाव है। इसका अर्थ यह है कि मायावत् यह हेतु-प्रत्यय-वश उत्पन्न होता है, और यह परतन्त्र है। यह स्वयस्वभाव नहीं है, जैसा विपर्यासवश ग्राह होता है। अतः, हम एक प्रकार से कह सकते हैं कि यह निःस्वभाव है, किन्तु वस्तुतः यह सस्वभाव है।

परिनिष्पन्न का विशेष रूप से विचार करना है। इसे भी हम उपचार से इस अर्थ में निःस्वभाव कह सकते हैं कि इसका स्वभाव परिकल्पित आत्मधर्म से परमार्थतः शून्य है। वस्तुतः, स्वभाव का इसमें अभाव नहीं है। यथा यद्यपि महाकाश सब रूपों को आवृत करता है, और उसका प्रतिषेध करता है, तथापि रूपों की निःस्वभावता को प्रकट करता है, उसी प्रकार परमार्थ शून्यता से, आत्मधर्म की निःस्वभावता से प्रकट होता है, और निःस्वभाव कहला सकता है। किन्तु, यह कम परमार्थ नहीं है, अतः धर्मों की शून्यता का वचन नीतार्थ नहीं है। विज्ञप्तिमात्रता परमार्थ है।

ऊ विंश अध्याय

माध्यमिक-नय

(आचार्य नागार्जुन तथा चन्द्रकीर्त्ति के आधार पर)

माध्यमिक दर्शन का महत्त्व

आचार्य नागार्जुन मध्यमक-शास्त्र के आदि आचार्य हैं। बौद्ध विद्वान् उनको अपर बुद्ध के समान मानते हैं। नागार्जुन की मध्यमक कारिका पर 'प्रसन्नपदा' नाम की वृत्ति है। उसके रचयिता आचार्य चन्द्रकीर्त्ति हैं। उन्होंने वृत्ति में कहा है कि नागार्जुन के दर्शन-तेज में परवादियों के मत और लोकमानस तथा उनके अन्धकार ईन्धन के समान भस्म हो जाते हैं। उनके तीक्ष्ण तर्क-शरों से समारोत्पादक निःशेष अरिसेनाएँ नष्ट हो जाती हैं। चन्द्रकीर्त्ति ऐसे आचार्य के चरणों में प्रणिपात करके उनकी कारिका की विवृति करते हैं, जो तर्कज्वाला[1] में आकुलित है। 'प्रसन्नपदा' नाम की वृत्ति के द्वारा वह आचार्य का अभिप्राय विवृत करते हैं। चन्द्रकीर्त्ति के अनुसार आचार्य के शास्त्र-प्रणयन का यह प्रयास दूसरों को प्रथम चित्तोत्पाद से लेकर प्रज्ञापारमिता-नय के अविपरीत ज्ञान कराने तक के लिए है। आचार्य का यह प्रयास केवल करुणावश है।

माध्यमिक-दर्शन का प्रतिपाद्य

जो सकल मध्यमक-शास्त्र का अभिधेयार्थ है, उससे अभिन्न स्वभाव परमगुरु तथागत का है, और वही प्रतीत्यसमुत्पाद है। इसलिए, आचार्य नागार्जुन शास्त्र के आरम्भ में अनिरोधादि अष्ट विशेषणों से विशिष्ट प्रतीत्यसमुत्पाद को प्रकाशित करते हैं, और उपदेष्टा तथागत की वन्दना करते हैं।[2] आचार्य चन्द्रकीर्त्ति नागार्जुन के एक-एक विशेषणों का अभिप्राय बताते हैं।

निरोध क्षणभंगता है, किन्तु तत्त्व में क्षणभंगता नहीं है, अतः वह 'अनिरोध' है।

उत्पाद आत्मभावोन्मज्जन है, तत्त्व में आत्मभावोन्मेष नहीं है, अतः वह 'अनुत्पाद' है।

---

१ 'तर्कज्वाला' आर्य भव्य की माध्यमिककारिका पर ७क वृत्ति है। उसका पूरा नाम 'मध्यमहृदयवृत्ति तर्कज्वाला' है। चन्द्रकीर्त्ति के अनुसार 'तर्कज्वाला' में आचार्य का मन्तव्य विकृत हुआ है।

२ अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम् अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम्।
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवं, देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्॥

उच्छेदन सन्तान-प्रबन्ध का विच्छेद है, परन्तु तत्त्व मे विच्छेद नही है, अत वह 'अनुच्छेद' है।

सार्वकालिक स्थाणुता शाश्वतिकता है, परन्तु तत्त्व मे वह नही है, अत वह 'अशाश्वत' है।

तत्त्व मे न भिन्नार्थता है, न अभिन्नार्थता, अत. वह 'अनेकार्थ' और 'अनानार्थ' है।

तत्त्व में आगम और निर्गम नही है, अत वह 'अनागम' और 'अनिर्गम' रूप हे।

इन विशेषणो से निर्वाण की सर्वप्रपन्चोपशमता एव उसका शिवत्व बोधित होता है। यह मध्यमक-शास्त्र का प्रतिपाद्य एव प्रयोजन है।

हेतु-प्रत्ययो की अपेक्षा करके ही सकल भावो (पदार्थों) की उत्पत्ति होती है। आचार्य चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि इस नियम को प्रकाशित कर भगवान् ने भावो की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे वादियो के विभिन्न सिद्धान्तो का—अहेतुवाद, एकहेतुवाद, विषमहेतुवाद आदि का निराकरण किया है। इसलिए, विभिन्न वादियो का स्वकृतत्व, परकृतत्व, स्वपरोभयकृतत्व का सिद्धान्त निषिद्ध हो जाता है। इन वादो के निषेध से वस्तुत. पदार्थो का सावृत-(अयथार्थ) रूप उद्भावित होता है, और यह सिद्ध होता है कि आर्य-ज्ञान की दृष्टि से पदार्थ स्वभावत अनुत्पन्न है। अत, प्रतीत्य-समुत्पन्न पदार्थों में निरोधादि नही है।

आर्य जब प्रतीत्यसमुत्पाद का उक्त विशेषणो से ज्ञान कर लेता है, तब स्वभावत. उसके प्रपचो का उपशम होता है। इसलिए, आचार्य प्रतीत्यसमुत्पाद का विशेषण 'प्रपचोपशम' देते हैं। वह 'शिव' है, इसलिए कि वहाँ चित्त-चैत्त अप्रवृत्त है। ज्ञान-ज्ञेय-व्यवहार निवृत्त हे, इसलिए तत्त्व जाति-जरा-मरणादि उपद्रवो से रहित है। पूर्व अभिहित विशेषणो से विशिष्ट प्रतीत्य-समुत्पाद की देशना ही मध्यमक-शास्त्र का अभीष्टार्थ है। भगवान् बुद्ध ने ही इसे अवगत कराया है, अत उनके 'अविपरीतार्थवादित्व' (सत्यवक्ता होने से) आचार्य प्रसादानुगत होकर उन्हे 'वदता वर' आदि अनेक विशेषणो से विशेषित करते है और प्रणाम करते है।

चन्द्रकीर्त्ति कहते है कि प्रतीत्यसमुत्पाद के इन विशेषणो मे यद्यपि सर्वप्रथम निरोध के निषेध का उल्लेख है, जब कि उत्पाद का प्रतिषेध पहले होना चाहिए। किन्तु, उत्पाद और निरोध मे पौर्वापर्य नही है, ससार का अनादित्व है; इसे स्पष्ट करने के लिए अनिरोध का प्रथम उल्लेख आवश्यक हुआ।

स्वतः उत्पत्ति के सिद्धान्त का खण्डन

अन्यवादी पदार्थो की उत्पत्ति स्वत, परत या उभयत स्वीकार करते है। परन्तु आचार्य नागार्जुन पदार्थो की उत्पत्ति किसी तरह नही मानते। उनके मत मे किसी भी दैशिक या कालिक आधार मे कोई भी आधेय वस्तु किसी भी सम्बन्ध मे न स्वत उत्पन्न होती है, न परत: और न उभयत।

वस्तु का स्वत उत्पाद माने, तो उत्पन्न की ही पुन. उत्पत्ति माननी पडेगी। स्वत' उत्पाद-पक्ष के खण्डन से परत उत्पाद का सिद्धान्त भी सिद्ध नही होता। आगे चलकर हम परत उत्पाद का खण्डन करेगे।

माध्यमिक की पक्षहीनता

माध्यमिक का अपना कोई पक्ष नही है, और न कोई प्रतिज्ञा ही है, जिसकी सिद्धि के लिए वह स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग करे। माध्यमिक स्वत उत्पादवादी साख्य के प्रतिज्ञार्थ का केवल परीक्षण करता है। साख्य अपनी प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए सचेष्ट है, इसलिए उनके वादो का खण्डन आचार्य चन्द्रकीर्त्ति विस्तार से करते है। वह कहते है कि किसी भी उपपत्ति से साख्य का स्वत उत्पादवाद सम्भव नही है। जो वस्तु स्वरूप से विद्यमान है, उसकी पुन उत्पत्ति निष्प्रयोजन है। यदि जात स्वरूप का ही जन्म मानें, तो कभी वस्तुओ का अजातत्व (विनाश) सिद्ध नही होगा।

माध्यमिक पर वादियो का एक विशेष आक्षेप है कि माध्यमिक का जब स्वपक्ष नही है, तब परपक्ष के खण्डन के लिए वह अनुमानादि का प्रयोग कैसे करता है। चन्द्रकीर्त्ति इसके समाधान में कहते है कि उन्मत्त के साथ तो हमारा विवाद नही है, प्रत्युत हेतु-दृष्टान्तवादियो के साथ है। ऐसे लोगो से विचार के लिए आचार्य को भी अपनी अनुमानप्रियता प्रकट करनी पडती है। वस्तुत, माध्यमिक का कोई पक्षान्तर नही है, इसलिए उसे अनुमान का स्वतन्त्र प्रयोग करना युक्त नही है। विग्रहव्यावर्त्तनी मे आचार्य कहते है कि यदि मेरी कोई प्रतिज्ञा होती, तो मुझपर अनुमान-सम्बन्धी दोप लगते, किन्तु मेरा कोई पक्ष नही है। मेरे पक्ष मे कोई प्रतिज्ञा इसलिए भी नही वनती कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से किसी वस्तु की उपलब्धि प्रमाणित नही होती। उपलब्धि हो, तब उसके लिए प्रवर्त्तन, निवर्त्तन या उसके साधन का प्रश्न उठे। अत, हमपर अन्य वादियो का किसी प्रकार भी उपालम्भ नही है। आर्यदेव भी कहते है कि सत्, असत्, सदसत् इनमें से जिसका कोई भी पक्ष ही नही है, उसपर चिरकाल मे भी कोई दोप आरोपित नही किये जा सकते।

माध्यमिक को वादियो के आक्षेपो का परिहार स्वपक्ष में दोषो के अप्रसगापादन (दोप न लगने की प्रणाली) से करना चाहिए। यथा स्वत उत्पादवादी साख्य से पूछना चाहिए कि आप कार्यात्मक स्व से स्वत उत्पाद मानते है या कारणात्मक ? प्रथम पक्ष मे सिद्धसाधनता (सिद्ध वात को ही सिद्ध करना) होगी, क्योकि कार्यात्मक का कार्यत्व स्वय सिद्ध है, विद्यमान है। द्वितीय पक्ष में विरुद्धार्थता है; क्योकि कारणात्मना विद्यमान की अवस्था में ही उसका विरोधी कार्यात्मकत्व भी स्वीकार करना पडेगा। इस तर्क में विद्यमानत्व हेतु माध्यमिक का नही है, इसलिए सिद्धसाधनता या विरुद्धार्थता का परिहार उसे नही करना है।

अन्यवादी कहते है कि जब माध्यमिक को स्वतन्त्र अनुमान का अभिधान नही करना है, और उसके पक्ष में पक्ष-हेतु-दृष्टान्त भी असिद्ध है, तब वह साख्य के स्वत उत्पाद के प्रतिषेध

की अपनी प्रतिज्ञा का साधन कैसे करेगा, और पर की प्रतिज्ञा का निराकरण भी कैसे करेगा, क्योकि वादी-प्रतिवादी उभय-सिद्ध अनुमान से ही निराकरण सम्भव होता है। एक ओर पूर्व-पक्षी अपने अनुमान को निर्दुष्ट रखने के लिए दोषरहित पक्ष-हेतु-दृष्टान्तो का प्रयोग करेगा। किन्तु दूसरी ओर माध्यमिक उनमे दोषो का अभिधान करेगा नही, इस प्रकार वादी के दोषो का परिहार नही होगा, फलत माध्यमिक परपक्ष का निराकरण नही कर सकेगा।

चन्द्रकीर्त्ति कहते है कि जो व्यक्ति जिस अर्थ को जिन उपपत्तियो से निश्चयपूर्वक स्वय जानता है, वह अपना निश्चय दूसरो मे भी उत्पन्न करने की इच्छा से उन उपपत्तियो का उपदेश करता है। इस न्याय से यह सिद्ध होता है कि पर को ही स्वाभ्युपगत प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए हेतु आदि का उपादान करना चाहिए, माध्यमिको को नही। वस्तुत, दूसरे के प्रति हेतु आदि का प्रयोग नही होता, बल्कि अपने पक्ष के निश्चय के लिए होता है। अन्यथा, उसका पक्ष स्वय विसवादित हो जायगा, फिर वह दूसरे को स्वप्रतिज्ञा का निश्चय क्या करा सकेगा? इसलिए, युक्तिहीन पक्ष का स्पष्ट दोष यही है कि वह स्वप्रतिज्ञार्थ के साधन में ही अपने को असमर्थ बना लेता है। ऐसी अवस्था मे माध्यमिक को परपक्षीय अनुमान के बाधोद्भावन से भी कोई प्रयोजन नही रहता।

माध्यमिक की दोषोद्भावन-प्रणाली

चन्द्रकीर्त्ति एक विशेष बात की ओर ध्यान दिलाते है। यद्यपि माध्यमिक की अपनी कोई प्रतिज्ञा नही है, इसलिए उसे अनुमान के स्वतन्त्र प्रयोग की आवश्यकता नही पडती, फिर भी उसे परपक्ष के अनुमान-विरोधी दोषो की उद्भावना करनी चाहिए। इसके समर्थन में वह आचार्य बुद्धपालित की प्रणाली का उल्लेख करते है—पदार्थ स्वत ही उत्पन्न नही होते, क्योकि स्वात्मना विद्यमान की उत्पत्ति मानने मे कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता। जैसे किसी को स्वात्मना विद्यमान घटादि के उत्पाद की अपेक्षा नही होती, इसी प्रकार स्वात्मना विद्यमान समस्त भावो का पुन उत्पाद मानना व्यर्थ है। इस प्रकार, साख्यो के अनुमान मे माध्यमिक आचार्य बुद्धपालित ने साधर्म्य, दृष्टान्त और हेतु के उपादान के द्वारा विरोध का उद्भावन किया है।

माध्यमिक के अनुमान में हेतु और दृष्टान्त के अनभिधान का दोष नही दिया जा सकता, क्योकि स्वत उत्पादवादी साख्य के पक्ष मे अभिव्यक्त घट की पुन अभिव्यक्ति अभीष्ट नही है। इस सिद्ध रूप को ही माध्यमिक दृष्टान्त के रूप मे ग्रहण करेगा। इसी प्रकार, साख्य-सम्मत अनभिव्यक्त शक्ति रूप को ही उत्पाद-प्रतिषेध से विशेषित करके माध्यमिक अपने अनुमान मे साध्य स्वीकार करेगा। इस प्रकार, माध्यमिक-पक्ष म सिद्धसाधनता और विरुद्धार्थता आदि दोष नही लगेगे।

अथवा, स्वत उत्पादवाद के निरास के लिए माध्यमिक साख्य के उस अनुमान में दोषोद्भावन करेगा, जिससे साख्यवादी पुरुष से अतिरिक्त समस्त पदार्थो का स्वत उत्पाद सिद्ध

करता है; क्योंकि माध्यमिक साख्य-सम्मत पुरुष के दृष्टान्त मे ही 'स्वात्मना विद्यमानत्व' हेतु के बल से स्वत उत्पाद का निषेध सिद्ध कर देगा। साख्यवादी यदि कहे कि उत्पाद के निषेध मे मुझ अभिव्यक्तिवादी का अनुमान बाधित नही होगा, तो यह ठीक नही है, क्योंकि अनुपलब्ध की उपलब्धि—अभिव्यक्ति और उत्पाद दोनों में समान है। इसलिए, उत्पाद शब्द से अभिव्यक्ति का ही अभिधान है। उत्पाद शब्द मे अभिव्यक्ति स्वीकार करना अनुचित नही है, क्योंकि अर्थवाक्य विपुल अर्थों के द्योतक होते हैं। इसीलिए, वे अपेक्षित समस्त अर्थ का सग्रह करके विशेष अर्थ के बोधन मे प्रवृत्त होते हैं।

यदि अनुमान के पक्ष, हेतु आदि प्रसग से विपरीत अर्थों का बोधन करें भी, तो उसमे माध्यमिक का क्या सम्बन्ध ? क्योंकि उसकी कोई स्वप्रतिज्ञा नही है, जिसमे उसके सिद्धान्त का विरोध होता हो। और फिर, यदि प्रसागविपरीतता की आपत्ति से परवादी के पक्ष मे दोष आते हैं, तो वह माध्यमिक को अभीष्ट ही होगा। नि स्वभाववादी अपने प्रयोग से सस्वभाववादी के अनुमान को जब दोषपूर्ण सिद्ध करता है, तब भी प्रयोग-मात्र से प्रसगविपरीतार्थता (अपने सिद्धान्त के विरुद्ध जाना) का दोष माध्यमिक पर नही लगेगा, क्योंकि शब्द दाण्डपाशिक के समान वक्ता को अस्वतन्त्र नही बनाते, प्रत्युत वह वक्ता की विवक्षा का अनुविधान-मात्र करते है। वस्तुत, माध्यमिक पर-प्रतिज्ञा के प्रतिषेध-मात्र से ही सफल है।

आचार्य प्रसगापत्ति के द्वारा भी परपक्ष का निराकरण करते है। आचार्यगण मध्यमक-दर्शन को अगीकार करके भी तर्कशास्त्र में अपनी अतिकुशलता आविष्कृत करने के लिए स्वतन्त्र अनुमान का प्रयोग करते है। इनके ऐसे अनुमान-प्रयोगो से तार्किक पक्ष की ही दोष-राशि उपलक्षित होती है, जैसे माध्यमिक का वह अनुमान-प्रयोग लीजिए, जिसमे वह साख्य-सम्मत पुरुष के दृष्टान्त में अनुत्पाद के साथ विद्यमानत्व-हेतु की व्याप्ति देखकर सर्वत्र आध्यात्मिक आयतनो का पारस्परिक दृष्टि से अनुत्पाद सिद्ध करता है ('आध्यात्मिकानि आयतनानि न परमार्थत स्वतः उत्पन्नानि, विद्यमानत्वात्, चैतन्यवत्')।

यहाँ प्रश्न उठता है कि माध्यमिक के इस अनुमान-प्रयोग में किस अर्थ की सिद्धि के लिए 'परमार्थत' विशेषण है, क्योंकि लोक-सवृत्ति (लोकबुद्धि) से स्वीकृत उत्पाद अप्रतिषेध्य होता है। किन्तु माध्यमिको के मत मे लोक-सवृत्ति से भी भावो का स्वत उत्पाद सिद्ध नही होता। माध्यमिक से इतर मतावलम्बियो की अपेक्षा से भी यह विशेषण सार्थक नही है, क्योंकि माध्यमिक परमत की उत्पाद आदि व्यवस्था को सवृत्या भी कहाँ स्वीकार करता है ? यह भी नही है कि सामान्य जन स्वत उत्पाद से प्रतिपन्न हो, जिनकी अपेक्षा से यह विशेषण सार्थक बने। वस्तुत, सामान्य जन स्वत, परत आदि के विचार मे उतरता ही नहीं। हाँ, वह कारण से कार्य की उत्पत्ति की व्यवस्था अवश्य मानता है।

यह हो सकता था कि जो लोग सावृतिक दृष्टि से भावो की उत्पत्ति मानते है, उनके निराकरण के लिए परमार्थ विशेषण सार्थक हो। किन्तु, इस दृष्टि से जो अनुमान का प्रयोग होगा, वह अवश्य ही पक्ष-दोष, हेतु-दोष से ग्रस्त होगा। पक्ष-दोष तो इसलिए होगा कि पारमार्थिक

रूप से चक्षुरादि आयतनो का स्वतः उत्पाद माना नही जाता। ऐसी अवस्था मे अनुमान का आधार ही असिद्ध है। यदि उत्पत्ति-प्रतिषेध के साथ 'परमार्थ' का योग करे और अर्थ करे कि सावृत चक्षुरादि की परमार्थत उत्पत्ति नही है, तो यह युक्त न होगा, क्योकि परपक्ष चक्षुरादि को वस्तुसत् मानता है। उसे माध्यमिक की प्रज्ञप्ति-सत्ता इष्ट नही है। इस प्रकार, आधार असिद्ध होगा और अनुमान पक्ष-दोष से ग्रस्त होगा।

चन्द्रकीर्त्ति यहाँ यह उद्भावन करते है कि 'शब्द अनित्य है' इत्यादि पक्ष को सिद्ध करने के लिए धर्म-सामान्य (अनित्यता-साधारण) और धर्मी-सामान्य (शब्द-साधारण) का ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा विशेष ग्रहण करने से अनुमान-अनुमेय-व्यवहार सदा के लिए समाप्त हो जायगा। शब्द और अनित्यता इस पक्ष और साध्य मे वादियो मे यह विप्रतिपत्ति होगी कि यहाँ किस शब्द का ग्रहण करे। बौद्ध-सम्मत चातुर्महाभौतिक शब्द ले, तो वह अन्य मत मे असिद्ध होगा। इसी प्रकार 'अनित्यता' से वैशेषिकादि, सम्मत 'सहेतुक विनाश' अर्थ ले, तो वह बौद्ध-मत मे असिद्ध है। बौद्ध-सम्मत 'निर्हेतुक विनाश' अर्थ करे, तो पर को असिद्ध होगा। ऐसी अवस्था मे अनुमान के लिए धर्म-धर्मी सामान्य-मात्र का ग्रहण करना चाहिए, जिससे वादियो मे तत्त्वकथा चल सके। अत, प्रकृत स्थल मे भी परमार्थ विशेषण का उत्सर्ग करके धर्मीमात्र का ग्रहण करना चाहिए।

किन्तु, विशेष ध्यान देने पर यह तर्कसम्मत मध्यमार्ग भी दोषपूर्ण ठहरता है, क्योकि जब उत्पाद-प्रतिषेध को साध्य बताते है, तब उस साध्य-धर्म का धर्मी (आध्यात्मिक आयतन) अपने मिथ्या रूप को प्रकट कर देता है, क्योकि वह सत्त्व के विपर्यास-मात्र से आसादित है। इस प्रकार, उसका धर्मत्व ही च्युत हो जाता है। इस प्रकार, इस अनुमान मे धर्मी की उपलब्धि सम्भव नही होगी, क्योकि अविपरीत ज्ञानवाले विद्वान् को विपर्यस्त बोध नही होगा, और इसके विना चक्षुरादि का सावृतधर्मित्व सिद्ध नही होगा।

शून्यता-अशून्यतावादियो मे दृष्टान्त-साम्य भी नही होगा, क्योकि उनके मत मे पूर्वोक्त रीति से चक्षुरादि सामान्य न सावृत सिद्ध होगा और न पारमार्थिक।

इसी प्रकार, माध्यमिक, प्रतिवादी के या अपने अनुमान के समस्त पक्ष, हेतु आदि की असिद्धि निश्चित करता है। माध्यमिक अनेक प्रकार से यह सिद्ध कर देता है कि सभी अनुमान पक्ष-दोष, हेतु-दोष, असिद्धार्थ, विरुद्धार्थ आदि दोषो से ग्रस्त हो जाते है। जैसे—हीनयानी कहे कि आध्यात्मिक आयतनो के उत्पादक हेतु है, क्योकि तथागत ने उनका निर्देश किया है, जैसे तथागत-निर्दिष्ट शान्त निर्वाण स्वीकृत है। इस अनुमान में माध्यमिक पूछेगा—'तथागत का निर्देश' इस हेतु मे तथागत का निर्देश सावृत है या परमार्थ। प्रथम पक्ष के सावृत होने से हेतु की असिद्धार्थता स्पष्ट है। द्वितीय पक्ष इसलिए असिद्ध है कि परमार्थ में निर्वर्त्त्य-निर्वर्त्तक-भाव (कार्यकारणभाव) असिद्ध है।

माध्यमिक स्वतन्त्र अनुमानवादी नहीं

वादी माध्यमिक पक्ष पर आक्षेप करते है कि आपने जैसे परकीय अनुमानो को दोष-सिद्ध किया है, उसी रीति से आपका अनुमान-प्रयोग भी दोष-दुष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में परपक्षी ही क्यो उन दोषो का उद्धार करे। उभय पक्ष के दोषो के उद्धार का दायित्व उभय पर है। अत, इन दोषो से आप कैसे वचते है।

चन्द्रकीर्त्ति कहते है कि स्वतन्त्र अनुमानवादी पर ही ये दोष लगते है। हम स्वतन्त्र अनुमानवादी नही है। हमारे अनुमानो की सफलता तो केवल पर-प्रतिज्ञा के निषेध-मात्र में है। जैसे स्वतन्त्र अनुमानवादी चक्षु के द्वारा देखना स्वीकार करता है ('चक्षु पश्यति')। माध्यमिक पूछता है कि आप चक्षु का आत्मदर्शन (अपने को देखना) तो स्वीकार नही करते और उनमे पर-दर्शन की अविनाभूतता (चक्षु का दूसरे को अनिवार्यतः देखना) स्वीकार करते है। हम इसके विपरीत घटादि मे स्वात्म-अदर्शन के साथ पर-दर्शन के अभाव का नियम पाते है। अत, जब चक्षु मे स्वात्म-दर्शन नही है, तो पर-दर्शन भी सिद्ध नही होगा। इस प्रकार, हम देखते है कि चक्षुरादि का नीलादि दर्शनवादियो के स्वप्रसिद्ध अनुमान के ही विरुद्ध है। माध्यमिक कहता है कि पूर्वोक्त प्रकार से हमे पर-पक्ष मे दोषो का उद्भावन-मात्र कर देना है। ऐसी स्थिति में मेरे पक्ष में उक्त दोष नही लग पाते, जिससे समानदोषता का प्रसग उठाया जा सके।

आचार्य चन्द्रकीर्त्ति कहते है कि वादी-प्रतिवादियो में किसी एक पक्ष की प्रसिद्ध मान्यता से भी अनुमान वाधित हो जाता है। जो लोग प्रमाण या दोषो का उभयवदियो से निश्चित होना आवश्यक मानते है, उन्हे भी लौकिक व्यवस्था के अनुसार स्ववचन से भी स्वानुमान खण्डित होता है, यह मानना पडेगा। इस प्रकार, केवल उभय-प्रसिद्ध आगम से ही आगम-वाधा नही दी जाती, प्रत्युत स्वप्रसिद्ध आगम से भी आगम वाधित होता है। विशेषत, स्वार्थानुमान में सर्वत्र स्वप्रसिद्धि का ही महत्त्व है, उभय-प्रसिद्धि आवश्यक नही है।

परतः उत्पादवाद का खण्डन

आचार्य स्वत उत्पादवाद का खण्डन करके परत. उत्पाद का खण्डन करते है।

भावो की परत उत्पत्ति नही होती, क्योकि पर का अभाव है। पदार्थो का स्वभाव प्रत्ययादि मे (जो पर है) नही है। मध्यमकावतार में परत उत्पत्तिवाद के खण्डन में चन्द्र-कीर्त्ति ने कहा है कि अन्य की अपेक्षा से यदि अन्य उत्पन्न हो, तो ज्वाला से भी अन्धकार होना चाहिए, और सबसे सब वस्तुओ का जन्म होना चाहिए; क्योकि कार्य के प्रति उसके अति-रिक्त अखिल वस्तुओ में परत्व अक्षुण्ण है।

स्वत-परत इन दोनो से भी भावो की उत्पत्ति नही होगी; क्योकि उक्त रीति से जव, तक एक-एक मे उत्पाद का सामर्थ्य नही है, तवतक मिलित मे भी कहाँ से आयगा?

भावो का अहेतुत उत्पाद भी नही होगा । अहेतुक उत्पाद माने, तो सर्वदर्शन-सम्मत कार्यकारणभाव के सिद्धान्त का विरोध होगा और अहेतुक गगन-कमल के वर्ण और गन्ध के समान हेतु-शून्य जगत् भी गृहीत न होगा ।

आचार्य चन्द्रकीर्त्ति कहते है कि पूर्वोक्त स्व, पर और उभय पक्षो मे ईश्वरादि का कर्त्तृवाद अन्तर्भूत है, अत इन पक्षो के खण्डन से ईश्वरोत्पादवाद आदि समस्त पक्ष भी निरस्त हो जाते है । इस प्रकार, हम देखते है कि आचार्य नागार्जुन सब प्रकार से भावो के उत्पाद-सिद्धान्त का खण्डन करके पूर्वोक्त अनुत्पाद आदि से विशिष्ट प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त सुदृढ करते है । आगे प्रतीत्यसमुत्पाद की सिद्धान्त-सम्मत व्याख्या दी जाती है ।

प्रतीत्यसमुत्पाद

आचार्य चन्द्रकीर्त्ति 'प्रतीत्यसमुत्पाद' से सापेक्षकारणता की सिद्धि के लिए उससे सम्बद्ध पूर्ववर्त्ती आचार्यो की विरुद्ध व्याख्याओ का निषेध करते है और उसका सिद्धान्त-सम्मत अर्थ करते है ।

चन्द्रकीर्त्ति के अनुसार 'प्रतीत्य' पद मे प्रति, ई, का अर्थ प्राप्ति, अर्थात् 'अपेक्षा' है और उसका 'ल्यप्' प्रत्यय के साथ योग होने पर 'प्राप्त कर', 'अपेक्षा कर', होने पर' यह अर्थ होता है । 'समुत्पाद' शब्द सम्-उत् पूर्वक पद् धातु से निष्पन्न है, इसका अर्थ 'प्रादुर्भाव' है । इस प्रकार, 'प्रतीत्यसमुत्पाद' शब्द का मिलितार्थ है—"हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा करके भावो का उत्पाद या प्रादुर्भाव ।"

वीप्सार्थक व्युत्पत्ति का खण्डन—कुछ आचार्य 'ई' (इण्) को गत्यर्थक या विनाशार्थक मानते है और उसका तद्धितीय 'यत्' प्रत्यय से 'इत्य' को व्युत्पन्न करते है और उसका अर्थ 'विनाशी या 'विनाशशील' करते है । पुन वीप्सार्थक 'प्रति' से युक्त 'इत्य' का समुत्पाद के साथ समास करते है (प्रति प्रति इत्याना समुत्पाद) । इस पक्ष मे प्रतीत्यसमुत्पाद का समुदित अर्थ 'पुनः-पुन विनाशशील भावो का उत्पाद' होता है । चन्द्रकीर्त्ति इस अर्थ का खण्डन करते है ।

चन्द्रकीर्त्ति वादी-सम्मत व्याख्या की आलोचना में कहते है कि प्रतीत्यसमुत्पाद की वीप्सार्थक व्युत्पत्ति भगवान् के कुछ वचनो मे अवश्य सगत होगी । जैसे—"हे भिक्षुओ ।[1] तुम्हे प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना दूँगा, जो प्रतीत्यसमुत्पाद को जानता है, वह धर्म को जानता है" इत्यादि । किन्तु, जहाँ देशना में साक्षात् रूप से अर्थ-विशेष (कोई एक अर्थ) अगीकृत है और उस अर्थ का विज्ञान एक इन्द्रिय से होना बताना है, वहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद की वीप्सार्थता असगत होगी । जैसे भगवान् की यह देशना लीजिए—"चक्षु और रूप को प्राप्त कर चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है" (चक्षु प्रतीत्य रूपाणि च उत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम्) । यहाँ चक्षुरिन्द्रियहेतुक ज्ञान है, और वह एकार्थक है । ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति मे वीप्सार्थ की पौन -

१ "प्रतीत्यसमुत्पाद वो भिक्षवो देशयिष्यामि । य प्रतीत्यसमुत्पाद पश्यति स धर्मं पश्यति ।

पुन्यता कैसे सम्भव होगी ? (पौन पुन्य के लिए अर्थों की अनेकता आवश्यक है)। इसके विपरीत प्रतीत्यसमुत्पाद को यदि प्राप्त्यर्थक मानते हैं, तो यह दोष न होगा, क्योंकि अर्थविशेष अंगीकृत हो या न हो, दोनों अवस्थाओं में प्रतीत्य की प्राप्त्यर्थता सम्भव है। जहाँ कोई अर्थ-विशेष (कोई एक अर्थ) अंगीकृत न हो, उस सामान्य स्थल में प्रतीत्य का अर्थ 'प्राप्त कर' होगा। जहाँ अर्थ-विशेष अंगीकृत है, वहाँ भी 'चक्षु प्रतीत्य' 'चक्षु प्राप्त कर' 'देखकर' अर्थ होगा।

यदि कोई कहे कि विज्ञान अरूपी है, उसकी चक्षु से प्राप्ति नहीं होगी। यह ठीक नहीं है। क्योंकि, जिस प्रकार "यह भिक्षु फल (निर्वाण)-प्राप्त है" ('प्राप्तफलोऽयं भिक्षुः') इस वाक्य में प्राप्ति अभ्युपगत है, उसी प्रकार यहाँ भी प्राप्ति अभीष्ट है। चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि माध्यमिक 'प्राप्य' शब्द का पर्याय 'प्रेक्ष्य' मानते हैं। इसे आचार्य अपने सूत्र में भी स्वीकार करते हैं (तत्तत् प्राप्य समुत्पन्नं नोत्पन्नं तत्स्वभावतः)।

इदम्प्रत्ययता का खण्डन—कुछ लोग प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ इदम्प्रत्ययता-मात्र करते हैं और इसमें "अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादाद् इदम् उत्पद्यते" (इसके होने पर यह होता है, इसके उत्पन्न होने पर यह उत्पन्न होता है) इस वचन का प्रमाण उपस्थित करते हैं। यह अयुक्त है। क्योंकि, इसमें 'प्रतीत्य' और 'समुत्पाद' दोनों शब्दों के अर्थ-विशेष का अभिधान नहीं है, जब कि उक्त वचन में वह स्पष्ट विवक्षित है।

चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि 'प्रतीत्यसमुत्पाद' को एक रूढि शब्द भी नहीं मान सकते, क्योंकि आचार्य ने पूर्वोक्त वचन में स्पष्ट ही अवयवार्थों को लेकर व्याख्या की है। 'इसके होने पर यह होता है' इस वाक्य में भी सति-सप्तमी या अर्थ 'प्राप्ति' या 'अपेक्षा' ही है। 'ह्रस्वे सति दीर्घं भवति' में 'ह्रस्वे सति' का अर्थ 'ह्रस्वता की अपेक्षा' या 'ह्रस्वता प्राप्त कर' यह अर्थ है।

बुद्ध-देशना की नेयार्थता और नीतार्थता

आरम्भ में प्रतीत्यसमुत्पाद को अनुत्पादादि से विशिष्ट कहा गया है। वादी का प्रश्न है कि माध्यमिक प्रतीत्यसमुत्पाद को अनुत्पादादि-विशिष्ट कैसे मानेगा, जब कि 'अविद्या[1] प्रत्यय से संस्कार . अविद्या-निरोध से संस्कार का निरोध', 'तथागत[2] का उत्पाद माने या अनुत्पाद माने, इन धर्मों की धर्मता स्थित है।' 'सत्त्व[3] स्थिति के लिए एक धर्म है, जो कि चार आहार हैं' इत्यादि वचनों में भगवान् ने अनेकानेक धर्मों की सत्ता स्वीकार की है। इसके अतिरिक्त परलोक से इहागमन, इहलोक से परलोक-गमन आदि भी सम्मत है।

आचार्य चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद की निरोधादि विशिष्टता आपाततः प्रतीत होती है। इसलिए, मध्यमक-शास्त्र के द्वारा आचार्य ने सूत्रान्तों के दो विभाग उपदर्शित

---

१ "अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः अविद्यानिरोधात् संस्कारनिरोधः।"

२ "उत्पादाद् वा तथागतानामनुत्पादाद् वा तथागतानां स्थितैवैषां धर्माणां धर्मता।"

३ "एको धर्मः सत्त्वस्थितये, यदुत चत्वार आहाराः।"

किया भगवान् के वचनो की नेयार्थता और नीतार्थता से अपरिचित लोग उनकी देशना का अभिप्राय न जानकर पूर्वोक्त प्रकार के सन्देह करते है। वे नही जानते कि कौन-सी देशना तत्त्वार्थ है और कौन-सी आभिप्रायिकी है। ऊपर के भगवत्-वचनो मे प्रतीत्यसमुत्पाद उत्पाद, निरोध आदि से अवश्य निर्दिष्ट है, किन्तु वह अविद्या-तिमिर से उपहत दृष्टिवालो की अपेक्षा से है, न कि अनास्रव स्वभाव से युक्त अविद्या-तिमिर से अनुपहत ज्ञानवालो की अपेक्षा से। तत्त्वदर्शन की अपेक्षा से ('तत्त्वार्था.') भी भगवान् के वचन है, जैसे 'हे भिक्षुओ[1]! अमोषधर्मा निर्वाण परम सत्य है, सर्व सस्कार मोषधर्मा एव मृषा हैं, इत्यादि।

आर्य अक्षयमति सूत्र के अनुसार जो सूत्रान्त-मार्ग (मोक्ष-साधन) के अवतार के लिए निर्दिष्ट है, वे नेयार्थ है, और जो फल (मोक्ष) के अवतार के लिए निर्दिष्ट है, वे नीतार्थ है। इसलिए, आचार्य ने भी तत्त्वदर्शन की अपेक्षा से ही 'न स्वत नापि परत' इत्यादि युक्तियों से जगत् को नि स्वभावता सिद्ध की है। वस्तुत, आचार्य ने भगवान् की उत्पादादि देशना को मृषाभिप्रायिक सिद्ध करने के लिए ही समस्त मध्यमक-शास्त्र मे प्रतीत्य-समुत्पाद का विश्लेषण किया है।

एक प्रश्न है कि यदि धर्मों का मृषात्व-प्रतिपादन ही इस समारम्भ का उद्देश्य है, तो जो मृषा होता है, वह सर्वथा असत् होता है। ऐसी अवस्था मे सत्त्व के अकुशल-कर्म नही है और उसके अभाव में दुर्गतियाँ नही होगी। जब कुशल कर्म नही है और उसके अभाव से सुगतियाँ नही है, तो सुगति-दुर्गति के अभाव से ससार का भी अभाव होगा। ऐसी अवस्था में निर्वाण के लिए माध्यमिक का यह समस्त आरम्भ भी व्यर्थ होगा।

चन्द्रकीर्त्ति कहते है कि माध्यमिक सत्याभिनिवेशी लोक की प्रतिपक्ष भावना के लिए सवृति-सत्य की अपेक्षा से भावो का मृषात्व-प्रतिपादन करता है। किन्तु कृतकार्य आर्य मृषा, अमृषा कुछ भी उपलब्ध नही करता, क्योकि जिसे सर्वधर्मो का मृषात्व परिज्ञात है, उसके लिए न कर्म है और न ससार। वह किसी भी धर्म के अस्तित्व-नास्तित्व की उपलब्धि नही करता। जिसे विपर्यस्त धर्मो का मृषात्व अवगत नही है, वह प्रतीत्यसमुत्पन्न भावो में स्वभावाभिनिवेश करता है। धर्मों में सत्याभिनिविष्ट व्यक्ति ही कर्म करता है, और ससरण करता है। विपर्यासावस्थित होने के कारण उसे निर्वाण का अधिगम नही होता।

रत्नकूटसूत्र मे उक्त है कि हे काश्यप! गवेषणा करने पर चित्त नही मिलता, जो मिलता नही, वह उपलब्ध नही है, जो उपलब्ध न होगा, वह अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न

---

1 "एतद्धि भिक्षवः परम सत्यं यदुत अमोषधर्मनिर्वाणम्। सर्वसस्काराश्च मृषा मोषधर्माण।"

"फेनपिण्डोपमं रूप वेदना बुद्बुदोपमा।
मरीचिसदृशी सज्ञा स स्कारा कदलीनिभा।
मायोपम च विज्ञानमुक्तमादित्यबन्धुना॥"

में भी न होगा, जो अतीत-अनागत-प्रत्युत्पन्न में नही है, उसका कोई स्वभाव नही है, जिसका कोई स्वभाव नही है, उसका उत्पाद नही, जिसका उत्पाद नहीं, उसका निरोध नही ।

यहां आचार्य चन्द्रकीर्त्ति विभिन्न प्राचीन सूत्रो के प्रमाणो को उद्धृत कर सिद्ध करते है कि पदार्थ यद्यपि मृपा-स्वभाव है, किन्तु वे सक्लेश (क्लेश) और व्यदान (मोक्ष) के निमित्त होते हैं ।

पहले अविद्या-सस्कार-नामरूपादि देशना की सावृतिकता दिखाई गई है। अब चन्द्रकीर्त्ति सवृति का स्वरूप-व्यवस्थापन करते हैं।

संवृति की व्यवस्था

सवृति की सिद्धि इदम्प्रत्ययता-मात्र ('यह' बुद्धि जैसे—यह घट है, यह पट है इत्यादि) से होती है। इसलिए, माध्यमिक पूर्वोक्त स्वत , परत , उभयत , अहेतुत , इन पक्षो का अभ्युपगम नही करते, अन्यथा वह सस्वभाववाद मे आपन्न होगे । 'इदम्प्रत्ययता' के अभ्युपगम से हेतु-फल की अन्योन्यापेक्षता सिद्ध होती है। इससे सावृतिक अवस्था में भी स्वभाववाद निरस्त होता है। वस्तुतः, पदार्थों के सम्बन्ध में भगवान् का यह सकेत कि—"इसके होनेपर यह होता है, इसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है", सावृतिक निःस्वभावता को प्रकट करता है ।

वादी प्रश्न करता है कि 'भाव अनुत्पन्न है, आपका यह निश्चय प्रमाणो से जन्य है या अप्रमाणज है ? यदि प्रमाणज है, तो प्रमाणो की सख्या और लक्षण बताये, और यह बताइए कि उनके विपय क्या-क्या है ? पुन वे स्वत उत्पन्न होते हैं, या परत ; उभयत अथवा अहेतुत ।

अप्रमाणज पक्ष युक्त नही है, क्योकि प्रमेय का अधिगम प्रमाणाधीन होता है। यदि प्रमाण नहीं है, तो अधिगम नहीं होगा, और अधिगम नहीं होगा, तो 'भाव अनुपपन्न हैं' यह निश्चय नही होगा। पुन. आपके समान हम भी सर्व भावो की सस्वभावता के निश्चय पर दृढ क्यो न होगे ? और, जैसे आप सर्व भावो की अनुत्पन्नता पर दृढ हैं, वैसे हम सर्व भावो की उत्पत्ति के वाद को सुस्थिर क्यो न करेंगे ? आपको एक यह भी कठिनाई होगी कि आपका स्वय अनिश्चित पक्ष परपक्ष का प्रत्यायन नही कर सकता। ऐसी अवस्था मे मध्यमक-शास्त्र का आरम्भ करना व्यर्थ होग, और हमारा पक्ष (सर्व भावो की सत्ता) अप्रतिपिद्ध होगा ।

चन्द्रकीर्त्ति समाधान करते है कि हमारा कोई निश्चय नही है, जिसके प्रमाणज-अप्रमाणज होने का आप प्रश्न उठाये । हमारे पक्ष मे कोई अनिश्चय भी नही है, जिसकी अपेक्षा से प्रति-पक्ष में निश्चय खडा हो । सम्बन्धी से निरपेक्ष होकर निश्चय या अनिश्चय खडे नही हो सकते। माध्यमिक पक्ष में निश्चय का अभाव है, अत उसकी प्रसिद्धि के लिए प्रमाण की सख्या, लक्षण, विपय आदि किसी के भी सम्बन्ध में विप्रतिपत्तियो के निरास का भार माध्यमिक पर नही है। हम पक्ष-चतुष्टय (स्वत , परत , उभयत अहेतुत उत्पाद)-वाद का जो निश्चय, पूर्वक खण्डन करते हैं, वह भी लोक-प्रसिद्ध उपपत्तियो से ही, आर्य की परमार्थ-दृष्टि से नही। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि आर्यों के पास उपपत्तियाँ नही है, वल्कि यह कि आर्य तूष्णीभाव को

परमार्थ समझते हैं। आर्य लोक को अपने परमार्थ का बोध लोक की ही प्रसिद्ध उपपत्तियों से कराते हैं।

यदि वादी कहें कि हमें पदार्थ की सत्ता का अनुभव होता है। यह माध्यमिक मत में भी ठीक है, किन्तु वह अनुभव तैमिरिक के द्विचन्द्रादि अनुभव के समान अवश्य ही मृषा है।

प्रमाण द्वयता का खण्डन

वादी स्वलक्षण (पदार्थ का असाधारण रूप) तथा सामान्य-लक्षण (पदार्थ का साधारण रूप) इन दो प्रमेयों के अनुरोध से दो प्रमाण मानते हैं। किन्तु, विचार करना है कि जिनके ये दो लक्षण है, उनसे पृथक् लक्ष्य है या नहीं? है, तो तृतीय प्रमेय सिद्ध होगा, फिर प्रमाण-द्वय कैसे? नहीं है, तो वे दोनो लक्षण निराश्रय होंगे, फिर भी प्रमाण-द्वयता कैसे? वादी कहे कि हमारे मत मे 'जिसके द्वारा लक्ष्य लक्षित है' ('लक्ष्यतेऽनेन'), वह लक्षण नहीं है, प्रत्युत 'जो लक्षित हो' ('लक्ष्यते तदिति लक्षणम्'), वह लक्षण है। इस व्युत्पत्ति मे भी जिस करण से यह लक्षित होगा, उससे अर्थान्तरभूत कर्म मानना पडेगा। फिर, पूर्वोक्त दोष आपतित होंगे। यदि कहे कि ज्ञान अवश्य करण-साधन ('ज्ञायतेऽनेन इति ज्ञानम्') है, किन्तु वह स्वलक्षण के अन्तर्भूत है। यह ठीक नहीं है। अन्य पदार्थों से असाधारण (अत्यन्त भिन्न) एव भावो का आत्मीय स्वरूप स्वलक्षण कहलाता है, जैसे पृथ्वी का काठिन्य, वेदना का विपयानुभव, विज्ञान की विषय-प्रतिविज्ञप्ति। वादी के अनुसार ज्ञान की करणता अभ्युपगत है ही, अब 'लक्ष्यते तत्' इस व्युत्पत्ति के आधार पर कर्मता भी अभ्युपगत होगी, जो अवश्य ही विज्ञान-स्वलक्षण से अतिरिक्त होगी। ऐसी अवस्था मे पूर्वोक्त दोषो की पुन प्रसक्ति हो जायगी।

यदि वादी कहे कि पृथिव्यादि का काठिन्यादि विज्ञानगम्य है, अतः वह उसका कर्म है, इस प्रकार स्वलक्षण से कर्म अतिरिक्त नहीं होगा। वादी का यह कहना अयुक्त है। क्योंकि, इस प्रकार विज्ञान-स्वलक्षण कर्म नहीं होगा, और कर्म के विना स्वलक्षण प्रमेय सिद्ध नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, वादी को प्रमेय मे यह विशेष भेद करना होगा कि एक स्वलक्षण ऐसा है, जो लक्षित होता है, वह प्रमेयभूत है। दूसरा ऐसा है, जिससे लक्षित किया जाता है, वह अप्रमेयभूत है। यदि दूसरे को भी पहले के समान कर्म-साधन ही माने, तो उस कर्मभूत से अन्य कोई करण-भूत मानना ही पडेगा। इस दोष के परिहार के लिए यदि ज्ञानान्तर की करणता स्वीकार करें, तो अनवस्था-दोष होगा।

स्वसंवित्ति का खण्डन

एक पक्ष है कि स्वलक्षण की कर्मता माननी चाहिए, और उसका ग्रहण स्वसवित्ति से करना चाहिए। ऐसी अवस्था मे कर्मता रहने पर भी एक प्रमेय मे उसका अन्तर्भाव होगा। चन्द्रकीर्ति कहते है कि स्वसवित्ति असिद्ध है। यह सर्वथा अयुक्त है कि स्वलक्षण स्वलक्षणान्तर से लक्षित हो, और वह भी स्वसवित्ति से, क्योंकि स्वसवित्ति भी ज्ञान है। यदि वह स्वलक्षण से अभिन्न होगी, तो अतिरिक्त लक्ष्य का अभाव होगा। ऐसी अवस्था में पूर्व रीति से लक्षण-प्रवृत्ति निराश्रय होगी।

लक्ष्य-लक्षण का खण्डन

सिद्धान्ती कहता है कि हमे यह विचार करना होगा कि लक्ष्य से लक्षण भिन्न है या अभिन्न । यदि लक्ष्य से लक्षण भिन्न है, तो लक्ष्य से भिन्न अलक्षण भी है । उसके समान लक्षण भी अलक्षण क्यो नही होगा । इसी प्रकार, लक्षण से भिन्न होने के कारण अलक्ष्यवत् लक्ष्य भी लक्ष्य नही रहेगा । एक दोप यह भी होगा कि लक्षण जब लक्ष्य से भिन्न है, तब अवश्य ही लक्षण निरपेक्ष है, किन्तु यदि लक्षण-निरपेक्ष लक्ष्य है, तो खपुष्प के समान वह लक्ष्य न होगा । इन दोपो से बचने के लिए वादी यदि लक्ष्य-लक्षण की अभिन्नता माने, फिर भी दोप-मुक्त न होगा । लक्षण जैसे लक्षण से अभिन्न होने के कारण अपना लक्षणत्व छोड देता है, उसी प्रकार लक्ष्य भी अपनी लक्ष्यता छोड देगा । लक्ष्य लक्ष्य से अव्यतिरिक्त होने के कारण जैसे लक्ष्य-स्वभाव नही रहता, उसी प्रकार लक्षण भी अपनी लक्षण-स्वभावता छोडता है ।

आचार्य कहते है कि जब लक्ष्य-लक्षण एकीभाव और नानाभाव दोनो प्रकार से असिद्ध है, तब उनकी सिद्धि किसी तीसरे प्रकार से नही की जा सकती ।

जो लोग लक्ष्य-लक्षण की अवाच्यता के आधार पर उसकी सिद्धि चाहते है, वे भ्रान्त है , क्योकि अवाच्यता के लिए परस्पर विभागो का परिज्ञान न रहना आवश्यक है । किन्तु, यहाँ 'यह लक्षण है', 'यह लक्ष्य है' इसका परिज्ञान सम्भव नही है । ऐसी अवस्था में उसके अभाव-ज्ञान की कथा सुतरा असिद्ध है, क्योकि अभाव-ज्ञान की सिद्धि के लिए जिसका अभाव विवक्षित हो, उसका ज्ञान आवश्यक होता है ।

ज्ञान के द्वारा लक्ष्य-लक्षण का परिच्छेद माने, तो प्रश्न होगा कि परिच्छेद का कर्त्ता कौन है ? कर्त्ता के अभाव मे ज्ञान का करणत्व भी कैसा ? चित्त कर्त्ता नही हो सकता, क्योकि अर्थमात्र के दर्शन में चित्त का व्यापार है और अर्थविशेष का दर्शन चैतसो का व्यापार है । करणत्व की सिद्धि एक प्रधान क्रिया में दूसरी अप्रधान क्रिया के अगभाव की निर्वृत्ति कराने से होती है, किन्तु यहाँ ज्ञान और विज्ञान को मिश्रित कोई एक प्रधान क्रिया नही है । विज्ञान की प्रधान क्रिया अर्थमात्र की परिच्छित्ति है, और ज्ञान अर्थविशेप का परिच्छेद करता है । इस प्रकार ज्ञान का करणत्व और चित्त का कर्त्तृत्व असम्भव है । वादी कहते है कि आगमानुसार सर्व धर्म अनात्मा है, अत यद्यपि कोई कर्त्ता नही है, किन्तु क्रियादि व्यवहार होता है । आप आगम के सम्यक् अर्थ से अवगत नही है । यदि कहें कि 'राहो शिरः' (राहु का शिर) इस प्रयोग में भी शिर अतिरिक्त विशेषण नही है, फिर भी विशेपण-विशेष्य व्यवहार होता है । इसी प्रकार, 'पृथिव्या स्वलक्षणम्' (पृथ्वी का स्वलक्षण) में लक्ष्य-लक्षण का व्यवहार होगा, यद्यपि स्वलक्षण से अतिरिक्त पृथ्वी नही है ।

सिद्धान्ती कहता है कि 'राहो शिर ' प्रयोग में पाणि आदि अगो के समान अन्य अगो की अपेक्षा से (पदार्थान्तर साकाक्ष) शिरादि बुद्धि उत्पन्न हो सकती है, और अन्य सम्बन्ध के निरा-करण के लिए राहु विशेपण भी युक्त हो सकता है, किन्तु काठिन्यादि से अतिरिक्त पृथ्वी नही है, अत यहाँ विशेष्य-विशेपण भाव नही होगा । यदि कहे कि अन्य वादियो को पृथ्वी का लक्ष्यत्व

अभिमत है, उनके अनुरोध से ही माध्यमिक लक्षणाख्यान क्यो न करे ? यह ठीक नही है। तीर्थिको के युक्ति से रहित पदार्थो का माध्यमिक अभ्युपगम नही करेगे, अन्यथा उन्हे उनके प्रमाणान्तरो को भी मानना पडगा। वादी कहे कि 'राहो शिर ' दृष्टान्त मे शिर से अतिरिक्त राहु अर्थान्तर नही है, किन्तु अर्थान्तर प्रयोग होता है, इसलिए आप भी इस दृष्टान्त का अनुसरण कीजिए, तो ठीक नही, क्योकि लौकिक व्यवहार में इस प्रकार विचार नही चल सकता। लौकिक पदार्थो का अस्तित्व ही अविचारमूलक है।

जिस प्रकार विचार करने पर रूपादि से अतिरिक्त आत्मा सिद्ध नही होता, किन्तु स्कन्धो के उपादान से लोकसवृत्या (लोक-बुद्धि से) आत्मा का अस्तित्व है, उस प्रकार भी 'राहो शिर' सिद्ध नही होता। अत, वादी का यह निदर्शन अयुक्त है। यद्यपि माध्यमिक काठिन्यादि से अतिरिक्त पृथिवीरूप लक्ष्य नही मानते, इसलिए लक्ष्यातिरिक्त निराश्रय लक्षण भी सिद्ध नही होता, तथापि वह लक्ष्य-लक्षण की परस्परापेक्षया सावृतिक सत्ता मानते है। इस बात को सभी अवश्य माने, अन्यथा सवृति-सत्य उपपत्तियो से वियुक्त न होगा, और सवृति भी तत्त्व हो जायगी। उपपत्तियो से विचार करने पर न केवल 'राहो शिर का अस्तित्व असम्भव है, प्रत्युत उक्त युक्तियो से रूप-वेदनादि की सत्ता भी सिद्ध नही होगी। अत, राहो शिर' के समान व असत् हो जायेगे। किन्तु, इस प्रकार की असत्ता अयुक्त है।

वादी कहता है कि माध्यमिक की यह सूक्ष्मेक्षिका (सूक्ष्म निरीक्षण) व्यर्थ है, क्योकि हम लोक समस्त प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार को सत्य कहाँ कहते है। पूर्वोक्त प्रणाली से केवल लोक-प्रसिद्धि का ही व्यवस्थापन करते है।

माध्यमिक कहता है कि आपकी यह सूक्ष्मेक्षिका व्यर्थ है, जिससे आप लौकिक व्यवहार का अवतारण करना चाहते है। क्योकि, हमारे पक्ष मे जबतक तत्त्वाधिगम नही होता, तबतक मुमुक्षु भी मोक्ष के आवाहक कुशल मूलो के उपचय-मात्र के लिए विपर्यास-मात्र से आसादित इस सवृत्ति-सत्य को मानता है। आपकी बुद्धि सवृति-सत्य और परमार्थ-सत्य का भेद करने मे विदग्ध नही है, इसलिए आप लौकिक न्याय का अनुरोध न करके उपपत्तियाँ देकर वस्तुत 'सवृति' का नाश करते है।

माध्यमिक मे सवृति-सत्य के व्यवस्थापन की विचक्षणता है, इसलिए लौकिक पक्ष का ही अनुरोध कर वह वादी के उस पक्ष का निवर्त्तन (उसी की मान्यताओ से) करता है, जो सवृति के एक देश के निराकरण के लिए वह अन्य-अन्य उपपत्तियाँ देता है। इस प्रकार, लोकाचार से भ्रष्ट लोगो को वृद्धजन जैसे उससे निवर्त्तन करते है, उसी प्रकार हम माध्यमिक लोकाचार-परिभ्रष्ट वादियो का निवर्त्तन करते है, सवृति का निवर्त्तन नही करते। इस प्रकार, यदि लौकिक व्यवहार है, तो अवश्य ही उसमे लक्ष्य-लक्षणभाव भी होगा। किन्तु, यह ध्यान रहे कि वह पूर्वोक्त दोषो से मुक्त नही होगा। परमार्थ सत्य की दृष्टि मे लक्ष्य-लक्षण दोनो की सत्ता सिद्ध नही होगी, फलत प्रमाण-द्वय की सत्ता भी सिद्ध नही होगी।

वादी आक्षेप करता है कि माध्यमिक के मत में एक बडा दोष यह है कि वह शब्दो की, क्रिया-कारक सम्बन्ध से युक्त व्युत्पत्ति नही मानता। किन्तु, क्रिया-कारकसम्बन्ध से प्रवृत्त शब्दो से व्यवहार करता है। किन्तु, शब्दार्थ तथा क्रिया-करणादि स्वीकार नही करता। माध्यमिक का उत्तर है कि आगम की प्रमाणान्तरता सिद्ध न होगी, क्योंकि हमने दोनो प्रमेयो (स्वलक्षण, सामान्यलक्षण) को भी असिद्ध कर दिया है।

प्रमाणो की अपरमार्थता

लोकसम्मत घट का प्रत्यक्ष होना असम्भव है, क्योकि नीलादि से पृथक् घट की सत्ता नही है और पृथिव्यादि से पृथक् नीलादि की सत्ता नही है। आचार्य चन्द्रकीर्त्ति यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण की विशेष परीक्षा करते है। कहते है कि 'घट प्रत्यक्ष है,' इस लौकिक व्यवहार का प्रत्यक्ष के लक्षण मे सग्रह नही होता। वस्तुत, यह अनार्य-व्यवहार है। यदि कहें कि घट के उपादान (कारण) नीलादि का प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्रहण होता है, अत. कारण के प्रत्यक्ष से उपचारवश कार्य को भी प्रत्यक्ष कहा जायगा, तो इसके लिए घट मे औपचारिक प्रत्यक्षता की सिद्धि आवश्यक होगी, और उपचार के लिए नीलादि से पृथक् घट अप्रत्यक्ष रूप मे उपलब्ध होना चाहिए, क्योकि यदि उपचर्यमाण (आश्रय) ही न होगा, तो उपचार किसमें होगा।

अपरोक्षार्थवाची प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ है—विषय की साक्षात् अभिमुखता। घट-नीलादि को अक्ष (इन्द्रिय) प्रतिगत (प्राप्त) करते है, अत वे प्रत्यक्ष है। इसलिए, उसके परिच्छेदक ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहा जाता है, जैसे तृणाग्नि, तुषाग्नि। यदि प्रत्यक्ष की व्युत्पत्ति 'जिस ज्ञान का व्यापार प्रत्येक इन्द्रिय (अक्ष अक्ष प्रति) के प्रति हो' करे, तो ठीक नही है। क्योकि ज्ञान का विषय इन्द्रिय नही होता, प्रत्युत अर्थ होता है। ज्ञान का व्यापार यदि उभय (इन्द्रिय और विषय दोनो) के अधीन माने, और इन्द्रिय की पटुता और मन्दता के भेद से ज्ञानभेद स्वीकार कर ज्ञान का व्यपदेश इन्द्रिय के आधार पर ही करे, जैसे चक्षुर्विज्ञानादि, तथा प्रत्येक विषय के प्रति होनेवाला ज्ञान (अर्थम् अर्थं प्रति वर्त्तते) यह व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ माने, फिर भी प्रत्येक इन्द्रिय का आश्रय लेकर होनेवाला अर्थ-विषयक विज्ञान प्रत्यक्ष है, यही अर्थ होगा। क्योकि, अर्थ और इन्द्रिय में इन्द्रिय असाधारण है, इसलिए उसी से ज्ञान व्यपदिष्ट होता है। ज्ञान का व्यपदेश विषय से मानने पर षड्विज्ञानो मे परस्पर भेद नही होगा। जैसे मनोविज्ञान चक्षुरादिविज्ञान के साथ किसी एक विषय मे प्रवृत्त होता है। ऐसी स्थिति में यदि विषय से ज्ञान का व्यपदेश करे, तो नीलादि विज्ञान मानस है या इन्द्रियज है, इसका भेद न होगा। किन्तु, आचार्य चन्द्रकीर्त्ति कहते है कि इस तर्क से भी प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय-व्यपदेश नही बनता। क्योकि, प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण 'कल्पनापोढता' (निर्विकल्प ज्ञान) है, वह विकल्प से निनरा भिन्न है। इसीलिए ,स्वलक्षण, सामान्य-लक्षण दो भिन्न प्रमेय है। उन प्रमेयो के अधीन दो भिन्न प्रमाणो की व्यवस्था है। ऐसी अवस्था मे ज्ञान का इन्द्रिय-व्यपदेश अकिंचित्कर है। इसलिए, ज्ञान की विषय से ही व्यवस्था करनी चाहिए।

विशेष ध्यान देने की बात यह है कि निर्विकल्प ज्ञान प्रत्यक्ष है, किन्तु उससे लोक-

व्यवहार नही चलता, जब कि शास्त्री को लौकिक प्रमाण-प्रमेय की ही व्याख्या करनी है। इसलिए, लक्ष्य स्वलक्षण हो या सामान्य-लक्षण, साक्षात् उपलब्ध होने के कारण अपरोक्ष ही है। द्विचन्द्रादि का ज्ञान भी केवल अतैमिरिक ज्ञान की अपेक्षा से भ्रान्त कहा जाता है। तैमिरिक की अपेक्षा से तो वह भी प्रत्यक्ष है। इसलिए, ज्ञान का विषय से ही व्यपदेश करना चाहिए।

अनुमान परोक्ष-विषयक होता है, और वह अव्यभिचारी साध्य और लिंग से उत्पन्न होता है। अतीन्द्रियार्थदर्शी आप्त का वचन आगम प्रमाण है। अनुभूत अर्थ का सादृश्य से अधिगम उपमान है। इस प्रकार, लोक इन चार प्रमाणो से अर्थ के अधिगम की व्यवस्था करता है।

किन्तु, ये समस्त प्रमाण-प्रमेय परस्पर की अपेक्षा से ही सिद्ध होते है। इनकी स्वाभाविक सिद्धि कथमपि नही होती, इसलिए इनकी केवल लौकिक स्थिति ही सिद्ध होती है, परमार्थ स्थिति नही है।

हेतुवाद का खण्डन

सर्वास्तिवादी बौद्ध हेतुवादी हैं। वे भावो के 'परत उत्पाद' मे प्रतिपन्न है। वे कहते है कि भगवान् ने हेतु-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय, समनन्तर-प्रत्यय तथा अधिपति-प्रत्यय की देशना की है। इसलिए इन पृथक्-भूत चार हेतुओ से भावो की उत्पत्ति होती है। ईश्वरादि जगत् के हेतु नही हैं, अत कोई पाँचवाँ हेतु नही है। जो निर्वर्त्तक (सम्पन्न करनेवाला) है, वह हेतु है। जो वीजभाव से अवस्थित होता है, उसे हेतु-प्रत्यय कहते हैं। जिस आलम्बन मे धर्म (पदार्थ) उत्पन्न होता है, वह आलम्बन-प्रत्यय है। कारण का अनन्तर-निरोध (अव्यवहित निरोध) कार्य का समनन्तर-प्रत्यय है। जिसकी सत्ता से जिसकी उत्पत्ति होती है, उसे अधिपति-प्रत्यय कहते है। इन चार प्रत्ययो से भावो की उत्पत्ति होती है।

आचार्य भावो की 'परत उत्पत्ति' भी नही मानते। वे चारो हेतुओ का खण्डन करते है। कहते है कि भावो (कार्य) की उत्पत्ति के पहले व्यस्त या समस्त रूप मे यदि हेतुओ की सत्ता हो, तो उनसे भावो का उत्पाद सम्भव हो, किन्तु ऐसा नही है। यदि उत्पाद मे पूर्व हेतु होगे, तो उनकी उपलब्धि होनी चाहिए। यदि उपलब्ध है, तो फिर उत्पाद व्यर्थ है। इसलिए, यह सिद्ध है कि हेतुओ मे कार्यों का स्वभाव (स्वसत्ता) नही है। जिनमें स्वभाव नही है, उनसे दूसरो का उत्पाद कैसे होगा।

अथवा अविकृत वीजादि कारणो मे कार्य का स्वभाव नही होता। ऐसी अवस्था मे कार्य से कारण की परवर्त्तिता सिद्ध नही होगी। क्योकि, दो विद्यमान वस्तुओ मे ही परस्परापेक्ष परत्व होता है, किन्तु वीज और अंकुर एककालिक नही हो सकते। इसलिए, वीजादि 'पर' नही होगे, फिर 'परत उत्पाद' नही होगा। इस प्रकार, आचार्य हेतुओ से उत्पाद के सिद्धान्त का खण्डन करते है। सहेतुक क्रिया से उत्पाद माननेवाले सिद्धान्त का भी खण्डन करते है।

'क्रिया से उत्पाद' का खण्डन

'क्रिया से उत्पाद' का सिद्धान्त माननेवाला वादी कहता है कि चक्षु-रूप आदि प्रत्यय (हेतु) विज्ञान को साक्षात् उत्पन्न नहीं करते, किन्तु विज्ञान की जनक क्रिया को निष्पन्न करते है। इसलिए, वे 'प्रत्यय' ('कार्य , प्रति अयन्ते गच्छन्ति' कार्योत्पाद के लिए व्यापृत) कहलाते है। इस प्रकार, प्रत्यय से युक्त विज्ञान की जनिका क्रिया ही विज्ञान को उत्पन्न करती है, प्रत्यय नही।

आचार्य कहते है कि पहले क्रिया सिद्ध हो, तब उसके प्रत्यय से युक्त होने का तथा उससे विज्ञान के उत्पन्न होने का प्रश्न उपस्थित हो, किन्तु किसी प्रकार क्रिया सिद्ध नही होती। पूर्वपक्षी को यह बताना होगा कि क्रिया 'उत्पन्न हुए विज्ञान' (अतीत) मे मानी जाय या 'उत्पन्न होनेवाले' (अनागत) में, या उत्पन्न हो रहे (वर्त्तमान) विज्ञान मे। जात का जन्म व्यर्थ है, और अजात मे कर्त्ता के विना जनन-क्रिया नही होगी, जात और अजात से अतिरिक्त जायमान की सत्ता नही है। इस प्रकार, तीनो कालो में जनन-क्रिया असम्भव है। अत , क्रिया-मात्र असिद्ध है। यदि क्रिया प्रत्यय से युक्त न हो, तो निर्हेतुक होगी। अत , क्रिया पदार्थ-जनक नही होगी। यदि क्रिया नही है, तो क्रिया से रहित प्रत्यय भी जनक न होगे।

एक प्रश्न है कि चक्षुरादि प्रत्ययो की अपेक्षा करके विज्ञानादि भाव उत्पन्न होते हैं। इसलिए, चक्षुरादि की प्रत्ययता स्पष्ट है। उनसे विज्ञानादि प्रत्यय उत्पन्न होगे। आचार्य कहते हैं कि बात तो यह है कि चक्षुरादि विज्ञान नामक कार्य उत्पन्न करने के पूर्व अप्रत्यय है, अत , अप्रत्ययो से विज्ञान (प्रत्यय) की उत्पत्ति नही होगी।

यहाँ वादी को यह भी बताना होगा कि उसके अनुसार चक्षुरादि विज्ञान के प्रत्यय है, तो वह सत् विज्ञान के है या असत् के। दोनो प्रकार अयुक्त है, क्योकि अविद्यमान अर्थ की प्रत्ययता नही होती और सत् को प्रत्ययता मे कोई प्रयोजन नही है। वादी कहता है कि आप हेतु का लक्षण निर्वर्त्तकत्व (उत्पादकत्व) करते है। किन्तु, आपके मत मे जब हेतुओ का अभाव है, तो उसका लक्षण कैसे होगा। आचार्य कहते है कि उत्पाद्य धर्म यदि उत्पन्न हो, तो उत्पादक हेतु उन्हे उत्पन्न करें। किन्तु, धर्म सत् या असत है, अत उत्पाद्य नही हैं।

आलम्बनादि प्रत्ययों का खण्डन—अन्त मे, आचार्य आलम्बनादि प्रत्ययो का खण्डन करते है। चित्त-चैत्त जिस रूपादि आलम्बन मे उत्पन्न होते है, वह आलम्बन-प्रत्यय है। प्रश्न है कि आलम्बन-प्रत्यय विद्यमान चित्त-चैत्तो का होता है, या अविद्यमान का? विद्यमान का आलम्बन-प्रत्यय मे कोई प्रयोजन सिद्ध नही होगा, क्योकि आलम्बन के पूर्व भी वह विद्यमान है। अविद्यमान का आलम्बन मे योग नही होगा।

इसी प्रकार, कारण के अव्यवहित निरोध से जो कार्योत्पाद-प्रत्यय है, वह समनन्तर-प्रत्यय है। किन्तु, अकुरादि-कार्य यदि अनुत्पन्न है, तो कारण बीजादि का निरोध भी अनुपपन्न है। ऐसी अवस्था मे जब कारण-निरोध नही है, तो अकुर का समनन्तर-प्रत्यय कौन होगा? कार्य अनुत्पन्न हो, फिर भी यदि बीजनिरोध माने, तो अभावीभूत बीज अकुर का हेतु कैसे होगा और बीज-निरोध का कारण क्या होगा?

जिस (कारण) के होने पर जो (कार्य) होता है, वह उसका अधिपति-प्रत्यय है। किन्तु, समस्त भाव प्रतीत्यसमुत्पन्न है, अत स्वभाव से रहित है। ऐसी अवस्था मे 'यस्मिन् सति' (जिसके होने पर) से बोधित कारणता कहाँ मिलेगी और 'यदिद' (जो होता है) से बोधित कार्यता कहाँ से आयगी।

फल की दृष्टि से भी हेतु नही है, क्योकि व्यस्त तन्तु-तुरी-वेमादि मे पट उपलब्ध नही होता। यदि उपलब्ध होगा, तो तन्तु-तुरी-वेमादि कारणो की बहुलता से कार्य की बहुलता होगी। समुदित तन्त्वादि मे भी पट नही है, क्योकि प्रत्येक अवयवो मे पट नही है। इस प्रकार, फल उपलब्ध नही है, अत प्रत्यय भी स्वभावत नही है। इस प्रकार, हेतुवाद अयुक्त है।

गति, गन्ता और गन्तव्य का निषेध

मध्यमक-शास्त्र का अभिधेयार्थ अनिरोधादि आठ विशेषणो से युक्त प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना है। उसकी सिद्धि भावो के उत्पाद-प्रतिषेध से की जा चुकी है, किन्तु भावो का अध्वगत (कालिक) आगम-निर्गम लोक मे सिद्ध है, जिससे भावो की नि स्वभावता पुन सन्दिग्ध हो जाती है। इस सन्देह की निवृत्ति करना और उसके द्वारा आगम-निर्गम से रहित प्रतीत्य-समुत्पाद की सिद्धि करना अपेक्षित है। इसके लिए नागार्जुन एक स्वतन्त्र अध्याय मे अनेक उपपत्तियो से गमनागमन-क्रिया का प्रतिषेध करते है।

गत, अगत और गम्यमान अध्व में गति का निषेध

गमन-क्रिया की सिद्धि 'गत', 'अगत' या 'गम्यमान' अध्व मे ही सम्भव है, जो परीक्षा से सर्वथा अयुक्त है। 'गत' अध्व का गमन इसलिए असिद्ध है कि वह गमन-क्रिया मे उपरत अध्व है। अत., वर्त्तमानकालिक गमन-क्रिया से उसका सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसलिए, गत का गमन ठीक नही है ('गत न गम्यते')।

'अगत' अध्व का भी गमन उपपन्न नही है, क्योकि जिसमे गमन-क्रिया (गमन) अनुत्पन्न है, वह 'अगत' अध्व है। 'अगत' अनागत-स्वरूप है, अनागत के साथ वर्त्तमान गमन-क्रिया का अत्यन्त भेद है। अत, अगत का गमन भी युक्त नही है ('अगत नैव गम्यते')। यदि अगत का गमन माने तो वह अवश्य ही अगत नही रहेगा।

इसी प्रकार गम्यमान का भी गमन नही बनेगा। गन्ता ने जिस देश को अतिक्रान्त किया है, वह 'गत' देश है, और जिसे अतिक्रान्त नही किया, वह 'अगत' देश है। उन दो से अतिरिक्त कौन-सा तीसरा देश है, जिसे गम्यमान देश कहा जाय और उसका गमन-क्रिया से सम्बन्ध जोडा जाय?

गमन-क्रिया से युक्त (गच्छत्) चैत्रादि के चरण से आक्रान्त देश की संज्ञा भी 'गम्यमान' नही हो सकती। चरण परमाणु से व्यतिरिक्त नही है। अंगुलि के अग्रभाग का परमाणु पूर्व देश है, जो 'गत' अध्व के अन्तर्गत है। पार्ष्णि-प्रदेश-स्थित चरम परमाणु का जो उत्तर देश है,

वह अगत अध्व के अन्तर्गत है। चरण के पूर्व देश और उत्तर देश की तरह प्रत्येक सूक्ष्म परमाणु का भी पूर्व-अवर दिग्-भाग है, जिसका गत-अगत अध्व मे अन्तर्भाव होगा। इस प्रकार, गतागत-विनिर्मुक्त गम्यमान अध्व का गमन सर्वथा असिद्ध है।

'गम्यमान' के गमन के खण्डन के लिए नागार्जुन अनेक पूर्वपक्ष उद्धृत कर खण्डन करते हैं—

गम्यमान मे ही चेष्टा हो सकती है, और जहाँ चेष्टा सम्भव होगी, वही गति होगी। चरण का उत्क्षेप-परिक्षेप चेष्टा है। वह गत, अगत अध्व में सम्भव नही है, अत गम्यमान में ही गति हो सकती है, क्योंकि जिसकी गति उपलब्ध है, वह गम्यमान है।

नागार्जुन कहते है कि वादी गमन-क्रिया के योग से ही गम्यमान का व्यपदेश करते है, किन्तु गमि-क्रिया एक है। ऐसी अवस्था मे 'गम्यमान के गमन' की सिद्धि के लिए गमि-क्रिया का 'गम्ययान' के साथ पुन सम्बन्ध कैसे होगा? ('गम्यमानस्य गमन कथ नामोपपज्यते'), क्योंकि गम्यमान मे एक गमि-क्रिया का समावेश ठीक है, द्वितीय के लिए अवकाश नही है। अन्यथा, 'गम्यमान' मे गमन-द्वय की आपत्ति होगी।

यदि गम्यमान व्यपदेश मे गमि-क्रिया का सम्बन्ध न मानें और 'गम्यते' के द्वारा गम्यमान अध्व की क्रिया का सम्बन्ध मानें, तो इस पक्ष मे गति के विना ही गम्यमान की सत्ता माननी पडेगी। तव गमन गति-रहित सिद्ध होगा।

यदि गम्यमान अध्व और 'गम्यते' क्रिया दोनो में क्रिया का सम्बन्ध माने, फिर भी अधिकरणभूत और आधेयभूत गमनद्वय की आपत्ति होगी। नागार्जुन कहते है कि गमन-द्वय को स्वीकार करने के लिए दो गन्ताओ को भी स्वीकार करना पडेगा, क्योंकि गन्ता का तिरस्कार कर गमन उपपन्न नही हो सकते, और जिस गमन का देवदत्त कर्त्ता है, उसमे द्वितीय कर्त्ता का अवकाश नही है। इस प्रकार, कर्त्तृ-द्वय का अभाव गमन-द्वय का अभाव सिद्ध करता है।

पूर्वपक्षी कहता है कि जैसे एक देवदत्त कर्त्ता मे बोलना, देखना आदि अनेक क्रियाएँ देखी जाती है, उसी तरह एक गन्ता मे क्रिया-द्वय क्यो न होगे? नही होगा, क्योंकि कारक शक्ति है, द्रव्य नही। यद्यपि द्रव्य के एक होने पर भी क्रिया-भेद से शक्ति का भेद होता, किन्तु एक समान दो क्रियाओ का कारक एकदेशिक नही देखा जाता। अत, गन्ता का गमन-द्वय नही होता।

गमनाश्रय गन्ता का निषेध

आचार्य नागार्जुन गमनाश्रय गन्ता का भी निषेध करते है। तर्क यह है कि जव गन्ता के विना निराश्रय गमन असत् है, तव गमन के असत् होने पर गन्ता की सिद्धि कैसे होगी? गन्ता की स्वरूप-निष्पत्ति ही गमन-क्रिया के करने से है। इसलिए, 'गन्ता का गमन' यह ठीक नही होगा, क्योंकि 'गन्ता गच्छति' इस वाक्य मे एक ही गमन-क्रिया है, जिसमे 'गच्छति' व्यपदेश होता है, उसके अतिरिक्त दूसरी कोई गमि-क्रिया नही है। द्वितीय गमि-क्रिया के विना 'गन्ता' गन्ता नही होगा। तव 'गन्ता गच्छति', यह व्यपदेश कैसे बनेगा? उक्त व्यपदेश की

सिद्धि के लिए यदि उभयत्र 'गति' का योग स्वीकार करे, तो पुन गमन-द्वय और गन्तृ-द्वय की प्रसक्ति होगी । इस प्रकार, 'गन्ता गच्छति' यह व्यपदेश नही बनेगा ।

'अगन्ता गच्छति' भी नही बनेगा, क्योकि अगन्ता गमि-क्रिया से रहित है, और 'गच्छति' की प्रवृत्ति गमि-क्रिया के योग से है । गन्ता, अगन्ता मे विनिर्मुक्त कोई तृतीय नही है, जो गमन-क्रिया से युक्त हो, इसलिए गमन असिद्ध है ।

गमनारम्भ का निरास

नागार्जुन गमनारम्भ का भी निरास करते है । वह प्रतिपक्षी से पूछते है कि आप गमनारम्भ गत, अगत या गम्यमान किस अध्व मे मानते हैं ? गत अध्व मे गमन का आरम्भ मानना ठीक नही है । 'गत' गमन-क्रिया की उपरति है । उसमे गमनारम्भ (जो वर्त्तमान है) मानने से अतीत वर्त्तमान का विरोध होगा । अगत म गमनारम्भ मानने से अनागत वर्त्तमान का विरोध होगा । गम्यमान अध्व मे गमनारम्भ मानने मे पूर्ववत् क्रिया-द्वय तथा कर्त्तृ-द्वय की आपत्ति होगी । जबतक स्थिति है, तबतक गमन का आरम्भ नही हुआ । गमन आरम्भ करने के पूर्व गत या गम्यमान अध्व नही है, जिसपर गमन हो । गमनारम्भ के पूर्व अगत अध्व अवश्य है, किन्तु उसपर गमन नही होगा, क्योकि जिसपर गमि-क्रिया का आरम्भ नही हुआ, वह अगत है ।

अध्वत्रय का निषेध

नागार्जुन गमनारम्भ का खण्डन करके उसी से गत-अगत-गम्यमान अध्व-त्रय की सत्ता का भी खण्डन करते है । जब गमि-क्रिया का प्रारम्भ उपलब्ध नही है, तब उसकी उपरति को 'गत' वर्त्तमानता को 'गम्यमान' और अनुत्पत्ति को 'अगत' कैसे कहेगे ? इस प्रकार, अध्व-त्रय के मिथ्यात्व से गमन-व्यपदेश की कारणता असिद्ध होती है । आलोकान्धकार के समान प्रतिपक्ष-भूत स्थिति की सिद्धि से भी गमन की सिद्धि नही होगी, क्योकि स्थिति की सिद्धि गमनापेक्ष है । गन्ता की स्थिति नही होगी । स्थिति मानने पर उसका गन्तृत्व-व्यपदेश न होगा ।

गमन की सत्ता गमन की निवृत्ति से भी निश्चित नही होगी, क्योकि गमन की निवृत्ति नही है । गन्ता गत अध्व से निवृत्त नही होगा, क्योकि गति ही नही है । इसीलिए, अगत से भी नही होगा । गम्यमान अध्व से निवृत्त इसलिए नही होगा कि वह अनुपलब्ध है । उसमे गमन-क्रिया का अभाव है ।

स्थिति और गति अन्योन्य-प्रतिद्वन्द्वी है । जब स्थिति है, तब गति का सद्भाव सिद्ध होगा । किन्तु, माध्यमिक गति के समान स्थिति का भी प्रतिषेध करते है—गति के ही समान स्थिति का आरम्भ या स्थिति की निवृत्ति स्थित, अस्थित और स्थीयमान मे सम्भव नही है ।

आचार्य गमन के प्रतिषेध के लिए एक विचित्र तर्क उपस्थित करते है । वे कहते है कि गन्ता से गमन भिन्न है या अभिन्न ? प्रथम पक्ष ठीक नही है, क्योकि यदि गन्ता से गमन-क्रिया अभिन्न है, तो कर्त्ता और क्रिया का एकत्व मानना पड़ेगा, क्रिया और कर्त्ता का भेदेन

अभिधान भी नही बनेगा। द्वितीय पक्ष भी ठीक नही है, क्योंकि गन्ता से गमन के पृथक् मानने पर घट-पट के समान गन्ता गमन-निरपेक्ष होगा तथा गमन गन्तृ-निरपेक्ष। एकी-भाव या नानाभाव के अतिरिक्त अन्य कोई प्रकार नहीं है, जिससे गन्तृत्व और गमनत्व की सिद्धि हो। देवदत्त का ग्रामगमनादि सर्वप्रसिद्ध है, किन्तु माध्यमिक तर्क से इसे असिद्ध करता है। तर्क यह है कि गति से गन्तृत्व अभिव्यक्त होता है, किन्तु देवदत्त गन्ता होकर गमन-क्रिया नही कर सकता। इसके लिए गति से पूर्व उसका गन्तृत्व सिद्ध होना चाहिए, किन्तु जिस गति से देवदत्त को गन्ता कहते है, उसके पूर्व गति-निरपेक्ष उसका गन्ता नाम निष्पन्न नही होगा। यदि कहें कि वह गति, जिससे देवदत्त गन्ता है, अन्य है, और वह गति अन्य है, जिससे उसका जाना (गच्छति) व्यवहृत होता है, तो यह अयुक्त है। क्योंकि, जिस गति से वह गन्ता है, उससे अतिरिक्त का गमन माने, तो गति-द्वय की प्रसक्ति होगी, एक गति वह, जिससे वह गन्ता है, दूसरी गति वह, जिससे 'गच्छति' व्यपदेश है।

इस प्रकार, सद्भूत गन्ता जो गमन-क्रिया से युक्त है, असद्भूत गन्ता जो गमन-क्रिया से रहित है, सदसद्भूत गन्ता जिसका उभयपक्षीय रूप है, तीनो मे गन्तृत्व नही बनेगा। इसी प्रकार, गमन का भी त्रिप्रकार नही बनेगा। इसलिए, आचार्य नागार्जुन उपसहार करते है कि गति, गन्ता और गन्तव्य कुछ भी सिद्ध नही किया जा सकता।

द्रष्टा, द्रष्टव्य और दर्शन का निषेध

गति, गन्ता और गन्तव्य का खण्डन करने के पश्चात् आचार्य द्रष्टा, द्रष्टव्य और दर्शन का खण्डन करते है, जिससे भगवान् के प्रवचन[1] को आधार बनाकर भी भावो का अस्तित्व सिद्ध न किया जा सके। सर्वास्तिवादी छ इन्द्रियो (द्रष्टा) और उनके विषयो (द्रष्टव्य) का अस्तित्व मानते है, जिससे दर्शनादि (चक्षुर्ज्ञानादि) का व्यपदेश होता है।

दर्शन की असिद्धि

आचार्य कहते है कि दर्शन (चक्षु) रूप को नही देखता। तर्क है कि दर्शन (चक्षु) जब आत्मरूप को अपने नही देख पाता, तब श्रोत्रादि के समान नीलादि को भी नही देखेगा। अग्नि 'पर' को दग्ध करता है, 'स्व' को नही, इस दृष्टान्त के आधार पर 'दर्शन' 'पर' को ही देखेगा 'स्व' को नही, यदि यह कहें, तो यह ठीक नही है; क्योंकि दर्शन के समान ही अग्नि के दग्धत्व का भी हम खण्डन करते है। क्योंकि, अग्नि के द्वारा दग्ध का दहन, अदग्ध का दहन आदि पक्ष अयुक्त है। इसी प्रकार, आचार्य यह भी कहते है कि दृष्ट का दर्शन नही किया जा सकता, अदृष्ट का दर्शन नही किया जा सकता, दृष्टादृष्ट से विनिर्मुक्त दृश्यमान का दर्शन नही किया जा सकता।

---

१ अभिधर्म में उक्त है—

> "दर्शन श्रवण घ्राण रसन स्पर्शन मन।
> इन्द्रियाणि षडेतेषां द्रष्टव्यादीनि गोचर ॥"

आचार्य कहते हैं कि दर्शन वह है, जो देखता है (पश्यतीति)। इस स्थिति में प्रश्न है कि दर्शन-क्रिया से दर्शन-स्वभाव चक्षु का सम्बन्ध है, या अदर्शन-स्वभाव चक्षु का ? दर्शन-स्वभाव (दर्शन-क्रिया से युक्त) चक्षु का 'पश्यति' के साथ सम्बन्ध उपपन्न नही है, अन्यथा दो दर्शन-क्रियाएँ तथा दो दर्शन मानने पड़ेंगे। दर्शन क्रिया-रहित रहने के कारण अदर्शन स्वभाव भी दर्शन नही करता।

द्रष्टा की असिद्धि

वादी कहता है कि हम 'जो देखता है' उसे दर्शन नही कहेंगे, बल्कि उसे कहेंगे, 'जिसमे देखा जाता है।' ऐसी अवस्था मे करणभूत दर्शन से द्रष्टा का देखना सिद्ध होगा, और पूर्वोक्त दोष नही लगेंगे। आचार्य कहते हैं कि इस पक्ष मे भी दर्शन की असिद्धि के समान ही द्रष्टा की असिद्धि है, क्योकि द्रष्टा जब अपने स्वय का द्रष्टा नही है, तो तत्सम्बद्ध अन्य का द्रष्टा क्या होगा ? द्रष्टव्य (विषय) और दर्शन (करण) भी नही है; क्योकि वे द्रष्टृ-सापेक्ष हैं, किन्तु द्रष्टा नही है। यदि द्रष्टा है, तो प्रश्न है कि वह दर्शन-सापेक्ष है या दर्शन-निरपेक्ष ? दर्शन-सापेक्ष है, तो वह अवश्य ही दर्शन का तिरस्कार करके सम्पन्न नही होगा। ऐसी अवस्था मे यह विचार करना होगा कि सिद्ध द्रष्टा को दर्शन की अपेक्षा है या असिद्ध द्रष्टा को। सिद्ध द्रष्टा को दर्शन की पुन अपेक्षा व्यर्थ है। असिद्ध द्रष्टा वन्ध्यापुत्र के समान स्वय असिद्ध है, वह दर्शन की अपेक्षा ही क्या करेगा ? दर्शन-निरपेक्ष द्रष्टा तो सर्वथा असिद्ध है, अत अविचारणीय है। इस प्रकार, द्रष्टा का अभाव है, और उसके अभाव में द्रष्टव्य और दर्शन का अभाव है। द्रष्टव्य और दर्शन के अभाव से उनकी अपेक्षा से जायमान विज्ञान तथा इन तीनो से जायमान सन्निपातज स्पर्श, स्पर्शज वेदना तथा तृष्णा नही है। इसलिए, द्रष्टव्य-दर्शन-हेतुक चार भवाग भी नही है। द्रष्टा के अभाव से जब द्रष्टव्य और दर्शन नही हैं, तब विज्ञानादि चतुष्टय कैसे होंगे ? इसी प्रकार, विज्ञानादि चतुष्टय के अभाव से उनके कार्यभूत उपादानादि उपादान, भव, जाति, जरा आदि) का भी अभाव है।

आचार्य दर्शन के समान ही श्रवण, घ्राण, रसन, स्पर्शन, मन तथा श्रोत्र-श्रोतव्यादि का निरास करते हैं।

रूपादि स्कन्धो का निषेध

पहले चक्षुरादि इन्द्रियो का प्रतिपेध किया गया है। अब स्कन्धो की परीक्षा करते हैं। रूप भौतिक होते हैं। चार महाभूत उनके कारण हैं। घट से पट जैसे भिन्न हैं, वैसे भूतो से पृथक् भौतिक रूप नही है। इसी प्रकार, भूत भौतिको से पृथक् नही है। आचार्य कहते हैं कि महाभूतो से अतिरिक्त भौतिक (रूप) है, तो अवश्य ही उन भौतिको के कारण भूत नही है। किन्तु, कोई वस्तु अकारण नही होती, इसलिए भूतो से वियुक्त भौतिक मानना पड़ेगा। इसी प्रकार, भौतिक से पृथक् भूत नही है, यदि कार्य से वियुक्त कारण है, तो जैसे घट से भिन्न पट घट का हतु नही होता, वैसे ही कार्य से पृथक् कारण मानने पर कारण अकार्यक होगा। अकार्यक कारण कारण नही है।

पुन, रूप का कारण माने, तो प्रश्न होगा कि सत् का या असत् का। उभयथा अनुपपन्न है। रूप की विद्यमानता मे उसके कारण का कोई प्रयोजन नही है, और अविद्यमानता मे करण सुतरा व्यर्थ है। पूर्वोक्त विश्लेषण मे जैसे कारण का रूप व्यावृत्त हुआ, उसी प्रकार तदपेक्ष कार्यरूप भी व्यावृत्त होगा। उभयरूप की व्यावृत्ति मे रूपगत सप्रतिघ-अप्रतिघ, सनिदर्शन-अनिदर्शन, अतीत, अनागत नीलपीतादि समस्त विकल्प निरस्त होगे।

एक प्रश्न यह भी होगा कि रूप कारण के सदृश-कार्य को उत्पन्न करता है या असदृश-कार्य को ? उभयथा अनुपपन्न है। भूत कठिन, द्रव्य, उष्ण, तरल स्वभाव है, और बाह्य तथा आध्यात्मिक भौतिक आयतनो का स्वरूप उससे भिन्न स्वभाव का है। जैसे सदृश शालिबीजो मे परस्पर कार्यकारणभाव नही होता, वैसे ही असदृशो मे भी कार्यकारणभाव नही होता, जैसे निर्वाण के साथ भूतो का कार्यकारणभाव नही है।

रूप-स्कन्ध के ही समान वेदना, चित्त, सज्ञा, सस्कारो का भी अभाव है। आचार्य नागार्जुन कहते है कि माध्यमिक जिस प्रणाली से एक धर्म की शून्यता का प्रतिपादन करता है, उसी प्रकार सर्व धर्मों की शून्यता को प्रतिष्ठित करता है। माध्यमिक सस्वभाववादी परपक्षी के साथ विग्रह में सस्वभावता के सिद्धान्त का जब खण्डन करता है, तब किसी की भी अन्यस्वभावता सिद्ध नही होती, क्योकि वे सब साध्यसम (साध्य के समान असिद्ध अवस्था-युक्त) रहते है। इसलिए, प्रतिवादी वेदनादि के सद्भाव के दृष्टान्त से रूप का सद्भाव सिद्ध नही कर सकता। माध्यमिक इसी प्रणाली से सर्वत्र प्रतिवादी के दृष्टान्तो को साध्यसम सिद्ध करके उसके परिहार के प्रयत्नो को व्यर्थ कर देता है।

षड् धातुओं का निषेध

अब धातुओ की परीक्षा करते है, और प्रसगवश लक्ष्य-लक्षण की परीक्षा करेंगे। आचार्य के अनुसार धातुओ का कोई लक्षण नही बनता।

आकाशधातु—आकाश अनावरण-लक्षण माना जाता है, किन्तु, यह तब हो, जब अनावरण लक्षण के पूर्व लक्ष्य हो। किन्तु, आकाश-लक्षण के पूर्व आकाश क्या होगा ? यदि आकाश आकाश-लक्षण से पूर्व हो, तो वह अवश्य अलक्षण होगा। किन्तु, कोई भी भाव अलक्षण नही होता। पुन जब अलक्षण भाव की सत्ता नही है, तब लक्षण की प्रवृत्ति कहाँ होगी ? लक्षण स्वीकार करें, तो यह प्रश्न होगा कि लक्षण सलक्षण में प्रवर्तमान होगा या अलक्षण में ? अलक्षण 'गधे के सीग' के समान है, इसलिए, उसमें प्रवृत्ति नही होगी। सलक्षण में लक्षण की प्रवृत्ति का कोई प्रयोजन नही है, अन्यथा अतिप्रसग दोष होगा। सलक्षण और अलक्षण से अन्यत्र लक्षण की प्रवृत्ति असम्भव है।

लक्षण की प्रवृत्ति न होने पर लक्ष्य की सत्ता सिद्ध नही होती, क्योकि लक्षण की प्रवृत्ति न होने पर लक्ष्य की सम्भावना सुतरा निवृत्त हो जाती है। इस प्रकार, लक्ष्य की अनुपपत्ति से लक्षण असम्भव है। लक्षण की असम्प्रवृत्ति से लक्ष्य अनुपपन्न होता है। इसलिए, लक्ष्य-लक्षण दोनो का सर्वथा अभाव है।

वादी कहता है कि लक्ष्य-लक्षण नही है, परन्तु आकाश है। यह अयुक्त है; क्योकि लक्ष्य-लक्षण-विनिर्मुक्त कोई भाव नही होगा। जब लक्ष्य-लक्षण निर्मुक्त-भाव नही होता, तब भाव की अविद्यमानता के आधार पर आकाश अभाव पदार्थ भी कैसे होगा। भावाभाव से अतिरिक्त कोई तृतीय पदार्थ नही है, जो आकाश हो। जब लक्ष्य-लक्षण का अभाव है, तभी लक्ष्य-लक्षण-रहित आकाश की सत्ता आकाश-कुसुम के समान असिद्ध होती है। इसी प्रकार, पृथिव्यादि पाँच धातुओ का भी अभाव है।

रागादि क्लेशो का निषेध

वादी कहता है कि माध्यमिक को स्कन्ध, आयतन और धातु की सत्ता स्वीकार करनी पडेगी, अन्यथा उसके आश्रित क्लेशो की उपलब्धि नही होगी। रागादि क्लेश सक्लेश-निबन्धन हैं। भगवान् ने कहा है—हे भिक्षुओ! बाल अश्रुतवान् पृथग्जन प्रज्ञप्ति मे अनु-पतित हो, चक्षु से रूप को देखकर उसमे सौमनस्य का अभिनिवेश करता है, अभिनिविष्ट होकर राग उत्पन्न करता है, राग से रक्त होकर रागज, द्वेषज, मोहज कर्मो का काय, वाक् और मन से अभिसस्कार करता है।

माध्यमिक कहते है कि हमारे मत मे रागादि क्लेश नही है, इसलिए स्कन्ध, आयतन और धातु भी नही हैं। मै पूछता हूँ कि पृथग्जनो के द्वारा जिस राग की कल्पना होती है, वह रक्त नर मे या अरक्त नर में ? उभय युक्त नही है।

रक्त रागाश्रय है। राग के पूर्व भी यदि रक्त है, तो वह अवश्य राग-रहित होगा। जब राग-रहितता है, तभी उसका प्रतिपक्ष राग सिद्ध होता है, किन्तु राग-रहित का होना सम्भव नही है, अन्यथा अरक्त अर्हत् को राग होगा। रक्त की असत्ता मे राग नही होगा, अन्यथा राग निराश्रय होगा।

यदि वादी को रक्त की सत्ता अभीष्ट है, तो उसे बताना होगा कि रक्त की कल्पना राग मे है या अराग मे ? उभय अनुपपन्न है।

राग मे रक्त की कल्पना तो इसलिए नही बनेगी कि रक्त मे रागानुत्पत्ति होगी, क्योकि पूर्व के समान कहेगे कि रक्त से पूर्व यदि राग है, तो वह अवश्य रक्त-तिरस्कृत है।

वादी कहता है कि ये दोष राग-रक्त का पौर्वापर्य मानने से है। इसलिए, मै इनका सहो-द्भव मानता हूँ। चित्त-सहभूत राग मे चित्त रजित होता है, वही उसकी रक्तता है। माध्यमिक कहते है कि इस स्थिति मे राग-रक्त परस्पर निरपेक्ष होगे। पुनश्च, राग और रक्त का सहभाव इनके एकत्व मे है या पृथक्त्व मे ? एकत्व मे सहभाव नही होगा, क्योकि राग से अव्यतिरिक्त का, उसीसे सहभाव का क्या अर्थ होगा ? पृथक पदार्थो का भी सहभाव सर्वथा अनिष्ट है। पुन. एकत्व मे सहभाव हो, तो विना सहत्व के ही सहभाव होगा। इसी प्रकार, पृथक्त्व मे सहभाव मानने पर भी विना सहत्व के सर्वथा पृथक् गो-अश्वादि का सहभाव मानना पडेगा। पृथक्त्वमूलक सहभाव की सिद्धि के लिए राग-रक्त का पृथक्त्व सिद्ध होना चाहिए, जो असिद्ध है। फिर, यदि

उनका पृथक्त्व ही सिद्ध करना है, तो फिर उनके सहभाव की कल्पना क्यों करते हैं? पृथक्-पृथक् होने के कारण राग और रक्त की स्वरूप-सिद्धि होगी, इसलिए यदि आप सहभाव चाहते हैं, तो पुन: सहभाव के लिए उनका पृथक्त्व मानना पडेगा और इस प्रकार इतरेतराश्रय दोष होगा।

आचार्य कहते हैं कि राग-रक्त की सिद्धि न पौर्वापर्येण होगी और न सहभावेन। इसी प्रकार, द्वेष-द्विष्ट, मोह-मूढादि की भी सिद्धि नही है।

सस्कृत धर्मों का निषेध

हीनयानी कहते हैं कि सस्कृत-स्वभाव पदार्थों, (स्कन्ध, आयतन, धातु) का सद्भाव मानना पडेगा, क्योंकि भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ! सस्कृत के ये तीन सस्कृत-लक्षण हैं। भिक्षुओ! सस्कृत का उत्पाद प्रज्ञात है, व्यय और स्थित्यन्यथात्व भी प्रज्ञात है। अविद्यमान का जात्यादि-लक्षण सम्भव नही है, अत सस्कृत धर्मों की सत्ता है।"

माध्यमिक कहते हैं कि स्कन्ध, आयतन, धातु अवश्य सस्कृत-स्वभाव के होंगे, यदि उनका सस्कृत-लक्षण (जाति, व्यय, स्थित्यन्यथात्व) हो। प्रश्न है कि सस्कृत-लक्षण का उत्पाद स्वय सस्कृत है या असस्कृत? यदि सस्कृत है, तो उसे त्रिलक्षणी होना चाहिए। त्रिलक्षणी–उत्पाद, स्थिति और भग का समाहार है, उससे सर्व सस्कृत धर्मों का अव्यभिचार (निश्चित साहचर्य) है। यदि उत्पाद सस्कृत है, तो उसे भी त्रिलक्षणी होना चाहिए। किन्तु, ऐसी स्थिति में वह सस्कृत-लक्षण नहो रहेगा, अपि तु रूपादि के समान लक्ष्य होगा। इस दोष से वचने के लिए यदि उत्पाद को त्रिलक्षणी नही माने, तव वह आकाशवत् असस्कृत होगा। फिर, असस्कृत सस्कृत-लक्षण कैसे होगा?

अपि च, उत्पादादि व्यस्त (पृथक्-पृथक्)-सस्कृत-लक्षण हैं या सहभूत-समस्त? उभय पक्ष उपपन्न नही है।

व्यस्त लक्षण–वादी व्यस्तों से सस्कृत पदार्थों का लक्षण नही वना सकते, क्योंकि यदि उत्पाद-काल मे स्थिति और भग न होंगे, तो स्थिति और भग से रहित आकाश के समान उत्पाद भी सस्कृत-लक्षणों से युक्त न होगा। इसी प्रकार, स्थिति-काल मे उत्पाद और भग न होंगे, तो उनसे रहित पदार्थ की स्थिति भी नही होगी। क्योंकि, उत्पाद और भग से रहित कोई पदार्थ नही होता, अत अविद्यमान वस्तु की किसी प्रकार स्थिति नही होगी। ऐसे पदार्थ की स्थिति माने भी, तो अनित्यता से उसका योग नही होगा, क्योंकि वह अनित्यता-विरोधी धर्म (स्थिति) से स्वय आक्रान्त है। यदि पदार्थ को पहले शाश्वत माने, वाद में उसका अनित्यता से योग मानें, तो एक पदार्थ को ही शाश्वत, अशाश्वत, दोनो मानना पडेगा। पूर्वोक्त प्रणाली से भग काल में स्थिति और उत्पाद न होंगे, तो वह अनुत्पन्न एव स्थिति-रहित होगा। वह खपुष्प के समान होगा, और उसका विनाश होगा।

समस्त लक्षण––उत्पादादि समस्त होकर भी पदार्थ के लक्षण न होंगे, क्योंकि एक क्षण मे ही पदार्थ का जन्म, स्थिति और विनाश असम्भव है।

संस्कृत-लक्षण के लक्षण का निषेध

उत्पाद, स्थिति और भग की अन्य उत्पादादि से सम्कृत-लक्षणता सिद्ध करे, तो अपर्यवसान दोष होगा। कौन पूर्व हो और कौन पश्चात्, इसकी व्यवस्था न होगी। इस प्रकार, उत्पादादि सर्वथा असम्भव है।

हीनयानी कहते है कि अपर्यवसान दोष न लगेगा, क्योकि मेरे मत मे उत्पाद द्विविध है। एक 'मूल उत्पाद', दूसरा 'उत्पादोत्पाद' (उत्पाद का उत्पाद)। उत्पादोत्पाद-सज्ञक उत्पाद केवल मूल उत्पाद का उत्पादक होता है। मौल उत्पाद उत्पादोत्पादक उत्पाद को उत्पन्न करता है। इस प्रकार, परस्पर के सम्पादन से उत्पादादि की त्रिलक्षणी बनेगी और अनवस्था न होगी।

आचार्य कहते है कि आपके मत मे जब उत्पादोत्पाद मूलोत्पाद का जनक है, तब मौलोत्पाद से अनुत्पादित उत्पादोत्पाद मौल उत्पाद को कैसे उत्पन्न करेगा? यदि मौल उत्पाद से उत्पादित उत्पादोत्पाद को मौल का उत्पादक माने, तो यह सम्भव नही है, क्योकि स्वय अविद्यमान अन्य का उत्पाद कैसे करेगा?

उत्पाद की उत्पाद-स्वभावता का खण्डन

वादी कहे कि आप उत्पाद का अपर उत्पाद न मानिए, किन्तु जैसे प्रदीप प्रकाश-स्वभाव होने के कारण अपने और घटादि को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार उत्पाद उत्पाद-स्वभाव होने के कारण अपने और पर को उत्पन्न करेगा।

सिद्धान्ती कहता है कि आपका यह कहना तब ठीक हो, जब कि प्रदीप स्व और पर का प्रकाश करता हो, किन्तु ऐसा नही होता। तम का नाश, प्रकाश है, अत विरोधी होने के कारण तम प्रदीपात्मा में नही है, जिसे नष्ट करके प्रदीप अपनी प्रकाशरूपता सम्पन्न करे। प्रदीप के देश मे भी तम नही रहता, जिसे नष्ट कर प्रदीप मे पर-प्रकाशता सिद्ध हो। उत्पद्यमान प्रदीप से भी तम हत नहीं होगा। उत्पद्यमान प्रदीप तम को प्राप्त नही कर सकता, क्योकि आलोक और अन्धकार एककालिक नही है। यदि प्रदीप तम को विना प्राप्त किये उसे नष्ट करने लगे, तो एकस्थ प्रदीप सर्वलोकस्थ तम को नष्ट न करेगा? और, यदि प्रदीप को स्व और पर का प्रकाशक मानेगे, तो दूसरा तम को स्व और पर का आच्छादक क्यो न मानेगा? इस प्रकार, प्रदीप के दृष्टान्त से उत्पाद की स्व-परोत्पादकता सिद्ध नही होगी।

प्रश्न है कि उत्पाद स्वय उत्पन्न होकर अपना उत्पाद करता है या अनुत्पन्न रहकर?

उत्पन्न के उत्पादन का क्या प्रयोजन? इसलिए सिद्ध है कि उत्पाद अपना उत्पाद नही करता। यदि स्वय अनुत्पन्न भी उत्पाद अपना उत्पाद करे, तो समस्त अनुत्पन्न वस्तुएँ अपना-अपना उत्पाद करने लगे।

माध्यमिक के अनुसार काल-त्रय में कुछ भी उत्पन्न नही होता। सामान्यत, उत्पद्यमान (उत्पन्न होती हुई वस्तु) की उत्पत्ति की प्रतीतिगोचर होती है, किन्तु विचार करने पर वह असिद्ध है। उत्पत्ति की अपेक्षा मे उत्पद्यमान होता है, इसलिए यह विशेष वताना पडेगा कि किस उत्पत्ति की अपेक्षा से वह उत्पद्यमान है। इसे वादी नही वता सकता, क्योकि वह अनुत्पन्न है, और उत्पन्न होने का कोई निमित्त नही दिखाई पडता।

अनुत्पाद से प्रतीत्यसमुत्पाद का अविरोध

सर्वास्तिवादी माध्यमिक पर एक गम्भीर आरोप करता है। कहता है कि आपका यह सर्व-नास्तित्ववाद अत्यन्त भयकर है। आप तथागत के वचनो की व्याख्या के व्याज से केवल दोष निकालने का अपना कौशल दिखाते है, किन्तु इससे तथागत के परमार्थ सत्य प्रतीत्यसमुत्पाद का वध होता है। भगवान् ने **अस्मिन्सति इद भवति अस्योत्पादादिदमुत्पद्यते** इस न्याय से प्रकृति-ईश्वर-स्वभाव-काल-अणु-नारायणादि के जगत्-कर्तृत्व का निरास किया, किन्तु आपने उत्पद्यमान-उत्पन्न-अनुत्पन्न आदि विकल्प करके उत्पाद का ही वाध कर दिया। आपने यह नही देखा कि आपके द्वारा तथागत-ज्ञान की जननी प्रतीत्य-समुत्पत्ति का ही वध हो रहा है।

आचार्य चन्द्रकीर्त्ति कहते है कि मै दशवल-जननी माता प्रतीत्य-समुत्पत्ति का वध नही करता हूँ। प्रत्युत, यह पाप आपके ही सिर है। भगवान् ने प्रतीत्य-समुत्पाद की देशना से सर्वधर्मों की निःसारता वताई है। विद्यमान पदार्थ सस्वभाव होते है, क्योकि स्व की अनपायिता (अविनाश) ही स्व-भाव है। स्व की विद्यमानता के कारण ही स्वभाव किसी की अपेक्षा नही करता, और न उत्पन्न ही होता है। इस प्रकार, सस्वभाववादी के ही मत मे भावो का प्रतीत्य-समुत्पन्नत्व वाधित होता है, और उससे धर्म और वुद्ध का दर्शन भी वाधित होता है। माध्यमिक कार्य और कारण दोनो को प्रतीत्य-समुत्पन्न मानता है, इसलिए उसके मत मे पदार्थ शान्त[1] और स्वभाव-रहित है। इस व्याख्या से माध्यमिक तथागतो की माता प्रतीत्य-समुत्पत्ति का स्वरूप स्पष्ट करते है।

उत्पद्यमान के उत्पाद का निषेध

वादी कहता है कि जो कुछ हो, उत्पाद उत्पद्यमान की उत्पत्ति करता है, क्योकि घटोत्पत्ति क्रिया की अपेक्षा से घट की उत्पद्यमानता प्रतीत होती है। किन्तु, उत्पाद के पूर्व जव कोई अनुत्पन्न घट नही है, तव उसकी उत्पत्ति-क्रिया की अपेक्षा करके उत्पाद कहना ठीक नही। वादी कहे कि यद्यपि उत्पाद के पूर्व यह नही है, तथापि उत्पन्न होकर तो घट सज्ञा का लाभ करेगा? यह भी ठीक नही है। क्योकि, जव उत्पत्ति-क्रिया प्रवृत्त होती है, तव उस समय का वर्त्तमान पदार्थ घट सज्ञा प्राप्त करता है, किन्तु जव भाव अनागत है, तो उससे सम्वन्ध न होने के कारण क्रिया की प्रवृत्ति ही नही होगी, फिर घट की वर्त्तमानता कैसे? क्रिया

---

१ प्रतीत्य यद्यद्भवति तत्तच्छान्त स्वभावत ।

को अघट के आश्रित होने के लिए निश्चित करना होगा कि क्या असत् घट हो सकता है? क्या वह पट हो सकता है या कुछ नही होता? यदि पट उत्पद्यमान है, तो उत्पन्न होकर वह घट नही हो जायगा। यदि कुछ नहीं होगा, तो क्रिया निराश्रय होगी, फिर तो घट होने की कल्पना दूर रहे, किसी की भी उत्पत्ति की कल्पना नही की जा सकती। इसलिए, वादी का यह कहना कि उत्पाद उत्पद्यमान पदार्थ की उत्पत्ति करता है, व्यर्थ है।

आचार्य कहते हैं कि आपके मत से उत्पाद उत्पद्यमान पदार्थ का उत्पाद करता है। यह बताइए कि उत्पाद किस दूसरे उत्पाद को उत्पन्न करता है? यदि अपर उत्पाद पूर्व उत्पाद का उत्पादक है, तो अनवस्था होगी। यदि उत्पाद स्व और पर का उत्पादन करेगा, तो इस पक्ष का पहले ही निरास किया जा चुका है।

स्थिति का निषेध

वादी पदार्थों का उत्पाद प्रकारान्तर से सिद्ध करना चाहता है। वह कहता है कि जब पदार्थों की स्थिति है, तब उनका उत्पाद भी मानना होगा, क्योंकि अनुत्पन्न पदार्थों की स्थिति नही होती। आचार्य कहते हैं कि पदार्थों की स्थिति भी नही है। स्थित पदार्थ की स्थिति नही होगी, क्योंकि वहाँ स्थिति-क्रिया निरुद्ध है। अस्थित की स्थिति नही होगी, क्योंकि वह स्थिति क्रिया-रहित है। तिष्ठमान की स्थिति मानने से गम्यमान की गति के समान स्थिति-द्वय की प्रसक्ति होगी।

आचार्य कहते हैं कि जब जरा-मरण क्षण-मात्र के लिए भी पदार्थों को नही छोडते, तब स्थिति के लिए यहाँ अवकाश ही कहाँ है? इसके अतिरिक्त जैसे उत्पाद अपना उत्पाद नही करता है, वैसे स्थिति भी अपनी स्थिति नही करेगी।

प्रश्न है कि स्थिति निरुध्यमान पदार्थ की होती है, या अनिरुध्यमान। निरुध्यमान की स्थिति नही होती, क्योंकि विरोधाभिमुख पदार्थ की विरोधी स्थिति है। अनिरुध्यमान कोई पदार्थ नही होता, अतः उसका कोई प्रश्न नही है।

निरोध का निषेध

वादी कहता है कि यदि संस्कृत धर्मों की अनित्यता है, तो उसके दो सहचारी स्थिति और उत्पाद भी मानने होंगे। आचार्य अनित्यता नही मानते। कहते हैं कि अनित्यता निरुद्ध की, अनिरुद्ध की या निरुध्यमान की? अतीत निरुद्ध का वर्तमान निरोध से विरोध है। अनिरुद्ध का निरोध उसके निरोध-विरह के कारण सम्भव नही है। निरुध्यमान के निरोध से निरोध-द्वय की प्रसक्ति होगी। आचार्य कहते हैं कि जिन कारणों से धर्मों का उत्पाद सिद्ध नहीं होता, उन्हीं से निरोध भी सिद्ध नही होता। इसलिए, जैसे उत्पाद का स्वात्मना या परात्मना उत्पाद सिद्ध नही होता, वैसे ही निरोध का निरोध भी स्वात्मना या परात्मना सिद्ध नहीं होता।

वादी कहता है कि निरोध का निरोध नही होता, तो उसकी संस्कृत-लक्षणता कैसे सिद्ध होगी? इसके अतिरिक्त परसम्मत विनाश को तो आप भी मानते ही हैं। इस स्थिति में उभयसम्मत दोष का मैं ही परिहार क्यों करूँ?

सिद्धान्ती कहता है कि पदार्थ अवश्य निःस्वभाव है, किन्तु बाल पृथग्जन उनमें सत्याभिनिवेश करते हैं, और उससे व्यवहार चलाते हैं। हमलोग भी इस अविचारत. प्रसिद्ध व्यवहार को मान लेते हैं। वस्तुत, गन्धर्वनगरादि के समान लौकिक पदार्थ निरुपपत्तिक हैं, क्योकि अविद्यान्धकार से उपहत दृष्टि के लोग समस्त पदार्थों की आपेक्षिक सत्ता खडी किये है। उत्पाद की अपेक्षा उत्पाद्य और उत्पाद्य की अपेक्षा उत्पाद, निरोध की अपेक्षा निरोध्य और निरोध्य की अपेक्षा निरोध इस प्रकार लौकिक व्यवहार अभ्युपगत होते हैं। ऐसी अवस्था मे दोषो का समप्रसग उचित नही है।

निरोध की निर्हेतुकता का निषेध

सम्कारो की क्षणिकता के लिए सर्वास्तिवादियो ने विनाश को अहेतुक माना है। यह ठीक नही है, क्योकि निर्हेतुकता को स्वीकार करने से विनाश नही बनेगा, जैसे निर्हेतुक खपुष्प का विनाश कहना व्यर्थ है। इसलिए, पदार्थों की क्षणिकता भी सिद्ध नही होती। फिर, जब विनाश निर्हेतुक है, तो नही है, तब पदार्थो का सस्कृतत्व भी कहाँ सिद्ध होगा? भगवान् ने सस्कृत-लक्षणो को सम्कार-स्कन्ध मे अन्तर्भूत करने के अभिप्राय से ही पदार्थों की जाति, जरा-मरणादि का वर्णन किया है। इससे विनाश का सहेतुकत्व स्पष्ट सिद्ध होता है। सिद्धान्त-सम्मत पदार्थो की क्षणभगता तो जातिमात्र की अपेक्षा से भी सिद्ध हो सकती है।

वादी कहता है कि विनाश निर्हेतुक है, क्योकि विनाश अभाव है। अभाव को हेतुता से क्या लेना है? सिद्धान्ती उत्तर देता है कि इस न्याय से भाव भी निर्हेतुक होगे, क्योकि भाव विद्यमान है। विद्यमान को हेतु से क्या प्रयोजन? यदि उत्पाद पूर्व मे नही था और पश्चात् हुआ, इसलिए वह सहेतुक है, तो विनाश भी पहले नही होता, पश्चात् होता है। आपका यह कहना है कि अभाव के लिए हेतु निष्प्रयोजन है, ठीक नही है, क्योकि हेतु से विनाश का कुछ और नही होता, विनाश ही होता है। यदि कहो कि विनाश को क्रियमाण मानने पर वह भाव हो जायगा, तो यह युक्त ही है। विनाश अवश्य ही स्वरूप की अपेक्षा से भाव है। रूपादि निवृत्ति की अपेक्षा अभाव है।

चन्द्रकीर्त्ति कहते है कि वास्तविक बात तो यह है कि सर्वास्तिवादी जब शून्यता को भाव-अभाव-लक्षण मानते है, तब उसकी भावरूपता भी मान ही लेते है, क्योकि ऐसी मान्यता मे अभाव भी स्पष्ट ही भावरूप है। इस भावरूपता से सर्वास्तिवाद में शून्यता असस्कृत नही रह जाती।

वादी कहता है कि पृथिव्यादि का काठिन्यादि-लक्षण जब उपदिष्ट है, तब सस्कृत है, और उनके सद्भाव से सस्कृत-लक्षण भी है। सिद्धान्ती का उत्तर है कि उत्पाद-स्थिति-भग लक्षण ही जब असिद्ध है, तब सस्कृतो की सिद्धि कैसे होगी? और, सस्कृतो की असिद्धि से तदपेक्ष असस्कृत भी असिद्ध होगे।

भगवान् ने सस्कृत-धर्मो के उत्पाद, व्यय और स्थित्यन्यथात्व के प्रज्ञात होने की जो बात

कही है, वह तथाविध विनेय जन पर अनुग्रह करने के लिए है। वस्तुत , पदार्थ स्वभावत. अनुत्पन्न एव अविद्यमान है, जैसे माया, स्वप्न, गन्धर्वनगर आदि।

कर्म-कारक आदि का निषेध

वादी विज्ञानादि सस्कृत धर्मों की सत्ता पर जोर देते है। वे कहते है कि भगवान् ने अविद्यानुगत पुद्गल के द्वारा पुण्य, अपुण्य, आनिज्य सस्कारो का अभिसस्कार वताया है, और कर्मो का कारक, उन कर्मो का फल, तद्विज्ञान उपदिष्ट किये है। अवश्य ही ये कारकादि व्यवस्थाएँ सत् पदार्थो की ही माननी होगी। कूर्म-रोमादि के समान असत् की कर्म-कारकादि व्यवस्था नही होती।

सिद्धान्ती कर्म-कारकादि का निषेध करता है। क्रिया-व्यापार मे सलग्न ही कारक रूप से व्यपदिष्ट होता है। इसलिए, वादी को यह वताना होगा कि इस व्यापार का कर्त्ता सद्भूत है या असद्भूत या सदसद्भूत ? जो किया जाता है, वह कर्म है। यह कर्त्ता का ईप्सिततम (तीव्र इच्छा का विषय) होता है, इसलिए आपको वताना होगा कि वह कर्म भी सत्, असत् या सदसत् मे क्या है? क्रियायुक्त (सद्भूत) कारक मे क्रियायुक्त सद्भूत कर्म का कर्त्तृत्व नही वन सकता, और क्रिया से रहित असद्भूत कारक क्रिया-रहित कर्म का कर्त्ता नही होता, जव कि कारक-व्यपदेश के लिए उसका क्रिया से युक्त होना आवश्यक है। किन्तु, जिस क्रिया से उसका कारकत्व व्यपदिष्ट है, उससे अतिरिक्त दूसरी क्रिया नही है, जिससे वह कर्म करे। इस प्रकार, क्रिया के अभाव मे जब कारक कर्म न करेगा, तव कर्म कारक-निरपेक्ष होगा, जो असम्भव है। अत , सिद्ध हुआ कि सद्भूत कारक कर्म नही करता। सद्भूत कर्म को भी कारक नहीं करेगा, क्योकि कर्म क्रिया से युक्त है और जिस क्रिया से उसका कर्मत्व व्यपदिष्ट है, उससे अतिरिक्त कोई द्वितीय क्रिया नही है, जिससे वह कर्म हो। दूसरी क्रिया के अभाव मे कारक अकर्मक होगा, जो असम्भव है।

इसी प्रकार, असद्भूत कर्म को असद्भूत कारक नही कर सकता; क्योकि क्रिया से रहित कारक (असद्भूत) और कर्म (असद्भूत) निर्हेतुक होगे। यदि अहेतुकवाद का अभ्युपगम करेगे, तो समस्त कार्यकारणभाव अपोहित हो जायगा, साथ ही क्रिया, कर्त्ता और करण समस्त अपोहित होगे। क्रियादि के अभाव में धर्म-अधर्मादि का अभाव होगा और धर्माधर्मादि के अभाव से इष्ट, अनिष्ट, सुगति, दुर्गति फलो का अभाव होगा। इन फलो के अभाव मे स्वर्ग या मोक्ष के लिए मार्ग-भावना विफल होगी और उसके लिए कोई प्रवृत्ति नही होगी। इस प्रकार, लौकिक-अलौकिक समस्त क्रियाएँ निरर्थक हो जायेंगी। अत , असद्भूत कारक असद्भूत कर्म को करता है, यह पक्ष त्याज्य है।

उभय रूप कारक उभय रूप कर्म को कथमपि नही कर सकता है, क्योकि वे परस्पर विरुद्ध है। एक पदार्थ एक ही काल में क्रिया और अक्रिया से युक्त नही होते। इसी प्रकार, विषम पक्ष (सद्भूत कर्त्ता से असत् कर्म, असत् कर्त्ता से सत् कर्म का होना आदि) भी निषिद्ध होते है।

वादी माध्यमिक से पूछता है कि भगवान् ने यह कहाँ अवधारित किया है कि 'भाव (पदार्थ) नहीं हैं'। सिद्धान्ती कहता है कि आप सस्वभाववादी हैं, इसलिए आपके पक्ष में सर्वभावों का अपवाद सम्भावित है, किन्तु हम लोग समस्त भावों को प्रतीत्यसमुत्पन्न मानने के कारण उनका स्वभाव ही नहीं मानते, फिर अपवाद किसका करें? जब सर्वभाव निःस्वभाव हैं, तो पूर्वोक्त प्रकार से उनकी सिद्धि कथमपि नहीं हो सकती।

सिद्धान्त में समस्त पदार्थ मरु-मरीचिका के तुल्य हैं। लौकिक विपर्यास का अभ्युपगम करके ही इन सावृत पदार्थों की 'इदम्प्रत्ययता' (यह घट है, यह पट है इत्यादि) प्रसिद्ध होती है। हमने अभी देखा है कि कर्म-निरपेक्ष कारक नहीं हो सकता और कारक-निरपेक्ष कर्म नहीं हो सकता, इसलिए ये परस्परापेक्ष [1] हैं। जैसे कर्म और कारक की परस्परापेक्ष सिद्धि है, वैसे ही क्रियादि अन्य भावों की भी है।

भावों की निःस्वभावता की सिद्धि में वे ही हेतु होते हैं, जो उनकी सस्वभावता को सिद्ध करते हैं। भावों की सत्ता आपेक्षिक है, अतः निरपेक्ष उनकी सत्ता नहीं है। माध्यमिक भावों की इस सापेक्ष सिद्धि से ही समस्त पदार्थों के स्वभाव का निषेध करते हैं।

पुद्गल के अस्तित्व का खण्डन

सामितीय कहते हैं कि दर्शन, श्रवण, घ्राणादि वेदनाओं के उपादाता का अस्तित्व उपादानों के पूर्व अवश्य है, क्योंकि अविद्यमान कारक की दर्शनादि क्रिया कदापि सम्भव नहीं हो सकती।

सामितीय बौद्धैकदेशी हैं, वह पुद्गलास्तित्ववाद में प्रतिपन्न हैं। सिद्धान्ती उनका खण्डन करता है। कहता है कि दर्शनादि से पूर्व यदि पुद्गल की सत्ता है, तो वह किससे ज्ञापित होगी। पुद्गल की प्रज्ञप्ति दर्शनादि से ही होती है। यदि दर्शनादि से पूर्व भी पुद्गल की सत्ता मानी जाय, तो वह दर्शनादि से निरपेक्ष होगी। इस प्रकार, यदि दर्शनादि के विना पुद्गल की सत्ता मानेंगे, तो विना पुद्गल के भी दर्शनादि की सत्ता माननी पड़ेगी। अतः, उपादान और उपादाता की सिद्धि परस्परापेक्ष है। उपादाता के विना दर्शनादिक उपादान पृथक् सिद्ध हों, तो वे निराश्रय और असत् होंगे। इसलिए, उपादाता से उपादान की पृथक् अवस्थिति नहीं है। सिद्धान्ती दर्शनादि एक-एक के पूर्व या सकल के पूर्व आत्मा की सत्ता का खण्डन करता है।

पूर्वपक्षी कहता है कि आप आत्मा का प्रतिपेध करें, परन्तु दर्शनादि का प्रतिषेध तो नहीं कर सकते, और दर्शनादि का अनात्म-स्वभाव घटादि से सम्बन्ध भी नहीं कर सकते। अतः,

---

१ प्रतीत्य कारकः कर्म तं प्रतीत्य च कारकम्।
कर्म प्रवर्त्तते नान्यत्पश्याम सिद्धिकारणम्॥ (८।१२)

दर्शनादि का सम्बन्धी आत्मा आपको भी स्वीकार करना पडेगा। सिद्धान्ती कहता है कि जिस आत्मा के लिए दर्शनादि की कल्पना है, जब वही नही है, तो दर्शनादि कैसे होगे।

चन्द्रकीर्त्ति चोदक के द्वारा आशंका उठाते है, और उसका उत्तर देते है।

क्या आपने यह निश्चित कर लिया है कि आत्मा नही है ?

यह किसने कहा ?

अभी आपने कहा है कि दर्शनादि का अभाव है, इसलिए आत्मा नही है।

हाँ, मैंने यह कहा है। किन्तु, आपने उसका ठीक अभिप्राय नही समझा। मैंने कहा है कि भावरूप आत्मा की सत्ता सस्वभाव नही है। आत्मा मे स्वभावाभिनिवेश की निवृत्ति के लिए मैंने ऐसा कहा है, किन्तु इससे उसका अभाव कल्पित नही किया। वस्तुत, भाव और अभाव दोनो के अभिनिवेश का परित्याग करना चाहिए।

दर्शनादि से पूर्व आत्मा नही है। आत्मा दर्शनादि से सहभूत भी नही है, क्योकि शशशृंग के समान पृथक्-पृथक् असिद्ध वस्तुओ का सहभाव नही देखा जाता। आत्मा और उपादान निरपेक्ष है, और पृथक्-पृथक् असिद्ध हैं। इसलिए, आत्मा वर्त्तमान भी नही है। ऊर्ध्व भी नही है, क्योकि जब पूर्वकाल मे दर्शनादि हो, तो उत्तर काल मे आत्मा हो। इस प्रकार, आत्मा की परीक्षा करने पर जब वह दर्शनादि से प्राक्, पश्चात् और युगपत् सिद्ध नही होता, तब उसके अस्तित्व या नास्तित्व की कल्पना कौन बुद्धिमान् करेगा ?

उपादाता और उपादान के अभाव से पुद्गल का अभाव

पूर्वपक्षी कहता है कि आपका यह कथन कि कर्म और कारक के समान उपादान और उपादाता की स्वाभाविक सिद्धि नही हो सकती, ठीक नहीं है। क्योकि, सापेक्ष पदार्थो की भी सस्वभावता सिद्ध होती है। जैसे अग्नि ईन्धन की अपेक्षा करता है, किन्तु, वह निःस्वभाव नहीं है। प्रत्युत, उसके उष्णत्व, दाहकत्व आदि स्वाभाविक कार्यो की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार, ईन्धन भी अग्नि की अपेक्षा करता है, किन्तु वह निःस्वभाव नहीं है, क्योंकि उसकी महाभूत-चतुष्टयस्वभावता उपलब्ध होती है। इस दृष्टान्त मे उपादान-सापेक्ष उपादाता तथा उपादातृ-सापेक्ष उपादान की सत्ता सिद्ध होगी, और आपको उपादान और उपादाता की स्वभाव-सत्ता माननी पडेगी।

अग्नि-ईन्धन-दृष्टान्त की परीक्षा

सिद्धान्ती कहता है कि आपका कथन तब ठीक हो जब अग्नि-ईन्धन का दृष्टान्त सिद्ध हो। दृष्टान्त की सिद्धि के लिए आपको यह बताना पडेगा कि अग्नि और ईन्धन की सत्ता उनके परस्पर अभिन्न होने से है या भिन्न होने से ? दोनो पक्ष नहीं बनेगे।

जो जलाया जाता है (ईध्यते यत् तद् ईन्धनम्), वह दाह्य काष्ठादि है, उसका दग्धा अग्नि है। यदि आप दोनों की अभिन्नता स्वीकार करते हैं, तो कर्त्ता और कर्म की एकता स्वीकार करनी पडेगी। यह अनुचित होगा, क्योंकि घट और कुम्भकार, छेत्ता और छेत्तव्य का एकत्व नहीं है। इस दोष से बचने के लिए यदि अग्नि को ईन्धन से भिन्न मानें, तब ईन्धन-निरपेक्ष अग्नि की उपलब्धि माननी पडेगी, क्योंकि घट से पट अन्य है, अत उनकी निरपेक्षता है, किन्तु, अग्नि ईन्धन से निरपेक्ष नही है, इसलिए आपका यह कथन युक्त नही है। यदि ईन्धन से अग्नि को भिन्न माने, तो उसे नित्य प्रदीप्त मानना पडेगा और ईन्धन के विना भी अग्नि की प्रदीप्ति माननी पडेगी। फिर, आपके पक्ष मे अग्नि की प्रदीप्ति के लिए समस्त व्यापार व्यर्थ होंगे और अग्नि मे कर्तृत्व कर्म-निरपेक्ष स्वीकार करना होगा।

माध्यमिक अपनी उपर्युक्त प्रतिज्ञाओ का समर्थन प्रबल युक्तियो से करता है। सिद्धान्ती कहता है कि अग्नि यदि प्रदीपन (ईन्धन) से अन्य है, तो अवश्य वह उससे निरपेक्ष होगा, क्योंकि जो वस्तु जिससे अन्य होती है, वह उससे निरपेक्ष होती है। जैसे घट से निरपेक्ष पट। यदि अग्नि (ईन्धन) प्रदीपन-निरपेक्ष है, तो वह प्रदीपन-हेतु से जायमान भी नही है। दूसरी आपत्ति यह होगी कि प्रदीपन-सापेक्ष अग्नि का प्रदीपन के अभाव मे निर्वाण माना जाता है। अब जब कि वह प्रदीपन-निरपेक्ष है, तब उसका निर्वाण-प्रत्यय भी सम्भव न होगा। ऐसी अवस्था में अग्नि नित्य प्रदीप्त होगा। इतना ही नही, अग्नि को नित्य प्रदीप्त स्वीकार करने पर उसके लिए उपादान, सन्धुक्षणादि कार्य भी व्यर्थ होंगे। इस प्रकार, आपके मत में अग्नि एक ऐसा कर्त्ता होगा, जो अकर्मक होगा। फिर, जिसका कर्म विद्यमान होगा, उसमे कर्तृत्व भी वन्ध्यापुत्र के समान होगा। इसलिए, ईन्धन से अग्नि के अन्यत्व का पक्ष युक्त नही है।

पूर्वपक्षी आक्षेप करता है कि आपका यह कथन कि अग्नि ईन्धन से अन्य है, तो ईन्धन के विना भी उसका अस्तित्व स्वीकार करना होगा। यह युक्त नही है। अग्नि का अस्तित्व ईन्धन से भिन्न होने पर भी ईन्धन के विना सिद्ध नही किया जा सकता। ज्वाला से परिगत अर्थ ईन्धन है, वह दाह्य-लक्षण है। ईन्धन के आश्रय से ही अग्नि की उपलब्धि होती है। अग्नि के सम्बन्ध मे ही ईन्धन का ईन्धनत्व-व्यपदेश माना जाता है। इसलिए, अग्नि की उपलब्धि ईन्धन के आश्रित है, पृथक् नही। ऐसी अवस्था में माध्यमिक को अन्य पक्ष में दोष देने का अवसर नही है।

सिद्धान्ती पूर्वपक्षी की नई युक्ति का परीक्षण करता है। कहता है कि आप दाह्य-लक्षण से युक्त ज्वाला से परिगत अर्थ को ईन्धन मानते हैं, और उसके आश्रित अग्नि मानते हैं। आपकी इस कल्पना से भी 'अग्नि ईन्धन को जलाता है' यह प्रतीति उपपन्न नही होगी। क्योकि, जब ज्वाला से परिगत दाह्य ईन्धन है, और उससे अतिरिक्त अग्नि नही देखा जाता, जिससे ईन्धन दग्ध हो, तब बताइए ईन्धन किससे दग्ध होगा ? इसलिए, अग्नि ईन्धन का दाह करता है, यह सिद्ध नही होगा, क्योंकि आप ईन्धन के अतिरिक्त अग्नि सिद्ध नही कर सकते।

ऐसी अवस्था मे ज्वाला-परिणति किसी की नही बन सकती । फिर, वादी पर पूर्वोक्त समस्त दोष अनिवारित ही रहते हैं ।

पूर्वपक्षी अग्नि और ईन्धन का भेद स्वीकार करते हुए भी दोनो की प्राप्ति सिद्ध करता है । उसका कहना है कि स्त्री-पुरुष परस्पर अन्य है, और उनकी प्राप्ति होती है । सिद्धान्ती इसका उत्तर देता है कि प्रकृत मे स्त्री-पुरुष का दृष्टान्त तब लागू हो, जब स्त्री-पुरुष के समान अग्नि-ईन्धन की परस्परानपेक्ष सिद्धि आप बता सके, किन्तु यह असम्भव है । यदि आप अन्योन्यापेक्ष जन्मवाली वस्तुओ मे अन्यत्व सिद्ध करे, और फिर उनकी प्राप्ति सिद्ध करे, तब आपका दृष्टान्त न्याय्य होगा ।

पूर्वपक्षी कहता है कि यद्यपि अग्नि-ईन्धन की परस्पर निरपेक्ष सिद्धि नही है, तथापि परस्पर अपेक्षावश उनकी स्वरूप-सिद्धि तो है । क्योकि अविद्यमान वन्ध्यापुत्र और वन्ध्यादुहिता की परस्पर अपेक्षा नही होती । सिद्धान्ती पूछता है कि आप अग्नि को दहन का कर्त्ता और ईन्धन को दहन का कर्म मानकर उसका कर्म-कर्तृभाव स्वीकार करते हैं । मैं पूछता हूँ कि ईन्धन और अग्नि मे कौन पूर्वनिष्पन्न है ? यदि ईन्धन पूर्वनिष्पन्न हो, तो अग्नि-निरपेक्ष होने के कारण उसमे ईध्यमानता न होगी । फलत , उसमे ईन्धनत्व न होगा । अन्यथा, समस्त तृणादि ईन्धन होगे । यदि अग्नि को पूर्व मानें और ईन्धन को पश्चात्, तो यह असम्भव होगा कि ईन्धन से पूर्व ही अग्नि सिद्ध हो जाय और अग्नि निर्हेतुक भी होगा । इसलिए, पूर्व-सिद्ध की अपेक्षा से इतर की सिद्धि होती है, आपका यह पक्ष असम्भव है । यदि हम ईन्धन को पूर्व और अग्नि को पश्चात् मान भी लें और कहे कि ईन्धन की अपेक्षा करके अग्नि होता है, तो सिद्ध-साधनता दोष आपतित होगा, क्योकि सिद्ध रूप (विद्यमान पदार्थ) की अन्य की अपेक्षावश पुन सिद्धि माननी पडेगी । स्पष्ट है कि सिद्ध अग्नि को ईन्धन से यदि कुछ लेना होता, तभी उसकी ईन्धनापेक्षता सफल होती है । इसलिए, ईन्धन की अपेक्षा कर अग्नि सम्पन्न होता है, यह बात ठीक नही है ।

पूर्वपक्षी ईन्धन और अग्नि का यौगपद्य मानता है । वह यौगपद्यवश ईन्धन की सिद्धि से अग्नि की सिद्धि और अग्नि की सिद्धि से ईन्धन की सिद्धि मानकर कहता है कि ऐसी अवस्था में आपकी यह शका व्यर्थ है कि कौन पूर्वनिष्पन्न है ?

सिद्धान्ती उत्तर देता है कि ऐसी अवस्था मे अग्नि और ईन्धन दोनो की ही सिद्धि नही होगी, क्योकि यदि अग्नि पदार्थ ईन्धन पदार्थ की अपेक्षा से सिद्ध होता है, और ईन्धन पदार्थ को आत्मसिद्धि के लिए अग्नि की अपेक्षा है, तो आप ही बताइए कि कौन किसकी अपेक्षा करके सिद्ध हो ?

इस प्रकार, अग्नि और ईन्धन की परस्परापेक्षा मानने पर उनकी सिद्धि नहीं होगी, क्योकि सिद्ध और असिद्ध मे अपेक्षा नही होती ।

पूर्वपक्षी कहता है कि हमें आपके तर्को की इस सूक्ष्मेक्षिका से क्या प्रयोजन ? हम लोग स्पष्ट ही अग्नि से जलता हुआ ईन्धन देखते है । यह प्रतीति अग्नि ईन्धन की सिद्धि के लिए पर्याप्त है ।

सिद्धान्ती उत्तर देता है कि अग्नि ईन्धन को नही जलाता है। ईन्धन मे यदि अग्नि हो, तो वह ईन्धन को जलावे, किन्तु यह अत्यन्त असम्भव है। ईन्धन के अतिरिक्त कही अन्यत्र से अग्नि का आगमन नही देखा जाता, क्योंकि निरीन्धन अग्नि अहेतुक होगा। इसलिए, उसका आगमन क्या होगा? और सेन्धन अग्नि के आगमन से कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता। इस प्रकार, अग्नि-ईन्धन का अभेद, भेद तथा भेदाभेद-पक्ष सिद्ध नही होते। इसी प्रकार, आधार-आधेय आदि पक्ष भी सिद्ध नही होते।

पूर्वोक्त अग्नि-ईन्धन न्याय के आधार पर उपादाता आत्मा और उपादान से पचस्कन्ध की सिद्धि नही हो सकती, क्योंकि आत्मा और उपादान का क्रम सिद्ध नही हो सकता। अग्नि-ईन्धन के समान ही हम देखते है कि उपादान आत्मा नही हो सकता, अन्यथा कर्त्ता-कर्म का एकत्व-प्रसग होगा। उपादाता और उपादान भिन्न-भिन्न है, यह पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि स्कन्ध के अतिरिक्त आत्मा की उपलब्धि नही हो सकती। एकत्व और अन्यत्व-पक्ष के प्रतिषेध से ही आत्मा स्कन्धवान् है, यह पक्ष भी अयुक्त होता है। पूर्ववत प्रकार से विचार करने पर आत्मा की निरपेक्ष सिद्धि नही होती। इसलिए, कर्म-कारक के तुल्य आत्मा और उपादान की परस्परापेक्ष सिद्धि माननी चाहिए।

यहाँ आचार्य नागार्जुन कहते है कि कर्म कारक की तरह आत्मा और उपादान का तथा घटादि की परस्परापेक्ष सिद्धि होती है। किन्तु, कुछ सतीर्थ्य तथागत के शासन का अन्यार्थ करते है, और आत्मा की स्कन्ध से अभिन्नता प्रतिपादित करते है। उसे शासन के विशेषज्ञ नही मानते। नागार्जुन के अनुसार ये लोग परम गम्भीर प्रतीत्यसमुत्पाद से अनभिज्ञ है। ये उसके शाश्वत और उच्छेद-राहित्य के रहस्य को नही जानते। वे यह नही जानते कि शासन मे उपादाय-प्रज्ञप्ति क्या है।

पदार्थों की पूर्वापर-कोटिशून्यता

वादी ससार की सत्ता से आत्मा की सत्ता सिद्ध करता है। यदि आत्मा नही है, तो जन्म-मरण-परम्परा से ससरण किसका होगा? भगवान् ने अनवराग्र[१] (आदि-अन्त कोटिशून्य) जाति-जरा-मरण की सत्ता स्वीकार की है। ससार की सत्ता से ससरण-कर्त्ता आत्मा की सिद्धि होती है।

माध्यमिक कहता है कि भगवान् ने ससार की अनवराग्रता कहकर उसकी असत्ता का उपदेश किया है, क्योंकि अलात-चक्र के समान पूर्वापर-कोटिशून्य होने से ससार नही है। अवनराग्र ससार की प्रतिपत्ति अविद्या निवरण युक्त सत्त्वो की दृष्टि से है, जिससे वे उसके क्षय मे प्रवृत्त हो। उसके लिए यह शिक्षा नही है, जिसने लोकोत्तर ज्ञान से अपनी अशेष क्लेश-वासनाओ को नि शेष कर दिया है।

---

१ अनवराग्रो हि भिक्षवो जातिजरामरणससार इति।

प्रश्न उठता है कि आदिरहित ससार का अन्त कैसे माना जाय ? चन्द्रकीर्त्ति कहते है कि लोक मे आदिरहित व्रीह्यादि का दहनादि से अन्त देखा जाता है। भगवान् ने अवबद्ध सत्त्वो के उत्साह-प्रदान के लिए लौकिक ज्ञान की अपेक्षा से ही ससार का अन्तोपदेश किया। वस्तुत, ससार नही है, और न उसके क्षय होने का ही कोई प्रश्न उठता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि भगवान् ने लौकिक ज्ञान की अपेक्षा से ही सही ससार का आदित्व भी क्यो नही कहा ? चन्द्रकीर्त्ति कहते है कि ससार का आदिभाव लौकिक ज्ञान की अपेक्षा से भी सिद्ध नही होता। आदि मानने पर ससार अहेतुक होगा।

पूर्वपक्षी कहता है कि ससार की आदि और अन्त कोटि न भी हो, फिर भी मध्य के सद्भाव से ससार की सत्ता सिद्ध होगी। आचार्य नागार्जुन कहते है कि जिसका आदि और अन्त न होगा, उसका मध्य क्या होगा ? विपर्यस्त सत्त्वो की दृष्टि मे ही ससार है। वस्तुत, वह सज्ञामात्र है, ससार नही है और ससर्त्ता आत्मा भी नही है।

आचार्य ससार का अभाव सिद्ध कर जाति-जरा-मरण आदि के पूर्वापर क्रम या सहक्रम का निषेध करते है। जाति-जरा-मरण मे यदि जाति पूर्व है, तो वह असस्कृत धर्मो के समान जरा-मरण से रहित होगी।

इस प्रकार, जरा-मरण से रहित पदार्थ की जाति स्वीकार करने पर अमरणधर्मा देवदत्त की जाति माननी होगी। ऐसी अवस्था मे ससार आदिमान् होगा और अहेतुक होगा। यदि जाति से पूर्व जरा-मरण माने, तो अजात का जरा-मरण मानना पडेगा। यदि जाति और जरा-मरण का सहभाव माने, तो जायमान का मरण मानना पडेगा, जो कथमपि युक्त न होगा, क्योकि जाति और मरण आलोकान्धकार के समान परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है। उनकी एककालिकता नही बनेगी।

आचार्य कहते है कि जैसे ससार की पूर्व कोटि नही है, उसी प्रकार किसी भाव की पूर्व कोटि नही होती, क्योकि यदि कार्य को पूर्व और कारण को पश्चात् माने, तो कार्य निर्हेतुक होगा। यदि कारण को पूर्व और कार्य को पश्चात् मानें, तो कारण अकार्य होगा। कार्य-कारण के इस प्रत्याख्यान से ज्ञान-ज्ञेय, प्रमाण-प्रमेय, साधन-साध्य, अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि सभी पदार्थों की पूर्व कोटि सिद्ध नही होती।

दुःख की असत्ता

पूर्वपक्षी आत्मा की सिद्धि के लिए एक अन्य पक्ष उठाता है। पाँच उपादान-स्कन्ध दु ख है। उस दु ख का आश्रय होना चाहिए। वह आत्मा है। माध्यमिक कहता है कि दु खाश्रय आत्मा अवश्य सिद्ध होता, यदि दु ख होता। किन्तु, दु ख की सत्ता के लिए उसका स्वयकृतत्व, परकृतत्व, उभयकृतत्व या अहेतुकत्व बताना होगा। इन पक्षो मे किसी के स्वीकार मे उसकी सत्ता सिद्ध नही होती। यदि मरणान्तिक स्कन्धो की अपेक्षा करके औपपत्तिक स्कन्धो का उत्पाद माने, तो दु ख स्वयकृत सिद्ध नही होगा। मरणान्तिक स्कन्धो से औपपत्तिक स्कन्धो को अतिरिक्त मानने पर उसका परकृतत्व सिद्ध होता, किन्तु यह असम्भव है; क्योकि दुःख के लिए हेतु-फल-सम्बन्ध की व्यवस्था आवश्यक है।

वादी यदि यह कहे कि दुःख के स्वयकृतत्व से मेरा अभिप्राय दुःख से ही दुःख के उत्पन्न होने का नही है, अपि तु यह है कि पुद्गल के द्वारा वह स्वयमेव कृत है, दूसरे ने करके उसे नही दे दिया है। इसपर सिद्धान्ती कहता है मनुष्यो का दुःख पचोपादानलक्षण है। उसे यदि पुद्गल ने स्वय किया है, तो उस पुद्गल को वताइए, जिससे उस दुःख का स्वयकृतत्व सिद्ध हो। यदि जिस दुःख से पुद्गल स्वय प्रज्ञप्त होता है, वह दुःख उस पुद्गल के द्वारा कृत है, तो भेदेन यह वताइए कि 'यह वह दुःख है' और 'उसका यह कर्त्ता है'। अपि च, यह मानें कि मनुष्य के दुःख का उपादान पुद्गल है, और उसने उस दुःख को उत्पन्न किया है, तो यह निश्चित नही होगा कि जो स्वपुद्गल-कृत है, वह परपुद्गल-कृत भी अवश्य होता है। उपादान का भेद रहने पर भी पुद्गल का अभेद नही दिखाया जा सकता, क्योकि उपादान के अतिरिक्त पुद्गल को दिखा सकना अत्यन्त अशक्य है।

दूसरी वात है कि यह दुःख स्वकृत है, तो वृत्ति-विरोध होगा; क्योकि स्वात्मा में ही करणत्व तथा कर्त्तृत्व मानना पडेगा। परकृत दुःख भी नही मान सकते, क्योकि पर स्व से निष्पन्न नही है। जो स्व से निष्पन्न नही है, वह अविद्यमान स्वभाव है। स्वय अविद्यमान-स्वभाव दूसरे को क्या सम्पन्न करेगा? दुःख जव एक का कृत नही है, तव उभय-कृत भी सिद्ध नही होगा। उक्त न्याय से यदि दुःख का स्वयकृतत्व, परकृतत्व सिद्ध नही हुआ तो दुःख की निर्हेतुकता का प्रश्न भी नही उठेगा, जैसे आकाश-कुसुम की सुगन्धि के लिए निर्हेतुकता का प्रश्न नही उठा सकते। आचार्य चन्द्रकीर्त्ति कहते है कि उपर्युक्त न्याय से जव दुःख सिद्ध नही होता, तव उसके आश्रयभूत आत्मा की सिद्धि का प्रश्न ही क्या है?

संस्कारो की निःस्वभावता

अव आचार्य पदार्थों की निःस्वभावता प्रकट करने के लिए सस्कारो की परीक्षा करते है। कहते है कि भगवान् ने सर्वसस्कारो को मृषा और मोपधर्मा[1] कहा है। अलातचक्रवत् समस्त सस्कारो का आख्यान वितथ है। केवल निर्वाण मोपधर्मा नही है, सत्य है। इसके अतिरिक्त सव धर्म निःस्वभाव होने से शून्य है।

यहाँ वादी शका करता है कि मोपधर्मा होने से यदि सव सस्कार मृषा है तो आपका यह कहना भी कि 'कोई पदार्थ नही है', मृषा-दृष्टि होगी। आचार्य कहते है कि सर्व सस्कारो की मोपधर्मता अवश्य है, किन्तु हमारा यह वचन कि 'मोपधर्मा सभी मृषा है', क्या मोषण (वचना) किया? अवश्य ही, यदि कोई सत्-पदार्थ होता और उसका हम अपवाद करते, तो हमारी दृष्टि अभाव-दृष्टि होती, और उसे आप मिथ्या-दृष्टि कह सकते।

---

१ एतद्धि खलु भिक्षव परम सत्य यदिदममोषधर्म निर्वाणम्, सर्वसस्काराश्च मृषा मोषधर्माण इति। (मा० का० वृ०, पृ० २३७)

माध्यमिक अभाववादी नहीं

वादी कहता है कि उपर्युक्त आगम ने यदि अभाव-दृष्टि का भी प्रतिपादन नही किया, तो क्या करता है ? आचार्य कहते है कि भगवान् के ये वचन शून्यता (स्वभाव का अनुत्पाद) के प्रकाशक है। चन्द्रकीर्त्ति यहाँ अनवतप्तह्रदापसक्रमणसूत्र का एक सूत्र[1] उद्धृत कर कहते है--जो प्रत्ययो से उत्पन्न होता है, वह वस्तुत अनुत्पन्न ही है, क्योकि उसकी स्वाभाविक उत्पत्ति नही है। प्रत्ययाधीन उत्पत्ति से ही शून्यता उक्त हो जाती है। ऐसी शून्यता को जाननेवाला प्रमाद नही करता।

वादी कहता है कि यह आगम भावो का अनवस्थायित्वमात्र वतलाता है, भावो के स्वभाव का अनुत्पाद नही। भावो का स्वभाव है, क्योकि उनका परिणाम देखा जाता है। इसके अतिरिक्त एक ओर तो माध्यमिक भावो को अस्वभाव मानते है, दूसरी ओर उसमे शून्यता-धर्म भी मानते है। किन्तु, यदि धर्मी नही है, तो तदाश्रित धर्म कैसे उपपन्न होगे ? अत, विपरिणामादि की सिद्धि के लिए उन्हें भाव-स्वभावता माननी होगी।

आचार्य कहते है कि यदि भावो के स्वभाव स्थित है, तो अन्यथाभाव किसका होगा ? जो धर्म जिस पदार्थ को किसी प्रकार नही छोडता, वह उसका स्वभाव कहा जाता है, जैसे अग्नि की उष्णता। यदि भावो का स्व-भाव माने, तो उनका अन्यथात्व (रूपान्तरता) नही बनेगा। यदि भाव अपनी प्राकृत अवस्था मे ही वर्त्तमान रहेंगे, तो उनका अन्यथात्व कैसे उपपन्न होगा। युवक जब युवावस्था में ही वर्त्तमान है, तब उसका अन्यथात्व नही होगा। वादी के सिद्धान्त मे अवस्थान्तर-प्राप्ति से भी अन्यथात्व नही होगा, क्योकि युवक का अन्यथात्व उसकी जीर्णता है। यदि युवक पूर्ववत् है, तो उससे अन्य की ही जीर्णता माननी होगी। अन्य युवा की जीर्णता से भी उसकी जीर्णता है, तो उसका जरा से सम्बन्ध निष्प्रयोजन होगा। यदि कहे कि युवा का ही अन्यथाभाव होगा, तो यह ठीक नही है, क्योकि जो जरावस्था-प्राप्त नही है, वह युवा है। उसे कोई जीर्ण भी माने, तो एक मे परस्पर दो विरुद्ध अवस्थाएँ माननी पडेंगी।

यदि आप कहे कि क्षीरावस्था के परित्याग से दधि-अवस्था आती है, अत. क्षीर दधि नही होता, तो हम कहते है कि क्या उदक का दधिभाव होगा ? इस प्रकार तो सस्वभाववाद में आप किसी तरह परिणमन नही सिद्ध कर सकते।

आपका यह आक्षेप कि शून्यता के आश्रय के लिए माध्यमिक को भावो को सस्वभाव मानना पडेगा, ठीक नही है। अवश्य ही शून्यता का कोई धर्म होता, तो उसके आश्रय

---

[1] य प्रत्ययैर्जायति स ह्यजातो न तस्य उत्पादु सभावतोऽस्ति।
य: प्रत्ययाधीनु स शून्य उक्तो य शून्यता जानति सोऽप्रमत्त ॥ (पृ० २३९)

के लिए भावो की सस्वभावता भी होती। किन्तु, ऐसा नहीं है। हमारे मत में शून्यता सब धर्मो का सामान्य-लक्षण है। इसलिए कोई अशून्य धर्म नहीं है। जब अशून्य पदार्थ नही है, और अशून्यता नही है, तब प्रतिपक्ष (अशून्यता) से निरपेक्ष होने के कारण शून्यता भी नही होगी। जब शून्यता नही है, तब उसके आश्रित पदार्थ की भी सत्ता नहीं है। हमारा यह पक्ष सुसगत है।

पूर्वपक्षी कहता है कि भगवान् ने विमोक्ष के लिए शून्यता, अनिमित्तता, अप्रणिहितता का निर्देश किया है। यह सौगत वचन की अन्य सबसे असाधारणता है। अन्य तीर्थिको के वाद-मोह से अभिभूत इस जगत् को शिक्षा देने के लिए भगवान् बुद्ध ने जगत् मे नैरात्म्योपदेश के प्रदीप को जलाया था। किन्तु, आपने तथागत के प्रवचन का व्याख्यान करने के व्याज से शून्यता का ही प्रतिक्षेप कर दिया।

सिद्धान्ती कहता है कि आप अत्यन्त विपर्यास के कारण निर्वाणपुरगामी शिव एव सरल मार्ग को छोडकर ससार-कान्तारगामी मार्ग का अनुसरण कर रहे है। आपको जानना चाहिए कि निरवशेष क्लेश-व्याधि के चिकित्सक महावैद्यराज बुद्ध ने कहा है[१] कि "मिथ्या-दृष्टियो से अभिनिविष्ट लोगो का निस्सरण (अप्रवृत्ति) ही शून्यता है। किन्तु, जो शून्यता में भी भावाभिनिवेश (शून्यता एक तत्त्व है, ऐसा अभिनिवेश) करेंगे, वे असाध्य हैं", क्योकि हमारे उपदेश से उन्हें (अभिनिवेशी को) सकल कल्पना से व्यावृत्त मोक्ष कैसे होगा? जैसे कोई किसी से कहे कि मैं तुम्हे पैसा दूँगा, तो दूसरा कहे कि 'आप मुझे वही दे, कि 'पण्य नही दूँगा'। ऐसे व्यक्ति को पण्याभाव का ज्ञान नही कराया जा सकता। इसी प्रकार, जिन्हें शून्यता में भी भावाभिनिवेश हो जाय, उसे अभिनिवेश से कौन निषेध कर सकता है? ऐसे दोष-सञ्जी का परम चिकित्सक तथागत ने प्रत्याख्यान किया है।

संसर्गवाद का खण्डन

आचार्य भावो की नि स्वभावता सिद्ध करने के लिए पदार्थों के ससर्गवाद का खण्डन करते है। पूर्वपक्षी कहता है कि भावो की सस्वभावता है, क्योकि उनका ससर्ग होता है। सस्कारो का भी परस्पर ससर्ग होता है। जब यह कहा जाता है कि चक्षुर्विज्ञान चक्षु और रूप की अपेक्षा करके (प्रतीत्य) उत्पन्न होता है, तो उससे तीनो का सनिपात या स्पर्श अभिप्रेत है। स्पर्श से वेदना आदि होते हैं। इसी प्रकार सज्ञा और वेदना ससृष्ट हैं। इन्हे असंसृष्ट धर्म नही कहते। अत, ससर्ग भावो की सस्वभावता को सिद्ध करते है।

आचार्य समाधान करते है कि इनका ससर्ग सिद्ध नही होता, क्योकि द्रष्टव्य (रूप), दर्शन (चक्षु) और द्रष्टा (विज्ञान) में किन्ही दो या तीन में (सर्वश) ससर्ग नही

---

१ शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता नि सरण जिनै।
येषां तु शून्यतादृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे ॥ (१३।८)

होता । इसी प्रकार, राग-रक्त-रजनीय, द्वेष-द्विष्ट-द्वेपणीय तथा श्रोत्र-श्रोता-श्रोतव्य का भी ससर्ग नही होता। ससर्ग के लिए द्रष्टव्यादि मे परस्पर अन्यता होनी चाहिए। तभी क्षीरोदक के समान वे अन्योन्य-ससृष्ट होगे। किन्तु, इनमे अन्यत्व सिद्ध नही किया जा सकता, इसलिए इनमे ससर्ग भी नही होगा । इतना ही नही कि कार्य-कारण-रूप मे अवस्थित द्रष्टव्यता आदि में परस्पर अन्यता असम्भव है, प्रत्युत अत्यन्त भिन्न घटपटादि मे भी परस्पर अन्यता सिद्ध नही होती।

वस्तु-भेद की अपारमार्थिकता

अन्य पट की अपेक्षा से ही घट को पट से अन्य कहा जाता है। आचार्य कहते हैं कि पट मे घट की अपेक्षा से अन्यता है, यही यह सिद्ध करता है कि पट से घट अन्य नही है, क्योंकि नियम है कि जिसकी अपेक्षा से जो वस्तु होती है, वह उससे अन्य नही होती। जैसे बीजाकुर। यदि घट-पट की अन्यता की अपेक्षा अन्य है, तो वह पटातिरिक्त अन्य वस्तुओ से भी अन्य है। ऐसी दशा मे पट-निरपेक्ष एक-एक घट अन्य होगे, क्योकि जो जिससे अन्य है, वह उसके विना भी सिद्ध होगा––जैसे कोई भी घट अपने स्वरूप की निष्पत्ति मे पट की अपेक्षा नही करता। इसी प्रकार, जब पट के विना भी घट का अन्यत्व सिद्ध होता है, तब उस पट-निरपेक्ष घट का परत्व भी सिद्ध होगा। किन्तु, पट-निरपेक्ष एक-एक घट का अन्यत्व दृष्ट नही है। इसलिए, घट की अन्यता स्वीकार करनेवाले पक्ष मे जिसकी अपेक्षा से अन्यता अभीष्ट है, उसी से यह भी स्पष्ट होता है कि उसकी अपेक्षा से अन्यता नही है।

पूर्वपक्षी एक तर्क करता है कि आपके मत मे किसी की अपेक्षा मे किसी मे अन्यता नही है, तो आपका यह कहना भी सम्भव न होगा कि "अन्य की प्रतीति से ही किसी में अन्यता आती है, इसलिए, वह उससे अन्य नही है।" सिद्धान्ती कहता है कि पदार्थों की अन्यता-सिद्धि परस्परापेक्ष है। इसलिए, हम लोक-व्यवहार मे किसी की अन्यता कहते है। वस्तुत , परीक्षा करने पर किसी की अन्यता सिद्ध नही होती।

पूर्वपक्षी कहता है, लोक-सवृति से आप घट-पट की भाँति बीजाकुर मे भी अन्यता-व्यपदेश क्यो नही करते ? चन्द्रकीर्ति इसका उत्तर देते हैं कि लोक घट-पट के समान बीजाकुर की अन्यता मे प्रतिपन्न नही है। ऐसा मानने पर घट-पट के समान बीजाकुर मे भी जन्य-जनकभाव नही होगा, और बीजाकुर मे यौगपद्य (एककालिकता) भी मानना पडेगा।

सामान्य-विशेष की अन्यता नहीं

यहाँ वैशेपिक अपना पक्ष उठाता ह कि हम किसी पदार्थ मे पदार्थान्तर की अपेक्षा करके परबुद्धि नही मानते। सामान्य विशेप ही अन्यत्व है, वह जिसमे समवेत (सम्बद्ध) होता है, वह वस्तु पदार्थान्तर-निरपेक्ष होकर भी पर होती है। इसलिए, आपके द्वारा प्रदर्शित दोष मेरे पक्ष मे नही लगते।

सिद्धान्ती समाधान करता है कि आपका पक्ष तब ठीक हो, जब अन्यता सिद्ध हो, किन्तु यह सर्वथा असिद्ध है। यह बताइए कि अन्यत्व अन्य मे कल्पित है या अनन्य मे ? प्रथम पक्ष मे अन्यत्व-परिकल्पन व्यर्थ है, क्योंकि अनायास ही अन्यत्वेन व्यपदिष्ट पदार्थ में आप अन्यत्व की कल्पना करते हैं। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनन्य एक होता है, जो अन्य का विरोधी है। अत, अनन्य मे विरोधी अन्यत्व कैसे रहेगा।

पूर्वपक्षी ससर्गवाद को प्रकारान्तर से पुष्ट करता है। कहता है कि दर्शनादि का त्रिक-सन्निपात (तीन का स्पर्श) है, क्योंकि दर्शनादि स्पष्टत उपलब्ध है। सिद्धान्ती कहता है कि आपके मत मे दर्शनादि का ससर्ग एकत्वेन परिकल्पित है, या अन्यत्वेन। एकत्व-पक्ष में ससर्ग नहीं बनेगा, क्योंकि उदक-निरपेक्ष क्षीर का उदक से ससर्ग नहीं होता। अन्यत्व-पक्ष भी असिद्ध है, क्योंकि उदक से पृथक् रहकर क्षीर उदक से ससृष्ट नहीं होता। यदि पूर्वपक्षी कहे कि ससर्ग न हो, किन्तु ससृज्यमान-ससृष्ट-सस्रष्टा तो है, जो जो ससर्ग के बिना असम्भव होंगे ? आचार्य कहते हैं कि जब ससर्ग ही नहीं है, तब ससृज्यमानादि की सत्ता कहाँ से सिद्ध होगी।

चन्द्रकीर्त्ति इस ससर्गवाद का निषेध केवल तर्कों के आधार पर नहीं करते, भगवद्वचन भी उद्धृत करते हैं कि चक्षु वस्तुत नहीं देखता है। यह सयोग-वियोग विकल्पमात्र है।[1]

नि.स्वभावता की सिद्धि

माध्यमिककारिका के पचदश प्रकरण मे आचार्य नि स्वभावता के सिद्धान्त का समारम्भ के साथ समर्थन करते है, और आचार्य चन्द्रकीर्त्ति उसकी पुष्टि के लिए सर्वास्तिवाद विज्ञानवाद आदि का खण्डन करते हुए सस्वभाववाद की निकट परीक्षा करके उसे ध्वस्त करते है।

बौद्धो मे एकदेशी कहता है कि भावो का स्वभाव है, क्योंकि उसकी निष्पत्ति के लिए हेतु-प्रत्ययो का उपादान होता है। उपादान खपुष्प के लिए नहीं होता, अकुर की निष्पत्ति के लिए बीज का तथा सस्कार के लिए अविद्या का उपादान होता है।

सिद्धान्ती कहता है कि यदि सस्कार और अकुरादि सस्वभाव हैं, और वर्त्तमान हैं, तो इनके लिए हेतु-प्रत्यय व्यर्थ है। जिस प्रकार वर्त्तमान सस्कारादि की भूयो निष्पत्ति के लिए अविद्यादि का उपादान व्यर्थ है, उसी प्रकार समस्त भावो की विद्यमानता हेतु-प्रत्यय के उपादान को व्यर्थ सिद्ध करती है। अत, हेतु-प्रत्ययो के द्वारा भावो का स्वभाव सिद्ध नहीं होता। यदि कहो कि उत्पाद से पूर्व स्वभाव अविद्यमान है, हेतु-प्रत्ययो की अपेक्षा से पश्चात् उसका उत्पाद होता है, तो ऐसी स्थिति में स्वभाव कृतक होगा। किन्तु, जो स्वभाव

---

१ सर्वसयोगि तु पश्यति चक्षुस्तत्र न पश्यति प्रत्ययहीनम्।
नैव च चक्षु प्रपश्यति रूप तेन सयोगवियोगविकल्प ॥
आलोकसमाश्रित पश्यति चक्षु रूपमनोरमचित्रविशिष्टम्।
येन च योगसमाश्रितचक्षुस्तेन च पश्यति चक्षु कदाचि॥ (पृ० २५६)

है, वह कृतक कैसे होगा ? उसका स्वत्व ही जब उसकी सत्ता है (स्वो भाव), तब उसे नियमत' अकृतक होना चाहिए। जैसे अग्नि की उष्णता या अन्य पद्मरागादि का पद्मरागादि-स्वभाव।

आचार्य चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि स्वभाव की अकृतकता लोक-व्यवहार से व्यवस्थित है। उसके आधार पर हमने भी अग्नि की उष्णता को अग्नि का स्वभाव मान लिया है। वस्तुत, औष्ण्य भी अग्नि का स्वभाव नही हो सकता, क्योंकि अग्नि की उत्पत्ति मणि-ईन्धन-आदित्य के समागम से तथा अरणि के निर्घषणादि के कारण हेतु-प्रत्ययापेक्ष है। अग्नि के अतिरिक्त उसकी उष्णता सम्भव नही है, अत जल की उष्णता के समान अग्नि की उष्णता भी उसका स्वभाव नही होगी, प्रत्युत उसका औष्ण्य हेतु-प्रत्यय-जनित होने से कृत्रिम है।

पूर्वपक्षी कहता है कि 'उष्णता अग्नि का स्वभाव है', यह सर्वजनप्रसिद्ध है। चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि हमने कब कहा कि यह वाद प्रसिद्ध नही है। हम लोग तो इतना ही कहते हैं कि उष्णता स्वभाव नही है, क्योंकि वह स्वभाव-लक्षण से वियुक्त है। लोक अविद्या-विपर्यास से नि.स्वभाव को ही स्वभावत्वेन प्रतिपन्न करता है, और उसके अनुसार आख्यान करता है कि 'उष्णता अग्नि का स्वलक्षण है'। बालजन की प्रसिद्धि के अनसार ही भगवान् ने अभि-धर्म में भावो का सावृत स्वरूप व्यवस्थापित किया है। किन्तु जिनका, अविद्या-तिमिर नष्ट हो चुका है, ऐसे प्रज्ञाचक्षुवाले आर्य लोगो की दृष्टि से विचार करे, तब बालचन की कल्पित सस्वभावता उपलब्ध नही होगी। फलत, आर्य परहित की दृष्टि से कहता है कि 'भावो का स्वभाव नही है'।

स्वभाव का लक्षण

यहाँ आचार्य स्वभाव का अपना लक्षण बताते है कि 'स्वभाव पर-निरपेक्ष तथा अकृत्रिम होता है'। चन्द्रकीर्त्ति उसकी व्याख्या मे कहते है कि 'स्वो भाव' इस व्युत्पत्ति मे पदार्थ का आत्मीय रूप स्वभाव है। आत्मीय रुप वही होगा, जो अकृत्रिम होगा। जो जिसका आयत्त है, वह भी उसका आत्मीय है, जैसे स्वभृत्य, स्वजन। इस प्रकार, परमापेक्ष और कृत्रिमपदार्थ स्वभाव नही होगे। अतएव, अग्नि की उष्णता हेतु-प्रत्यय से प्रतिबद्ध होने के कारण, पूर्व मे न होकर पश्चात् होने के कारण, कृतक है, और अग्नि का स्वभाव नही है। इस प्रकार अग्नि का निजरूप अकृत्रिम है, जो कालत्रय मे अव्यभिचारी है।

अब प्रश्न यह है कि स्वभाव के इस लक्षण के अनुमार अग्नि का स्वभाव क्या है ? इसके उत्तर मे माध्यमिक परमार्थ का सकेत करता है कि स्वरूपत (स्वलक्षणत) स्वभाव 'नही है', किन्तु, 'नही है' भी नही है (न तद् अस्ति न चापि नास्ति स्वरूपत)। इस स्वरूप मे श्रोताओ को उत्त्रास न हो, इसलिए सावृतिक आरोपण से कहा जाता है कि 'स्वभाव है।'

भगवान् का वचन[1] है कि अपरमार्थ धर्मों की देशना और श्रवण होगा। वह केवल समारोपित कर्मों से ही देशित या श्रुत होता है। जो पदार्थ उपलब्ध है, उन्हें अविद्या-विरहित आर्य जिस रूप में अपने दर्शन का विषय बनाता है, वही उसका स्वभाव है।[2]

प्रश्न उठता है कि अध्यारोप के कारण यदि स्वभावातिरिक्तवाद सिद्ध होता है, तो वस्तु की अस्तिता का स्वरूप क्या है? चन्द्रकीर्ति उत्तर में कहते हैं कि जो धर्मों की धर्मता है, वही उसका स्वरूप है ('या सा धर्माणा धर्मता सैव तत्स्वरूपम्')। धर्मों की धर्मता क्या है? धर्मों का स्वभाव। स्वभाव क्या है? प्रकृति। प्रकृति क्या है? शून्यता। शून्यता क्या है? निःस्वभावता। निःस्वभावता क्या है? तथता। तथता क्या है? तथाभाव, अविकारिता, सदैव स्थायिता। परनिरपेक्ष तथा अकृत्रिम होने के कारण अग्न्यादि का अनुत्पाद ही उसका स्वभाव है।

आचार्य चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं, इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य ने अविद्या-तिमिर के प्रभाव से उसी का परनिरपेक्षता, अकृत्रिमता आदि लक्षण किया है। भावों की यही अनुत्पादात्मकता स्वभाव है, जो अकिञ्चित् होने से अभावमात्र एव अस्वभाव है। अतः, किसी प्रकार भावों का स्वभाव सिद्ध नहीं होता।

वादी कहता है कि आपके मत मे भावों का स्वभाव न हो, परभाव तो है, क्योंकि उसका आप प्रतिषेध नहीं करते। परभाव स्वभाव के विना असम्भव है, अतः स्वभाव भी मानना पडेगा। सिद्धान्ती कहता है कि स्वभाव के अभाव में परभाव भी कहाँ होगा? इतना ही नहीं, स्वभाव और परभाव के अभाव में भावमात्र नहीं होगा। इस प्रकार, भाव के प्रतिषेध से अभाव भी प्रतिषिद्ध होता है। यदि भाव नाम से कुछ होता, तो उसका अन्यथाभाव अभाव होता। जब घटादि भावरूप मे असिद्ध है, तब उस अविद्यमान स्वभाव के अन्यथात्व (अभाव) का प्रश्न ही कहाँ है? आचार्य कहते हैं कि स्वभाव, परभाव, अभाव, भाव ये सर्वथा अनुपपन्न है। जो अविद्या-तिमिर से उपहत लोग इसकी सत्ता स्वीकार करते हैं, वे बुद्ध-शासन के तत्त्व को नहीं जानते।

यहाँ आचार्य चन्द्रकीर्त्ति सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद का खण्डन कर बुद्ध-वचनों का विनियोग माध्यमिक पक्ष में करते हैं।

चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि कुछ लोग तथागत के प्रवचन का अपने को अविपरीत व्याख्याता समझते है, और कहते हैं कि पृथिवी का स्वभाव काठिन्य है, वेदना का स्वभाव विषयानुभव है आदि। विज्ञान अन्य है, रूप अन्य है, वेदना अन्य है। इस प्रकार, इनकी परभावता है। वर्त्तमानावस्था का विज्ञानादि भाव है, वह अतीतावस्थापन्न होकर अभाव होता है।

---

१. अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का।
श्रूयते देश्यते चापि समारोपादनक्षरः ॥ (पृ० २६४)

२. येनात्मना पश्यति शुद्धदृष्टि-
स्तत्तत्त्वमित्येवमिहाप्यवैहि ॥ (मध्यमकावतार, ६।२६)

आचार्य के कथनानुसार इन मान्यताओ को माननेवाले प्रतीत्यसमुत्पाद के परम गम्भीर तत्त्व को नही जानते, क्योकि स्वभाव-परभावादि का अस्तित्व उपपत्ति-विरुद्ध है। किन्तु, तथागत उपपत्ति-विरुद्ध पदार्थों के स्वभाव का वर्णन नही करते। सोपपत्तिक और अवि-सवादक होने से बुद्ध-वचन का प्रामाण्य है। बुद्ध-वचन का आगमत्व सिद्ध है, क्योकि वह प्रक्षीणदोष आप्त के द्वारा आगत है। तत्त्वो का आगमन कराता है, अथवा तत्त्व के प्रति अभिमुख है या उसका प्रतिगमन करता है, और उसका आश्रय लेकर लोक निर्वाणगामी होता है। अन्य मत उपपत्ति-वियुक्त है, आगमाभास है। उनका प्रामाण्य व्यवस्थित नही है। स्वभाव-परभावादि का दर्शन युक्ति-विधुर है, अत तत्त्व नही है। इसलिए, आचार्य नागार्जुन कहते है कि मुमुक्षुओ के लिए भगवान् ने आर्यकात्यायनाववादसूत्र[1] मे अस्तिवाद, नास्तिवाद दोनो का प्रतिषेध किया है; क्योकि भगवान् को भावाभाव के अविपरीत स्वभाव का यथावस्थित ज्ञान है। उन्होने भावाभाव उभय का प्रतिषेध किया है, अत पदार्थों का भाव या अभाव-दर्शन तत्त्व[2] नही हो सकता।

आचार्य कहते है कि यदि अग्न्यादि का स्वभाव है, तो उस विद्यमान सद्वस्तु का अन्यथाभाव कैसे होगा? क्योकि जिसका प्रकृतित अस्तित्व है, उसका नास्तित्व कैसे सम्भव होगा। प्रकृति का अन्यथाभाव किसी प्रकार सिद्ध नही किया जा सकता। किन्तु, वादी 'प्रबन्धो-परम' (प्रवाह का विच्छेद) विनाश का लक्षण मानता है। उसके मत में सभी वस्तुएँ जल की उष्णता के समान विपरिणामधर्मी हैं, अत सिद्ध है कि पदार्थों में कही स्वभावता नही है। आचार्य कहते है कि अन्यथात्व उपलभ्यमान नही है, क्योकि खपुष्प के समान जो प्रकृत्या अविद्यमान है, उसका अन्यथात्व कैसा? तथा प्रकृत्या (स्वभावेन) जो विद्यमान है, उसका भी अन्यथात्व कैसा?

शून्यवाद उच्छेद या शाश्वतवाद नहीं

आचार्य कहते है कि सिद्धान्त मे अन्यथात्व-दर्शन से पदार्थों की जो नि स्वभावता सिद्ध की गई है, वह परमत मे प्रसिद्ध अन्यथात्व-दर्शन की दृष्टि से है, क्योकि स्वमत में कभी किसी का

---

१ यद्भूयसा कात्यायनाय लोकोऽस्तिता वाभिनिविष्टो नास्तिता च। न तेन परिमुच्यते। जातिजराव्याधिमरणशोकपरिदेवदु खदौर्मनस्योपायासेभ्यो न परिमुच्यते। पाञ्चगति-कात्संसारचारकागारबन्धनान्न परिमुच्यते इत्यादि। (पृ० २६६)

२. अस्तीति काश्यप! अयमेकोऽन्तो नास्तीति काश्यप! अयमेकोऽन्त। यदेनयोरन्तयोर्मध्यं तदरूप्यमनिदर्शनमप्रतिष्ठमनाभासमनिकेतमविज्ञप्तिकमियमुच्यते काश्यप! मध्यमा प्रतिपद्भूतप्रत्यवेक्षेति। तथा—

अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता शुद्धी अशुद्धीति इमेऽपि अन्ता।
तस्मादुभे अन्तविवर्जयित्वा मध्येऽपि स्थान न करोति पण्डित ॥ (पृ० २७०)

अन्यथात्व अभिप्रेत नही है। आचार्य निष्कृष्टार्थ करते है कि प्रकृति तथा धर्म अत्यन्त अविद्यमान एव अस्वभाव है। इनमे जो भावो के अस्तित्व-नास्तित्व की परिकल्पना करते है, वे शाश्वतग्राही अस्तिवादी है या उच्छेदद्रष्टा नास्तिवादी है। इसलिए, तत्त्वग्राही विचक्षण को अस्ति-नास्तिवाद का आश्रयण नही करना चाहिए।[1] जिसके मत मे भावो का स्वभाव ही अभ्युपगत नही है, उसके मत में शाश्वत या उच्छेदवाद कैसे बनेगा ?

वादी कहता है कि आप नि स्वभाववादी है, भावदर्शन नही मानते। अत, भावो का शाश्वत-दर्शन न माने, यह ठीक हो सकता है, किन्तु उच्छेद-दर्शन मानना होगा। चन्द्रकीर्त्ति कहते है कि भाव-स्वभाव का अभ्युपगम कर पश्चात् उसका अपवाद करे, तो अभाव-दर्शन प्रसक्त होगा। जैसे तैमिरिक का उपलब्ध केश वितैमिरिक को किञ्चिद् उपलब्ध नहीं होता और वह नास्ति कहता है। इससे यह नही सिद्ध होता कि वितैमिरिक का प्रतिषेध्य कोई सत् है। इस प्रकार, माध्यमिक विपर्यस्त लोगो के मिथ्याभिनिवेश की निवृत्ति के लिए भावो के अस्तित्व का प्रतिषेध करता है। यह कहने मात्र से उसपर उच्छेदद्रष्टा होने का आरोप नही लगाया जा सकता।

विज्ञानवाद में उच्छेद और शाश्वतवाद का परिहार नहीं

चन्द्रकीर्त्ति विज्ञानवाद पर आक्षेप करते हैं और सिद्ध करते है कि उनके सिद्धान्त से अन्तद्वय का परिहार नही होता। विज्ञानवादी चित्त-चैत्त की परतन्त्र सत्ता स्वीकार करते है, और उनकी परिकल्पित स्वभावता नही मानते, इसलिए अस्तित्व-दर्शन का परिहार करते है। इस प्रकार, वस्तु की परतन्त्र सत्ता को सक्लेश और व्यवदान का निमित्त मानते है, और उसके सद्भाव मे नास्तित्व-दर्शन का खण्डन करते है। किन्तु, उनके मत मे परिकल्पित अविद्यमान है, और परतन्त्र विद्यमान है। इसलिए दर्शन-द्वय का उपनिपात है। अत, विज्ञानवाद में अन्तद्वय का परिहार नही सिद्ध होता। वस्तुतः, हेतु-प्रत्यय-जनित होने के कारण किसी की सस्वभावता मानना सर्वथा अयुक्त है। इसलिए, मध्यमक-दर्शन में ही अस्तित्व-नास्तित्व-दर्शन का परिहार होता है, सर्वास्तिवादी या विज्ञानवादी दर्शनो में नही। विज्ञानवाद माध्यमिक-सम्मत परमार्थ-दर्शन का उपाय है, अत सामितीयो की तरह वह नेयार्थ[2] है। भगवान् ने महाकरुणा के अधीन होकर निम्न भूमि के विनेयो के अनुरोध से विज्ञानवाद की देशना की है।

---

१ अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षण ॥ (१५।१०)

२ समाधिराजसूत्र में उक्त है—
नीतार्थसूत्रान्तविशेषजानति यथोपदिष्टा सुगतेन शून्यता।
यस्मिन् पुन पुद्गलसत्त्वपूरुषो नेयार्थतो जानति सर्वधर्मान् ॥ (मा० का०, पृ० २७६)

ससार की सत्ता का निषेध

वादी कहता है कि ससार का सद्भाव है, इसलिए भावो का स्वभाव मानना होगा। ससार या ससृति 'एक गति से गत्यन्तर का गमन है।' भावो का स्वभाव न हो, तो किसका गत्यन्तर में गमन होगा ?

सिद्धान्ती कहता है—भावो का स्वभाव तब होगा, जब ससार हो, किन्तु वह असिद्ध है। प्रश्न है कि सस्कारो का ससरण होता है या सत्त्वो का ? और, जिन सस्कारो का ससरण होता है, वे नित्य है या अनित्य ? नित्य निष्क्रिय होते है, अत नित्य सस्कारों का ससरण असम्भव है। अनित्य उत्पाद के समनन्तर विनष्ट होते है, और विनष्ट अविद्यमान होने के कारण वन्ध्यासुत के सस्कारो के समान कही गमन नही कर सकते, अत उनका भी ससरण असिद्ध है। सस्कार अनित्य है, फिर भी वे हेतु-फल की सम्बन्ध-परम्परा मे अविच्छिन्न रहते है, और सन्तान से प्रवर्त्तित होकर ससरण करते है, यह पक्ष भी ठीक नही है। क्योकि, कार्य-कारण मे कार्य कही से आगमन नही करता, और कहीं गमन नही करता, अत उसका ससरण नही होगा। इसी प्रकार, नष्ट कारण भी कहीं से आगमन नही करता, और कही गमन नही करता। वस्तुत, सस्कार के अतिरिक्त अतीत और अनागत की कल्पना असिद्ध है; क्योकि उसके नष्ट और अजात रूप अविद्यमान होते हैं।

यदि कोई कहे कि उत्तर क्षण के उत्पन्न होने पर पूर्व का ससरण होता है, तो यह तब सम्भव है, जब पूर्वोत्तर क्षण एक हो। किन्तु, उनका एकत्व सम्भव नही है, क्योकि उसमे कार्य-कारणभाव इष्ट है। एक मानने पर पूर्व-उत्तर क्षण का व्यपदेश भी नही होगा, और 'पूर्व क्षण नष्ट हुआ' इसके कहने का कोई अर्थ नही होगा, क्योकि वह उत्तर क्षण से अव्यतिरिक्त होगा। इसी प्रकार, पूर्व क्षण के अभिन्न होने के कारण उत्तर क्षण उत्पन्न हुआ' इस वाक्य का कोई अर्थ नही होगा। पूर्व और उत्तर क्षणो की भिन्नता मानें, और उनका ससरण माने, तो अर्हतो का भी ससरण होगा, क्योकि पृथग्जन की ससार में उत्पत्ति होती है। इतना ही नही, बल्कि प्रदीपान्तर के प्रज्वलित होने पर निर्वात प्रदीप की भी ज्वलन-प्रतीति माननी होगी।

फिर, प्रश्न होगा कि क्या नष्ट, अनष्ट अथवा नश्यमान पूर्व क्षण से उत्तर क्षण का उदय होता है ? प्रथम पक्ष ठीक नही है, अन्यथा वह्नि-दग्ध बीज से अकुरोदय होगा। द्वितीय पक्ष में बीज के अविकृत रहने पर भी अकुरोदय मानना होगा, जो अहेतुक होगा। तृतीय पक्ष असिद्ध है, क्योकि नष्टानष्ट के अतिरिक्त नश्यमान की सत्ता नही है। उक्त प्रकार से पूर्वोत्तर क्षण-व्यवस्था और कार्यकारण-व्यवस्था नही होगी, और सन्तान नही बनेगा। इन दोनो के अभाव में 'अनित्य सस्कारो का ससार है', यह पक्ष नहीं बनेगा। जैसे सस्कारो से ससार का निषेध है, उसी प्रकार 'सत्त्वो का ससार है', यह पक्ष भी निषिद्ध होता है।

आचार्य यहाँ उस पक्ष का निराकरण करते है, जो आत्मा को सस्कारो के समान नित्य-अनित्य न मानकर उसकी अवक्तव्यता मे प्रतिपन्न है, और पुद्गल का ससरण मानता

है। आचार्य कहते हैं कि आत्मा स्कन्धायतन-धातु-स्वभाव नहीं है, और न उससे अतिरिक्त ही है। आत्मा स्कन्धायतन-धातुमान् नहीं है, और स्कन्धायतन धातुओं में भी नहीं है। इसी प्रकार, आत्मा में भी स्कन्धायतन धातु नहीं हैं।

आचार्य संसार का एक विशेष प्रकार से खण्डन करते हैं। वे वादी से पूछते हैं कि हम मनुष्योपादान (मानव-जीवन के लिए इन्द्रियादि समस्त उपकरण) से देवोपादान में जब जाते हैं, तब मनुष्योपादान का त्याग करके अथवा बिना त्याग किये देवोपादान ग्रहण करते हैं? प्रथम पक्ष में पूर्वोपादान के परित्याग और उत्तर के अनुपादान के अन्तराल को पंच उपादान-स्कन्धों से रहित मानना होगा। जो अनुपादान और स्कन्ध-रहित होगा, वह अवश्य ही निर्हेतुक होगा और उसकी सत्ता न होगी। द्वितीय पक्ष भी उपपन्न नहीं है, क्योंकि पूर्व के परित्याग और उत्तर का ग्रहण स्वीकार करने पर एक आत्मा की द्वयात्मकता (दो आत्माएँ) माननी होगी।

यदि वादी कहे कि पूर्व और उत्तर भव के बीच अन्तराभविक स्कन्ध है, उससे सोपादानता सम्भव होगी, उसके आधार से संसरण होगा, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि अन्तराभविक स्कन्ध में भी पूर्व भव के परित्याग-अपरित्याग की शंका उठेगी, जिसका समाधान नहीं है। वादी यदि त्याग और उपादान को युगपत् माने, तो हम प्रश्न करेंगे कि क्या पूर्वोपादान का त्याग एकदेशेन होता है? और, वह एकदेशेन अन्तराभवोपान में संचरित होता है, अथवा सर्वात्मना? प्रथम पक्ष में पूर्वोक्त द्वयात्मकता दोष का प्रसंग होगा। सर्वात्मना पक्ष भी पूर्वोक्त विभवता (समागभाव) के दोष से आपन्न होगा। इस प्रकार, संस्कार या आत्मा का संसरण सिद्ध नहीं हुआ। अतः, संसार का सर्वथा अभाव है।

यहाँ चन्द्रकीर्त्ति अपनी वृत्ति में एक नये प्रकार से प्रश्न उठाते हैं और आचार्य के वचनों से उसका समाधान करते हैं। पूर्वपक्ष है कि संसार है; क्योंकि उसका प्रतिद्वन्द्वी निर्वाण है।

समाधान में चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि निर्वाण नहीं है, क्योंकि प्रश्न होगा कि निर्वाण नित्य सत्त्व के लिए है या अनित्य सत्त्व के लिए? दोनों पक्ष ठीक नहीं हैं; क्योंकि नित्य अविकारी होता है और अनित्य अविद्यमान होता है, अतः निर्वाण नहीं होगा। यदि कहें कि नित्यत्वेन अनित्यत्वेन अवाच्य का निर्वाण होता है, तो संसार के समान निर्वाण में भी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा। आचार्य चन्द्रकीर्त्ति यहाँ निर्वाण के खण्डन के लिए अष्ट-साहस्त्रिका तथा समाधिराजसूत्र आदि के उद्धरणों[1] से मायोपमता एवं स्वप्नोपमता सिद्ध करते हैं। निर्वाण के अभाव में संसार का भी अभाव है।

आचार्य निःस्वभावता के खण्डन के लिए बन्ध-मोक्ष का पुनः प्रकारान्तर से खण्डन करते हैं। कहते हैं कि रागादि क्लेश सत्त्वों को अस्वतन्त्र कहते हैं, इसलिए उन्हें बन्धन कहा

१. निर्वाणमप्यायुष्मन् सुभूते! मायोपमं स्वप्नोपमम्। बुद्धधर्मा आयुष्मन् सुभूते मायोपमाः स्वप्नोपमा इत्यादि।

जाता है और इनसे वद्ध पृथग्जन त्रैधातुक का अतिक्रमण नही कर पाते। किन्तु, यह उदय-व्ययशील क्षणिक तथा उत्पाद के परस्पर नष्ट सस्कारो को तो वद्ध नही कर सकते। इसी प्रकार, उनका रागादि वन्धन से विच्छेद भी क्या होगा, जव कि वह असत् एव अविद्यमान है। वस्तुतः, बन्धनभूत रागादि उपादानो की भी सत्ता नही है, क्योकि जो सोपादान है, वह वद्ध है, उसका फिर वन्धन क्या? अनुपादान वन्धन-रहित है, अत तथागत के समान वह बद्ध न होगा। दूसरी वात यह है कि लोक में निगडादि वन्धन वन्ध्य देवदत्तादि के अतिरिक्त और उससे पूर्व सिद्ध रहते है, इस प्रकार वन्ध्य सस्कार हो या पुद्गल हो, उनसे पूर्व रागादि को सिद्ध होना चाहिए, जो सर्वदा असम्भव है, क्योकि रागादि निराश्रय होकर सिद्ध नही होगे।

यहाँ वादी कहता है कि आपने ससार और निर्वाण तथा वन्ध और मोक्ष का प्रतिषेध कर दिया। मुमुक्षुओ की शान्ति के लिए तृष्णा-नदी से उत्तीर्ण होने के लिए और ससार महाटवी के कान्तार से निस्तीर्ण होने के लिए तथागत का परम आश्वासन देनेवाला महाधर्मच्छन्द व्यर्थ होगा, और निर्वाण-प्राप्ति के लिए श्रुत-चिन्ता-भावनादि का उपासना-क्रम भी व्यर्थ होगा।

सिद्धान्ती कहता है कि हमारे मत मे सर्वभाव नि स्वभाव है। प्रतिविम्व, मरीचिका-जल, अलातचक्र के समान आत्मा-आत्मीय स्वभावो से रहित है। केवल विपर्यास से अहमात्र का परिग्रह है, इसीलिए सत्त्व सोचता है कि मै सर्वोपादान-रहित होकर निर्वाण प्राप्त करूँ, और मै धर्म-प्रतिपन्न होकर निर्वाण अवश्य लाभ करूँगा। सत्त्व का यह अहकार-ममकार ही सत्कायदृष्टि का उपादान है, वस्तुत उसका यह महाग्राह है। इन महाग्राहाभिनिवेशी के लिए शान्ति नही है, इसलिए मुमुक्षु के लिए ये सव परित्याज्य है।

अन्त मे, आचार्य कहते है कि परमार्थ सत्य मे निर्वाण का अध्यारोप अनुपलब्ध होने के कारण निर्वाण असम्भव है, इसीलिए ससार-परिक्षय भी असम्भव है, क्योकि जव निर्वाण नही है, तथा उसकी प्राप्ति नही है, तव ससार भी कहाँ विकल्पित होगा, जिसके क्षय के लिए उद्योग हो।

कर्म फल और उसके सम्बन्ध का निषेध

आचार्य अव कर्म-फल-सम्वन्ध की परीक्षा करते है। कर्मवाद के सम्वन्ध मे तीर्थिको के विभिन्न सिद्धान्तो को पूर्वपक्ष के रूप मे उपस्थित कर कर्म की नि स्वभावता से उसका खण्डन करते है।

वादी कहता है कि सन्तान की अविच्छिन्नता के कारण जन्म-मरण-परम्परा तथा उसमे हेतु-फल-भाव की प्रवृत्ति होती है। उसी से सस्कार या आत्मा ससरण करते है। इस प्रकार, कर्म-फल-सम्वन्ध सिद्ध होता है। माध्यमिक के मत मे ससार नही है, और चित्त भी उत्पादा-नन्तर विनाशी है। ऐसी अवस्था मे कर्माक्षेप-काल मे विपाक (फल) का सद्भाव नही होगा। अत, इस मत मे कर्म-फल का सम्वन्ध नही वनेगा। ससार मानेगे, तभी सत्त्व जन्मान्तर मे [illegible]

पूर्वकृत कर्म के विपाक-फल से सम्बद्ध होगा। अत, कर्म-फल-सम्बन्ध के लिए उसका आश्रय ससार मानना होगा।

कर्मों के भेद

आत्मसयमक कुशल-चित्त पुद्गल को विषय में अस्वतन्त्र बनाता है, यानी कुशल-चित्त रागादि क्लेशो की प्रवृत्ति का निवारक होता है, और सत्त्व को दुर्गति-गमन से रोककर धारण करता है। इसके अतिरिक्त यह परानुग्राहक-चित्त और मैत्र-चित्त भी है। यह चित्त धर्म इस अर्थ मे है कि कुगति-गमन से रोकते है, विधारण करते है। यह चित्त फल की अभिनिर्वृति मे असाधारण कारण है। इस जन्म और परजन्म में इनसे फल-निष्पत्ति होती है। इस चित्तात्मक धर्म के अतिरिक्त भगवान् ने दो और धर्मो (कर्मो) की व्यवस्था की है—चेतना-कर्म और चेतयित्वा-कर्म। उन दो कर्मो के अनेक भेद होते है। मनोविज्ञान-सम्प्रयुक्त चेतना मानस-कर्म है। चेतना से चिन्तित और काय-वाक् से प्रवर्तित कर्म चेतयित्वा-कर्म है। इन कायिक-वाचिक-मानसिक कर्मो के प्रधानत सात भेद होते है—कुशल-अकुशल वाक्-कर्म, कुशल-अकुशल काय-कर्म, कुशल अविज्ञप्ति-कर्म, अकुशल अविज्ञप्ति-कर्म, परिभोगान्वय पुण्य, परिभोगान्वय अपुण्य, चेतना।

यहाँ प्रश्न उठता है कि उक्त कर्म क्या विपाक-काल तक स्थित होते है, अथवा नष्ट हो जाते है। यदि उत्पन्न कर्म विपाक-काल तक स्वरूपेण अवस्थित होते है, तो इतने काल तक अविनष्ट होने के कारण इन्हे नित्य मानना होगा। पश्चात् भी उनका विनाश नही होगा, क्योकि विनाश-रहित आकाशादि का पश्चात् विनाश नही होता। कर्म यदि उत्पादान्तर विनाशी है, तो वह अपनी अविद्यमान-स्वभावता के कारण ही फलोत्पादन नही करेंगे।

क्षणिकवाद में कर्मफल की व्यवस्था

निकायान्तरीय स्वमत से इसका परिहार करता है कि सस्कार उत्पत्त्यनन्तर विनाशी है, फिर भी हमारे मत मे दोष उपपन्न न होंगे। यह कहना कि निरुद्ध कर्म फलोत्पाद नही करेंगे, ठीक नही है। बीज क्षणिक है, किन्तु उसमे अकुर-काण्ड-नाल-पत्र स्वजातीय फल-विशेष की निष्पत्ति का सामर्थ्य है। अत, बीज अकुरादि का कारण बन स्वय निरुद्ध हो जाता है। हाँ, बीज यदि अंकुरादि सन्तान का प्रसव न करे और अग्नि आदि विरोधी प्रत्ययो से पहले ही नष्ट हो जायँ, तो उसका उच्छेद माना जायगा। बीज निरुद्ध न हो और अकुरादि सन्तान का प्रवर्त्तन करे, तब उसका शाश्वतत्व माना जायगा। किन्तु, बीजाकुर-दृष्टान्त मे दोनो का अभाव है, अत बीज में शाश्वतोच्छेद दोष नही लगेंगे। निकायान्तरीय पूर्वोक्त बीजाकुर दृष्टान्त के समान ही कुशल या अकुशल चेतना-विशेष को चित्त-सन्तान का हेतु मानता है। कुशल चित्त अर्हत् के चरम चित्त के समान भावि चित्त-सन्तान का हेतु न होकर निरुद्ध हो जाय, तब कर्म को उच्छिन्न कह सकते है, और भावि सन्तान को उत्पन्न करके भी स्वरूप से प्रच्युत न हो, तो कर्म को शाश्वत कहेंगे। किन्तु, यहाँ दोनो नही है, अत कर्म की क्षणिकता के सिद्धान्त में पर-उच्छेद या शाश्वतत्व का आरोप नही लगेगा।

'अविप्रणाश' से कर्मफल-व्यवस्था

कोई अन्य नैयायिक पूर्वोक्त समाधान में दोषोद्भावन कर स्वमत से पूर्वोक्त आक्षेपो का परिहार करता है। कहता है कि आप यदि बीजाकुर-दृष्टान्त से चित्त-सन्तान के पूर्वोक्त दोषो का परिहार करेंगे, तो अवश्य ही आपके पक्ष मे बहुत बडे-बडे अपरिहार्य दोष लगेगे। जैसे आपके मत मे शालि-बीज से सजातीय शाल्यकुर की ही सन्तान प्रवृत्त होगी, विजातीय की नही। इसी प्रकार, कुशल-चित्त से समानजातीय कुशल चित्त-सन्तान उत्पन्न होगी। काम, रूप या आरूप्य के अनास्रव चित्त से तत्तत् लोको के अनास्रव चित्त ही उत्पन्न होगे। मनुष्य-चित्त से मनुष्यचित्त, देवचित्त से देवचित्त, नारकचित्त से नारकचित्त उत्पन्न होगे। इसी प्रकार, देव-मनुष्य अकुशल कर्म भी करे, फिर भी गति, योनि वर्ण, बुद्धि, इन्द्रिय, बल, रूप, भोग आदि की विचित्रता न होगी। अतः, यह परिहार पूर्ण नही है।

वस्तुत, जब कर्म उत्पन्न होता है, तब उसके साथ सन्तान मे एक 'अविप्रणाश' नामक धर्म भी उत्पन्न होता है। यह विप्रयुक्त धर्म है। जैसे : ऋणपत्र लिख लेने से धनिक के धन का नाश नही होता, बल्कि कालान्तर मे ब्याज के साथ मिलता है, उसी प्रकार कर्त्ता-कर्म के विनष्ट होने पर भी इस 'अविप्रणाश' धर्म के अवस्थान से फल अभिसवृद्ध होता है। जैसे ऋणपत्रदाता का धन लौटाकर निर्मुक्त है, अत वह विद्यमान हो या अविद्यमान, पुन धना-भ्यागम नही कर सकेगा, उसी प्रकार 'अविप्रणाश' विपाक प्रदान कर निर्मुक्त ऋणपत्र के समान कर्त्ता का विपाक से पुन सम्बन्ध नही करायगा।

'अविप्रणाश' काम, रूप, आरूप्यावचर, अनास्रव के भेद से चतुर्विध है, तथा प्रकृतित· अव्याकृत है। 'अविप्रणाश' दर्शन-प्रहेय नही है, किन्तु भावना-प्रहेय है। यह 'अविप्रणाश' कर्म-विनाश से विनष्ट नही होता और कर्म-प्रहाण से प्रहीण नही होता। इसलिए, अविप्रणाश से कर्म-फल सम्पन्न होते है। इस मत मे पृथग्जन के कर्म के समान यदि दर्शन-मार्ग से 'अवि-प्रणाश' का प्रहाण हो, तो कर्मों का विनाश मानना पडेगा और उससे आर्यों का इष्टानिष्ट कर्म-फल पूर्वकर्मों के फल न होगे। सभाग और विसभाग समस्त कर्मों के काम, रूप और आरूप्य समस्त धातुओ के प्रतिसन्धियो मे सर्व कर्मों का अपमर्दन 'अविप्रणाश' धर्म उत्पन्न होता है।

चेतना-स्वभाव या चेतयित्वा-स्वभाव, सास्रव या अनास्रव, सभी कर्मो का एक-एक 'अवि-प्रणाश' उत्पन्न होता है। यहाँ 'अविप्रणाश' विपाको के विपक्व होने पर भी अवश्य ही निरुद्ध नही हो जाता, किन्तु निर्मुक्त ऋणपत्र के समान विद्यमान होते हुए भी पुन. विपाक नही करता। फल-व्यतिक्रम या मरण से 'अविप्रणाश' निरुद्ध होता है और वह सास्रवो का सास्रव-फल, अनास्रवो का अनास्रव-फल देता है। 'अविप्रणाश' का इसलिए भी महत्त्व है कि कृत कर्म निरुद्ध हो जाता है, क्योकि उसकी स्वभाव-स्थिति नही है। कर्म की नि स्वभावता से ही शून्यता उपपन्न होती है, किन्तु कर्म के इस अनवस्थान-मात्र से उच्छेद नही हो जाता, क्योकि 'अविप्रणाश' के परिग्रह से ही कर्मविपाक का सद्भाव सिद्ध होगा। शाश्वतवाद का भी प्रसग नही होगा, क्योकि कर्म का स्वरूपेण अवस्थान नही है। अविप्रणाशवादी कहता है कि

मेरे इस सिद्धान्त मे कर्म पाक-काल तक रहता, तो नित्यता की आपत्ति होती, निरुद्ध होता, तो वह फल नही करता इत्यादि दोप लगते। अत., पूर्वोक्त आक्षेपो का मेरा ही समाधान उपयुक्त है।

सिद्धान्त में कर्मफल की नि स्वभावता

सिद्धान्ती वादियो के दोनो समाधानो को नही मानता, और सिद्धान्त-सम्मत समाधान करता है।

सिद्धान्त में कर्म उत्पन्न नही होता, क्योकि वह नि स्वभाव है। कर्म स्वभावतः होता, तो वह शाश्वत भी होता, क्योकि स्वभाव का अन्यथाभाव नही होता। कर्म स्वभावत होता, तो अकृत होता, क्योकि शाश्वत किसी से किया नही जाता। शाश्वत विद्यमान होता है, अत उसके लिए किसी की करणता अनुपपन्न है। वह करण की अपेक्षा नही करेगा। इतना ही नही, प्रत्युत कर्म अकृत होगा, तो अकृताभ्यागम (नही किये फल की प्राप्ति) दोप भी होगा। जिसने प्राणातिपातादि कर्म नही किया, उसका भी अकृत कर्म है ही। उमसे उसका सम्बन्ध मानना पडेगा। कृषि-वाणिज्यादि क्रियाओ का आरम्भ धन-धान्यार्थ किया जाता है, किन्तु आपके मत में उनके अकृत कर्म विद्यमान है, अत॰ उसका आरम्भ क्यो किया जाय ? ऐमी अवस्था में पुण्य-कर्म और पापकर्म का भी विभाग नही होगा, क्योकि सवके अकृत पुण्य-पाप विद्यमान रहेंगे। विपक्व विपाक-कर्म भी पुनः विपाक-दान करेंगे, क्योकि अविपक्व विपाकावस्था से विपक्व विपाकावस्था में कोई अन्तर नही होगा। सिद्धान्त में कर्म नि.स्वभाव है, इसलिए शाश्वत-दर्शन वा उच्छेद-दर्शन के दोष नही लगते।

कर्म नि स्वभाव इसलिए है कि उसका हेतु क्लेश नि स्वभाव है। कुशल-अकुशल के विपर्यास की अपेक्षा से जो होते है, वह नि स्वभाव है, अत क्लेश नि स्वभाव है। जव क्लेश नि स्वभाव है, तो उसका कार्य कर्म सस्वभाव कैसे होगा ? पीछे इसकी विस्तृत परीक्षा से हम निश्चित कर चुके हैं कि कर्म नही है, फिर कर्त्ता और कर्मज फल सस्वभाव कैसे होगे।

वादी पुन एक प्रश्न उठाता है कि आपके मत में भाव नि स्वभाव है, तो भगवान् का यह वचन कैसे लागू होगा कि मवको कृत कर्म का विपाक स्वयमेव अनुभव करना पडता है। अपनी इस मान्यता से आप प्रधान नास्तिक सिद्ध होगे। सिद्धान्ती कहता है कि हम लोग नास्तिक नही है, प्रत्युत अस्तित्ववाद और नास्तित्ववाद का निरास करके निर्वाण के अद्वैत-पथ के प्रकाशक है। हम यह नहीं कहते कि कर्म कर्त्ता और फल नही है, किन्तु वह नि स्वभाव है, केवल इसकी व्यवस्था करते है। यदि कहो कि नि स्वभाव पदार्थो का व्यापार नही वनेगा, तो यह ठीक नही है, क्योकि सस्वभाव पदार्थो मे ही व्यापार नही होता, नि स्वभाव में भी व्यापार होता है। क्या आप निःस्वभाववादी को अपना कार्य करते हुए नही देखते। भगवान् ने अपनी ऋद्धि के प्रभाव से एक निर्मितिक को उत्पन्न किया। उत्पन्न निर्मितिक ने पुन एक दूसरे निर्मितिक का निर्माण किया। वह तथागत स्वभाव से रहित है, अत. शून्य एव नि स्वभाव है। दूसरा निर्मितिक जो पहले से

निर्मित है, वह भी निःस्वभाव है। इस दृष्टान्त में नि स्वभाव पदार्थों का नि स्वभाव ही कार्य-कर्तृत्व तथा कर्म-कर्तृत्व-व्यपदेश सिद्ध होता है, अतः अद्वयवादी माध्यमिक मिथ्यादर्शी नहीं है।

अनात्मवाद

वादी सिद्धान्ती की कठिन परीक्षा करता है। कहता है कि आपके मत में क्लेश, कर्म, कर्त्ता, फलादि कोई तत्त्व नहीं है। मूढो को गन्धर्वनगरादि के समान अतत्त्व ही तत्त्वाकारेण प्रतिभासित होते हैं, तो फिर बताइए तत्त्व क्या है ? और उसका अवतरण कैसे होता है ?

सिद्धान्ती कहता है कि आध्यात्मिक या वाह्य कोई भी वस्तु उपलब्ध नहीं होती, अत अहकार-ममकार का सर्वथा परिक्षय करना ही तत्त्व है। सत्त्व की सत्कायदृष्टि से ही अशेष क्लेश उत्पन्न होते हैं, अत उन क्लेशो और दोषो का योगी आत्मा और विषयों को अपनी योगज बुद्धि से देखकर निषेध करता है। ससार का मूल सत्कायदृष्टि है। सत्कायदृष्टि का आलम्बन आत्मा है, अत आत्मा की अनुपलब्धि से सत्कायदृष्टि का प्रहाण होगा और उसके प्रहाण से सर्वक्लेश की व्यावृत्ति होगी। इसलिए माध्यमिक आत्मा की विशद परीक्षा करते हैं कि यह आत्मा क्या है, जो अहकार का विषय है। अहकार का विषय आत्मा (जो कल्पित किया गया है) स्कन्धस्वभाव है या स्कन्ध-व्यतिरिक्त है ?

आत्मा स्कन्ध से भिन्न या अभिन्न नहीं

यदि स्कन्ध ही आत्मा है, तो उसका उदय-व्यय, उत्पाद और विनाश मानना होगा, और फिर आत्मा की अनेकता भी माननी होगी। यदि आत्मा स्कन्ध-व्यतिरिक्त हो, तो उसका लक्षण स्कन्ध नहीं होगा। यदि आत्मा स्कन्ध-लक्षण नहीं है, तो आपके मत में उसका उत्पाद-स्थिति-भग लक्षण भी नहीं होगा। ऐसी अवस्था में वह अविद्यमान या असस्कृत होगा, और खपुष्प या निर्वाण के समान आत्म-व्यपदेश का लाभ नहीं करेगा। वादी आत्मा का स्कन्ध-व्यतिरिक्त लक्षण करते हैं। वे उसका रूप नित्य,कर्त्ता,भोक्ता,निर्गुण, निष्क्रिय आदि विविध कहते हैं। आत्मा के स्वरूप के विषय में वादियो में परस्पर किंचित् भेद है, किन्तु वे सभी आत्मा की स्वरूपतः उपलब्धि करके उसके लक्षण का आख्यान नहीं करते। वस्तुत, उन्हें आत्मा की उपादाय-प्रज्ञप्ति (जिन स्कन्धादि उपादानो से आत्मा ज्ञापित है) का भी यथावत् बोध नहीं होता। इस प्रकार, नामधारी आत्मा के सावृतिक ज्ञान से भी वादी परिभ्रष्ट हैं। आत्मा के सम्बन्ध में वादी अपनी मिथ्या कल्पना से और अनुमानाभासों से विप्रलब्ध हैं। वे मोह में ही आत्मा की कल्पना करते हैं, और उसके विभिन्न लक्षण करते हैं। कर्म-कारक परीक्षा में आत्मा और उपादानो की परस्परापेक्षिक सिद्धि दिखाते हुए उनका सावृतिक प्रतिषेध किया गया है।

मुमुक्षुओ का आत्मा का विचार यह है, जो उपादाय-प्रज्ञप्ति का विषय है, क्योंकि उसमें अविद्या-विपर्यास से आत्मा का अभिनिवेश होता है ? उसके सम्बन्ध में यह विचार होगा कि स्कन्ध-पचक जो उपादानत्वेन प्रतिभासित है, वह स्कन्ध-लक्षण है या नहीं ? विचार करने पर उसकी भाव-स्वभावता उपलब्ध नहीं होती। जब आत्मा की उपलब्धि नहीं होती, तब आत्म-प्रज्ञप्ति के उपादान पच-स्कन्ध सुतरा उपलब्ध नहीं होंगे। दग्ध रथ के

अग अदग्ध कैसे होगे ? योगी जैसे आत्म-नैरात्म्य मे प्रतिपन्न होता है, वैसे ही आत्मीय स्कन्ध-वस्तुओ मे भी नैरात्म्य-प्रतिपन्न होता है। किन्तु, इसका अर्थ यह नही है कि नैरात्म्य-प्रतिपत्ता योगी की सत्ता है, जिससे आत्मवाद सिद्ध हो; क्योकि आत्मा और स्कन्ध के प्रतिषिद्ध होने पर कौन दूसरा परमार्थत शेष बचेगा, जो निर्मम और निरहंकार होगा। आत्मा-आत्मीय की अनुपलब्धि मे सत्कायदृष्टि प्रहीण होती है, और सत्कायदृष्टि के प्रहाण से—काम, दृष्टि, शीलव्रत, आत्मवाद—चतुष्टय का क्षय होता है। उसके क्षय से पुनर्भव का क्षय होता है। भव के निरुद्ध होने पर जाति-जरामरणादि समस्त निरुद्ध होते है। इस प्रकार, कर्म और क्लेश के क्षय से मोक्ष होता है। कर्म-क्लेश विकल्प मे प्रवर्त्तित है। विकल्प अनादि ससार के अनादि काल से अभ्यस्त ज्ञान-ज्ञेय, वाच्य-वाचक, कर्त्ता-कर्म, करण-क्रिया आदि विचित्र प्रपच से उपजात है। ये समस्त लौकिक प्रपच सर्व भाव-स्वभावो के शून्यता-दर्शन से निरवशेष निरुद्ध होते है।

यहाँ चन्द्रकीर्त्ति शून्यता के निर्वाण-स्वरूप को स्पष्ट करते है। कहते है कि वस्तुओ की उपलब्धि होने पर ही समस्त प्रपच-जाल खडा होता है, क्योकि रागी पुरुष वन्ध्या-दुहिता के प्रति उसके रूप-लावण्य-यौवन से आकृष्ट होकर कैसे राग-प्रपच का अवतारण नही करता! यदि राग न हो, तो तद्विषयक विकल्प न हो, और कल्पना-जाल न विछे। फिर, सत्कायदृष्टिमूलक क्लेश उत्पन्न न हो, और शुभ-अशुभ-आनिञ्ज्य कर्म न किये जायँ, तो जाति,जरा-मरण, शोक, परिदेव, दु ख, दौर्मनस्यादि का जाल-रूप इस ससार-कान्तार का अनुभव ही न हो।

योगी शून्यता की दर्शनावस्था में स्कन्ध, धातु और आयतनो को स्वरूपत उपलब्ध नहीं करता। वस्तु के स्वरूप की अनुपलब्धि मे तद्विषयक प्रपच का और विकल्प का अवतारण नही होता। जब विकल्प उत्थित न होगे, तब 'अहं, मम' के अभिनिवेश से सत्कायदृष्टिमूलक क्लेशगण भी उत्पन्न नही होगे, और उससे प्रेरित कर्म न होगे। कर्म के अभाव से जाति-जरा-का मरणाख्य ससार का अभाव होगा। इस प्रकार, अशेष प्रपचो के उपशम-स्वरूप एव शिवलक्षण शून्यता का बोध प्राप्त करने पर अशेष कल्पना-जाल का विगम होता है, प्रपच के विगम से विकल्प की निवृत्ति होती है, कर्म-क्लेश की निवृत्ति से जन्म की निवृत्ति होती है। इस उपर्युक्त क्रम को दिखलाते हुए अन्त में आचार्य चद्रकीर्त्ति कहते हैं कि शून्यता का लक्षण सर्व-प्रपच-निवृत्ति है। इसलिए, वही निर्वाण है।

आचार्य कहते है कि भावविवेक के अनुसार श्रावक और प्रत्येकबुद्ध को उपर्युक्त शून्यता के बोध की प्रतिपत्ति नही होती, किन्तु प्रतिक्षण, उत्पन्न-विनश्वर सस्कार-कलाप की अनात्मता तथा अनात्मीयता का बोध होता है। इस प्रकार, आर्य श्रावक को आत्म-आत्मीय के अभाव-बोध के कारण धर्म-मात्र की उत्पत्ति और सहार का दर्शन होता है। इस क्रम से आर्य श्रावक, निर्मम और निरहकार होता है। श्रावक की यह अवस्था निर्विकल्पक प्रज्ञाचारविहारी महाबोधिसत्त्व के सर्व सस्कारो की अजातता-दृष्टि से पूर्व की है। आचार्य चन्द्रकीर्त्ति भावविवेक के इस मत को आचार्यपाद के और आगमो के मत के विरुद्ध बताते हुए उसका खण्डन करते है।

अनात्मसिद्धि मे आगम बाधक नहीं

आचार्य वादी की इस आशका का परिहार करते हैं कि यदि अध्यात्म और बाह्य सर्वथा कल्पित हैं, तो भगवान् का यह वचन माध्यमिक मत के विरुद्ध होगा कि—"आत्मा का नाथ आत्मा ही है. . .कृत-अपकृत का साक्षी और आत्मा का साक्षी आत्मा नही है।"

चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि क्या भगवान् ने यह नही कहा है कि "सत्त्व या आत्मा नही है, और धर्म सहेतुक हैं।" वस्तुत, आत्मा रूप या रूपवान नही है, रूप मे आत्मा या आत्मा में रूप नही है। इस प्रकार, विज्ञानादि के साथ आत्मा का व्यतिरेक करना चाहिए। इस प्रकार, सर्व धर्म अनात्म हैं। किन्तु, अब प्रश्न होता है कि भगवान् के पूर्ववचन से परवचन का विरोध कैसे दूर हो? चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि भगवान् बुद्ध के शासन की नेयार्थता तथा नीतार्थता में सामान्यतः भेद करना चाहिए। आचार्य नागार्जुन कहते हैं कि "भगवान् ने आत्मा का प्रज्ञापन किया और अनात्मा की भी देशना की। किन्तु, वस्तुत बुद्ध ने आत्मा-अनात्मा की कुछ भी देशना नही की।"

आचार्य के इस उपर्युक्त वचन का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए चन्द्रकीर्त्ति ने कहा है कि आत्मभाव के विपर्यास से घनतिमिर से आच्छादित नयन के समान जिन लोगो की बुद्धि सर्वथा आच्छादित है, वे यद्यपि व्यवहार-सत्य में स्थित हैं और लौकिक विपयो के ग्राही भी हैं, तथापि वे पदार्थ की वास्तविकता का दर्शन नही करते। वे बुद्धि को ओदन-उदक-किण्वादि द्रव्य-विशेष के समान कललादि महाभूतो के परिपाक-मात्र से सम्भूत मानते हैं। ये वादी पूर्वान्त और अपरान्त का अपवाद करते हैं और आत्मा तथा परलोक का निषेध करते हैं। इनके मत में इहलोक-परलोक नही हैं, सत्त्व सुकृत-दुष्कृत कर्मों का विपाक नही है। इस सिद्धान्त से सत्त्व स्वर्गादि इष्ट-फल विशेप की प्राप्ति के उद्योग से पराङ्मुख होगे और अकुशलादि कर्मो के अभिसस्कार में प्रवृत्त होकर नरकादि के महाप्रपात मे पतित होगे। इन वादियो को इस असत् दृष्टि से निवृत्त करने के लिए भगवान् ने सत्त्वो के चौरासी हजार चित्त-चरितो का भेद किया। हीन-मध्य और उत्कृष्ट विनेय जनो पर अनुग्रह करके भिन्न-भिन्न वासनाओ का अनुवर्त्तन कर सबको भव से उद्धार करने की दृढ प्रतिज्ञा मे तत्पर होकर तथागत ने कहीं-कहीं अपने प्रवचनो द्वारा लोक में आत्मा की भी व्यवस्था की है।

पूर्वोक्ति से अतिरिक्त दूसरे प्रकार के वे लोग हैं, जो अकुशल कर्म-पथ से व्यावृत्त हैं, किन्तु आत्मदृष्टि के कारण आत्मा-आत्मीय भाव के स्नेह-सूत्र से इतने आबद्ध हैं कि त्रैधातुक भव को अतिक्रान्त करके शिव अजर, अमर, निर्वाणपुर का अभिगमन नही कर सकते। ये विनेय जन मध्य प्रकार के हैं। इनके सत्काय-दर्शन-सम्बन्धी अभिनिवेश को शिथिल करने के लिए और निर्वाण की अभिलाषा को उत्पन्न करने के लिए भगवान् ने अनात्मा की देशना की है।

किन्तु, जिनका पूर्व-पूर्व अभ्यासो से अधिमोक्ष-बीज परिपक्व है, और निर्वाण प्रत्यासन्न है, वे उत्कृष्ट कोटि के विनेय जन हैं। ऐसे आत्मस्नेह-रहित विनेय मौनीन्द्र तथागत के परम गम्भीर

प्रवचनार्थ के तत्त्वावगाहन में समर्थ है। उनकी विशेष अधिमुक्ति के लिए भगवान् बुद्ध ने न आत्मा का उपदेश किया, न अनात्मा का ही[1], क्योंकि जैसे आत्मदर्शन अतत्त्व है, वैसे ही उसका प्रतिपक्ष अनात्मदर्शन भी अतत्त्व है। रत्नकूटसूत्र[2] में उक्त है कि हे काश्यप ! आत्मा एक अन्त है, नैरात्म्य दूसरा अन्त है, जो इन दो अन्तों के मध्य में है, वह अरूप्य, अनिदर्शन, अप्रतिष्ठ, अनाभास, अविज्ञप्तिक और अनिकेत कहा जाता है। यही मध्यमा प्रतिपत् है और धर्मों के सम्बन्ध की यथार्थ दृष्टि है।

तथागत के प्रवचन का प्रकार

एक प्रश्न है कि भगवान् बुद्ध ने जब आत्मा और अनात्मा की देशना नहीं की, तब उनकी देशना क्या है ?

आचार्य कहते हैं कि चित्त का कोई आलम्बन (विषय) नहीं है। चित्त का कोई विषय होता, तो किसी निमित्त का आरोपण करके वाणी की प्रवृति होती। जब चित्त का विषय ही अनुपपन्न है, तब निमित्त का अध्यारोप और वाणी की प्रवृत्ति का प्रश्न ही कहाँ उठता है। पदार्थ का स्वभाव निर्वाण के समान अनुत्पन्न और अनिरुद्ध है अत चित्त की प्रवृति नहीं है। इसलिए, भगवान् बुद्ध ने कोई देशना नहीं दी। तथागतगुह्यसूत्र में उक्त है कि हे शान्तमति ! जिस रात्रि में तथागत ने सर्वश्रेष्ठ सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त की और जिस रात्रि में परिनिर्वाण हुआ, इनके मध्य तथागत ने एक अक्षर भी उदाहार-व्याहार नहीं किया। किन्तु, प्रश्न है कि भगवान् ने सकल सुरासुर, नर, किन्नर, विद्याधरादि विनेय जन को विविध प्रकार की धर्म-देशनाएँ कैसे दीं? भगवान् ने एक क्षण के लिए वाणी का उदाहार किया था, जो विविध जन के मनस्तम का हरण करनेवाली और विविध प्रकार का बुद्धिवालों को विबुद्ध करनेवाली थी। वस्तुत , जैसे यन्त्रीकृत तूरी वायु के झोंकों से बजती है, उसका कोई वादक नहीं होता, किन्तु शब्द निकलते हैं, उसी प्रकार सत्त्वों की वासना से प्रेरित होकर बुद्ध की विकलहीन वाणी नि सृत होती है। जैसे प्रतिध्वनि के शब्द बाह्य और अन्त स्थित नहीं है, उसी प्रकार बुद्ध की वाणी बाह्य और अन्त. स्थित नहीं हैं।

माध्यमिक नास्तिक नहीं है

एक वादी माध्यमिक को नास्तिक कहता है, क्योंकि माध्यमिक कुशल-अकुशल कर्म, कर्त्ता और फल सबको स्वभाव-शून्य कहता है । नास्तिक भी इन सबको अस्वीकार करते हैं, इसलिए माध्यमिक नास्तिकों से भिन्न नहीं हैं।

---

१ बुद्धैरात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम्।

२ आत्मेति काश्यप ! अयमेकोऽन्त । नैरात्म्यमित्ययं द्वितीयोऽन्त । यदेतयोरन्तयोर्मध्यं तदरूप्यमनिदर्शनमप्रतिष्ठमनाभासमविज्ञप्तिकमनिकेतमियमुच्यते काश्यप ! मध्यमा प्रतिपद् धर्माणां भूत प्रत्यवेक्षेति । (म० का०, पृ० ३५८)

आचार्य चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि माध्यमिक प्रतीत्यसमुत्पादवादी है। वह हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा करके जगत् का उत्पाद मानते है। इसलिए, वह इहलोक-परलोक समस्त को नि स्वभाव कहते हैं। केवल वस्तु के रूप की अविद्यमानता मानने के कारण माध्यमिक उसके नास्तित्व मे प्रतिपन्न है, इतने से नास्तिको से इनकी समानता नहीं है, क्योकि माध्यमिक जगत् की सावृतिक सत्ता को स्वीकार करते हैं। यद्यपि वस्तु की अस्वीकृति दोनो मे तुल्य है, तथापि प्रतिपत्ता का भेद है। जैसे · किसी चोर ने चोरी की। उस चोर के किसी शत्रु ने किसी को प्रेरित किया कि इसने चौर्य किया है। प्रेरित पुरुष सत्य नही जानता, किन्तु चोर को कहता है कि इसने चोरी की है। एक अतिरिक्त व्यक्ति है, जिसने चोर को चोरी करते देखा था, वह भी कहता है कि इसने चोरी की है। इन दोनो मे चोर के चौर्य को लेकर कहने मे कोई भेद नही है, किन्तु परिज्ञातृत्व (जानकारी) के भेद से भेद है। उनमें पहला मृषावादी है, दूसरा सत्यवादी है। सम्यक् परीक्षा करने पर पहला अयश और अपुण्य का भागी होगा, दूसरा नही। इसी प्रकार यहाँ भी माध्यमिक तो वस्तु के स्वरूप से यथावत् विदित है, और उसी के अनुसार वह कहता भी है, दूसरे नही। ऐसी अवस्था मे वस्तु के वाह्यस्वरूप के अभेदमात्र से अविदित वस्तुवादी नास्तिको के साथ विदित वस्तुवादी माध्यमिक की ज्ञान तथा अभिधान मे समानता कैसे हो सकती है।

तत्त्वामृतावतार देशना

पहले कहा है कि धर्म अनुत्पन्न और अनिरुद्ध है। इसलिए, उसकी देशना मे वाक् और चित्त की प्रवृत्ति नहीं होगी, किन्तु देशना के अभाव मे इस तत्त्व का ज्ञान लोगो को नही होगा। इस विनेय को उस तत्त्व में अवतरित करने के लिए सवृतिसत्य की अपेक्षा से ही देशना की आनुपूर्वी (क्रम) होनी चाहिए। भगवान् की इस देशना को 'तत्त्वामृतावतार देशना' कहते हैं, जिसकी एक सावृत आनुपूर्वी भी होती है। किन्तु, यह सब कुछ विनेयो के स्वप्रसिद्ध अर्थ का अनुरोध करके ही है। सूत्र मे कहा है—जैसे म्लेच्छ को अन्य भाषा का ज्ञान नही कराया जा सकता, वैसे ही लोक को भी लौकिक भाषा के विना ज्ञान नही कराया जा सकता।

भगवान् ने 'सव तथ्यम्' का उपदेश दिया। यह उपदेश उन विनेय जनो की दृष्टि से है, जिन्होने स्कन्ध-धातु-आयतन आदि की सत्य कल्पना की है, और उसके अनुसार उपलब्धि करते हैं। इससे विनेय का यह निश्चय दृढ होता है कि भगवान् सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी है, क्योकि उन्होने भवाग्र (भवचक्र का अन्त) पर्यन्त के भाजनलोक और सत्त्वलोक की स्थिति, उत्पाद, प्रलयादि का ठीक-ठीक उपदेश किया है।

भगवान् के प्रति विनेय जन की सर्वज्ञ-बुद्धि जव निश्चित हो गई, तव ऐसे विनेय की दृष्टि से भगवान् ने 'न तथ्य' का उपदेश किया। पूर्वोक्त सर्व तथ्य नही है, क्योकि तथ्य वह है, जिसका अन्यथाभाव नही होता। किन्तु, सस्कारो का अन्यथाभाव है, क्योकि वे प्रतिक्षण विनाशी है। इस प्रकार, भावो का अन्यथाभाव है, वे तथ्य नही है।

पुनः भगवान् ने 'तथ्यम् अतथ्यम्' दोनो का उपदेश दिया है। बालजन की अपेक्षा से 'सर्व तथ्यम्' और आर्यज्ञान की अपेक्षा से 'सर्वम् अतथ्यम्' उपदेश है, क्योकि आर्यज्ञान की अपेक्षा से उनकी उपलब्धि नहीं होती।

जो तत्त्वदर्शन का चिरकाल से अभ्यास कर रहे हैं, और जिनका आवरण थोडे में ही छिन्न होनेवाला है, उन विनेयो की दृष्टि से भगवान् ने 'नैव अतथ्य नैव तथ्यम्' का उपदेश दिया। भगवान् का यह प्रतिषेध-वचन 'वन्ध्यासुत न गौर है, न कृष्ण है' इस प्रतिषेध-वचन के समान है।

बुद्ध का इस प्रकार का अनुशासन इसलिए यथार्थ अनुशासन है कि वह उन्मार्ग से हटाकर सन्मार्ग मे प्रतिष्ठित करता है। उनका यह विनेय जन के अनुरूप शासन है। भगवान् की यह देशना तत्त्वामृत के अवतारण का उपाय है। भगवान् ऐसा एक वाक्य भी नही कहते, जो तत्त्वामृत के अवतार का उपाय न हो। आर्यदेव ने चतु शतक में कहा है कि भगवान् ने सत्, असत्, सदसत्, न सत्, न असत् का जो उपदेश किया है, वह समस्त विविध व्याधियो की अनुरूप औषधि है।

तत्त्व का लक्षण

यद्यपि माध्यमिक सिद्धान्त में तत्त्व का परमार्थ लक्षण नही हो सकता, तथापि व्यवहार-सत्य के अनुरोध से जैसे वह अनेक लौकिक तथ्यो का अभ्युपगम करता है, वैसे ही तत्त्व का भी आरोपित लक्षण करता है। पहले कृतकार्य आर्य की दृष्टि से तत्त्व का लक्षण करेंगे, पश्चात् लौकिक कार्य-कारण-भाव की दृष्टि से।

अपरप्रत्ययम्—तत्त्व परोपदेश से गम्य नही है, प्रत्युत स्वय अधिगन्तव्य (स्वसवेद्य) है, जैसे तिमिर रोग से आक्रान्त व्यक्ति असत्य केश-मशक-मक्षिकादि रूपो को देखता है। उस रोग से अनाक्रान्त व्यक्ति उस रोगी को केश का यथावस्थित रूप दिखाना चाहे, तो व्यर्थ होगा। हाँ, उसके उपदेश से रोगी को केवल अपने ज्ञान का मिथ्यात्व-मात्र ज्ञात होगा। तिमिर-नाश के अनन्तर उसे वस्तु का साक्षात्कार होगा। इसी प्रकार, जब परामार्थभूत शून्यता-दर्शन के अजन से बुद्धिरूपी नयन अजित होगा, तब तत्त्वज्ञान उत्पन्न होगा, और तत्त्व स्वय अधिगत होगा।

शान्तम्—तत्त्व शान्तस्वभाव है, क्योकि स्वभाव-रहित है।

प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्—प्रपञ्च वाणी है, क्योकि वाणी द्वारा अर्थ प्रपञ्चित होता है। तत्त्व प्रपच मे अप्रपचित है, अर्थात् वाणी का विषय नही है।

निर्विकल्पम्—विकल्प चित्त का प्रचार है। तत्त्व उससे रहित है।

अनानार्थम्—तत्त्व में भिन्नार्थता नही है। वह अभिन्नार्थ तत्त्वशून्यता से एकरस है, इसलिए अनानार्थता उसका लक्षण है।

तत्त्व का लौकिक लक्षण शाश्वतवाद और उच्छेदवाद का व्यावर्त्तन कर सिद्धान्त-सम्मत कार्यकारणभाव के द्वारा तत्त्व का अधिगम कराता है।

जिस कारण की अपेक्षा करके जो कार्य उत्पन्न होता है, वह अपने कारण से अभिन्न नही है। बीज और अकुर एक नही हैं। अन्यथा, अकुरावस्था में अकुर के समान बीज भी

गृहीत होना चाहिए। गृहीत होने पर बीज नित्य होगा, क्योंकि वह अविनष्ट होगा। ऐसी अवस्था मे शाश्वतवाद की प्रसक्ति होगी, जिससे कर्मफल का अभाव सिद्ध होगा। कर्मफल के अभाव से समस्त दोष-राशि आपन्न होगी। इसलिए जो बीच है, वही अकुर है, यह युक्त नही है। किन्तु, इससे बीज से अकुर की भिन्नता भी सिद्ध नही होती, अन्यथा बीज के विना भी अकुर का उदय मानना पडेगा। ऐसी दशा में अकुर के अवस्थान-काल मे बीज अनुच्छिन्न ही रहेगा। इससे सत्कार्यवाद के समस्त दोप आपतित होगे।

इस प्रकार, कार्य कारण-रूप नही है, और उससे भिन्न भी नही है। इसलिए, कारण न उच्छिन्न है और न शाश्वत।[1]

काल का निषेध

कालवादी काल-त्रय की विज्ञप्ति मानता हे। उत्पन्न होकर निरुद्ध होनेवाले भाव अतीत है, उत्पन्न होकर निरुद्ध न होनेवाला वर्त्तमान तथा जिसका स्वरूप लब्ध नही हुआ, वह अनागत है।

माध्यमिक कालत्रय-वाद का खण्डन करता है, क्योंकि प्रत्युत्पन्न और अनागत की सिद्धि यदि अतीत की अपेक्षा से है, तो वे दोनो अवश्य ही अतीत होगे। जिसकी जहाँ असत्ता होती है, वह उसकी अपेक्षा नही करता। जैसे: तैल को सिकता की, पुत्र को वन्ध्या की अपेक्षा नही है। अत, वर्त्तमान और अनागत को यदि अतीत की अपेक्षा है, तो वे अतीत काल में अतीत के समान ही विद्यमान होगे, और उनमे वस्तुतः अतीतता होगी। प्रत्युत्पन्न और अनागत यदि अतीत में नही है, तो उनकी अपेक्षा करके उनकी स्थिति नही होगी। अतीत से अनपेक्ष प्रत्युत्पन्न की असत्ता स्पष्ट सिद्ध है। जिस प्रकार प्रत्युत्पन्न और अनागन अतीत की अपेक्षा करें या न करें, उभयत: उनकी सिद्धि नही होती, वैसे ही अतीत और अनागत प्रत्युत्पन्न की अपेक्षा करें या न करें, उनकी सत्ता सिद्ध नही होगी, तथा प्रत्युत्पन्न और अतीत अनागत की अपेक्षा करे या न करे, वे सिद्ध न होगे। इस प्रकार, माध्यमिक कालत्रय का खण्डन करके भावो की सत्ता का खण्डन करते है।

कालवादी क्षण, लव, मुहूर्त्त, दिवस, रात्रि, अहोरात्र आदि से काल का परिमाण मानता है। किन्तु, माध्यमिक जव काल का ही खण्डन करता है, तव उसकी परिमाणवत्ता का प्रश्न कहाँ है? माध्यमिक कहता है कि क्षणादि से अतिरिक्त कूटस्थ काल सिद्ध हो, तो वह क्षणादि से गृहीत हो, किन्तु ऐसा नही होता। यदि वादी कहे कि यद्यपि नित्य काल नही है, किन्तु रूपादि से अतिरिक्त और रूपादि सस्कारो से प्रज्ञप्त होनेवाला काल है, जो क्षण आदि मे अभिहित होता है। किन्तु, भावो की अपेक्षा से काल नही सिद्ध होगा, क्योंकि किसी भी प्रकार भावों की सिद्धि नही होती। इसका उपपादन पहले किया गया है।

---

१ प्रतीत्य यद्यद् भवति नहि तावत्तदेव तत्।
न चान्यदपि तत्तस्मान्नोच्छिन्नं नापि शाश्वतम्॥ (१८।१०)

हेतु-सामग्रीवाद का निषेध

आचार्य 'हेतु-प्रत्यय-सामग्री से कार्य उत्पन्न होता है', इस वाद का भी खण्डन करते है।

आचार्य कहते है कि बीजादि हेतु-प्रत्यय-सामग्री (बीज, अवनि, सलिल, ज्वलन पवन, गगन, ऋतु आदि) से यदि फल (कार्य) उत्पन्न होता है, तो यह बताना होगा, कि उस सामग्री से व्यवस्थित फल का उत्पाद होता है या अव्यवस्थित ?

प्रथम पक्ष मानने पर फल का उत्पाद नही होगा, क्योकि जब हेतु-प्रत्यय-सामग्री में फल अवस्थित है ही, तब उससे फल उत्पन्न कैसे होगा। इसलिए यदि कहे कि हेतु-सामग्री में फल व्यवस्थित नही है, तो यह बताना होगा कि ऐसी अवस्था में सामग्री से फल कैसे उत्पन्न होता है। हेतु-सामग्री में यदि फल है, तो वह गृहीत होना चाहिए, किन्तु गृहीत नही होता। अत, सामग्री से फल उत्पन्न नही होता। हेतु-प्रत्यय-सामग्री में यदि फल नही है, तो वे हेतु-प्रत्यय नही है, क्योकि ज्वाला-अंगार मे अकुर नही है, अत वह अकुर का हेतु-प्रत्यय नही होता।

एक अन्य वाद है कि हेतु-सामग्री मे फल उत्पन्न करने का सामर्थ्य नही है, हेतु में है। सामग्री फलोत्पादन मे हेतु का अनुग्रह-मात्र करती है। फल की उत्पत्ति में हेतु अपना हेतुत्व विसर्ग करके निरुद्ध हो जाता है (हेतु फलस्योत्पत्त्यर्थं हेतु दत्वा निरुध्यते)। फल की उत्पत्ति में हेतु का यही अनुग्रह है।

आचार्य कहते है कि यदि फलोत्पत्ति के लिए हेतु अपना हेतुत्व देता है, और निरुद्ध होता है, तो उसके द्वारा जो दिया जाता है, और जो निरुद्ध होता है, वे दो होगे। इस प्रकार, हेतु की दो आत्माएँ (स्वरूप) होगी। यह युक्त नही है। इससे अर्द्ध-शाश्वतवाद (हेतु का एक रूप कार्यान्वयी होने के कारण शाश्वत होगा, दूसरा निरुद्ध होने के कारण विनाशी होगा) सिद्ध होगा। एव च, परस्पर विरुद्ध दो स्वरूपो का एक हेतु मे योग भी कैसे होगा ? इस विरुद्ध-द्वय की आपत्ति से बचने के लिए यदि यह कल्पना करें कि हेतु फल को कुछ भी अपनी सार-सत्ता न देकर सर्वात्मना निरुद्ध हो जाता है, तब कार्य को अवश्य ही अहेतुक मानना पडेगा। इस दोष से बचने के लिए कल्पना करें कि कार्य के साथ ही कारण-सामग्री उत्पन्न होती है, और वह फल की उत्पादक होती है, तो एक काल में ही कार्य और कारण की सत्ता माननी पडेगी।

एक अन्य वाद है। उसके अनुसार कार्य हेतु-प्रत्यय-सामग्री के पहले अनागत स्वरूप में अनागतावस्था में विद्यमान है। हेतु-सामग्री के द्वारा केवल उसकी वर्त्तमानावस्था उपपन्न की जाती है, वस्तुत द्रव्य यथावस्थित ही रहता है।

आचार्य का उत्तर है कि यदि कार्य हेतु-सामग्री से पूर्व स्वरूपतः विद्यमान है, तो वह हेतु-प्रत्यय मे निरपेक्ष होगा और अहेतुक होगा। किन्तु, अहेतुक पदार्थों का अस्तित्व युक्त नही है।

एक सिद्धान्ती केवल हेतुवादी है। उनके मत मे हेतु ही निरुद्ध होकर कार्य-रूप में व्यवस्थित हो जाता है। आचार्य कहते है कि फल यदि हेतु-रूप होगा, तो हेतु का सक्रमण मानना पड़ेगा, जैसे नट एक वेष का त्याग कर वेषान्तर का ग्रहण करता है। इस प्रकार, हेतु के सक्रमण-मात्र से अपूर्व फल का उत्पाद भी नही होगा। इसके अतिरिक्त हेतु-सक्रमण मानने से हेतु की नित्यता सिद्ध होगी, फलत उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा, क्योकि नित्य वस्तुओ का अस्तित्व नही होता।

आचार्य कहते है कि वास्तविकता तो यह है कि जिस प्रकार निरुद्ध या अनिरुद्ध कोई हेतु फल को उत्पन्न नही कर सकता, उसी प्रकार उत्पन्न या अनुत्पन्न फल का उत्पाद नही बताया जा सकता। हेतु में किसी प्रकार का विकार न आये और वह फल से सम्बद्ध हो जाय, यह असम्भव है, क्योकि जो विकृत नही होता, वह हेतु नही होता। अथ च, फल से वह सम्बद्ध भी कैसे होगा, क्योकि वादियो के अनुसार हेतु में फल विद्यमान है। हेतु फल से असम्बद्ध होकर भी फल को उत्पन्न नही करता, क्योकि असम्बद्ध हेतु किस फल को उत्पन्न करेगा? यदि करे, तो समस्त फलो को उत्पन्न करेगा या किसी को नही करेगा।

आचार्य कहते है कि हेतु-फल की परस्पर सगति (योग) भी नही होगी। अतीत फल का अतीत हेतु के साथ सगति नही होगी, क्योकि दोनो अविद्यमान हैं। अनागत हेतु से अतीत फल की सगति नही होगी, क्योकि एक नष्ट और दूसरा अजात है। इस प्रकार, दोनो अविद्यमान है, और भिन्नकालिक है। जैसे वर्त्तमान हेतु से अतीत फल की तथा अतीत फल की अतीत, अनागत तथा वर्त्तमान हेतुओ के साथ सगति असम्भव है, उसी प्रकार वर्त्तमान फल की त्रैकालिक हेतुओ से सगति भी असम्भव है। पूर्वोक्त रीति से अनागत फल भी अतीत, अनागत तथा प्रत्युत्पन्न हेतुओ से सगत नही होगा। आचार्य कहते है कि हेतु-फल की सगति नही है, इसलिए हेतु फल को उत्पन्न नही कर सकता, और सगति कालत्रय में सम्भव नही है, अत हेतु से फलोत्पाद का सिद्धान्त सर्वथा असगत है।

इस प्रकार, हेतु से फल की एकता माने, अथवा अनेकता, हेतु में फल का सद्भाव माने या असद्भाव, किसी प्रकार हेतु से फल की उत्पत्ति नही होगी।

उत्पाद-विनाश का निषेध

पहले कालत्रय का खण्डन किया गया है, किन्तु कालत्रय का समूल निषेध तबतक नही होगा, जबतक वस्तुओ की सम्भव-विभव प्रतीति अतात्त्विक सिद्ध न की जाय। अत, आचार्य उसका खण्डन करते है।

सम्भव-विभव एक दूसरे के साथ-साथ होते है, या दूसरे से विरहित? सम्भव (उत्पाद) के विना विभव (विनाश) नही हो सकता। यदि विना सम्भव के विभव हो, तो जन्म के विना मरण भी हो। सम्भव के साथ भी विभव नही होगा, अन्यथा जन्म-मरण एक काल में हों। विभव के विना सम्भव नही होता, अन्यथा कोई पदार्थ कभी अनित्य न हो। विभव के साथ सम्भव नही होगा, अन्यथा मरण-जन्म एक काल में होगा। सहभाव और असहभाव से भिन्न कोई तीसरा प्रकार नही है, जिससे सम्भव-विभव की सिद्धि हो।

पुन सम्भव-विभव क्षयधर्मी भावो का होता है या अक्षय-धर्मी? दोनो ही प्रकार असिद्ध है।

क्षयशील पदार्थों का सम्भव नही होगा, क्योंकि क्षय का विरोधी सम्भव है। अक्षय पदार्थो का भी सम्भव नही होगा, क्योकि अक्षय धर्म भाव से विलक्षण है, उनका सम्भव नही होगा। इसी प्रकार क्षय या अक्षय पदार्थ का विभव भी नही हो सकता।

सम्भव-विभव केवल इसलिए नही है कि उनके आश्रयभूत पदार्थ प्रतीत होते है। वस्तुत, भाव कहाँ है? विना भाव के सम्भव-विभव नही होगे, और विना सम्भव-विभव के भाव नही होगे।

वादी कहता है कि आपकी सूक्ष्मेक्षिका व्यर्थ है, क्योंकि आबाल-गोपाल पदार्थों के सम्भव-विभव मे प्रतिपन्न है। आचार्य कहते है कि लोक जिस-जिसकी उपलब्धि करता है, उन सबका अस्तित्व नही सिद्ध हो जाता, अन्यथा स्वप्नादि-दृष्टि भी सत्य होती। सम्भव-विभव का कोई स्वरूप नही है, किन्तु लोक उसमे मोह से प्रतिपन्न है।

यदि कोई भाव हो, तो बताना होगा कि वह भाव से उत्पन्न है या अभाव से? दोनो पक्षो में भाव की उत्पत्ति सिद्ध नही होगी।[1] पहले भावो की स्वत-परत आदि की उत्पत्ति का निषेध किया जा चुका है।

आचार्य भाववादी सर्वास्तिवादियो पर एक गम्भीर आरोप लगाते है। कहते है कि जो सुगतानुगामी भावो का सद्भाव मानते है, वे उच्छेदवाद या शाश्वतवाद में आपतित होते है, क्योकि भाववादी का भाव नित्य होगा या अनित्य? नित्य होगा, तो शाश्वतवाद निश्चित है, अनित्य होगा, तो उच्छेदवाद।

सर्वास्तिवादी इन आरोपो से बचने के लिए कहता है कि हम हेतु-फल के उत्पाद-विनाश के प्रवाह को ससार कहते है। यदि हेतु निरुद्ध हो, किन्तु उससे फल न उत्पन्न हो, तो उच्छेदवाद होगा। हेतु निरुद्ध न हो, प्रत्युत स्वरूपेण अवस्थित हो, तो शाश्वतवाद होगा। किन्तु, हमारे मत में उत्पाद-विनाश का वह प्रवाह सम्मत है, जिसमें हेतु-फल अविच्छिन्न क्रम से है। अत, हम पर ये दोष नही लगते।

आचार्य कहते है कि वादियो पर ये दोष स्पष्ट ही लगते है, क्योकि वादी के मत मे फल की उत्पत्ति हेतु-क्षण हेतु होकर निरुद्ध हो जाता है। किन्तु, उसका पुन उत्पाद नही होता, यह उच्छेदवाद है। और, हेतु का स्वभावत. सद्भाव है, तो उसका असद्भाव न होगा। अत, शाश्वतवाद होगा।

---

१ न भावाज्जायते भावो भावोऽभावान्न जायते।
नाभावाज्जायतेऽभावोऽभावो भावान्न जायते॥

आचार्य इस सम्बन्ध मे और भी गम्भीर विचार करते है। कहते हैं कि वादी यदि हेतु-फल के उत्पाद-विनाश-सन्तान को स्वीकार कर शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के दोषो से अपने को किसी प्रकार बचा ले, फिर भी वहाँ इस सन्तान की प्रवृत्ति सदा के लिए समाप्त हो जाती है। उस निर्वाण मे उच्छेद-दर्शन निश्चित है।

वादी ने हेतु-फल के उत्पाद-विनाश के सन्तान को भव कहा है। चरम भव निवृत्ति-रूप है, और प्रथम प्रतिसन्धि-(मृत्यु और उत्पत्ति के बीच का क्षण) रूप है। चरम भव निरुद्ध होकर हेतु-रूपेण अवस्थित होता है, प्रथम भव उपपत्ति-रूप होने से फल-रूप मे व्यवस्थित होता है। इन्ही दो के बीच ससार है।

आचार्य कहते है कि यदि चरम भव के निरुद्ध हो जाने पर प्रथम भव होता है, तो वह निर्हेतुक होगा। यदि चरम भव निरुद्ध न हो और प्रथम भव हो, तो भी वह निर्हेतुक होगा, और एक सत्त्व दोनो मे रहकर द्विरूप होगा। चरम भव के निरुद्ध होते समय भी प्रथम भव उत्पन्न नही होगा, क्योकि 'निरुद्ध्यमान उत्पन्न होता है', यह कहने से एक काल में दो भव होगे। इस प्रकार, तीनो काल मे भव की सिद्धि नही होगी।

पूर्वोक्त विवेचन से भाववादियो का शाश्वतवाद या उच्छेदवाद मे आपन्न होना निश्चित है।

तथागत के अस्तित्व का निषेध

अब एक बडे ही गम्भीर एव रोचक विषय पर आचार्य का मत दिया जा रहा है। बहुत पुराने काल से बौद्धो में यह विवाद था कि तथागत हैं या नही? रूपान्तर मे यह प्रश्न भगवान् बुद्ध (तथागत) के समक्ष भी रखा गया था। उन्होने इस प्रश्न को अव्याकरणीय कहकर मौन अवलम्बन कर लिया। उनकी अव्याकरणीयता का यह उत्तर बुद्ध के बाद रहस्य बन गया, और उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे अनेक वाद खडे हो गये। महायानियो मे विशेषत. माध्यमिक उनके व्यक्तित्व की सत्ता को सर्वथा अस्वीकृत करता है।

किन्तु वादी कहता है कि तथागत हैं, और इसलिए भव-सन्तति भी है। उन्होने महाकरुणा और प्रज्ञा धारण कर त्रैधातुक के सकल सत्त्वो के दु ख-व्युपशम के निश्चय से असख्य कल्पो में उद्भूत होकर अपने को क्षिति, सलिल, औषधि और वृक्ष के समान सत्त्वो का उपभोग्य बनाया, और सर्वज्ञता का लाभ कर पदार्थो का अशेष सत्त्व परिज्ञात किया। जैसा धर्म है, तथैव (तथा) अवगत (गत) करने के कारण वह 'तथागत' है। ऐसे तथागतत्व की प्राप्ति किसी एक जन्म मे सम्भव नही है। उसके लिए भव-सन्तति आवश्यक है।

आचार्य कहते है कि तथागत नाम का कोई भाव स्वभावत उपलब्ध नही होता। तथागत नाम से कोई अमल एव निष्प्रपच पदार्थ होगा, तो वह पच-स्कन्ध-स्वभाव (रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञानरूप) होगा या उससे भिन्न होगा। तथागत स्कन्धरूप नहीं है, अन्यथा कर्त्ता कर्म एक होगा। एक मानने पर तथागत का उत्पाद-विनाश भी मानना होगा। तथागत स्कन्ध से अन्य भी नही है, अन्यथा वह स्कन्ध के बिना भी होगा। इसलिए, तथागत

मे स्कन्ध नही है, और स्कन्धो मे तथागत नहीं है। तथागत स्कन्धवान् भी नही है; क्योकि वह स्कन्ध से भिन्न नही है।[१]

एक अन्य मत है कि अनास्रव-स्कन्धो (शील, समाधि, प्रज्ञा, विमुक्ति, विमुक्तिज्ञान दर्शन) से तथागत उपात्त है। वह अवाच्य है, अत उन्हें स्कन्धरूप या स्कन्ध से व्यतिरिक्त नही कहा जा सकता।

आचार्य कहते है कि यदि बुद्ध अमल स्कन्धो का उत्पादन करके प्रज्ञप्त होते है, और अवाच्य है, तो स्पष्ट है कि स्वभावत नही है, केवल प्रतिबिम्ब के समान प्रज्ञप्त होते है। जो स्वभावत नही, वह परभावत भी नहीं होता, इसे अनेकधा स्पष्ट किया गया है।

यदि वादी कहे कि प्रतिबिम्ब स्वभावत. नही होता, किन्तु मुख और आदर्श की अपेक्षा करके होता है। इसी प्रकार, तथागत भी स्वभावत अविद्यमान है, किन्तु अनास्रव पचस्कन्धो का उत्पादन कर परभावत होगे।

इसके उत्तर मे आचार्य कहते है कि ऐसी स्थिति मे प्रतिबिम्ब के समान तथागत भी अनात्मा होगे। किन्तु, जो प्रतिबिम्ब के तुल्य अनात्मा और नि स्वभाव होगा, वह अविपरीत मार्गगामी भावरूप तथागत कैसे होगा? स्वभाव-परभाव के अतिरिक्त तथागत की तृतीय कोटि क्या होगी? यदि तथागत स्कन्धो से अन्य या अनन्य नही है और केवल स्कन्धो के उपादान से प्रज्ञापित होते है, तो स्कन्धो को ग्रहण करने से पूर्व तथागत को होना चाहिए, जिससे पश्चात् स्कन्धो का उपादान करे। किन्तु, स्कन्धो का उपादान न करके तथागत की सिद्धि नही होगी। तथागत स्कन्धो से अभिन्न, भिन्न तथा भिन्न-अभिन्न नही है। आधार या आधेय भी नही है, अत वह अविद्यमान है।

वादी माध्यमिक के इस सिद्धान्त से उत्त्रस्त है। वे कहते हैं, कि हम लोग कणाद, जैमिनि, गौतम, दिगम्बर आदि के उपदेशो की स्पृहा को छोडकर सकल जगत् के एकमात्र शरण्य, अज्ञानान्धकार के एकमात्र निवारक तथागत की शरण मे आये, किन्तु आपने उनकी सत्ता का निषेध करके हमारी सारी आशा समाप्त कर दी।

चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि वस्तुत आप जैसो की तरफ से हमलोगो की आशा मारी गई। आप मोक्ष के लिए समस्त वादियो के मत को छोडकर परम शास्ता तथागत की शरण में प्रतिपन्न हुए थे, किन्तु उनके नैरात्म्यवाद के सिंहनाद को सह नही सके। पुन. विविध कुदृष्टि-व्यालो से आकुलित मार्ग के अनुगमन के लिए तत्पर हो गये। क्या आपको अबतक नहीं मालूम हुआ कि तथागत अपना या स्कन्धो का अस्तित्व कभी ज्ञापित नही करते। हमलोग तथागत का अभाव केवल इस आधार पर नही कहते कि वह निष्प्रपच है, बल्कि इस आधार

---

१ स्कन्धो न नान्य स्कन्धेभ्यो नास्मिन् स्कन्धा न तेपु स।
तथागत स्कन्धवान्न कतमोऽत्र तथागत ॥ (२२।१)

पर कि वह वस्तुत नि स्वभाव है। उनकी नि स्वभावता की व्याख्या करके हम अविपरीत अर्थ को प्रकट करते हैं। आचार्य नागार्जुन के अनुसार तथागत के व्यक्तित्व का यह रहस्य है कि उसे शून्य नही कहा जा सकता और अशून्य भी नही कहा जा सकता। इसी प्रकार, उभय (शून्य-अशून्य), अनुभय (न शून्य, न अशून्य) भी नही कहा जा सकता। किन्तु, व्यवहार-सत्य की दृष्टि से शून्यता आदि का आरोपण कर प्रज्ञापित किया जाता है।[1] आचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार तथागत में उपर्युक्त शून्यता आदि का चतुष्टय अप्रसिद्ध है, वैसे ही शाश्वत आदि का चतुष्टय (लोक शाश्वत है या अशाश्वत, उभय है या अनुभय) तथा लोक की अन्तता-अनन्तता आदि (लोक अन्तवान् है या अनन्त, उभय है या अनुभय तथागत मरण के बाद उत्पन्न होते हैं या नही, उनका उभय है, या अनुभय) आदि के प्रश्न सर्वथा अप्रसिद्ध है।

आचार्य कहते है कि तथागत प्रकृतित शान्त नि स्वभाव, एव प्रपचातीत हैं, किन्तु लोग अपने वुद्धिमान्द्य के कारण उनके सम्बन्ध मे शाश्वत-अशाश्वत, नित्य-अनित्य, अस्तिता-नास्तिता, शून्यता-अशून्यता, सर्वज्ञता-असर्वज्ञता आदि की कल्पनाएँ करते हैं। किन्तु, वे यह नही समझते कि ये सभी प्रपच वस्तुमूलक होते है, किन्तु तथागत अवस्तु हैं। अत., प्रपचातीत एव अव्यय हैं। ऐसे भगवान् वुद्ध के सम्वन्ध मे जो लोग अपनी उत्प्रेक्षा से मिथ्या कल्पनाएं रच लेते है, वे अपने ही प्रपचो के कारण तथागत-ज्ञान से वचित होते ह, और अपना नाश कर लेते है।[2]

तथागत एव भाजन-लोक की नि स्वभावता

जैसे सत्त्व-लोक नि स्वभाव है, वैसे भाजन-लोक (जगत्) भी नि स्वभाव है, क्योंकि जिस स्वभाव का तथागत होता है, उसी स्वभाव का यह जगत् भी होता है। यत, तथागत नि स्वभाव है, अत जगत् भी नि स्वभाव है।[3]

आचार्य चन्द्रकीर्त्ति तथागत और लोक दोनो की नि स्वभावता को सूत्रो से भी प्रमाणित करते है—

> तथागतो हि प्रतिविम्वभूत कुशलस्य धर्मस्य अनास्रवस्य।
> नैवात्र तथता न तथागतोऽस्ति विम्व च सदृश्यति सर्वलोके॥
>
> (म० का०, पृ० ४४६)

---

१ शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥ (२२।११)

२ प्रपञ्चयन्ति ये वुद्धं प्रपञ्चातीतमव्ययम्।
ते प्रपञ्चहता सर्वे न पश्यन्ति तथागतम्॥ (२२।१५)

३ तथागतो यत्स्वभावस्तत् स्वभावमिदं जगत्।
तथागतो नि स्वभावो नि स्वभावमिदं जगत्॥ (२२।१६)

विपर्यास का निषेध

आचार्य क्लेशो (राग, द्वेप, मोह) की भी असत्ता सिद्ध करते हैं। कहते हैं कि राग, द्वेप, मोह सकल्प से उत्पन्न होते हैं। शुभ आकार की अपेक्षा से राग, अशुभ की अपेक्षा से द्वेप, विपर्यास की अपेक्षा मे मोह उत्पन्न होता है। इन तीनो की उत्पत्ति में साधारण कारण सकल्प है। इन शुभ, अशुभ और विपर्यासो की अपेक्षा से उत्पन्न होने के कारण रागादि अकृत्रिम एवं निरपेक्ष सिद्ध नही होगे।

आत्मा के सम्बन्ध में जब अस्ति-नास्ति कुछ भी सिद्ध नही किया जा सकता, तब उसके विना उसके आश्रित अन्य धर्मों का अस्तित्व-नास्तित्व कैसे सिद्ध किया जा सकता है, क्योकि क्लेश किसी का आश्रय लेकर सिद्ध होते हैं, वह आश्रय आत्मा ही हो सकता था, जिसका पहले ही निषेध कर दिया गया है। ऐसी अवस्था मे विना आश्रय के क्लेश कैसे होगे ? क्लेशो के हेतु शुभ, अशुभ, और विपर्यास भी निरपेक्ष, नि स्वभाव नही है।

रूप, शब्द, गन्धादि का आलम्बन करके क्लेश-त्रय होते है, किन्तु रूप, शब्दादि कल्पनामात्र, स्वप्नतुल्य है। मायापुरुष में या प्रतिविम्ब में शुभ-अशुभादि क्या होगे। शुभ-अशुभ आदि सभी क्लेश-हेतु तथा क्लेश अन्योन्य की अपेक्षा से प्रज्ञापित होते है, अत सभी नि स्वभाव है। 'अनित्य में नित्य-बुद्धि होना' मोह है, किन्तु शून्य में अनित्यता क्या होगी जिसमें नित्य-बुद्धि हो। अनित्य में नित्य-बुद्धि यदि विपर्यास है, तो शून्य मे अनित्य-बुद्धि भी क्या विपर्यास नही है ? वस्तुत ग्रहीता जिन नित्यत्व आदि विशेषो से रूप, शब्द आदि वस्तुओ का ग्रहण करता है, वे समस्त स्वभावत शान्त है, अत. उनका ग्रहण सिद्ध नही होता।[1] जब ग्रहण ही सिद्ध नही है, तब उसके मिथ्या या सम्यक् होने का प्रश्न ही कहाँ है ? ? पहले यह दिखाया गया है कि भावो की स्वत -परत आदि कारणो से उत्पत्ति नही है। ऐसी अवस्था मे विपर्यय की सिद्धि कैसे होगी ?

इस प्रकार, योगी जब विपर्यासो को उपलब्ध नही करता, तब उससे उत्पन्न अविद्या भी निरुद्ध हो जाती है। अविद्या के निरोध से अविद्या से उत्पन्न होनेवाले सस्कारादि निरुद्ध होते है।

चार आर्य-सत्यों का निषेध

वादी का आक्षेप

वादी कहता है कि यदि शून्यवाद मे वाह्य-आध्यात्मिक सब शून्य है, और किसी पदार्थ का उदय-व्यय नही है, तो शून्यवाद में चार आर्यसत्यो का भी अभाव होगा। दु ख की सत्यता आर्यों को ही ज्ञात होती है। सूत्र मे उक्त है कि ऊर्णा को करतल पर रखते है, तो वेदना नही होती, किन्तु जब उसे अक्षिगत करते है, तब वह द्वेप एव पीडा की जनक होती है।

---

१ येन गृह्णाति यो ग्राहो ग्रहीता यच्च गृह्यते ।
उपशान्तानि सर्वाणि तस्माद् ग्राहो न विद्यते ॥ (२३।१५)

अनार्य वाल करतल के सदृश है, वह सस्कार-दु.खता का अनुभव नही करता, आर्य विद्वान् अक्षि के सदृश है, वह उससे अत्यन्त उद्विग्न हो जाता है। यह दु ख आर्य-सत्य तव युक्त होगा, जब सस्कारो का उदय-व्यय सम्भव होगा, किन्तु जब शून्यवाद है, तो किसी के उदय-व्यय का प्रश्न ही नही उठता। फलत , शून्यवाद में दुःख आर्य-सत्य न होगा। जव दु ख ही नही होगा, तब उसके समुदय का अवकाश नही है, अत समुदय-सत्य भी न होगा। जो दु ख का हेतु है, वह समुदय है। वह समुदय, तृष्णा, कर्म, क्लेश है। दु ख का पुन उत्पन्न न होना निरोध-सत्य है, किन्तु जव दु.ख और समुदय नही है, तव निरोध कहाँ है ? यदि दु ख-निरोध नही है, तो मार्ग-सत्य भी नही है।

शून्यवाद में जब चतुरार्य-सत्यो का अभाव है, तब उनकी परिज्ञा (अनित्यादि आकारो मे दु ख-सत्य का ज्ञान) दु ख-समुदय का प्रहाण, दु खनिरोधगामिनी प्रतिपत्तियो की भावना और दु ख-निरोध का साक्षात्कार नही होगा। इन चार आर्य-सत्यो के अभाव मे तथा उनकी परिज्ञा आदि के अभाव में चार आर्य-फल (स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी, अर्हत्) भी नही होगे और फलाभाव से फलस्थ आठ महापुरुष-पुद्गलो का अभाव होगा। अष्ट पुरुष-पुद्गल के अभाव में सघ नही होगा। आर्य-सत्यो के अभाव मे सद्धर्म (निरोध-सत्य फलधर्म है, मार्ग-सत्य फलावतार धर्म है। यह अधिगम-धर्म भी है, मार्ग की प्रकाशिका देशना आगम-धर्म है) नही है। धर्म और सघ के अभाव मे बुद्ध भी नही होगे। इस प्रकार, इन दुर्लभ त्रिरत्नो से भी शून्यवादी वचित होगा।

सिद्धान्ती का परिहार

आचार्य कहते हैं, वादी ने अपनी कपोल-कल्पना से ही शून्यता का अर्थ अभाव कर लिया, और भावो का उत्पाद-विनाश नही बनेगा, इसका शून्यवादी पर उपालम्भ भी दे लिया, और उनके प्रति खिन्न भी हो लिया। वस्तुत , वादी अपने ही विविध विकल्पो से मारा जा रहा है। माध्यमिक ने शून्यता का वादी-कल्पित अर्थ नही किया है, अत वादी को शून्यता के अभिधान का प्रयोजन भी ज्ञात नही हुआ। शून्यता के उपदेश का प्रयोजन अशेष प्रपच का उपशम है। जो शून्यता का अभाव अर्थ करता है, वह प्रपचजाल का विस्तार करता जा रहा है।

प्रतीत्यसमुत्पाद शब्द का जो अर्थ है, वही शून्यता शब्द का अर्थ है। अभाव शब्द का जो अर्थ है, वह शून्यता शब्द का अर्थ नही है। चन्द्रकीर्त्ति आचार्य के वचन[1] से इसे, पुष्ट करते है। चन्द्रकीर्त्ति कहते है कि माध्यमिक सिद्धान्त पर पूर्वोक्त आक्षेप वे लोग करते है जो भगवद्वचन के अभिप्रेत सत्य-द्वय का विभाग नही जानते। आचार्य नागार्जुन ने परम करुणा से प्रेरित होकर भगवद्वचन के सत्य-द्वय की व्यवस्था की है। मध्यमकावतार में चन्द्र-

१ य' प्रतीत्यसमुत्पाद' शून्यतां तां प्रचक्षते ।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा ॥ (विग्रहव्यावर्त्तनी)

कीर्त्ति कहते है[1] कि जो सत्य-द्वय के विज्ञान से रहित है, उसे कथमपि मोक्ष-सिद्धि नही होगी। आचार्यपाद के ज्ञानमार्ग से जो वहिर्गत है, उनके कल्याण के लिए कोई उपाय नही है।

बुद्ध की धर्म-देशना दो सत्यो का आश्रयण करती है—लोक-सवृति-सत्य और परमार्थ सत्य।[2]

पदार्थ-तत्त्व का समन्तत अवच्छदान करने मे (समन्ताद् वरणम्), अथवा अन्योन्य का आश्रय लेकर उत्पन्न होने से (परस्परसम्भवनम्), सवृति व्युत्पन्न है। सवृति लोक-व्यवहार को भी कहते है, क्योकि लोकव्यवहार ज्ञान-ज्ञेय का सकेत है।

चन्द्रकीर्त्ति ने मध्यकावतार में विस्तार से सत्य-द्वय की विवेचना की है। समस्त वाह्य-आध्यात्मिक पदार्थो के दो स्वरूप है। वस्तुओ का पारमार्थिक रूप वह है, जो सम्यक् द्रष्टा आर्य के ज्ञान का विषय है, किन्तु उसकी स्वरूप-सत्ता नही है (न तु स्वात्मतया सिद्धम्)। वस्तुओ का सावृतिक रूप वह है, जो पृथग्जन की मिथ्यादृष्टि का विषय है, किन्तु इसका भी स्वरूप असिद्ध है। समस्त पदार्थ इन दो रूपो को धारण करते है। इन दो स्वरूपो में सम्यक् द्रष्टा का जो विषय है, वह तत्त्व है। वही पारमार्थिक सत्य है। मिथ्या-दृष्टि का जो विषय है, वह संवृति-सत्य है, वह परमार्थ नही है।[3]

मिथ्यादृष्टि भी सम्यक् और मिथ्या भेद से दो है। इसलिए, पूर्वोक्त मिथ्यादृष्टि (सवृति-सत्य) के दो ज्ञान और उनके दो विषय हैं। १. शुद्ध तथा रोगरहित इन्द्रियोवाले व्यक्ति का वाह्यविषयक ज्ञान, २ दोष-ग्रस्त इन्द्रियोवाले व्यक्ति का ज्ञान। स्वस्थ इन्द्रियो-वाले व्यक्ति के ज्ञान की अपेक्षा दुष्टेन्द्रिय व्यक्तियो का ज्ञान मिथ्याज्ञान है।[4] सावृतिक सत्यता और मिथ्यात्व का निर्णय केवल लोक की अपेक्षा से ही होता है, आर्यज्ञान की अपेक्षा से नही।

---

१ आचार्यनागार्जुनपादमार्गाद्बहिर्गताना न शिवेऽस्त्युपाय।
भ्रष्टा हि ते सवृतितत्त्वसत्यात् तद्भ्र शतश्चास्ति न मोक्षसिद्धि॥
उपायभूत व्यवहारसत्यमुपेयभूत परमार्थसत्यम्।
तयोर्विभाग न परैति यो वै मिथ्याविकल्पै स कुमार्गयात॥
(मध्यमकावतार, ६।७९-८०)

२ द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धाना धर्मदेशना।
लोकसवृतिसत्य च सत्य च परमार्थत॥ (म० का०, २४।८)

३. सम्यङ्मृषादर्शनलब्धभाव रूपद्वय बिभ्रति सर्वभावा।
सम्यग्दृशा यो विषय स तत्त्व मृषादृशा सवृतिसत्यमुक्तम्॥ (म० का०, ६।२३)

४. मृषादृशोऽपि द्विविधास्त इष्टा दीप्तेन्द्रिया इन्द्रियदोषवन्त।
दुष्टेन्द्रियाणा किल बोध इष्ट सुस्थेन्द्रियज्ञानमपेक्ष्य मिथ्या॥

लोक-संवृति-सत्य

वस्तुत , मोह संवृति है; क्योकि वह वस्तु के यथार्थ स्वभाव को आवृत करता है । सवृति एक ओर वस्तु के स्वभाव-दर्शन के लिए आवरण खडा करती है, दूसरी ओर पदार्थों में असत्-स्वरूप का आरोपण करती है । सवृति नि स्वभाव एव सत्यभासित पदार्थों को स्वभावेन तथा सत्यरूपेण प्रतिभासित करती है । किन्तु, यह अत्यन्त मिथ्या है । लोकदृष्टि मे ही इसकी सत्यता है, अत इसे लोक-सवृति-सत्य कहते है । यह प्रतीत्यसमुत्पन्न है , इसलिए कृत्रिम है ।[1] अविद्वान् को कभी अकृत्रिम (स्वभव)नही भासता । प्रतिविम्व, प्रतिश्रुत्क आदि मिथ्या है, फिर भी उसे भासित होते है। नीलादि रूप तथा चित्त-वेदनादि भी सत्य भासित होते है । ये दोनो प्रकार के दृष्टान्त प्रतीत्यसमुत्पन्न है, इसलिए सवृति-सत्य की कोटि मे आते है । किन्तु, जो सवृति से भी मृपा है, वह सवृ -सत्य नही है (सवृत्यापि यन्मृषा तत्सवृतिसत्यं न भवति) । भवाग (अविद्या, सस्कार, नामरूप आदि) सवृति-सत्य है, किन्तु सक्लिष्ट अविद्या से ग्रस्त व्यक्ति के ही लिए । श्रावक, प्रत्येकबुद्ध तथा बोधिसत्त्व के लिए वह सवृति-मात्र है, सत्य नही है, क्योकि वे सक्लिष्ट अविद्या को नष्ट कर चुके है, और समस्त सस्कारो को प्रति बेम्व के तुल्य देखते है । इनमे वस्तु के प्रति सत्याभिमान नही है । जिस वस्तु से वाल-पृथग्जन ठगा जाता है, उसे आर्य सवृतिमात्र मानता है । आर्य को क्लेशावरण नही है, केवल ज्ञेयावरण है, अत उसे विषय साभासगोचर है, अनार्य को निराभासगोचरता है । बुद्ध को सर्वधर्म का सर्वाकार ज्ञान है, अत वह सवृति-सत्य को सवृतिमात्र कहते है ।

इस प्रकार, हम देखते है कि पृथग्जन के लिए जो परमार्थ है, वह आर्यों के लिए सवृति है । सवृति की जो स्वभाव-शून्यता है, वही परमार्थ है । बुद्धो का स्वभाव परमार्थ है, वह परमार्थ है, क्योकि उससे किसी का प्रमोष नही है, परमार्थ सत्य है । यह परमार्थ सत्य प्रत्यात्मवेद्य है । सवृति-सत्य प्रमोषक है, अत. वह परमार्थ सत्य नही है ।

परमार्थसत्य

परमार्थसत्य अवाच्य है एव ज्ञान का विषय नही है । वह स्व-सवेद्य है उसका स्वभाव लक्षणादि से व्यक्त नही किया जा सकता । परमार्थसत्य की विवक्षा मे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जैसे तिमिर रोग से आक्रान्त व्यक्ति अपने हाथ मे पकडे धान्यादि पुज को केशरूप मे देखता है, किन्तु उसे शुद्ध दृष्टिवाला जिस रूप में देखता है, वही तत्त्व होता है, वैसे ही अविद्या-तिमिर से उपहत अतत्त्वद्रष्टा स्कन्ध, धातु, आयतन का जो स्वरूप (सावृतिक) उपलब्ध करता है, उसे ही अविद्या-वासना-रहित बुद्ध जिस दृष्टि से देखते है, वही परमार्थ सत्य है ।

---

१. मोह स्वभावावरणाद्धि सवृति सत्य तयाख्याति यदेव कृत्रिमम् ।
जगाद तत्सवृतिसत्यमित्यसौ मुनि पदार्थं कृतक च सवृतिम् ॥
(मध्यमकावतार ६।२४,२८)

प्रश्न उठता है कि परमार्थ सत्य अवाच्य अदृश्य है, तो उसे अविद्या-रहित भी कैसे देखेंगे।

चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि अदर्शन-न्याय (न देखा जा सकना) से ही उसका देखना सम्भव है। परमार्थ सत्य की किसी प्रकार देशना नहीं हो सकती; क्योंकि जिसके द्वारा देशित होना है, जिसके लिए देशना करनी है और जिसकी देशना करनी है, ये सभी परमार्थत अनुत्पन्न हैं। इसलिए अनुत्पन्न धर्मों से ही अनुत्पन्न धर्मों को बताया जा सकता है। तत्त्व में भाव-अभाव, स्वभाव-परभाव, सत्य-असत्य, शाश्वत-उच्छेद, नित्य-अनित्य, सुख-दु ख, शुचि-अशुचि, आत्मा-अनात्मा, शून्य-अशून्य, लक्षण-लक्ष्य, एकत्व-अनेकत्व, उत्पाद-निरोधादि नही होते। तत्त्व के ज्ञान में आर्य ही प्रमाण हैं, अनार्य बाल नहीं।

एक प्रश्न है कि माध्यमिक यदि लोक का भी प्रामाण्य स्वीकार करते हैं, तो लोक अवश्य तत्त्वदर्शी होगा, क्योंकि जड प्रमाण नही होता। चक्षुरादि से ही तत्त्वनिर्णय होना है, अत आर्यमार्ग के अवतरण के लिए शील, श्रुति, चिन्ता, भावना आदि का प्रयास अवश्य निष्फल होगा।

चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि लोक सर्वथा प्रमाण नही हो सकता, लोक-प्रमाण से तत्त्वदशा में बाधा भी नही होती। हाँ, लोक-प्रसिद्धि से लौकिक अर्थ अवश्य बाधित होगा।[1]

आचार्य नागार्जुन कहते है कि जो लोग इस सत्यद्वय का विभाग नही जानते वह गम्भीर बुद्धशासन के तत्त्व को नही जानते।

सत्य-द्वय का प्रयोजन

वादी प्रश्न करता है कि माध्यमिक-सिद्धान्त में जब परमार्थ निष्प्रपञ्च स्वभाव है, तब भगवान् ने अपरमार्थभूत स्कन्ध, धातु, आयतन, चार आर्य सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि की देशना क्यो की। अतत्त्व परित्याज्य होता है, और परित्याज्य का उपदेश करना व्यर्थ है।

आचार्य कहते हैं कि व्यवहार (अभिधान-अभिधेय, ज्ञान-ज्ञेय आदि) के अभ्युपगम के बिना परमार्थ की देशना अत्यन्त अशक्य है। और, परमार्थ के अधिगम के बिना निर्वाण का अधिगम अशक्य है।[2] जो लोग सत्य-द्वय की व्यवस्था को नही जानते, किन्तु शून्यता का वर्णन करते है, उन मन्दप्रज्ञ लोगो को दुर्दृष्ट शून्यता वैसे ही नाश कर देती है, जैसे ठीक से न पकडा गया सर्प तथा अविधि से प्रसाधित कोई विद्या किसी साधक का।[3] चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं

---

१ लोकः प्रमाणं नहि सर्वथाऽतो लोकस्य नो तत्त्वदशासु बाधा।
लोकप्रसिद्ध्या यदि लौकिकोऽर्थो बाध्येत लोकेन भवेद्धि बाधा ॥ (६।३१)

२ व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थो न देश्यते।
परमार्थमनागम्य निर्वाणं नाधिगम्यते ॥

3 विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम्।
सर्पो वा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता ॥ (म० का०, २४।१०।१)

कि जो योगी अज्ञानमात्र से समुत्थापित संवृति-सत्य को नि स्वभाव जानकर शून्यता की परमार्थता को जानता है, वह अन्त-द्वय (उच्छेद, शाश्वत) मे पतित नही होता। किसी भी पदार्थ का पहले अस्तित्व नही था, जिसके नास्तित्व को योगी ने बाद मे जाना हो; क्योकि उसने पहले भी (सदा ही) भाव-स्वभाव की अनुपलब्धि की है, अत, बाद मे उसके नास्तित्व-ज्ञान का प्रसग ही नही है। योगी लोकसंवृति को प्रतिबिम्ब के आकार में ग्रहण करता है, उसे नष्ट नही करता। इसलिए, वह कर्मफल, धर्म-अधर्म आदि की व्यवस्था को बाधा नही पहुँचाता, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वह परमार्थ तत्त्व में सस्वभावता का आरोपण करता है। उसे इसकी आवश्यकता भी नही है, क्योंकि कर्म-फल आदि की व्यवस्था पदार्थों की निःस्वभावता के सिद्धान्त में ही सम्भव है, सस्वभाववाद में नहीं।

यह निश्चित है कि शून्यता भाव या अभाव दृष्टि नही है। इसलिए, आचार्य 'विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता' पर अत्यधिक जोर देते हैं। चन्द्रकीर्त्ति कहते है कि शून्यता एक महती विद्या है, भाव-अभाव दृष्टियो का तिरस्कार कर यदि उसे मध्यमा-प्रतिपत्ति से ग्रहण किया जाय, तो वह अवश्य ही साधक को निरुपधिशेष निर्वाण के सुख से युक्त करती है। अन्यथा-ग्रहण से ग्रहीता का नाश कर देती है। नागार्जुन कहते है कि शून्यता की इस दु खगाहता को देखकर ही भगवान् बुद्ध ने अपने को धर्मोपदेश से निवृत्त करना चाहा था, जो ब्रह्मा सहम्पति के अनुरोध से सम्भव नही हुआ।

आचार्य कहते है कि शून्यता के सिद्धान्त पर वादियो के जितने आक्षेप है, वह सत्यद्वय की अनभिज्ञता के कारण है। शून्यता को अभावार्थक समझकर समस्त दोष दिये जाते है, किन्तु वादी शून्यता की अभावात्मक व्याख्या नही करता, प्रत्युत शून्यता का अर्थ प्रतीत्य-समुत्पाद करता है, अत, उसकी शून्यता-दृष्टि नही है।

शून्यवाद मे यथोक्त दोष नही होते, इसे सिद्ध कर आचार्य अब इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करते है कि सर्वभाव-स्वभाव-शून्यता का अर्थ प्रतीत्यसमुत्पाद करने से शून्यवाद मे चार आर्य सत्य, परिज्ञा, प्रहाण, साक्षात्कार, भावना तथा फलादि की व्यवस्था बनती है, प्रतीत्यसमुत्पाद की अन्य व्याख्याओ में ये सम्भव नही है। आचार्य अपने सतीर्थ्यों की उस अश्वारूढ व्यक्ति से तुलना करते है, जो अश्वारूढ रहते हुए भी अत्यन्त विक्षेप के कारण अश्व के भुला देने का उपालम्भ दूसरो पर देते है।

आचार्य कहते है कि यदि भाव स्वभावत विद्यमान है, तो व हेतु-प्रत्यय-निरपेक्ष होगे। ऐसी स्थिति मे कार्य-कारण, करण-कर्त्ता और क्रिया, उत्पाद-निरोध और फलादि समस्त बाधित होगे, क्योकि यदि घट स्वभावत है, तो उसे मृदादि हेतु-प्रत्ययो से क्या प्रयोजन? फलत, घट का अभाव होगा, क्योकि निर्हेतुक घट नही होता। ऐसी अवस्था म चक्र-चीवरादि करण, कर्त्ता कुम्भकार तथा घट बनाने की क्रिया का अभाव होगा। फिर, घट का क्या उत्पाद और क्या निरोध? उत्पाद-निरोध के अभाव में फलादि अत्यन्त असम्भव है। इस प्रकार, हम देखते है कि सस्वभाववाद मानते ही ये समस्त दोष आपतित होते है।

सर्वशून्यतावादी के पक्ष मे उपर्युक्त दोष असम्भव है, क्योंकि उसके पक्ष मे प्रतीत्य-समुत्पाद हेतु-प्रत्ययो की अपेक्षा करके अकुरादि या विज्ञानादि के प्रादुर्भाव का सिद्धान्त है, जो पदार्थों को स्वभावतः अनुत्पन्न सिद्ध करता है। पदार्थों का स्वभावतः अनुत्पाद ही शून्यता है।

इस शून्यता को ही उपादाय प्रज्ञप्ति कहते है। जैसे चक्रादि (रथ के अग) का उपादान कर (उपादाय) रथ की प्रज्ञप्ति होती है। जो अपने अगो का उपादान करने पर प्रज्ञप्त होता है, वह अवश्य ही स्वभावेन अनुत्पन्न होता है। जो स्वभावेन अनुत्पन्न है, वही शून्यता है।

शून्यता ही मध्यमा-प्रतिपत् है। जिसकी स्वभावेन अनुत्पत्ति है, उसका अस्तित्व नही है। जो स्वभावेन अनुत्पन्न है, उसका नाश क्या होगा? अत., उसका नास्तित्व भी नही है। इस प्रकार, जो भाव और अभाव इन दो अन्तो से रहित है, और अनुत्पत्ति-लक्षण है, वह मध्यमा-प्रतिपत् (मध्यम मार्ग) है, वह शून्यता है। फलत., प्रतीत्यसमुत्पाद की ही ये विशेष सज्ञाएँ है---शून्यता, उपादाय-प्रज्ञप्ति, मध्यमा प्रतिपत्।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह निश्चित हुआ कि जो प्रतीत्य-समुत्पन्न है, वह शून्य है। अत, कोई भी पदार्थ अशून्य नही है। अशून्यवाद (सस्वभाववाद) मे जव सव अशून्य है, तव उसका उदय और व्यय नही होगा, और आर्य सत्य भी नही होगे, क्योकि जो प्रतीत्य-समुत्पन्न नही होगा, वह अनित्य नही होगा। किन्तु, दु ख का लक्षण अनित्यता है। सस्वभाववाद में भावो की दु ख-स्वभावता नही होगी, इसलिए उसका समुदाय भी नही होगा, क्योकि समुदय दु ख का हेतु है (समुदेति अस्माद् दु खमिति)। दु.ख के अभाव में उसकी उत्पत्ति के लिए हेतु की कल्पना व्यर्थ है। इसी प्रकार, सस्वभाववाद मे निरोध तथा समस्त आर्य-मार्ग वाधित होते हैं, क्योंकि स्वभावत सत् दु ख का निरोध नही होगा, और मार्ग की भावना भी नही होगी। यदि वह भावना से भाव्य होगा, तो उसका स्वाभाव्य नष्ट होगा। इस प्रकार, सस्वभाववाद मे चार आर्य-सत्य नही होगे। इनके अभाव मे परिज्ञा, प्रहाण आदि किसके होगे? इस प्रकार, फल, फलस्थ प्रतिपन्नक तथा त्रिरत्न कुछ नही होगे। स्वभाववाद मे धर्म-अधर्म की व्यवस्था भी नही होगी, क्योकि जो अशून्य होगा, वह कर्त्तव्य-कोटि में नही आयगा, और विद्यमान होने के कारण उसका कोई कारण नही होगा। इस प्रकार, धर्माधर्म-मूलक फल भी नही होगा।

यदि पदार्थ सस्वभाव होगे, तो अकृत्रिम होने से किसी से व्यावृत्त नही होगे, अत ससार अजात और अनिरुद्ध होगा। जगत् कूटस्थ नित्य होगा। इसलिए, जो स्वभाव-शून्यता-रूप प्रतीत्यसमुत्पाद को सम्यक् जानता है, वही आर्य-सत्य आदि को तत्त्वत जानता है।

---

१ य प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यता तां प्रचक्षते।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा॥ (म० का०, २४।१८)

निर्वाण

अब शून्यवाद की दृष्टि से निर्वाण के स्वरूप का विवेचन किया जाता है। इस सम्बन्ध मे पहले पूर्वपक्षी बौद्धो का मत दिया जाता है, पश्चात् शून्यवाद का।

निर्वाण की स्कन्ध-निवृत्तिता

निर्वाण द्विविध है—सोपधिशेष, निरुपधिशेष।

सोपधिशेष—इस निर्वाण में अविद्या, राग आदि क्लेशो का निरवशेष प्रहाण होता है। आत्मस्नेह जिसमें आहित होता है, वह उपधि है। उपधि शब्द से पच उपादान-स्कन्ध अभिप्रेत है, क्योकि वह आत्मप्रज्ञप्ति का निमित्त है। उपधिशेप एक है। इस उपधिशेप के साथ जो निर्वाण है, वह सोपधिशेष निर्वाण है। यह स्कन्धमात्र है, जो सत्कायदृष्टि आदि क्लेशो से रहित है।

निरुपधिशेष—जिस निर्वाण मे स्कन्ध भी न हो, उसे निरुपधिशेप निर्वाण कहते हैं।

वादी कहता है कि उपर्युक्त द्विविध निर्वाण शून्यवाद मे सम्भव नही है, क्योकि शून्यवाद मे जब किसी का उत्पाद या निरोध नही होता तथा क्लेश और स्कन्ध नही होते, तब, किसका निरोध करने से निर्वाण होगा। अत, निर्वाण की सिद्धि के लिए भावो का सस्वभाव होना आवश्यक है।

आचार्य नागार्जुन कहते है कि स्कन्धो को सस्वभाव मानने पर उनका उदय-व्यय नही होगा, क्योकि स्वभाव अविनाशी होता है, अत स्कन्धो के निवृत्त होने का प्रश्न ही नही उठेगा, फिर निर्वाण कैसा? वस्तुत, स्कन्धो का निवृत्ति-लक्षण निर्वाण अयुक्त है।

निर्वाण की कल्पना-क्षयता

अप्रहीणम्—जो रागादि के समान प्रहीण नही होता।

असम्प्राप्तम्—जो श्रामण्य फल के समान प्राप्त नही होता।

अनुच्छिन्नम्—जो स्कन्धादि के समान उच्छिन्न नही होता।

अशाश्वतम्—जो अशून्य (सस्वभाव) पदार्थों के समान नित्य नही होता।

अनिरुद्धम् अनुत्पन्नम्—जो स्वभावत अनिरुद्ध और अनुत्पन्न हो।

इन लक्षणो से लक्षित निर्वाण है। ऐसी निष्प्रपञ्चता में क्लेशो की कल्पना करना तथा उनके प्रहाण से निर्वाण कहना—ये सब असिद्ध हैं। निर्वाण के पहले भी क्लेश नहीं हैं, जिनके परिक्षय से निर्वाण सिद्ध होगा, क्योकि स्वभावतः विद्यमान का परिक्षय नहीं हो सकेगा। अतः, निरवशेष कल्पनाओ का क्षय ही निर्वाण है। यही सिद्धान्त-सम्मत निर्वाण का लक्षण है।

चन्द्रकीर्ति निर्वाण की सर्वकल्पना-क्षयता के पक्ष में भगवान् का एक वचन उद्धृत करते है और उसका अभिप्राय उक्तार्थ में पर्यवसित करते हैं—

निर्वृत्तिधर्माण न अस्ति धर्मा ये नेह अस्ती न ते जातु अस्ति।
अस्तीति नास्तीति च कल्पनावताम् एवं चरन्तान न दुःख शाम्यति ॥

निरुपधिशेष निर्वाण धातु में क्लेश-कर्मादि का या स्कन्धो का सर्वथा अस्तित्व नही है, यह सभी वादियो को अभिमत है। जैसे अन्धकार मे रज्जु मे सर्प उपलब्ध है, किन्तु प्रकाश के उदय के साथ नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार निर्वाण में समस्त धर्म नष्ट हो जाते हैं। जैसे अन्धकारावस्था मे भी रज्जु रज्जु ही था, सर्प नही था, उसी प्रकार, क्लेश-कर्मादि समस्त पदार्थ ससारावस्था में भी तत्त्वत. नही हैं। जैसे . तिमिर रोगाक्रान्त को सर्वथा असत् केश का प्रतिभास होता है, वैसे ही असत् आत्मा और असत् आत्मीयो के ग्रह से ग्रस्त पृथग्जन को असत् भावो का भी सत्यत प्रतिभास होता है, यही ससार है।

जैमिनि, कणाद, कपिलादि से लेकर वैभाषिक पर्यन्त सभी भावों के सम्बन्ध में अस्ति-वादी (सस्वभाववादी) हैं। नास्तिवादियो में उच्छेदवादी नास्तिक हैं, और उनके अतिरिक्त वे हैं, जो अतीत-अनागत अवस्था की विज्ञप्ति तथा विप्रयुक्त सस्कारो की सत्ता तो नही मानते, किन्तु तदतिरिक्त की सत्ता मानते हैं। नास्तिवादी वे भी हैं, जो परिकल्पित-स्वभाव नहीं मानते किन्तु परतन्त्र तथा परिनिष्पन्न स्वभावो को मानते है। अन्तिम दो (सौत्रान्तिक और विज्ञान-वादी) वस्तुत अस्ति-नास्तिवादी हैं, जो उक्त गाथा में नास्ति-कोटि में सगृहीत है। उपर्युक्त उभय कोटि के लोगो का ससार-दु ख-शान्त नही हो सकता। इस प्रकार, निर्वाण में न किसी का प्रहाण ही सम्भव है और न निरोध ही, अत वह सर्वकल्पना-क्षय रूप है।

आचार्य नागार्जुन निर्वाण के सम्बन्ध में अन्य वादियों के मत का खण्डन करते हैं।

भावस्तावन्न निर्वाणम्—निर्वाण भाव नही है, अन्यथा उसका जरा-मरण होगा। भाव का लक्षण जरा-मरण है। जरा-मरण रहित खपुष्प होता है।

पुनश्च, यदि निर्वाण भाव है, तो वह सस्कृत होगा, असस्कृत नही, क्योंकि असंस्कृत किसी देश काल या सिद्धान्त में भाव नही होता।

निर्वाण भाव होगा, तो अपनी कारण-सामग्री से उत्पन्न होगा, किन्तु निर्वाण किसी से उत्पन्न नही होता। कोई भाव हेतु-प्रत्यय-सामग्री का विना उपादान किये नही होता।

यद्यभावश्च निर्वाणमनुपादाय तत्कथम्—निर्वाण अभाव भी नही होगा, अन्यथा निर्वाण अनित्य होगा, क्योकि क्लेश-जन्मादि का अभाव निर्वाण है, तो वह क्लेश-जन्म की अनित्यता है। किन्तु, निर्वाण की अनित्यता इष्ट नही है। अन्यथा सबका विना प्रयत्न मोक्ष होगा।

यदि निर्वाण अभाव होगा, तो हेतु-प्रत्यय के विना उत्पादान किये न होगा। कोई भी विनाश किसी का उपादान करके ही होता है। जैसे: लक्ष्य का आश्रयण करके लक्षण

और लक्षण का आश्रयण करके लक्ष्य। अनित्यता के लिए भावो की अपेक्षा आवश्यक है। वन्ध्या-पुत्र आदि किसी का उपादान करके नही हैं, इसीलिए वह अभाव भी नही है, क्योकि भाव का अन्यथाभाव अभाव है। वन्ध्यापुत्रादि तुच्छ है।

तस्मान्न भावो नाभावो निर्वाणमिति युज्यते—निर्वाण भाव और अभाव दोनो नही हैं। भगवान् ने भव-तृष्णा और विभव-तृष्णा दोनो के प्रहाण के लिए कहा है। निर्वाण यदि भाव या अभाव है, तो वह भी प्रहातव्य होता।

यदि निर्वाण भाव और अभाव दोनो है, तो सस्कारो का आत्मलाभ और उनका नाश दोनो ही निर्वाण होते। किन्तु, सस्कारो को मोक्ष कोई स्वीकार नही करता।

सिद्धान्त-सम्मत निर्वाण—इसमें कोई सन्देह नही है कि जन्म-मरण-परम्परा हेतु-प्रत्यय-सामग्री का आश्रयण करके चलती है। जैसे प्रदीप-प्रभा या बीजाकुर। अत, निर्वाण एक ऐसी अप्रवृत्ति है, जो जन्म-मरण-परम्परा के प्रबन्ध का उपादान नही करती। वह अप्रवृत्ति-मात्र है, उसे आप भाव या अभाव नही कह सकते। जिसके मत में संस्कारो का ससरण होता है, उसके मत मे भी उत्पाद और निरोध अपेक्षावश सिद्ध होते हैं, किन्तु निर्वाण अपेक्षा न करके (अप्रतीत्य) अप्रवर्त्तमान होता है। जिसके मत मे पुद्गल का संसरण अभिप्रेत है, और पुद्गल नित्यत्वेन-अनित्यत्वेन अवाच्य है, उसके मत में भी जन्म-मरण-परम्परा उपादानो की अपेक्षा करके होती है, और निर्वाण उपादान न कर अप्रवृत्ति-मात्र है। इस प्रकार, संस्कारो का संसरण मानें या पुद्गल का, निर्वाण भाव या अभाव या उभय नही है।

एक प्रश्न है कि निर्वाण भाव, अभाव या उभय रूप नही है, इसका किसने प्रत्यक्ष किया है? क्या निर्वाण में कोई प्रतिपत्ता है? यदि है, तो निर्वाण में भी आत्मा होगा, किन्तु निरुपादान आत्मा उस समय रहेगा कैसे? यदि कोई प्रतिपत्ता नही है, तो उपर्युक्त सिद्धान्त का निश्चय किसने किया? यदि ससारावस्थित ने किया, तो उसने विज्ञान से निश्चय किया या ज्ञान से? विज्ञान से सम्भव नही है, क्योकि विज्ञान निमित्त का आलम्बन करता है, किन्तु निर्वाण मे कोई निमित्त नही है। ज्ञान से भी ज्ञात नही होगा, क्योकि ज्ञान शून्यता का आलम्बी है, और शून्यता अनुत्पाद-रूप है। ऐसी अवस्था में ज्ञान अविद्यमान एव सर्वप्रपचातीत हुआ, उससे निर्वाण के भावाभाव का निश्चय कैसे होगा? इसलिए, माध्यमिक-सिद्धान्त में निर्वाण किसी से प्रकाश्यमान, और गृह्यमाण नही है।

निर्वाण से संसार का अभेद

निर्वाण के ही समान निर्वाण के अधिगन्ता तथागत में भी उक्त चार कल्पनाएँ (निरोध के पूर्व तथागत है, या नही, उभय या नोभय) नही की जा सकती। तथागत की स्थिति में या निर्वाण में उनकी सत्ता सिद्ध नही होती। अतः, विचार करने पर ससार और निर्वाण मे भेद सिद्ध नही होता। ससार निर्वाण के अभेद से ही ससार की अनादि-अनन्तता भी उपपन्न होती है। आचार्य कहते हैं कि निर्वाण की कोटि (सीमा) और ससार की कोटि के मध्य किसी प्रकार का कोई सूक्ष्म भी भेद नही है।

ससार तथा निर्वाण प्रकृतितः शान्त, एकरस हैं, इससे उन समस्त दृष्टियों का समाधान होता है, जिन्हें भगवान् ने अव्याकरणीय कहा था ।

तथागत के प्रवचन का रहस्य

वादी कहता है कि आपने उपर्युक्त विवेचन से निर्वाण का भी प्रतिषेध कर दिया। ऐसी स्थिति में निर्वाण के अधिगम के लिए सत्त्वो के अनन्त चरितो का अनुरोध कर भगवान् ने जो धर्म की देशना की है, वह सब व्यर्थ होगी।

चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि यदि धर्म स्वभावत हो, और कुछ सत्त्व उसके श्रोता हो, भगवान् बुद्ध नाम का कोई देशिता हो, तो अवश्य आपका कहना ठीक हो, किन्तु रहस्य यह है कि इन समस्त निमित्तो का उपलम्भ नही होता, जिससे यह ज्ञात हो सके कि देव-मनुष्यो को किसी भगवान् ने साक्लेशिक, व्यावदानिक धर्मों का उपदेश किया था। आचार्य कहते हैं कि निर्वाण प्रपचोपशम तथा शिव है, क्योकि उसमें—

सर्वप्रपञ्चोपशम·—समस्त निमित्त-प्रपचो की अप्रवृत्ति है।

शिव—शिव है, क्योकि निर्वाण का यह उपशम प्रकृति से ही शान्त है, अथवा वाणी की अप्रवृत्ति से प्रपचोपशम है, और चित्त की अप्रवृत्ति से शिव है, अथवा क्लेशो की अप्रवृत्ति से प्रपचोपशम है, तथा जन्म की अप्रवृत्ति से शिव है, अथवा क्लेश के प्रहाण से प्रपचोपशम है, और निरवशेष वासनाओ के प्रहाण से शिव है; अथवा ज्ञेय की अनुपलब्धि से प्रपचोपशम है, और ज्ञान की अनुपलब्धि से शिव है।

यत, भगवान्, बुद्ध उपर्युक्त सर्वप्रपचोपशम एव शान्तरूप निर्वाण में, आकाश में राजहस के समान स्थित हैं, यत· किसी निमित्त का उपलम्भ नही है, अत कही किसी के लिए कोई धर्म बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट नही हुआ। चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि बुद्ध अपने पुण्य और ज्ञान के सम्भार से निरालम्ब में स्थित हैं। उन्होने जिस रात्रि में बोधि प्राप्त की और जिस रात्रि में निर्वाण लाभ किया, इस बीच एक अक्षर का भी व्याहार नही किया।

प्रश्न है कि बुद्ध ने जब कुछ देशना नही की, तब ये विचित्र विविध प्रवचन क्या हैं?

चन्द्रकीर्त्ति कहते हैं कि ये प्रवचन अविद्या-निद्रा मे लीन तथा स्वप्न देखते हुए मनुष्यो के अपने ही विभिन्न विकल्पो के उदय है। तथागत-परीक्षा में तथागत की प्रतिबिम्बभूतता दिखाई गई है, अतः तथागत ने कोई धर्म-देशना नही की। धर्म-देशना के अभाव में निर्वाण भी सिद्ध नही होता। भगवान् ने गाथा में कहा है कि लोकनाथ ने निर्वाण के रूप में अनिर्वाण की ही देशना दी। वस्तुत, भगवान् का यह कार्य आकाश क द्वारा डाली गई गाँठ का आकाश के द्वारा मोचन करने के समान है।

अनिर्वाणं हि निर्वाणं लोकनाथेन देशितम्।
आकाशेन कृतो ग्रन्थिराकाशेनैव मोचित ॥ (म०का०वृ०, पृ० ५४०)

पंचम खण्ड

[बौद्ध-न्याय]

विंश अध्याय

विषय-प्रवेश

भारतीय सभ्यता का स्वर्णयुग पाँचवी से सातवीं शताब्दी तक है । इस युग में बौद्धदर्शन में मौलिक परिवर्त्तन हुआ । न्याय तथा ज्ञान-मीमासा उसकी गवेषणा के मुख्य विषय हो गये । इस परिवर्त्तन का बौद्धधर्म पर सामान्यत बडा प्रभाव पडा । इस युग के तीन सूर्य, जिन्होने अपनी प्रतिभा और प्रकाण्ड विद्वत्ता से संसार को देदीप्यमान किया, वसुबन्धु, दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति थे । वसुबन्धु ने न्याय पर कुछ अधिक नही लिखा । उनके शिष्य दिङ्नाग 'प्रमाणसमुच्चयवृत्ति' मे कहते है कि इस विषय मे वसुबन्धु की अभिरुचि नही थी । उन्होने 'वादविधान' नाम के एक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसमें सक्षेप में न्याय के कुछ प्रश्नो का उल्लेख मिलता है । दिङ्नाग के सिद्धान्त के बीज 'अभिधर्मकोश' में यत्र-तत्र पाये जाते है। किन्तु, दिङ्नाग ने सबसे पहले इनको एकत्र कर एक सिद्धान्त से ग्रथित किया, और धमकीर्त्ति ने उसको एक निश्चित रूप प्रदान किया । दिङ्नाग ने न्याय के विभिन्न प्रश्नो पर छोटे-छोटे कई ग्रन्थ लिखे थे, जिनको उन्होने 'प्रमाणसमुच्चय' में संगृहीत किया । धर्मकीर्त्ति ने न्याय पर सात ग्रन्थ लिखे—एक मूल और छह पाद । इनके नाम इस प्रकार हैं—प्रमाणवार्त्तिक, प्रमाण-विनिश्चय, न्यायबिन्दु, हेतुबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, चोदनानामप्रकरण और सन्तानान्तरसिद्धि ।

नागार्जुन ने अपने ग्रन्थ 'विग्रहव्यावर्त्तनी' मे प्रमाण-प्रमेय, लक्ष्य-लक्षण आदि का खण्डन किया है, और उन्होने 'माध्यमिक कारिका' में जिस प्रौढ पद्धति से वादियो के पक्ष का खण्डन किया है, उससे भी इसका अनुमान होता है, कि उनको तर्क की किसी शास्त्रीय पद्धति से परिचय था । वसुबन्धु का 'वादविधि' या 'वादविधान' नाम का कोई प्रमाण ग्रन्थ अवश्य था, जो अभी अनुपलब्ध है । 'न्यायवार्त्तिक' और 'तात्पर्यटीका' आदि मे पूर्वपक्ष के रूप में वसुबन्धु के प्रमाण-लक्षणो को उद्धृत किया गया है । किन्तु, उपलब्ध सामग्री के आधार पर यही कहा जा सकता है कि न्याय के क्षेत्र मे बौद्धो ने कुछ पीछे प्रवेश किया। जब दिङ्नाग ने 'प्रमाणसमुच्चय' की रचना की, तब प्रमुख भारतीय दर्शन पहले ही न्याय के मौलिक प्रश्नो पर अपना मत प्रतिपादित कर चुके थे।

प्रत्येक दर्शन को अपनी पुष्टि के लिए न्याय तथा ज्ञानमीमासा (लॉजिक ऐण्ड एपिस्टेमोलॉजी) की आवश्यकता प्रतीत हुई । इसलिए, प्रत्येक दर्शन की अपनी ज्ञानमीमासा और तदनुकूल अपना न्याय है । चार मौलिक दृष्टिया आरम्भ से ही भारतीय दर्शन में विद्यमान रही हैं—आरम्भवाद, सघातवाद, परिणामवाद और विवर्त्तवाद । इनमें से सघातवाद बौद्धो का पक्ष है । केवल धर्मो (एलीमेण्ट्स) का बाह्य अस्तित्व है, सन्तान

या संघात का नही। इस पक्ष में प्रतीत्यसमुत्पाद (=हेतु-फल-परम्परा) का सिद्धान्त काम करता है। हेतु-प्रत्यय-वश धर्मों की उत्पत्ति होती है। हेतु-फल की केवल परम्परा है, अर्थात् इसके होने पर यह होता है। जब वर्ण-संज्ञा की उत्पत्ति होती है, तब उस वस्तुमात्र से ज्ञान की उत्पत्ति नही होती, किन्तु तीन धर्म, अर्थात् विज्ञान, वर्ण-धर्म और चक्षु-धर्म एक साथ उत्पन्न होते हैं। यह तीन भिन्न धर्म समान महत्त्व के हैं।

सर्वास्तिवादी बौद्धो का वाद बहुधर्मवाद है। न्याय-वैशेषिक भी बहुबाह्यवस्तुवादी है। ये दोनो बाह्य वस्तुओ के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। किन्तु, न्याय-वैशेषिक के अनुसार अवयव और संघात दोनो की स्वतन्त्र सत्ता हैं।

वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक प्रकरण मे धर्मो का हम विशद विवेचन कर चुके हैं, किन्तु यहाँ न्याय के उद्गम को स्पष्ट करने के लिए धर्मों का अति संक्षिप्त परिचय देते है।

प्रमाणो के उद्गम की प्रमेय(धर्म)-भूमि बौद्धो का पंचस्कन्ध दो भागो में विभक्त होता है—१. चित्त-चैत्त और २. रूप। रूप-धर्म चार महाभूत या भौतिक रूप के परमाणु हैं। यह चार महाभूत सर्वत्र, अर्थात् सब अप्रतिघ भौतिक रूपो मे सममात्रा में पाये जाते हैं। ये चार महाभूत इस प्रकार हैं—

पृथिवी-धातु (धृति-कर्म), अब्धातु (संग्रह-कर्म), तेजोधातु (पक्ति-कर्म), वायु-धातु (व्यूहन-कर्म)। पृथिवी-धातु का खर स्वभाव है, अब्धातु का स्नेह, तेजोधातु का उष्णता और वायु-धातु का ईरण है।

इस प्रकार, हम देखते है कि यह चार महाभूत या चार धातु-संस्कार (फोर्स) हैं। जल में पृथिवी-धातु भी अपनी वृत्ति को उद्भावित करता है, क्योकि वह नौका का सन्धारण करता है। भौतिक धर्म उन पाँच विज्ञानो के समकक्ष हैं, जिनका आश्रय पंचेन्द्रिय हैं। यह रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श हैं। भौतिक धर्म को अपनी धृति के लिए चार महाभूतो में से प्रत्येक के एक-एक धर्म की आवश्यकता है। अत, बौद्ध-दर्शन में किसी द्रव्य के स्थान में महाभूत-चतुष्क और भौतिक द्रव्य हैं। यह सब स्वतन्त्र तथा सम हैं। किन्तु, हेतु-प्रत्ययवश अन्योन्य सम्बद्ध हैं, जिनके कारण सदा एक साथ इनकी उत्पत्ति होती है। महाभूत धर्म स्वय स्प्रष्टव्य में परिगणित हैं। स्प्रष्टव्य महाभूत तथा भौतिक दोनो को दृढ करता है। संघात-परमाणु कम-से-कम अष्ट-द्रव्यक होता है। इनमें से चार मुख्यवृत्त्या द्रव्य, अर्थात् चार महाभूत है, जो भौतिक रूप (रूप, गन्ध, रस और स्प्रष्टव्य) के आश्रयभूत है, और चार आयतन हैं, जो महाभूतो के आश्रयिभूत हैं। यदि द्रव्य में शब्द की अभिनिष्पत्ति होनी है, तो शब्द का एक परमाणु अधिक होता है। भाजन और सत्त्वलोक में संघात-रूप अधिक जटिल हो जाता है; क्योकि रूप-धर्म सूक्ष्म संस्कार-मात्र निश्चित किये गये हैं, अत चित्त-चैत्त को रूप से पृथक् करनेवाली रेखा अब अनुल्लघनीय न रही। बौद्ध-धर्म म प्रारम्भ से ही यह दो प्रश्न नही पूछे गये हैं—चित्त-चैत्त क्या है, और

रूप क्या है ? किन्तु, उसकी जिज्ञासा इस बात की रही है कि चाहे नाम हो या रूप, पदार्थों के विवेचन से अन्तिम तत्त्व कौन-से ठहरते हैं ?

चित्त-चैत्त को भी उन्होने कतिपय धर्मों में विभक्त किया है। यह धर्म साथ-साथ रहते है; एक दूसरे में मिलते नही, किन्तु हेतु-प्रत्ययवश अन्योन्य सम्बद्ध है। इन नियमो के अनुसार इनका कभी सहोत्पाद होता है, कभी इनकी निरन्तर उत्पत्ति होती है। अत , किसी आत्मा की सत्ता यह स्वीकार नही करते। जिसे दूसरे आत्मा कहते है, वह इनके अनुसार वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान धर्मो का समुदायमात्र है, जिनका कारित्र हेतु-प्रत्यय के नियमो के अधीन है। बौद्ध सघात-द्रव्य को प्रज्ञप्ति मानते हैं, और केवल धर्मो का अस्तित्व स्वीकार करते है। इस सिद्धान्त को वह सर्वत्र, अर्थात् चित्त-चैत्त तथा रूप-धर्मो मे लागू करते हैं। उनके अनुसार द्रव्य-गुण का सम्बन्ध नही है। वेदना (अनुकूल या प्रतिकूल), सस्कार (चेतना), सज्ञा और स्वय विज्ञान यह सब पृथक् धर्म हैं। इनकी सहक्रिया हममें आत्मा का भ्रम उत्पन्न करती है, जो वस्तुत', इन धर्मों के बाहर नही है। जैसा सघात-रूप के लिए है, वैसा ही चित्त-चैत्त के सघात के लिए कम-से-कम एक नियत सख्या के धर्मों का होना आवश्यक है। चित्त-चैत्त मे कुछ मौलिक या सामान्य धर्म होते है, जो चित्त के प्रत्येक क्षण में सदा वर्त्तमान होते हैं, और कुछ ऐसे धर्म है, जो अनियत हैं, जो कुशल-अकुशल है और जो उस क्षण के स्वभाव के कारण हैं।

सामान्य धर्म दस हैं। गौण धर्म की सख्या अनियत है, और यह कभी कुशल कभी अकुशल या अव्याकृत चित्त में होते है। सामान्य धर्म महाभूमिक कहलाते है, क्योकि यह सर्व चित्त में सदा होते हैं। इनका पुन विभाग व्यवदान और सक्लेश के आधार पर किया जाता है। महाभूमिक धर्म इस प्रकार हैं—१ वेदना (सौमनस्य या दौर्मनस्य), २. चेतना, ३ सज्ञा, ४. छन्द, ५. स्पर्श, ६. मति, ७ स्मृति, ८. मनस्कार ९. अधिमोक्ष और १०. समाधि। यह दस महाभूमिक धर्म चित्त को आवृत करते है। विज्ञान के अभाव में यह दस धर्म विज्ञप्ति न होगे। इनके अतिरिक्त दो और धर्म है, जो सब चित्तो में सामान्य है, किन्तु जो कामधातु से उर्ध्व के धातुओ में तिरोहित हो जाते हैं, जब कि वज्ञान समाधि की अवस्था में उन धातुओ में प्रविष्ट होता है। वह वितर्क और विचार है।

वितर्क आलम्बन में चित्त का प्रथम प्रवेश है। आलम्बन में चित्त की अविच्छिन्न प्रवृत्ति विचार है। इसलिए, कहते हैं कि विर्तक औदारिक है, और विचार सूक्ष्म हैं। यह वितर्क और विचार प्रत्येक चित्त के साथ होते हैं, किन्तु जब योगी ध्यानावस्था मे समाधि-बल से रूप-धातु और अरूप-धातु मे प्रविष्ट होता है, तब इनका तिरोभाव होता है, द्वितीय ध्यान से ऊर्ध्व यह नही होते। इन दो को लेकर चित्त-सघात के बाहर परमाणु होते है।

गौण-धर्म, जैसा हमने ऊपर कहा है, कुशल या अकुशल है। कुशल-महाभूमिक धर्म दस हैं—श्रद्धा, वीर्य, उपेक्षा, ह्री, अपत्रपा, अप्रमाद, मूलद्वय, अविहिंसा और प्रश्रब्धि। इस प्रकार कुशल चित्त मे २२ धर्म होते है। सम्प्रयोग-हेतुवश यह सदा एक साथ उत्पन्न होते हैं।

यह सहभू-हेतु से भिन्न हैं। अकुशल चित्त में १२ धर्मों के अतिरिक्त कुछ और धर्म होते है। प्रत्येक अकुशल कर्म के मुल में अह्री और अनपत्रपा पाये जाते हैं। अह्री अगुप्ता है, लज्जा का अभाव है। अवद्य-करण में अह्री का आत्मापेक्षया लज्जा का अभाव है, अनपत्राप्य परापेक्षया लज्जा का अभाव है। यह वह धर्म है, जिसके योग से पुद्‌गल दूसरे के अवद्य का अनिष्ट फल नही देखता। ह्री वह धर्म है, जिसका पालन करना भिक्षु के लिए अति आवश्यक है। अनिष्ट का एक कारण अह्री वताया गया है। वौद्धो का विचार है कि प्रत्येक पापकर्म के पूर्ववर्त्ती चित्त में इन दो धर्मों के प्रभाव पाये जाते हैं।

किन्तु, इस विवेचन मे अनेक कठिनाइयाँ पाई जाती है। कुछ धर्म परस्पर विरोधी हैं। वह एक ही चित्त-क्षण मे साथ नही रह सकते। यथा ' एक ही अर्थ के प्रति प्रेम और विद्वेप साथ नही रह सकते। अन्य का अवश्य सम्प्रयोग हो सकता है, यथा वेदना और सज्ञा का। इसके विपरीत न्यायदर्शन में एक चित्त-क्षण मे एक ही धर्म का अस्तित्व माना जाता है। वौद्धो के अनुसार, यद्यपि चित्त-क्षण में कम-से-कम २२ धर्म माने गये हैं, तथापि उनकी तीव्रता सदा एक-सी नही होती। प्रत्येक चित्त-अवस्था में एक धर्म की प्रधानता होती है, और यह धर्म अन्य धर्मों को कम अधिक अभिभूत करता है।

इसी प्रकार का एक वाद रूप-धर्मों की विविधता को समझाता है। यद्यपि महाभूतचतुष्क सर्वत्न सममात्ना में समान रूप से होते है, तथापि इनमे से किसी एक महाभूत का प्राधान्य और उत्कर्ष हो सकता है, जिसके कारण भौतिक कभी मूर्त्त रूप, कभी तरल द्रव्य, कभी वायु और कभी अग्नि के आकार मे प्रादुर्भूत होता है। अत., इन्ही धर्मो का अस्तित्व है; कोई सघात द्रव्य नही है। यह कहना ठीक नही होगा कि पृथिवी गन्धवती है, क्योकि पृथिवी स्वय एक गन्ध है। द्रव्य प्रज्ञप्तिमात्र है, यथा आत्मा प्रज्ञप्तिमात्र है। यह धर्म सस्कार है। इसकी इमसे भी पुष्टि होती है कि धर्मों का उदय-व्यय क्षणिक है। जिसका अस्तित्व है, वह क्षणिक है। क्षणो की प्रत्येक सन्तति, स्थिति परिकल्प है। दो क्षण जिनका नैरन्तर्य है, दो भिन्न धर्म हैं।

वस्तुत, गति सम्भव नही है। धर्मों के प्रत्येक क्षण का उदय-व्यय होता है। पाणिपाद का आदान-विहरण उसका द्वितीय क्षण में अन्यत्न अभिनव सस्थान के साथ उत्पन्न होना है।

इस प्रकार, धर्म गणितशास्त्र के विन्दु के समान हैं। यह भिन्न सस्कारो के केन्द्र हैं, जिनका प्रति क्षण उत्पाद-विनाश होता रहता है। यही चित्र दो भूमियो में प्रकट होता है। अधोभूमि में विन्दु और क्षण हैं। न कोई द्रव्य है, न वर्ण-सस्थान है, न स्थिति है और न कोई आकार है। ऊर्ध्वभूमि में एक दूसरा लोक है, जो परिकल्प से निर्मित है। अत., दो भिन्न वस्तु है—१. तत्त्व, जहाँ इन्द्रिय विज्ञान और गणित के विन्दु के समान क्षण है, २ व्यावहारिक तत्त्व, जो पर-परिकल्प द्वारा पहले पर आरोपित होता है।

दिङ्नाग ने ज्ञान की जो मीमासा की है, उसका आरम्भ इसी विचार से होता है। प्रमाण दो है; केवल दो हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान, क्योकि विशेष और सामान्य यही विषय के दो प्रकार है। 'विशेष' का समकक्ष 'क्षण' है, जो सर्व का आधार है। 'सामान्य' हमारी कल्पना के निर्माण के तुल्य हैं। 'विशेष' से वह विशेष समझना चाहिए, जो विवेचन से सिद्ध होता है, वह विशेष, जो सर्व सामान्य लक्षणो से रहित है। 'विशेष' से अभिप्राय किसी अर्थ-विशेष से नही है, जिसमे सामान्य गुण पाये जाते हैं। दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति का विज्ञानवाद इसमे है कि वह तत्त्व की दो भूमियाँ सिद्ध करते है—एक परमार्थ द्रव्य, जिसका कोई रूप नही है, जो परिकल्प-निर्माण का आधारमात्र नही है। दूसरी भूमि यह परिकल्प है। यह दूसरे प्रकार का तत्त्व शुद्ध कल्पना या आभास नही है। यह मृगमरीचिका, आकाशकुसुम, शशशृंग के समान कल्पनामात्र नहीं हैं।

दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति का सिद्धान्त उस वाद का प्रत्यक्ष फल है, जो प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमानाश्रित ज्ञान में मौलिक भेद करता है।

कालवाद

बौद्धो के ज्ञान-सिद्धान्त का विवेचन करने के पूर्व हम काल और दिक् पर विभिन्न समय में निरूपित वादो पर विचार करेंगे।

शकर, माधव और अन्य दार्शनिक अपने विवेचन मे कालवाद और दिग्वाद को शीर्ष स्थान देते हैं, और बौद्धो के वाद का खण्डन करते हैं। दिङ्नाग, धर्मकीर्त्ति और धर्मोत्तर ने इसका सविस्तर वर्णन नही दिया है, किन्तु उन्होने ऐसा इसलिए किया, क्योकि वह समझते थे कि सब उनसे परिचित हैं, और सब जानते हैं कि उनके शास्त्र की यह पीठभूमि है। दिग्वाद पर सामग्री स्वल्प है, अधूरी और अस्पष्ट है। विज्ञानवादियो के लिए भी इसका महत्त्व न था।

बाह्य जगत् की अविद्यमानता के प्रमाण से दिक् की अविद्यमानता अनिवार्य रूप से सिद्ध होती है। अन्य दर्शनो में काल को एक स्वतन्त्र पदार्थ माना है, जिसका सम्बन्ध द्रव्यो से हो सकता है, अथवा उसे द्रव्यो का एक गुण माना है। शाश्वत काल का वाद भी मिलता है, जो सकल भव का प्रथम कारण है। अन्त में, बौद्धो का वाद काल की सत्ता का प्रत्याख्यान करता है। दिक् एक और शाश्वत है, यह भी वाद मिलता है। बौद्ध इसका भी प्रत्याख्यान करते हैं। किन्तु, दिग्वाद के प्राचीन रूप का समझना पारिभाषिक शब्दो के कारण कठिन हो गया है।

दिक् के अतिरिक्त 'आकाश' शब्द का भी व्यवहार होता है। इन शब्दो का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया जाता है। कभी इसे अनन्त का प्रतीक माना गया है, और इस रूप में यह काल और दिक् दोनो को व्याप्त करता है। कभी इसका अर्थ अन्यथात्व होता है। ये दो शब्द दिक् और आकाश साथ-साथ दो भिन्न द्रव्यो को ज्ञापित करते है, किन्तु उनका

सम्बन्ध स्पष्ट नही है। कभी आकाश एक द्रव्यविशेष बताया जाता है; जिसका गुण शब्द है। शब्द गुण है, न कि द्रव्य। यह आकाश का लिंग है, क्योकि शब्द से आकाश का अनुमान होता है।

दिक् और काल के सिद्धान्त एक दूसरे के समकक्ष है, षड् दर्शनो मे से कोई भी दर्शन इससे आरम्भ नही होता, यद्यपि सब इन प्रश्नो का उल्लेख करते हैं। वैशेषिक में इस पर विशेष ध्यान दिया गया है। उसमें इन दोनो को नौ द्रव्यो में परिगणित किया है। दिक् के अतिरिक्त आकाश-द्रव्य भी नौ में गिनाया गया है। पहले हम कालवाद की समीक्षा करेंगे।

काल का उद्गम

भारतीय दर्शन के विकास का इतिहास उस कथा से आरम्भ होता है, जिसके अनुसार विराट् पुरुष ने ससार की सृष्टि की। इस कथा के अनुसार पुरुष ने, जिसको वेद मे प्रजापति कहा है, अनेक विकल्पो द्वारा अपने में से दृश्य भाजन-लोक और सत्त्व-लोक को प्रकट किया। इसी प्रजापति को ब्रह्मन्, आत्मन् कहते हैं। कदाचित् बौद्धधर्म मे यह महापुरुष तथागत हैं, ब्राह्मण-धर्म में यह गुण विष्णु और शिव का बताया गया है।

जिन द्रव्यो को पुरुष ने अपने मे से प्रकट किया, उनमे से एक काल है, जिसे प्राचीन सवत्सर कहते थे। उस समय काल शब्द का प्रयोग एक दूसरे ही अर्थ मे होता था। ऋग्वेद (१०।१९०।२) के अनुसार 'सवत्सर' की उत्पत्ति अर्णव　　से सबसे पहले हुई। बृहदारण्यक (१।२।४) के अनुसार पुरुष ने सबसे पहले 'वाच्' को प्रकट किया और पश्चात् स्वय मनस् द्वारा उसके साथ मृत्यु और बुभुक्षा के रूप में सम्भोग किया। जो शुक्र स्खलित हुआ, वही सवत्सर था। इसके पूर्व सवत्सर न था। मृत्यु का अपत्य सवत्सर स्वय मृत्यु है। अत, विश्व का जो भाग इससे व्याप्त है, वह नाशशील और अनित्य है। काल को सहार और नियति का देवता मानना, काल का यम के साथ तादात्म्य, दैव-विधि में जो विश्वास है, उसके साथ काल का सम्बन्ध होना, इन सब विचारो का उद्गम-स्थान यही कथा है।

सृष्ट काल के परे अमृत पदार्थ है, जिसका अन्त नही है, जिसकी इयत्ता नही है, और जो अकल, अनवयवी है। विश्व के ऊर्ध्वभाग को यह व्याप्त करता है। किन्तु, इसके अतिरिक्त अनन्त और सभाग होने के कारण यह भूतकोटि को पार कर परमार्थ के आयतन तक भी पहुँचता है। पुरुष के स्वभाग से इसका तादात्म्य है। उस अवस्था मे इसका तादात्म्य है, जो सृष्टि-क्रिया के पूर्व वर्त्तमान थी। पीछे के कुछ वाक्यो मे शाश्वत के इस पदार्थ को काल भी बताया गया है। किन्तु, यह विरोध भासतामात्र है। जो काल विभाज्य है, सकल है, परिवर्त्तनशील है, और प्रवाहित होता रहता है, वह शाश्वत काल का उपाधिमात्र है। अन्ययात्व, अनित्यता और मृत्यु शाश्वत के गर्भ मे केवल क्षोभमात्र है। वही देवता जो बुभुक्षा और मृत्यु के रूप में 'वाच्' में शुक्र-स्खलन करता है, वही साथ-साथ अपने वास्तविक स्वभाववश मृत्यु के परे है। वह शाश्वत है, अमितायु है। उसके लिए मृत्यु नही है। एक शब्द में वह शाश्वत काल है।

इस अर्थ मे जैसा कि ब्राह्मणो में कहा गया है, प्रजापति सवत्सर है। इसका सादृश्य बौद्धो के अमितायु से है। वैदिक हिन्दुओ का यही काल है, जिसका तादात्म्य शिव (महाकाल) और विष्णु से किया जाता है। इस कोटि के देवता काल = मृत्यु से उतना ही भिन्न है, जितना कि शाश्वतकाल सृष्टकाल से भिन्न है। जैसा कि उस पुरुष के लिए उचित है, जो सब द्वन्द्वो का अन्तिम प्रभव है और जो स्वय उनसे ऊर्ध्व और बहुत दूर रहता है। यह ईश्वर-काल सर्वथा उदासीन है। वह किसी के साथ पक्षपात नही करता।

दोनो कालो--शाश्वत और औपाधिक--के सम्बन्ध मे कल्पना है कि यह एक प्रकार का सूक्ष्म द्रव्य है, जो दिक् को व्याप्त करता है। सृष्ट और शाश्वत काल मे मुख्य भेद यह है कि पूर्व विभाज्य और मित है, और अपर सभाग (पूर्व-सदृश) अनवयवी और अनन्त है। औपाधिक काल विश्व के उस अधरभाग को व्याप्त करता है, जिसका निर्माण भौतिक रूप से हुआ है, और जो सूर्य के अधस्तात् है। शाश्वत काल दूसरी ओर के अभौतिक आयतनो को व्याप्त करता है। उदाहरण के लिए हम तीन उद्धरण देते हैं--

१ जैमिनीय ब्राह्मण (१ ब्रा०)---"सूर्य के दूसरी ओर यत्किंचित् है, वह अमृत है, किन्तु जो इस ओर है, वह दिवा-रात्र (औपाधिक काल, मृत्यु) से निरन्तर विनष्ट होता रहता है। सूर्य के दूसरी ओर अनेक लोक है।"

२ बृहदारण्यक (४।४।१६)— "जिसके नीचे सवत्सर की गति होती है, उस अमृत (प्रकाशो के प्रकाश) पर देवता उपासना करते हैं।"

३. मैत्रायणी उपनिषद् (६।१५)—"ब्रह्मन् के दो रूप है—काल-अकाल। जो सूर्य के प्राक् है, वह अकल काल है, जो सूर्य से प्रारम्भ होता है, वह सकल काल है। दूसरे शब्दो मे शाश्वत-अभौतिक तथा अनित्य-भौतिक के बीच की सीमा देवताओ की उच्चकोटि है, जिसपर सूर्य चक्कर काटता है।"

काल एक सूक्ष्म द्रव्य है। यह विचार पीछे के अधिकाश दर्शनो मे पाया जाता है। वैशेषिक के अनुसार काल नौ द्रव्यो में परिगणित है। मीमासक भी उसे द्रव्य की सूची मे गिनाते है। जैनागम के अनुसार काल अस्तिकाय नही है, क्योकि इसमे प्रदेश नही है, तथापि यह द्रव्य है।

कालवाद का आधार

इन सब कालवादो का आधार लगभग एक ही है। उसके लिए मुख्यत दो युक्तियाँ है---

१ भाषा मे काल-सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए कई शब्द हैं—युगपत्, पूर्व, अपर आदि। पुन. प्रत्ययो की सहायता से भाषा क्रिया के काल-भेद को व्यक्त करती है---क्रियते-कृतम्, करिष्यति।

हम अपने नित्य के व्यवहार में इन सब शब्दो का प्रयोग करते हैं। अतः, इनका व्यहारत्व सिद्ध होता है, जो सम्भव न होता, यदि इनका आधार काल्पनिक होता; अर्थात् यदि काल-सम्बन्ध को व्यक्त करनेवाले सब शब्दो के समकक्ष और इनसे सम्बद्ध सब भावो के समकक्ष कोई एक भिन्न वस्तु, एक विशेष द्रव्य न होता। दूसरे शब्दो में यह आवश्यक है कि हम काल शब्द और काल-संज्ञाओ को किसी वास्तविक काल से सम्बद्ध करें।

वैशेषिकसूत्र (२।२।६) का यही अर्थ है——"पूर्व, अपर, युगपत्, अयुगपत्, चिर और क्षिप्र काल के लिग है।" वलदेव विद्याभूषण भी, जो गोविन्द-भाष्य के ग्रन्थकार हैं, यही कहते हैं—**कालश्च भूतभविष्यद्वर्त्तमानयुगपच्चिरक्षिप्रादिव्यवहारहेतुः।**

२ दूसरी युक्ति का सम्बन्ध इहलोक (= दृष्टधर्म) की सकल वस्तुओ की अनित्यता और अन्यथात्व से है। असाधारण कारणो से कार्यों की उत्पत्ति होती है, किन्तु इनके अतिरिक्त एक साधारण कारण भी है, जिस हेतु से कार्यों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश होता रहता है। दृश्य जगत् के प्रत्येक वस्तु की यह तीन अवस्थाएँ सर्वसाधारण हैं। असाधारण कारण इनके लिए पर्याप्त नही है। दूसरी ओर काल इसका साधारण कारण माना जा सकता है। इसीलिए, प्रशस्तपाद मे काल का लक्षण इस प्रकार वर्णित है—"सब कार्यों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का हेतु काल है।

काल-द्रव्य स्वभावत इन्द्रियगोचर नही है। उसकी सत्ता का अनुमान अप्रत्यक्ष रूप से उसके सामर्थ्य से ही हो सकता है, जिस प्रकार मनस्, आत्मा और आकाश के विद्यमान होने का हम अनुमान करते है। प्रभाकर का यह मत अवश्य है कि काल षडिन्द्रिय-ग्राह्य है, और उसका अनुमान युगपद् भाव आदि से न करना चाहिए। केवल प्रभाकर ही एक ऐसे है, जो अन्य कालवादियो से भिन्न मत रखते हैं।

काल और आकाश की समानता, उसके लक्षण

मीमासक, वैशेषिक और कुछ अश में वेदान्ती सर्वसम्मति से काल-द्रव्य के निम्नांकित चार लक्षण बताते है—

१. सूक्ष्मत्व, २ विभुत्व, ३ नित्यत्व और ४ एकत्व (अनवयवत्व)। आकाश के भी यही लक्षण हैं। इस प्रकार, भारतीय दर्शन में काल और आकाश अभौतिक तथा भौतिक द्रव्यो के बीच में है। अभौतिक के समान इनमें सूक्ष्मत्व, एकत्व और नित्यत्व है, तथा भौतिक द्रव्यो के समान इनमें अचेतनत्व और जाड्य है। फलस्वरूप, भारतीय दृष्टि में काल और अकाश के बीच कुछ साम्य है। यह दो द्रव्य हैं, जिनमें सब सस्कृत धर्म (भाव) डूबे हैं।

पुन यह दो द्रव्य ऐसे हैं, जो पृथिवी, अप्, तेज और वायु से केवल इस बात में भिन्न हैं कि इनका सूक्ष्मत्व अधिक मात्रा में है। यही कारण है कि यह स्थूल वस्तुओ को विना प्रतिघात के व्याप्त कर सकते हैं।

सूक्ष्म-नित्य काल का अनवयवत्व, सभागत्व और अनन्तत्व वहु सम्प्रदायो को इष्ट है। इसी को हम दूसरे शब्दो में यों कह सकते हैं कि काल एक और असम है। इसकी जाति नही है, तथापि हम क्षणादि के विभागों का उल्लेख करते है।

इन दो को हम कैसे समझें ? इस कठिनाई का यह ममाधान है—उपाधिवश ऐसा होता है। जैसे एक आकाश घटादिवश अनेक विभागो में विभक्त दीखता है, वैसे ही काल एक होते हुए भी क्षण से आरम्भ कर परार्द्ध तक वृहत् और लघु काल-विभागो में विभक्त हुआ भासमान होता है। अत', काल के यह सब विभाग औपचारिक हैं; क्योकि वस्तुत हम काल का मान नही लेने, किन्तु केवल उन भौतिक द्रव्यो का मान लते है, जिनका काल में अवस्थान है—**कालस्यापि विभुत्वेऽपि उपाधिवशादौपाधिको भेदव्यवहारोऽस्ति** (मानमेयोदय, पृ० १६१)।

मीमांसक निम्नाकित दृष्टान्त भी देते हैं। जैसे नित्य, सर्वगत वर्ण दीर्घादि रूप में ध्वनि की उपाधि के कारण विभक्त भासित होते हैं, वैसे ही काल भी स्वय अभिन्न होते हुए सूर्य की गति-क्रियावश भिन्न भासित होता है। (**यथा हि वर्णो नित्य सर्वगतोऽपि दीर्घादिरूपेण विभक्तो भासते ध्वन्युपाधिवशात्, तथा कालोऽपि स्वयमभिन्नोऽपि आदित्यस्य गतिक्रियोपाधिवशाद् भिन्नो भासते।**)

अत , विभु-सूक्ष्म काल की विविधता स्थूल द्रव्य, उसकी गति और उसकी उपाधि के कारण है।

काल के विभक्त होने के प्रश्न से एक दूसरा जटिल प्रश्न सम्वद्ध है, जिसका सम्वन्ध अनित्यता के प्रश्न से है। काल-प्रवाह में जो पतित होता है, वह अनित्य है और उसका अन्यथात्व होता है। काल विकल्प-भावो को जन्म देता है, उसका पाक करता है (पचयति) और अन्त में उनका भक्षण करता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि काल भावो की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का साधारण कारण है, भव के यह तीन आकार है। इनके समकक्ष काल तीन विभागो में विभक्त किया जाता है। इन तीनो विभागो का तादात्म्य भविष्यत्, वर्त्तमान और भूत इन तीन कालो से है—**कालस्तूत्पत्तिस्थितिविनाशलक्षणस्त्रिविध** (सप्तपदार्थी, १४)।

मिनभाषिणी में है—**कालस्योपाधिकं विभागमाह उत्पत्तीति। पदार्थानामामुत्पत्तिस्थितिविनाशैर्लक्ष्यत इत्युत्पत्तिस्थितिविनाशलक्षण उत्पत्त्या भविष्यत्, स्थित्या वर्त्तमानः, विनाशेन भूतकालो लक्ष्यत इति त्रिविध.।**

यह विभाग केवल औपाधिक है। (काल एक, अनवयवी, अकलद्रव्य है) दूसरे शब्दो में काल में स्वयं गति नही है, किन्तु व्यवहार में जो भाव इसके प्रवाह में पतित है, उनकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश होता है, और इस अन्ययात्व का प्रतिविम्व काल के पट पर पड़ता है, और ऐसा भासित होता है, मानो काल के तीन विभाग हो गये हों।

विभाषा में कालवाद

अब हम उन दर्शनो को लेंगे, जो काल को द्रव्य के रूप मे नहीं स्वीकार करते है।

सांख्य—पहले हम साख्य को लेते है। वाचस्पतिमिश्र (साख्यतत्त्वकौमुदी, ३३) कहते हैं कि जिस काल को वैशेषिक द्रव्य के रूप मे ग्रहण करते है, वह अकेले भविष्यत् आदि शब्द-भेदो का उत्पन्न नहीं कर सकेगा। काल केवल उपाधि है, जिसके भेद के कारण भविष्यत् आदि भेद उत्पन्न होते है। अत, साख्य काल को आवश्यक समझते हैं और यही कारण है कि वह काल को तत्त्वान्तर के रूप में ग्रहण नहीं करते (न कालरूपतत्त्वान्तराभ्युपगम इति)।

इसके होते हुए भी साख्य वस्तुत वैशेषिक आदि से आगे न बढ़ सका। शाश्वत और सृष्ट काल का भेद इस रूप मे सुरक्षित है कि शाश्वत प्रकृति का गुणविशेष है, और सृष्ट काल को आकाश मान लिया है, जो सूर्य और ग्रहो की गतिक्रिया है।

साख्यवादी भी काल को साधारण कारण मानते हैं—

ननु आत्मा स्वभावतो न बद्ध, किन्तु कालवशाद्बद्धो भविष्यतीत्याह—'न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात्। भवत्वयम्, यदि तस्य कदापि कालयोग स्यात्, न स्याद् वा। नित्यस्य व्यापिन सर्वकालसम्बन्धोपाधित्वात्।'

इसका प्रत्याख्यान नहीं है कि काल (यथा आकाश, कर्म आदि) का 'परकारणत्वं सामान्यरूपेण' होता है। केवल इसका प्रत्याख्यान है कि यह एक असाधारण कारण है। वास्तव में, साख्य ने कालवाद पर कोई अन्वेषण करने की उत्सुकता नहीं दिखाई है। उसने केवल काल को एक पृथक् तत्त्व नहीं माना है, किन्तु इसने कालवाद-सम्बन्धी अन्य विचारो का अनुकरण किया है।

वस्तुत, कालवाद का विवेचनात्मक विश्लेपण करने का श्रेय बौद्धधर्म को है। सामग्री की कमी से विषय का सविस्तर वर्णन सम्भव नहीं है, किन्तु कुछ तथ्य निश्चित हो सकते हैं। कोई ऐसा कालवाद नहीं है, जो सब निकायो को समान रूप से मान्य हो। इसलिए, यदि हम कहें कि बौद्ध कालवाद का खण्डन करते हैं, तो यह वर्णन केवल कुछ मुख्य निकायो में ही लागू होगा।

त्रिपिटक पूर्व—त्रिपिटको की रचना के पूर्व ही बौद्धधर्म का प्रभव हुआ था, और उसी समय बौद्धधर्म का वह रूप, जो हीनयान के विकास के पूर्व का है, प्रचलित था। योगाचार के १०० धर्मो की सूची में दिक् के साथ काल भी विप्रयुक्त सस्कार के अन्तर्गत परिगणित है। इसका उल्लेख अपेक्षया पीछे के ग्रन्थो में मिलता है, इस युक्ति का कोई महत्त्व नहीं है। हीनयान की अपेक्षा महायान के बौद्धधर्म के प्राचीन अग कहीं अधिक सुरक्षित पाये जाते हैं। खोज करने पर हीनयान के साहित्य में भी इसके प्रमाण पाये जायेंगे। जबतक ऐसा नहीं होता, तबतक हम केवल इसका अनुमान ही कर सकते है कि हीनयान के पूर्वकाल मे बौद्धो की काल के सम्बन्ध में क्या कल्पना थी?

प्राचीन बौद्धधर्म में—कुछ विद्वानो का ऐसा अनुमान है, उपनिषदो के समान इसमें केवल रूप को ही अनित्य माना जाता था, और अन्य सूक्ष्म धर्म जैसे चित्त, विज्ञान आदि अनित्यता के परे थे। यह सम्भव है कि बौद्धधर्म मे भी इस कल्पना का सम्बन्ध काल के दो भेद से भी रहा हो—एक अनवयवी और नित्य तथा अमृत से अभिन्न और दूसरा औपाधिक अवयवी-सकल और अनित्य वस्तुओ की उत्पत्ति को निश्चित करनेवाला। यह भी हो सकता है कि शाश्वत काल आकाश या विज्ञान के तुल्य एक भिन्न आयतन न रहा हो, किन्तु वह केवल एक प्रवाह था, जो सूक्ष्म और स्थूल रूपी द्रव्यो को व्याप्त करता था। इतना तो कहा ही जा सकता है कि काल से औपाधिक द्रव्यो की उत्पत्ति होती है, इस कल्पना का समर्थन बौद्ध साहित्य में भी है।

महाविभाषा (पृ० ३९३ ए) मे निम्नांकित मिथ्यादृष्टि का उल्लेख है—काल का स्वभाव नित्य है, किन्तु सस्कृत धर्मों का स्वभाव अनित्य है। सस्कृत धर्म काल के भीतर वैसे ही भ्रमण करते है, जैसे एक फल एक भाण्ड से दूसरे भाण्ड मे अथवा जैसे एक पुरुप एक गृह से दूसरे गृह मे। इसी प्रकार सस्कृत धर्म भविष्यत् से निकलकर वर्त्तमान में आते हैं, और वर्त्तमान से निकलकर भूत मे प्रविष्ट होते है। हम यह मान सकते है कि जहाँ पूर्व में काल की कल्पना एक ही विभु भाण्ड के रूप मे थी, जिसमे भविष्यत्, वर्त्तमान और भूत ये तीनो एक दूसरे के ऊपर तह-में-तह लगाये हुए हैं, वहाँ पीछे तीनो भाण्डो की कल्पना हो गई।

इस सम्बन्ध में एक और बात कही जा सकती है। अभिधर्मकोश (तीन कोशस्थान, पृ० ६३) में त्रैकाल्यवाद का एक ऐसा स्वरूप मिलता है, जिसमे भविष्यत् में उत्पन्न होने-वाले कार्य का वर्त्तमानीकरण देशान्तर-कर्षण से होता है। सौत्रान्तिको का यह आक्षेप यथार्थ है कि इस कल्पना के आधार पर हम अरूपी धर्मो (चित्त-चैत्त) की उत्पत्ति नही समझा सकते, क्योकि वह अदेशस्थ है। किन्तु, यह आपत्ति पीछे के उन्ही विद्वानो पर लागू होती है, जो अरूपी धर्मो को भी अनित्य मानते हैं। परन्तु, पूर्व हीनयान मे केवल रूपी धर्म ही अनित्य हैं, और इसलिए देशान्तर-कर्पण का सिद्धान्त वहाँ पूर्णत सफल होता है, और इस प्रकार उनकी प्राचीनता की पुष्टि भी होती है।

काल के इस सिद्धान्त के साथ कि वह एक भाण्ड है, जिसमे भविष्यत्, वर्त्तमान और भूत अवस्थान करते हैं, एक और प्रश्न जुडा है। यदि प्रवृत्ति, अर्थात् जीवन की प्रक्रिया यही है कि भविष्यत् वर्त्तमान से होकर भूतकाल मे पतित होता है, तो कभी-न-कभी एक क्षण ऐसा अवश्य आना चाहिए, जब कि सकल भविष्यत् नितान्त रूप से समाप्त हो जायगा; और सकल विश्व केवल भूत हो जायगा। यह विवाद किसी ग्रन्थ में नही मिलता, किन्तु विभापा (पृ० ३९५ ए) मे एक विवाद है, जिससे यह अनुमान होता है कि उसका आधार ऐसा ही कोई विचार है—"सर्व भविष्यत् धर्म वहिर्गमन से सम्बन्ध रखते है (अर्थात्, धर्म भविष्यत् से निकलकर भूत में प्रविष्ट होता है)। यह क्यो कहा जाता है कि भविष्यत् मे कोई हानि प्रज्ञप्त (प्रज्ञप्यन्ते) नही होती।" भदन्त वसुमित्र इसका यह उत्तर देते हैं—"भविष्यत् धर्मो की गणना गणना नही हो सकती, और भूतो की गणना अब सम्भव नही है। दोनो अमित और इयत्ता से रहित हैं।

जिस प्रकार महासमुद्र में कोई कमी नही होती, चाहे जल के १,००,००० घड़े उसमे कोई निकाले; और कोई वृद्धि नही होती, चाहे १,००,००० घडे उसमें कोई डाले।"

इस दृष्टान्त का क्या अर्थ है? अनन्त मे कोई भी मित सख्या का योग हो, या उससे कोई भी मित सख्या निकाली जाय, तो परिणाम सदा अनन्त निकलेगा। किन्तु सत्य तो यह है कि कोई महा-समुद्र अनन्त नही है। हम केवल उसके जल-कणो को गिन नहीं सकते। जैसे गगा की वालुका के कणो का गिनना सम्भव नही है, यद्यपि उनकी सख्या मित है। अत, वस्तुत वसुमित्र इसका प्रत्याख्यान नही करते कि भूत धर्मों की वृद्धि होती है, और भविष्यत् धर्मों का ह्रास होता है। उसका आशय इतना ही है कि भविष्यत् और भूत की विपुलता को देखते हुए यह कहना कि धर्मों की वृद्धि या हानि होती है, व्यवहार में कोई महत्त्व नही रखता।

इस दृष्टि का उद्देश्य अनुमित हो सकता है। कदाचित् इच्छा यह थी कि पुराने बौद्ध विचार को सुरक्षित रखा जाय कि भविष्यत् भूत में प्रविष्ट होता है, और साथ-ही-साथ वह इस परिणाम से भी वचना चाहते थे कि सकल विश्व स्वत. निरोध के लिए प्रयत्नशील है। यह विचार महायान और कदाचित् पूर्व बौद्धधर्म का था, किन्तु हीनयानियो को यह स्वीकार न था; क्योकि इसके मानने से निर्वाण के लिए व्यक्ति का प्रयत्न निरर्थक हो जाता, कम-से-कम उनका महत्त्व घट जाता।

अब हम सघभद्र के 'न्यायानुसारशास्त्र' (पृ० ६३६ ए १४) मे एक उद्धरण देते हैं, जिसमें एक विरोधी का विवाद दिया है, जो त्रैकाल्यवाद को नही मानता। भूत और भविष्यत् वस्तुत धर्म नही है, क्योकि यदि उनका अस्तित्व होता, तो वह पस्पर प्रतिघात करते। वस्तुतः, रूपी धर्म को देशस्थ होना चाहिए। यदि वह धर्म, जो विनष्ट हो चुके हैं, और जो अभी उत्पन्न नही हुए हैं, वस्तुत होते, तो वे आघात-प्रतिघात करते। सव रूप धर्मों में जिनका अस्तित्व है, अप्रतिघत्व होता है, और जिसमे यह नही है, वह रूप नही है। इस युक्ति मे यह मान लिया गया है कि भूत और भविष्यत् दो सान्त भाण्ड हैं। इनका परिहार शास्त्र मे इस प्रकार किया गया है कि अप्रतिघत्व केवल वर्त्तमान रूप धर्मों का होता है। महाविभाषा (पृ० ३९५ ए) मे प्रश्न है—यदि एक धर्म रूप है, तो क्या वह देशस्थ है? उत्तर—यदि धर्म देशस्थ है, तो वह अवश्य रूप है। ऐसे भी धर्म हैं, जो रूपी हैं, और देशस्थ नही हैं, अर्थात् भूत और भविष्यत् धर्म, वर्त्तमान परमाणु और अविज्ञप्ति।

अत, यही वर्त्तमान रूप धर्म देशस्थ हैं, और भूत तथा भविष्यत् धर्म देशस्थ नही हैं। यह उस पुराने सिद्धान्त का परिष्कृत रूप है, जिसके अनुसार भविष्यत्, वर्त्तमान और भूत धर्मों के भेद का कारण त्रिकाल में से एक अवस्था-भेद था।

वैभाषिक-नय मे कालवाद

पूर्ववर्त्ती वैभाषिक मत—अब हम वैभाषिक नय को लेंगे। पहले हम उन परिवर्त्तनो का उल्लेख करेंगे, जिनका बौद्धधर्म में प्रवेश हीनयानवादी अभिधर्म के द्वारा हुआ।

१. बौद्धधर्म के पूर्वरूप मे अनित्य स्थूलरूप और नित्य सूक्ष्म-चित्त यह दो माने गये थे। हीनयान मे हम अनित्यता के उस नये सिद्धान्त का प्राधान्य पाते है, जिसके अनुसार रूप और चित्त दोनो अनित्य हैं।

२. ससार मे अब कोई गन्धर्व-पुद्गल ससरण नही करता, और जिसे व्यक्तित्व कहते हैं, वह अब उदय-व्ययशील नाम-रूप धर्मों के प्रवाह में परिवर्त्तित हो गया है।

३ इन्हें 'धर्म' कहते है। इस आख्या का प्रयोग पूर्व बौद्धधर्म में नित्य अभौतिक और अतीन्द्रिय वस्तु के अर्थ मे होता था। 'धर्म' के इस नये अर्थ को (सदा बहुवचन में) हम एक विभु धर्म के (जो तथागत का स्वभाव है) भेद के रूप में ग्रहण कर सकते है, जैसे विभिन्न रूप-धर्म एक विभु-रूप के विभेद हैं।

हीनयान के अनुसार 'धर्म' की व्याख्या इस प्रकार है—स्वलक्षणधारणात् या स्वभावधारणात् इति धर्म।' इस प्रकार, धर्म का अर्थ भाव (फेनामेना) का धारक हो गया, जो सन्तान मे अपने को प्रकट करते हैं।

४. हीनयान के पूर्व निर्वाण आदि शुद्ध, प्रभास्वर चित्त का स्थूल रूप के कारण उत्पन्न क्लेश-आस्रवो से विमुक्त होना था। यह व्यवदान के साथ-ही-साथ मरणशील भौतिक जगत् मे निर्यात कर सूर्य की दूसरी ओर आरूप्य-धातु में (जो अमृत-धातु है) जाना भी था। यह आरूप्य-धातु भूतकोटि है। भिक्षु वहाँ पहुँच गया, वह अच्युत-पद को प्राप्त हो गया, जहाँ से च्युति नही है। वह अनागामी हो गया। कदाचित् चर्या का यह चरम उद्देश्य था। किन्तु, जब चित्त भी अनित्य हो गया, तब इस विचार का कोई दूसरा अर्थ करना पडा। यह कहना पडा कि विमुक्ति को प्राप्त करने के लिए चित्त-चैत्त धर्म के परे जाना चाहिए। वास्तविक नित्यता और अमृतत्व लोकोत्तर धर्म हो गये, जिसमे व्यवहार सर्वथा विनष्ट हो गया। अब अनागामी वह आर्य हो गया, जो भौतिक लोको मे जन्म नही लेता, और उसके ऊपर अर्हत् है, जो मन के सब प्रकारो से सर्वथा विमुक्त है।

५. इन नये विचारो के कारण काल-सम्बन्धी पुराना विचार भी बदला होगा। नित्य और सृष्ट काल के बीच की सीमा इतनी खिसका दी गई कि उसके अन्तर्गत सकल विश्व आ गया और मृत्यु के अधीन हो गया। सूर्य अब अमृत का द्वार नही रहा, और बहुत-से लोक, जो सूर्य के उस ओर थे, अब मार के वैसे ही अधीन हो गये, जैसे कि नीचे के भौतिक लोक।

नये अभिधर्म मे पहला प्रश्न यह है कि काल धर्म है या नही?

वैभाषिको के अनुसार केवल ऐसे ही धर्म नही हैं, जो सन्तान मे पतित हैं, किन्तु ऐसे भी है, जो सस्कृत धर्मों के परे हैं, अर्थात् असस्कृत हैं; जिनका दृष्ट धर्म में आविर्भाव नही होता। अतः, उनकी कोई निश्चित व्याख्या नही हो सकती। असस्कृत तीन हैं—दो निरोध और आकाश। असस्कृत आकाश का लिंग अनावरणत्व है। इससे अतिरिक्त, एक आकाश धातु भी है, जो सान्त और विभाज्य है, किन्तु जो असस्कृत आकाश की उपाधि

यदूर्ध्वं दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे, यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते, आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति।

किन्तु, इससे एक दूसरी कठिनाई दूर न होती। कठिनाई यह थी कि एक विश्व के भीतर भविष्यत्, वर्त्तमान और भूत इन तीन कालो को कैसे स्थान दें। काल की तहें मानने में यह कठिनाई थी कि इसका विरोध लोको के एक तुल्य देशान्तर-कर्षण से होता था। इसलिए, इसके अतिरिक्त कि वह भविष्यत् और भूत धर्म को अदेशस्थ मानें, वह कुछ और कर नही सकते थे। किन्तु, कठिनाई का यह हल केवल आशिक था, और मुख्य प्रश्न, अर्थात् भविष्यत्, वर्त्तमान और भूत धर्मों के भेद के प्रश्न का उत्तर देना अभी बाकी था।

वैभाषिको की दृष्टि की सीधी-सादी व्याख्या इस प्रकार हो सकती है—प्रत्येक धर्म स्वलक्षण का धारक है, और यही उसकी स्वक्रिया (वृत्ति, कारित्र, स्वभाग) भी है। इस सम्बन्ध पर अभिधर्म की व्याख्याएँ आश्रित हैं। धर्म के स्वभाव (=लक्ष्य) की व्याख्या उसके कारित्र (स्वक्रिया, स्वलक्षण) से होती है।

कारित्र का सिद्धान्त

यद्यपि प्रत्येक धर्म का सदा अपना कारित्र होता है, तथापि उसका कारित्र एक विशेप क्षण में ही प्रकट होता है,और जब वह अपना कारित्र समाप्त कर लेता है, तब सदा के लिए वन्घ्य हो जाता है। यही क्षण वर्त्तमान कहलाता है, और इस प्रकार हम कह सकते है कि भविष्यत् धर्म वह हैं, जिन्होने अभी अपने कारित्र को व्यक्त नही किया है, और भूत धर्म वह हैं, जो अपना कारित्र व्यक्त कर चुके हैं। इसी प्रकार का विचार 'महाविभाषा' (पृ० ३९३ सी) में पाया जाता है—

प्रश्न—कालाध्व का भेद किसपर आश्रित है ?

उत्तर—कारित्र पर। जिन सस्कृत धर्मों का कारित्र अभी नही है, वह भविष्यत् हैं, जो सस्कृत धर्म इस क्षण में कारित्र से समन्वागत हैं, वह वर्त्तमान कहलाते हैं, और जिनका कारित्र विनष्ट हो चुका है, वह भूत कहलाते हैं। अथवा जब रूप का प्रतिघत्व नही होता, तब वह भविष्यत् है; जब वह इस क्षण में प्रतिघात करता है, वह वर्त्तमान है; और जब इसका प्रतिघत्व समाप्त हो चुका है, तब इसे भूत कहते हैं।

यह सिद्धान्त देखने में तो बडा सरल मालूम होता है, किन्तु इससे वास्तव में बडी उलझन पड गई। यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि केवल वही धर्म वर्त्तमान हैं,जो इस क्षण में स्वक्रिया को व्यक्त कर रहे हैं, तो उस चक्षु के लिए हम क्या कहेंगे, जो निद्रा में है, अथवा जिसका प्रतिबन्ध अन्धकार है। यह वर्त्तमान हैं, किन्तु यह अपना कारित्र नही करते, वह प्रकाश नही देते। इसलिए, कारित्र की कोई दूसरी व्याख्या चाहिए। वास्तव में, हम एक दूसरी दृष्टि ले सकते हैं, जिसके अनुसार किसी धर्म-विशेष की स्वक्रिया की अभिव्यक्ति उसी धर्म की क्रिया नही है, किन्तु दूसरे पूर्ववर्त्ती धर्मों की है, जिससे उस धर्म का कारित्र हेतुभाव से निश्चित होता है। अतः, किसी धर्म का वास्तविक कारित्र इसमें है कि वह भविष्यत् धर्मों को

कारित्र की यही व्याख्या संघभद्र देते हैं—कारित्र = फलाक्षेप-शक्ति। अतीत कर्म यद्यपि अभी उनकी फलोत्पत्ति नही हुई है, वर्त्तमान नही है, क्योकि उन्होने आक्षेप कर्म पहले ही कर लिया है। (न्यायानुसार, ६३२ बी०)

अब एक अन्तिम विवाद-ग्रस्त विषय पर विचार करना है, फलाक्षेप-शक्ति (कारित्र) और धर्म-स्वभाव या स्वरूप में क्या सम्बन्ध है ?

जितने वाद त्रिकाल सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, वह सब एकमत से इसपर जोर देते है कि जब धर्म कालाध्व से गुजरता है, तब वह अपना स्वभाव नही बदलता, उसके केवल भाव (व्यवहार-आकार, धर्मत्रात) या अवस्था (वसुमित्र) का परिवर्त्तन होता है। इन दो आख्याओ की विस्तार से व्याख्या नही मिलती। इसलिए, इनके प्रयोगमात्र से इनका आशय समझ मे नही आता। केवल दृष्टान्तो द्वारा इनका अर्थ समझाया गया है।

वसुमित्र गुटिका का उदाहरण देते हैं, जहाँ एक ही गोली अवस्थाभेद से भिन्न सख्या हो जाती है (१,१०० या १०००)। इस उदाहरण में स्थान की अवस्था का ही भेद है। किन्तु, वसुमित्र के लिए धर्म की काल-अवस्था देशस्थ नही है, और इसलिए अवस्था शब्द का व्यवहार उपचारेण है।

धर्मत्रात 'भाव' के सम्बन्ध मे कुछ अधिक निश्चित रूप से कहना कठिन है। यह कोई गुण है या सत्ता का आकार है ? डॉक्टर जान्स्टन का विचार है कि कदाचित् यह साख्यो के गुण के सदृश है। (अर्ली साख्य, पृ० ३१)।

वैशेषिक दर्शन ने कदाचित् इन सब कठिनाइयो को अनुभव किया था, और इसीलिए, उन्होने कारित्र की अनिर्वचनीयता को यथार्थ माना था।

'महाविभाषा' (पृ० ३९४ सी) मे निम्नाकित विवाद मिलता है—

प्रश्न—कारित्र और स्वभाव एक है या भिन्न।

उत्तर—यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वह भिन्न है या एक। जिस प्रकार प्रत्येक सास्रव धर्म का स्वभाव अनेक लक्षणो से समन्वागत होता है, यथा अनित्यादि, और वह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वह लक्षण भिन्न है या अभिन्न, वही बात यहाँ भी है। अत, (कारित्र और स्वभाव का सम्बन्ध) अनिर्वचनीय है।

सघभद्र (न्यायानुसार, ६३३ ए) एक दूसरा उदाहरण देते है—कारित्र और स्वभाव का सम्बन्ध उसी प्रकार निश्चित नही हो सकता जिस प्रकार धर्म और सन्तान का सम्बन्ध। एक शब्द में कारित्र और स्वभाव अभिन्न भी है, और भिन्न भी है। वैभाषिको की यह उक्ति कि जब धर्म त्रिकाल मे भ्रमण करता है, तब केवल कारित्र, न कि स्वभाव बदलता है, और तिसपर भी यह नही कहा जा सकता कि कारित्र स्वभाव है, और न यही कहा जा सकता है कि कारित्र का अस्तित्व स्वभाव से स्वतन्त्र है, सौत्रान्तिको द्वारा उपहासास्पद बना दी गई है।

सौत्रान्तिक 'देवविचेष्टित' कहकर इसका उपहास करते हैं —

कारित्रं सर्वदा वास्ति, सदा धर्मश्च वर्ण्यते।
धर्मान्नान्यच्च कारित्रं व्यक्तं देवविचेष्टिम् ॥ (अभिधर्मकोश, ५।५७)

किन्तु, सघभद्र (न्यायानुसार, ६३३ बी) इसका कड़ा प्रतिवाद करते हैं। 'यह उपहास अनुचित है, क्योकि बुद्ध भगवान् स्वयं भी शिक्षा देते हैं—तथागत लोकोत्तर है और नहीं हैं; प्रतीत्यसमुत्पाद की धर्मता है, और यह नित्य नही है।' क्या इसके लिए बुद्ध भगवान् का भी उपहास किया जायगा ? हम मानते है कि धर्मो का सदा अस्तित्व है, और साथ-ही-साथ हम यह भी मानते है कि धर्म नित्य नहीं हैं।

इस सिद्धान्त की आपकी आलोचना निराधार है, क्योकि 'नित्य' और 'अनित्य' इन दो का व्यवहार दो भिन्न अर्थो में हुआ है। इसलिए, बुद्ध का उपहास नहीं करना चाहिए। क्या इसमें भी ऐसा ही नहीं है ? धर्म नित्य वर्त्तमान हैं, किन्तु धर्म-भाव बदलता है। जब संस्कृत धर्म त्रिकाल में संक्रमण करते हैं, तब वह अपना स्वभाव नही खोते और जो कारित्र होता है, वह प्रत्ययो पर निर्भर करता है। उसकी उत्पत्ति के समनन्तर ही कारित्र अवरुद्ध हो जाता है। अत, हमारा सिद्धान्त है कि धर्म नित्य है किन्तु, धर्मभाव अनित्य है। यह क्यो आपका उपहास है कि यह देवविचेष्टित है ?

सघभद्र न्यायानुसार (६३३बी) मे वैभाषिक सिद्धान्त का यह सामासिक वर्णन देते हैं—फलाक्षेप की अवस्था में सब सस्कृत धर्म 'वर्त्तमान' कहलाते हैं, फलाक्षेप की इस अवस्था का पूर्व और उत्तर दोनो में अभाव है। इस पूर्व और उत्तर अभाव के अनुसार त्रिकाल का भेद व्यवस्थित होता है। भूत और भविष्यत् का अस्तित्व वर्त्तमान के समान ही है। संक्षेप में, यद्यपि सर्व सस्कृत धर्मों का स्वभाव सदा एक-सा रहता है, तथापि सामर्थ्य भिन्न है। इस प्रकार, यद्यपि त्रिकाल का स्वभाव सदा एक है, तथापि उनके कारित्र में भेद होता है।

ऊपर जो प्रमाण एकत्र किये गये है, उनसे स्पष्ट है कि वैभाषिक धर्म के दो आकार की शिक्षा देते हैं। यह भेद दो भिन्न आयतन या दो भिन्न धर्मों का-सा नही है। कारित्र स्वभाव का परिशिष्ट नहीं है, यह द्वितीय धर्म नहीं है, और न धर्म का द्वितीय स्वभाव ही है। यह धर्म, अर्थात् स्वलक्षण भी नही है। जैसा 'तत्त्वसंग्रह' से मालूम होता है, इस दृष्टि का स्पष्ट प्रत्याख्यान सघभद्र ने किया था। कारित्र = फलाक्षेप-शक्ति और स्वकारित्र = स्वलक्षण का भेद मौलिक है—सप्रतिघत्व आदि के रूप में स्वलक्षण धर्म का सम्पूर्ण स्वभाव को व्यक्त करते है, और इसलिए सप्रतिघत्व से समन्वागत धर्म कभी अप्रतिघ नहीं हो सकता। इसके विपरीत, फलाक्षेप-शक्ति कादाचित्क है। दूसरे शब्दो में वैभाषिक सिद्धान्त एक प्रकार के भेदाभेदवाद की शिक्षा देता है, जिसके अनुसार स्वभाव और कारित्र का सम्बन्ध भेदाभेद का है।

दिग्-आकाशवाद

कालवाद की समीक्षा करते हुए हमने ऊपर कहा है कि कालवाद और दिग्वाद दोनो में समानता पाई जाती है। जो काल को द्रव्य-विशेष मानता है, वह दिक् को भी द्रव्य-विशेष

मानेगा, और जो बाह्य जगत् के काल-प्रवाह का वहन आभ्यन्तरिक जगत् में करेगा, वह बाह्य जगत् में अर्थों का देशस्थ होना स्वीकार नही करेगा। दिक् से यह दो भाव भारतीय दर्शन के इतिहास में पाये जाते हैं। बहुत प्राचीन काल में दिक् का भाव वस्तुव्यापी और अपेक्षया स्थूल था। पीछे से दिक् को एक द्रव्य-विशेष, जो अतीन्द्रिय और अनन्त है, मानने लगे।

शब्द के स्वभाव को न समझ सकने के कारण भारतीयो ने आकाश-द्रव्य की कल्पना की। यह सर्वगत और नित्य है; इसका अन्यथात्व नही होता और यह शब्द का आश्रय है। यह कल्पना उपनिषदो में भी पाई जाती है। उस समय भी दो आख्याओ का व्यवहार होता था—दिक् और आकाश। आकाश का लिंग शब्द है। यह शब्द का समवायिकारण है। आकाश वह द्रव्य है, जिससे शब्द की अभिनिष्पत्ति होती है। दिक् वह शब्द-विशेष है, जो प्रदेश का निमित्तकारण है।

दिक्-सम्बन्धी यह दोहरा विचार शब्द पर आश्रित है। मीमासको के अनुसार शब्द एक, नित्य द्रव्य-विशेष है, जिसकी अभिव्यक्ति उस वाक् में होती है, जो हम सुनते है; किन्तु जिसका सदा और सर्वत्र अस्तित्व है। मीमासको का उद्देश्य वेदो का नित्यत्व सिद्ध करना था, जो इनके अनुसार न सृष्ट हुए, न ईश्वर द्वारा अभिव्यक्त हुए, जो अपौरुषेय है, किन्तु सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व से जो स्वत प्रमाण हैं।

कणाद इस मत का खण्डन करते है, और सिद्ध करते हैं कि शब्द एक गुण है, आकाश का गुण है।

कुमारिल उत्तर देते है कि यदि पूर्वपक्ष की प्रतिज्ञा है कि शब्द आकाश का गुण है, तो इसके न कहने का कोई कारण नही है कि यह दिक् का गुण है। कुमारिल कहते हैं कि—"दो नित्य, व्यापी और सर्वगत द्रव्यो का अस्तित्व मानना निष्प्रयोजनीय है, और जो आकाश के लिए कहा जा सकता है, वह दिक् के लिए भी कहा जा सकता है। वह कहते हैं कि दिक् एक और व्यापी है, और आकाश को भी व्याप्त करता है। जो दिग्भाग श्रोत्र-शष्कुली को घेरता है, वह श्रोत्रेन्द्रिय है, यथा वैशेषिको के अनुसार श्रोत्रेन्द्रिय नभोदेश है। वैशेपिको के सब प्रमाण हमारे वाद में घटते है। हमारे अनुसार श्रोत्रेन्द्रिय दिग्भाग है। अन्तर इतना ही है कि हमारे वाद का आधार श्रुति है। वह दिग्-द्रव्य, जो कम या अधिक श्रोत्र-विवर में आवद्ध है, हमको श्रोत्रेन्द्रिय के रूप में व्यक्त होता है।"

दूसरो के अनुसार दिक् और आकाश दो पृथक् द्रव्य है। इनमें अन्तर केवल इतना है कि कई प्रस्थानो के अनुसार शब्द का आश्रय इनमें से एक ही है।

उपनिषदो में भी यह दोनो आख्याएँ पाई जाती है। उनके अनुसार आकाश एक अनन्त द्रव्य है। कभी यह द्रव्य पाँच महाभूतो में परिगणित होता है, जिनसे सृष्टि की उत्पत्ति होती है। कभी इसे सृष्टि का प्रथम तत्त्व निर्धारित किया गया है, जिससे शेष तत्त्वो की उत्पत्ति होती है। ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथिवी,

पृथिवी से ओषधियाँ, ओषधियो से अन्न, अन्न से शुक्र, शुक्र से पुरुष उत्पन्न होता है। प्राय भूताकाश को अनन्त दिक् बताया गया है, जिसमे द्यावापृथिवी, अग्नि-विद्युत्, वायु, चन्द्र, सूर्य और नक्षत्र समाहित हैं। इस अर्थ में यह नभस् अम्बर का पर्याप्त है। नभस् से अनन्त दिव्य लोक समझे जाते हैं।

दिग्वाद और आकाशवाद के साथ ब्रह्मतत्त्व सम्बद्ध है, जो शब्द की निष्पत्ति करता है। इस वाद का स्पष्ट उल्लेख उपनिषदो में नही है।

शब्द का एक अस्पष्ट सम्बन्ध दिक् से है। इसका आयतन आकाश है। छान्दोग्य में यह विचार अधिक स्पष्ट है—दिक् के कारण सुनते है, बुलाते है, उत्तर देते है। यहाँ उस अर्थ का प्रभव मिलता है, जिसमे आगे चलकर आकाश का अर्थ शब्द का उपादान हो गया। भारतीयो का विचार था कि विज्ञानेन्द्रियों की क्रिया केवल प्राप्यकारि अर्थों के स्पर्श से सम्पन्न होती है। शब्द-तत्त्व और श्रोत्रेन्द्रिय के बीच वह स्वभावत एक आकाश-अवकाश की कल्पना करते थे। अत, यह कल्पना उनके लिए स्वाभाविक थी कि दिक् इन दोनो के बीच एक द्रव्य है। पीछे से यह कल्पना जोड़ी गई कि यह अवकाश एक द्रव्य-विशेष से आवृत है, जो शब्द का उपादान है। आकाश अवकाश है, सूर्य और चन्द्र के बीच का अवकाश है। गर्भोपनिषत् (१।१) में कहा है कि इस पचात्मक शरीर में जो सुपिर है, वह आकाश है। अन्त में आकाश ब्रह्म का प्रतीक है। कुछ स्थलों में आकाश का तादात्म्य ब्रह्म से बताया है।

इस प्रकार, उपनिषदो की शिक्षा के अनुसार आकाश सृष्टि का प्रथम तत्त्व, अवकाश, शब्द का उपादान, विश्वव्यापी दिक्, ब्रह्म है। यह न देखा गया कि यह विविध भाव भिन्न हैं। दर्शनो में हम इन सब भावो को पाते है। कोई एक अर्थ चुनता है, कोई दूसरा। न्याय-वैशेषिक आकाश को शब्द का आश्रय मानते हैं। बौद्ध उसे अनावृत कहते है, और वेदान्त उसे सृष्टि का प्रथम तत्त्व मानता है।

उपनिषदो में आकाश के अतिरिक्त दिक् शब्द भी मिलता है, जो मुख्यत: दिशाओं के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। किन्तु, जिसका अर्थ अनन्त दिग्-द्रव्य भी है। उसका अन्त नहीं मिलता; क्योंकि दिशाएँ अनन्त है। यही श्रोत्र है, आयतन है, आकाश है, प्रतिष्ठा है, अनन्त है; यही द्रव्य है (बृहदारण्यक, ६।१।५)।

पीछे के दर्शनो में इसका उपयोग वहाँ किया गया है, जहाँ कुछ कारणो से दो भिन्न द्रव्य स्वीकार करने पड़ते हैं, जो भिन्न प्रकार के दिक् को निरूपित करते हैं। उपनिषदों में दिक् का ऐसा अर्थ नहीं है।

जैन साहित्य में किसी भौतिकवाद का उल्लेख है (श्रेडर, पृ० ५३), जो नित्य तत्त्वो में दिक् या आकाश को भी परिगणित करते थे। इस वाद का नाम भूतवाद और पाचभौतिक है। इसके अनुसार भौतिक द्रव्य नित्य हैं, और उनसे सत्यलोक और भाजनलोक

दोनो का समुदाय सृष्ट होता है। इस वाद के नाम से ही स्पष्ट है कि यह पचभूत की सत्ता मानता था, अर्थात् पृथिवी, अप्, तेज और वायु के अतिरिक्त यह आकाश या दिक् भी मानते थे। इसी आधार पर यह अन्य वादो से भिन्न था। अत, आकाश को तत्त्वो में गिनें या न गिने, यह शास्त्रार्थ का विषय हो गया।

कुछ ऐसे वाद हैं, जो केवल चार भूत मानते हैं।

वेदान्त के अनुसार आकाश की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई। यह ब्रह्म का प्रतीक है; क्योकि यह अनन्त, नित्य, अपरिवर्त्तनशील तत्त्व है। किन्तु, इसका ब्रह्म से तादात्म्य नही है, क्योकि ब्रह्म से इसकी उत्पत्ति होती है। पुन आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथिवी की सृष्टि हुई है। इन अतिसूक्ष्म द्रव्यो के स्थूल द्रव्यो में परिवर्त्तन होने से लोक की सृष्टि होती है। इसके विपरीत, स्थूल द्रव्यो के सूक्ष्म द्रव्यो में परिवर्त्तित होने से प्रलय सिद्ध होता है। यहाँ आकाश एक द्रव्य है, एक अनन्त द्रव्य है; भूतो में से एक है।

मीमासकों के अनुसार भी दिक् एक द्रव्य है, सर्वगत है, उन अर्थों से स्वतन्त्र है, जो उसमे निवास करते हैं, किन्तु यह सर्वदेशो में दिखाई देता है। मीमासको के अनुसार दिगवकाश वस्तुभूत है, जो भौतिक अर्थों के तिरोभाव के पश्चात् भी रहता है।

सांख्य के अनुसार आकाश पाँच महाभूतो में एक है। शब्दतन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति होती है, और आकाश का गुण शब्द है। अन्य महाभूतो के साथ यह महाभूत भी सर्ग की प्रवृत्ति मे लगता है। यह मुख्यत इसी भूत के कारण है कि प्रत्येक वस्तु का अवकाश होता है। किन्तु, साख्य-साहित्य मे भी दोनो आख्याएँ पाई हैं—१. आकाश = अनन्त दिक्; २. दिक् = अर्थों का देशस्थ होना। माधव कहते है कि साख्य उन वादो से सहमत है, जो सामान्य दिक्, अर्थात् अनन्त दिक्, और उस दिक् मे विशेष करते है, जो उपाधि-वश सान्त है। सान्त दिक् काल से आबद्ध है। हमने ऊपर कहा है कि काल और दिक् भूतो के दो नित्य गुण है। काल और सान्त दिग्-द्रव्य (आकाश = अवकाश) अनन्त आकाश के उपाधिमात्र है।

न्याय-वैशेषिक सिद्धान्तो में दिक् (आकाश) और काल का साधर्म्य बताया गया है। दोनो सर्व उत्पत्तिमान् के निमित्त है। न्यायसूत्रो में आकाश (दिक्) की व्याख्या नही पाई जाती, और न कही अन्यत्र काल का लक्षण बताया गया है। कणाद के सूत्रो में (२।२।१०) दिक् वह द्रव्य है, जिसके कारण एक मूर्त्त द्रव्य दूसरे के समीप या दूर है। इस द्रव्य का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता, किन्तु उसके लिंग से उसका अनुमान हो सकता है। दैशिक अर्थों की सन्तति का कोई कारण होना चाहिए, जो कालवर्त्ती भावो की परम्परा के सदृश हो। यह कारण एक नित्य द्रव्य है, यह उसी प्रकार सिद्ध होता है; जैसे काल और वायु का द्रव्यत्व और नित्यत्व सिद्ध होता है। दिक् से स्वतन्त्र एक आकाश है, वह भी नित्य और विभु द्रव्य है। आकाश दिक् से भिन्न है, क्योकि यह शब्द का उपादान है। आकाश सबको व्याप्त करता है, और उसके अस्तित्व का अनुमान केवल अपने गुण से होता है। प्रशस्तपाद वैशेपिक

दर्शन के पीछे के ग्रन्थकार, न्याय तथा न्याय-वैशेषिक के ग्रन्थकार सभी की दृष्टि वही है, जो कणाद के सूत्रों की है।

प्रशस्तपाद ने शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार बताई है—"शब्द द्विविध है. वर्ण-लक्षण और ध्वनि-लक्षण। अकारादि वर्ण-लक्षण हैं, और शखादि निमित्त ध्वनि-लक्षण है। वर्ण-लक्षण शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार है—आत्मा और मन के सयोग से, स्मृति की अपेक्षा से, वर्णोच्चारण की इच्छा उत्पन्न होती है। तदनन्तर, प्रयत्न होता है, जिससे आत्मा और वायु का सयोग होता है। इससे वायु में क्रिया उत्पन्न होती है, वह ऊर्ध्वगमन कर कण्ठादि को अभिहत करती है। इससे स्थान और वायु के सयोग से स्थान और आकाश का सयोग होता है। इससे वर्ण की उत्पत्ति होती है। ध्वनि-लक्षण शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार होती है—भेरी-दण्ड के सयोग से भेरी और आकाश का सयोग होता है। इससे ध्वन्यात्मक शब्द की उत्पत्ति होती है" (प्रशस्तपाद, पृ० ६४५)।

"इस प्रकार, द्रव्यविशेष के रूप में आकाश वह द्रव्य है, जिससे शब्द की अभिनिष्पत्ति होती है, अर्थात् यह उसका समवायिकारण है। नैयायिकों के अनुसार कारण तीन हैं—समवायि, असमवायि और निमित्त। शब्द की उत्पत्ति में आकाश समवायिकारण है, स्थान और आकाश का मयोग असमवायिकारण है, और आभ्यन्तर वायु और स्थान का सयोग निमित्त-कारण है। ध्वन्यात्मक शब्द में भेरी पर दण्ड का प्रहार निमित्तकारण है, भेरी और आकाश का सयोग असमवायिकारण है, और आकाश ममवायिकारण है।" (प्रशस्तपाद)

इस वाक्य से यह प्रदर्शित होता है कि यद्यपि आकाश एक अदृश्य, अरूपी और अनन्त द्रव्य है, तथापि वह वायु के समान अन्य मूर्त रूपों से संयुक्त हो सकता है। इस द्रव्य का एक देश जो श्रवणविवर-सज्ञक है, श्रोत्रेन्द्रिय कहलाता है। आकाश का शब्दगुणत्व प्राचीन काल से स्वीकार किया गया है। साख्य, न्याय और वैशेषिक इन दो में विशेष करते हैं। एक आकाश है, जिमका शब्द गुण है, जिमके कारण शब्द की निष्पत्ति होती है। दूसरा दिक् द्रव्य है, जो बाह्य जगत् को देशस्थ करता है। दूसरी ओर कणाद के सूत्रों में (२।२।१३) यद्यपि यह दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं, तथापि कतिपय लिंग प्रदर्शित करते हैं कि इन दोनों का एक द्रव्य माना जाता था, जो परस्पर भिन्न न थे, किन्तु कार्य-विशेष मे जिनका नानात्व था। जिस प्रकार एक ही पुरुष अध्यापक और पुरोहित दोनों हो मकता है, उसी प्रकार कार्यविशेष से द्रव्य को आकाश और दिक् कहते हैं। यदि वह शब्द की निष्पत्ति करता है, तो वह आकाश कहलाता है। यदि वह बाह्य जगत् से अर्थों के देशस्थ होने का कारण है, तो इसे दिक् कहते हैं।

इन्हें पीछे के नैयायिक और वैशेषिक दो स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। पूर्व और पीछे के बौद्धों में अन्तर है, इमी प्रकार बहुधर्मवाद और विज्ञानवाद में भी अन्तर है।

पालि-आम्नाय में आकाश-अवकाश (आकासो और ओकासो) की गणना महाभूत या धातु में नहीं की गई है। यहाँ महाभूत चार ही हैं। सूत्रों में ऐसे वाक्य मिलते हैं, जिनसे

अनुमान हो सकता है कि आकाश पाँचवाँ महाभूत माना जाता है। किन्तु, अभिधम्म में आकाश महाभूत नही है, यद्यपि यह धातु है। धम्मसगणी में आकाश को देवताओ का लोक कहा है। यह अनावृत है, और यह स्पष्ट किया गया है कि इसका कोई सम्वन्ध महाभूतो से नही है। बुद्धघोष 'आकास-धातु' की वही व्याख्या करते हैं, जो वैशेषिक (२।२।१०) में 'दिश्य' की की गई है—'आकास-धातु' का लक्षण रूप-परिच्छेद है। इसके कारण परिच्छन्न रूपो मे यह प्रतीति होती है कि यह इससे ऊर्ध्व है अध है या तिर्यक् है (**इदमितो उद्धमधो तिरियं च होति**)। अत, थेरवाद मे हम दिग्-आकाश यह द्विविध भाव नही पाते। शब्द को न एक स्वतन्त्र द्रव्य माना है, और न द्रव्य-विशेष का गुण। शब्द चार महाभूतो का कार्य है। यह अदृश्य है, किन्तु श्रोत्र-विज्ञान का विषय है। धम्मसंगणी मे यह विचार कही नही पाया जाता कि आकाश और श्रोत्र के बीच एक विशेष स्थान है, और न यही पाया जाता है कि प्रत्येक इन्द्रिय का महाभूत-विशेष से विशेष सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए, साख्य और वैशेषिक दर्शन में रूप का तेज से, रस का जल से, गन्ध का पृथिवी से और वायु का स्पर्श से सम्बन्ध है। कदाचित् इसी आधार पर आकाश का ऐसा ही सम्वन्ध श्रोत्र से है। श्रोत्रेन्द्रिय को नभोदेश कहा है, जो श्रोत्रविवर-सज्ञक है। धम्मसगणी मे रूप, गन्ध, रस और इनके साथ शब्द चार महाभूतो के कार्य कहलाते है। जिस काल में धम्मसगणी की रचना हुई थी, उस काल में आकाश एक द्रव्यविशेष था, और इसके कारण मूर्त्त द्रव्य देशस्थ होते थे। दूसरी ओर हमको यह न भूलना चाहिए कि सकल बाह्य जगत् के तुल्य दिक् एक स्कन्ध है, जिसे रूप-स्कन्ध कहते हैं। स्कन्धवाद की एक वात तो स्पष्ट है कि यह द्रव्य का प्रत्याख्यान है। धर्मों की अनन्त परम्परा है; कोई द्रव्य नही है। आकाश-धातु इस धर्म का एक रूप है। इसलिए, इसका अभिधम्म की सूची में स्थान है। अत, आकाश-धातु की कल्पना एक धर्म की है, जो विपरिणामी धर्मों के अनन्त प्रवाह में डूबे हैं। विभाषा में आकाश-धातु को अघसामन्तकरूप कहा है, अर्थात् वह जो अत्यन्त अभिघात करनेवाले (यथा वृक्षादि) का सामनक रूप है।

नागार्जुन के समय मे बौद्ध षड्धातु मानते थे—चार महाभूत, आकाश और विज्ञान (मध्यमकवृत्ति, पृ० १२९)। यदि आकाश-धातु के स्थान में वैशेपिको के तीन द्रव्य—आकाश, दिक् और काल—का आदेश करे, और यदि बौद्धो के विज्ञान के स्थान में आत्मा और मनस् का आदेश करें, तो वैशेषिको के नौ द्रव्य हो जाते है। नागार्जुन के व्याख्यान से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि आकाश-धातु का अन्य द्रव्यो मे प्राधान्य था, क्योंकि आकाश-धातु विचार करके और यह दिखला करके कि उसका स्वभाव विरुद्ध है, वह कहते हैं कि आकाश-धातु के वारे मे जो कहा गया है, वह अन्य सव द्रव्यो में लागू होता है। उपनिषदो में भी दिक् का ऐसा ही प्राधान्य है। चन्द्रकीर्त्ति (मध्यकवृत्ति, ५।१) कहते हैं कि आकाश अनन्त है, यह अनावरण-मात्र स्वभाव है। वहुधर्मवादी बौद्ध आकाश को अभाव मानते हैं (वेदान्तसार, २, २ पर शकर)।

अभाव दो प्रकार का है—१. वुद्धिपूर्वक, यथा किसी वस्तु के वुद्धिपूर्वक विनाश से उस वस्तु का अभाव, २. अवुद्धिपूर्वक किसी वस्तु का निरन्तर विनाश, जा चक्षु से नहीं

देखा जाता । इन दो के अतिरिक्त आकाश तृतीय प्रकार का अभाव है । बौद्ध इसीलिए आकाश को द्रव्यविशेष नहीं, किन्तु अभावमात्र मानते थे । आस्तिक-दर्शन उसे वस्तुभूत मानते थे । आकाश-परीक्षा में नागार्जुन आकाश को भाव मानकर उसको असम्भव सिद्ध करते हैं। उसी प्रकार वह आकाश को अभावमात्र भी असिद्ध करते हैं । नागार्जुन भाव-अभाव दोनों का प्रत्याख्यान करते हैं । केवल आकाश ही नहीं, बल्कि अन्य सब द्रव्यों का भी । सामान्यत., वह प्रत्येक ज्ञान की शून्यता सिद्ध करते है। बाह्य और आभ्यन्तर दोनों लोकों के सब भावों का विवेचन कर वह अनवस्था दोष दिखाकर उनकी विरुद्धता दिखाते है, तथा ज्ञेय लोक के समुदाय की शून्यता सिद्ध करते हैं ।

यद्यपि नागार्जुन आकाश की समस्या हल नहीं करते हैं, तथापि उनका विचार विज्ञानवादी विचार की पूर्वावस्था है । इस प्रश्न को उठाकर कि हमारे भावों का वस्तुत कोई आलम्बन है या नहीं, नागार्जुन कहते हैं कि यह भावधर्म हैं, जो अनालम्बन हैं ।

विज्ञानवादी दृष्टि को आर्यासंग, वसुबन्धु और दिङ्नाग ने विकसित किया । धर्मकीर्त्ति ने इसमें वृद्धि की। इनका विचार वसुबन्धु के विचार से कुछ भिन्न हैं । इनके अनुसार भी भाजन-लोक प्रवृत्ति-विज्ञान से बना है। आकाश इन प्रवृत्ति-विज्ञानों का एक आकार-विशेष है ।

धर्मकीर्त्ति प्रत्येक विज्ञान में तथा प्रत्येक वस्तु में तीन प्रकार के गुण मानते हैं—देश, काल और स्वभाव । धर्मकीर्त्ति आकाश और काल दोनों का समान रूप से विवेचन करते हैं । वह देश और आकाश दोनों शब्दों का व्यवहार करते है । अर्थ के देश-थ होने को वह सदा 'देश' कहते हैं, और आकाश को अनादि, अनन्त, अविपरिणामी बताते हैं। अपने ग्रन्थ में उन्होंने कहीं आकाश का विचार नहीं किया है किन्तु इन दोनों शब्दों का प्रयोग उसी अर्थ में करते हैं, जिस अर्थ में इनका प्रयोग आस्तिक दर्शनों में होता है । दिक् का अर्थ केवल अर्थ का देशस्थ होना है । यह वाद विज्ञानवादी विचार से पूरी तरह मिलता है, किन्तु दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति अनन्त आकाश का बार-बार उल्लेख करते हैं। साथ-ही-साथ परार्थानुमान का उल्लेख है, जिसके द्वारा वाक् की अनित्यता सिद्ध हो सकती है। जिसका अस्तित्व है, वह अनित्य है । वाक् का अस्तित्व है, अतः वह अनित्य है। बाह्य जगत् अनित्य है। प्रत्येक क्षण का विनाश होता है। आकाश नित्य है । इसलिए उसका अभाव है।

प्रमाण

बौद्धधर्म में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं । बहुधर्मवाद, विज्ञानवाद औ शून्यवाद की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हैं । शून्यवाद ऐसी प्रवृति है, जो बाह्य जगत् की शून्यता और ज्ञान को नितान्त अनिश्चितता मानता है ।

इन मौलिक सिद्धान्तों ने बौद्ध-दर्शन के स्वभाव को पूर्व ही विनिश्चित कर दिया। वह सांख्य और वेदान्त के समान विश्व को समझाने के लिए किसी परम तत्त्व का निर्माण

न कर सका। वह भावों को नित्य और अनित्य द्रव्यो में विभक्त न कर सका, और न न्याय-वैशेषिक के समान ससार की उत्पत्ति का हेतु इन द्रव्यो के अन्योन्य प्रभाव को निर्दिष्ट कर सका। यह किसी ग्रन्थ का प्रामाण्य स्वीकार नही करता था। इसके लिए ज्ञान स्वय एकमात्र प्रमाण है। अतः, पाँचवी-सातवी शताब्दी मे उसका उद्देश्य प्रमाणो को निश्चित करना तथा ज्ञान की इयत्ता को निर्धारित करना था। इन्होंने इसकी स्वतन्त्र परीक्षा की कि विज्ञान का विषय क्या है, और क्या नही है? इन्होने प्रमाणो की व्यवस्था की।

प्रमाण-शास्त्र का प्रयोजन

सर्वपुरुषार्थ की सिद्धि सम्यग्-ज्ञानपूर्वक होती है। अत॰, उसकी प्रतिपत्ति के लिए न्यायशास्त्र की रचना हुई है। मानवीय प्रयोजन हेय या उपादेय हैं, वाछनीय या अवाछनीय हैं। प्रवृत्ति या अर्थक्रिया अर्थ की प्राप्ति और अनर्थ के परिहार के लिए होती है। सम्यग्-ज्ञान या प्रमाण वह ज्ञान है, जिसके अनन्तर अध्यवसाय (निश्चय) होता है, जिससे पुरुषार्थ की सिद्धि होती हैं। जो ज्ञान मिथ्या है, उससे अर्थसिद्धि नही होती। सशय और विपर्यय सम्यग्-ज्ञान के प्रतिपक्ष हैं। धर्मोत्तर कहते है कि सम्यग्-ज्ञान द्विविध है।

१ प्राग्-भवीय भावनाश्रित ज्ञान, जो आपातत पुरुषार्थ-सिद्धि कराता है;

२. प्रमाणभूत भावना, जो केवल ज्ञापक है।

बौद्ध-न्याय में इस दूसरे प्रकार के सम्यग्-ज्ञान की समाक्षा की गई है, क्योकि जिसकी खोज साधारण जन करते है, उसी का विचार शास्त्र मे होता है। लोग अर्थक्रिया के अर्थी होते है, अतः वह अर्थ-प्राप्ति के निमित्त अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु के ज्ञान की खोज करते है। इसलिए सम्यग्-ज्ञान अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु का प्रदर्शक है।

अतः, बौद्ध-न्याय मे प्रमाणभूत भावना का ही विवेचन किया गया है। जहाँ अर्थक्रिया की सिद्धि आपाततः अविचारतः होती है, वहाँ ज्ञान की समीक्षा नही हो सकती। जिस ज्ञान की समीक्षा हो सकती है, उसे तीन विषयो मे विभक्त करते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और परार्थानुमान (सिलॉलिज्म, शब्दात्मक)। बाह्य वस्तु के ज्ञान का मुख्य प्रभव इन्द्रिय-विज्ञान है। इस ज्ञान के आकार को कल्पना निश्चित करती है, और इस प्रक्रिया की पूर्ण शाब्दिक अभिव्यक्ति परार्थानुमान से होती है। अतः, इन तीन के अन्तर्गत ज्ञान-मीमासा और न्याय दोनो हैं।

प्रमाण-फल तथा प्रमाण का लक्षण

प्रमाण या सम्यग्-ज्ञान अविसवादक ज्ञान है। लोक में उस पुरुष को सवादक कहते हैं, जो सत्यभाषी है, और जो पूर्व उपदर्शित अर्थ का प्रापक है। इसी प्रकार, वह ज्ञान भी संवादक कहा जाता है, जो प्रदर्शित अर्थ का प्रापक है, अर्थात् जो प्रदर्शित अर्थ में प्रवर्त्तन करता है। सम्यग्-ज्ञान पुरुषार्थ-सिद्धि का कारण है। सम्यग्-ज्ञान प्रवृत्ति के विषय का प्रदर्शक है, अर्थ में पुरुष का प्रवर्त्तन करता है। अधिगत अर्थ में पुरुष प्रवर्त्तित होता है, और अर्थप्रापित होता है, अत॰ अर्थाधिगति ही प्रमाण-फल है। इसका अर्थ यह है कि अर्थाधिगम से प्रमाण का व्यापार

समाप्त हो जाता है। यह वह बिन्दु है, जहाँ पुरुष का कारित्र होता है। इसे अर्थक्रिया-क्षम वस्तु कहते हैं, और जो क्रिया इस वस्तु का अधिगम करती है, वह सफल पुरुषार्थ है। सम्यग्-ज्ञान प्रापक (एफिकेशियस) ज्ञान है। इस प्रकार, हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता और उसकी व्यवहार-क्षमता के बीच एक सम्बन्ध स्थापित है।

पुरुष को विज्ञान हठात् प्रवर्त्तित नहीं कर सकता, अत. ज्ञान कारक-कारण नहीं है; केवल ज्ञापक है।

लोग अर्थप्राप्ति के निमित्त अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु के प्रदर्शक ज्ञान की खोज करते हैं, इसलिए सम्यग्-ज्ञान अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु का प्रदर्शक है।

जिस ज्ञान से पहले अर्थ अधिगत होता है, उसी से पुरुष प्रवर्त्तित होता है, और अर्थ-प्रापित होता है। उस अर्थ के विषय में दूसरे ज्ञान का क्या काम है? इसलिए, अनधिगत विषय प्रमाण है। जब अर्थ प्रथम अधिगत होता है, तब ज्ञान होता है।

एक ज्ञान की पुनरावृत्ति प्रत्यभिज्ञा है। इसे ज्ञान का स्वतन्त्र ज्ञापक नहीं मानेंगे। किसी अधिगत विषय का अनुस्मरण राग या द्वेष का कारण होता है, किन्तु राग-द्वेष या स्मृति को ज्ञान का कारण नहीं मानते। जब हम सर्वप्रथम अर्थ का अधिगम करते हैं, तब उसी क्षण में ज्ञान होता है। इसके पश्चात् कल्पना (या विकल्प) के द्वारा वस्तु के आकार का निर्माण होता है। यह ज्ञान का कारण नहीं है। यह प्रत्यभिज्ञा है, यह सविकल्पक अप्रमाण है।

मीमासको की भी यही व्याख्या है, अर्थात् प्रमाण अनधिगत अर्थ का अधिगन्ता है। किन्तु, उनके मत में अर्थ और प्रमाण दोनो कुछ काल के लिए अवस्थान करते है।

नैयायिको के अनुसार प्रमाण ज्ञान का साधकतम कारण है। यह कारण इन्द्रिय-विज्ञान अनुमानादि हैं। इनका प्रत्यक्ष सविकल्पक है।

बौद्धो के अनुसार अर्थ क्षणिक हैं, और वह इन्द्रिय तथा कल्पना दोनो में विशेष करते हैं। उनके अनुसार यह दो ज्ञान के उपकरण हैं। इन्द्रिय अधिगत करता है, कल्पना निर्माण करती है, इसलिए ज्ञान का प्रथम क्षण सदा इन्द्रिय-विज्ञान का क्षण है। यह अविकल्प है, किन्तु विकल्पोत्पत्ति की शक्ति रखता है। अर्थ का अधिगम होने पर प्रथम क्षण के पश्चात् अर्थ की आभा स्फुट होती है। यदि लिंग द्वारा वह अनुमित होता है, तो लिंग अधिगम के प्रथम क्षण को उत्पन्न करता है, जिसके पश्चात् लिंग के स्फुटाभ और तत्सम्प्रयुक्त अर्थ के अस्फुट आकार की उत्पत्ति होती है। किन्तु, दोनो अवस्थाओ में अधिगम का केवल प्रथम क्षण सम्यग्-ज्ञान का कारण होता है। अत, प्रमाण एक क्षण है और यही क्षण सम्यग्-ज्ञान का वस्तुत कारण है।

प्रमाणों की सत्यता की परीक्षा

जब सत्य की परीक्षा केवल अनुभव से होती है, तब यह प्रश्न स्वभावत. उठता है कि ज्ञान के जो कारण हैं, वह उसके सम्यक् होने के भी कारण हैं, अथवा ज्ञान का कारण एक है और उसकी सत्यता को प्रमाणित करने के लिए चित्त को दूसरी क्रिया करनी होती है?

इस प्रश्न पर भी मीमासको ने विचार किया है, क्योकि उनको वेद-प्रामाण्य प्रतिष्ठित करना था। मीमासको के अनुसार ज्ञान स्वतः सम्यग्-ज्ञान है, प्रामाण्य-युक्त है; क्योंकि यह ज्ञान है, विसंवादक नही है। दो ही अवस्थाओ मे ज्ञान अपवाद के रूप में मिथ्या हो सकता है—१ जब उसका बाधक ज्ञान है, या २. जब करण-दोष है। सिद्धान्त स्वत प्रामाण्य का है; दोष परत सिद्ध होता है।

बौद्धो के अनुसार स्वत प्रामाण्य नही है, परत प्रामाण्य है, क्योकि प्रापक ज्ञान प्रमाण है। बौद्धो के अनुसार व्यभिचार सम्भव है। कारण-गुण के ज्ञान से, सवाद ज्ञान से, अर्थक्रिया ज्ञान से हम कह सकते है कि यह अविसवादक ज्ञान है।

यद्यपि मीमासक, वैशेषिक और नैयायिको की तथा बौद्धो की दृष्टि मे साम्य है, तथापि इनमे सूक्ष्म भेद है। पहले दार्शनिको के अनुसार ज्ञान-क्रिया कर्त्ता, अर्थ उपकरण तथा क्रिया-विशेष से सम्वद्ध होती है। जब वर्ण-ज्ञान होता है, तब आत्मा कर्त्ता है, वर्ण अर्थ है, चक्षुरिन्द्रिय उपकरण है और क्रियाविशेष प्रकाश-रश्मि का चक्षु से विनिर्गत हो अर्थ की ओर जाता, उसका ग्रहण कर आत्मा को अकित करने के लिए लौटता है। इनमें चक्षुरिन्द्रिय साधकतम करण है। यही प्रमाण है।

किन्तु, बौद्ध क्रिया और ज्ञान से साम्य के आधार पर रचित इस प्रणाली का प्रत्याख्यान करते है; क्योकि वह प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त मानते है। इन्द्रिय है, इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष है, इन्द्रिय-विज्ञान है। आत्मा नही है, इन्द्रिय का उपकरणत्व नही है, अर्थग्रहण नही है। विज्ञान और विकल्प मे सारूप्य है। वही प्रमाण है, वही प्रमाण-फल है। अर्थ का आकार के साथ सारूप्य और आकार दो भिन्न वस्तु नही है।

वस्तु-सत्ता का द्वैविध्य

दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति के सिद्धान्त मे ज्ञान की व्याख्या के तुल्य वस्तु, परमार्थ-सत् की व्याख्या भी अपूर्व है। वस्तु, परमार्थ-सत् अर्थक्रिया-समर्थ है। जिसमें यह सामर्थ्य नही है, वह अवस्तु है। जो अग्नि प्रज्वलित और शान्त होती है, वह अग्नि स्वलक्षण है। अग्नि-सनिधान में स्फुट और असनिधान में अस्फुट प्रतिभासित होती है। यह पारमार्थ-सत् है। जबतक वर्त्तमान और चक्षुरिन्द्रय-ग्राह्य है, तबतक अग्नि का प्रकाश-कण भी स्फुट है। जो वह्नि विकल्प का विषय है, जो न प्रज्वलित होती है और न पाचन-क्रिया करती है, और न प्रकाश देती है, वह अवस्तुक है। यद्यपि विकल्प-विषय दृश्य के तुल्य हो, तथापि वह अर्थक्रियाभाव के कारण दृश्य नही है। अतीत, भविष्य अवस्तुक है, केवल प्रत्युत्पन्न वस्तु है। विकल्प-विषय, अभाव, वुद्धि-निर्माण, जाति, सामान्य प्रज्ञप्तिमात्र है, केवल स्वलक्षण वस्तु-सत् है। अन्य केवल विकल्प है, शब्दमात्र है। इनके पीछे किचिन्मात्र भी वस्तुत्व नही है। वस्तु-सत् में विकल्प नही होता, अत यह निर्विकल्पक है। किन्तु, इन दो के बीच एक लोक है, जो परिकल्प से वना है, किन्तु जिसका आधार वस्तु-सत् है। इसे सवृति-सत्य कहते है। परिकल्प दो प्रकार के है—शुद्ध और वस्तु-मिश्रित। वस्तु के भी दो प्रकार है—शुद्ध और परिकल्प-मिश्रित। एक वस्तु-सत् क्षण

स्वलक्षण है। यह परमार्थ-सत् है। दूसरा स्वलक्षण के अनन्तर विकल्प-निर्मित आकार है। जब वस्तु-प्रतिबन्ध पारम्पर्येण होता है, तब अर्थ-संवाद होता है, यद्यपि यह अनुभव परमार्थ-सत् की दृष्टि से भ्रान्त है। पारम्पर्येण सत् है, प्रत्यक्षेण नहीं।

प्रमाण का द्वैविध्य

जिस प्रकार वस्तु-सत् द्विविध है, उसी प्रकार प्रमाण भी द्विविध है। प्रमाण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष है। यह परमार्थ-सत् के ज्ञान का कारण है, या संवृति-सत् के ज्ञान का कारण है। प्रत्यक्ष-प्रमाण इन्द्रिय-व्यापार से उत्पन्न होता है, अप्रत्यक्ष विकल्प से। प्रथम प्रतिभास है, दूसरा कल्पना है। प्रथम अर्थ का ग्रहण करना है, दूसरा उसी की कल्पना करना है (विकल्पयति)। वास्तव में, 'ग्रहण' नहीं होता, किन्तु इस शब्द का व्यवहार ज्ञान के प्रथम क्षण को गृहीत अर्थ के विकल्प से विशिष्ट करने के लिए होता है। यह क्षण असाधारण तत्त्व है, अतः यह अनभिलाप्य है। नाम, अभिज्ञा किसी एकत्व की होती है, जिसमें देश, काल और गुण का संयोग होता है। यह एकत्व एक विकल्प है और बुद्धि की जिस प्रक्रिया से इसका निर्माण होता है, वह प्रतिभास नहीं है।

धर्मोत्तर कहते हैं कि प्रमाण के द्विविध विषय हैं—ग्राह्य और अध्यवसेय (पृ० १५-१६)। ग्राह्य और अध्यवसेय भिन्न-भिन्न हैं। प्रत्यक्ष का क्षण एक है। यह ग्राह्य है। दूसरा अध्यवसेय प्रत्यक्ष-बल से उत्पन्न निश्चय है। यह क्षण सन्तान है। सन्तान ही प्रत्यक्ष का प्रापणीय है। क्षण की प्राप्ति अशक्य है।

बौद्धों के अनुसार दो प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। वैशेषिक भी दो ही प्रमाण मानते हैं, यद्यपि उनके लक्षण और उनकी व्याख्या भिन्न है। बौद्ध आप्तवचन को प्रमाण में नहीं गिनते। नैयायिकों का उपमान और अर्थापत्ति बौद्धों के अनुमान के अन्तर्गत है। ज्ञान इन्द्रिय-व्यापार से होता है, और विकल्प-बल से आकार का उत्पाद होता है। प्रत्यक्ष में अर्थ का आकार विशदाभ होता है, अनुमान में लिंग द्वारा अर्थ का अस्फुट ज्ञान होता है। अग्नि के संनिधान में अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, और यदि अग्नि दूर है, और धूमलिंग के दर्शन से ज्ञान होता है, तो यह अनुमान है। एक में प्रत्यक्ष प्रकृष्ट है, दूसरे में विकल्प का प्रकर्ष है।

बौद्धों का वाद 'प्रमाण-व्यवस्था' कहलाता है, जब कि दूसरों का वाद 'प्रमाण-सम्प्लव' कहलाता है। प्रमाण-सम्प्लव के अनुसार प्रत्येक अर्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों से हो सकता है। बौद्धवाद में प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों की इयत्ता की व्यवस्था है। एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश नहीं करता।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि बौद्ध-दर्शन की दृष्टि आलोचनात्मक है। बौद्ध-दर्शन में प्रमाण दो ही हैं। दोनों ही इन्द्रिय-जन्य अनुभव का समतिक्रमण नहीं कर सकते। जो अतीन्द्रिय हैं, वह ज्ञान का विषय नहीं है। सब अतीन्द्रिय अर्थ, जो देश, काल, स्वभाव से विप्रकृष्ट हैं, अनिश्चित हैं। अतीन्द्रिय क्षेत्र में विकल्प से विविध निर्मित होगा, जो विरुद्ध होगा।

बौद्धधर्म में बुद्ध को सर्वज्ञ कहा है, किन्तु अतीन्द्रिय-सर्वज्ञत्व का होना या न होना सन्दिग्ध है, अतः यह अनैकान्तिक है।

धर्मोत्तर कहते हैं कि जिस अनुमान का लिंग-त्रैरूप्य आगमसिद्ध है, उसका आश्रय आगम है। ये युक्तियाँ अवस्तु-दर्शन के बल से प्रवृत्त होती है, अर्थात् विकल्पमात्र के सामर्थ्य से प्रवृत्त होती है। आगम के जो अर्थ अतीन्द्रिय है, अर्थात् जो प्रत्यक्ष अनुमान के विषय नही है, यथा सामान्यादि, उनके विचार मे आगमाश्रित अनुमान की सम्भावना है। विपर्यस्त शास्त्रकार सत्-असत् स्वभाव का आरोप करते है। जब शास्त्रकार ही भ्रान्त होते है, तब दूसरो का क्या भरोसा, किन्तु यथावस्थित वस्तुस्थिति मे इसकी सम्भावना नही है।

प्रत्यक्ष

ज्ञान के स्वरूप को हम कभी नही जानेंगे, किन्तु हम उसे साक्षात् और परोक्ष में विभक्त कर सकते है। इसी विभाग के आधार पर ज्ञानमीमासा का शास्त्र आश्रित है। साक्षात् को हम इन्द्रिय-व्यापार और परोक्ष को विकल्प कह सकते है। अर्थ का साक्षात्कारी ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। प्रत्यक्ष निर्विकल्प है, सविकल्प नही है। यह वस्तु के स्वलक्षण का ग्रहण करता है। यह नामजात्यादि (जाति, द्रव्य, गुण, कर्म, नाम) का ग्रहण नही करता। जात्यादि विकल्प है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष जात्यादि से असयुत है। यह कल्पना से अपोढ है। सविकल्प प्रत्यक्ष प्रत्यक्ष नही है, क्योकि वह मन-इन्द्रिय द्वारा जात्यादि का विवेचन करके विषय का ग्रहण करता है। यह इन्द्रिय से वस्तु का आलोचन-मात्र नही है। वस्तुमात्र का जो प्रथम समुग्ध ग्रहण होता है, वही निर्विकल्प प्रत्यक्ष है। यही शुद्ध प्रत्यक्ष है। पश्चात् मन द्वारा (नामस्मृति से) वस्तु के नाम का ज्ञान होता है। इसे प्रत्यक्ष नही कह सकते। यह इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष से जन्य नही है। यह इन्द्रिय-व्यापार से उत्पन्न नही होता। अन्य मतो के अनुसार सविकल्प भी प्रत्यक्ष है, क्योकि यह इन्द्रिय-व्यापार से जन्य है, और इन्द्रिय-व्यापार उस समय भी उपरत नही होता, जब सविकल्प का उत्पाद होता है, क्योकि इसका अपरोक्ष-भास होता है। किन्तु, बौद्ध कहते है कि यह कहना कि सविकल्प प्रत्यक्ष है, और साथ-ही-साथ यह अपरोक्षावभास है, परस्पर विरोधी है। वस्तुसज्ञा का अवभास इन्द्रिय को नही होता। सज्ञाकरण और प्रत्यभिज्ञा की क्रिया वर्त्तमान अनुभव और अतीतानुभव के विषयो के एकीकरण से होता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान को अभ्रान्त होना चाहिए। प्रत्यक्ष ज्ञान तभी प्रमाण हो सकता है, जब कि वह विपर्यस्त न हो। भ्रान्ति भी दो प्रकार की है—१ मुख्य विभ्रम, जिसके अनुसार सभी व्यावहारिक ज्ञान एक प्रकार का विभ्रम है और २ प्रातिभासिकी भ्रान्ति। प्रत्यक्ष ग्राह्य रूप (परमार्थ-सत् में) अविपर्यस्त होता है।

मानस-प्रत्यक्ष

इन्द्रियाश्रित ज्ञान प्रत्यक्ष का केवल एक प्रकार है। एक दूसरा प्रत्यक्ष है, जिसे मानस-प्रत्यक्ष कहते है। प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान मे इसका एक क्षण होता है, यह इन्द्रिय-ज्ञान के विषय-

क्षण से उत्तर क्षण है। इन्द्रिय और विकल्प का मौलिक भेद स्थापित कर प्रमाणवाद को इनके सहकारित्व को समझाने की आवश्यकता पडी। इन दोनो को पृथक् कर इन्हें पुनः मिलाने के लिए विवश होना पडा। पूर्व बौद्धधर्म में एक वर्णधर्म एक चक्षुधर्म और एक मनोधर्म के हेतु-प्रत्ययवश वर्ण का ज्ञान होता है। इन्द्रिय और विकल्प का भेद स्थापित कर दिङ्नाग ने मन का लोप कर चक्षुरिन्द्रिय के स्थान में शुद्ध इन्द्रिय-विज्ञान को रखा। इस प्रकार, वर्ण-ज्ञान को शुद्ध इन्द्रिय-विज्ञान के क्षण से समझाया, जिसके अनन्तर विकल्प-निर्माण होता है। इन्द्रिय-विज्ञान के लिए देश का नियत करना विकल्प का काम हो गया। यह क्षण प्रत्यक्ष और अविकल्प हैं। पहला क्षण शुद्ध इन्द्रिय-विज्ञान है, दूसरा क्षण मानस-प्रत्यक्ष है। चक्षु का जब व्यापार होता है, तब रूपज्ञान चक्षुराश्रित होता है। जब चक्षु का व्यापार उपरत हो जाता है, तब मनोविज्ञान का प्रत्यक्ष होता है।

योगिप्रत्यक्ष

इन्द्रिय-विज्ञान के प्रथम क्षण में जैसा स्फुटाभ ज्ञान होता है, वैसा उत्तर क्षण में विकल्प-निर्माण से नही होता। सविकल्पक ज्ञान अस्फुटाभ होता है। योगिप्रत्यक्ष से भाव्य-मान अर्थ का दर्शन योगी को होता है। वह अतीत भविष्यत् को उसी प्रकार जान सकता है, जिस प्रकार वर्तमान को। यह प्रत्यक्ष अलौकिक योगज सन्निकर्ष से जन्य है। इतर प्रत्यक्ष के तुल्य यह भी प्रत्यक्ष है। स्फुटाभ होने से निर्विकल्पक है। प्रमाण शुद्ध और अर्थग्राही होने से संवादक है।

स्वसंवेदन

सौत्रान्तिक योगाचार का मत है कि सर्वज्ञान स्वप्रकाश है। जिस प्रकार दीपक समीप की वस्तुओं को प्रकाशित करता है और साथ-ही-साथ अपने को भी प्रकाशित करता है, प्रदीप स्वप्रकाश के लिए किसी दूसरे प्रकाश पर निर्भर नही रहता उसी प्रकार ज्ञान स्वप्रकाश है।

प्रभाकर के अनुसार ज्ञान का स्वत. प्रत्यक्ष होता है। कुमारिल के अनुसार ज्ञानक्रिया का प्रत्यक्ष नही होता। यह ज्ञातता या प्राकट्य से अनुमित होती है।

न्याय-वैशेषिक के अनुसार ज्ञान प्रत्यक्ष का विषय है किन्तु इसका स्वत प्रत्यक्ष नही होता, अन्त.करण अर्थात् मन द्वारा अन्य ज्ञान से होता है। ज्ञान का अनुमान ज्ञातता से नही होता। एक ज्ञान का प्रत्यक्ष दूसरे ज्ञान से होता है, जिसे अनुव्यवसाय कहते हैं। ज्ञान पर-प्रकाशक है, स्वप्रकाशक नही है। ज्ञान ज्ञानान्तर से वेद्य है।

सांख्य-योग का मत है कि ज्ञान का प्रत्यक्ष आत्मा द्वारा होता है, अन्य ज्ञान से नही होता, क्योंकि ज्ञान अचेतन है। चित्त स्वप्रकाश नही है, क्योकि चित्त आत्मा का दृश्य है। जिस प्रकार इतर इन्द्रियाँ तथा इन्द्रियार्थ स्वप्रकाश नही है, क्योकि वह दृश्य है, उसी प्रकार चित्त (=मन) भी स्वप्रकाश नही है। तब यह अर्थ का प्रकाश कैसे करता है? सांख्य-योग पुरुष की सत्ता को स्वीकार करता है। यह इसे ज्ञाता और भोक्ता मानता है। पुरुष प्रकाश-स्वभाव है। प्रकाश पुरुष का गुण नही है। स्वाभास पुरुष का प्रतिबिम्ब अचेतन बुद्धि पर पड़ता है

और यह पुरुष बुद्धि की अवस्था को स्वावस्था के रूप मे विपर्यासवश गृहीत करता है। पुरुष न अत्यन्त बुद्धि-सरूप है, और न अत्यन्त विरूप है। यह बुद्धि से भिन्न है। किन्तु, यदि पुरुष अत्यन्त सरूप नही है, तो यह अत्यन्त विरूप भी नही है, क्योकि पुरुष यद्यपि शुद्ध है, तथापि बुद्धि मे पुरुष के प्रतिसक्रान्त होने से चैतन्यापन्न बुद्धि की वृत्ति को यह जानता है, और अतदात्म होते हुए भी उसे तदात्मक के समान गृहीत करता है। बुद्धि जड स्वभाव है, तथापि स्वाभास पुरुष के प्रतिबिम्बित होने से यह चैतन्य को प्राप्त करती है।

शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान स्वप्रकाश है।

हीनयान में आत्मा और उसके गुणो का प्रत्याख्यान है। किन्तु, वहाँ भी विज्ञान, इन्द्रिय और विषय का त्रिक है। मन-इन्द्रिय या आयतन को भी यह मानता है, जिसके चैतसिक-धर्म विषय हैं। मन विज्ञान-सन्तति है, यह चैतसिक धर्मों की उपलब्धि स्वत करता है, और बाह्य विषयो का प्रत्यक्ष पचेन्द्रियो द्वारा करता है।

दिङ्नाग इस वाद का प्रत्याख्यान करते हैं। मन नाम का कोई इन्द्रियान्तर नही है, और सुखादि प्रमेय नही है। हीनयान के अन्तर्गत मन के सम्बन्ध में सर्व-सम्मत कोई विचार नहीं है। सर्वास्तिवादी मन-इन्द्रिय का बुद्धि से तादाम्य मानता है। इसके अनुसार चित्त, मन और विज्ञान का एक ही अर्थ है। किन्तु, थेरवादी विज्ञान के साथ हृदय-धातु भी मानते हैं।

दिङ्नाग नैयायिको के मत का विरोध करते हुए कहते हैं कि न्यायसूत्र (१।१।१२) मे भी केवल पाँच इन्द्रियाँ गिनाई गई हैं। किन्तु, वात्स्यायन कहते हैं कि मन इन्द्रिय है। ज्ञाता इन्द्रिय द्वारा व्यवसाय करता है, क्योकि यदि इन्द्रिय-विशेष विनष्ट हो जाय, तो अनुव्यवसाय (मैं इस घट के ज्ञान से सयक्त हूँ) की उत्पत्ति नही होती।

पूर्वपक्षी प्रश्न करता है, कि आप बतलाइए कि आत्मा और आत्मीय वेदना और संज्ञा की उपलब्धि कैसे होती है। भाष्यकार उत्तर देते हैं कि यह अन्त करण (मन) द्वारा होती है। मन इन्द्रिय है, यद्यपि सूत्र में मन का पृथक् उल्लेख है। इसका कारण यह है कि मन इन्द्रिय पचेन्द्रिय से कुछ बातो में भिन्न है। इस सूत्र मे भी षष्ठेन्द्रिय मन का निषेध नही किया गया है। दिङ्नाग उत्तर देते हैं कि यदि अनिषेध से ग्रहण समझा जाय, तो अन्य इन्द्रियो का उल्लेख वृथा है, क्योकि उनका अस्तित्व सभी मानते हैं। दिङ्नाग अन्तरिन्द्रिय का प्रत्याख्यान करते हैं, और उसके स्थान में मानस-प्रत्यक्ष मानते हैं।

सर्वज्ञान ग्राह्य और ग्राहक मे विभक्त है, किन्तु ग्राहक अश को इसी प्रकार पुन विभक्त नही कर सकते, क्योकि विज्ञान के दो भाग नही होते। अत., स्वसवेदन को बाह्य प्रत्यक्ष के तुल्य समझना अयुक्त है।

धर्मोत्तर कहते हैं कि ज्ञान की प्रक्रिया में प्रथम क्षण के अनन्तर विकल्प अनुगमन करता है। नि सन्देह आत्मा का ज्ञान रूपवेदन होता है, किन्तु इसके अनन्तर विकल्प नहीं

होता। चित्त की कोई अवस्था नहीं है, जिसमें यह संवेदन प्रत्यक्ष न होता हो। यदि हम नीलादि देखते हैं, और साथ-साथ सुखादि आकार का संवेदन होता है, तो यह नहीं कह सकते कि यह सुखादि रूप नीलादि से उत्पन्न इन्द्रिय-विज्ञान के तुल्य आकार है। किन्तु, जब किसी बाह्य अर्थ यथा नीलादि का दर्शन होता है, तब तुल्य काल में सुखादि आकार से किसी अन्य का संवेदन होता है। यह स्वात्मा की अवस्था का संवेदन है। वस्तुत, जिस रूप में आत्मा का वेदन होता है, वह रूप प्रत्यक्ष का आत्म-संवेदन है। अत, रूपदर्शन के साथ-साथ हम किसी एक अन्य वस्तु का अनुभव करते हैं, जो दृष्ट अर्थ से अन्य है, जो प्रत्येक चित्तावस्था के साथ होता है और जिसके बिना कोई चित्तावस्था नहीं होती। यह वस्तु स्वात्मा है। यह ज्ञान ही है। इसी ज्ञान का अनुभव होता है। यह ज्ञान रूपवेदन आत्मा का साक्षात्कार है; यह निर्विकल्प और अभ्रान्त है, अतः प्रत्यक्ष है।

तुलना—इस प्रकार, हम देखते हैं कि अन्य दर्शनों का आत्मा उपनिषदों में ब्रह्म का स्थान पाकर सांख्य में एक द्रव्य के रूप में माना जाता है। हीनयान में हम इसे विज्ञान-सन्तान के रूप में पाते हैं, जिसका कारित्र षष्ठेन्द्रिय का है। बौद्ध-न्याय में इसका यह स्थान भी विलुप्त हो जाता है, और यह प्रत्येक चित्तावस्था का साहचर्य करता है।

प्रत्यक्ष पर अन्य भारतीय दर्शनों के विचार

सांख्य

प्रत्यक्ष वह विज्ञान है, 'जो जिस वस्तु के सम्बन्ध से सिद्ध होता है, उसी वस्तु के आकार को ग्रहण करता है' [सांख्यसूत्र (१।८९) यत् सम्बन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखि विज्ञान तत्प्रत्यक्षम्]। विज्ञानभिक्षु इस लक्षण का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष वह बुद्धिवृत्ति है, जो वस्तु को प्राप्त होकर उस वस्तु के आकार में परिणत होती है। वस्तु के सान्निध्य से ही बुद्धि-वृत्ति नहीं उत्पन्न होती, किन्तु केवल उसका विशेष आकार उससे उत्पन्न होता है। यह आकार बुद्धिवृत्ति में निहित है। प्रत्यक्ष होने के लिए एक बाह्य वस्तु का सन्निकर्ष बुद्धि को चाहिए और बाह्य वस्तु के ज्ञान के लिए इन्द्रिय-सन्निकर्ष चाहिए। सांख्यों के अनुसार बुद्धि का तम उसकी वृत्ति में अन्तराय है। जब उपात्त विषय में इन्द्रियों की वृत्ति के होने से यह तम अभिभूत होता है, तब अध्यवसाय (ज्ञान) होता है। ईश्वरकृष्ण प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार देते हैं—

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्। (सांख्यतत्त्वकौमुदी, ५)

वाचस्पतिमिश्र इस लक्षण का भाष्य इस प्रकार करते हैं—प्रथम प्रत्यक्ष का एक वास्तविक विषय होना चाहिए। यह संशय का व्यवच्छेद करता है। विषय बुद्धिवृत्ति को अपने आकार में परिणत करता है। प्रत्यक्ष के विषय बाह्य और आभ्यन्तर दोनों हैं, पृथिव्यादि स्थूल पदार्थ और सुखादि सूक्ष्म पदार्थ।

पुनः विषय-विशेष के प्रत्यक्ष के लिए इन्द्रिय-विशेष की वृत्ति की आवश्यकता होती है। यह वृत्ति इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के रूप में होती है। इससे अनुमान, स्मृत्यादि पराकृत होते है। पुन इसके अतिरिक्त बुद्धिवृत्ति भी चाहिए। बुद्धि-व्यापार से विषय का निश्चित ज्ञान होता है। परिणामस्वरूप, अध्यवसाय, अर्थात् निश्चित ज्ञान उत्पन्न होता है।

वाचस्पतिमिश्र कहते है कि वाह्येन्द्रिय वस्तु का आलोचन कर मन को समर्पण करता है, मन सकल्प कर अहकार को समर्पण करना है, अहकार अभिमति देकर बुद्धि को समर्पण करता है। वाह्येन्द्रिय मन और अहकार यद्यपि परस्पर विरोधी हैं, तथापि भोग अपवर्ग-रूप पुरुषार्थ के लिए इनकी एकवाक्यता सिद्ध होती है।

बाह्येन्द्रियो की वृत्ति वस्तु का आलोचन-मात्र है। यह निर्विकल्पक ज्ञान है। सविकल्पक मन की उत्पत्ति है। जब वस्तु का आलोचन इन्द्रिय से होता है, तब मन का सकल्प-रूप व्यापार होता है। मन विशेषण-विशेष्यभाव से विवेचन करता है। 'यह यह है, वह नही है' (इदमेवम्, नैवम्)। पहले निर्विकल्पक ज्ञान होता है। यह वालमूक के ज्ञान के समान होता है। पश्चात् जात्यादि धर्मों से वस्तु का विवेचन होता है, समान-असमान जातीय का व्यवच्छेद होता है। यह मन का व्यापार है। यह सविकल्पक है। जब वाह्येन्द्रिय से वस्तु का आलोचन कर मन द्वारा विशेषण-विशेष्यभाव का विवेचन होता है, तब अहकार उस ज्ञान को स्वीकृत करता है। यहाँ मै अधिकृत हूँ, मेरे लिए यह विषय है, मुझसे अन्य कोई यहाँ अधिकृत नही हैं, अतः मै हूँ। यह जो अभिमान होता है, उसे अहकार कहते हैं। असाधारण व्यापार होने से इसे अहकार कहते हैं। इस प्रकार, जो पहले विषय का अवैयक्तिक ग्रहण था, वह अहकार से वासित होकर व्यक्तिगत अनुभव हो जाता है।

जब मन से विवेचित होकर सविकल्पक ज्ञान अहकार द्वारा अभिमत होता है, तब बुद्धि की अध्यवसायात्मक वृत्ति होती है। ज्ञात वस्तु के प्रति क्या कर्त्तव्य है, क्या प्रवृत्ति होनी चाहिए इस प्रकार का विनिश्चय, अध्यवसाय-बुद्धि का असाधारण व्यापार है।

साख्य के अनुसार वाह्य प्रत्यक्ष के लिए अन्तःकरण और वाह्येन्द्रिय का सयोग चाहिए। अन्त करण—बुद्धि, अहकार और मन—एक स्वभाव के हैं, यह एक दूसरे से पृथक् द्रव्य नही हैं। इन तीनो को मिलाकर एक अन्त करण होता है। वृत्ति के तारतम्य के अनुसार यह तीन हैं।

न्याय

गौतम के अनुसार इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न जो अव्यभिचारी ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है। यह दो प्रकार का है—अव्यपदेश्य और व्यवसायात्मक। वास्तव में, इन्द्रिय का अर्थ से, इन्द्रिय का मन से और मन का आत्मा से सयोग होता है। किन्तु, अन्तिम दो सयोग प्रत्यक्ष की विशेषता नही हैं। वह अनुमानादि प्रमाणो को भी सामान्य है। अत, प्रत्यक्ष के लक्षणो में इन सयोगो का उल्लेख नही है।

वात्स्यायन कहते हैं कि मन भी इन्द्रिय है। इसलिए, सुख-दुःखादि का संवेदन भी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत है।

विश्वनाथ कहते हैं कि प्रत्यक्ष वह ज्ञान है, जिसका अपर ज्ञानकरण नहीं है। यह अनुमान, उपमान, स्मृति, शब्दज्ञान का निरसन करता है, क्योंकि इन ज्ञानों का करण अपर ज्ञान है। निर्विकल्पक ज्ञान नाम से असंयत है। सविकल्पक वस्तु के नाम का भी ग्रहण करता है। नैयायिकों का मत है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विशेष्य और विशेषण का ग्रहण करता है, किन्तु उनके सम्बन्ध का ग्रहण नहीं करता।

मीमांसा

जैमिनि लगभग वही लक्षण बताते हैं, जो नैयायिक बताते हैं। जैमिनि कहते हैं कि प्रत्यक्ष से अतीन्द्रिय धर्म का ग्रहण नहीं होता। वह केवल इतना कहते हैं कि इन्द्रियार्थ के सन्निकर्ष से जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष है। यह ज्ञान पुरुष में होता है।

प्रभाकर के अनुसार साक्षात्प्रतीति को प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रत्येक क्रिया में त्रिपुटी संवित् होती है—आत्मा जो ज्ञाता है, उसकी संवित्ति, ज्ञेयवस्तु की संवित्ति और ज्ञान की संवित्ति। प्रत्यक्ष क्रिया दो प्रकार की है—निर्विकल्पक, सविकल्पक। प्रत्यक्ष का ज्ञान अन्य प्रत्यक्ष द्वारा नहीं होता। यह स्वसंवेद्य है।

वैशेषिक

प्रशस्तपाद का मत है कि इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के अनन्तर ही वस्तु के स्वरूपमात्र का प्रत्यक्ष होता है। यह निर्विकल्प है। यह सामान्य विशेष-सहित वस्तु का आलोचनमात्र है। किन्तु, इस ज्ञान में सामान्य-विशेष ज्ञान अभिव्यक्त होते हैं। यह ज्ञान की पूर्वावस्था है। इसमें पूर्व प्रमाणान्तर नहीं है। इसका फल रूपत्व नहीं है। सविकल्प विशेष वस्तु का ग्रहण है।

अनुमान

स्वार्थानुमान

अनुमान दो प्रकार का है—परार्थानुमान और स्वार्थानुमान। परार्थानुमान शब्दात्मक है (सिलॉजिज्म), स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक है। दोनों में अत्यन्त भेद होने से इसका लक्षण एक नहीं है। परार्थानुमान वह है, जिसमें दूसरे को ज्ञान प्रतिपादित कराते हैं। स्वार्थानुमान अपनी प्रतिपत्ति के लिए है। पहले हम स्वार्थानुमान का लक्षण वर्णित करेंगे। जो ज्ञान त्रिरूप लिंग से उत्पन्न होता है और जिसका आलम्बन अनुमेय है, वह स्वार्थानुमान है। अनुमान में भी प्रत्यक्ष के तुल्य प्रमाणफल की व्यवस्था है। यथा नीलसरूप प्रत्यक्ष का अनुभव होने पर नीलबोधरूप अवस्थापित होता है। यही नीलसरूप जो अवस्थापन का हेतु है, प्रमाण है और नीलबोधरूप प्रमाणफल है। इसी प्रकार, अनुमान के नीलाकार उत्पन्न होने पर नीलबोधरूप अवस्थापित होता है। नीलसारूप्य इसका प्रमाण है और नीलविकल्पन रूप इसका प्रमाण-फल है। सारूप्यवश ही नील प्रतीतिरूप सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं।

लिंग की त्रिरूपता

लिंग हेतु को कहते है। इसके तीन रूप है।

लिंग का अनुमेय मे होना (सत्त्व) प्रथम रूप है। इसका होना निश्चित है, क्योकि लिंग योग्यता के कारण नही, किन्तु इसलिए है कि आवश्यक रूप से परोक्ष ज्ञान का निमित्त है। अदृष्ट बीज भी अकुर के उत्पादन की योग्यता रखता है, किन्तु अदृष्ट धूम से अग्नि की प्रतिपत्ति नही होती। यह प्रतिपत्ति भी नही होती कि अमुक स्थान में अग्नि है। लिंग की तुलना उस दीप के प्रकाश से भी नही हो सकती, जो घटादि को प्रकाशित करता है। यह परोक्षार्थ का प्रकाशन किसी वस्तु के ज्ञान के उत्पादन का हेतु है, जो उपस्थित है। दीप और घट में कोई निश्चित सम्बन्ध नही है। यद्यपि धूम का दर्शन है, तथापि अग्नि की प्रतिपत्ति नही होगी, जबतक हमको अग्नि के साथ उसके निश्चित अविनाभाव का ज्ञान न हो। अतः, लिंग का व्यापार परोक्षार्थ (यथा अग्नि) और दृष्टलिंग (यथा धूम) की नान्तरीयकता (अविनाभाव) का निश्चयन ही है।

इस सत्त्ववचन (लिंग के अनुमेय मे होने से) से असिद्ध लिंग का निरसन होता है। लिंग को पक्ष के एक देश में प्रसिद्ध न होना चाहिए। यथा वृक्ष चेतन है, क्योकि वह सोते है। किन्तु, सब वृक्ष नही सोते, क्योकि उनका स्वाप केवल एक देश मे सिद्ध है। अत अनुमान नही है।

लिंग का द्वितीय रूप उसका सपक्ष में ही निश्चित सत्त्व है।

इस सत्त्व-ग्रहण से विरुद्ध का निरसन होता है, क्योकि वह सपक्ष मे नही है। साधारण अनैकान्तिक का भी निरसन है। वह सपक्ष में ही नही, किन्तु उभयत्र वर्त्तमान है। सपक्ष में ही लिंग का सत्त्व है। इसका यह अर्थ नही है कि सब सपक्ष में इसे होना चाहिए, किन्तु इसका यह अर्थ है कि असपक्ष में न होना चाहिए।

लिंग का तृतीय रूप लिंग का असपक्ष मे निश्चित असत्त्व है।

असत्त्व-ग्रहण से विरुद्ध का निरास होता है, क्योकि विरुद्ध विपक्ष में होता है। साधारण का भी निरास है; क्योकि वह सब सपक्षो में होता है और असपक्ष के एक देश में भी होता है। यथा शब्द बिना प्रयत्न के होते हैं। हेतु—क्योकि वह अनित्य है। इस उदाहरण में अनित्यत्व लिंग है। यह विपक्ष के एक देश में है। यथा विद्युत् आदि में (जो बिना प्रयत्न के होते हैं और अनित्य है) और दूसरे देश में यथा आकाशादि में नही हैं, जो बिना प्रयत्न के नही होता, किन्तु नित्य है। यहाँ अनुमेय जिज्ञासित धर्मी है।

सपक्ष वह है, जिसका पक्ष समान है। यह समान अर्थ है, यह अनुमेय के सदृश है। यह सामान्य क्या है, जो पक्ष और सपक्ष को मिलाता है। यह साध्य धर्म की समानता के कारण है।

असपक्ष सपक्ष से अन्य या उसके विरुद्ध अथवा सपक्ष का अभाव है। जबतक सपक्ष के स्वभाव का अभाव नही जाना जाता, तबतक सपक्ष से अन्य और उसके विरुद्ध की प्रतीति नही हो सकती। अतः, सपक्षाभाव अन्य दो के अन्तर्गत है।

त्रिरूप लिंग के तीन प्रकार

त्रिरूप लिंग के तीन प्रकार है—अनुपलब्धि, स्वभाव और कार्य।

अनुपलब्धि हेतु—अनुपलब्धि का प्रयोग इस प्रकार है—उस देश-विशेष मे घट नही है। हेतु—उसका ज्ञान प्रतिपत्ता को नही होता, यद्यपि ज्ञान का लक्षण, अर्थात् हेतु-प्रत्यय-सामग्री प्राप्त है। ज्ञान का जनक घट भी है, और अन्य चक्षुरादि भी जनक है। दृश्य घट के अतिरिक्त प्रत्ययान्तर हैं और उनकी सन्निधि है। जिसे हम अनुपलब्धि कहते हैं, वह ज्ञान का अभाव नही है, किन्तु वस्तु है और उसका ज्ञान है। दर्शननिवृत्तिमात्र स्वय अनिश्चित होने से गमक नही है। किन्तु जब हम अनुपलब्धि की बात करते हैं, जिसका रूप दृश्य का अनुपलम्भ है, तो वचन-सामर्थ्य से ही दृश्य घट-रहित प्रदेश और उसके ज्ञान का आशय होता है। अनुपलब्धि का अर्थ विविध प्रदेश और उसके ज्ञान का होना है।

स्वभाव हेतु—जिस साध्य की विद्यमानता हेतु की अपनी सत्ता की ही अपेक्षा करती है, हेतुसत्ता-व्यतिरिक्त किसी हेतु की अपेक्षा नही करती, उस साध्य में जो हेतु है, वह स्वभाव है।

प्रयोग—यह वृक्ष है (साध्य)। हेतु—क्योंकि यह शिंशपा है। इसका अर्थ यह है कि इसके लिए वृक्ष शब्द का व्यवहार हो सकता है; क्योंकि इसके लिए शिंशपा का व्यवहार हो सकता है। अब यदि किसी मूढ पुरुष को जो शिंशपा का व्यवहार नहीं जानता और ऐसे देश में रहता है जहाँ प्रचुर शिंशपा है, उसे कोई व्यक्ति एक ऊँचा शिंशपा दिखलाकर बताये कि यह वृक्ष है, तो यह जड पुरुष समझेगा कि शिंशपा का उच्चत्व वृक्ष-व्यवहार में निमित्त है। इसलिए, एक छोटा शिंशपा देखकर वह समझेगा कि यह वृक्ष नही है। इस मूढ को बताना चाहिए कि प्रत्येक शिंशपा के लिए वृक्ष का व्यवहार होता है। उच्चत्वादि वृक्ष-व्यवहार के निमित्त नहीं है, किन्तु केवल शिंशपात्व-मात्र निमित्त है।

कार्यहेतु—यह हेतु कार्य है।

प्रयोग—यहाँ अग्नि है। हेतु—क्योंकि यहाँ धूम है। 'अग्नि' साध्य है; 'यहाँ' धर्मो है, क्योंकि 'धूम है' हेतु है। कार्यकारणभाव की प्रतीति लोक में है। जहाँ कार्य है, वहाँ कारण है और जहाँ कारण की विकलता है, वहाँ कार्य के अभाव की प्रतीति होती है। अत., कार्य का लक्षण उक्त नहीं है।

हेतुभेद का कारण

यह कहा जा सकता है कि जब रूप तीन है, तब एक लिंग का होना अयुक्त है। यह भी कहा जा सकता है कि यदि यह तीन प्रकार-भेद है, तो प्रकार अनन्त हैं।

हमारा उत्तर यह है। इन तीन हेतुओ मे दो हेतु वस्तुसाधन हैं। यह विधि के गमक हैं। एक प्रतिषेध का हेतु है। यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रतिषेध से आशय अभाव और अभाव-व्यवहार का है। इसका अर्थ यह है कि हेतु साध्य को सिद्ध करता है, इसलिए वह साध्य का अग है। साध्य प्रधान है। अत, (साध्य के उपकरण) हेतु के भेद साध्य के भेद से होते हैं, न कि स्वरूप-भेद से। साध्य कभी विधि है, कभी प्रतिषेध, क्योकि विधि और प्रतिषेध एक दूसरे का परिहार है, इसलिए इनके हेतु एक दूसरे से भिन्न हैं। कोई विधि हेतु से भिन्न है, कोई अभिन्न है (स एव वृक्ष, सैव शिशपा)। भेद और अभेद एक दूसरे का त्याग करते है, इसलिए उनकी आत्मस्थिति के हेतु भी भिन्न है। अत, साध्य के हेतु भिन्न है, क्योकि साध्य मे परस्पर विरोध है, किन्तु हेतु स्वत एव भिन्न नही है।

पुन ऐसा क्यो है कि इन्ही तीन का हेतुत्व है। अन्य का हेतुत्व क्यो नही है?

क्योकि एक दूसरे का तभी जनक होता है, जब वह दूसरे से स्वभावेन प्रतिबद्ध हो (यथा धूम का अग्नि से स्वभाव-प्रतिबन्ध है)। स्वभाव-प्रतिबन्ध होने पर ही साधनार्थ साध्यार्थ का ज्ञान कराता है। इसलिए तीन ही गमक हैं, अन्य नही।

इसका क्या कारण है कि स्वभाव-प्रतिबन्ध होने पर ही गम्यगमकभाव होता है, अन्यथा नही?

क्योकि जो स्वभाव से अप्रतिबद्ध हैं, उनके लिए अव्यभिचार-नियम का अभाव है। साध्य और साधन में कौन किसका प्रतिबन्ध है?

साध्य मे लिंग का स्वभाव-प्रतिबन्ध है। लिंग परायत्त है, इसलिए वह प्रतिबद्ध है। साध्य अर्थ अपरायत्त है, इसलिए वह प्रतिबद्ध नही है। जो प्रतिबद्ध है, वह गमक है; जो प्रतिबन्ध का विषय है, वह गम्य है।

लिंग का स्वभाव-प्रतिबन्ध क्यो है?

क्योकि वस्तुतः साधन साध्यस्वभाव है, अथवा साध्य अर्थ से लिंग की उत्पत्ति होती है। यदि साध्यस्वभाव साधन है, यदि उनका तादात्म्य है, तो साध्य-साधन का अभेद होगा। इसीलिए, कहा है कि वस्तुत., अर्थात् परमार्थ-सत् रूप में इनका अभेद है।

इसका क्या कारण है कि इन दो निमित्तो (स्वभाव और कार्य) से ही लिंग का स्वभाव-प्रतिबन्ध होता है, अन्य से नही।

क्योकि जब तादात्म्य नही होता या इसकी उत्पत्ति उससे नही होती, तब स्वभाव-प्रतिबन्ध नही होता। इसलिए, कार्य और स्वभाव से ही वस्तु की विधि की सिद्धि होती है।

प्रतिषेध की सिद्धि

ऐसा क्यो है कि जब प्रतिषेधवश पुरुषार्थ की सिद्धि होती है, तब हम अदृश्य की अनुपलब्धि को सिद्धि का हेतु नही मानते?

प्रतिषेध-व्यवहार की सिद्धि पूर्वोक्त दृश्यानुपलब्धिवश होती है, अन्य से नहीं होती। प्रश्न है कि उसी से क्यों होती है? क्योंकि यदि प्रतिषेध्य वस्तु विद्यमान होती, तो दृश्य की अनुपलब्धि सम्भव न होती। इसके असम्भव होने से प्रतिषेध की सिद्धि होती है। अभाव-व्यवहार की सिद्धि तब होती है, जब प्रतिपत्ता के अतीत या वर्त्तमान प्रत्यक्ष की निवृत्ति होती है, यदि इसका स्मृतिसंस्कार भ्रष्ट न हो गया हो। अतीत और वर्त्तमान काल की अनुपलब्धि ही अभाव का निश्चय करती है। अनागत अनुपलब्धि स्वयं सन्दिग्ध स्वभाव की है। क्योंकि वह असिद्ध है, इसलिए अभाव का निश्चय नहीं करती।

अनुपलब्धि के प्रकार-भेद

अब अनुपलब्धि के प्रकार-भेद बताते हैं। इसके ११ भेद हैं। यह प्रयोगवश होते हैं। शब्द के अभिधान-व्यापार को प्रयोग कहते हैं। शब्द कभी साक्षात् अर्थान्तर को सूचित कर अनुपलब्धि को सूचित करता है, कभी प्रतिषेधान्तर का अभिधायी होता है। दृश्यानुपलब्धि सर्वत्र जानी जायगी, चाहे वह शब्द से सूचित न भी हो। अतः, वाचक के व्यापार-भेद से अनुपलब्धि का प्रकार-भेद होता है। स्वरूप-भेद नहीं है।

अब प्रकार-भेद बताते हैं—

१. प्रतिषेध्य के स्वभाव की अनुपलब्धि।

यथा: यहाँ (धर्मी) धुआँ नहीं है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि उपलब्धि के लक्षण प्राप्त होने पर भी अनुपलब्धि है।

२. प्रतिषेध्य के कार्य की अनुपलब्धि।

यथा: यहाँ (धर्मी) धूमोत्पत्ति का अनुपहत सामर्थ्य रखनेवाले कारण नहीं हैं (साध्य)।

हेतु—क्योंकि धूम का अभाव है।

३. व्याप्य (प्रतिषेध्य) का जो व्यापक धर्म है, उसकी अनुपलब्धि।

यथा: यहाँ (धर्मी) शिंशपा नहीं है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि व्यापक, अर्थात् वृक्ष का अभाव है। समान विषय में अभावसाधन का यह प्रयोग है।

४. प्रतिषेध्य के स्वभाव के विरुद्ध की उपलब्धि।

यथा: यहाँ (धर्मी) शीत का स्पर्श नहीं है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि यहाँ अग्नि है।

५. प्रतिषेध्य के जो विरुद्ध है, उसके कार्य की उपलब्धि।

यथा: यहाँ (धर्मी) शीत का स्पर्श नहीं है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि यहाँ धूम है।

६. प्रतिषेध्य के जो विरुद्ध है, उससे व्याप्त धर्मान्तर की उपलब्धि।

यथा : जात वस्तु का (भूत का) भी विनश्वर स्वभाव (धर्मी) ध्रुवभावी नही है (साध्य)।

हेतु—क्योंकि उनका विनाश हेत्वन्तर की अपेक्षा करता है।

७. प्रतिषेध्य का जो कार्य है, उसके जो विरुद्ध है, उसकी उपलब्धि।

यथा यहाँ (धर्मी) शीतजनन के अनुपहत सामर्थ्य के कारण नही है (साध्य)।

हेतु—क्योकि यहाँ अग्नि है।

जहाँ शीतकारण अदृश्य है और शीतस्पर्श अदृश्य है, वहाँ इस हेतु का प्रयोग होता है। जहाँ शीतस्पर्श होता है, वहाँ द्वितीय हेतु का प्रयोग करते है। जहाँ शीत के कारण दृष्ट होते है, वहाँ प्रथम हेतु का प्रयोग होता है।

८. प्रतिषेध्य का जो व्यापक है, उसके जो विरुद्ध है, उसकी उपलब्धि।

यथा · यहाँ (धर्मी) तुषारस्पर्श नही है (साध्य)

हेतु—क्योकि यहाँ अग्नि है।

यहाँ तुषारस्पर्श व्याप्य है और शीतस्पर्श व्यापक है। शीतस्पर्श दृश्य नही है।

९. प्रतिषेध्य का जो कारण है, उसकी अनुपलब्धि।

यथा : यहाँ (धर्मी) धुआँ नही है (साध्य)।

हेतु—क्योकि अग्नि नही है।

१०. प्रतिषेध का जो कारण है, उसके जो विरुद्ध है उसकी उपलब्धि।

यथा उसके (धर्मी) रोमहर्षादि विशेष नही है। (साध्य)।

हेतु—क्योकि दहनविशेष उसके सन्निहित है। कोई-कोई दहन शीतनिवर्त्तन में समर्थ नही होता, जैसे प्रदीप, इसलिए 'दहन-विशेष' उक्त है।

११. प्रतिषेध का जो कारण है, उसके जो विरुद्ध है, उसका जो कार्य है, उसकी उपलब्धि।

यथा इस देश (धर्मी) में रोमहर्षादिविशेषयुक्त पुरुष नही है (साध्य)।

हेतु—क्योकि यहाँ धूम है।

जब रोमहर्षादिविशेष का प्रत्यक्ष होता है, तव प्रथम हेतु का प्रयोग होता है। जव कारण, अर्थात् शीतस्पर्श का प्रत्यक्ष होता है, तव नवें हेतु का प्रयोग होता है। जव अग्नि का प्रत्यक्ष होता है, तब दसवे हेतु का प्रयोग होता है। जब इन तीनो का प्रयोग नही होता, तव ग्यारहवें हेतु का प्रयोग होता है।

यदि प्रतिषेध-हेतु एक है, तो अभाव के ग्यारह हेतु क्यो वर्णित है? प्रथम को छोडकर शेष दस प्रयोगो का एक प्रकार से प्रथम मे अन्तर्भाव है।

अदृश्यानुपलब्धि

दृश्यानुपलब्धि का हमने विवेचन किया है। यह अभाव और अभाव-व्यवहार में प्रमाण है। अदृश्यानुपलब्धि का क्या स्वभाव है और उसका क्या व्यापार है?

अर्थ, देश, काल और स्वभाव में से किसी से या सबसे विप्रकृष्ट हो सकते हैं। इनका प्रतिषेध सशयहेतु है। इसका स्वभाव क्या है? प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों की निवृत्ति इसका लक्षण है। प्रमान से प्रमेयसत्ता की व्यवस्था होती है। अतः, प्रमाण के अभाव में प्रमेय के अभाव की प्रतिपत्ति युक्त है। इसका उत्तर यह है। प्रमाण की निवृत्ति से दृश्यानुपलब्धि की सिद्धि नही होती, जब कारण की निवृत्ति होती है, तब कार्य निवृत्त होता है। जब व्यापक की निवृत्ति होती है, तब व्याप्य निवृत्त होता है। किन्तु, प्रमाण प्रमेय का कारण नहीं है और न व्यापक है। अत, जब दोनो प्रमाणो की निवृत्ति होती है, तब प्रमेय अर्थ की निवृत्ति सिद्ध नही होती और क्योकि प्रमाण का अभाव कुछ सिद्ध नही करता, इसलिए अदृश्य की अनुपलब्धि सशय का हेतु है, निश्चय-हेतु नही है।

किन्तु, यह भी युक्त है कि प्रमाणसत्ता से प्रमेयसत्ता सिद्ध होती है। प्रमाण प्रमेय का कार्य है। कारण के विना कार्य नही होता। किन्तु, ऐसा नही है कि कारण का अर्थ अवश्य-मेव हो। अत, प्रमाण से प्रमेयसत्ता की व्यवस्था होती है, प्रमाणाभाव से प्रमेयाभाव की व्यवस्था नही होती।

परार्थानुमान

परार्थानुमान वह है, जिनसे दूसरे को ज्ञान प्रतिपादित कराते हैं। यह त्रिरूप लिंग का प्रकाशन है। यहाँ भी लिंग या हेतु या साधन के तीन रूप हैं। यह इस प्रकार है—

१. अन्वय

यथा 'जहाँ धूम है, वहाँ वह्नि है' अथवा, जो जात है, वह अनित्य है।'

२. व्यतिरेक

यथा 'जहाँ वह्नि नही है, वहाँ धूम भी नही है।'

३. पक्षधर्मत्व

यथा 'यहाँ वही धूम है, जिसका वह्नि के साथ अविनाभाव है।'

परार्थानुमान शब्दात्मक है। वचन द्वारा त्रिरूप लिंग का आख्यान होता है। अनुमान को हमने पहले सम्यग् ज्ञानात्मक बताया है। इसका क्या कारण है कि अब हम उसे वचनात्मक कहते हैं।

हमारा उत्तर है कि कारण में कार्य का उपचार है। जब त्रिरूप लिग का वचनात्मक आख्यान होता है, तब उस पुरुष में त्रिरूप लिंग की स्मृति उत्पन्न होती है और स्मृति से अनुमान होता है। उस अनुमान का त्रिरूप लिंगाभिधान परम्परया कारण है। वचन उपचार-वश अनुमान है, मुख्यत. नहीं। लिंग के स्वरूप तथा उसके प्रतिपादक शब्द दोनो का

व्याख्यान होना चाहिए। स्वार्थानुमान में लिंग के स्वरूप का व्याख्यान हो चुका है। अब प्रतिपादक शब्द का व्याख्यान करना है।

अब हम परार्थानुमान के प्रकार-भेद दिखायेंगे। यह दो प्रकार का है। प्रयोग के भेद से यह द्विविध है। प्रयोग-भेद शब्द के अर्थाभिधान-भेद से होता है—साधर्म्यवत्, वैधर्म्यवत्। दृष्टान्तधर्मी के साथ साध्यधर्मी का हेतुकृत सादृश्य साधर्म्य कहलाता है। हेतुकृत असादृश्य वैधर्म्य है।

साधर्म्य—यथा जो कृतक (= संस्कृत = संस्कार) है, वह अनित्य है; जैसे घटादि।

पक्षधर्मत्व—शब्द ऐसे ही कृतक हैं।

साध्य—वह अनित्य हैं।

वैधर्म्य—जो नित्य है, वह अकृतक है, यथा आकाश। किन्तु, शब्द कृतक है। वह अनित्य है।

यदि इन दोनों प्रयोगों का अर्थ भिन्न है, तो त्रिरूप लिंग अभिन्न क्यों है?

प्रयोजन की दृष्टि से इन दोनों अर्थों में भेद नहीं है। दोनों से त्रिरूप लिंग प्रकाशित होता है। केवल प्रयोग का भेद है। अभिधेय की अपेक्षा कर वचन-भेद है, प्रकाश्य अभिन्न है। यथा · पीन देवदत्त दिन में नहीं खाता। पीन देवदत्त रात्रि में खाता है। इन दो वाक्यों में अभिधेय-भेद होते हुए भी गम्यमान वस्तु एक ही है।

अब हम साधर्म्यवत् अनुमान के उदाहरण देते हैं।

अनुपलब्धि का साधर्म्यवान् प्रयोग

(अन्वय) जहाँ कहीं उपलब्धि-लक्षण प्राप्त दृश्य की उपलब्धि नहीं होती, वहाँ हम उसके लिए असत् का व्यवहार करते हैं।

(दृष्टान्त) यथा : जब शशविषाणादि को जिस दृश्य के लिए हम असत् व्यवहार करते हैं, हम चक्षु का विषय नहीं करते।

(पक्षधर्मत्व) एक प्रदेशविशेष में हम दृश्य घट की उपलब्धि नहीं करते।

(साध्य) अतः, हम उसे असद् व्यवहार-योग्य कहते हैं।

स्वभाव-हेतु का साधर्म्यवान् प्रयोग

(अन्वय) जो सत् है, वह अनित्य है।

(दृष्टान्त) यथा घटादि।

(पक्षधर्मत्व) शब्द सत् है।

(साध्य) यह क्षणसन्तान है।

यह निर्विशेषण स्वभाव का प्रयोग है।

अब हम सविशेषण स्वभाव का प्रयोग बताते हैं।

(अन्वय) जो उत्पत्तिमत् है, वह अनित्य है।

(दृष्टान्त) यथा घटादि।

(पक्षधर्मत्व) शब्द उत्पत्तिमत् है।

(साध्य) शब्द अनित्य है।

अनुत्पन्न से इसकी व्यावृत्ति है। यहाँ वस्तु उत्पत्ति से विशिष्ट है। यह स्वभावभूत धर्म है।

अब कल्पित भेद से विशिष्ट स्वभाव का प्रयोग बताते हैं।

(अन्वय) जो कृतक है, वह अनित्य है।

(दृष्टान्त) यथा घटादि।

(पक्षधर्मत्व) शब्द कृतक है।

(साध्य) शब्द अनित्य है।

जो स्वभाव की निष्पत्ति के लिए अन्य कारणों के व्यापार की अपेक्षा करता है, वह 'कृतक' कहलाता है। इसलिए, कृतक का स्वभाव व्यतिरिक्त विशेषण से विशिष्ट है।

कार्यहेतु का साधर्म्यवान् प्रयोग

यह वह है, जहाँ हेतु कार्य है।

(अन्वय) जहाँ धूम है, वहाँ वह्नि है।

(दृष्टान्त) यथा महानसादि में।

(पक्षधर्मत्व) यहाँ धूम है।

(साध्य) यहाँ अग्नि है।

यह भी साधर्म्यवान् प्रयोग है।

वैधर्म्यवान् प्रयोग

(अन्वय) जो सत् है, उसकी अवश्य उपलब्धि होती है, यदि वह उपलब्धि-लक्षण-प्राप्त है।

(दृष्टान्त) यथा नीलादि विशेष।

(पक्षधर्मत्व) किन्तु, इस प्रदेशविशेष में हम किसी दृश्य-घट को नहीं देखते, यद्यपि उपलब्धि-लक्षण प्राप्त है।

(साध्य) अत, यहाँ घट नही है।

अब उस वैधर्म्य-प्रयोग को कहेंगे, जो स्वभाव-हेतु है। जो नित्य है, वह न सत् है, न उत्पत्तिमान् है और न कृतक है।

(दृष्टान्त) यथा आकाशादि।

(पक्षधर्मत्व) किन्तु शब्द सत् है, उत्पत्तिमान् है, कृतक है।

(साध्य) अतः, शब्द अनित्य है।

अब कार्यहेतु का वैधर्म्य-प्रयोग बताते हैं।

(व्यतिरेक) जहाँ अग्नि नही है, वहाँ धूम भी नही है।

(दृष्टान्त) यथा पुष्करिणी मे।

(पक्षधर्मत्व) किन्तु, यहाँ धूम है।

(साध्य) अत, यहाँ अग्नि है।

यहाँ भी वह्नि का अभाव धूमाभाव से व्याप्त बताया गया है। किन्तु, 'यहाँ धूम है', इससे व्यापक, अर्थात् धूम के अभाव का अभाव उक्त है, अत व्याप्य (अग्नि का अभाव) का भी अभाव है। और, जब वह्नि के अभाव का निषेध है, जो साध्यगति होती है।

अनमान-प्रयोग के अंग

नैयायिकों के प्रयोग के पाँच अग है, क्योकि प्रतिज्ञा=पक्ष और निगमन=साध्य यद्यपि एक ही हैं, तथापि भिन्न वचन दिखाये गये हैं और पक्षधर्मत्व दो बार आता है।

पर्वत पर वह्नि है।

क्योकि वहाँ धूम है।

यथा महानस मे।

यह धूम पर्वत पर है।

पर्वत पर वह्नि है।

दिङ्नाग ने प्रतिज्ञा=पक्ष, निगमन=साध्य को निकाल दिया है तथा पक्षधर्मत्व को एक ही बार रखा है। अत, बौद्धन्याय के प्रयोग के दो ही अग होते है, क्योकि अन्वय और व्यतिरेक से एक ही बात उक्त होती है।

बौद्धन्याय का अनुमान-प्रयोग

१. जहाँ धूम है, वहाँ वह्नि है, यथा महानस में, जहाँ दोनो हैं, अथवा जल मे, जहाँ धूम नही है, क्योकि वहाँ अग्नि नही है।

२. यहाँ धूम है, जो अग्नि का लिग है। जब हम उक्त दो प्रकार के प्रयोग का उपयोग करते हैं (साधर्म्य और वैधर्म्य), तब पक्ष या साध्य को निर्दिष्ट करने की आवश्यकता नहीं है; क्योकि साधन (लिंग या हेतु) साध्यधर्म में प्रतिबद्ध है और साधन की प्रतिपत्ति तादात्म्य या तदुत्पत्ति से होती है। हम जिसप्रकार का भी प्रयोग क्यो न करें, दोनो अवस्थाओ में साध्य एक ही है। अतएव, पक्षनिर्देश अवश्यमेव होना चाहिए, ऐसा नही है। यदि यह प्रतीति हो कि साधन साध्यनियत है, तो हमको अन्वयवाक्य मालूम है। यदि हम किसी प्रदेशविशेष में

उस साधन की उपलब्धि करे, तो हमको साध्य-प्रतीति आप-ही-आप हो जाती है। साध्य-निर्देश की पुन क्या आवश्यकता है?

यही सिद्धान्त अनुपलब्धि-प्रयोग मे भी लागू होता है। साधर्म्यवान् प्रयोग में भी साध्यवाक्य उसी तरह अनावश्यक है।

यथा : उपलब्धि-लक्षण प्राप्त होने पर भी जिसका अनुपलम्भ होता है, वह असद्व्यवहार का विषय है।

इस प्रदेशविशेष में घट की उपलब्धि नही होती, यद्यपि उपलब्धि-लक्षण प्राप्त है।

'यहाँ घट नही है', यह सामर्थ्य से ही अवगत होता है। वैधर्म्यवत् प्रयोग में भी ऐसा ही है।

यथा जो विद्यमान है और उपलब्धि-लक्षणप्राप्त है, उसकी अवश्य उपलब्धि होती है।

किन्तु, इस प्रदेशविशेष में घट की उपलब्धि नही है। सामर्थ्य से ही सिद्ध होता है कि सद्व्यवहार का विषय घट यहाँ नही है। इसी प्रकार, स्वभावहेतु और कार्यहेतु दोनो में सामर्थ्य से पक्ष का समकालीन प्रत्यय होता है।

अत., पक्षनिर्देश की आवश्यकता नही है।

पक्ष क्या है? पक्ष वह अर्थ है, जो वादी को साध्यत्वेन इष्ट है और जो प्रत्यक्षादि से निराकृत नही है। साध्य और असाध्य की विप्रतिपत्ति का निराकरण करना पक्ष का लक्षण है। अतः, साध्यवत्त्व ही इसका स्वरूप है। इसका अपर रूप नही है। जब प्रतिवादी साधन को असिद्ध मानता है, तब उसको साधनत्वेन निर्दिष्ट साध्यत्वेन इष्ट नही होता। मान लीजिए कि शब्द का अनित्यत्व साध्य है और हेतु चाक्षुषत्व है। क्योंकि, शब्द का चाक्षुषत्व असिद्ध है, इसे हम साध्य मान सकते है। किन्तु, यह साधन उक्त है। अत, यहाँ उसका साधनत्व इष्ट नही है।

वादकाल में वादी जिस धर्म को स्वय साधना चाहता है, वही साध्य है। दूसरा धर्म साध्य नहीं है।

अर्थ तभी पक्ष है, जब वह प्रत्यक्षादि से निराकृत नही है। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि एक अर्थ में पक्ष के लक्षण विद्यमान हो, तथापि यदि प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रतीति अथवा स्ववचन से वह निराकृत होता है, अर्थात् विपरीत सिद्ध होता है, तो वह पक्ष नही है।

यथा · १. शब्द श्रोत्र-ग्राह्य नही है। यह प्रत्यक्ष से निराकृत होता है। शब्द का श्रोत्रग्राह्यत्व प्रत्यक्ष सिद्ध है।

२. शब्द नित्य है। यह अनुमान से निराकृत है।

३ 'शशि' चन्द्र शब्द वाच्य नही है। यह प्रतीति से निराकृत है।

४. अनुमान प्रमाण नही है। यह स्ववचन से निराकृत है।

हेत्वाभास

त्रिरूप मे से यदि एक भी अनुक्त हो, तो साधन का आभास होगा। यह साधन के सदृश हैं, किन्तु साधन नही है। त्रिरूप की न्यूनता ही साधन का दोष है। प्रतिवादी या वादी को केवल अनुक्त होने पर ही नही, किन्तु उक्त के असिद्ध होने पर या सन्देह होने पर भी हेत्वाभास होता है।

साधन की असिद्धि या सन्देह होने पर हेत्वाभास की क्या सज्ञा होती है ?

यदि प्रथम रूप, यदि हेतु का धर्मी में सत्त्व असिद्ध है या सन्दिग्ध है, तो हेत्वाभास की सज्ञा असिद्ध की होती है।

असिद्ध

यथा जब साध्य यह है कि शब्द अनित्य है, तब चाक्षुषत्ववादी प्रतिवादी दोनो के लिए असिद्ध है।

वृक्षो का चैतन्य साध्य है; क्योकि जब सारी त्वचा का अपहरण होता है, तब उनका मरण होता है (दिगम्बर)। प्रतिवादी (बौद्ध) के लिए यह असिद्ध है। वह विज्ञान, इन्द्रिय और आयु के निरोध को मरण मानता है। वृक्षो में यह मरण असम्भव है, उनमे विज्ञान नही होता। इसलिए, उनके निरोध का प्रश्न ही नही है।

साध्य है कि सुखादि अचेतन है (साख्य)। साख्यवादी उत्पत्तिमत्त्व या अनित्यत्व को लिंग उपन्यस्त करते हैं, यथा रूपादि। चैतन्य पुरुष का स्वरूप है। पुरुष में वेदना नही होती। सांख्य के मत में उत्पत्तिमत्त्व और अनित्यत्व दोनो असिद्ध हैं।

सन्दिग्धासिद्ध

अब सन्दिग्धासिद्ध का उदाहरण देते है।

यदि हेतु के सम्बन्ध में सन्देह है, अथवा हेतु के आश्रयभूत साध्यधर्मी के विषय में सन्देह है, तो सन्दिग्धासिद्ध है।

यथा धूम बाष्पादि से सन्दिग्ध होता है।

यथा इस निकुज (धर्मी) में मयूर है, क्योकि हम उसकी ध्वनि सुनते हैं।

यह आश्रयासिद्ध है। यह भी सम्भव है, वहाँ वहुत-से पास-पास निकुज हो। यह भ्रम हो सकता है कि ध्वनि इस निकुज से आती है या किसी दूसरे से।

जब धर्मी असिद्ध है, तब हेतु असिद्ध है।

यथा . आत्मा का सर्वगतत्व साध्य है।

हेतु—आत्मा के सुखदु खादि गुण सर्वत्र उपलभ्यमान हैं।

यह हेतु असिद्ध है। बौद्ध आत्मा को नही मानते, तो सर्वत्र उपलभ्यमान गुणत्व कैसे सिद्ध हो ?

अनैकान्तिक

जब किसी लिंग का वह रूप, जिनमें उसका असपक्ष में निश्चित असत्त्व असिद्ध है, तो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है।

यथा साध्य है कि शब्द नित्य है।
क्योंकि, वह दृश्य है।
जो दृश्य है, वह नित्य है।
यथा आकाश (दृश्य और नित्य)।
घटवत् नही (अनित्य किन्तु अदृश्य नहीं)।
शब्द का अप्रयत्नानन्तरीयकत्व है।
क्योंकि, वह अनित्य है।
जो अनित्य है, वह प्रयत्नानन्तरीयक नहीं है।
यथा विद्युत् और आकाश (एक अनित्य दूसरा नित्य, किन्तु दोनो अप्रयत्नानन्तरीयक)।
घटादिवत् नही (जो प्रयत्नानन्तरीयक हैं और जिन्हें नित्य होना चाहिए, किन्तु अनित्य हैं)।
शब्द प्रयत्नानन्तरीयक है।
क्योंकि, वह अनित्य है।
जो अनित्य है, वह प्रयत्नानन्तरीयक है।
यथा घट (जो प्रयत्नानन्तरीयक है)।
विद्युत्-आकाशवत् नही (जो ऐसे नही हैं किन्तु एक अनित्य है, दूसरा नित्य है)।
शब्द नित्य है।
क्योंकि, वह अमूर्त्त है।
जो अमूर्त्त है, वह अनित्य है।
यथा आकाश-परमाणु (जो दोनो नित्य हैं)।
घटवत् नही (दोनों अनित्य, किन्तु पहला अमूर्त्त)।

इन चार दृष्टान्तो में पक्षधर्म का असत्त्व विपक्ष में असिद्ध है। इससे अनैकान्तिकता है।

इसी प्रकार, जब यह रूप सन्दिग्ध है, तब भी अनैकान्तिक है। यथा साध्य है कि अमुक असर्वज्ञ है अथवा रागादिमान् है। यदि प्रकृत साध्य में वक्तृत्वादि धर्म हेतु कहे जायें, तो विपक्ष (सर्वज्ञ) में इसका असत्त्व सन्दिग्ध है। सर्वज्ञ में वक्तृत्वादिक धर्म होते हैं, अथवा नहीं। अत, अनैकान्तिक है।

किन्तु, यह कहा जा सकता है कि सर्वज्ञ वक्ता उपलब्ध नहीं है, तो उसके वक्तृत्व के विषय में सन्देह क्यों ? ''सर्वज्ञ वक्ता का अनुपलम्भ है'', यह संशय का हेतु है। जब कोई अदृश्य

विषय हो, तो अनुपलम्भ निश्चयहेतु नही है, किन्तु सशयहेतु है। अत, सर्वज्ञ मे वक्तृत्व का असत्त्व सन्दिग्ध है। प्रतिवादी कह सकता है कि यह अनुपलब्धि नही है, जिसके कारण वह कहता है कि सर्वज्ञ में वक्तृत्व का अभाव है, किन्तु वह ऐसा इसलिए कहता है, क्योकि सर्वज्ञता का वक्तृत्व से विरोध है। हमारा उत्तर है कि विरोध नही है। इसलिए, वह सिद्ध नही होता; क्योकि सन्देह है, विरोध का अभाव है, इसलिए सन्देह है। सन्देह के कारण व्यतिरेक की असिद्धि है। विरोध का अभाव कैसे है? विरोध द्विविध है, अन्य प्रकार का नही है।

विरोध

विरोध क्या है? यदि कारण-वैकल्य से किसी का अभाव होता है, तो उसका किसी से विरोध नही होता। किन्तु, जबतक समग्र कारण अविकल रहते है, तबतक उस वस्तु की निवृत्ति कोई नही कर सकता। इसलिए, उसका कोई विरोध कैसे कर सकता है?

किन्तु, निम्नाकित प्रकार से यह सम्भव है। अविकल कारण के होने पर भी जिसके द्वारा कारण-वैकल्य होकर अभाव होता है, उससे विरोध है। ऐसा होने पर जो जिसके विरुद्ध है, वह उसको क्षति पहुँचाता है। यदि कोई शीतस्पर्श का जनक होकर अन्य शीतस्पर्श की जननशक्ति में प्रतिवन्ध होता है, तो वह शीतस्पर्श का निवर्त्तक होता है, और इस अर्थ में विरुद्ध है। अत, हेतु-वैकल्य का करनेवाला जो निवर्त्तक है, वह विरुद्ध है।

एक ही क्षण में विरुद्धो का सहावस्थान सम्भव नही है। दूरस्थ होने से विरोध नही होता। अत, निकटस्थ का ही निवर्त्य-निवर्त्तकभाव होता है। इसलिए, जो जिसका निवर्त्तक है, वह उसको तृतीय क्षण से कम में नही हटा सकता। प्रथम क्षण में सन्निपात होता है, द्वितीय में वह विरुद्ध को असमर्थ करता है, तृतीय मे असमर्थ निवृत्त होता है और वह उस देश को आक्रान्त करता है। उष्णस्पर्श से शीतस्पर्श की निवृत्ति होती है। इसी प्रकार आलोक, जो गतिधर्मा है, क्रमेण जलतरगवत् देश को आक्रान्त कर अन्धकार में निरन्तर आलोक-क्षण उत्पन्न करता है। तब आलोक का समीपवर्त्ती अन्धकार असमर्थ हो जाता है। तदनन्तर, उसकी निवृत्ति होती है और अन्धकार क्रमेण आलोक से अपनीत होता है। जब आलोक उस अन्धकार-देश में उत्पन्न होता है, तब जिस क्षण से आलोक का जनक क्षण उत्पन्न होता है, उसी क्षण से अन्धकार अन्धकारान्तर के जनन में असमर्थ हो जाता है। अत, जिस क्षण में जनक होता है, उससे तीसरे क्षण में अन्धकार निवृत्त होता है, यदि शीघ्र निवृत्त हो। यह दो सन्तानो का विरोध है, न कि दो क्षणो का। यद्यपि सन्तान नाम की कोई वस्तु नही है, तथापि सन्तानी वस्तुभूत हैं। अत, परमार्थ यह है कि दो क्षणो का विरोध नही है, किन्तु बहुक्षणो का। जबतक दहन के क्षण रहते है, तबतक शीतक्षण प्रवृत्त होते हुए भी निवृत्त होते है।

अब हम दूसरे प्रकार का विरोध दिखलाते है। जिन दो का लक्षण परस्पर परिहार का है, उनका भी विरोध होता है। नील के परिच्छिद्यमान (नील का ज्ञान) होने पर

तादात्म्य-अभाव (अनील) का अवच्छेद होता है। यदि इसका अवच्छेद न होता, तो नील के अपरिच्छेद का (अज्ञान) प्रसंग होता। इसलिए, वस्तु का भाव और अभाव परस्पर परिहार के रूप में स्थित हैं। जो नील से अन्य रूप है, वह नीलाभाव में अवश्य अन्तर्भूत है। जब हम पीतादि की उपलब्धि करते हैं तब नील का अनुपलम्भ होता है और उसके अभाव का निश्चय होता है; क्योंकि जैसे नील अपने अभाव का परिहार करता है, उसी तरह पीतादिक भी अपने अभाव का परिहार करते हैं। अतः, भावाभाव का (नील और अनील का) साक्षात् विरोध है और दो वस्तुओं का (नील और पीत का) विरोध है; क्योंकि वे अन्योन्य अभाव को अन्तर्भूत करने में व्यभिचार नही करते।

किन्तु, वह क्या है, जिसे हम अन्यत्र अभाव मानते हैं ?

यह उसका नियताकार अर्थ है। यह अनियताकार अर्थ नही है, यथा क्षणिकत्व। क्योंकि, सभी नीलादि का स्वरूप क्षणिकत्व है, इसलिए नियताकार नही है। यदि हम क्षणिकत्व का परिहार करें, तो कुछ भी नहीं दिखाई देगा।

यदि ऐसा है, तो अभाव भी नियताकार नही है। क्यो ? यह अनियताकार क्यों हो ? क्योंकि, इस अभाव का वस्तुरूप कल्पित विविक्ताकार है, इसलिए यह अनियताकार नही है। इसलिए, जब हम अन्यत्र किसी वस्तु के अभाव को उपलब्ध करते हैं, तब हम उसे अनियताकार में नहीं, किन्तु नियत रूप में, चाहे वह दृष्ट हो या कल्पित, उपलब्ध करते हैं। इसलिए, जब हम नित्यत्व का निषेध करते हैं, अथवा जब हम पिशाचादि की उपलब्धि का प्रत्याख्यान करते हैं, तब हमको जानना चाहिए कि इनको नियताकार होना चाहिए।

यह विरोध एकात्मकत्व का विरोध है। जिन दो का परस्पर परिहार है, उनका एकत्व नही होता। इस विरोध को इसलिए 'लाक्षणिक विरोध' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि इस विरोध से वस्तुतत्त्व का विभक्तत्व व्यवस्थापित होता है। अतएव, यदि किसी दृश्यमान रूप में हम किसी दूसरे का निषेध करते हैं, तो हम उस दृश्य का अभ्युपगम करके ही उसका निषेध करते हैं। जब पीत में हम उसके अभाव का निषेध करते हैं, अथवा यह पिशाच है, इसका निषेध करते हैं, तब हम दृश्यात्मतया ही निषेध करते हैं। यदि ऐसा है, तो रूप के ज्ञात होने पर उसके अभाव का दृश्यात्मतया व्यच्छेद होता है। जो उसके अभाव के तुल्य नियताकार रूप है, वह दृश्य भी व्यवच्छिन्न होता है।

जब नील की उपलब्धि के साथ-साथ पीत का निषेध होता है, तब क्या इस अभूत पीत में भी अपीत का निषेध अन्तर्भूत है ? हाँ, उसके अभाव के तुल्य जो नियताकार रूप है, वह भी दृश्यात्मतया व्यवच्छिन्न होता है। अतः, जो रूप परस्पर परिहारेण स्थित हैं, वह सब अन्तर्भूत सब निषेधों के साथ व्यवच्छिन्न हैं।

इस विरोध में सहावस्थान हो सकता है। अतः, इन दो विरोधों के भिन्न व्यापार हैं। एक से शीतोष्ण स्पर्श के एकत्व का निवारण होता है, दूसरे से उनका सहावस्थान होता है।

इनकी प्रवृत्ति के विषय भी भिन्न है। वस्तु और अवस्तु मे परस्पर परिहार से विरोध होता है, किन्तु सहानवस्थान-विरोध कतिपय वस्तु में ही होता है। इसलिए, इनके भिन्न व्यापार और भिन्न विषय है। इनका अन्योन्यान्तर भाव नही है।

वक्तृत्व और सर्वज्ञत्व के बीच दो में से कोई विरोध भी सम्भव नही है। यह नही कहा जा सकता कि वक्तृत्व के होने से सर्वज्ञत्व का अभाव होता है। सर्वज्ञत्व अदृश्य है और अदृष्ट के अभाव का अध्यवसाय नही होता। इस कारण से ही इसके साथ विरोध नही है। यहाँ दूसरे प्रकार का विरोध भी नही है; क्योकि यह नही कहा जा सकता कि सर्वज्ञत्व-वक्तृत्व परिहार से होता है। इस अवस्था में काष्ठादि भी सर्वज्ञ होगे, क्योकि उनमे वक्तृत्व नही है और सर्वज्ञत्व के परिहार से भी वक्तृत्व नही है। क्योकि, यदि ऐसा होता, तो काष्ठ में भी वक्तृत्व का प्रसंग होगा। अत, किसी विरोध के न होने से वक्तृत्व के विधान में हम सर्वज्ञत्व का निषेध नही कर सकते।

ऐसा हो तो हो! किन्तु, यदि सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व में कोई भी विरोध न होता, तो घट-पट के समान उनकी सहावस्थिति दिखलाई पडती। क्या सहावस्थिति के अदर्शन से विरोध-गति नही होती और इस विरोध से अभावगति नही होती? इस आशका का यो निराकरण करते है। यद्यपि वक्ता में सर्वज्ञत्व की उपलब्धि न हो, तथापि वक्तृत्व के भाव को सर्वज्ञत्व की विरुद्ध-विधि नही कह सकते। यद्यपि दोनो के सहावस्थान का अनुपलम्भ है, तथापि इन दोनो का विरोध नही है, क्योकि सहानुपलम्भ-मात्र से विरोध सिद्ध नही होता। इसके विपरीत, अध्यवसाय से सिद्ध होता है कि दो उपलम्भमान में निवर्त्त्य-निवर्त्तकभाव होता है। अत, यद्यपि सर्वज्ञत्व और वक्तृत्व के सहावस्थान का अनुपलम्भ है, तथापि वक्तृत्व का सहभाव यह सिद्ध नही करता कि सर्वज्ञत्व विरुद्ध की विधि (=सत्त्व) है। अत, पूर्व के सद्भाव का अर्थ अपर का अभाव नही है।

इसी प्रकार, वक्तृत्व रागादिमत्त्व का गमक नही है, क्योकि यदि वक्तृत्व रागादि का कार्य होता, तो वक्तृत्व की रागादि गति होती और रागादि की निवृत्ति होने पर वचनादि की निवृत्ति होती। किन्तु, वक्तृत्व कार्य नही है; क्योकि रागादि और वचनादि का कार्यकारणभाव असिद्ध है। अत, वक्तृत्व-विधि से रागादि गति नही होती। थोडी देर के लिए हम मान लें कि वचन रागादि का कार्य नही है, तथापि इन दोनो का सहावस्थान तो हो सकता है। तब रागादि की निवृत्ति होने पर वचन भी निवृत्त हो सकता है। इस आशका का हमारा यह उत्तर है—जो अर्थान्तर वचन का कारण नही है, यदि उसकी निवृत्ति होती है, तो सहचारित्व से ही वचनादि की निवृत्ति नही होती। अत, वक्तृत्व के साथ रागादि भी हो सकता है। इसलिए, वक्तृत्व सन्दिग्ध व्यतिरेक है, क्योकि विपर्यय में उसका अभाव सन्दिग्ध है। सर्वज्ञत्व का विपर्यय है और अरागादिमत्त्व रागादिमत्त्व का विपर्यय है।

विरुद्ध

उन हेतुदोषो को समझाकर जो एक रूप (प्रथम या तृतीय) के असिद्ध या सन्दिग्ध होनेपर होते हैं, अब हम उन हेतुदोषो को कहते है, जो दो रूप के असिद्ध या सन्दिग्ध होने पर होते हैं। जब दो रूप का विपर्यय सिद्ध होता है, तब हेतुदोष को 'विरुद्ध' कहते हैं।

यह दो रूप कौन है ? सपक्ष में सत्त्व और असपक्ष में असत्त्व। यथा. कृतकत्व विरुद्ध हेत्वाभास होता है, यदि नित्यत्व साध्य है। यथा : प्रयत्नानन्तरीयकत्व (प्रयत्न के बिना जन्म या ज्ञान) विरुद्ध हेत्वाभास होता है, यदि नित्यत्व साध्य है।

यह दो विरुद्ध क्यो है ? क्योकि सपक्ष में असत्त्व और असपक्ष में सत्त्व है। यह निश्चित है कि न कृतकत्व और न प्रयत्नानन्तरीयकत्व सपक्ष में, अर्थात् नित्य में होते हैं। दूसरी ओर उनकी विद्यमानता विपक्ष में ही, अर्थात् अनित्य मे निश्चित है। अत, विपर्यय की सिद्धि होती है। पुन ऐसा क्यों है कि जब विपर्यय की सिद्धि है, तब हेतु विरुद्ध होते है ?

यह विरुद्ध है, क्योकि उनसे विपर्यय की सिद्धि होती है। वह नित्यत्व (साध्य) के विपर्यय (अनित्यत्व) को सिद्ध करते है। क्योकि, वह साध्य के विपर्यय का साधन है, इसलिए विरुद्ध कहलाते है। यदि यह दो हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हैं, क्योकि वह विपर्यय को सिद्ध करते हैं, तो परार्थानुमान में साध्य उक्त होना चाहिए। यह अनुक्त नही रह सकता, किन्तु अनुक्त भी कभी-कभी इष्ट है। अत, वह हेतु, जो इष्ट का विघात करता है, इन दो से अन्य होगा। इसलिए, एक तृतीय प्रकार का विरुद्ध है। दो विपर्यय के साधन हैं, तीसरा अनुक्त इष्ट-विघात करता है।

उदाहरण—चक्षुरादि (धर्मी)।
परार्थ का उपकार करते है (साध्य)।
हेतु—क्योकि यह संचित रूप है।
यथा शयन, आसनादि पुरुष के लिए उपभोग्य वस्तु है।
यह हेतु इष्ट-विघात कैसे करता है ?

यह विरुद्ध हेत्वाभास है, क्योकि यह वादी के इष्ट का विपर्यय सिद्ध करता है। यह साख्यवादी है। असहत के लिए सघात रूप का अस्तित्व इसको इष्ट है। इसका विपर्यय सहत के लिए अस्तित्व है। क्योकि, यह विपर्यय को सिद्ध करता है, इसलिए हेतु साधन से विरुद्ध है। साख्यमतवादी कहता है कि आत्मा है। बौद्ध पूछता है कि क्यो ? वादी प्रमाण देता है। इस प्रकार साध्य है कि असहत आत्मा के चक्षुरादि उपकारक हैं। किन्तु, यह हेतु विपर्यय से व्याप्त है, क्योकि जो जिसका उपकारक होता है, वह उसका जनक होता है और कार्य (जन्यमान) युगपत् या क्रम से सहत होता है। इसलिए, 'चक्षुरादि पदार्थ हैं' का अर्थ है कि वह संहत परार्थ है, न कि असहत परार्थ।

आचार्य दिङ्नाग ने इस प्रकार के विरुद्ध को सिद्ध किया है। किन्तु, धर्मकीर्त्ति ने इसका वर्णन नही किया। इसका कारण यह है कि इसका अन्य दो में अन्तर्भाव है। यह उनसे भिन्न नही हैं। उक्त और अनुक्त साध्य में भेद नही है। जब एक रूप असिद्ध है, और दूसरा रूप सन्दिग्ध है, तब अनैकान्तिक होता है। जब इन दोनो रूपो का विपर्यय निश्चित होता है, तब हेतु विरुद्ध होता है। इसका क्या आकार है ?

यथा एक वीतराग या सर्वज्ञ है (साध्य)।

हेतु—क्योकि उसमें वक्तृत्व है।

जिस पुरुष में वक्तृत्व है, वह वीतराग या सर्वज्ञ है।

यहाँ व्यतिरेक असिद्ध है और अन्वय सन्दिग्ध है।

हमारा अनुभव सिद्ध करता है कि एक पुरुष जो रागवान् है और सर्वज्ञ नही है, वह वक्तृत्व-शक्ति से रहित नही होता। अत, यह नही जाना जाता कि वक्तृत्व से सर्वज्ञ होता है या नही। यह अनैकान्तिक है।

क्योकि, सर्वज्ञत्व और वीतरागत्व अतीन्द्रिय है, अत. यह सन्दिग्ध है कि वक्तृत्व जो इन्द्रियगम्य है, इनके साथ रहता है या नही।

जब दोनों रूप सन्दिग्ध है, तब भी अनैकान्तिक है। अन्वय-व्यतिरेक रूप के सन्दिग्ध होने पर संशय हेतु होता है।

जीवच्छरीर सात्मक है (साध्य)।

क्योकि, इसके प्राणादि आश्वासादि हैं (हेतु)।

इस वादी को मृत की आत्मा इष्ट नही है। यह असाधारण सशयहेतु है। इसमें दो हेतु दिखाते है। सात्मक और निरात्मक। इन दो को छोड़कर कोई तीसरी राशि नही है, जहाँ प्राणादि वर्त्तमान है। जो आत्मा के साथ वर्त्तमान है, वह सात्मक है। जिससे आत्मा निष्क्रान्त हो गया है, वह निरात्मक है। इन दो से अन्य कोई राशि नही है, जहाँ प्राणादि वस्तुधर्म वर्त्तमान हो। अत., यह सशयहेतु है। अन्य राशि का अभाव क्यो है ? क्योकि, इन दो में सबका संग्रह है। यही सशयहेतु का कारण है। दूसरा सशयहेतु यह है कि इन दो राशियो में से किसी एक में भी वृत्ति का सद्भाव निश्चित नही है। इन दो राशियो को छोडकर भी कोई राशि नही है, जहाँ प्राणादि वस्तुधर्म पाया जाय। अत, इतना ही ज्ञात है कि इन्ही दो राशियो में से किसी में वर्त्तमान है। किन्तु, विशेष के सम्बन्ध में वृत्तिनिश्चय नही है। कोई ऐसी वस्तु नही है, जिसमें सात्मकत्व या अनात्मकत्व निश्चित और प्रसिद्ध हो और जिसमें साथ-ही-साथ प्राणादि धर्म का अभाव सिद्ध हो। अतः, अनैकान्तिक है। हमने असाधारण धर्म के अनैकान्तिकत्व में दो कारण बताये है। क्योकि, यह सिद्ध नही है कि जीवच्छरीर-सम्बन्धी प्राणादि सात्मक राशि या अनात्मक राशि से उसको व्यावृत्त करता है। इसलिए, यह निश्चय करना कि किस राशि में

उसका निश्चित अभाव है, सम्भव नहीं है। प्राणादि का होना कुछ सिद्ध नहीं करता; न यही सिद्ध करता है कि आत्मा है, न यही सिद्ध करता है कि आत्मा का अभाव है। अतः, जीवच्छरीर में आत्मा का भाव है या नही, प्राणादि लिंग द्वारा निश्चित नहीं हो सकता।

इस प्रकार, तीन हेत्वाभास हैं—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। यह तब होते हैं, जब तीन रूपो में से किसी एक या दो-दो रूप असिद्ध या सन्दिग्ध है। आचार्य दिङ्नाग ने एक और सशयहेतु बताया है। उसे विरुद्धाव्यभिचारि कहते हैं। किन्तु, धर्मकीर्त्ति ने उसका उल्लेख नही किया है; क्योकि वह अनुमान का विषय नहीं है।

परिशिष्ट : १

शब्दानुक्रमणी

अ

अग–३, २८, ४२, १३५, २२५, २३०, ४५२
अग (जनपद)–३
अंगपरम्परा–२३०
अंगुत्तरनिकाय–३०, ३२–३४, ३६, ४१, ७६, ८२, १०८, १२७, १५६, २२८, २५६, २७५, २८३ २८७–२६०, २६४–२६६, ३८७, ४५२
अगुलिपर्व–३३०
अगुलिमाल–३१, ११७, २७६
अँगरेजी–१३१, १५०, १७२
अजलिकरणीय–७८
अकनिष्ठ–६६
अकर्मण्यता–३३८
अकल काल–५७१
अकालभोजनविरति–१६
अकालिक–७८
अकुतोभया–१६७
अकुशल–६३, २५७, २५८, ३३१, ३३३, ४४८
अकुशल-चैतसिक–३३८
अकुशल-मूल–१७, २५७, २५८
अकुशल-वितर्क–१७
अकुशल-महाभूमिक–३३४, ३३६
अकृत–२६४
अकृतक–३०३
अकृताभ्यागम–५३८
अक्लिष्ट-मनस्–४७२
अक्षण–१८४
अक्षणावस्था–२४, १८४
अक्षपाद–१६२
अक्षया मुद्रा–२१८
अक्षिवर्त्म–३३०
अक्षोभ्य–१५०
अक्षोभ्यव्यूह–१५०, १५५
अगत–५०५
अग्निवच्छगोत्तसुत्त–१५
अग्नि-विद्युत्–५८४
अग्रधर्म–२२, २६४
अग्रप्रासाद–२६४
अग्रयान–१०६, १३५
अग्रश्रावक–६, ११
अचल–५६
अचल-मण्डल–५६
अचलसेन–१७३
अचला–४१३
अचित्तक–४३३
अचेलक–४
अच्युत–२७६

अच्युत-पद–५७७
अजन्ता–१४८
अजर–८०, २९५
अजातशत्रु–१४२
अजित–१८६
अजितकेशकम्बल–२, ३
अजीव–२८५
अज्ञातसूत्र–८
अट्ठकथा–३४, २८८
अट्ठकवग्ग–३२
अट्ठिक–५४
अणिमा–१७७
अणु–१२७, ३२५, ३५१, ३५३
अतद्रूप परावृत्त–२४०
अतप्य–६६
अतिवावन–१६
अतीत–५०४
अतीश–१७१, १७३
अत्यसालिनी–२८८, ३२२, ४५२
अत्थिधम्म–२९०, २९६
अत्यन्त-निरोध–९३
अत्यन्त-विराग–९३
अत्रपा–१९, ३३९
अथर्ववेद–१७६
अदत्तादान–४, २५९
अदत्तादान-विरति–१९, २४
अ ुःख-वेदना–८५
अदृश्यानुपलब्धि–६०४
अदृष्ट–३२५, ३५३, ३५४
अद्भुत–२९५
अद्वय–११५, ३०३
अद्वय-ज्ञान–१६१
अद्वयवाद–२३८, ३०३, ३०६, ३८४, ३९०, ३९२, ३९९, ४००, ४०३, ४४९, ४७०
अद्वयविज्ञानवाद–४७८, ४८०
अद्वयसिद्धि–१७७
अद्वया–४७४
अद्वेष–४७, २५८, ३३७
अद्वैतदर्शन–१७६, १७७
अद्वैतवाद–३९६, ३९७
अधिगन्तव्य–२२१
अधिगमार्थ–३८६
अधिचित्त–१८
अधिपति–३२८
अधिपति-आश्रय–४६६
अधिपति-कारण–५८०
अधिपति-प्रत्यय–३५४, ३५६, ३५७, ४३८, ५०३
अधिपतिप्रत्यय-आश्रय–४६५
अधिपति-फल–२९४, २९५, ३६५, ४८१
अधिप्रज्ञा–१८
अधिमात्र–२२
अधिमात्र-क्षान्ति–३७०
अधिमुक्ति-चर्या–४१२
अधिमुक्ति-भेद–३८७
अधिमोक्ष–२५६, ३३४, ३३५, ३३८, ४४७
अधिवचनसस्पर्श–२३४
अधिवासना–२५५
अधिशील–१८
अधिष्ठान–७०, ४६३
अधिष्ठान-पारमिता–१८१
अधिष्ठान-वशिता–७१, ११३
अधोभूमि–५६८
अध्यवसाय–२५६, ५८९, ५९६
अध्यवसेय–२४०, ५९२
अध्यात्म-आलम्बन–४०१
अध्यात्म-सम्प्रसाद–३८२
अध्यात्मोपनिषत्–१२१

अध्याशय—४७
अध्याशय-प्रतिपत्ति—१५६
अध्येषणा—१८६
अध्व—३१४, ५०५
अध्वगत—३५६
अध्वत्रय—५०७
अनन्त-आकाश—२९९
अनन्तनिर्देश प्रतिष्ठान—१४२
अनन्तर-प्रत्यय—३५७
अनन्तरूपनिश्रय—३५८
अनन्त विज्ञान—२९९
अनन्तमग्ग-सयुत्त—३१
अनपत्रपा—५६=
अनपत्राप्य— ३३८, ३३९, ५६८
अनभिरति-सज्ञा—७७
अनभिलाप्य—४०१
अनवराग्र—५२२
अनवस्थादोष—२४०, ४९९
अनागत—५०४
अनागत बुद्ध—१०४
अनागत भव—२३०
अनागम—४८९
अनागामि-मार्ग—१००
अनागामी—२३, ४५, ४६, १२०, ५५३
अनागारिक—१
अनाज्ञातमाज्ञास्यामीन्द्रिय—३२८, ३३१
अनात्मता—२२४
अनात्मदृष्टि—३९०
अनात्मभाव—८५
अनात्मवाद—३४, १५६, २२३, २४१, २४३, ५३९
अनात्मवादी—२२३
अनानार्थ—४८९
अनार्य—३६
अनालय—२९५
अनास्रव—२३, २५७, २९४, ३७०
अनास्रव ज्ञान—४७७
अनास्रव-दर्शन—२२, २३
अनाश्रव-पचस्कन्ध—११२
अनास्रव-स्कन्ध—५५०
अनास्रवेन्द्रिय—३३०
अनिजित—२६६
अनित्य—९३
अनित्यता—९३, २२४, ३२३, ३५०, ३७५, ५७८
अनित्य-भाव—८५
अनित्यानुपश्यना—९३
अनिदर्शन—२९५
अनिमित्त-विहार—७३
अनिमित्त-समाधि—४०५
अनियत—३३४
अनियत गोत्र—३८८
अनियत-चैतसिक—३४०
अनियत-विपाक—२६७, २६८, २७५
अनिरुद्ध—९, ३४, ३ ३
अनिरोध—४८८
अनिरोधानुत्पाद—१६२
अनिर्गम—४८९
अनिर्वचनीय—८
अनिवर्त्तन-चर्या—१२९, १३०
अनिवृताव्याकृत—३४२, ४४८
अनिसाकी—१४१
अनीश्वरवाद—२२३, २४१
अनीश्वरवादी—१२३
अनु-अप्राप्ति—३४७
अनुक्रमणिका—२७, ३०

अनुगम–८८
अनुच्छेद–४८६
अनुत्तर–१३३
अनुत्तर धर्म–७८
अनुत्तर पद–४०८
अनुत्तर पूजा–१८६
अनुत्तर मार्ग–७८
अनुत्तर योगक्षेम–८, २६४
अनुत्तर योगतन्त्र–१७७ १७८
अनुत्तर शरीर–११४
अनुत्तरा सम्यक्सम्बोधि–१४४, १५३, १६५
अनुलन्न–२६४
अनुत्पाद–२६४, ४८८, ५१४
अनुत्पाद ज्ञान–२३, ११२, ३७१
अनुधर्मता–४०६
अनुनय-स्पर्श–२३४
अनुपविशेष–१०६
अनुपलब्धि–६००, ६०२, ६०३, ६०५
अनुपमा–११७
अनुपलब्धि-हेतु–६००
अनुपश्यना–८५
अनुपात्त–३१६
अनुपिटक–३०
अनुप्राप्ति–३४७
अनुबन्धना–८८, ६०
अनुभया–४७४
अनुमान–२२३, २४१, ५०३, ५६६, ५८६, ५६२, ५६३, ५६८–६०८
अनुमानवादी–४६४
अनुमानाश्रित ज्ञान–५६६
अनुराधपुर–२६, ३४
अनुलक्षण–३५१
अनुलोम–६५, ६६
अनुलोम चर्या–१२६
अनुलोम देशना–२३७
अनध्यवसाय–५६४, ५६५
अनुशम–३८८
अनुशय–२२, २३५, २७०, ३६६, ३८२
अनुशासनी–४०६
अनुशासनी प्रातिहार्य–२४
अनुस्मृति–५३, ५४, ७७, ८०, १०३
अनुस्मृति-स्थान–५३
अनेकार्थ–४८६
अनैकान्तिक–५६३ ६१०
अन्त–२६४
अन्त.कल्प–२६५, २६६
अन्तग्राहदृष्टि–३४२
अन्तराभव–२३१, २३६
अन्यतरतीर्थिक–२८५
अन्तेवासिक–४४
अन्धक–१०४
अन्धकार–३१५
अन्यथात्व–२४७
अन्यथान्यथिक–३१३
अन्ययान-मनसिकारमल–४१३
अन्यापाद्य–८०
अन्योन्य-प्रत्यय–३५८
अन्योन्याश्रय–२४१
अन्वय–६०४
अन्वय-क्षान्ति–३७
अन्वय-ज्ञान–२६६, ३७०
अन्वय-व्यतिरेक–२३६
अन्वय-व्याप्ति–२४०
अपत्रपा–३३६
अपत्राप्य–२६६, ३३६, ३३७
अपदान–२६, १४०
अपनीत–१५

अपभ्रंश—२५, २६, १७५
अपर—३५१, ५७१
अपरत्व—३५१, ३५२
अपरपर्याय-वेदनीय—२६७,२६८, ३४९
अपर-भव—२२५
अपर-शैल—२६
अपर-सामान्य—३४८
अपरान्त—२१, २२५, ३५५
अपरान्तक—३७, ३११
अपरान्त-कोटिनिष्ठ—४५२
अपरिच्छिन्न—४९
अपरिपक्वता—९९
अपवर्ग—२२१, ३०५
अपवादान्त—४७६
अपवादिका दृष्टि—२६०
अपान—८१
अपाय—४०
अपायगति—२४, २६०
अपायभूमि—६५, ६६, ३६८
अपौरुषेय—५८३
अपृकसिण—५४
अप्पना—५४
अप्रणिहित समाधि—४०५
अप्रतिघ—४३२
अप्रतिभाग—८
अप्रतिष्ठित निर्वाण—३९७
अप्रतिसख्या-निरोध—३२१, ३७३, ४३४
अप्रतिसंयुक्त—३५५
अप्रपचात्मक—४०१
अप्रमाण—९४, ३३७
अप्रमाणशुभ—६६
अप्रमाणाय—६६
अप्रमाद—३३६
अप्रहाण—२३०
अप्रहीण—२३०
अप्राप्तकारित्व—३७५
अप्राप्ति—३४४—३४७, ४३२
अप्राप्यकारित्व—३२७
अप्रामाण्य—९४
अबुद्धिपूर्वक—५८७
अब्धातु—५६६
अब्भतधम्म—२८
अब्मण्डल—२६५
अब्रह्मचर्य-विरति—१९
अभाव—२९४, २९५, ५८७
अभाववादी—५२५
अभावशून्यता—४०७, ४०८
अभिज्ञा—९२, ३७१, ३९२
अभिज्ञाबल—४
अभिधम्म—२७८,५८७
अभिधम्मत्थसगहटीका—३९
अभिधम्मत्थसगहो—३४, ३९, ६०, ६१, ६५, २२४, ३२३, ३३४, ३३८, ३५९
अभिधम्मपिटक—३३, ३४, १२६
अभिधर्म—८, ९, २६, २७, ४५, ११८, १२७, १६९, २२७, २२९, २३२, २८३, ३३८, ३७२, ५०८, ५७६, ५७७, ५७९, ५८०
अभिधर्मकथा—११
अभिधर्मकोश—३०, ४२, ६२, ६९, ७१, ७४, ७५, ८२, ८८, ९०, १०७, १२७, १२८, १३९, १६८, १६९, २२४, २३३, २३८, २४१, २५०, २५२ २८०, २८१, २८३, २८७—२९४, २९६, ३००, ३११, ३१२, ३१५, ३६८, ३७२—

३७४, ३७६, ३८३, ४१६, ४३१, ४३२, ४४७, ४४८, ४५२, ४५६, ५६५, ५७५, ५७८, ५८०, ५८२
अभिधर्मकोशव्याख्या–६६, १२७, १६६
अभिधर्मन्यायानुसार–१२७
अभिधर्मपिटक–२७, २६, ३०, ३४
अभिधर्मप्रकरण–३०
अभिधर्मशास्त्र–१६६, २८४, ३७२
अभिधर्मसमयप्रदीपिका–१२७
अभिधर्मसमुच्चय–४४५, ४४६
अभिध्या–२५६
अभिनिर्मित–१०७, ११२
अभिनिर्वृत्त–२०, २१
अभिनिर्हार–४१४
अभिनिवेश–१६, ४७, १६३, ५३६
अभिनिष्क्रमण–३, १३५
अभिनिष्क्रमणसूत्र–१३१
अभिनीहार–१८१
अभिभवार्थ–३८६
अभिमुखी–४१३
अभिव्यक्तिवादी–४६२
अभिषगाश्रित–२३५
अभिषेक–१३०
अभिष्वग–१८
अभिसम्बोध–४११
अभिसम्बोधन–१३५
अभिसस्करण–३१८
अभिसस्कृत–२२४
अभिसमय–२२, २६०, २६६
अभिसमयालकार–३०८
अभिसमयालंकारकारिका–१६८
अभिसमयालकारालोक–२६५, ३०७
अभूत–४३५
अभूत-परिकल्प–४०२, ४७७, ४८३
अभौतिक–५७२
अभ्यवकासवास–२
अभ्यवहरण–३३०
अभ्युपगमार्थ–३८६
अभ्र–३१५
अमनसिकार–६७
अमरवती–१८०
अमलाप्रज्ञा–२६८
अमितप्रभ–१११
अमिताभ–६, १०५, १११, ११६, १२२ १५०, ३०७
अमितायु–१०५, १११, १५०, १५१, ५७०, ५७१
अमितायुर्ध्यानसूत्र–१५१
अमिद–१५१
अमृत–८०, २७८, २८६, २८७, २६५ ३००, ५७०
अमृतकणिका–११४
अमृत-धातु–५७७, ५७८
अमृत-पद–८, ६
अमृता धातु–२६५
अमृतानन्द–१२३
अमृत्युपद–३०५
अमोह–४७
अम्बट्ठसुत्त–३१
अम्बर–५८४
अयोध्या–१७०, ४१५
अयोनिशोमनसिकार–२२८, २५७, २७०, ३३८
अरणा–३७१
अरणा-समाधि–२५३
अराडकालाम–३, ५
अरियचक्खु–२८६
अरिष्टनेमि–१६२
अरूप–६०

अरूप-आयतन–९७
अरूप-कर्मस्थान–९७
अरूप-धातु–१२०, २९९
अरूप-ध्यान–९७
अरूप-भव–७३, २३५
अरूप-भूमि–६६
अरूप-लोक–२९९
अरूपावचर–३३३
अरूपावचर-भूमि–६५, ६६
अर्चिष्मती–४१३
अर्णव–५७०
अर्थ–२९, ३१५
अर्थकथा–२९, ८९
अर्थकथाचार्य–४९
अर्थक्रिया–२३९, ५८९
अर्थक्रिया-कारिका–२३८, २३९
अर्थक्रिया-क्षम–५९०
अर्थक्रिया-गुण–३८८
अर्थक्रिया-समर्थ–५८९
अर्थक्रिया-सामर्थ्य–५९१
अर्थख्यान–४०१
अर्थचर्या–३९५
अर्थजात–२२२
अर्थपद–२२१
अर्थसहित–१५, १६
अर्थापत्ति–५९२
अर्थोपसंहित–२७८
अर्द्धमागधी–१२९
अर्पणा–४२, ५४, ६२, ६६, ६७, ७०, ८०
८७
अर्पणा-चित्त–६६
अर्पणा-ध्यान–८०
अर्पणा-प्राप्त–६६
अर्पणा-समाधि–५५, ६२, ६५, ६८, ८०,
८९, ९६
अर्ली साख्य–५८१
अर्हत्–७, १२, १३, २४, ३२, ४५, १०३,
४४९, ४५०, ५५३
अर्हत्पद–४३, ४५
अर्हत्त्व–४४९
अर्हन्मार्ग–१००
अलकार–४७३
अलोभ–४७, २५९, ३३७
अलौकिक समाधि–४०५
अल्पाक्षरा प्रज्ञापारमिता–१५७, १७६
अवन्ती–३, २५, २७, ३५
अवक्रमण–३७०
अवक्रान्तिका प्रीति–६७, ६८
अवचर–४०, ३३३
अवतसक–१०७, १५१, १७८
अवतसकसूत्र–१५१, १५५
अवदात–३१५
अवदात कसिण–५४, ७६
अवदान–३२, १४०
अवदान-कथा–१४०
अवदानकल्पलता–१४१
अवदान-शतक–१४०, १४१
अवदान-साहित्य–१४०, १६४
अवनत–३१५
अवभास–२२३
अवयव–२८६, ३३४
अवयवी–२८६, ३३४
अवरगोदानीय–३६८
अवलोकितेश्वर–१११, ११९, १४८, १५०
अववाद–१७९, ४०६
अववाद-चित्तस्थिति–३८९
अवस्तुक–३२१
अवस्थान्यथिक–३१३

अवाच्य–३०३
अविगत प्रत्यय–३५६
अविज्ञप्ति–२५२, २५४, ३१५, ३१७, ३७६, ४३२
अवितर्क विचार–५५
अविदूरे निदान–१३२
अविद्या–२०, २२, ४५, २२१, २२५, २३२, ३३८, ३६६, ४६६
अविनाभाव–५९९
अविनिर्भाग–३२३
अविपाक–३३१
अविप्रणाश–२७४, ५३७
अविरज–३२५
अविरति–४१
अविवेक–२२१
अविषाद–२०५
अविसवादक–५८९
अविह–६६
अविहिंसा–१७, ३३७
अविहेठना–३३७
अवीचि–१३४, १५०, ३६८
अवेस्ता–१२२
अवैवर्त्तिक–४५०
अव्यपदेश्य–५९७
अव्यभिचारी–५०३
अव्याकृत–३३३, ३४२, ३८३, ४४८
अव्यापाद–१७
अव्रज–३२५
अशाश्वत–४८९
अशुचिभाव–८५
अशुभ–१९, ५४—५६
अशुभ-सज्ञा–४६
अशैक्ष–२३
अशैक्षमार्ग–३३०, ३३१
अशोक–४, ७, २५, २६, ३६, ३८, १०३, १२५
अशोक-विरजपद–८
अशोकावदान–७, १३, १४१
अशोकावदानमाला–१४१
अश्वघोष–१३६-१४०, १६७, १७३, ३०२
अश्वजित्–६
अष्टद्रव्यक–५६६
अष्टम विज्ञान–४६७
अष्टमी-व्रतविधान–१७७
अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता–११३, १२४, १४१, १५७, १६१, १६४-१६६, १८३, २१३
अष्टागिक मार्ग–१६, २२, १८०, २८३
अष्टाक्षणविनिर्मुक्त–२०५
अष्टादश निकाय–३६
असग–१२४, १६४, १६६, १६८-१७०, ३०२, ३०३, ३०७ ३७६, ३८१, ३८४, ३८८-३९२, ३९४-४००, ४०२-४१०, ४१२, ४१५, ४२२, ४२४, ५८८
असज्ञाभव–२३५
असज्ञिदेव–४३३, ४५२, ४६१
असज्ञिसमापत्ति–२५४, ३१७, ३४६, ४३३, ४५२, ४६१
असज्ञिसत्त्व–६६
असम्प्रख्यान–२३२
असम्प्रजन्य–३३८–३४०
असंवर–२५५
असस्कृत–३३, २२४, २२६, २६४, २६६, ३१४, ३५०, ३७३, ५७७
असस्कृत धर्म–३२१, ३२२, ४३४, ४८५
असत्त्वाख्य–३१६

असपक्ष—५६६
असमवायिकारण—५८६
असमसमस्कन्ध—११२
असित—६६
असितकथा—१३६
असिद्ध—६०६
असिपत्रवन—१६८
असुखादु खवेदनीय—२३४
असुर—१५१
असुरकाय—६६, ३६८
असूया—६४, ३३८
अस्तगम—६७
अस्तिकाय—५७१
अस्तिप्रत्यय—३५६
अस्तिवादी—५६०
अस्थिमज्ज—७६
अस्सलायनसुत्त—३१
अहंकार—२२१, ३३८, ४२८
अहिंसा—६
अहेतुवाद—४८६
अहेय—३३१
अहोगग—३५
अहोरात्र—५४५
अह्री—३३६,५६८

आ

आकर-धातु—३१६
आकार—४४०
आकार-समता—३६४
आकाश—५४, ३२१, ३७३, ३७४, ४२६, ४३४, ५६६, ५७०, ५७२, ५८३—५८८
आकाश-कसिण—५४, ६७
आकाश-कुसुम—५६६
आकाश-गमन—११३
आकाश-धातु—१८०, ५१०, ५८७
आकाश-परीक्षा—५८८
आकाश-मण्डल—७७
आकाशवाद—५८२, ५८६—५८८
आकाश-सम—३६६
आकाशानन्त्यायनम्—५४, ५५ ६७, ३६८
आकाशानन्त्यायतनभूमि—६६
आकासो—५८६
आकिंचन्य—२६६
आकिंचन्यायतन—५४, ५६, ६७, ६८, ३६८
आकिंचन्यायतनभूमि—६६
आक्षेप—५८०
आगत—३३४
आगम—२७—२६, ३७, १०७, १२३, १२६, १४०, १६४, २६०, २८३, २८६, २६३, ४१७, ४७७, ४८३, ५४०, ५६३
आगम-ग्रन्थ—१५७,१६४
आचार्य—४४
आजानेय—२७१
आजीव—१६, २८३
आजीवक—४, ७
आजीव-परिशुद्धि—१७
आजीविक—४३०
आजीविकवाद—३७८
आज्ञात-कौण्डित्य—१२, १४३
आज्ञातावीन्द्रिय—३२८, ३३१
आज्ञेन्द्रिय—३२८
आतप—३१५
आतापन-परितापन—४
आत्मकर्म—२२२
आत्मक्लमथानुयोग—१६

आत्मग्राह–४२२, ४२४, ४२६, ४७३, ४७४
आत्मतः–४०५
आत्मदृष्टि–१५९, ४०८, ४७०
आत्मधर्म–४२३
आत्मधर्मोपचार–४३५
आत्मनिर्भास–४२३
आत्मपरिपाक–३९२
आत्मप्रतिपत्ति–२६०
आत्ममान–४७०
आत्ममोह–४७०
आत्मवशवर्त्तिता–२०५
आत्मवाद–२१, २३२, २४५, ३९६, ४००, ४२७, ४३५, ४७०, ४८०
आत्मवादी–२५४, ४२७
आत्मवादोपादान–२३१, २३५
आत्मसंस्कार–२२२
आत्मस्नेह–४७१
आत्मा–६, ९, ३३, १९६, २२२, २२३, २३६, २४३, २४४, २७४, २८४, २८५, २८७, २९३, ४०२, ४२४, ४२५, ४२७, ४३९, ४४८, ४७५, ५२३, ५३४, ५३९, ५९६
आत्मोच्छेद–२२२
आत्मोपचार–२२३, ४२३
आत्मोपनिपत्–१२१
आत्यन्तिक-हान–२२१
आदर्श-ज्ञान–४००
आदान–२२९
आदिकर्मप्रदीप–१७७
आदिकर्मिक-बोधिसत्त्व–१७७
आदिकल्याण–१०, १८, ४०
आदिनाथ–१११, १५०
आदिनारायण–१२२
आदिबुद्ध–१०४, १११, ११७, १२२, १४९, १५०
आदिभूमि–४०५
आदीनव–३३२, ३३८
आधारहेतु–३५७
आध्यात्मिक–४२७
आनन्तर्य–४०७
आनन्तर्य-कर्म–२५३
आनन्तर्य-मार्ग–२३
आनन्तर्य-सभाग–२६८
आनन्तर्य-समाधि–४०७
आनन्द–६, ७, ९–१३, १६, ३६, १०४, १०८, १०९, १११, ११२, ११९, १३३, १३५, १४७, १५७, १७९, २८१, २८३, २८९
आन–८१
आनापान–५६
आनापान-स्मृति–१९, ५४–५६, ८०–८२, ८७, ९१, ९४
आनापान-स्मृतिसमाधि–८२, ९४
आपायिक–२६१
आपो-कसिण–७५
आपोधातु–९९
आप्त–५०३
आप्तवचन–५९२
आबाध–४३, ४४
आभास–४०४
आभिधार्मिक–३०, २८८, २८९, २९२, २९३, ३११, ३३९, ३७२
आभिप्रायिक–४१७
आभिमानिक–१४३
आभोग-मल–४१३
आभ्यन्तर-वृत्तिक प्राणायाम–८१
आमस्वरय–६६

आमाशय—३३०
आम्नाय—२६, ३६, ३७, १३६, २८२
आयतन—८५, २४४, ३१८, ३१६
आयु—३५२, ३७५
आयुर्वेद-शास्त्र—६, १६७
आरम्भवाद—५६५
आरण्यक—११, १३, ३५
आराम-आरोपण—२६
आरूप्य—५४—५७, ६२, ७३
आरूप्यतृष्णा—२३१
आरूप्य-धातु—२३, ३२०, ३४३, ३६८, ५७७
आरूप्य-समापत्ति—४३३
आरूप्यावचर—२२५
आरेल-स्टाइन—१२४
आरोग्य—२६१
आर्य—१४, २३, २८७
आर्य-अष्टांगिक मार्ग—४५
आर्यगण्डव्यूहसूत्र—१८६
आर्यगयाशीर्ष—१८२
आर्यचक्षु—२८६
आर्यज्ञान—२१३, ४८६
आर्यतारास्रग्धरास्तोत्र—१७६
आर्यदेव—६, १६७, १६८, १७३, ४६०, ५४४
आर्यधर्म—६४
आर्यधर्मप्रतिपन्न—७८
आर्यफल—५५३
आर्य-बुद्धावतंसक—१५१
आर्य-महासांघिक—३६
आर्य-महीशासक—२२६
आर्यमार्ग—८२
आर्यमूलसर्वास्तिवाद—१२५
आर्यमूलसर्वास्तिवादी—३६, ३७
आर्यशतसाहस्रीप्रज्ञापारमिता—२१२
आर्यशालिस्तम्बसूत्र—११३
आर्यशूर—१४०
आर्यश्रावक—६०
आर्यसत्य—१७, १८, २२, ३१, ३२, ८५, २६५, ५५२
आर्य-समितीय—३६
आर्य-समापत्ति—२८७
आर्य-स्थविर—३६
आर्या—२८, २६
आर्यागीति—२८
आलम्बन—४४०, ४४४
आलम्बनपरीक्षा—१७०
आलम्बन-प्रत्यय—३५४, ३५५, ३५७, ५०३
आलम्बन-प्रत्ययवाद—४८१
आलम्बनवाद—४४२
आलम्बन-समता—३६४
आलम्बनोपनिश्रय—३५८
आलय—४३८, ४४०, ४४४, ४६४
आलयविज्ञान—११६, १६२, १६६, ३०२, ३०६, ४३७, ४३८, ४४०, ४४७, ४७३, ४७५, ४८१
आलोक—३१५
आलोक-कसिण—५४, ७६
आलोक-मण्डल—७६, ७७
आलोक-सञ्ज्ञा—६४
आल्टरमरी—३६६
आवरण—२१६
आवर्जन—७०, २५७
आवर्जनवशिता—७०
आवस्थिक—२२६, २२७, २३८
आवास—४३
आवृत्त-गमन—११३
आवेणिक—३४२, ३७१

आवध्र–३५२, ३९७
आशय–९६, ३८५
आशय-शुद्धि–२७६
आशुतोष मुखर्जी–२६
आश्चर्य–२९५
आश्रद्धय–३३८, ३३६
आश्रय–२५०, ४६५
आश्रय-परावृत्ति–४०२, ४०४
आश्रय-परिवृत्ति–३६४
अश्रय-समता–३६४
आश्रयासिद्ध–६०६
आश्वलायन–१४, १५, १६२
आश्वलायनसूत्र–१४
आश्वास–८१
अश्वास-काय–८६
आश्वास-प्रश्वास–८१, ८४, ८६
आसज्ञिक–३४४, ३४६, ४३३, ४५२
आसन–८३, २२२
आसन्नविमुक्ति–२२१
आसव–४५
आसेचनक-कार्य–१६५
आसेवन-प्रत्यय–३५८
आस्तिक–१, २
आस्तिक-दर्शन–५८८
आस्रव–४५, २३३, ३१४
आहार–९८, ४५८
आहार-प्रत्यय–३५८
अह्रीक्य–३३८, ३३९

इ

इक्ष्वाकुवंश–१३७
इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी–१२३
इन्द्र–३१, १६२
इन्द्रजाल–१७७
इन्द्रभूति–१७७
इन्द्रिय–६१, ६२, ९१, २२२, २३३, ३२०, ३२७, ३२८–३३३
इन्द्रिय-प्रत्यय–३५८
इन्द्रिय-विकलता–१८४
इन्द्रिय-विज्ञान–५९१
इन्द्रिय-स्वभाव–३३१
इन्द्रियार्थसन्निकर्ष–५९१
इतिवृत्तक–२०, २८, २९, ३२, १०८, १०९, २८५, २९४, २९५
इत्सिंग–३६, ३७, १०६, १२५, १२६, १३७, १३८, १४०, १६३, १६७
इदन्ता–३०४
इदम्प्रत्ययता–३०४, ४९६, ४९८
इरियापथ–५०
इलियट–१२२
इष्टि–४
इहलोक–२८८, ४९६, ५७२

ई

ईति–२४२, २६६, २७३, ३२२
ईर्यापथ–५०, ५२, ६२, २५५
ईर्ष्या–२४, २५९, ३३८–३४०
ईश्वर–६, १३१, १६२, २२२, २२३, २४१, २५०, ३२२, ३५४, ५८३
ईश्वरकृष्ण–५९६
ईश्वरवाद–२३८
ईश्वरवादी–२४२, २५६, २७३, ३२२
ईसा–१२२, १२८
ईसाई-धर्म–१२२
ईसामसीह–१०३

उ

उग्गाहनिमित्त–६०, ६१
उच्चार-प्रस्राव–१०४

उच्चार-प्रस्रावमण्ड—१३३
उच्चासनशयनविरति—१९
उच्छेद—१६
उच्छेददृष्टि—१६, २६४, २९५
उच्छेदवाद—२३१, २४५, ५३१, ५३२, ५४८
उच्छेदवादी—५६०
उज्जयिनी—३८, १२९
उज्जैन—११, २५
उञ्छवृत्ति—४
उडीसा—१७७
उड्डियान—१७७
उत्कुटिक—४
उत्तम-मगल—१७
उत्तर कुरु—३६८
उत्तर भारत—१२९
उत्तरापथक—१०४
उत्पत्ति-निःस्वभावता—४८६
उत्पाद—४०५, ५१३
उत्पाद-विनाश—५४७
उत्पादोत्पाद—५१३
उत्सन्नता—४८
उदक-चन्द्रबिम्ब—४०३
उदयन—३, १६७
उदयनवत्सराजपरिपृच्छा—१५६
उदान—५, २७—२९, ३२, १२७, १४०, २६२ २८१, २९४, ३७२
उदानवर्ग—१२५, १२७, २८७
उदायी—२८१, २८७, २८९
उदीरणत्व—४२८
उद्ग्रह—८७, ४०४
उद्ग्रह-निमित्त—६१, ७५—७७, ८४
उद्देशाचार्य—४४
उद्धुमातक—५४, ७७
उद्यान—१२६
उद्योतकर—२२१, २८५
उद्रक-रामपुत्र—३, ५
उद्वेगा-प्रीति—६७, ६८
उन्नत—३१५
उन्मेष-निमेष—३३०
उपक्लेश—३३९, ३४०, ३४४
उपगप्त—१४१
उपचय—३२३
उपचार—४२, ५४, ६५, ६६, ७०, ८७, ४३५
उपचार-क्षण—८७
उपचार-ध्यान—८०
उपचार-भूमि—४२, ५४
उपचार-समाधि—५४, ५५, ६१, ६२, ७८, ७९, ८७
उपचित कर्म—२५०, २७५
उपच्छेद—४४
उपदेश—३८५
उपनन्द—११८, १३२
उपनाह—३३९, ३४०
उपनिध्यान—२५७
उपनिश्रय-प्रत्यय—३५८
उपनिषत्—२, १४, १२१, २७९, २८४, २८७, ३९२, ३९६, ४००, ४२४, ४६३, ५७५, ५८३, ५८४, ५८७, ५९६
उपपत्ति—१४
उपपत्तिप्रतिलम्भिक-धर्म—३६३
उपपत्ति-भव—२३५, २३६
उपपत्तिभवक्षण—२२५
उपपद्य-वेदनीय—२६७, २६८, ३४९
उपपादुक—१३०, ४१७
उपबृहण-हतु—३५७

उपभोग—३२६
उपमान—५७८, ५६२, ५६८
उपमितभवप्रपचकथा—१२२
उपरत-कारित्र—३७५
उपराम—८
उपवसथ—२५४
उपविचार—२३५
उपसमानुस्मृति—५४, ८०
उपसम्पदा—५, ६, ४४, १२६, १७६
उपसम्पदाचार्य—४४
उपस्कार—२२२
उपस्तम्भ—३८५
उपस्तम्भ-हेतु—३५७
उपस्थ—३२६
उपस्थान—८७
उपस्थापक—६
उपात्त—३१६
उपादाता—५१६
उपादान—२०, २१, २२५, २२६, २३५, ३१५, ३६६, ४५६, ५१६
उपादान-वर्त्म—२३७
उपादान-स्कन्ध—२३५, ३१५
उपादाय-प्रज्ञप्ति—५२२
उपादाय-रूप—३४४
उपादि—४४०, ४४२
उपादेय—५८६
उपाध्याय—४४
उपाय-कौशल्य—१४३, १५८
उपालि—११, ३६
उपालि-परिपृच्छा—१५६
उपासक—६, २३, २५४
उपासिका—६, २५४
उपेक्खूपविचार—२३४
उपेक्षक—७२
उपेक्षा—१६, ५४, ६३, ७२—७४, ६४—६६, ६८, ३३६
उपेक्षा-पारमिता—१८२
उपेक्षा-वेदना—७४, २३४
उपेक्षेन्द्रिय—३२८
उपोसथ—७
उभ्र—४२०
उरग-परिपृच्छा—१५६
उर-शरीर—३२
उरुवेल-काश्यप—६
उरुवेला—३, ६
उष्णीष-विवर—१३१, १४२
उष्म—२२, ४५७
उष्मगत—२२
उस्सद-कित्तन—४६

ऊ

ऊर्णाकोश—११०
ऊर्ध्वभूमि—५६८

ऋ

ऋग्वेद—५७०
ऋजुप्रतिपन्न—७८
ऋणपरिशोधन-न्याय—१६७
ऋद्धि—४, ४३, ४४
ऋद्धिपाद—२८३
ऋद्धि—प्रातिहार्य—२४, ११८
ऋषभ—१६२
ऋषि—२, ११, १६२, ४२०
ऋषिपत्तन—५

ए

एकत्व—५७२
एकयानवाद—३०८
एकयानवादी—३०७
एकल्लवीरचण्डमहारोपणतन्त्र—१७८
एकव्यवकारभव—२३५

एकव्यवहारिक–२८८
एकहेतुवाद–४८९
एकान्तवाद–४२२
एकाक्षरी प्रज्ञापारमिता–१४७
एकाग्रता–७१, ७२, ७४, ३३४
एकोत्तरनिकाय–२८
एकोत्तरागम–२९, १२५, १२७, ४५२
एकोदिभाव–७१, ७२
एजर्टन–१२८, १२९
एवंजातीयकधर्म–३४४, ३४५
एशियाटिक सोसाइटी–१२३, १२४, १७३
एहिपस्सिक–७८
एहिभिक्षुकाय-उपसम्पदा–१२९
ऐर्यापथिक–३३१

ओ

ओकासो–५८६
ओघ–३९, २८७, ३६९, ४५१
ओडारिक–७१
ओडियान–३६
ओमिगा–१७३
ओरियण्टेलिया–२६
ओल्डेनबर्ग–८, २७८

औ

औदारिक–१६५, २५७, ५६७
औद्धत्य–३३८, ३३९
औद्धत्य-कौकृत्य–४१, ६७
औपनेय्यिक–७८
औपपादुक–११७, २६१
औपाधिक काल–५७१

क

कण्ट–१७५
कण्टकापाश्रय–४
कण्ठ–३३०
कणाद–१६२, ५५०, ५६०, ५८३, ५८५, ५८६
कथा–१३०
कथावत्थु–३३, ३८, १०४, ११२, १२५, २८१, २८८, २९०
कथावस्तु–२६, ११८, ३१४
कनिष्क–१२६, १३७, १५५, १६७
कन्नौज–१२६
कपिल–१६२, ५६०
कपिलवस्तु–३, ६, २४, १३२
कमलपुष्प–१०३
कमलबुद्धि–१७०
कमलशील–१७५
कम्बोज–१४, २७
करजरूप–९७
करजरूप-काय–९७
करण्डव्यूह–१११
करुणा–१९, ५४, ९४–९६, ३३७
करुणापुण्डरीक–१५०
कर्कशत्व–३१६
कर्न (एच्०)–१४१, १७२, २७९
कर्म–३१, ३२, ३४, ४३, २२७, २३६, २५०, २७६, २८४, ५३५, ५३६
कर्म (न्याय)–३४५, ४२८, ५९३
कर्मकाण्ड–१
कर्म-कारक–५१७
कर्म-क्लेश–२२
कर्मण्यता–३५३
कर्म-प्रत्यय–३५८
कर्म-प्रदीप–१७७
कर्मफल–२, ४, २६४, २७५, ५३५–५३८
कर्मबीज–४३८
कर्मभव–२१, २३५, ३६९
कर्म-मानिता–२०७
कर्म-वर्त्म–२२७, २३७

कमवाद—१०३, २२३, २२४, २५०—२७७, ५३५
कर्मविपाक—१, २६६, २७२, २७३
कर्मसिद्धिप्रकरण—१७०
कर्मस्थान—१६, ४४, ४५, ५४—५७, ६२, ७७, ८०, ८२, ८७, ८६
कर्मेन्द्रिय—३२६, ३३०
कलकत्ता—१६६
कलल—४६४
कलाप—३२३
कलियुग—१६२
कल्प—१०४
कल्पद्रुमावदानमाला—१४१
कल्पना—५६०
कल्पनापोढ—३४६
कल्पनापोढता—५०२
कल्पनामण्डितिका—१३८, १४१
कल्याणमित्र—१६, ४४, ४५, ५७, १५३, १५४, १८६, २०२
कवडीकार-आहार—४५८
कवलीकार-आहार—६८
कवीन्द्रवचनसमुच्चय—१३८
कशम्वक—१७
कश्मीर—३७, १२४, १२५, १३८, १६७, ३११
कश्मीरी—१७६
कसिण—५२, ५४—५७, ५६, ७५, ७७
कसिण-दोप—६१, ७५
कसिण-मण्डल—७६
कसिण-रूप—६७
कमिया—१०
कस्मपगोत्त—३७
कस्मपिक—३७
काक्षावितरणविशुद्धि—१००
काचीपुर—२७
काजूर—१५१, १५५
काठमाण्डू—१२३, १७३
काणदेव—१६८
काण्ड—२२५
कात्यायन—१६२
कात्यायनीपुत्र—२६, १२६, ३११, ३७२
काम—१७, ४५
कामच्छन्द—४१, ६७
कामतृष्णा—२३१, २३५
कामदेव—१७७
कामधातु—१८, ४०, ६६, १२० २३६, ३२०, ३४२, ३४३, ३६८
कामभव—७३, २३५
काममिथ्याचार—२६६
काममिथ्याचारविरति—२४
कामराग—२२, ५५, २५६, ३६६
कामलोक—११६
कामवितर्क—२१०
कामसुखानुयोग—१६
कामसुगतिभूमि—६५, ६६
कामाप्त-दुःख—२२
कामावचर—३३३
कामावचर-क्लेश—२३
कामावचर-चित्त—३४२
कामावचर-भूमि—६६
कामावचर-रूप—३५५
कामावचर-सत्त्व—३३३
कामोपादान—२३१, २३५
काय—८५, ८६, ३३७, ३४४, ३५२
काय-ऋजुकता—३३७
काय-कर्म—२४८
काय-कर्मण्यता—३३७
कायगतानुस्मृति—५४, ५५, ७६

कायदण्ड—२५१
काय-प्रश्रब्धि—४२, ३३७
काय-प्रागुण्यता—३३७
काय-मृदुता—३३७
काय-लघुता—३३७
काय-विज्ञप्ति—२५४, ३७९
काय-विवेक—६६, २१०
काय-सस्कार—८६, ९१, ९२
कायानुपश्यना—८५
कायावचरी—२५५
कायिक—१९८, २५०
कायिकी—२३४
कायेन्द्रिय—३२७, ३२८
कारण्डक—१७
कारण—२४०, ३५३, ५८६
कारण-हेतु—३५४, ३५९
कारण्डव्यूह—१४९, १५०, १५५
कारित्र—५७९—५८२
कार्दिये—१७४
कार्यकारणभाव—३३
कार्यहेतु—६००, ६०६
काल—३४१, ३८५, ४२९, ५४५, ५६६, ५७१. ५७२, ५८८
कालकर—१०७
कालत्रय—५४५
कालत्रयवाद—५४५
कालदेवल—३
कालवाद—४६३, ५६९—५८२
कालवादी—५४५, ५७२
कालसमता—३६४
कालसूत्र—३६८
कालाध्व—५७९
कालिदास—१३७
काशगर—१२४, १२६
काशी—३, ५
काश्मीर-वैभाषिक—३११, ३२६, ३२७, ४१८
काश्यप—१४६, ५४२
काश्यप-परिवर्त्त—१५५
काश्यपीय—३६, ३७, १२५
कीकी—३१२
कियोटो—१५१
कुम्भक—८०, ८१
कुम्भीपाक—२०१
कुइ-ची—३१२
कुक्कुटिक—२८८
कुचनी—२६
कुणाल—२७३
कुणालावदान—१४१
कुदृष्टि—३३९
कुमारजीव—१४१, १४२, १५१, १६७, १६८
कुमारलब्ध—१२८, १६७
कुमारलात—१३८, १४१, १६७, २४५, ३७२, ३७३
कुमारलाभ—१२८, ३०१
कुमारिल—५८३, ५९४
कुल—४३
कुशल—६३, २५७, २५८, ३३१, ३३३, ४४८
कुशल-चित्त—१९, ९७
कुशल-चैतसिक—३३८
कुशल-महाभूमिक—३३४, ३३६, ३३७, ५६७
कुशल-मूल—२२, २५७, २५८
कुशल-राशि—२२
कुशल-वितर्क—१७
कुशलोत्साह—६३
कुसिनारा—१० २४

कुहकवैद्य—२४६
कुल्ल (ई०)—२५
कूचा—७, १२४
कूटागार—१५१, १५४
कृत्य—५०, ५१
कृत्यानुष्ठान-ज्ञान—४००
कृष्ण—१२१, १२२
केगोन—१५१
केम्ब्रिज—१२३
कोचीन-चाइना—१२६
कोट्ठास—८०
कोलियपुत्त—१०७
कोलियवंश—१३०
कोलोपम—१८, २६०
कोश—१२६, १३६
कोशल—३, ११, २५, २६
कौकुलिक—१३६
कौकृत्य—३३८
कौटिल्य—१३७, १६२
कौरव—१६२
कौशाम्बी—३, ११, ३५, ३७, ३८, १०३
कौसीद्य—३२७—३४०
क्योटो—१६२
क्रमेण—२२
क्रान्त-आश्रय—४६८
क्रिया—५०४
क्रियातन्त्र—१७७
क्रोध—३३६, ३४०
क्लिष्ट—३८३
क्लिष्ट-मनन्—४६४, ५७५
क्लेश—२२७, २३६, ३३६, ५११
क्लेशकाम—६६
क्लेश-निष्यन्द—३४०
क्लेश-महाभूमिक—३३४, ३३८, ३३६
क्लेश-वर्त्म—२२७
क्लेशावरण—१६४, ४०६, ४२२
क्षण—३७६, ५४५, ५६६
क्षणभंगता—२३८, ४८८
क्षणभगमरण—७६
क्षणभगवाद—३४, २२३, २३८, २४१
क्षणसन्ततिवाद—२३८
क्षणिक—४२, २२३, २२६, २३८
क्षणिकवाद—३७६, ३८३, ३८४, ४१०, ५३६
क्षणिकवादी—३७६, ३८३, ४१७
क्षणिका प्रीति—६७
क्षय—२६५
क्षय-ज्ञान—२३, ११२, ३७०
क्षय-निरोध—६३
क्षय-विराग—६३
क्षान्ति—२२, १६५, २५६, ३६६, ३७०
क्षान्तिपारमिता—१७६, १८४, १६०, १६४ ३६६
क्षीणासव—४६
क्षुद्रकनिकाय—२८
क्षुद्रकागम—३१३
क्षुद्रिका प्रीति—६७
क्षेम—८०, २६५
क्षेमपद—८
क्षेमेन्द्र—१४१
क्सोमा—११४

ख

खग्गविषाणसुत्त—३२, १३०
खड्गविषाण—११, १२
खन्धक—७, २७, ३०
खपुष्प—४७५
खरोष्ट्री—१२४, १३५

खायित—६६
खाश—७
खुतन—१०३, १२४
खुद्दकनिकाय—२६, ३०, ३२, ३३
खुद्दकपाठ—३२
ख्री-दे-स्रू-त्सान १७२

ग

गगा—३५, ५६, १४७, १५२, २१२, २७५, ५७६
गगा-यमुना—३७
गण—१, ४३
गणना—८७
गणवाचक—४३
गणाचार्य—३, १०३
गणितशास्त्र—५६८
गणी—३
गण्डव्यूह—१४१, १५५
गण्डव्यूहमहायानसूत्र—१५१
गण्डीस्तोत्र—१३८
गत—५०५
गति—३४७, ४५६, ५०५
गति-क्रिया—५७४
गद्गदस्वर—१४८
गद्यकारण्डव्यूह—१४६, १५०
गन्तव्य—५०५
गन्ता—५०५
गन्ध—३१५, ३१६
गन्धकुटी—६
गन्धर्व-नगर—४१६
गन्धर्व-पुद्गल—५७७
गन्धवती—५६८
गमन—५०, ६६, २४६
गमनारम्भ—५०७
गम्भीरनय—११३
गम्यमान—५०५
गया—१४७, २६२
गर्भोपनिषत्—५८४
गान्धार—१२५
गान्धार-रीति—१०४
गाथा—२६, २८, २६, १०७, १२३, १३६, १५१, २३५, ५६२
गाथा-सस्कृत—१२८
गिरनार-लेख—२५
गीति—२८
गुजरात—१७१
गुटिका—५८१
गुण—३४५, ३५२, ४२८, ५६३
गुण-कारण्डव्यूह—१४६
गुण-क्षेत्र—२७६
गुणभद्र—१५१, १६२
गुणमति—१६६
गुणालकारव्यूह—११६
गुप्त—१६२
गुप्तकाल—१६२
गुप्तलेख—१२४
गुरुत्व—३१६
गुह्यसमाज—१७७
गुह्यसिद्धि—१७७
गृध्रकूट—१०६, ११०, १४२, १४८ १५५, १५७
गृहकारक—५
गृहपति—११
गृह्यसूत्र—१७७
गेय—२८
गेय्य—२८, २६
गोत्र—३८७ ४४०
गोत्रभू—६६, ६८, ३८७
गोत्रभेद—३८७

गोपा—१५३, १५४
गोरज—३२५
गोविन्दभाष्य—५७२
गोव्रतिक—४
गोशील—२६२
गोर्मिग—६
गौतम—२३८, ३३०, ५५०, ५६७
गौतम (बुद्ध)—२, १४, १५, ३२, ११८, १३०, १४६
ग्रन्थ—४३, ४४
ग्रन्थपाद—१२७
ग्रह—५७४
ग्रामोपचार—४२
ग्राहक-ग्रनुकृति—४३५
ग्राहक-भाग—४४१
ग्राह्य—२४०, ५६२
ग्राह्य-ग्राहक—४३४
ग्राह्य-भाग—४४१
ग्रुनवेण्टेल—१२४
ग्रेधाश्रित—२३५
ग्लानप्रत्ययभेपज—४३

घ

घनव्यूह—४७७, ४८५
घोपक—३११, ३१३
घ्राणेन्द्रिय—३२७, ३२८

च

चचु—२६६
चक्र—१०३
चक्रवाल—६६
चक्षुधर्म—५६४
चक्षुरायतन—४१७
चक्षुरिन्द्रिय—३२६—३२८
चक्षुर्विज्ञान—३२६—३२८
चक्षुर्विज्ञान-ममगी—३२६
चण्डप्रद्योत—३
चतुःशतक—१६८
चतु शतिका टीका—१७०
चनु सत्य—२२
चतु सूत्री—१८
चनु.स्तव—१७६
चतुरार्यमत्य—३१
चतुर्धातु—६६
चनुर्धातु-व्यवस्थान—५६, ५७, ६६
चतुर्विध ज्ञान—३६६
चतुर्व्यवकारभव—२३५
चतुर्व्यूह—२७१
चन्द्र—१५०, ५८४
चन्द्रकान्तभाष्य—३५३
चन्द्रकीर्त्ति—१०७, १२०, १६७, १६८, १७०, १७१, २७४, ३०१, ४८८—४९१, ४९३—४९९, ५०२, ५१४, ५१६, ५१९, ५२३—५२५ ५२७, ५३० ५३२, ५३४ ५४०, ५४१, ५४३, ५५०, ५५१, ५५३, ५५४, ५५६, ५५७, ५६०, ५६२, ५८७
चन्द्रगुप्त मौर्य—३, १६२
चन्द्रगोमिन्—१७०
चन्द्रपाल—४३६
चन्द्रप्रदीपमूत्र—१६३
चन्द्र-मण्डल—२१२
चन्द्रमा—१११
चन्द्रोत्तरादारिकापरिपृच्छा—१५६
चम्पा—१२६
चरणपादुका—१०३
चरमभविक—१०४, २७१
चरियापिटक—२६, ३३, १०६
चर्वण—३३०

चर्या–४८, ४६, ५७, १५१, १६५
चर्याचर्यविनिश्चय–१७४
चर्यातन्त्र–१७७
चर्याविनिश्चय–४६
चल–५६
चल-मण्डल–७६
चाइल्डर्स–२७८
चातुर्महाभूतिक–४
चातुर्महाभौतिक–४६३
चातुर्महाभौतिककाय–१०७
चातुर्महाराजिक–७६, ३६८
चातुर्महाराजिक–६६
चारिका–६, ७, २७६
चार्वाक–२३८
चिकित्साशास्त्र–२२१
चित्त–२२३, २७८, ३३३, ४१५
चित्त-ऋजुकता–३३७
चित्तकर्मण्यता–३३७
चित्त-चैत्त–३२३, ४४१, ५६६
चित्त-द्रव्य–३४२
चित्त-निर्वाण–५
चित्त-परिकर्म–१६१, १६२
चित्त-प्रश्रब्धि–४२, ६८, ३३७
चित्त-प्रागण्यता–३३७
चित्त-मृदुता–३३७
चित्त-लघुता–३३७
चित्त-विज्ञान–११६
चित्त-विवेक–२१०
चित्तविप्रयुक्त धर्म–३३४, ३४४–३५२, ३७४
चित्त-विशुद्धि–१००
चित्तविशुद्धिप्रकरण–१६८
चित्त-विस्तार–१३०
चित्त-संस्कार–६२
चित्ताचार–४७
चित्तानुपश्यना–८५, ६२
चित्ताभिसस्कार–३५६
चित्तैकाग्रता–६८
चित्तोत्पाद–१५२
चित्तोत्पादविरागिता–१८४
चित्रभानु–४७०
चिन्तामय–३६३, ४०१
चीन–७, ३६, ३८, १०३, १२४, १२६, १२७, १४१, १४२, १५०, १५१, ४२२
चीनी–७, ८, २६, ३६, ११६, १२५–१२७, १३१, १३६–१४२, १५०, १५१, १५५–१५७, १६१–१६३, १६७–१७१, २८५, ३११, ३१२, ४२२, ४८२
चीवर–२७, ४३
चुल्लवग्ग–७, ११, १२, २५–२७, ३०, ३५
चेतना–६५, ६६, २५०, २५१, २५६, ३३४, ३३५, ३३८, ४४४, ४४५
चेतना-कर्म–२५२, ३७६
चेतयित्वा–२५०, २५१
चेतयित्वा-कर्म–३७६
चेतोविमुक्ति–७४, २८६
चैतसिक–३३४–३४४
चैतसिकी–२३४
चैत्त–२५६, ३३४–३४४, ४४४
चैत्य–१०३
चैत्यपूजा–२६
चोदनानामप्रकरण–५६५
च्युति–११

छ

छन्द–२०६, २४८, २५६, ३३४, ३३५, ३३८, ४४७

छन्दःशास्त्र—२८
छन्दस्—२५, ८४
छान्दोग्य—५८४
छाया—३१५
छिद्ररज—३२५

ज

जंगबहादुर (राणा)—१२३
जन्तु—२८५
जम्बू-द्वीप—१३२, ३६८
जटिल—६
जनक—२
जनन-हेतु—३५७
जन्मनिर्देश—१३०
जन्महतु—३५७
जयन्त—३०५, ३१५, ३५३
जयसेन—१७०
जरता—३२३
जरा—३५०, ३७५, ४३३, ५७८
जरामरण—२०, २१, २२५, २२६
जरायुज—११७
जरायुज-काय—१०७
जल-धातु—८५
जवन—६५
जान्मटन—१३८, १३६, ५८१
जाम्बूनदप्रभास—१४७
जातक—३, २६, २८, २६, ३२, ३४, १३०, १३१, १४०, १५०
जातकट्ठकथा—२६
जातकमाला—१४०, २५६
जातरूपरजतप्रतिग्रह-विरति—१६
जाति—२०, २१, २२५, २२६, ३४५, ३४७, ३५०, ३७५, ४३३, ५७८, ५६३
जातिवाद—१५
जात्युपचार—४३६
जापान—१०५, १४१, १४२, १५१, १६२, १६६
जापानी—१५०, ३१२
जापेस्की—१७२
जावा—१२६, १३६, १३७
जिघत्सा—३१६
जिन—१८८, २०३
जिन-क्षेत्र—२०२
जिनपुत्र—१८१, ४६५
जिनमित्र—१७२
जिनस्कन्ध—११२
जिह्वेन्द्रिय—३२७, ३२८
जीमूतवाहन-अवदान—१४१
जीव—२८५
जीवलोक—२५०
जीवात्मा—३०८
जीवित—३३८, ४५७
जीवितेन्द्रिय—३२८, ३२६, ३३४, ३४४, ३५२, ४३३
जूष्क—१६७
जेतवन—४, ११८, १३१, १५१, १५२
जैन—२, १२२, २६६
जैनदर्शन—४४२
जैनधर्म—२, ४
जैनसाहित्य—५८४
जैनागम—२८, २८५, ५७१
जैमिनि—५५०, ५६०, ५६८
जैमिनीय—२३८
जैमिनीयब्राह्मण—५७१
जोडो-शू—१५१
ज्ञातता—५६४

ज्ञाता–५९४
ज्ञाति–४३, ४४
ज्ञान–३६९, ३७०
ज्ञानगुप्त–१४१
ज्ञानदर्शनविशुद्धि–१००
ज्ञानप्रस्थान–२९, १२५–१२७, ३११, ३७२
ज्ञानमीमासा–५६५, ५९३
ज्ञानवाद–२८२
ज्ञानसम्पत्–११३
ज्ञानसम्भार–४८०
ज्ञानसिद्धान्त–५६९
ज्ञानसिद्धि–१७७
ज्ञानसेन–१७२
ज्ञेयावरण–१६४, ४०६, ४२२
ज्योतिष–१६७

ट

टामस–१३८, १६८
टोकियो–१७३
डोसेटिज्म–१२२

त

तंजोर–१७१, १७२, १७७
तन्त्र–१०६, १५०, १७४, १७६, १७७
तन्त्रयान–१०६
तन्त्र-साहित्य–१७७
तक्षशिला–३७२
तत्रट्ठक–५९
तत्रमध्यत्वोपेक्षा–७२, ७३
तत्रमध्यस्थता–३३७
तत्त्व–३०३, ४०२, ४२८, ५४४, ५६८
तत्त्वज्ञान–११३, २२१, २२२
तत्त्वसंग्रह–१७५, ४८२
तत्त्वसिद्ध–१३९
तत्त्वामृतावतारदेशना–५४३
तत्त्वार्थटीका–१६९
तथता–११४, ११६, १६२, १६४, १६५, २१४, ३०४, ४०४, ४१२, ४३४, ४८२, ५३०
तथागत–५, ११७, १५२, १६२, ४७४, ४९६, ५४२, ५४९, ५५१, ५६१, ५६२, ५७०
तथागत-काय–१०८, १५५
तथागत-गर्भ–३०४, ३९७
तथागतगुह्यक–१४१, १७७
तथागतगुह्यकसूत्र–५४२
तथागतपरीक्षा–११५, ५६२
तथागतभूमि–१५२, ४५१
तथाभावशून्यता–४०७, ४०८
तथ्यसवृति–२१४
तदगनिर्वाण–२९६
तपन–३६८
तम–५९६
तमालपत्रचन्दनगन्ध–१४७
तरुण-समाधि–६१
तर्क–५६५
तर्कपद्धति–५६५
तर्कज्वाला–४८८
तर्कशास्त्र–४९२
तान्त्रिक ग्रन्थ–११९
ताकाकूसू–१६९, ३७२
तात्पर्यटीका–२२० ३३०, ५६५
तादिभाव–१८
तापस–२, ३, ४
तारा–१७१, १७६, १७७
तारानाथ–१४०, १५५, १६१, १६७, १६९–१७१, १७३
तारासाधना–१७७
तिपिटका अट्ठकथा–३४

तिब्बत–१२३, १२४, १२७, १५०, १६६, १७५, १७७
तिब्बती–२६, ३६, ११६, १२७, १३१, १३६–१३८, १४१, १५०, १५१, १५५, १५७, १६१, १६७–१७०, १७२, १७३, १७५, १७६, १७८, २८५, ३११, ३७३, ४१५
तिर्यक्–३६८
तिर्यगुपपत्ति–१८४
तिर्यग्योनि–६६
तिल-तण्डुल–५
तिस्स-मोग्गलिपुत्त–३३, १२५
तीर्थंकर–३, ४
तीर्थक–१०४, २४३
तीर्थिक–७, १०६, ११८, २२६, २६०, २६२ २७४, ३८४ ४११, ४२५, ४२६, ४३४, ४५५, ४६६
तीर्थिक-दृष्टि–३६४
तुची (जी०)–४८२
तुनहुआग–१२४
तुरफान–१२४
तुर्किस्तान–१२४, १२७
तुषित–६६, ३६८
तुषितकाय–१०८
तुषितकायिक–१३५
तुषित-लोक–१०३, १०४, १३१, १६८ १८२
तुषित-स्वर्ग–१३०
तृतीय ध्यान–३८२
तृतीय संगीति–३८
तृष्णा–२०, २१, ४६, २२५, २२६, २३१, २३५
तृष्णाचरित–२६१
तृष्णा-जटा–१८
तृष्णा-संक्लेश–१८
तेजकसिण–५४, ७५
तेज-धातु–८५
तेजोधातु–६६, ५६६
तेपिटक–२७
तेविज्जमुत्त–३१
तैमिरिक–४१६, ५०३
तोखारा–१२४
तोखारी–१२५
त्यागानुस्मृति–५४, ७८
त्यागान्वय-पुण्य–२५५
त्रयस्त्रिंश–६६, ३६८
त्रसरेणु–३२४, ३२५
त्राण–२६५
त्रिंशिका–३०, १७०, ३०३, ४१५, ४३१, ४४६, ४६४, ४७५, ४८०
त्रिंशिका टीका–४१५
त्रिक–४४५
त्रिक-सन्निपात–२३१, २३३, ४४५
त्रिकाण्ड–२१
त्रिकाय–१२०, १२१, १६५, १६६, १७७
त्रिकायवाद–१०७, १४४, १६५, ३६८
त्रिकायस्तव–११६, ११६, १२०
त्रिकाल–५८१
त्रिगुणात्मक–४७८
त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत्–१२२
त्रिपिटक–२६–२८, ३०, १०६, ११२, १२६, १२६, १५१, २८६, ३७२, ५७४
त्रिपिटकधर–४५
त्रिपुटी-संवित्–५६८
त्रिरत्न–१२, २३, २७६
त्रिरूप-लिंग–५६८–६००

त्रिलक्षणवाद–४५४
त्रिविधकल्याणता–६८
त्रिविधशून्यता–४०७, ४०८
त्रिशरण–३२
त्रिशरण-गमन–२३
त्रिशिक्षा–१८
त्रिस्वभाव–४८२, ४८६
त्रिस्वभावता–४८५
त्रिस्वभाव-निर्देश–१७०, ४८२
त्रिस्वभाववाद–४८२, ४८५
त्रैकाल्यवाद–५७५, ५७६
त्रैधातुक–२२३, ४१५
त्रैधातुकचित्त–४७७
त्रैमास्य–१५६
त्रैयध्विक–२३८, ३०१

थ

थेरगाथा–१०, ३२, ३४, १५६, २६२
थेरवाद–५८७
थेरवादी–५९५
थेरीगाथा–३२, ३४, २९४

द

दण्ड–२५१
दण्डकारण्य–२५१, ४२०
दन्त–३३०
दक्षिणा–२७७
दक्षिणापथ–२७, ३५, ३६, ३८, १२६, १५३
दक्षिणेय–७८
दम–२२२
दरथ–३३७
दर्शन–५१, १६४, १६७, २२१, २२३, २९३, ३००, ३०१, ३११, ५०७, ५७१
दर्शन-चित्त–२४६
दर्शन-भाग–४२३, ४७५, ४७६, ४७९
दर्शन-मार्ग–२३, ३३०, ३३१, ४७४
दर्शन-हेय–२२
दश-बल–४७१
दशभूमक-शास्त्र–१६६
दशभूमकसूत्र–१५६, १६५, १६६, ४७७
दशभूमि–१०७, १३०, १५६, १६४, १६६, ४१२
दशभूमि-शास्त्र–१३०
दशभूमीश्वर–१४१, १५६
दशरथ–४
दशवर्गेण गणेन उपसम्पदा–१२९
दश-शील–१९
दशसाहस्रिका–१६६
दस-पारमिता–२६
दहरकुमार–२७०
दान–२५५
दान-कथा–१४८
दान-पारमिता–१६६, १८१, १८४, १८८, १९०, २१७
दान-प्रीति–४०९
दान-शील–१७२
दानसविभागरत–७९
दार्शनिक–२, १२१, १३८, १६२, १७०, २८४, २९७, ३०५
दार्शनिक पद्धति–१२६
दार्ष्टान्तिक–२६९, २७२, २७३, ३८२, ३८३, ४५२, ४५३, ४६०
दास–१४
दिक्–४२९, ५६९, ५८२—५८६
दिगम्बर–५५०, ६०९
दिग्वाद–५६९, ५८२, ५८६
दिङ्नाग–१२८, १६९, १७० ३०२, ३४९, ४३१, ५६५, ५६९, ५८८, ५९१, ५९४, ५९५, ६०७, ६१५, ६१६

दिल्ली—२५
दिवस—५४५
दिवारात्र—५७१
दिव्यावदान—२७, ११८, १४०, १४१, १६४, १६५, १७६
दिश्य—५८७
दीघनखसुत्त—१३१
दीघनिकाय—३, २७, २८, ३०, ३४, ५४, ६४, १०७—१०६, ११२, १२७, १३१, १३४, २३४, २८१, २८२, २८८, ३८५
दीनार—१४१
दीपकर—१४८, १७३, १८१, १८२
दीपकर श्रीज्ञान—१७१
दीपवंश—७, १२, १३, २६, ३७, १२५
दीर्घ—३१५
दीर्घत्व—३५३
दीर्घनिकाय—२८, ३१
दीर्घरात्रि—४७६
दीर्घागम—२६, १२७, १४०
दीर्घायुषदेवोपपत्ति—१८४
दुन्दुभिस्वर—३७
दुःख—१००, १६८, २२१, २२२, ३१७, ५२३
दुःख-ज्ञान—३७०
दुःख-निरोध—५५२
दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत्—४५३
दुःख-भाव—८५
दुःखवेदनीय—२३४
दुःखसमुदय—६२, ५५३
दुःखस्कन्ध—२०, २३२
दुःखाधिवासना-क्षान्ति—१६५
दुःखायतन—२२२
दुःखेन्द्रिय—३२८
दुरारोहा—१३०
दुर्गति—४०
दुर्गतिगामिनी—२२८
दुर्जया—१३०, ४१३
दुर्मेध—१५
दुष्कर चर्या—१३५
दुष्कर चारिका—१६१
दुष्कर सज्ञा—१६१
दुरगमा—४१३
दृश्यानुपलब्धि—६०२
दृष्टधर्म—५७२
दृष्टधर्म-निर्वाण—२८८
दृष्टधर्म-वेदनीय—२६७, २६८
दृष्टान्त—३७३
दृष्टान्तपक्ति—३७३
दृष्टि—२२, ४५, ४६, २३१, २६०, २६१, ३३८, ३६६
दृष्टिगत—१६
दृष्टि-चरित—२६१
दृष्टि-परामर्श—२६३
दृष्टि-विशुद्धि—१००
दृष्टि-संक्लेश—१८
दृष्टि-स्थान—३१५
दृष्ट्यास्रव—२३३
दृष्ट्युपादान—२३१, २३५
देव—१६८
देवकुल—१३५
देवगति—३६८
देवता-संयुक्त—३१
देवतानुस्मृति—५४, ७६
देवनिकाय—३६८
देवयोनि—३२
देववाद—६

देवविचेष्टित–५८२
देवोपादान–५३४
देश–५८८
देशना–६, १६, २३७
देहाभास–४०४
दैव–२५६
दैव-कर्म–२५६
दोमनस्सूपविचार–२३४
दौर्मनस्य–७४, १९५, २३४
दौर्मनस्येन्द्रिय–३२८
दौष्ठुल्य–३३६
द्यावापृथिवी–५८४
द्युत्युएल-द-रीन–१२४
द्रव्य–३४१, ४१९, ३२८, ४४४, ५९३
द्रव्यत्व–४३०, ४३२
द्रव्य परमाणु–३२३
द्रव्यवाद–४३५
द्रव्य-सत्–१६६, २२३, २९०
द्रव्य-समता–३६४
द्रव्योपचार–४३६
द्रष्टव्य–५०८
द्रष्टा–५०८
द्रोण–१०८
द्वयप्रतिभास–४०४
द्वादशागसूत्र–२२६
द्वारपाल–८९
द्वाविंशत्यवदानमाला–१४१
द्वितीय ध्यान–७०
द्वितीय रत्न–२९४
द्वितीय सगीति–३६
द्विपिटकधर–४५
द्वीप–२७८, २९५, ३६८
द्वेष–९४, ९६, २२४, २५८, ३३८, ३३९
द्वेषचरित–४८—५३, ५७
द्वेष-चर्या–४८
द्वेष-द्विष्ट–५१२
द्वेषमोह-चर्या–४८
द्व्यणुक–३२५

ध

धन्याकर–१५३
धम्मक्खन्ध–११२
धम्मगुत्त–३७
धम्मपद–१५, १६, १९, २९, ३२, ३४, ३९, १००, १२४ १३१, २९२, २९४
धम्मपदट्ठकथा–१००
धम्मपाल स्थविर–३४
धम्मरक्खित–३७
धम्मसगणी–३३, २३२, ५८७
धर्म–१०, २३, २६—२८, १०८, ११३, १२५,२२३, ३१४,४०१, ४४८, ५६६–५६८, ५७७
धर्मकथिक–११
धर्मकाय–१०७, १०८, १११, ११२, ११४, ११६, ११७, १२०, १२१ १६३, १६५, ३०४, ३०६, ३९४, ३९८
धर्मकीर्त्ति–१३८, १७०, ३४९, ५६५, ५८८, ५९१, ६१५, ६१६
धर्मक्षेम–१६३
धर्मगत–३५६
धर्मगुप्त–२७, १२५, १२७, १४१, १६८
धर्मगुप्तक–३६, ३७
धर्मग्राह–४२२, ४२४, ४२८, ४७३, ४७४
धर्मचक्र–५, ११२
धर्मचक्रप्रवर्त्तन–१२, १२९, १३६
धर्मचक्रप्रवर्त्तनसूत्र–५
धर्मज्ञान–३७०
धर्मज्ञान-क्षान्ति–३७०

धर्मता–२१८, २४१, २५८, ३०४, ३५३, ४३४, ४७४, ४८२, ५३०
धर्मतानिष्यन्दबुद्ध–१६५
धर्मतावाद–४६३
धर्मत्रात–१२७, १२८, ३११, ३१३, ३७२, ५८१
धर्मदाय–६४
धर्मदृष्टि–४७३, ४७४
धर्मदेशना–१०४, ११२, १३५
धर्मधर–१२, २६
धर्मधातु–१११, ११४, १५२, १५५, १६२, २१४, २१७, ३१८, ४८४
धर्मधातुनयप्रभास–१५३
धर्मधातुवशित्व–४०२
धर्मनय–१५२
धर्मनिध्यान-क्षान्ति–१९५, १९८
धर्मनिर्भास–४२३
धर्मनैरात्म्य–१६४, २९२, ४१२, ४१७, ४२२, ४७३, ४७४
धर्मपर्याय–१४१, १४२
धर्मपर्येषण–४०१
धर्मपाठक–२६३
धर्मपाल–२७, ३४, १७०, ३३७, ४२३, ४३९, ४५०, ४६५, ४६६, ४६९, ४७०–४७२, ४७६, ४८२, ४८३
धर्म-प्रविचय–२४, १८५, ३०५, ३१४, ३७२
धर्म-प्रविवेक–३०५
धर्म-प्रवृत्ति–५०, ५१
धर्मभाण्डागारिक–१०
धर्मभाणक–१४८
धर्ममेघा–४१३
धर्मरक्ष–१४१, १५६
धर्मरक्षित–१३६
धर्मराज–८, ११२
धर्मलक्षण–४८२
धर्मलक्षणसमय–४८२
धर्मवाद–४६३
धर्म-विचय–६३, ६४
धर्म-विनय–७, १२, १०८
धर्म-शरीर–११३
धर्मशून्यता–१६४, १६५, ४८०
धर्मसंगीति–७, ८, ११, १२, २६, २७, १२५, १३७
धर्मसग्रह–४०, ५६, ११२, १६७, १८४, १८६
धर्मसभागता–३४८
धर्मसेनापति–६
धर्मस्कन्धपाद–२६, ३११
धर्मस्मृत्युपस्थान–२२, ३७०
धर्मस्वामी–१११
धर्माकार भिक्षु–११६
धर्मानुपश्यना–८५
धर्मानुस्मृति–५४, ७८
धर्मायतन–३१८
धर्मोत्तर–५६६, ५८६, ५९२, ५९३, ५९५
धर्मोपचार–२२३, ४२३
धातु–२४४, २९९, ३१६, ३१८—३२०, ३३१, ३४७, ५१०
धातुकथा–३३
धातुकायपाद–२६, २११
धातुगर्भ–१०३, १०८, ११७
धातु-चतुष्टय–३१६
धातु-तन्त्र–१३५
धातुभेद–३८७
धातु-संवर्त्तनी–३२५
धारणी–१४८, १६२, १७६

धारणीपिटक–८
धारिका-पृथिवी–३६२
धुतंग–२, ९, ११, १२
धुतगवादी–३५
धुत–२
धुतगुण–१२
धुतवाद–१३
धुतवादी–११—१३
धूम–३१५
धूतिकर्म–३१६, ५६६
ध्यान–३१, ३२, ६६, ७३—७५, १७७
ध्यान-चतुष्क–७५
ध्यान-पंचक–७५
ध्यान-पारमिता–१८४, १९०, २०८
ध्यान-प्रत्यय–३५८
ध्यानलाभी–४५
ध्यानलोक–२९९
ध्यान-संयुत्त–३१
ध्यान-समगी–७१
ध्यानान्तर–७५
ध्यानीबुद्ध–१२०, १७७
ध्यानोपेक्षा–७२, ७३
ध्रुव–८०, २९५
ध्वनिलक्षण–५८६

न

नन्द–३, ११८, १३२, १३७, १६२, ४२३, ४३९, ४५०, ४६५, ४६६, ४६८, ४६९, ४७६, ४८२
नन्दनवन–१५०
नक्षत्र–५८४
नभस्–५८४
नभोदेश–५८३
नरक–१५१, ३६८
नरकपाल–४१६
नरकोपपत्ति–१८४
नवकर्म–४३
नवधर्म–१४१
नाजियो–१७३
नाग–३६, २३६
नागकन्या–१४७
नागयोनि–४९
नागराज–११८, १३२, १४७
नागसेन–३३, २९०
नागार्जुन–१०८, १०९, १११, ११४—११६, १६१, १६४—१६८, १७१—१७३, १७६—१७८, २१५, २१७, ३०३, ३०४, ३०५ ३०७, ३८४, ३८६, ३९१, ३९२, ३९४, ३९६, ३९८, ३९९, ४०३, ४०८, ४१७, ४३३, ४४९, ४६३, ४७४, ४७६, ४७८, ४८६, ४८८ ४८९, ४९५, ५०५—५०७, ५१०, ५२२, ५२३, ५३१, ५४१, ५५१, ५५३, ५५६, ५५७, ५५९, ५६०, ५६५, ५६९, ५८७, ५८८
नायक–१६२
नाटक–१३७
नानात्वसज्ञा–९७
नान्तरीयकता–५९९
नाम–३३, २३३, ३४४, ३५२, ४४०, ५९३
नामघोष–१०५
नामजप–१०५
नामरूप–२०, २२५, २३३, ४५८
नामसकीर्त्तन–१०५

नारक–४१६
नारायण–१०४, १११, १५०
नार्डर–२६
नालन्दा–११६, १७०, १७३–१७५, ४२२
नास्तिक–१, २, २६१, ५४२
नास्तिकवादी–५६०
नास्तिप्रत्यय–३५६
नास्तिवाद–२६२
निःश्रेयस्–२११, २२२
निःसरण–४७
निःस्वभावता–४०५, ४८६, ५२८, ५३०
निःस्वभाववाद–४८६
निकाय–७, ८, २७–३०, ३५–५७, १०३, १२५, २८२–२८५, २८८, ३००, ३०६
निकाय-सभाग–३४७, ३५३, ३७४
निकाय-सभागता–३४७, ३५३
निकायान्तरीय–२२६
निगठ-नातपुत्त–४
निगमन–६०७
निगूर–२६
निग्रह–६४, ६५
नित्यकाय–३६६
नित्यकारणास्तित्ववाद–२२५
नित्यकाल–५७७
नित्यत–४०५
नित्यत्व–५७२
निदान–३५४
निदान-कथा–१३०, १८०
निदिध्यासन–२२२
निर्देश–३२
निद्रा–४५२
निधान–६६
निपुण–२६४
निपुणता–२०५
निब्बापन–२६६
निभृतभाव–४७५
निमित्त–३८७, ४४०
निमित्त-कारण–३६६, ५८३, ५८६
निमित्त-कौशल–६३
निमित्त-ग्रहण–६०
निमित्त-भाग–४२३, ४४०, ४४१, ४४४, ४७५, ४७६, ४७६, ४८०
नियत-गोत्र–३८८
नियत-चैतसिक–३३८
नियत-विपाक–२६७, २६८, २७५
नियत-वेदनीय–२७५
नियताकार–६१२
नियतिवादी–४, २५६
नियाम–३७०
निरभिलाप्य–४२१
निरय–४६, ६६
निरयपाल–२७३
निरुपधिशेष–२६६, ३०७, ५५६
निरोध–६३, २८७, २६५, ३२१, ४०५, ४३३, ५१५
निरोध-ज्ञान–३७०
निरोध-धातु–२६६
निरोधवादी–२७६
निरोध-समापत्ति–५७, ६८, २५४, ३१७, ३४६, ४३३, ४५६, ४६०
निरोधानुपश्यना–६३
निर्गुण–३६६
निर्ग्रन्थ–७, २३१, २४३, ४२५, ४२६
निर्मलावस्था–२१७
निर्माण–११३,४०३
निर्माण-काय–१०४, १०७, ११७, ११८, १२०—१२२, ३६४

निर्माण-रति–६६, ३६८
निर्मित-काय–११७
निर्याण–३८८
निर्वाण–६, ८, १०, ३१, ३४, ३९, ८०, १६२, १७६, १७७, २२२, २२३, २७८—३०८, ३९७ ५५९, ५६१, ५६८
निर्विकल्पक–३४९, ३९९, ५९१, ५९७—५९८
निर्विकल्प ज्ञान–५०२
निर्विकल्प प्रत्यक्ष–५९३
निर्विकल्पावस्था–२१७
निर्विशेष–३९६, ३९९
निर्वेधगामिनी–२०
निर्वेधभागी–२२
निर्वेधभागीय–२३, ४०७
निवर्त्तनी–२६५
निवृताव्याकृत–३४२, ४४८
निश्चय–२५६
निश्रय-प्रत्यय–३५८
निश्रय-हेतु–३५७
निश्रयाचार्य–४४
निषद्या–५०
निष्कम्भन–१८
निष्क्रमण–११
निष्प्रपच–८०, २९५, ३०३
निष्यन्द–९९
निष्यन्द-फल–२६४, २६५, २६६, ३६६, ४३७, ४८१
निष्यन्द-वीज–४३८
निष्यन्द-बुद्ध–१६५
निष्यन्द-वासना–४३७
नीतार्थ–२९२, ४८७
नीतार्थता–४९६
नील–३१५
नील-कसिण–५४, ७६
नील-नेत्र–१६८
नीवरण–४१, ४२, ५४, ६०, ६७, ६८, ८५, ८९, ९६
नृत्यनीतवादित्रविरति–१९
नेंजियो–१३१
नेक्खम्मसित–२३५
नेत्तिप्पकरण–३४, २९१
नेपाल–१२३, १२४, १४१, १७४—१७६, ४८२
नेपालमाहात्म्य–१७६
नेपाली–१५७
नेपालीज बुद्धिस्ट लिटरेचर–१२३
नेयार्थ–२९२, ५३२
नेयार्थता–४९६
नेरजना–३, ४
नेवारी–१७२, १७३
नैगम–२८१
नैयायिक–२३८, २९९, ३४८, ५८६, ५९०–५९२, ५९५, ५९८, ६०७
नैरजरा–३
नैरात्म्यपरिपृच्छा–१५६
नैरात्म्यवाद–२८५, २८६, २९३, ५५०,
नैरात्म्यवादी–२९४, २८८
नैर्माणिक काय–३९८
नैर्माणिकी ऋद्धि–१०७
नैवसज्ञानासज्ञा–२९९, ३६८
नैवसज्ञानासज्ञाभव–२३५
नैवसंज्ञानासज्ञायतन–५४, ५६, ५७, ९७, ९८
नैवसज्ञानासज्ञायतनभूमि–६६
नैष्क्रम्य–१७, ४७, ६०
नैष्क्रम्य-पारमिता–१८१

नैष्क्रम्याश्रित—२३५
नैष्ठिक-पद—३
न्याय—२२१, २२२, ३१२, ५६५, ५६६, ५८६, ५६७
न्यायकन्दली—३०५
न्यायदर्शन—२२२, ५६८
न्यायप्रवेश—१७०
न्यायविन्दु—१७०, ५६५
न्यायभाष्य—२२१, ३००, ३१५, ३४४, ३५४
न्यायमजरी—३०५, ३१५, ३५३
न्यायवार्त्तिक—२८५, ५६५
न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका—२२१
न्याय-वैशेषिक—२२२, २६५, ३०१, ३०५—३०७, ३३०, ३३२, ३३३, ३५३, ५६६, ५७८, ५८४—५८६, ५८६, ५६४
न्यायशास्त्र—२२१, ५८६
न्यायसूत्र—३५३, ५८५, ५६५
न्यायानुसार—३०, १६६, २८३, ३१२, ३७४, ५८१, ५८२
न्यायानुसारशास्त्र—५७६
न्हारु—७६

प

पगुल—८६
पचकर्म—१७७
पंचनेकायिक—२८
पचनैकायिक—२८
पच-पारमिता—२१२
पच-भाग—११२
पच-रक्षा—१७६
पचवर्गीय भिक्षु—६, १२
पचवर्गेन गणेन उपसम्पदा—१२६
पचवार्षिक परिषद्—७
पंचविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता—१५७, १६१, १६५—१६८
पचव्यवकार-भव—२३५
पचशील—१६, २३, २४
पच-स्कन्ध—३०, ५६६
पचस्कन्ध-प्रकरण—१७०
पचस्कन्धिका—२३२
पचाग—११२
पचाग्नि—४
पचेन्द्रिय—२८३
पंचेन्द्रिय-विज्ञान—२५६
पचोपादान-स्कन्ध—८५, ३०५
पकुध-कच्चायन—४
पक्ति-कर्म—३१६, ५६६
पक्ष—६०७, ६०८
पक्षधर्मत्व—६०४, ६०७
पच्चय—४३
पच्चयाकार—२२४
पटना—२५, १६६
पटिच्च—२३०, २३१
पटिच्च-समुप्पाद—२३०
पटिसम्भिदा—८६, ६१
पटिसभिदामग्ग—३२
पट्ठान—३२
पढुकुटी—१७४
पत्तिदान—२७७
पद—३४४, ३५२
पदार्थ—२२१, ५२२
पदार्थ-समूह—२२२
पद्मकर्णिका—५६
पद्मपुराण—१२२
पद्मप्रभ—१४४४
पद्मवज्र—१७७
पद्मसम्भव—१७७

पद्मोत्तर–१५०
पद्मकारण्डव्यूह–१४६
पधानसुत्त–१३०
पब्बज्जासुत्त–१३०
पर–३५१
परचित्त–४७६
परचित्त-ज्ञान–३७०
परचित्त-ज्ञानलाभी–४७
परत· उत्पादवाद–४६४
परतः प्रामाण्य–५६१
परतन्त्र–४०१, ४८४
परतन्त्र-स्वभाव–४०८, ४८२, ४८४
परत्व–३५१, ३५२
परनिर्मितवशवर्त्ती–६६, ३६८
[illegible]त्यय–१३६
[illegible]ब्रह्म–१२१
परमक्षेम–२८७
परमतत्त्व–५८८
परमत्थमजूसाटीका–३४, ५४, ६०, ६७ ७०, ८२
परमाणु–१५३, ३२२–३२६, ३६६, ३७८, ४१८, ४१६, ४३०, ४३२, ५६७
परमाणुवाद–१२७, ३२२–३२६, ४१८, ४१६
परमाणुवादी–३२५
परमात्मभाव–३६५
परमात्मा–२७६, ३०८, ३६५, ४०२
परमार्थ–३६, १२६, १६३, १६८, १६६, ३१२, ४१५, ४६२
परमाथ ज्ञान–३६१
परमार्थ-नामसगीति–१७६
परमार्थ-नि स्वभावता–४८६
परमार्थ-सत्–२६०, ५६१, ५६२
परमार्थ-सत्य–३, ११४, १२१, १६१, १६७, १८३, २१४, २१६, २१७, ५५४, ५५५
परलोक–१, ६, २२८, ४६६
पर-सामान्य–३४८
परात्मपरिवर्त्तन–२०५
परात्मसमता–२०५
परानुग्रहप्रीति–४०६
परापकारमर्षण-क्षान्ति–१६५, १६७
परायण–२६५
परार्थानुमान–५८८, ५८६ ५६८, ६०४–६०७
परिकम्म–६५
परिकर्म–६५–६८, ८०, ६४
परिकल्प–४७६, ५६६, ५६१
परिकल्पित–४०१, ४७६, ४८२
परिकल्पित-स्वाभाव–४८२–४८४
परिक्षीण–७१
परिच्छिन्नाकाश-कसिण–५४, ७७
परिच्छेद–४४५
परिज्ञा–२२२, ३१८, ५५३
परिणाम–११३, ३०२
परिणामवाद–५६५
परिणायक–१६२
परितापन–४
परित्त–१७६
परित्याग-प्रतिनिसर्ग–६४
परिनिर्वाण–१०–१२, १०३
परिनिर्वाणसूत्र–८, १४०
परिनिष्पन्न–४०१, ४०२, ४८४
परिनिष्पन्न-स्वभाव–४०८, ४८२, ४८४, ४८५
परिपक्वता–६६

परिपस्सना—६१
परिपूरि—२५१
परिपूरिन्—२२५
परिपृच्छा—८७
परिप्रश्न—६३
परिभोग—६६
परिभोगान्वय-पुण्य—२५५
परिमण्डल-३१५, ३२५
परिमाण—२५१—२५२
परिवर्जन—६३
परिवर्त्त—१३५, १३६, १४२
परिवार—१२, ३०
परिवार-पाठ—२६
परिव्राजक—२३१
परिशुद्ध—७४
परिशुद्धि—६०
परिषत्—६, १०, १२
परिहाणि—२२
परिहारिय-कम्मट्ठान—४६
परीत्त—३३६
परीत्तक्लेशभूमिक—३३४, ३३६
परीत्त-शुभ—६६
परीत्ताभ—६६
परीत्तोपक्लेश—३४०
पर्यंक-आसन—८३
पर्यवसान-कल्याण—१०
पर्यवस्थान—२२६, २४१, ३८२
पर्याय-द्वय—२३०
पर्येषण—४७, ६६
पर्येष्टि—२१, २२६
पर्व—८७
पर्यन्मण्डल—३६८
पलिवोध—४३
पश्चाज्जात-प्रत्यय—३३८
पाचभौतिक—५८४
पाचाल-कुरु—११
पाशुकूलधारण—२
पाकज—२२४
पाटलिपुत्र—३६, १२६
पाणि—३२६
पाणिनि—२, १६२
पाण्डव—१६२
पातजल-दर्शन—८, २६६
पातजल-योग—२६७
पाद—३२६
पापदेशना—१८६, १८७
पायु—३२६
पार—८०, २६४
पारमार्थिक—२१६, ४६२, ५५४
पारमिता—१०४, १०६, १०७, १८०
१८१, १८४, १८८, २१२
३६८
पारमिता-यान—१०६
पारमिता-शास्त्र—१६१
पारमी—१८१
पारसी—१२२
पारिणामिकी ऋद्धि—१०७
पारिदापन्न—१०७
पारिमाण्डल्यवादी—३२५
पारिशुद्ध्युपेक्षा—७२, ७३
पारिहारिय-कर्मस्थान—४६
पारुष्य—२७१
पार्थसारथि—३४६
पार्श्व—१३६
पार्षद—१२१
पार्ष्णिप्रदेश—१८
पालि—२६—२८, ४६, ८३, ६१, ६८,
१२७, १२६, १३०, १४०, २८०

पालि-आगम—१०४
पालि-आम्नाय—५८६
पालि-कथा—१२
पालि-ग्रन्थ—३३, १३०, १३४, १४८, २३४
पालि-जातक—१३१, १४०
पालि-निकाय—१, ३, ४, २६, २७, १०४, १२३, १३०, १३१, १७६, २७७
पालि-भाषा—२५, २६
पालि-विनय—१२६
पालि-साहित्य—८३, ३००
पाशुपत—२३१
पाश्चात्य—३११, ३६७
पिण्डपात—२७, ४३, १११, २०६
पिटक—२६, २७, २६, ३३, ३४, ११२, १७३, २८१, २८२
पिटक ग्रन्थ—३४
पिटकधर—४५
पितापुत्रसमागम—१५५
पिपासा—३१६
पिपीलिका-पक्ति—४२६
पिशाच—४२०
पिशेल—१२४, २७८
पीठभूमि—५६६
पीत—६६, ३१५
पीतकसिण—५४, ७६
पुण्डरीक—१४१
पुग्गलपञ्ञत्ति—३३, ३८७
पुण्य—२५५, २७७
पुण्यक्षेत्र—२५३
पुण्य-परिणामना—२७२, २७७
पुण्यरश्मि—१५६
पुण्य-विपरिणामना—१०४
पुण्य-सम्भार—१५०, ४८०
पुण्यानुमोदन—२६, १८६, १८७
पुथुज्जन—३८७
पुद्गल—१६, ४८, १००, २२६, २३३, २४३, २४८, २८५, २६३, २६७ ३१७, ३२२, ३३२, ३७८, ४१०–४१२, ४२०, ४७५, ५१८, ५२४ ५६८
पुद्गल-दृष्टि—४७३, ४७४
पुद्गल-देशना—४१२
पुदगल-धर्मग्राह—४८५
पुद्गल-नैरात्म्य—१६४, १६६, २६२, ३०६, ३८४, ४०२, ४१०–४१२, ४१७, ४२२, ४७३
पुद्गल-प्रज्ञप्ति—२४३, २४४, ४११
पुद्गलप्रतिषेधवाद—२४३
पुद्गलवाद—२४३, २६३
पुद्गलवादी—२८३, २८५, २८७, २८८, २६०
पुद्गल-शून्यता—४२६
पुद्गलास्तिकाय—२८५
पुद्गलास्तित्ववाद—५१८
पुनर्जन्म—६, ३४, २२२, २८४
पुनर्भव—३६६
पुब्बलेसिय—२६३
पुराण—१२१, १५०, १७६
पुरातन-कर्म—२५६
पुरुष—२२१, २२३, २४३, २७६, २८५, ३५४, ४२८, ४६१
पुरुषकार-गुण—३८८
पुरुषकार-फल—२६६, २७२, ३६६, ४८१
पुरुष-पुद्गल—५५३
पुरुषपुर—१६८
पुरुषार्थ—२२१, ५८६

पुरुषार्थ-सिद्धि—५८६
पुरुषेन्द्रिय—३२८, ३२९
पुरोहित—१, ५८६
पुलुवक—५४, ५६
पुष्करसारि—१३५
पुष्पमण्डिता—१३०
पूजना—१८६, १८७
पूजा—१८६, १८७
पूतिकाय—१०७, १७९
पूतिकाष्ठ—१७
पूरक—८०, ८१
पूरणकस्सप—४, ११८
पूर्ण—१३९, १७९
पूर्ण-मैत्रायणीपुत्र—१४७, १६०
पूर्णावदान—१७९
पूर्णाश—१३९
पूर्व—५७१
पूर्वकालभव—२३६
पूर्वजातप्रत्यय—३५८
पूर्व-निकाय—३०१
पूर्व-निमित्त—१३५
पूर्व-बुद्ध—१०४
पूर्व-भव—२०, २२५, २३०
पूर्वभारत—३५, १२६, १७५
पूर्वविदेह—३६८
पूर्वशैल—२६
पूर्वहीनयान—३००
पूर्वान्त—२१, २२५, २३२
पूर्वान्तापरान्त—२३२, २३३
पूर्से—१३९, १६९, १७०, १७२, २७९, २८०, २८२, २९१, २९३, २९६, २९७, ३००, ३०६, ३१२, ४२२, ४६४, ४७७
पृथक्—३५१
पृथक्त्व—३५१—३५३
पृथग्-जन—३८७
पृथिवी—१५०, २४७
पृथिवी-धातु—३१६, ५६६
पृथ्वी—६०
पृथ्वी-कसिण—५४, ५७, ५९, ६०, ७१, ७२, ७४
पृथ्वी-धातु—६०, ९९
पृथ्वी-निमित्त—५९, ७१, ७२, ७४
पृथ्वी-मण्डल—५९
पृष्ठ—२५१, २५२, २७५
पेटकोपदेश—३४
पेतवत्थु—२६, ३२
पेरिस—१२३
पेरी (एन्०)—१६९
पेशावर—१६८
पैशाची—२५, २६
पैशुन्य—२५९
पोप—२८५
पौनर्भविक कर्म—२२६, २३२
प्रकरण—२२७, २२९, ३११
प्रकरण-आर्यवाचा—१६८
प्रकरणपाद—२९
प्रकरणशास्त्र—३१६
प्रकाश-स्वभाव—५९४
प्रकृति—२१, २२१, २२३, २२८, ३२२
प्रकृति-चर्या—१२९
प्रकृति-परिनिर्वृत—४०५
प्रकृतिवादी—२१, २२८
प्रकृति-शून्यता—४०७, ४०८
प्रकृत्युपनिश्रय—३५८
प्रग्रह—६३—६५
प्रजापति—२६२, ५७०, ५७१
प्रजुलुस्की—३७३, ३९०
प्रज्ञप्ति—२२७

प्रज्ञप्तिपाद–२६
प्रज्ञप्तिमात्र–२२३
प्रज्ञप्तिशास्त्र–३११
प्रज्ञप्तिसत्–३०१
प्रज्ञप्तिसत्ता–४११
प्रज्ञा–१८, ३१, ३४, ६१, ११२–११४, १५६, २३४, २६८, ४४७
प्रज्ञाकरमति–१७१–१७३, १८६, ३६६
प्रज्ञा-ग्रन्थ–२६
प्रज्ञान–२२२
प्रज्ञापाठ-परिच्छेद–१७३
प्रज्ञापारमिता–१०८, ११४, ११५, १६१, १६४, १८१, १८४, २१२, २१७, २१८
प्रज्ञापारमिता-नय–४८८
प्रज्ञापारमितामहायानसूत्र–१५७
प्रज्ञापारमितासूत्र–१५६, १५७
प्रज्ञापारमितासूत्रशास्त्र–१६१, १६७
प्रज्ञापारमितास्तोत्र–१०८
प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र–१५७
प्रज्ञायान–१०६, १०७
प्रज्ञेन्द्रिय–३२८, ३३७
प्रज्ञोपाय–२१८
प्रणिधान–२६, १०३
प्रणिधान-चर्या–१२६
प्रणिधि–१०३, १८६
प्रणिधि-ज्ञान–३७१
प्रणीत–८, १६, २६५
प्रतापन–३६८
प्रतिकूल-सज्ञा–६८, ६६
प्रतिघ–२२, ३३८, ३६६
प्रतिघ-सज्ञा–६७
प्रतिघ-सस्पर्श–२३४
प्रतिज्ञा–१०४, ६०७
प्रतिनिसर्ग–६४
प्रतिनिसर्गानुपश्यना–६४
प्रतिपत्तिज्ञानदर्शनविशुद्धि–१००
प्रतिपत्ति-भेद–३८७
प्रतिबिम्ब–५६४
प्रतिभाग-निमित्त–५६, ६१, ६२, ७०, ७५–७७, ८४, ८५, ८६, ६०
प्रतिभास–४०३
प्रतिलाभ-भूमि–४२, ५५ ८७
प्रतिलोम-देशना–२३७
प्रतिविरत–१४
प्रतिवेध–२०, ४०२
प्रति-श्रुति–४०३
प्रतिश्रुत्क–४८५
प्रतिष्ठा-फल–३६७
प्रतिसख्या-निरोध–३२१, ३७३, ३७४, ४३४
प्रतिसन्धि–२५७, ३३३
प्रतिसन्धि-क्षण–२०, २२५
प्रतिसन्धि-चित्त–४५७
प्रतिसन्धि-स्कन्ध–२२५
प्रतिसवित्–३७१
प्रतिसरण–१६
प्रतीक–१०३
प्रतीत्यसमुत्पन्न–२०
प्रतीत्य समुत्पाद–५, २०, २१, ११३, १७८, २२४–२३८, ४४८ ४८८, ४६५, ५६६
प्रतीत्यसमुत्पादवाद–२०, २२३, २२४–२३८
प्रतीत्यसमुत्पादवाद–३०४, ५४३
प्रतीत्यसमुत्पादहृदय–१६७
प्रत्यन्त–७५
प्रत्यन्तक–३६

प्रत्यन्तजनपदोपपत्ति–१८४
प्रत्यन्तिक-जनपद–५, १४
प्रत्यक्ष–२२३, ४१६, ५६६, ५८६, ५६२–५६८
प्रत्यक्ष-ज्ञान–५६६
प्रत्यगात्मा–४०२
प्रत्यभिज्ञा–५६०
प्रत्यय–४, ४३, ७४, २२४, २३०, ३५४, ३५७, ५०४
प्रत्ययवश-अहार्य–३८८
प्रत्ययवश-हार्य–३८८
प्रत्ययाकार-निदान–२२४
प्रत्ययोद्भव–४८६
प्रत्यवेक्षण–७०, ६०
प्रत्यवेक्षण-वशिता–७१
प्रत्यवेक्षा–६१
प्रत्यवेक्षा-ज्ञान–४००
प्रत्याख्यान–५६६
प्रत्युपन्न-भव–२२५, २३०
प्रत्येक-बुद्ध–४७, ६०, ८२
प्रत्येकबुद्ध-भूमि–१५८
प्रत्येकबुद्धयान–१०६, १४४, ३०७
प्रत्येकबुद्धयानीय–१४५
प्रत्येक-बोधि–१६५
प्रथम चित्तोत्पाद–४८८
प्रथम धर्मसंगीति–१२, १३, २६
प्रथम ध्यान–७०
प्रदाण–३३६
प्रदास–३३६, ३४०
प्रधान–१६२, १६६, २२३, २४३, ३०२, ३२२, ३५४, ४४८, ४८१
प्रधानवाद–२३८
प्रध्वंसाभाव–५७८
प्रपञ्चातीत–३६६
प्रपञ्चोपशम–५६२
प्रपञ्चोपशमता–४८६
प्रभव–३५४
प्रभाकर–५७२, ५६४, ५६८
प्रभाकरी–४१३
प्रभावसम्पत्–११३
प्रभास–११६
प्रभास्वर-चित्त–२८८, ४५२
प्रमाण–१६, २२१, ४१६, ४४१, ५०२, ५६६, ५८८–५६३
प्रमाण-द्वयता–४६६
प्रमाण-प्रमेय–५६५
प्रमाण-फल–४४१, ५८६
प्रमाण-मार्ग–२३
प्रमाणवाद–५६४
प्रमाणवार्त्तिक–१७०, ५६५
प्रमाणविनिश्चय–५६५
प्रमाण-व्यवस्था–५६२
प्रमाणशास्त्र–५८६
प्रमाण-सम्प्लव–५६२
प्रमाणसमुच्चय–१७०, ४४१, ५६५
प्रमाणसमुच्चयवृत्ति–५६५
प्रमाद–३३८, ३३६
प्रमुख–१३
प्रमुदिता भूमि–३८८
प्रमेय–२२१, ४४१, ४६६
प्रमेय-भूमि–५६६
प्रयतपाणि–७६
प्रयत्नानन्तरीयक–६१०
प्रयाग–३१२
प्रयोग–२५१, २५२, ३८५
प्रयोग-फल–३६७
प्रयोग-मार्ग–२३
प्रयोग-शुद्धि–६७, २७६

प्रयोजन—५८९

प्रवचनकाय—१०८, १६५

प्रवारणा—७, २७५

प्र विवेक—४७

प्रवृत्ति—३७९, ५८९

प्रवृत्ति-विज्ञान—३०२, ४३८, ४७५, ४८१

प्रव्रज्या—४४

प्रव्रज्याचार्य—४४

प्रशस्तपाद—५७२, ५८५, ५८६, ५९८

प्रशस्तपादभाष्य—२८८

प्रश्रब्धि—४२ ६३, ६८, ९४, ३३६, ३८२

प्रश्वास—८१

प्रश्वास-काय—८५

प्रसन्नपदा—१६७, १६८, १७०, ४८८

प्रसाद—१०३

प्रसेनजित्—३, ११८

प्रस्कन्दन—९४

प्रस्कन्दन-प्रतिनिसर्ग—९४

प्रस्थान—५८३

प्रहाण—३१८, ५५३

प्रहाण-धातु—२९६

प्रहाण-मार्ग—२३

प्रहाण-सम्पत्—११३

प्रहीण—२२२

प्राकर्षिक—२२६, २२७, २३८

प्राकृत—२६, २८, १२४, १२९

प्राकृतिक—२१७

प्रागभाव—५७८

प्राच्य—३६

प्राणातिपात—४, १९, २५३, २५९

प्राणातिपात-विरति—१९, २४

प्राणायाम—३२, ८१, ८३, २२२

प्रातिभासिकी भ्रान्ति—५९३

प्रातिमोक्ख—३०

प्रातिमोक्ष—३०, १९३, २८३, ४०६

प्रातिमोक्ष-सवर—२५४

प्रातिमोक्षसवर-समादान—८

प्रातिमोक्ष-सूत्र—१२७

प्रातिहार्य—१०६, १३३, १४१, १५१

प्रातिहार्यसूत्रावदान—११८

प्राप्तानुपरत-कारित्र—३७५

प्राप्ति—२७४, ३४५—३४७, ३७४, ३८३, ४३२

प्राप्ति-दान—२७७

प्राप्यकारित्व—३२७

प्रामोद्य—४३, ६३, ८४

प्रामोद्यराज—१५५

प्रायोगिक धर्म—३६३

प्रार्थना—१०३

प्रासगिक निकाय—१७०

प्रासादिक—८०

प्राहाणिक—३९२

प्रीति—४३, ५५, ६३, ६७, ६८, ७१, ९४, ३३४, ३३८, ३८२

प्रीतिवचन—५

प्रेत—१५०—१५२, ३६८

प्रेपयोनि—३२

प्रेतविषय—६६

फ

फल—७३, ९९, २२७, ३५४, ३६५—३६७, ५३५

फल-दान—५८०

फलपरिग्रह-गुण—३८८

फल-परिणाम—४३७

फल-भेद—३८७

फल-विपाक—१

फल-सम्पत्—११२

फलाक्षेप-शक्ति—५८०

फारस—१२६

फाहियान—७ ३६, ३७, ११६, १२६, १५०

फिनो (एल्०)—१५६

फुकुआग—३१२

फूको—३१२

फ्रान्सीमी—१२४

फ़ूको—१३१ १३६

फ्रेंच—१२३, १२४, १३१, १३६, १५०, १६६, १७०, १७२, ३१२, ४१५, ४२२

ब

वगाल—१२३, १२४, १७५, १७७

वंगाली—१७५

वड़ोदा—१७५

वद्धमाना—१३०

वन्धुश्री—४२३

वर्कले—४७६

वर्य—२७८, २८०

वर्थलेमी—२७८

वर्नूफ—१२३, २७६

वर्लिन—१३१

वल—२८३

वलदेव विद्याभूषण—५७२

वलव्यूह—२०५, २०६

वलि—१६२

वहल—७७

वहिर्देशक—३११, ३४२

वहुदेववाद—३६६

वहुधर्मवाद—२६६, ३००, ३०३, ३०४, ३०६, ४१८, ५६६, ५८६, ५८८

वहुधर्मवादी—२२३, ३०१, ३०३, ३२२, ४०७, ४१७, ४१६, ५८७

वहुधातुक—३१६

वहुपदार्थवादी—४२८

वहुवाह्यवस्तुवादी—५६६

वहुश्रुत—३६

वहुश्रुतिक—१३६

वहुसत्तावादी—२३८

वहुस्वभाववादी—२२३

वाउल—१७७

वावर—१२४

वालुका—५७६

वाह्का—२६२

वाह्य आलम्वन—४०१

वाह्यक—२६२

वाह्यवृत्तिक-प्राणायाम—८१

वाह्याभ्यन्तरविपयाक्षेपी प्राणायाम—८१

वाह्यार्थ—४१४

विन्दु—४३०

विव्लिओथिका इण्डिका—१२४, १३१

विव्लिओथिका वुद्धिका—१२५, १२७

विव्लिओथैक नाश्लाल—१२३

विम्व—४०३

विम्वप्रकोष्ठ—३

विम्विसार—३, ६

विम्विसारोपसक्रमण—१३५, १३६

वीज—३८३, ४४०, ४४२, ४८१

वीजधारक चित्त—४५२

वीज-वासना—४३७

वीज-विज्ञान—४३७

वुद्ध—१—१२, २३, ६०, ८२, १०३, १०५, १०८ १५६, १६२, १७६, ४८०, ४८७, ५६२, ५६३

वुद्धकाय—११५, ११६, ३६८

बुद्धकाश्यप–२३५
बुद्ध-क्षेत्र–१०५, ११९, ३९८
बुद्धघोष–४, २५, २६, ३३, ३४, ४०, ७९, ८१, ८२, २३३, २८८, २९०, २९३, ३२२, ३६८, २५२, ५८७
बुद्ध-चक्षु–१८३
बुद्धचरित–५, १११, १२२, १३६–१३८
बुद्ध-ज्ञान–४८३
बुद्धत्व–१२६, १८२
बुद्धदेव–१२८, ३११, ३१३
बुद्ध-देशना–२५, ४९६
बुद्ध-धर्म–४८२
बुद्ध-निर्माण–११८
बुद्धपालित–१६७, १७०, ४९१
बुद्ध-पुत्र–१८१, १८५, ३८६
बुद्ध-पूजा–२६
बुद्ध-बीज–१८१
बुद्ध-भक्ति–१०५; १४२
बुद्धभद्र–१५१
बुद्धभाव–१८१
बुद्धभूमि–४१३
बुद्धभूमिसूत्र–४८३
बुद्ध-याचना–१८३, १८८
बुद्ध-यान–१०६, १४३–१४६, १४८, १४९, १५६, ३८४
बुद्धवश–२६, ३२, १०६
बुद्धवचन–३००, ४८७
बुद्धवाद–१०५, १६४
बुद्धशासन–५, ४०
बुद्ध-श्रावक–८२
बुद्धस्तोत्र–१३०, ४१२, ४१४
बुद्धांकुर–१८१
बुद्धाध्येषण–१८६, १८८
बुद्धानुभाव–१५७, ३९४
बुद्धानुस्मृति–५४, ७७, ७८, १३०
बुद्धि–२२२, २५६, २८५, ५९६
बुद्धि-चरित–४८, ५३, ५७
बुद्धि-चर्या–४८
बुद्धिपूर्वक–५८७
बुद्धिवितर्क-चर्या–४८
बुनयिड-नंजियो–१४१, १६२
बुभुक्षा–५७०
बृहत्फल–६६
बृहदारण्यक–३९६, ५७०, ५७१, ५७८, ५८४
बृहस्पति–१६२
वेंडल (सी० सी०)–१२३, १२४, १७२, १७४, १७५
बोगिहारा–१६९
बोध–५
बोधि–१०४, ११४, २९३
बोधिगया–२४
बोधिचर्या–१७५, १८३, १८४, ३९१, ४०६
बोधिचर्यावतार–१०८, १२०, १५७, १७१–१७३, १७५, १८०, १८४–१८७, १९०, १९७, १९९, २००, २०३, २०४, २५६, २६४, २८५, ४२६
बोधिचर्यावतार-टिप्पणी–१७२
बोधिचर्यावतारपंजिका–११३, ११४, १७१, १८२, २१७, ३९९
बोधिचर्यावतारानुशस–१७५
बोधि-चित्त–१८४–१८६, ३८७
बोधिचित्त-रथ–२०६

वोधिचित्तोत्पाद–१८६, ३८८
वोधिचित्तोत्पादसूत्रशास्त्र–२१८
वोधि-परिणामना–१८६, १८८
वोधिपाक्षिक-धर्म–४०६
वोधिप्रणिधि-चित्त–१८६
वोधिप्रस्थान-चित्त–१८६
वोधिमण्ड–१४७
वोधिरुचि–१४२, १६२
वोधिलक्षण–३९३
वोधिसम्भारसम्भरणप्रीति–४०६
वोधिसत्त्व–१०४, १०६, ११७, १२०, १३०, १५१, १५५, १५६, १६१, १६४, १६५, १७६, १८०, २१७, ३८६, ३९७, ४०३, ४०४, ४०७, ४०६, ४१२, ४१४, ४७४
वोधिसत्त्व (ग्रन्थकार)–१६८
वोधिसत्त्व-गोत्र–३८७, ३८८
वोधि सत्त्वगोत्र (लिंग)–३८८
वोधिसत्त्व-चर्या–१०६, १२६
वोधिसत्त्व-नागार्जुन–१६७
वोधिसत्त्व-परिपाक–३९७
वोधिसत्त्व-पिटक–१५५
वोधिसत्त्व-भूमि–१५८, १६६ ४८२
वोधिमत्त्व-महामति–१६२
वोधिमत्त्व-यान–१०६, १५४, १५५, १६४
वोधिसत्त्व-शिक्षा–१८४, १९१, १९२
वोधिसत्त्व-सम्भार–३८६
वोध्यग–६३, ६४, ८५, ६४, २८३
वोध्यगोपेक्षा–७२, ७३
वोरोवुदुर–१३६
वौद्ध–२, ५, १६, १८, २६, २८, ३१, ३३, १०३, १०४, १०६, १२६, १३४, १५०, १५१, १७५, १७७, २२२, २३८, २४१, २४८, २६१, २६६, २७३, २७८–३११, ३५३, ३८६, ३९०, ४२५, ४२७, ४८८, ५६८, ५६६, ५७१, ४७४, ५८४, ५८६–५८८, ५९१, ५९२, ६०६, ६१४
वौद्ध-आम्नाय–१३६
वौद्ध-ग्रन्थ–३२, १२१, १२५, २१७
वौद्ध-जगत्–१६७, १६६
वौद्ध-तन्त्र–१७७
वौद्ध-तीर्थ–२८०
वौद्ध-दर्शन–३४, २२१–२२३, २३८, २७८, ५६५, ५६६, ५८८, ५९२
वौद्ध-धर्म–२, ७, ११, २४, २६, २९, ३१–३३, ३५, १०३, १०४, १०६, १२३, १२४, १३७–१३९, १४८, १५०, १५४, १६१, १७०, १७५, १७६, २२२, २४८, २६३, २७२, २७८–३०८, ५६६, ५७०, ५७४–५७६, ५८८, ५९३
वौद्ध-निकाय–२६, १२६, १५१, ३८१
वौद्ध-न्याय–१७०, ५६३–६१६
वौद्ध-प्रस्थान–२२३
वौद्ध-भिक्षु–३२, १४०
वौद्ध-मत–२४३
वौद्ध-योग–२९७, २९९
वौद्ध-शासन–९, ११, १०५, ३००
वौद्धसकरसस्कृत–१२८, १२९
वौद्ध-संघ–१०५, २८२
वौद्ध-सस्कृत–१२८
वौद्ध-साहित्य–१२६, १६८
वौद्ध-सिद्धान्त–२२३, २४०
वौद्धागम–८१, १२२, ४८२
व्रह्म–६, १२१, १५०, २८७, ५७०, ५८३–५८५, ५९६

ब्रह्मकाय–११२
ब्रह्मचिन्तन–२
ब्रह्मजालसुत्त–३, ३१, २३१
ब्रह्मज्ञान–२
ब्रह्मदण्ड–२८७
ब्रह्मपारिषद्य–६६
ब्रह्मपुरोहित–६६
ब्रह्मचर्य–२८७
ब्रह्मलोक–८
ब्रह्मविद्या–२
ब्रह्मविमान–५३
ब्रह्मविहार–१, ७, १६, ५४–५६, ६४–६७, २५५, २५६, २८७
ब्रह्मविहारोपेक्षा–७२, ७३
ब्रह्मा–१०७, १११, ११८, २४१
ब्रह्मासन–१४८
ब्रह्मा-सहपति–५, १८३, ५५७
ब्रायन् हाजसन्–१२३
ब्राह्मण–१, ३, ३५, १६२, २३१, २६३, २८७, ४२८, ५७१
ब्राह्मण-काल–१
ब्राह्मण-धर्म–२, ११, ५७०
ब्राह्मण-श्रमण–१, २४४, २५१
ब्राह्मण्य–२८७
ब्राह्मी–१३५
ब्रिटिश–१२४

भ

भग–६३
भक्ति–१०४, १३०, १५०
भक्तिमार्ग–१४८, १५०
भगवती–१६१, २१७
भगवान्–२१७
भदन्त–३६, ३११, ३७२
भदन्त-श्रीलाभ–२३२
भद्रक–१७६
भद्रक-दृष्टि–२४
भद्रकल्यावदान–१४१
भद्रक-शील–२४
भद्रघट–१८६
भयदर्शिता–३३६
भरहूत–२८
भरुकच्छ–३५
भव–१६, २०, २१, ४५, ७३, २२५, २२६, २३५, ३१५, ४५२
भवचक्र–२१, २२४, २२७, २३६, २३७
भव-तथता–४३४
भव-तृष्णा–२२८, २३५
भव-त्रय–३३७
भव-पर्यापन्न–७६
भव-राग–२२, २५६, ३६६
भव-सम्पत्ति–५७
भवाग–२१, ४२, ५५, ६६, ५५५
भवाग-विज्ञान–३०२, ४५२
भवाग्र–२३
भवाग्रज–३४६
भवास्रव–२३३
भविता–२४६
भविष्यत्–५७८
भवोपकरण–३३७
भव्य–१७०, २८८, ४८८
भाजन–२६५
भाजन-लोक–२५०, ३६८
भाण्ड–५७५
भाब्रू–१०३
भारत–३, १०३, १२३, १२६, २२१, २७६, ४२२
भारतवर्ष–३२, १ ६, १५३, २७६

भारतीय–१७१, २८७
भारतीय दर्शन–३१, १७०, ३१२, ५६५, ५७०, ५७२
भारद्वाज–१५
भारहारसूत्र–४११
भाव–२२३, २४६, ५८१
भावना–६६, ६४, ६७, ४३८
भावना (सस्कार)–२५३
भावना-क्रम–६१, ६८
भावना-फल–३६७
भावना-मय–६२, ३६३, ४०१
भावना-मार्ग–२३, ३३०, ३३१, ४०७, ४७४
भावना-विधान–५७
भावना-संज्ञा–६१
भावना-हेय–२२
भावविवेक–१६७, १७०, ४२२, ४५४, ४७७, ४८०, ५४०
भावान्यथात्व–३७२
भावान्यथिक–३१३
भावाभिनिवेश–२१५
भास–१३७
भास्कर–१६२
भिक्खुणी-सयुत्त–३१
भिक्षादान–२६
भिक्षु–५, ११, ३०, २५४
भिक्षुणी–३०, २५४
भिक्षु-पोषध–२५५
भिन्न-प्रलाप–२७१
भुसुकु–१७३–१७५
भूत–१३२, १५०, २१८, ५७८
भूतकोटि–११४, २१४, ५७७
भूतचतुष्टयवाद–२३८
भूततथता–११६, १८४, ३०४, ४७४
भूतवाद–५८४
भूतान्त–१६२
भूतार्थिक–११३
भूमि–३३४, ३४७
भूमिपर्यवसान–३८८
भूयोवीतराग–३३२
भेदाभेदवाद–४३०, ५८२
भैपज्यराज–१४८
भोक्ता–५६४
भोट–१७७
भोजन–५१
भौतिक–५७२
भौतिकवाद–५८४
भ्रान्ति–५६३

म

मंगोल–२६, १२५
मंजुवज्र–१७३
मजुवज्र-समाधि–१७३
मंजुवर्मा–१७३
मंजुश्रीज्ञान–१७३
मंजुश्रीबुद्धक्षेत्रगुणव्यूह–१५५
मंजुश्री-बोधिसत्त्व–१४२, १५१—१५३, १५५, १७१, १७७, १७८, १८२
मजुश्रीमूलकल्प–१७८
मक्खलि-गोसाल–४
मगध–३, ६, ११, २८, ३६, १२६, १३५
मगधवती–१३८
मज्जना–४३७
मज्झिम–३७, १०७, १०८
मज्झिमनिकाय–८, १३, २८, ३०, ३१, ३४, ४०, ५४, १२७, १३१, १३६, १७६, २२८,

२३३–२३५, २३७, २६२, २६३, २६८, २७०, २७६, २८२, २८३, २८६, २८८, २८९, २९२, २९४
मज्झिमनिकायट्ठकथा–४५
मट्टिका–३१५
मण्डनमिश्र–२९५
मण्डल–१७८
मति–३३४, ३३५, ३३७
मत्सर–३३९
मत्सरमल–७९
मथुरा–३५
मद–३३९, ३४०
मध्यन्दिन–३७
मध्य–२२
मध्य एशिया–२६, ३६, ३७, १२४, १२६, १३८, १४०, १६३
मध्य-कल्याण–१०
मध्यदेश–५, ११, २९, ३५, ३६, १२८, १७३, १७५
मध्यदेशीय–१२८, १२९
मध्यक–१०७, ४४९
मध्यमक-कारिका–१०७, १७०, ४८८, ५४२ ५५१, ५५४, ५५६, ५५८
मध्यमक-कारिकावृत्ति–५६२
मध्यमक-दर्शन–४९२
मध्यमक-मूल–२१५, २१७
मध्यमकवादी–१०७
मध्यमक-वृत्ति–११४, २७४, ५८७
मध्यक-शास्त्र–४८८, ४८९, ४९६, ४९७, ५०५
मध्यकावतार–१२०, १६८, १७०, २१७, २७४, ४९४, ५३०, ५५३–५५५
मध्यमकावतारटीका–१२०
मध्यम-निकाय–२८
मध्यम-मार्ग–१२, १६
मध्यमहृदयवृति-तर्कज्वाला–४८८
मध्यमागम–२९, १२५, १२७
मध्यमा प्रतिपत्–४७७, ५३१
मध्यमा प्रतिपत्ति–१६, २४५
मध्यान्तविभाग–३४३, ४४३, ४७५, ४७७, ४८३
मध्योपक्लेश–३४०
मनःसचेतनाहार–४५८
मनःसस्पर्श–२३४
मन–२२१, २२३, २८४, ३३३, ४३७, ४६४
मन-आयतन–३१८
मन-इन्द्रिय–३२७–३२९
मनन–२२२, ४३७
मननास्य–४३७
मनसिकार–२५६, ३३४, ३३८
मनस्–४६४, ४६८, ४७०, ४७४
मनस्कर्म–२६९
मनस्कार–३३४, ३३५ ४०१, ४४४, ४४५
मनुष्य–३६८
मनुष्योपादान–५३४
मनुस्मृति–३३०
मनोदण्ड–२५१
मनोधर्म–५९४
मनोधातु–३२८
मनोपविचार–२३४
मनोमयकाय–१०७
मनोविज्ञान–१६२, २५३, ३२८, ४६४, ४६८, ४७४

मनोमचेतनाहार–९८
मन्त्र–१५०, १७६–१७८, २४७
मन्त्रयान–१०६, १७६–१७८
मन्यना–४३७
ममकार–३३८
मरण-चित्त–४५७
मरण-भव–२३६
मरण-स्मृति–४६
मरणानुस्मृति–५४, ७९
मरीचिका–४०३
मरुत्–१५०
मर्मप्रदीप–१६९
मल–३१४
महत्–३५१, ३५३, ४२८
महाकच्चान–३४
महाकरुणा–१५६, ३३७, ३७१
महाकल्प–२६५
महाकात्यायन–२७, १४७
महाकाल–५७१
महाकाश–४८७
महाकाश्यप–८, ९, १२, १३, १४५, १४६, १५१, १५५
महाकूट–१५४
महागोविन्दसुत्त–१३१
महागोसिंगसुत्त–९, १३
महाजन–२५१
महाजनपद–३६
महात्मदृष्टि–४०७, ४०८
महादेव–३६, १३९, २२३, ३२२
महाधर्ममेघ–१३३
महानिर्देश–१४२
महापकरण–३३
महापदानसुत्तन्त–१३४
महापद्म–१२२
महापरिनिब्बान–३१
महापरिनिब्बानसुत्त–१०६, ३८५
महापरिनिर्वाण–४५
महापरिनिर्वाणसूत्र–१३४
महापुरुष–१०४, १०८, १३४, ५७०
महापुरुष-पुद्गल–५५३
महाप्रजापति गोतमी–६, १० १४७, १४९
महाप्रज्ञा–९९
महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र–१६४, १६५
महाप्रज्ञापारमितासूत्र–१५७
महाप्रतिसार–१७६
महाप्रातिहार्य–११८
महाबोधि–३८८, ४२२
महाब्रह्मा–६६
महाभदन्त–३०१
महाभारत–३१
महाभिक्षाज्ञानाभिभू–१४७
महाभूतचतुष्क–३१६, ५६६, ५६८
महाभूमि–३३४
महाभूमिक–३३४–३३६, ५६७
महामंगलसुत्त–१७
महा (रक्षा) मन्त्रानुसारिणी–१७६
महामयूरी–१७६
महामाया–१०
महामौद्गल्यायन–१४५, १४७
महायान–२६, १०४, १०५, १०७, ११९, १२३, १२८, १३०, १३१, १३६, १३८, १४०, १४१, १४४, १४५, १४८, १५६, १६०–१६४, १६६, १६७, १६९, १७१, १७६, १७७, १७९, १८०, १८३, १८६, २०६, २२४, २३८, ३००, ३०१, ३०३, ३०४, ३०७, ३०८, ३७३, ३८३–३८६, ३८८, ३९०, ३९२,

४१५, ४१७, ४२२, ४५१, ५७४, ५७६

महायान-ग्रन्थ—१३६, १५७, १८४

महायान-दर्शन—१६४, १७८, ३१२, ३८३

महायान-धर्म—१०३, १२४, १६४, १६५, १६६, १७१, १७३, १८३, १८४, १८६, ३८३

महायानधर्मी—१४१

महायानवाद—१०६

महायानवादी—१०६, १०७, ३०१, ३१२

महायानविंशक—१६७

महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र—११२

महायानसंग्रह—४६६

महायानसंपरिग्रह—१६८

महायान-सवर—१०६

महायान-साहित्य—१५७, १७६

महायानसत्र—११०, १३६, १४१, १४६, १५१, १६७, १७६, १७७

महायानसूत्रालकार—१५०, १६४, १६८, ३०७, ३७६, ३८४, ३६२, ३६६, ४२२

महायानाभिधर्मसगीतिशास्त्र—१६८

महायानाभिधर्मसूत्र—४५१

महायानी—१६४, १६५

महाराष्ट्र—३

महारौरव—३६८

महावंश—७, २६, ३७

महावग्ग—२७, ३०, १२६, १३५, १८३, २८६, २८७

महावद्यतम—४२०

महावस्तु—३०, १०५, १०७, ११७, १२८, १२६, १३०, १३१, १४०, १४२, १४६, १६४, १६५, १७६

महावस्तु-अवदान—१२४, १२६, १३०

महाविभाषा—३०, १२६, १२७, ५७५, ५७५, ५७६, ५७८, ५७६, ५८१

महावीर—४

महावैपुल्यमहायानसूत्र—१७८

महाव्युत्पत्ति—११२, १५१, ३८७

महाव्यूह—१३१, १५१

महाशीतकर्त्ता—१७६

महाशून्य—१०३

महाश्रावक—४५, १५२

महासघ—७, ८, ३६

महासतिपट्ठानसुत्त—६६

महासत्त्व—१६१

महासमुद्र—५७६

महासहस्रप्रमर्दिनी—१७६

महासाघिक—८, २६, ३३, १०५, ११७, १२६, १३४, १३६, १६५, २२६. २८८, ३०६, ४५४,

महासाघिक-निकाय—४५१

महासाघिकवाद—२६

महासावद्य—२५१

महासुवर्णगोत्र—३८८

महास्थाम—११६

महाहत्थिपादोपमसुत्त—६६

महिंसक-मण्डल—३७

महिंसासक-निकाय—३७

महिष-मण्डल—३७, ३८

मही—६०

महीशासक—३६—३८, १२५, ४३४, ४५२

महेन्द्र—२५

महेश्वर—१११, १३१, १५०, २६२, ४२६

महोपक्लेश–३४०, ३४४
मार्गधिका–२२
मागधी–२५, २६
माणवक–१५
माण्डूक्योपनिषत्–१२१
मातिका–२७
मातुगामसयुत्त–३१
मातृका–२७
मातृकापिटक–२७
मातृचेट–१४०, १७६, १८०
मात्सर्य–३३८–३४०
माधव–५६६, ५८५
माध्यमिक–११५, १६६, १६७, १७०, १७७, २२३, २३८, ३०१–३०५, ३८६, ३६०–३६२, ४०८, ४१८, ४२४, ४४६, ४७४, ४७८, ४८०, ४८६
माध्यमिककारिका–४८८, ५२८, ५३२, ५६५
माध्यमिककारिकावृत्ति–५२४
माध्यमिक-दर्शन–१७०, १७४, ४८८
माध्यमिक-नय–४८८–५६२
माध्यमिक-वाद–१६६
माध्यमिक-वृत्ति–११५
माध्यमिक-सम्प्रदाय–१६७
माध्यमिकसूत्र–११४, ११५, १६७
मान–२२, ४६, २०७, ३३८, ३३६, ३६६
मानमेयोदय–५७३
मानस-कर्म–२५६
मानस-प्रत्यक्ष–५६३
मानसिक–१६८
मानुषी-बुद्ध–१०५, १२०, १२२
माया–११६, ११८, ३३६, ३४०, ४०३
मायाकुमारी–१०४, १५३
मायादेवी–१३२, १८२
मायाराज–४०३
मायोपम–११५, २१३
मायोपमता–४०२
मारकथा–१४१
मारधर्षण–१३५
मारसयुत्त–३१
मारसवाद–१३६
मार्ग–४३, ७३, ६३, ६४, २८३, ४६७
मार्गगमन–४४
मार्गज्ञान–३७०
मार्गप्रत्यय–३५८
मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि–१००
माल्यगन्धविलेपनविरति–१६
माहात्म्य–१७६
माहिष्मती–३७
मितभाषिणी–५७३
मिथिला–२
मिथ्याग्रह–४८६
मिथ्याग्राह–४७६
मिथ्याज्ञान–२२१
मिथ्यादृष्टि–१८४, २५१, २६०, ३३८
मिथ्याधिमोक्ष–३३८
मिथ्यासंवृति–२१४
मिथ्योपचार–२२३
मिद्ध–४१, ३३८, ३४२
मिनायेव (आई० पी०)–१७२
मिनेण्डर–३३
मिलिन्द–३३
मिलिन्दप्रश्न–१२, ३३, ३४, २८०, २६६

मिश्रसंस्कृत–१२८, १३१, १४२
मीमासक–२६६, ५७१–५७३, ५८३, ५८४, ५६०, ५६१
मीमांसा–५६८
मुक्तत्याग–७६
मुक्ताचार–४
मुक्ति–५, १६२, २०६, २६५
मुख्य-विभ्रम–५६३
मुदिता–१६, ५४, ६४–६६, १६५, ३३७, ४१२
मुद्रा–१७७, १७८
मुषित-स्मृतिता–३३८, ३४०
मुषिता-स्मृति–३३६
मुष्टिप्रकरण–१६८
मुसलमान–१२३
मुहूर्त्त–५४५
मूर्च्छा–४५२
मूर्त्तिकला–१०५
मूर्त्तिपूजा–१०३, १७७
मूर्धन्–२२
मूल-उत्पाद–५१३
मूल-कारण–२२३
मूल-क्लेश–३३६, ३४४
मूलत्रय–२५८
मूल-प्रतिभू–४२६
मूलविज्ञान–३०२, ४२३, ४२७, ४३६ ४५१, ४८१
मूल-समुच्छेद–२५८
मूल-सर्वास्तिवाद–३६, ३६, १२५, १२६, १४०
मूल-सर्वास्तिवाद–३७
मृगदाव–५
मृगमरीचिका–४२४, ५६६
मृगव्रतिक–४
मृत्यु–५७०, ५७१
मृदु–२२
मृदुता–३५३
मृषा–४, २५५
मृषावाद-विरति–१६, २४
मृषावादावद्य–२५५
मेघश्री–१५३
मेघियसुत्त–५७
मेत्तभावसुत्त–१७
मेदिनी–६०
मैक्समूलर–१५०
मैत्र-चित्त–१४
मैत्रायणीब्राह्मण–५७१
मैत्री–३२, ५४, ६४, ६६
मैत्री-पारमिता–१८१
मैत्री-भावना–१६, ४६
मैत्री-विहारी–१७
मैत्रेय–१०४, ११७, १५४, १७४, १८५, ४३५, ४७७
मैत्रेयनाथ–१५०, १६२, १६८, ३८४
मैत्रेय-बोधिसत्त्व–१४२, १५४, १६८
मैथिल–१७३
मोक्ष–२३, २२१, २४५, २८६
मोक्षशास्त्र–२२१, २२२
मोषधर्मा–५२४
मोह–२२१, २२४, २६०, २७२, ३२०, ३३८, ३३६
मोहचरित–४८–५३, ५७
मोहचर्या–४८
मोहमूढ–५१२
मौग्गलिपुत्त-तिस्स–३७, १२५
मौद्गल्यायन–६, ६, ११, १३७, १४८, १५१, २८६

मौर्य–१६२
मौल-उत्पाद–५१३
मौल-कर्म–२५१, २५२, २७५
मौल-कर्मपथ–२५२
मौल-ध्यान–६२
मौल-प्रयोग–२५२
मौली-स्थिति–४०७
म्रक्ष–३३६, ३४०
म्लेच्छ–१६२

य

यक्ष–१६०, २७५
यक्षवुद्धसवाद–३१
यक्षयुधिष्ठिरसवाद–३१
यज्ञ-याग–१, ३१
यज्ञशाला–७७
यति–२
यथावादितथाकारिता–१५६
यन्त्र–१७८
यम–५७०
यमक–३३
यमलोकोपपत्ति–१८४
यवदूपी–१७
यवन–१४
यश–५, ३५
यशोधरा–१४७
यशोमित्र–६६, १२७, १२८, १६६, ३४०, ३७२, ५७२
याचना–१८६
याचयोग–७६
याज्ञवल्क्य–१६२
यान–१०५
यानद्वय–४७३, ४७४
याम–६६, ३६८
यामागु ची–४७६
यारकन्द–१२४
युआन-च्वाग–१२४, १२६, ३१२
युक्तिषष्टिका–१६७
युगपत्–५७१
युधिष्ठिर–३१
यूनान–३२५
यूनानी–१०५
यूरोप–१२३, १३७
येवापनक–३३४, ३३८
योग–२१७, २२२, २७६, २८२, २८४, २८६, २८७, २९७, २९९, ३९९
योगक्षेम–२७६
योगतन्त्र–१७७
योगदर्शन–४१, ४२, ५४, ८२, १४६
योग-भावना–८०
योगशास्त्र–८०, १०७, २२२, ४४६, ४५०, ४६६, ४६७, ४७३
योगसिद्धि–१७८
योगसूत्र–२०, ६१, ८१, ८३, २२१, ३०१, ३३०
योगसूत्रव्यासभाष्य–८१, ८३
योगाचार–१०७, १६२, १६३, १६६, १६८, १७५, २२३, ३०१, ३०२, ३०३, ३०६, ३९२, ४३२, ५७४, ५९४
योगाचारभूमिशास्त्र–१६८
योगाचार-सौत्रान्तिक–३०१
योगानुयोग–४४, ८०
योगाभ्यास–२२२, २९९
योगावचर-भिक्षु–७७
योगिनी–१७८
योगिप्रत्यक्ष–५९४

योगी–११, ५७, ५८, ८५, ८६, २१७, २२२, २६२, २७९
योनि–२५७, ३४७, ४५६
यौनिशोमनसिकार-२५७
यौगपद्य–५२७
यौवराज–१३०

र

रज–३१५
रतनसुत्त–१७
रति–२०६
रत्नकूट–१५५
रत्नकूट-धर्मपर्याय–१५५
रत्नमति–१४२
रत्नमेघ–१८२
रत्नव्यूह–१३२
रश्मिप्रभास–१४६
रस–३१५, ३१५
राइट–१२३
राउज (डब्ल्यू० एच्० डी०)–१७२
राक्षस–१५०, १६२
राग–९४, २२४, २७२, ३३९, ३६९
रागक्षय–२७८
रागचर्या–४८
रागचरित–४८–५१, ५७
रागद्वेषचर्या–४८
रागद्वेषमोहचर्या–४८
रागमोहचर्या–४८
रागरक्त–५११, ५१२
रागानुशय–२५७
राजगृह–६, ८, २७, ११८, १२६, १४२, १५५, १५७
राजतरंगिणी–१६७
राजेन्द्रलाल मित्र–१२३, १२४, १३१
रात्रि–५४५
राम–१२१, १२२, १६२, ३७२
रामानुजाचार्य–१२१
रामायण–१३७
रामावर्त्तन्त–१५३
रावण–१६२
राष्ट्र–३
राष्ट्रपाल–१५६
राष्ट्रपालपरिपृच्छा–१५५, १५६
राष्ट्रपिण्ड–१७
राहुल–६, १३० १४७, २६६
राहुल-साकृत्यायन–१६९
राहुलोवादसुत्त–९९
रिक्त-आसन–१०३
रीस् डेविड्स–२५, २९, २७८, २७८
रुचि–३२०
रुचिरा–१३०
रुतार्थ–३८५
रुद्र–३२२
रूप–३३, ६२, ९०, २२९, २७८, ३१५, ३७३, ४३०, ५६६
रूपकाय–१०८, ११२–११४, ११७, १२० १६३, १६५
रूपकायसम्पत्–११३
रूपकार–१३६
रूपतृष्णा–२३१
रूपधातु–६६, १२०, २३६, ३२०, ३४३, ३६८
रूपभव–७३, २३५
रूपलोक–११९, २९९
रूपवती–१३०
रूपसग्रहसूत्र–३१७
रूपसज्ञा–९७
रूपस्कन्ध–३१५–३१८

रूपायतन–३१५, ४१७, ४७८
रूपावचर–२२५, ३३३
रूपावचर-भूमि–६५, ६६
रूपावचर-रूप–३५५
रूपी-स्कन्ध–३४४
रूसी–१७२
रेचक–८०, ८१
रेचन–८०, ८१
रेने-ग्रूसे–३९२, ३९६, ३९८, ४४१
रेवत–२६, २७
रैयूकन-कीमूरा–२६
रैवत–९
रौरव–३६८

ल

लंका–२६, २७, ३८, १२६, १२९, १५०, १६२
लंकाद्वीप–२५
लंकावतारसूत्र–१४१, १६१, १६२, १६३, १६५, १६६, ३०७, ४४२, ४४६, ४५१, ४६७, ४७४, ४७७
लकोक–१२४
लक्खणधम्म–२९०
लक्षण–८७, ३४४, ३५०–३५२, ४८३, ५००
लक्षणत्रय–४८५
लक्षणधर्म–२९०
लक्षण-निःस्वभावता–४८६
लक्षणानुसार–१६९
लक्षणान्वयिक–३१३
लक्ष्मींकरा–१७७
लक्ष्य–५००
लक्ष्य-लक्षण–५००, ५६५
लगुड-शिखीपक-परिव्राजक–३७७
लघिमा–१७७
लघुता–३५३
लघुत्व–३१६
लदाख–१२४
ललितविस्तर–३०, १११, १२४, १२८, १३०, १३१, १३४–१३६, १४१, १४२, १४६, १५५, १५६, १७६
लव–५४५
लाक्षणिक विरोध–६१२
लाट–३६, १२६
लाभ–४३
लामा-सम्प्रदाय–१७७
लिंग–५०२, ५९९
लिंग-त्रैरूप्य–५९३
लिपि-फलक–१३५
लिपिशाला–१३४
लिपि-शास्त्र–१३५
लुडर्स–१३७, १३८
लुम्बिनी (वन)–११७, १३२
लेटिन–१७२
लेण–२९५
लेफमान (एस्०)–१३१
लोक–३१५, ४०२, ४४०, ५५१
लोकधातु–१५३, २२४, २६५, ३६८, ३६९
लोकनाथ–५६२
लोकवाद–६, २४
लोकसंवृति–४९२
लोकसंवृति-ज्ञान–३७०
लोकसंवृति-सत्य–५५४, ५५५
लोकायत–१६२, २९९
लोकायतिक–४२९
लोकेश्वरशतक–१७६
लोकोत्तर–९, १०४, १३४, १३५, ३३३

लोकोत्तर काय–१२०
लोकोत्तर ज्ञान–४०५
लोकोत्तर धर्म–४०६
लोकोत्तर पुरुष–१०४
लोकोत्तर मनस्–४७३
लोकोत्तरवाद–१०५, १०७, १३१, १३४
लोकोत्तरवादी–१२६, १३०, १३४, १३५, १६५, २८८
लोकोत्तर समाधि–४१, ६४, १००
लोकोत्तर स्कन्ध–११२
लोचन–१२०
लोभ–२५६, ३३८
लोहरज–३२५
लोहित–३१५
लोहितक–५४, ५६
लोहित-कसिण–५४, ७६
लौकिक समाधि–४१, ४३, ४०५

व

वग–१३५
वक्क–७६
वचन–३२६
वज्र–१७६
वज्रच्छेदिका–११३
वज्रच्छेदिकाटीका–१६८
वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिता–१५७
वज्रयान–१०६, १७४–१७७
वज्रसत्त्व–११७, १७६
वज्रसूची–१३८
वज्रानग–१७७
वज्रोपम समाधि–२३, ४०७, ४०८
वट्ट–२२७
वत्थुसच्च–२६०
वत्स–३८
वत्सपुत्र–३८
वदतावर–४८६
वन्दना–१८६
वरुण–१५०, १६२
वर्ण–३१५, ३१६
वर्ण-कसिण–५२
वर्णधर्म–५६४
वर्णधर्म-व्यवस्था–३१
वर्णलक्षण–५८६
वर्णव्यवस्था–३१
वर्णसज्ञा–५६६
वर्णाश्रमधर्म–१
वर्त्त–४७, ८०
वर्त्तदुःखसमुच्छेद–७६
वर्त्तप्रतिपत्ति–१६
वर्त्तप्रतिवर्त्त–४६
वर्त्तमान–५०४, ५७८, ५८२
वर्त्तमान-भव–२०
वर्त्म–२२७, २३७
वर्त्म-कथा–२२८
वर्त्मच्छेद–२६४
वर्मा–२७, १२६
वर्षावास–७
वसुन्धरा–६०
वसुधा–६०
वसुबन्धु–३०, १२७, १२८, १३६, १४२, १६८–१७०, २३८, २४४–२४६, २६३, २६०, ३००, ३११, ३१२, ३१४, ३१८–३२०, ३२३, ३२६ ३३६, ३३७, ३३६, ३४१, ३४२, ३४७, ३५४, ३६६, ३७३, ४१५–४२२, ४४७–४५१, ४६४, ४७५, ४८०–४८२, ५६५, ५८८

वसुवर्मा—३७२
वसुमित्र—३६, ३७, १२६, १२७, १३६, ३०१, ३११, ३१३, ३१४, ३५०, ४६०, ५७५, ५७६, ५८१
वस्तु—२२७, २३६, ३०१, ५६२
वस्तुकाम—६६
वस्तुमात्र—११६
वस्तुशक्ति—३५३
वस्तुसत्—२२३, २४३, ५६२
वस्तुसत्ता—५६१
वस्तुसत्य—२६०
वाक्—३२६
वाक्-संस्कार—३४१
वाग्-दण्ड—२५१
वाग्-विज्ञप्ति—२५४, ३१६
वाच्—५७०
वाचस्पतिमिश्र—८३, २२१, ३१५, ३३०, ५७४, ५६६, ५६७
वाचिक—२५०
वातराशि—५६
वात्सीपुत्रीय—३८, २४१, २४३—२४५, २८८, ३०६, ३८३, ४२५
वात्स्यायन—३०५, ५६५, ५६८
वात्स्यायनभाष्य—३०५ ३१५
वाद—२८४
वादविधान—५६५
वादविधि—५६५
वायु—५८४
वायुकसिण—५४, ७६
वायुधातु—८५, ६६, ५६६
वायुमण्डल—२६५
वाराणसी—५, १३६, १४४
वार्त्तिककार (उद्योतकर)—२२१
वाल्मीकि—१६२
वासना—४३८
वासिलीफ—२६, १२७, १७५
वासिष्ठ—१५
वासुदेव—२२३, ३२२
वासेट्ठपुत्तसुत्त—१५
विंशतिका—१७०, ४१५—४२१, ४४२, ४६६, ४७८, ४८६
विंशिका—३०
विकल्प—२२३, ४७५, ४८०, ४८४
विकल्पातीत—३०३
विकल्पाभेद्य—४०७
विकल्पित-धर्मग्राह—४३५
विकार-हेतु—३५७
विक्खायितक—५४
विक्खित्तक—५४
विक्रमशिला—१७३
विक्षिप्त चित्त—२५४
विक्षेप—३३८, ३३६
विगतप्रत्यय—३५६
विग्रहव्यावर्त्तनी—१६७, ४६०, ५५३, ५६५
विघ्न—८५, ६३
विचार—४२, ५५, ६७, ३३४, ३३८, ३४१, ३८२, ५६७
विचिकित्सा—२२, ४१, ३३८, ३३६
विचित्रकर्णिकावदान—१४१
विच्छिद्दक—५४
विज्ञ—७८
विज्ञप्ति—२२३, २५२, २५४
विज्ञप्तिमात्रता—४०४, ४१७, ४२२, ४७५—४८०, ४८७
विज्ञप्तिमात्रतावाद—४८०
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि—१७०, ४२२—४८७
विज्ञान—२०, ५४, २२३, २२५, २३१, २३३, ३३३, ४३७, ४५७, ४५८, ४६४, ४७४, ४८१

विज्ञान-कसिण—५४
विज्ञानकाय—३१८, ४७४
विज्ञानकायपाद—२९, ३११
विज्ञान-क्षण—२२५
विज्ञान-परिणाम—४३३, ४३७
विज्ञान-परिणामवाद—४३५
विज्ञानभिक्षु—२२१, ५९६
विज्ञानवाद—१०७, ११६, १६१, १६२, १६८, १७०, २२३ २३८, २७५, २८८, ३०१, ३१२, ३३४, ३३७—३४१, ३४३, ३७३, ३८४—४८७, ५३२, ५६९, ५८६, ५८८
विज्ञानवादी—१०७, ११६, १६६, १७०, २२३, २७४, ३०१, ३०२, ३३४—३३७, ३८४, ३९२, ४१५, ४३१, ४३२, ४६३, ४६४, ४७८, ५६०, ५६९, ५८८
विज्ञानषट्क—४१७
विज्ञानसन्तान—५९६
विज्ञानस्कन्ध—३१५, ३१८
विज्ञान-स्वभाव—४२३
विज्ञानानन्त्यायतन—५४—५६, ९७, ९८, ३६८
विज्ञानानन्त्यायतनभूमि—६६
विज्ञानायतन—४८५
विज्ञानावक्रान्ति—२३२
विज्ञानाहार—९८, ४५८
विज्ञानेन्द्रिय—३२९
विज्ञानोदधि—४८७
विण्टरनित्ज—१६८, १६९
वितथ-प्रतिभासिता—४८०
वितर्क—४२, ५५, ६७, २५६, ३३४, ३३८, ३४१, ३८२, ५३७
वितर्क-चरित—४८, ४९, ५२, ५७
वितर्कचर्या—४८
विदिशा—३८
विदूषणा—४३३
विद्याभूषण (एस्० सी०)—१७३
विनय—८, ९, १२, २५, २७, ३५, ३६, ३८, १०६, १०७, १२५, १२७, १३०, १४०, २८२, २८३
विनय-अर्थकथा—८१
विनय-ग्रन्थ—१२९, १६५
विनयधर—११, ३६, २५५, ३११
विनयपिटक—७, ३०, ३४, १२६, १२७, १६२
विनयमातृका—२७
विनायक—१६२
विनीतदेव—२६
विनीलक—५४
विपन्न—४७
विपन्न-अध्याशय—४७
विपर्यय—५५२, ५८९
विपर्यास—५५२
विपश्यना—१८, २०, ३९ ५७, ७३, ९०, ९३, ९४, ९९
विपश्यना-भूमि—९२
विपश्यना-मार्ग—९१
विपश्यना-यान—४१, ४३—४५
विपश्यनायानिक—१००
विपश्यनोपेक्षा—७२, ७३
विपाक—२२४, २२७, २९४, २९८, ३३१, ३६४, ४३७, ४३८
विपाक-काय—११९
विपाक-कारण—५८०

विपाक-चित्त—४५५
विपाकज—४३७
विपाक-प्रत्यय—३५८
विपाक-फल—२६४, २६५, २६७, ३६५, ४८१
विपाक-बीज—४३८
विपाक-वर्त्म—२२७, २३७
विपाक-वासना—४३७
विपाक-विज्ञान—४३६
विपाक-हेतु—३५४, ३६४, ३६५
विपाकाख्य—४३७
विपुल्वक (विपुलवक)—५४, ५६
विप्रयुक्त—४३२
विप्रयुक्त-प्रत्यय—३५६
विप्रयुक्त-संस्कार—३१८
विभंग—३३, २३४
विभक्त—३५१
विभज्यवादिन्—२२६, २८८, २६३, ३१२, ४५२
विभव—१६
विभवतृष्णा—२३५
विभाग—३५१, ३५२
विभाषा—३०, १२५—१२७, १३७, १३६, १६६, २२६, २३५, २६३, ३००, ३११, ३५०, ३५४, ३७२, ३७३, ५७४, ५७५
विभाषाकार—११७
विभाषाशास्त्र—३००
विभुत्व—५७२
विमति—३६६
विमला—४१३
विमानवत्थु—२६, ३२, ३४
विमुक्ति—७४, ११२
विमुक्तिज्ञानदर्शन—११२
विमुक्तिमार्ग—२३
विमुक्तिरस—६
विमोक्ष—१५४
विरजपद—८
विरति—३३७
विराग—५, २७८, २८७, २६५
विरागधातु—२६६
विराट्—१५०
विराट् पुरुष—५७०
विराट् प्रज्ञापारमिता—१६१
विरुद्ध—६१४
विरुद्धार्थता—४६१
विरुद्धाव्यभिचारी—६१६
विरोध—६११
विवर्त्त—२६५, ३६६
विवर्त्तना—६०
विवर्त्तनिश्रित—४७
विवर्त्तवाद—५६५
विविक्ताकार—६१२
विवेकख्याति—२२१
विशात—३१५
विशुद्ध—८०
विशुद्धि—१००
विशुद्धिमार्ग—२२७, २३०, २३२, २३३, २३५
विशेष—२४६, ३४८, ५६६
विश्वकर्मा—११६
विश्वजित्—७
विश्वदेवैक्यवाद—३६६
विश्वनाथ—५६८
विश्वभारती—१७०, ४८२
विश्वामित्र—१३५
विश्वास—२८४

विषमहेतुवाद–४८६
विषय–२३३, ३१५
विषय-विज्ञप्त्याख्य–४३७
विष्णु–१२१, १२२, १६२, ५७०, ५७१
विष्णुलोक–१२१
विसंयोग-फल–२७२, ३६६, ४८१
विसभाग–७७
विसुद्धिमग्गो (विशुद्धिमार्ग)–१२, २६, ३४, ३६, ४२, ५४, ६१, ६६, ७२, ८२, १०७, २२८ २२६, २३५, २३६, ३२२, ३२४, ३३८
विहरण–३२६
विहार–१३, ४१४
विहारदान–२६
विहिंसा–६६, ३३६, ३४०
वीथि–८३
वीथि–चित्त–६५
वीरदत्तपरिपृच्छा–१८६
वीर्य–६१, ६३, ६४, ३३४, ३३८
वीर्य-पारमिता–१८१, १८४, १६०, २०४
वीर्य-समृद्धि–२०५
वीर्यारम्भ–६३
वीर्योन्द्रिय–३२८
वीर्योपेक्षा–७२, ७३
वृत्त–५६, ३१५
वृत्ति-वैलक्षण्य–३८१
वृद्धि-हेतु–३५७
वृषभ–१६२
वृषलसूत्र–१४
वेग–३५३
वेतालीय–२८
वेतुल्यक–११७
वेतुल्लक–१०४
वेद–१, २८, १२७, ५७०, ५८३
वेदगू–२८७
वेदना–२०, २१, २२२, २२५, २२६, २३४, ३३४, ३३५, ३३८, ४४४, ४४६
वेदनात्रय–२३१
वेदना-द्रव्य–३४२
वेदनानुपश्यना–८५
वेदनास्कन्ध–३१५, ३१८, ३२०
वेदनेन्द्रिय–३२६
वेदनोपेक्षा–७२, ७३
वेदप्रामाण्य–५६१
वेदल्ल–२८, २६
वेदाग–१२७
वेदान्त–१२१, १६६, २२२, २७६, २८७, ३०८, ३२६, ३३०, ३६५, ३६६, ४६३, ४८६, ५८४, ५८५, ५८८
वेदान्तसार–५८७
वेदान्ती–५७२
वेध–२३
वेय्याकरण–२८
वेस्टरगार्ड–२५
वेस्सन्तर-जातक–१८०
वैखानश–२
वैखानश-व्रत–११
वैखानश-सूत्र–२
वैतालीय–२८, २६
वैदिक–७, २४, ३०, १७६, ३०० ५७१
वैदिक धर्म–१, ३, ११, ३१

वैदिक भाषा–१२६
वैदिकशब्दराशिनित्यतावाद–२३८
वैदिकी हिंसा–१
वैधर्म्य–२२२, ३१४
वैधर्म्यवत्–६०५
वैपुल्य–२६
वैपुल्यसूत्र–११०, १३१, १४१, १५६, १६१
वैपुल्यसूत्रराज–१४२
वैभाषिक–३०, १२५, १२८, १६६, २२३, २२७, २३२, २३८, २६७, २७३, २८८, २६०, २६३, ३००, ३०१, ३०४, ३०५, ३११–३७१, ३७३, ३७६, ३८२, ४१६, ४३०, ४३१, ५६०, ५६६, ५७३–५७६, ५८१, ५८२
वैभाषिक नय–३०४, ३११–३७१, ३८३, ४१५, ५७६
वैभाषिक प्रस्थान–१०७
वैभाषिक सिद्धान्त–२३८, २७४
वैयाकरण–२६
वैरोचन–११७, १२०
वैरोचनव्यूहालंकार–१५४
वैलक्षण्य–३८१
वैशारद्य–३७१
वैशाली–११, २६, ३५, १२५
वैशेषिक–२४३, २४८, ३०५, ३१४, ३२२, ३२४, ३२५, ३४८, ३५१–३५३, ३६६, ४१८, ४२४, ४२५, ४२८, ४२६, ४३५, ४४२, ४५३, ४६३, ४६३, ५२७, ५७१, ५७२, ५७४, ५७८, ५८१, ५८३, ५८५–५८७, ५६१, ५६२
वैशेषिक दर्शन–५८१, ५८५–५८७
वैशेषिकशास्त्र–२२२, ३५२
वैशेषिकसूत्र–३४८, ३५३, ५७२
वैसिलीफ–११६
वोकार–२३५
व्यंजन–३४४, ३४७, ३५२
व्यतिरेक–६०४
व्यतिरेकव्याप्ति–२४०
व्यवकार–२३५
व्यवदान–६४, ४६२, ५७७
व्यवदान-सम्भरण–३२६
व्यवमायात्मक–५६७
व्यवस्थान–५४, ६६
व्यवहार-सत्य–१६१, २१७
व्याकरण–१५, १२६, १४०
व्याख्यायुक्ति–१७०
व्यापाद–१७, ४१, ६७, २७१
व्यापाद-स्पर्श–२३४
व्याप्ति–२३६
व्यामिश्र–२
व्यायाम–६४, २५६
व्यावदानिक–४०३, ४६२
व्यावहारिक–४२८
व्यावहारिक-तत्त्व–५६८
व्यावृत्त-धर्म–२२२
व्यास–१६२
व्यासभाष्य–४२, ३०१
व्युत्थान–७०, ६०
व्युत्थानवशिता–७१
व्युत्पत्ति–४५२, ४८२
व्युत्सर्गरत–६६
व्युपशम–३३७
व्यूहन-कर्म–३१६, ५६६

श

शकर–३६६, ४७६, ४८६, ५६६, ५८७, ५६५
शकरमिश्र–२२२
शकुक–३६२
शक्र–११६
शक्राशन–१४८
शतकशास्त्र–१६८
शतसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता–१५७, १६१, १६५–१६७
शब्द–३१५, ३१६, ५८३, ५८६
शब्दज्ञान–५६८
शब्दतन्मात्र–५८५
शब्द-प्रमाण–१
शम–१६१, २२२
शमथ–४२, ६४, १६१, २१२
शमथ-निमित्त–६८, ६६
शमथ-मार्ग–६१
शमथ-यान–३६, ४१
शमथयानिक–६३
शमाभिराम–३६४
शयन–५०
शयनासन–२७, ४३
शरण–२७८, २६४
शरणगमन–१८६, ३८६
शरवात्स्की–६, २६६, २६७, ३००, ३०२, ३०५, ३०६
शरीर–२२१
शलाकावृत्ति–२६६
शशरज–३२५
शशशृंग–५६६
शशि–६०८
शशिकेतु–१४७
शाक्त–१७७
शाक्य–१३५, १३७
शाक्यपुत्रीय–५
शाक्यमित्र–१७८
शाक्यमुनि–१०४, १०७, ११७, १२०, १४७, १६५, १७८–१८०, १८२, २३५, २८६
शाक्यवंश–२, ३, १३०, १६२
शाक्यसिंह–२०७
शाठ्य–३३६, ३४०
शात–३१५
शातवाहन–१६७
शान्त–३०३
शान्तमति–५४२
शान्तरक्षित–१७५
शान्तिदेव–१०६, १०८, १५७, १६७, १७१–१७५, १८४–१८६, १६०, १६४
शारिपुत्र–६, ६, १०, ११२, १३७, १४३–१४५, १४८, १४६, १५१, १५२, १५७–१६१, २८६, २८७ २६०
शारिपुत्र-अष्टक–१७२
शारिपुत्र-प्रकरण–१३७, १३८
शार्दूल-कर्णावदान–१४१
शालवन–६, १०
शाश्वतकाल–५६६, ५७१, ५७४
शाश्वतदृष्टि–१६
शाश्वतवाद–२३१, २४५, ५३१, ५३२, ५३७, ५४८
शास्ता–१, ३, ८, ६३, १०३
शास्तृपद–२३५
शाम्वदीपिका–३४६

शिंशपा—६००
शिक्षमाण—२५४
शिक्षात्रय—१८
शिक्षानन्द—१५१, १६२
शिक्षापद—३०, ३२, २५६
शिक्षासमुच्चय—१२४, १५६, १७१, १८४, १८६, १८६, १६१, १६२, १६४, २१२
शिन्-शु—१५१
शिल्पयोग—१३५
शिव—८०, २६५, ४८६, ५६२, ५७० ५७१
शीतता—३१३
शी-तोकु-ताय-शि—१४२
शील—१८, १६, २३, ३१, ३४, ११२, १७१, २६०, २३१
शीलकथा—१४८
शीलपारमिता—१८१, १८४, १८६, १६०
शीलभद्र—१७०, ४२२
शीलविशुद्धि—१००
शीलव्रतपरामर्श—१६, २६०, २६२
शीलव्रतोपादान—२३१, २३५
शीलानुस्मृति—५४, ७८
शुंगवंश—१४१
शुआन-च्वांग (युवान—च्वाग, ह्वेनत्सांग)—१२८, १५१, १५७, १६७—१७०, ४२२—४२५, ४२७—४३५, ४३७, ४३६—४४२, ४४६, ४४८—४५३ ४५५, ४६३—४६६ ४७५—४७८, ४८०—४८२, ४८४—४८६
शुक्र—१६२, ५७०
शुचित:—४०५
शुचित्रय—१६
शुद्धकाय—११४
शुद्धावास—६६
शुद्धाष्टक—३२३
शुद्धि—२६४
शुद्धोदन—२, १३१, १३५
शुभ—३८३
शुभकृत्स्न—६६
शुभचन्द्र—४६७
शुभव्यूह—१४८
शुभांग—१३५
शून्यता—११४—११६, १५५, १५६, १६२, १६५, २१४, ३०४, ३८४, ४७४, ४७८, ५५३
शून्यता-भावना—१५६
शून्यताभिनिवेश—२१५
शून्यतावाद—४१८, ४७६, ४७८
शून्यतावादी—११५
शून्यताविहार—७३
शून्यतासप्तति—१६७
शून्यतासमाधि—४०५
शून्यवाद—१५४, १६१, १६७, २२३, ३०२, ४८०, ५३१, ५८८
शून्यवादी—२२३
शूरंगमसूत्र—१८६
शेष—१२१
शेषाशन—१२१
शैक्ष—७, २७१
शैक्षभूमि—१४४
शोभन-चैतसिक—३३४, ३३७, ३३८
शोभन-साधारण—३३७
श्याम—२७
श्रद्धा—६१, ३३६, ३३७, ३८२
श्रद्धाचरित—४८, ५०, ५१, ५७

श्रद्धाचर्या–४८
श्रद्धाबुद्धिचर्या–४८
श्रद्धाबुद्धिवितर्कचर्या–४८
श्रद्धावितर्कचर्या–४८
श्रद्धेन्द्रिय–३२८
श्रमण–१
श्रमण-धर्म–४३, ४४
श्रवण–२२२
श्रामणेर–११, ५८, ५६, २५४
श्रामणेरिका–२५४
श्रामण्य–२३, २७८, २८७
श्रावक–१२०
श्रावक-बोधि–१६५
श्रावक-भूमि–१५८
श्रावकयान–१०६, १४४, १४६, १६४, ३०७, ३८४–३८६
श्रावकयानाभिसमय–३८७
श्रावकसघ–७८, १११
श्रावस्ती–३, २५, ११८, १५१, १५६, २७६
श्रीगुह्यसमाजमहायोगतन्त्रबलिविधि–१७४
श्रीचक्रसम्भारतन्त्र–१७८
श्रीडर–५८४
श्रीलब्ध–१२८
श्रीलात–३७२
श्रीलाभ–२३२, ३०१, ३२४
श्रीवैकुण्ठगद्य–१२१
श्रीहर्ष–१७१
श्रुतधर–१०
श्रुतमय–३६३
श्रुति–५८३
श्रोणापरान्तक–१७९
श्रोत्रिय–२८७
श्रोत्रेन्द्रिय–३२७, ३२८
श्लक्ष्णत्व–३१६
श्वानशील–२६२
श्वेतास्थि–२६६
षट्पारमिता–१४२, १५४, १८४, २१२, २१८
षडगोपेक्षा–७२, ७३
षडशता–४१८
षडक्षरमन्त्र–१५०
षडभिज्ञ–८०
षडायतन–२०, ४५, २२५, २३१
षडिन्द्रिय–२३१
षड्दर्शन–५७०
षड्धातु–५८७
षड्विज्ञान–३४४, ४३८, ४७४, ४७६, ४७७, ५०२
षड्विज्ञानकाय–२३१

स

सकोच-विकास–३३०
सक्रान्ति–२८६
सक्लेश–४६१
सक्लेश-व्यवदान–४६१
सख्या–३५१, ३५३
सगीति–१०, १२, ३३, ३६, ३७, २८३
सगीतिपर्याय–२७
सगीतिपर्यायपाद–२६, ३११
सगीतिसुत्तन्त–२७

सग्रह–४७३, ४८३
सग्रह-कर्म–३१६, ५६६
सघ–१, ५,२३, १०३
सघपाल–२६
सघभद्र–३०, १२७, १६६, २५५, २८०, २८३, २८८, २६४, ३१२, ३१६, ३३५, ३३६, ३७४, ४४६, ५७६, ५८१, ५८२
सघभारहारक–४४
सघभाष्य–१४३
सघभेद–३८
सघ-सामग्री–२५६
सघ-स्थविर–७७
संघाटी–२६३, २७६
सघात–३६८
सघातपरमाणु–३२३, ४१६, ५६६
सघातवाद–५६५
सघानुस्मृति–५४, ७८
सघाराम–१३, ३०, १७५
सघी–३
संचार–२८६
सजय–६, २८६
सजय-वेलट्ठिपुत्त–४
सजीव–३६८
सज्ञा–५४, ३३४, ३३५, ३३८, ४४४, ४४६
संज्ञा-द्रव्य–३४२
संज्ञा-भव–२३५
संज्ञावेदितनिरोध–२८७, २८६, ३५०
सज्ञा-स्कन्ध–३१५, ३१८, ३२०
सयुक्त–३५१
मयुक्तनिकाय–२८
संयुक्तपिटक–८
सयुक्तागम–२६, ३१३
सयुक्तनिकाय–३०, ३१, ३४, ३६, ४०, ४५, ८३, १०७, १०६, ११७, १३४, १७६, २२६, २३२, २३३, २३६, २८४, २८५, २८६, २६१–२६४
सयोग–३५१, ३५२
सयोजन–१५, ८५, ३६६
सरण–३१५
संलक्षण–६०
सवत्सर–५७०, ५७१
सवर–१६, २५४, २५५
सवर्त्त–२६५, ३६६
संवर्त्तनी–२६५, २६६, ३६६
सवर्त्तनीय–१५
मंवादक–५८६
सवित्–२१७
सवित्ति–४२३, ५६८
सवित्तिभाग–४२३, ४४१, ४४४, ४७६
सवृत्त–१६, ३७०
सवृति–२१४, २१६, ४६८
सवृतिसत्–२४५, २६०
संवृति-सत्य–११४, १६७, २१४, २१६, २१७, ४७८
सवेग–६४, ६५
सवेगवस्तु–६५
सशय–५८६
संसर्गवाद–५२६, ५२८
ससार–५३३
ससारकोटिनिष्ठस्कन्ध–४५२
ससारनिश्रित–४७
ससार-शुद्धि–४
सस्कार–२०, २२५, ३३८

संस्कार (न्याय)–३५२, ३५३, ५६६
संस्कार-स्कन्ध–३१५, ३१८
संस्कारोपेक्षा–७२, ७३, ३३६
संस्कृत–११, २५, २६, ३३, १२६, २२४, २२६, २३८, २४७, २६६, ३१४, ३१५
संस्कृत-धर्म–३१५–३२१, ३५०, ३७५, ५१२
संस्कृत-बौद्धधर्म–१२३
संस्थान–३१५, ३१६
संहारिम–५६
सकल-काल–५७१
सकाय-निरुत्तिया–२५
सकृदागामिमार्ग–१००
सकृदागामी–२३, ४५, ५५३
सक्कसंयुत्त–३१
सगौरवता–३३६
सच्चकिरिया–२७३
सच्चसंयुत्त–३१
सतिपट्ठानसुत्त–८५
सतीर्थ्य–५२२
सत्–२६५
सत्कायदृष्टि–३१, २४५, ३४२, ३६४, ४२६
सत्तपदा–२३५
सत्ता–३५१
सत्पुर–१२२
सत्य–१६२, २१८, २६४
सत्यक्रिया–२७३
सत्यद्वय–२१७, ५५४, ५५६
सत्यपारमिता–१८१
सत्यव्रतसामश्रमी–१४६
सत्यसिद्धि–१३६
सत्यानुलोमिक–२५७
सत्याभिसमय–२३, २६६
सत्त्व–३, २८५, ३३७, ४६६
सत्त्वक्षेत्र–२०२
सत्त्वलोक–५५१
सत्त्वसंज्ञा–६६
सत्त्वसभागता–३४७
सत्त्वसंख्यात–३४७
सत्त्वाख्य–२२७, ३१६
सत्त्वार्थक्रिया–३८८
सत्त्वासत्त्वाख्य–२२७
सद्धर्म–५५३
सद्धर्मपुण्डरीक–१०४, १०६, ११०, ११७, ११८, १२३, १४१, १४२, १४४–१४६, १५५, १५६
सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रशास्त्र–१४२
सनि सार–३१४
सन्तति–३२३
सन्ततिवाद–२६३
सन्ततिवादी–३७६
सन्तान–१००
सन्तानान्तरसिद्धि–५६५
सन्तीरण–२५७
सन्दिग्धासिद्ध–६०६
सन्दिट्ठिक–२८६
सन्दृष्टिक–७८
सन्धि–८७
सन्धिनिर्मोचनसूत्र–४३५, ४५१, ४७७, ४७६
सपक्ष–५६६
सप्तदशभूमिशास्त्र–१६८
सप्तपदार्थी–५७३
सप्तपदी–१३३
सप्तरत्न–२१२

सप्तशतिका-प्रज्ञापारमिता–१५७
सप्तसिद्धि–१३६
सप्रतिघ–४३०
सप्रतीशता–३३६
सव्वत्यक-कम्मट्ठान–४६
सव्वत्थिवाद–३७, १२५
सभयवशवर्त्तिता–३३६
सभाग–७७, ३२६
सभाग-कारण–५८०
सभागता–४८, ३४४, ३४७–३४६, ३७४, ४३२
सभागसन्तान–४७८
सभागहेतु–२६५, ३५४, ३६२, ३६३, ३६६
समंगी–६०
समन्तपासादिका–३७
समन्तभद्र–१४८, १५१, १५२
समन्तभद्र-चर्यामण्डल–१५३, १५५
समन्तभद्र-बोधिसत्त्वचर्या–१५१
सम–७०
समताज्ञान–४००, ४७३, ४७४
समतिक्रम–६७
समनन्तर-कारण–५८०
समन्तर-प्रत्यय–३५४, ३५७, ५०३
समनन्तरप्रत्यय-आश्रय–४६५, ४६८
समन्वागम–३३२
समन्वाहार–२५७
समयभेद–२२६
समलावस्था–२१७
समवशिता–७०, ७१
समवाय–३४५, ३४८
समवायिकारण–३६६, ४८३, ५८६
समादान–२, २३१, ३८८
समादापना–३८६
समाधि–४, १८, ३१, ३४, ४१, ५४, ६१, ६३, ७१–७३, ८२, ६४, ११२, १५१, १५४, १६३, २१७, २२२, २५६, २६७, ३३४–३३६, ३३८, ३८२, ४०५, ४४७
समाधिकाय–११४
समाधि-मार्ग–६६
समाधिराज–१११, १४१, १६३, ५३२
समाधि-लाभी–६१
समाधिसवर्त्तनिक–७८
समाधीन्द्रिय–३२८
समानाचार्यक–४४
समानोपाध्यायक–४४
समापत्ति–१६, २५६, २६७, ३४४, ३४६, ३५०
समापत्ति-लोक–२६६
समाप्ति–५४
समारोपान्त–४७६
समारोपिका दृष्टि–२६१
समुत्थान–२५०
समुदय–३१०
समुदये-ज्ञान–३७०
समुदाचार–२२५, २५७
समुद्रकच्छ–१५४
समुप्पाद–२२०, २३१
सम्पन्न–४७
सम्पन्न-अध्याशय–४७
सम्पसादनीयसुत्तन्त–६४
सम्प्रजन्य–१७, ७१, ७२, ११७, १६० १६१
सम्प्रज्ञान–७२
सम्प्रयुक्त–३४१
सम्प्रयुक्त-हेतु–२७२, ३५४, ३६३, ३६४

सम्प्रयुक्त-प्रत्यय–३५९
सम्प्रयुक्त-संस्कार–३१८
सम्प्रसादन–७१, ७२
सम्प्रहर्षण–६५
सम्बन्ध–३४४
सम्बन्धपरीक्षा–५६५
सम्भव–३५४
सम्भव-विभव–५४७
सम्भूय-विज्ञान–४६७
सम्भोगकाय–१०४, ११९–१२२, १६५, ३९४
सम्मितीय–२६, ३६
सम्यक्कर्मान्त–२२, ३७१, ३३७
सम्यक्त्वनियमावक्रान्ति–२३
सम्यक्त्व-प्रतिपन्न–७८
सम्यक्-प्रतिपति–९४
सम्यक्-प्रधान–२८२
सम्यक्–संकल्प–२२
सम्यक्-सम्बुद्ध–४७, १०६
सम्यक्–समाधि–२२
सम्यक्-स्मृति–२२
सम्यगाजीव–२२, ३१७, ३३७
सम्यग्ज्ञान–५८९
सम्यग्-दृष्टि–२२, २६०, २९५
सम्यग्-वाक्–२२, ३१७, ३३७
सम्यग्-व्यायाम–२२
सम्प्रक्षण–९९
सरस्वती–१५०
सर्व–३०३, ३०६, ३४३
सर्वक्लेश–२२५, २९९
सर्वगतत्व–३९४
सर्वज्ञ–५९३
सर्वज्ञता–१७७
सर्वज्ञमित्र–१७६
सर्वत्रग–११९, ३६४
सर्वत्रग-कारण–५८०
सर्वत्रग-हेतु–२६५, ३५४, ३६४, ३६६
सर्वत्रगार्थ–३८६
सर्वधर्ममुद्राक्षय–२१८
सर्वधर्मशून्यता–२१७
सर्वधर्मसुखाक्रान्त–१९५
सर्वनास्तित्व–४७७
सर्ववीज–४८१
सर्वभव–१८
सर्वसत्त्वसमचित्तता–१५६
सर्वसाधारण–३३४
सर्वार्थिक-कर्मस्थान–४६
सर्वास्तित्व–४७७
सर्वास्तिवाद–२७, १२३–१२७, १३९, १४०, १६४, १६६, १६८, १६९, २२३, २२४, ३००, ३०४, ३०६, ३११–३७१ ३७२, ३७४, ३७५, ३७८, ३८३, ३१६, ५२८, ५३०
सर्वास्तिवादनिकाय–१२६
सर्वास्तिवादी–२६, २९, ३०, ३५, १०७, ११७, १२५–१२७, १३१, १३९, १६५, २२३, २३३, २३८, २५६, २६४, २७३, २९०, २९३, २९५, २९६, ३०१, ३११–३७१, ३७४–३७९, ३८३, ३८४, ४२२, ४३०, ४३१, ४३२, ४४४, ४५२, ४५४, ४५९, ४७४, ५०३, ५०८, ५१४, ५१६, ५४८, ५६६, ५९५

सर्वोपधिशून्य–२१७
सवस्तुक–३१४
सविकल्पक–३४६, ५६०, ५६७, ५६८
सविकल्प प्रत्यक्ष–५६३
सविकल्पावस्था–२१७
सवितर्क विचार–५५
सस्वभाववाद–५२८, ५५७, ५५८
सस्वभाववादी–२२३, ३२२, ५१४, ५१८, ५६०
सहज-धर्मग्राह–४३५
सहजयान–१७७
सहजयोगिनी-चिन्ता–१७७
सहजात प्रत्यय–३५७
सहजिया-सम्प्रदाय–१७५
सहभू-आश्रय–४३६
सहभू-कारण–५८०
सहभू-हेतु–२३४, २७२, ३५४, ३६०–३६२
सहस्सवग्ग–१३१
सहेतुक–२२४
साकाश्यनगर–११६
साक्लेशिक-धर्म–४६१
साख्य–१२६, १६६, २३८, २४३, २४४, २४७, २६२ २७६, ३०१, ३०२, ३१४, ३२६, ३३०, ४२४, ४२८, ४२६, ४४८, ४६३, ४८१, ४६०–४६२, ५७४, ५८१, ५८५–५८८, ५६६, ५६७, ६०६
साख्यतत्त्वकौमुदी–५७४, ५६६
सांख्यप्रवचनभाष्य–२२१
सांख्य-योग–३, ५६४
सांख्यवादी–४२५, ५७४, ६०६, ६१४
साख्यशास्त्र–२२१
साख्यसाहित्य–५८५
साख्यसूत्र–५६६
साँची–२८, ३७
सावृत्तिक–२१६, ४६२, ४६८, ५५४
साकार–३४१
साकेतक–१३७
साक्षात्प्रतीति–५६८
सागर–१४७
सागरमेघ–१५३
साधन–६०७
साधनमाला–१७७
साधनसमुच्चय–१७७
साधना–१७७–१७६
साधर्म्य–२२२, ३१४
साधर्म्यवत्–६०५
साधमती–४१३
साध्य–५०३, ६०७
सामन्तक–६२, ३८३
सामग्रीफल–३६७
सामञ्ञफलसुत्त–३१
सामान्य–३४८, ५६६
सामान्यलक्षण–४६६, ५०२
सामान्य-विशेष–४५३
सामीचि–४०६
सामीची–४०६
सामुक्कंसिका-धम्मदेसना–१४४, १४८
सामुत्कर्षिकी-धर्मदेशना–१४४, १४८
साम्परायिक–६६
साम्बन्धिक–२२६, २२७, २३८
साम्भोगिक काय–३६८
साम्मितीय–५१८, ५३२
सायित–६६
सारनाथ–५, २४, १०३,

सार्द्धद्विसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता–१५७
सालम्बन–३४१
सावद्य–१४, २५१
साश्रय–३४१
सास्रव–२५७, ३७०
सास्रव-चित्त–४७७
सास्रव-धर्म–२२
सिन्धु–३६, १२६
सिंहल–२६, ३०, ३७, १६८, १७६
सिंहली–२६
सिंहविजृम्भित–१५१
सिगौली–१२३
सिद्धसाधनता–४९१
सिद्धार्थ–२, ३, ५
सिद्धि–१७७
सिद्धि (त्रिंशिकाटीका)–४१५, ४२२–४८७
सिलवाँ लवी–१२४, १२७, १३७, १६८, १६९, ३९४, ३९७, ४०१, ४०२, ४०६, ४१५
सिलोन–३३, ३४
सुन्दरिक-भारद्वाजसूत्र–१५
सुख–५५, ७१, ७२, २२२, ३८२
सुखकाय–१७७
सुखतः–४०५
सुखत्रय–४००
सुखविहारी–५७
सुखवेदना–८५
सुखवेदनीय–२३४
सुखावती–१५०, १५१
सुखावतीलोक–९, ११९, १२१, १२२, १५०
सुखावती-व्यूह–१०५, १११, ११९, १५०, १५१, १५५
सुखावेदना–२३१
सुखेन्द्रिय–३२८
सुगत–५
सुगतात्मज–१०८
सुगतिगामी–२२८
सुग्रीव–१५३
सुच्छन्नमण्डल–७७
सुजूकी–१५१, १६२
सुत्त–२८, १७६
सुत्तनिपात–१४, १७, ३२, १३०, १३६, २८५, २९०, २९४
सुत्तन्त–२८
सुत्तपिटक (सूत्रपिटक)–२६, २७, ३०
सुत्तविभग–३०
सुदर्श–६६
सुदर्शी–६६
सुदुर्दर्श–८०, २९४
सुदूरक्षिप्रगमन–११३
सुधन–१५३, १५५
सुनेत्र–२८५
सुप्रतिपन्न–७८
सुप्रतिवेध–१०
सुप्रभातस्तव–१७६
सुभद्र–१२
सुभाषित-सग्रह–१७५
सुभूति–१४५, १४७, १५७–१६१, २१२
सुमाला–१२६, १३७
सुमेध–१८०–१८२
सुमेरु–२६५
सुरामद्यमैरेयविरति–१९
सुरामैरेयप्रमादस्थानविरति–२४
सुवर्णप्रभाससूत्र–१११, ११७, १४१, १६३
सुवर्णाक्षी–१३७

सुषिर–५८४
सुषुप्ति–४६४
सुहृल्लेख–१६७
सूक्ष्म–५६७
सूक्ष्मत्त्व–५७२
सूत्र–८, २६–२६, ४५, १३०
सूत्रक–३६२
सूत्रनिकायाचार्य–३७२
सूत्रपिटक–२८, २६
सूत्रसमुच्चय–१७१, १७२
सूत्रान्त–२, ४, २७, १३४, २७८, २८६, २६२, ३०६
सूत्रालंकार–१०४, १२४, १३८, १६५, १६६
सूर्य–७६, १११, १५०, ५७१, ५७४, ५७७, ५८४
सूर्यमण्डल–२१२
सृष्टकाल–५७१, ५७४, ५७७
सृष्टि–५८३
सेण्ट हिलेरी–२७८
सेना (ई०)–१२६
सेनार्ट–१२४, २७६, २६२
सेन्द्रियकाय–४४३
सोगृडियन–२६
सोनरी–३७
सोपधिशेष–२६६, ३०७, ५५६
सोमनस्स–२३५
सोमनस्सूपविचार–२३४
सोमेन्द्र–१४१
सौगत–५
सौगतम्मन्य–२८५
सौत्रान्तिक–३०, १०७, ११७, ११६, १२७, १६४, १६८, २२३, २३२, २३३, २३८, २५२, २६७, २७४, २७५ २८८, २६०, २६२–२६४, २६८, ३००–३०२, ३०४–३०६, ३१२, ३१५–३१७, ३२०, ३२१, ३२४, ३२४, ३२७, ३३६, ३४१, ३४४–३४६, ३४८–३५२, ३५४, ३६१, ३६२, ३७२–३८३, ३८४, ४१५, ४१७, ४३०, ४३१, ४४४, ४५२–४५४, ४६०, ५६०, ५६६, ५७५, ५८१, ५८२, ५६४
सौत्रान्तिकवाद–१२८, २३८, ३११, ४१०
सौत्रान्तिक-सम्प्रदाय–१२८
सौत्रान्तिक-साहित्य–१२८
सौन्दरनन्द–१३७–१३६
सौमनस्य–७४, २३४
सौमनस्येन्द्रिय–३२८
सौराष्ट्र–१७१, १७३
स्कन्ध–२३५, ३१५, ३१६, ५०६, ५१०
स्कन्धक–२८
स्कन्ध-देशना–३२०
स्कन्ध पचक–१००, २४४
स्कन्धवग्ग–१३४
स्कन्धवाद–५८७
स्कन्धसन्तति–२२५
स्टाइन–१२४
स्तम्भवृत्तिक-प्राणायाम–८१
स्तूप–७, १०३
स्तूपपूजा–२६, १०४, १४२
स्तोत्र–१७०, १७६
स्त्यान–६७, ३३८–३४०

स्त्यानमिद्ध–४१
स्थविर–१३, ३६–३८, १०४, १०५, १४६, १५२, २८१, २८३, २९०, २९३, २९४, ४५२, ४५४, ४५७
स्थविरगाथा–१४०
स्थविरनिकाय–३५, ३७,
स्थविर-भिक्षु–७७
स्थविरवाद–२६, २७, ३६, ३७, १०५, १२५, १२७, २२४, २३८, २८२, ३२२, ३२३, ३३३, ३३४, ३३७, ३६८, ३४४, ३५४, ३५६
स्थविरवादी–२६, १०५, १६१, २२४, २३८, २७७, ३२३, ३३३–३२५, ३३८, ३४१, ४४४
स्थाणु–५९
स्थान–५०, ८८, ४३८, ४४०
स्थापना–८८
स्थापनीय–२७८, ३००
स्थाम–२०६
स्थिति–७२, ३२९, ३५०, ३७४, ४३३, ५१५, ५७८
स्थिति-हेतु–३५७
स्थितिस्थापक–३५३
स्थित्यन्यथात्व–२४७, ३५०
स्थिरमति–१६९, १७०, ३०३, ४२३, ४३७–४३९, ४४५, ४४९, ४६१, ४६२, ४६३–४७०, ४७२, ४७३, ४७५, ४७६, ४८१–४८३
स्नातक–२८७
स्पर्श–२०, ८८, २२५, २३३, २३४, ३३४, ३३५, ३३८, ४४४, ४४५
स्पर्श-स्थान–८८–९०
स्पर्शाहार–९८, ४५८
स्पृष्ट-स्थान–८८
स्प्रष्टव्य–२८३, ३१५, ३१६
स्फुरणा-प्रीति–६७, ६८,
स्फुटाभ–५९४
स्फुटार्था–१६९, २३५
स्मरण-चित्त–२४६
स्मृति–१७, ६१, ६३, ७२, ९४, १९०, ३३४, ३३५, ३३७, ४४७, ५९८
स्मृति (धर्म०)–३६
स्मृति-सम्प्रजन्य–७१, ८३
स्मृति-सम्मोष–५७, ६२
स्मृतीन्द्रिय–३२८
स्मृत्युपस्थान–२२, ८५, ९४, २८३, ३७०, ३७१
स्रग्धरा–११६, १३८
स्रष्टा-वुद्ध–१५०
स्रोत–१६६, ४४८
स्रोतापत्ति–५५३
स्रोतापत्ति-फल–२७०
स्रोतापत्ति-मार्ग–१००
स्रोतापन्न–४५
स्रोतापन्न फल–२३
स्त्रीन्द्रिय–३२८, ३२९
स्वकायदृष्टि–१५९
स्वकारित्र–५८२
स्वतःप्रमाण–५८३
स्वत प्रामाण्य–५९१
स्वप्न–४०३
स्वभाव–२५०, ५२९, ५८१, ५८८

स्वभावकाय—११४
स्वभाव-त्रय—४८२—४८५
स्वभाव-वैलक्षण्य—३८१
स्वभाव-शून्यतावादी—११४
स्वभाव-हेतु—६००, ६०५
स्वयम्भू—१११, १५०, १६२
स्वयम्भूपुराण—१२४, १७६
स्वर्ग-नरक—२४
स्वलक्षण—३४६, ४६६, ५०२, ५६२
स्वसंवित्ति—४४१, ४६६
स्वसंवित्तिभाग—४४१
स्वसंवेदन—५६४
स्वसंवेद्य—५६८
स्वाख्यात—७८
स्वातन्त्रिक-योगाचार—१७५
स्वातन्त्र्य-निकाय—१७०
स्वात—१२६
स्वाभ-उपसम्पदा—१२६
स्वाभाविक काय—१६५, ३३८
स्वाभास—५६४
स्वार्थानुमान—४६४, ५६८—६०४

ह

हनविक्खित्तक—५४
हरप्रसादशास्त्री—१२४, १७२, १७३, १७५
हरिवर्मा—१३६
हर्ष—६५
हर्षचरित—१७६
हलायुध—२८
हाजमन्—१२३
हान—२२१
हानोपाय—६७, २२१
हिन्दू—५७१
हिन्दू-धर्म—१२१
हिंसा—१
हिमवत्-प्रदेश—३७
हिमालय—१८१
हीनयान—१०५—१०७, १२३, १२८, १२६—१३१, १३६, १३६, १४०, १४३, १४८, १४६, १६१, १६२, १६४, १६५, १७६, १८३, २०६, २८२, २८८, २६१, २६६, ३००, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०७, ३०८, ३१२, ३७३, ३८३, ३६७, ४१८, ४२५, ४२८, ४३०, ४३४, ४४१, ४५१, ४६५, ४७७, ५७४, ५७५, ५७७, ५८०, ५६५, ५६६
हीनयानवादी—१६७, १८४, २३८, ३०४, ४३०, ४३३, ४३४, ५७६
हीनयानी—१६४, १८०, २३८, ४२५, ५१२, ५१३, ५७६
हुथ—१२४
हुविष्क—१३७
हुष्क—१६७
हूण—१३१
हृदय—३३०
हृदयधातु—५६५
हेतु—२२४, २२७, ३५४, ३५६, ५०३
हेतुपरिणाम—४३७
हेतुप्रत्यय—२१, ३५४, ३५७, ५०३
हेतुप्रत्यय-आश्रय—४६५
हेतुप्रत्यय-जनित—२२४

हेतुप्रत्ययवाद–२२४, ३५४
हेतुप्रत्ययसामग्री–२१४
हेतुफलपरम्परा–२२४
हेतुबिन्दु–१७०, ५६५
हेतुवाद–५०३
हेतुवादी–५४७
हेतुशीर्ष–२३०
हेतुसामग्रीवाद–५४६
हेत्वाभास–६०९–६१६
हेय–९२, २२१, ३३१, ५८९
हेयहेतु–९२, २२१
हैमवत–२७, ३७
हैमवताचार्य–३७
होअर्नले–१२४
होम–१
ह्यूवर (ई०)–१३८
ह्रस्व–३१५
ह्रस्वत्व–३५३
ह्री–१९, २५७ ३३७, ५६८
ह्वेनत्साग–७, ३६, १०६, १२६

परिशिष्ट : २

सहायक ग्रन्थसूची

अंगुत्तरनिकायट्ठकथा—बुद्धघोषकृत ।

अभिधम्मत्थसंगहटीका (नवनीत)—धर्मानन्द कौसाम्बी-कृत ।

अभिधम्मत्थसंगहो—अनिरुद्धाचार्य-कृत ।

अभिधर्मकोश—आचार्य वसुबन्धु-कृत । पूसें-कृत फ्रेंच-अनुवाद के साथ ।

अभिधर्मकोशकारिका—आचार्य वसुबन्धु-कृत, मूलमात्र, जी० वी० गोखले द्वारा सम्पादित । जे० के० ए० एस्० बम्बई, जिल्द २२, १९२६ ।

अभिधर्मकोशव्याख्या (स्फुटार्था)—यशोमित्र-कृत । वोगिहारा द्वारा तोकियो से प्रकाशित ।

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता—डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा बिब्लिओथिका इण्डिका में प्रकाशित ।

इण्डियन एण्टिक्वेरी—म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा लिखित 'शान्तिदेव' नामक लेख, सन् १९१३, पृ० ४५ ।

ए रिकार्ड ऑव दि बुद्धिस्ट रिलीजन—चीनी-यात्री इत्सिंग का यात्रा-विवरण ।

ओरियण्टेलिया–भाग ३ में 'हिस्ट्री ऑव अर्ली बुद्धिस्ट स्कूल्स' नामक रैयूकन कीमुरा का लेख ।

कन्सेप्शन ऑव बुद्धिस्ट निर्वाण—शेरवात्स्की-कृत ।

कारण्डव्यूह—सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा सन् १८७३ ई० में प्रकाशित ।

क्षणभंगसिद्धि—रत्नकीर्ति-कृत ।

चतुःशतक—आर्यदेव-कृत । संस्कृत-रूपान्तर श्रीविधुशेखर भट्टाचार्य-कृत । विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, १९३१ ।

तत्त्वसंग्रह—शान्तिरक्षित-कृत, एम्बर कृष्णमाचार्य द्वारा सम्पादित, दो जिल्दों में सेण्ट्रल लाइब्रेरी, बड़ौदा से प्रकाशित ।

त्रिंशिका—स्थिरमति के भाष्य के साथ सिलवाँ लेवी द्वारा सम्पादित और अनूदित ।

दी ग्रमटिक एण्ड फिलोजोफी बुद्धिक—पूसें-कृत, सन् १९३० ई० ।

धम्मपदट्ठकथा—बुद्धघोष-कृत ।

धर्मसंग्रह—नागार्जुन-कृत ।

निर्वाण—लुइ द वाले पूसें-कृत, सन् १९२५ ई० ।

नेपालीज बुद्धिस्ट लिटरेचर—डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा सम्पादित ।

न्यायबिन्दु—धर्मकीर्त्ति-कृत, धर्मोत्तर-कृत टीका के साथ ।

परमत्थमंजूसाटीका—धर्मपाल स्थविर-कृत ।

बुद्धचरित—दो जिल्दो में, जॉनस्टन द्वारा सम्पादित तथा अनूदित ।

बुद्धिज्म—वासिलीफ-कृत ।

बुद्धिज्म इन ट्रान्सलेशन—वारन-कृत ।

बुद्धिस्ट कास्मोलॉजी—मैक गवर्न-कृत ।

बुद्धिस्ट लॉजिक—दो जिल्दो मे, शेरवात्स्की-कृत ।

बुद्धिज्म स्तदी एन्त मटीरिया—पूसें-कृत ।

बोधिचर्यावतारपंजिका—बिब्लिओथिका इण्डिका में प्रकाशित ।

मज्झिमनिकायट्ठकथा—बुद्धघोष-कृत ।

मध्यकावतार—चन्द्रकीर्त्ति-कृत ।

मध्यान्तविभाग—दो जिल्दो मे जापान से प्रकाशित ।

महायानसूत्रालकार—मूल ग्रन्थ सन् १९०७ ई० में सिलवाँ लेवी द्वारा सम्पादित । अनुवाद—सिलवाँ लेवी द्वारा, सन् १९११ ई०।

माध्यमिककारिका—नागार्जुन-कृत, बिब्लिओथिका बुद्धिका मे पूसें द्वारा सम्पादित ।

माध्यमिककारिकावृत्ति (प्रसन्नपदा)—चन्द्रकीर्त्ति-कृत, बिब्लिओथिका बुद्धिका में प्रकाशित ।

मैन्युअल ऑव बुद्धिस्ट फिलासफी—मैक गवर्न-कृत ।

मोराल बुद्धिक—लुइ द वाले पूसे-कृत, सन् १९२७ ई० ।

योगसूत्र (पातजल)—व्यासभाष्य के साथ ।

लंकावतारसूत्र—प्रो० बुनयिड नजियो द्वारा सन् १९२६ ई० मे क्योटो (जापान) से प्रकाशित ।

ल कौंसिल द राजगृह—जाँ प्रजुलुस्की-कृत, सन् १९२६—२८ ई० ।

ललितविस्तर—डॉ० एस्० लेफमान द्वारा सम्पादित ।

लाइफ ऑव बुद्ध—ओल्डेनवर्ग-कृत ।

ला थेओरी द ला कालेसाँस एला लोजिक शेले बुद्धिस्ट तार्दिफ—स्तेरवात्स्की-कृत (रूसी से फ्रेंच मे अनूदित) पेरिस, सन् १९२६ ई० ।

ला ले जाद द लाँ इपरर अशोक—जाँ प्रजुलुस्की-कृत, सन् १९२३ ई० ।

लेफिलौजोफी एँदिऐन्न—दो जिल्दो मे, र्ने ग्रुस्से-कृत ।

विंशतिका—वसुबन्धु की वृत्ति के साथ सिलवाँ लेवी द्वारा प्रकाशित, सन् १६२५ ई० ।

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि यान् शुआन-च्वाँग की सिद्धि (चीनी-भाषा में)—फ्रेंच-अनुवाद पूसें-कृत ३ भागों में। सन् १६२८, २६, ४८ ई० ।

विसुद्धिमग्गो—बुद्धघोष-कृत । धर्मानन्द कौसाम्बी द्वारा सम्पादित । भाग १, विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित । भाग २, सारनाथ से प्रकाशित ।

शिक्षासमुच्चय—शान्तिदेव-कृत, बिब्लिओथिका बुद्धिका में बेण्डल द्वारा सम्पादित ।

सद्धर्मपुण्डरीक—प्रो० एच्० कर्न और प्रो० बुनयिउ नजियो द्वारा सन् १६१२ ई० में सम्पादित ।

सुखावतीव्यूह—प्रो० मैक्समूलर द्वारा अँगरेजी-अनुवाद तथा जापानी विद्वानो के फ्रेंच-अनुवाद के साथ प्रकाशित ।

हिन्दुइज्म ऐण्ड बुद्धिज्म—इलियट-कृत ।

हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर—विण्टरनित्ज-कृत । कलकत्ता-विश्वविद्यालय से दो जिल्दो में प्रकाशित ।